

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य
स्वविवृतिसहितलघीयसूत्रयस्य
अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्यायकुमुदचन्द्रः

[द्वितीयो भागः]

(न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पण्यादिसहित)



स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
'प्रमेयकमलमार्तण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया'दिग्रन्थानां सम्पादकेन
न्यायाचार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधिभूषितेन
पं० म हे न्द्र कु मा र शा स्त्रि णा
प्रस्तावना-पाठान्तर-तुलनार्थबोधकटिप्पणी-अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः
संस्कृत्य संशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशक :-

मन्त्री-श्री पं० नाथूराम प्रेमी,
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

मुद्रक:-बाबू रामकृष्णदासः बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

बीरनिर्वाणाब्दाः २४६७.

विक्रमाब्दाः १९९८.]

प्रथमावृत्तिः ६०० प्रति.

[क्रिस्टाब्दाः १९४९.

MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL,
HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF JAIN LITERATURE
IN PRAKRITA. SAMSKRIT AND APABHRAMŚA.

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY.

NUMBER 39

HONY. SECRETARIES:-

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti.*

CASHIER:-

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

TO BE HAD FROM-

Secy. MANIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

Founded]

All rights reserved.

[1915 A.D.

NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[VOL. II]

A commentary on Bhaṭṭakalāṅkadēva's Laghīyastraya.

15441

EDITED WITH:—INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE
STUDY OF JAIN, BUDDHIST AND VĒDIC—PHILOSOPHIES, AND THE
VARIET READINGS INDEXES ETC.

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

NYAYA DIVAKAR, JAIN & PRACHÎN NYAYÂTÎRTHA,

EDITOR OF 'AKALANK GRANTHATRAY', 'PRAMEYA KAMAL MARTAND' ETC.

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG. JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

BHADAINI, KASHI.

JSal
Pra/Mah

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN SERIES.

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY 4.

Price
Rs. 20/-
12-11/2

PRINTED BY—BAMA KRISHNA DAS AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY PRESS, BENARES.

V. E. 1998]

First Edition, 600 Copies.

[1941 A. D.

Acc. No. 15441
Date. 13/5/58
Call No. JSa 11/Pra/Mah.

न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम

१ प्राकाशक की ओरसे-पं० नाथूरामजी प्रेमी
7-8

२ आदि वचन-डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री 9-11

३ प्राकथन-पं० सुखलालजी 12-20

४ सम्पादकीयम् १-४

५ प्रस्तावना ५-६७

अकलङ्कका समय ५

आ० प्रभाचन्द्र ६-६७

प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्योंसे तुलना ६-४६

[वैदिक दर्शन-वेद, उपनिषत्, स्मृति-

कार, पुराण, व्यास, पतञ्जलि, भर्तृहरि,

व्यास, ईश्वरकृष्ण, माठर, प्रवस्तपाद, व्योम-

शिव, [व्योमशिवका समय] श्रीधर, वात्सा-

यन, उद्योतकर, जयन्त, [जयन्तका समय]

वाचस्पति, शबर, कुमारिल, मण्डनमिश्र,

प्रभाकर, शालिकनाथ, शङ्कराचार्य, भामह,

वाण, माधु, (अवैदिक-दर्शन)-नागार्जुन,

वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्ण-

कगोमि, शान्तरक्षित, कमलशील, अर्चट, धर्मो-

त्तर, ज्ञानश्री, जयसिंहराशिभट्ट, कुन्दकुन्द,

समन्तभद्र, पूज्यपाद, धनञ्जय, [धनञ्जय-

का समय] रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य, विद्या-

नन्द, अनन्तकीर्ति, शाकटायन, अभयनन्दि,

मूलाचारकार, नैमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रमे-

यरत्नमालाकार अनन्तवीर्य, देवसेन, श्रुत-

कीर्ति, दवे० आगमसाहित्य, तरवार्थभाष्य-

कार, सिद्धसेन, धर्मदासगिरि, हरिभद्र, सिद्धर्षि,

अभयदेव, वादिदेवसुरि, हेमचन्द्र, मलयगिरि,

देवभद्र, मल्लिषेण, गुणरत्न, यद्योविजय

आदिसे प्रभाचन्द्रकी तुलना]

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदान ४६

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति ४६

उदार विचार ४७

प्रभाचन्द्रका समय ४८-५८

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल

समय विचार

प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ५६-६७

शाकटायनन्यासके कर्तृत्वपर विचार

शब्दान्मोजभास्कर

प्रवचनसारसरजभास्कर

गद्यकथाकोश

६ मूलग्रन्थका विषयानुक्रम ६८-६९

७ मूलग्रन्थ ४०४-८८१

८ परिशिष्ट ८८५-६२६

१ लघीयस्वयकारिकार्थका अकारानुक्रम

२ लघीयस्वयगत अवतरण

३ लघीयस्वयके लाक्षणिक और विशिष्ट
दार्शनिकशब्द

४ जिन आचार्योंने लघीयस्वयके वाक्योंको
उद्धृत किया है उन आचार्योंकी सूची

५ न्यायकुमुदचन्द्रगत अवतरण

६ न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्ट न्याय

७ न्यायकुमुदचन्द्रगत ऐतिहासिक और
भौगोलिक शब्द

८ न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्ट ग्रन्थ-ग्रन्थकार

९ न्यायकुमुदचन्द्रगत लाक्षणिकशब्द

१० न्यायकुमुदचन्द्रगत विशिष्टशब्द

११ न्यायकुमुदचन्द्रके दार्शनिकशब्द

१२ मूलटिप्पण्युपयुक्त ग्रन्थसङ्केतविवरण

६ शुद्धिपत्र ६२६

Vol. 1 & II - 1420 - 7

Dr. R. D. Datta

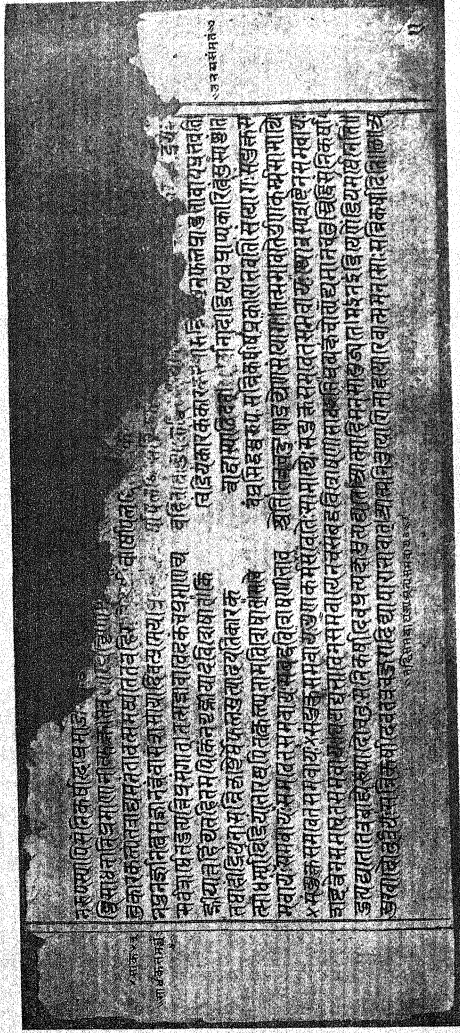
समर्पणम्—

“श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधिर्मे समग्रसिद्धान्तगुरुश्चकास्ति ।
बंशीधरो जैनकुलावतंसी हंसीयति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

स न्यायालङ्कारश्चत्स्याद्वादवारिधिर्धोमान् ।
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञः कर्मकाण्डस्य ॥ २ ॥

तस्याद्य वरिवस्यायामुपहारधिया मया ।
सम्पाद्य न्यायकुमुदोत्तरार्धमिदमर्प्यते ॥ ३ ॥”

तदयतमशिष्येण
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारेण



प्रकाशककी ओरसे



लगभग दो वर्षके बाद न्यायकुमुदचन्द्रका यह दूसरा भाग भी पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है और इस तरह कोई बीस वर्षके बाद इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी मेरी इच्छा पूरी हो रही है। पूर्वार्धके समान इस उत्तरार्धका भी सर्वाङ्ग सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है और इसके लिए सम्पादक महाशय धन्यवाद के पात्र हैं। उनका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-सम्पादन कार्यमें मार्गदर्शकका काम देगा। हमें आशा करना चाहिए कि आगे जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हों वे इसी सावधानी और ऐसे ही परिश्रमसे हों।

इन दो वर्षोंमें इस ग्रन्थमालाकी ओर से महापुराणका दूसरा खण्ड और जटासिंहचन्द्रिका वरांगचरित्र, ये दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं। महापुराणका तीसरा खण्ड प्रेसमें है, और आशा है कि वह भी इस सालके अन्त तक समाप्त हो जायगा।

ग्रन्थमालाके आर्थिक संकटकी बात मैं पहले लिख चुका हूँ, वह अभी चल ही रहा है। ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जौहरीने अपने हाथकी अन्य संस्थाओंसे कुछ रकम कर्जके तौर पर ले ली है और इस तरह फिलहाल अग्रे ग्रन्थोंको पूरा करनेकी समस्याको हल कर लिया गया है। आगे क्या होगा, यह भविष्य ही बतलायगा, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह बात ग्रन्थमालाके मन्त्रीके अधिकारकी सीमाके भीतर नहीं आती कि वह ग्रन्थकर्ताके समय आदिके विषयमें भी कुछ लिखे और उसकी ऐसी कोई जरूरत भी नहीं मालूम होती। परन्तु सम्पादक महाशयका आग्रह है कि मुझे कुछ लिखना ही चाहिए, अतः एव विवश हूँ।

पहले भागकी भूमिकामें पं० कैलासचन्द्रजीने और इस भागकी भूमिकामें पं० महेंद्रकुमारजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समयादिके विषयमें खूब विस्तारके साथ ऊहापोह किया है। यद्यपि दोनों विद्वानोंमें अनेक बातोंमें मतभेद है, फिर भी उससे इस ग्रन्थके पाठकोंके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रके समयकी शताब्दी तो कमसे कम निर्धारितरूपसे स्पष्ट हो जाती है, और यह बहुत बड़ी बात है।

मेरी सम्झमें प्रभाचन्द्राचार्य, जैसा कि उनके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें ही लिखा है, धारानरेश भोज-देव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके समयके विद्वान् हैं और अब इस विषयमें जरा भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।

अभी तक उनके समय-निर्णयमें सबसे बड़ा बाधक भगवजिनसेनके अदिपुराणका वह 'चन्द्रांशुश्र-यशस' आदि श्लोक* था, जिसने विद्वानोंको एक ऐसा दिग्भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि वे जिनसेनके बाद प्रभाचन्द्रके होनेकी बात सोच ही नहीं सकते थे। क्योंकि उसमें 'प्रभाचन्द्रकवि' और 'कृत्वा चन्द्रोदय' पद इतने स्पष्ट थे कि उनके कारण प्रभाचन्द्राचार्य और न्यायकुमुदचन्द्रके सिवाय दूसरी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती थी। जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पं० कैलासचन्द्रजीने उक्त श्लोकके माने हुए अर्थमें शङ्का उठाई और अनुमान किया कि जिनसेन स्वामीने किसी और ही प्रभाचन्द्रकी स्तुतिकी होगी और उनका बनाया हुआ कोई 'चन्द्रोदय' नामका ग्रन्थ भी होगा।

वन्होंने द्वितीय जिनसेनके हरिवंशपुराणके 'आकूपारं यशो लोके' आदि श्लोक† से यह भी अनुमान

* चन्द्रांशुश्रयशसं प्रभाचन्द्रकवि स्तुवे । कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

† आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोञ्जलम् । युरोः कुमारसेनस्य विचरयजितात्मकम् ॥

क्रिया कि वे प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदचन्द्रकर्ताके गुरु पद्मनन्दि थे। अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् हैं।

इस उलझनके सुलभ जानेपर प्रभाचन्द्रके समय-निरर्थकता मार्ग सुगम हो गया और अब तो पं० महेश्वरकुमारजीने उनके ग्रन्थोंके अन्तरंग प्रमाणों तथा बहिःप्रमाणोंसे बिल्कुल निश्चित ही कर दिया है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदके अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानेकी और यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे उन्हींके हैं, दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोंके नहीं हैं, अभी और जरूरत है।

मेरे सम्झमें प्रभाचन्द्रने टीका-टिप्पण ग्रन्थ बहुत लिखे हैं और अभी तक जित्ने दूसरे प्रभाचन्द्रोंका सम्झा जाता था उनमेंसे नीचे लिखे टीका-ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्रायः निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। भूमिकामें इनमेंसे कुछकी चर्चा भी की जा चुकी है—

१ तत्त्वार्थटिप्पण (सर्वार्थसिद्धि-टिप्पण)।

२ प्रवचनसरोजभास्कर।

३ शब्दाभ्युज्जभास्कर।

४ रत्नकरण्ड-टीका।

५ क्रियाकलाप-टीका।

६ समाधितन्त्र-टीका।

७ आत्मानुशासन-तिलक।

८ महापुराण (पुष्पदन्त)-टिप्पण।

९ द्रव्यसंग्रह-पंजिका।

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हाल ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे ब्रांचके हस्तलिखित ग्रन्थोंके कैटलॉगमें मिली। उक्त ग्रन्थकी प्रति सं० १८२२ की लिखी हुई है। उसका मङ्गलाचरण यह है—

“नत्वा जिनाकर्मपहस्ति तसर्वदोषं लोकत्रयाधिपति संस्तुतपादपद्मम्।

ज्ञानप्रभाप्रकटितासिलवस्तुसार्थं षड्द्रव्यनिर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥”

मङ्गलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मङ्गलाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भी है।

आराधनाकाकोश (गय) भी इन्हींका बनाया हुआ है।

अन्य ग्रन्थसूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमेंसे अधिकांश इन्हीं प्रभाचन्द्रके होंगे—

१ अष्टपाहुड-पञ्जिका

२ स्वयंभूस्तोत्र-पञ्जिका

३ देवागम-पञ्जिका

४ समयसार टीका

५ पञ्चास्तिकायटीका

६ मूलाचारटीका

७ आराधना-टीका

८ पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाटीका

इन टीका-ग्रन्थोंकी छान-बीन होने पर समयादिके सम्बन्धमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे। मैं गर्वमैष्ट संस्कृत कालेजके प्रिंसिपल डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनदर्शन-ध्यापक पं० सुखलालजीका आभार मानता हूँ जिन्होंने आदिचक्र और प्राक्थनके रूपमें बहुमूल्य विचार उपस्थित किए हैं।

वम्बई
२७-७-४१ }

—नाथूराम प्रेमी

मन्त्री ग्रन्थमाला।

॥ आ दि व च न ॥



भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, मित्र मित्र समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। दृश्य जगत्के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं उनका समाधान करना ही किसी दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेषण शब्दका प्रयोग जान-बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य—जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्दका व्याकरण अर्थात् विश्लेषण न कि निर्माण, करता है—इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारोंसे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैन दर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्वके विषयमें आग्रह न

होते हुए भी उसके विषयमें तत्तदवस्थाभेदके कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्तकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है। क्या हम

“श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।” [महाभारत]

“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम्॥” [केनोपनिषत् २।३] इत्यादि वचनोंको मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नहीं कह सकते? दर्शनशब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जैनाचार्योंने अनेकान्तवादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओंसे बद्ध, सदैव विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी मनुष्य, किसी पदार्थके अखण्ड सकल-स्वरूपको कैसे जान सकता है? उस अखण्ड मूल-स्वरूपको हम सबे अर्थमें “गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्” कह सकते हैं। “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यां वृतं दिवि” [यजुर्वेद पुरुषसूक्त] इस वैदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे दार्शनिक जगतमें परस्पर विरोध तथा कलहकी भावनाओंके नाशसे परस्पर सौमनस्य और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको बड़ी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिकभित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रीकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिकदृष्टिसे यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिसे अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय सभ्यताके उत्कर्षानुत्कर्षकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिसे हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुँचानेको वह हिंसा नहीं कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी असहिष्णुताको भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

“अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुमापिता।

सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थार्योपपद्यते॥

वाक्सायका वदनाभिष्पतन्ति यैराहताः शोचति राज्यहानि।

परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥”

[विदुरनीति २।७७, ८०]

सभ्य जगत्का आदर्श विचार स्वातन्त्र्य है। इस आदर्शकी रक्षा अहिंसावाद (हिंसा-असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी सङ्कीर्णता या असहिष्णुता

ईर्षा-द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको-हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमें जो अज्ञान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्यमें पाया जानेवाला 'आनृशंस्य' शब्द भी इसी अहिंसावादका चोतक है। इस प्रकारके अहिंसावादकी आवश्यकता सारे संसारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमें दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर विशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जावे। और उसमें दार्शनिक समस्याओंको सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमें एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचलु प्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके विद्वत्तापूर्ण संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुमुदचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार बड़े परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासंभव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थका उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जावे। इसके लिए संस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

-मङ्गलदेव शास्त्री,

M.A., D.Phil, (oxon).

सरस्वती भवन,

२८।३।४१

}

[प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस
रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज इन्जामिनेशन्स,
बू० पी०, बनारस]

॥ प्राक्कथन ॥



न्यायकुसुमदचन्द्रके प्रथम भागमें मैं अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ। फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तावना जब मैं सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके संपादकीय अनुरोधको टाल न सका। इसीलिए कुछ लिखनेको प्रवृत्त हुआ हूँ। न्यायकुसुमदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है सो भी संप्रदायविशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि संप्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सम्बन्ध कैसा रहा है तथा उस सांप्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्वसाक्षात्कार। सभी दार्शनिक अपने अपने सांप्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए हैं। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या संदेहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक संप्रदायाश्रित विविध दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा? इस शंकाका जवाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें। उसका जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समग्र दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असंदिग्धरूपसे समत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१—पुनर्जन्म, २—उसका कारण, ३—पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४—साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं। कभी न कभी किसी तपस्वी ब्रह्म या ब्रह्मोंको उक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोंके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके व्यौरवार विचारमें सभी प्रधान प्रधान दर्शनोंका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी संप्रदायके व्यौरवार मन्तव्य साक्षात्कारके विषय हुए हों। अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस संप्रदायके? किसी एक

संप्रदायको व्यौरके बारेमें साक्षात्कर्ता—द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोंमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें वह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको संप्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो संप्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोंके संप्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके संप्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी संप्रदायोंने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार में भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे संप्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक संप्रदाय अपने जिन मन्तव्यों पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी संप्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य सांप्रदायिक विश्वास या सांप्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत संप्रदायोंकी भूमि पर व्यौरके विशेष प्रवाहोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी संप्रदायोंको कल्पनाओंका—दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा संप्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य असत्य और अर्थसत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एकतरफसे जहाँ सम्प्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षाकी और जहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँकी, वहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी बाड़ पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे संप्रदायोंके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पर्देबन्द पश्चिनियोंकी तरह तत्त्वचिन्तनकी बेल भी कोमल और संकुचितदृष्टिवाली बन गई।

हम सांप्रदायिक चिन्तकोंका यह झुकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते । और दूसरे विरोधी संप्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही सादगुण्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं । सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे संप्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपनाकर भी मुक्तकण्ठसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं । दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लँघकर विश्वासकी भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन सांप्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज भी बन गया । अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है ? हर एक संप्रदायका अनुयायी चाहे वह अपद हो, या पदा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिन्तक ग्रन्थोंको सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या संदेहको अवकाश ही नहीं है । तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी संप्रदायके ग्रन्थमें नहीं है । और अगर है तो भी वह हमारे संप्रदायसे ही उसमें गया है । इस प्रकारकी प्रत्येक संप्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ हलाक न हुआ तो मनुष्य-जातिका उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा ।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तात्त्विकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय । जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है । वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं । पूरी और यथासंभव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है । ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे संकुचितता तथा तज्जन्य भय आदि दोषोंको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को । हम अस्वैज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिकसे अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं । अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधिकाधिक सत्य या तत्त्वदर्शनके अधिकारी बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथा संभव सर्वांगीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढ़ें ।

न्यायकुमुदचन्द्रके संपादक पं० महेंद्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक एक छोटे बड़े मुद्रपर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिये हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक संप्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने करानेमें ही है । सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका

मर्मांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए । जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमें से बहुत कुछ पा सकता है । अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुवास विद्यार्थियोंमें तथा अपढ़ अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है । इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुक्तो यह कहनेमें लेश भी संकोच नहीं होता कि संपादकका टिप्पण तथा प्रस्तावनाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें सांप्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा ।

भारतवर्षको दर्शनोंकी जन्मस्थली और क्रीडाभूमि माना जाता है । यहाँका अपढ़ जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दर्शनिक पौरुषशून्य क्यों होगया है ? इसका विचार करना जरूरी है । हम देखते हैं कि दर्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए । पहली बात दर्शनोंके पठन-सम्बन्धी उद्देश्यकी है । जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि-प्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर झुकता है । मानों दार्शनिक अभ्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास । इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील । इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण-मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भोर बन गए हैं । जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी अससर्थ हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं । दर्शन जहाँ दिन रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेषरूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं । यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है । इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना । दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढ़ना चाहिए कि जो सत्य-असत्यके विवेकका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो । सत्तेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि । इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उसका पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है ।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नये संशोधनोंकी । अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक संप्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रूढ़ हो गई हैं उन्हींको उस संप्रदायमें सर्वज्ञप्रणीत माना जाता है । ओर आवश्यक नये विचार प्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता । पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किए गए और उत्तराधिकारमें दिए गए चिन्तनों तथा आरण्योंका प्रवाह ही संप्रदाय है । हर एक संप्रदायका माननेवाला अपने मन्तव्योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिको प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वह वहाँ तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और संशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय ध्वंसाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डींग हाँकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें संशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सबैत्र उसका उपयोग अग्रर न किया जायगा तो यह सनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें संशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दर्शन सम्बन्धी इतनी सामान्य चर्चा कर लेनेके बाद कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलंकके समयका। पं० महेन्द्रकुमारजीने “अकलङ्कग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें धर्मकीर्तिके और उसके शिष्यों आदिके ग्रन्थोंकी तुलनाके आधार पर अकलङ्कका समय निश्चित करते समय जो विक्रमाकीर्ण शकसंवत् का अर्थ विक्रमीयसंवत् न लेकर शकसंवत् लेनेकी ओर संकेत किया है वह मुझको भी विशेष साधारण मालूम पड़ता है। इस विषयमें पंडितजीने जो ध्वलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके कथनका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५) में किया है वह उनकी अकलङ्कग्रन्थत्रयमें स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कारजीका विचार भी पं० महेन्द्रकुमारजीकी धारणाका ही पोषक है। मैं तो पहिलेसे ही मानता आया हूँ कि अकलंकका समय विक्रमकी आठवीं

ई वे भारतीय इतिहासकी रूपरेखा (पृ० ८२४-२९) में लिखते हैं कि—“महमूद गजनवीके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बेरूनीने अपने भारत विषयक ग्रन्थमें शकराजा और दूसरे विक्रमादित्यके युद्धकी बात इस प्रकार लिखी है—“शकसंवत् अथवा शककालका आरम्भ विक्रमादित्यके संवत्से १३५ वर्ष पीछे पड़ा है। प्रस्तुत शकने उन (हिंदुओं) के देश पर सिन्ध नदी और समुद्रके बीच, आर्यावर्षके उस राज्यको अपना निवास स्थान बनानेके बाद बड़े अत्याचार किए। कर्ष्यों का कहना है, वह अलमनपुरा नगरीका शूद्र था, दूसरे कहते हैं वह हिन्दू था ही नहीं और भारतमें पश्चिम से आया था। हिन्दुओंको उससे बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्तमें उन्हें पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्यने उस पर चढ़ाईकी, उसने भगा दिया, और मुलतान तथा लोनीके कोठलेके बीच करूर प्रदेशमें उसे मार डाला। तब यह तिथि उभरी, और मुलतान तथा लोनीके कोठलेके बीच करूर प्रदेशमें उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई, क्योंकि लोग उस प्रजा पीड़ककी सोतकी खबरसे बहुत खुश हुए, और उस तिथिमें एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषरूपसे वर्तने लगे। किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत् के आरम्भ और शकके मारे जाने के बीच बड़ा अन्तर है, इससे मैं समझता हूँ कि उस संवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नामसे पड़ा है, वही शकको मारनेवाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनोंका नाम एक है।” पृ० (८२४-२५) “इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहनवाली अनुश्रुतिके कारण। अल्बेरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारने की यादगारमें चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। वह संवत् अब भी पञ्चाङ्गोंमें शालिवाहन-शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है।” (पृ० ८३६)। इन दो अवतरणोंसे इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकराजाको मारकर अपनी शकविजयके उपलक्ष्यमें एक संवत् चलाया था। जो सातवीं शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। ध्वलाटीका आदिमें जिस ‘विक्रमार्कशक संवत्’ का उल्लेख आता है वह यही ‘शालिवाहनशक’ होना चाहिए। उसका ‘विक्रमार्कशक’ नाम शकविजयके उपलक्ष्यमें विक्रमादित्य द्वारा चलाए गए शकसंवत् का स्पष्ट सूचन कर रहा है।

शताब्दीका उत्तरार्ध और नववीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरिभद्रका है। मेरी रायमें अकलंक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमें समसामयिक अवश्य हैं। आगे जो स्वामी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नववीं सदीकी मान्यताका तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सम्बन्धमें इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृकत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समयकी उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानी जाय तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षोंका सार है। पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनामें उक्त प्रशस्तिओंको प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमें भी उक्त प्रशस्तिओंको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशामें प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे बारहवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सब दृष्टिसे सयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्कग्रन्थत्रय'के प्राक्कथनमें ये शब्द लिखे हैं—“अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विवाहा की सम्बन्ध रहा है, क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके उपर सर्वप्रथम अकलंककी ही व्याख्या है।” इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलंककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् गुरु-शिष्य भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीचमें समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमें विद्यानन्दकी आपत्परीक्षा* एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट

* 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः' वाला जो श्लोक आपत्परीक्षामें है उसमें 'इद्धरत्तोद्भवस्य' ऐसा सामासिक पद है। श्लोकका अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पदको 'अम्बुनिधि' का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमें समास 'इद्धरत्तोका उद्भव-प्रभवस्थान' ऐसा तत्पुरुष किया जाय, चाहे 'इद्धरत्तो' का उद्भव-उत्पत्ति दुस्रा है जिसमेंसे' ऐसा बहुव्रीहि किया जाय। उभय दशांमें वह अम्बुनिधिका समानाधिकरण विशेषण ही है। ऐसा करनेसे 'प्रोत्थानारम्भकाले' यह पद ठीक अम्बुनिधिके साथ अपुनरुक्त रूपसे संबद्ध हो जाता है। और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्रकी प्रोत्थान-भूमिका बाँधते समय जो स्तोत्र किया गया है। इस वाक्यार्थमें ध्यान देनेकी मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थका प्रोत्थान बाँधनेवाला अर्थात् उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाला और स्तोत्रका रचयिता ये दोनों एक हैं। जिसने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाया उसीने उस निमित्तको बतलानेके पहिले 'भोक्षमार्गस्य नेतारम्' यह स्तोत्र भी रचा। इस विचारके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धिकी भूमिका जो पड़ेगा उसे यह सन्देह ही नहीं हो सकता कि 'वह स्तोत्र' खुद पूज्यपाद का है या नहीं।

उल्लेखोंके आधार पर यह निःशंक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आस-स्तोत्रके मीमांसाकार हैं अत एव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनोंके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आनेपर उसे संक्षेपमें अकलंकग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें निविष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभिन्नतरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अलबत्ता उन्होंने मेरी सप्तमंगीवाली दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमें पंडितजी तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमें तो वह दलील एक स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्पराओं में संस्कृत भाषाके प्रवेश, तर्कशास्त्रके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी छोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिका उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिग्भागके पद्यको तो निर्दिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी न करें। क्या वजह है कि अमास्वातीके भाष्यकी तरह सर्वार्थसिद्धिमें भी सप्तमंगीका विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्रकी जैन-परंपराको उस समयकी नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं--

सुदेकी बात यह है कि अभी तक ऐसा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धोंने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन संस्कृत एवं तर्कवाङ्मयका ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्पराकी कृतियोंका प्रतिबिम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बौध्दोंके जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर यह सामान्यव्याप्तिकी धारणा भ्रान्त नहीं हैं तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्रके बीच जो कुछ महत्त्वका साम्य है उस पर ऐतिहासिकोंको विचार करना ही पड़ेगा। न्यायावतारमें धर्मकीर्तिके द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभिन्न पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्र० याकोबीने सिद्धसेन दिवाकरके समयके बारेमें सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्रकी कृतियों पाये जाने वाले धर्मकीर्तिके साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिग्भागके प्रमाणसमुच्चयगत मंगलश्लोकके उपर ही उसके व्याख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगल पद्यको लेकर उसके ऊपर आसमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आस-प्रमाण स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिलने श्लोकवार्तिकमें चोदना-वेद कोही अंतिम प्रमाण स्थापित किया, और 'प्रमाणभूताय जगद्वितैषिणे'

इस मंगलपद्यके द्वारा दिग्भागप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको खण्डित किया। इसके जवाब में धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे अपने दंगसे सविस्तर स्थापित किया। जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया। पूज्यपादका ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमें समन्तभद्रने अपनी नई सप्तमंगी सरणीके द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आसप्रमाण स्थापित किया। यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ। पर शब्दका सादरय भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्तिने सुगतको—‘युत्थागमाभ्यां विमृशन्’ (प्रमाणवा० १।१३५) “वैफल्याद् वक्ति नानृतम्” (प्र० वा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी “युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्” (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है।

धर्मकीर्तिने चतुरार्यसत्यके उपदेशकरूपसे ही बुद्धको सुगत-ययार्थरूप सावित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुरार्यसत्यके स्थानमें स्याद्वादन्याय या अनेकान्तके उपदेशक रूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है। समन्तभद्रने स्याद्वादन्यायकी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोंको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सन्मतिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दों पर चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामें जब केवल अनेकान्त-दृष्टिकी स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तमंगी प्रणालीके द्वारा अनेकान्त दृष्टिका स्थापन करते हैं। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति-समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ-उपस्थित करता हूँ। समन्तभद्रके “द्रव्यपर्याययोरैक्यम्” तथा “संज्ञासंख्याविशेषाच्च” (आप्तमी० ७१, ७२) इन दो पद्योंके और प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे पं० महेन्द्रकुमारजीने नववीं शताब्दीका लिखा है। अर्चटने हेतुबिन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रोक्त कारिकाके अंशोंको लेकर गद्यमें खण्डन किया है और फिर ‘आह च’ कहकर खण्डनपरक ४५ कारिकाएँ दी हैं। पंडित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सुविस्तृत प्रस्तावनामें (पृ० २७) यह संभावना की है कि अर्चटोद्धृत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्तिकृत होंगी। पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने ही अपने किसी ग्रन्थमें समन्तभद्रकी कारिकाओंका खण्डन पद्यमें किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्तिकी टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषयमें निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ और प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीकाकी अनुटीका है। इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्वेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दीके आसपासका ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्वेकमिश्र बौद्ध शास्त्रों का, खासकर धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका, तथा उसके टीकाकारोंका गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक

बौद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके ग्रन्थसंग्रहमेंसे काँपी होकर भिज्जु राहुलजीके द्वारा मुम्बईको मिली है। उसमें दुर्बेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चटकी हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष संभावना थी। परऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने 'प्रमाणवार्तिकमें' स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आत्ममीमांसामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोंसे निरास किया तब इसका जवाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णकगोमीने भी जो धर्मकीर्तिका टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोंकी ऐतिहासिकतामें किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पंडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्यके उमास्वातीप्रणीत होनेके बारेमें भी अन्यथीय संदेहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि संदेहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें सांप्रदायिक संस्कारके वश होकर अगर संदेह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्तमें मैं पंडितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी कृतियोंका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पंडितजीकी साहित्यप्रवण शक्तियोंका अपने साहित्योत्कर्ष तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योंमें विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजीसे भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयोंको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपका निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्बन्धमें सब दृष्टिओंसे प्रकाश डाल सके।

—सुखलाल संघवी

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।
२५।३।४१

[प्रधान जैनदर्शनाध्यापक औरियसटल कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,
भूतपूर्व दर्शनाध्यापक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद]

॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अवशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लासता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि—इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदसिप्रायों में इसके प्रेरणाबीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन-संशोधन ब०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथावसर उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिकखट्वृत्ति, प्रमाणवार्तिकखट्वृत्तिटीका, प्रमाणवार्तिक-मनोरथानन्दिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुविडम्बनोपाय, हेतुविन्दुटीका, सिद्धिविनि-श्रयटीका, सत्यशसनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयविवरण जैसे अलम्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धमागधीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चावच दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा कितनेक समन्तभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मल्लवादि अकलंक जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकवादों के खच्छ युक्तिसलिल-संभार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तप्त जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अकथ आप्यायक सुषमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की वह वागंगा प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभाव से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम जवाती में लोल बालभाव की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चावच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदाम हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुगामी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकान्तदृष्टि से विरोधी दर्शनों की सुयुक्तियों को भी उचित स्थान देकर उनका समन्वय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकान्त-मूलक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्याद्वाददृष्टि से सभी एकान्तों का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होंने दार्शनिक वादविवादों का समन्वय कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादों का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने आज भी अन्तिम श्वासें ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परिशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यायाम का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादों के उत्थान-पतनों का अजायबघर भी है। इसके परिशीलन से उन उन युगों की विद्वन्मनोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दर्शन ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके क्रमविकास की कहानी का तटस्थ-भाव से अवलोकन, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियों का अपने ढंग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत ऐसी विनिमयपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विकास को पा सका है। उदाहरणार्थ—नैयायिकाभिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धों के साथ मीमांसक भी अपना कन्धा लगाता है वहाँ मीमांसकाभिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धों का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ क्षणिकत्व का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि यथासंभव जैन का खण्डन करने में बौद्धों का तथा बौद्धों का खण्डन करने में जैन का साथ देते हैं। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसंग है वहाँ वैदिक दर्शनों के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मैदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमांसक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राह्मणत्वजाति का विचार आता है वहाँ केवल बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्शनिक महाभारत में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण परस्पर विरोधी वादी भी कहीं समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देखे जाते हैं तो कहीं एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना बुद्धिकौशल दिखाते हैं। अतः विभिन्न वादों की समालोचना के समय एक ग्रन्थकार का दूसरे ग्रन्थकार की युक्तियों का शब्द अर्थ और भाव की दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धान्तों के साम्यवैषम्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र में यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योंकि यह विचार विनिमय ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी में उसकी प्राणप्रतिष्ठा है।

दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथावत् परिज्ञान करके शान्तिलाभ करना है। स्वदर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ख्याति आदि तो वादियों के चित्त की विजिगीषा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा में ताटस्थ रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

संस्करणपरिचय—इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणों में ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिया है उस ग्रन्थ का (—) ऐसे ढैश के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अन्य जिन ग्रन्थों के मात्र पृष्ठस्थल दिये हैं उन ग्रन्थों में वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थों के नाम तो अर्थसादृश्य, भावसादृश्य और कहीं शब्दसादृश्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थबोधक टिप्पण आ० प्रति के हाँसिए में लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वयं सम्पादक द्वारा ही लिखे गये हैं। टिप्पण या मूल ग्रन्थ में जो शब्द त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दों को अपनी ओर से रखा है वे [] ऐसे ब्रेकिट में मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दों को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहाँ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ () ऐसे ब्रेकिट में दिया गया है।

भूमिका में जो विषय प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके हैं उनकी चरचा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के विषय में ही कुछ विशिष्ट सामग्री के साथ ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेव के समय विषयक अपने विचार सिंधी सीरीज से प्रकाशित "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहाँ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

परिशिष्ट—इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं। जिनसे ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के विषयों को अपनी दृष्टि से सहज ही खोज सकेंगे। १ लघीयखय के कारिकार्थ का अकाराधनुक्रम। २ लघीयखय और उसकी स्वविवृति में आए हुए अवतरण वाक्यों की सूची। ३ लघीयखय और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, इसमें लान्छणिक शब्द काले टाइप में दिए हैं। ४ लघीयखय की कारिकाएँ तथा विवृति के अंश जिन दि० श्रे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं या उन्हें अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थों की सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरों के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम तथा भौगोलिक शब्दों की सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्र में जिन शब्दों के लक्षण या निरुक्ति की गई हैं उन लान्छणिक शब्दों की सूची। १० न्यायकुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दों की सूची। १२ टिप्पणी में तथा मूलग्रन्थ

में आए हुए अवतरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थों के संस्करण आदि का परिचय, संकेत विवरण तथा न्यायकुसुम के जिन पृष्ठों पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठों की सूची ।

शुद्धिपत्र—ग्रूफ देखने में पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली स्थूल अशुद्धियों का निर्देश ही इस पत्रक में किया है ।

आभार—आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी ने अपनी सहज विद्यारसिकता से यथावसर सत्परामर्श दिये हैं तथा सिद्धिविनिश्चयटीका, हेतुबिन्दुटीका एवं तत्त्वोपलवसिंह आदि लिखित ग्रन्थों के उपयोग करने की पूरी पूरी सुविधा दी है । ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहित्योपासक यथार्थोपनामक पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय में उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नकल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ी तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है । सच पूंछो तो प्रेमीजी जैसे सद्बृत्त मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप में सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है । त्रिपिटिकाचार्य महাপंडित राहुलसांकृत्यायन ने प्रमाणवार्तिकखट्टति, खट्टतिटीका के दुर्लभ ग्रूफ तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कार की सर्वथा अलभ्य प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं । सुहृद्दर् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग में मुद्रित अंश का प्रथमवाचन हुआ था और ब० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे ।

पं० परमानन्दजी वीर सेवा मन्दिर सरसावा ने प्राकृतपंचसंग्रह की गाथाओं के स्थल खोज कर भेजे । ओरियंटल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने न्यायकुसुमचन्द्र की एक त्रुटित प्रति भेजी । भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर के अध्यक्ष ने हेतुबिन्दुमनोपाय तथा जैनसिद्धान्तभवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजबली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अवसर दिया तथा पत्रोत्तर दिए । श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, पं० जुगलकिशोर जी सुस्तार, पं० चैनसुखदास जी, पं० लोकनाथ जी शास्त्री, पं० वर्धमान शास्त्री, सा० र० पं० हीरालाल शास्त्री, पं० नाथूलाल जी आदि विद्वन्मण्डल ने यथासमय प्रशस्ति आदि के बाबत ज्ञातव्य प्रश्नों के उत्तर दिये । पञ्चाचार्य पं० भूपनारायण जी भ्मा ने प्रशस्ति श्लोकों की रचना करके सहायता की । श्री विजयमूर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा प्रियशिष्य गुलाबचन्द्र जी न्याय-सांख्यतीर्थ और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट बनाने में पूरी पूरी मदद की है । मैं उक्त सभी महाशयों का हार्दिक आभार मानता हूँ ।

पोष शुक्ल पूर्णिमा
मकरसंक्रान्ति
वी० वि० २४६७

सम्पादक—

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार
स्या० वि० काशी ।

॥ प्रस्तावना ॥

इस संस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके खविवृतियुक्त लघीयस्त्रय प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुद्धर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनों आचार्योंके समय आदिके विषयमें यथेष्ट ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस—

“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाञ्जुषि।

कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥”

कारिकाके ‘विक्रमार्कशक’ शब्द पर विद्वानों का मतभेद है कि ‘अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसंवत् ७०० में हुआ है, या शक संवत् ७०० में ?’ उसके विषयमें इतना और विशेष वक्तव्य है कि—‘विक्रमार्कशक’ शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने ‘शकसंवत्’ के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धवलटीकाकी अन्तिम प्रशस्तिकी यह गाथा ही पर्याप्त है—

“अठतीसभिह सतसए विक्रमरायंकिए सु-सगणामे।

वासे सुतेरसीए भाणुविलगगे धवलपक्खे ॥”

षट्खंडागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० २५-४५) में प्रो० हीरालालजीने बहसुख ऊहापोहके अनन्तर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित ‘विक्रमरायंकिए सुसगणामे’ पदसे ‘शकसंवत्’ ही ग्राह्य हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (गा० ८५०) टीकाकार श्रीमाधवचन्द्रत्रैविधिका यह अवतरण दिया है—“श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् ‘विक्रमाङ्कशकराजो’ जायते...” इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकराजको भी ‘विक्रमार्कशक’ लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए ‘शकसंवत्’ का उल्लेख भी ‘विक्रमाङ्कशकसंवत्’ पदसे किया जाता था। मैंने “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें अन्य प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक संवत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु।

आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है—१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ।

१. प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना—

इस तुलनात्मक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है । १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, सांख्ययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा । २ अवैदिक दर्शन—बौद्ध, जैन-दिगम्बर, श्वेताम्बर ।

(वैदिकदर्शन)

वेद और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे “पुरुष एवेदं यद्भूतं” “हिरण्यगर्भः समवर्ततामे” आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र (पृष्ठ ७२६) में उद्धृत हैं—“प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त” “रुद्रं वेदकर्त्तारम्” आदि । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में “आदौ ब्रह्मा सुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियसुरूभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्” यह वाक्य उद्धृत है । यह ऋग्वेद के “ब्राह्मणोऽस्य सुखमासीद्” आदि सूक्तकी छाया रूप ही है ।

उपनिषत् और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं । इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीयुपनिषद्, ब्रह्मविन्दुपनिषद्, रामतापिन्युपनिषद्, जाबालोपनिषद् आदि उपनिषत् मुख्य हैं । इनके अवतरण अवतरणसूची में देkhना चाहिये ।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र—महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं । आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ८) में याज्ञवल्क्य-स्मृति (२।२२) का “लिखितं साक्षिणो भुक्तिः” वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७५) में मनुस्मृतिका “अकुर्वन् विहितं कर्म” श्लोक उद्धृत है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में मनुस्मृतिके “यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः” श्लोकका “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इस कर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है ।

पुराण और प्रभाचन्द्र—प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्य-पुराणका “प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।” यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है । न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में कर्मपुराण (अ० १६) का “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है ।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से “अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः” श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०६) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक ‘व्यासवचन’ के नामसे उद्धृत हैं—“यथैधांसि समिद्धोऽग्निः” [गीता ४।३७] “द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः” [गीता १५।१६, १७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का “नाभावो विद्यते सतः” अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिसाहकारोंने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गभीर परीशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें खयं ही लिखते हैं कि—

“शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्”

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्कर-में पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११६) से “यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेशः” इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व-असाधुत्व विचार में पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्य-पदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए “आख्यातशब्दः” आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका सविस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्य-पदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो “स्थानेषु विवृते वाचौ” आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १०६) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण दिए हैं। इसके विवेचनमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे “चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्” “चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा” आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र—ईश्वरकृष्णकी सांख्यसतति या सांख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। सांख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका सांख्य-कारिकामें संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें सांख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा—“बुद्धयध्ववसितमर्थं पुरुष-श्रेतयते” “आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः” “प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत” “प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म” आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन सांख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र—सांख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने सांख्य-दर्शनके पूर्वपक्षमें सांख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सांख्यकारिकाओं की व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र—कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्त-पादभाष्यकी “एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः” इस पंक्तिको प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ५३१) में ‘पदार्थप्रवेशकग्रन्थ’ के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्चण्ड दोनोंकी षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसकी पुरातन टीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें ‘प्रशस्तमतिना च’ लिखकर ‘सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो’ इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अब्बावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खंडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ इन्हें नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ—

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पंजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीका-श्रौंका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणवली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिहास्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्त्तमान नारोदग्राम की एक बापी प्रशस्ति ॐ से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

“कदम्बगृहाधिवासी मुनीन्द्रके संखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली ताकिं शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—“इनके वचनोंका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते।”[†] स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर के ही हों। इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्मनि इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्हींने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रम में तपःसाधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।” व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे।[‡] ये सदनूष्ठानपरायण, मुकु-मितभाषी, विनय-नय-संयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहीं एक शिवमन्दिर तथा बापीका भी निर्माण कराया था। इसी बापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

“सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः। गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतो जैमिनिः॥
सांख्येऽनल्पमतिः स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः। बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः का वाय नायं कुर्वी॥
यद्भूतं यदनागतं यदधुना किंचित्स्वचिद्दृषं (तं) ते। सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत्॥
सर्वज्ञः स्फुटमेघ कोपि भगवानन्यः क्षितीं सं(शं)करः। घत्ते किन्तु न शान्तधीविषमदुद्रिष्टं वपुः केवलम्॥”

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि ‘व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोंकी अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शंकर भगवान् ही अवतारे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय—व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरके अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें ले गया था। अवन्तिवर्मनि चाँदीके सिक्कों पर “विजितावनिरवन्तिपतिः श्री अवन्तिवर्मा दिवं

ॐ प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग, शिलालेख नं० १०८।

† “यस्याधुनापि विबुधैरितिकृत्यर्थासि व्याहृत्यते न वचनं नयमार्गविद्भिः॥”

‡ “अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्याताभिधानस्य च।”—बापीप्रशस्तिः

जयति" लिखा रहता है तथा संवत् २५० पढ़ा गया है ॥ यह संवत् संभवतः गुप्त-संवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्तसंवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरी को प्रारम्भ होता है ॥ अतः ५७० ई० में अवन्तिवर्मा अपनी मुद्राके प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होंगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुके अपने राज्यमें लाए होंगे। ये अवन्तिवर्मा मौर्य-वंशीय राजा थे। शैव होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुके अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समयके सम्बन्धमें दूसरा प्रमाण यह है कि—वैसवंशीय राजा हर्षवर्धनकी छोटी बहिन राज्यश्री अवन्तिवर्माके पुत्र ग्रहवर्माके विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई० ५९० में हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५-६ वर्ष बड़ा जरूर होगा। अतः उसका जन्म ५८४ ई० के करीब मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्माका यह इकलौता लड़का था। अतः मालूम होता है कि ई० ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्माकी डलती अवस्थामें यह पैदा हुआ होगा। अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरके अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि सत्यासियोंकी शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढ़ीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि कभी कभी २० वर्षमें ही शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढ़ीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढ़ी के बाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिकग्रन्थोंके आधारसे समय—व्योमशिव स्वयं ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढंगसे उल्लेख करते हैं। यथा—

“अत एव मदीयं शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रीहर्षं देव-कुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्यैव उभयथापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसद्भावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्।”

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी ‘अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्’ यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A.D. राज्य) व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते हैं; परन्तु जब शिलालेखसे उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताके वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते हैं तब उक्त कल्पनाको स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवतीका अन्तः रीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६, ३०७, ६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवातिक (२-११, १२ तथा १-६८, ७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्तिके हेतुविन्दु प्रथमपरिच्छेदके “डिण्डिकरागं परित्यज्य अक्षिणी निमील्य” इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवातिककी और भी बहुतसी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती हैं।

व्योमवती (पृ० ५९१, ५९२) में कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवातिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २० च) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी (पृ० ५४०) खंडन किया गया है।

इनमें भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्रायः समसामयिक और ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् हैं। अतः व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एवं किञ्चित्पूर्ववर्ती विद्वानोंका उल्लेख तथा समालोचनका होना संगत ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अतः इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

॥ देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वि० भाग पृ० ३७५ ।

† देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वितीय भाग पृ० २२९ ।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धार्थ, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परंतु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना-तत्त्वसंग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३।) तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० xcvi)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवम-शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमंजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीका में (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यतः' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिङ्गपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीका में (पृ० ५५६) 'यतः' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा (पृ० ५६१) लिङ्गपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A.D. है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसंवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खंडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें व्योमवती (पृ० २० क) के "नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्... यथा प्रदीपसन्तानः।" इस अनुमानको 'ताकिकाः' तथा 'आचार्याः' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) में व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षितः समवायः द्रव्यत्वेन योगः' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान-लक्षणमें विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके संशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्तन करना' इन दो मतोंका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमें दिए गए "व्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A.) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धार्थ न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) में, हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा (पृ० ७) में तथा गुणरत्न अपनी षट्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A.) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम रूप

प्रमाणवित्वकी वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीकी संक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोंके आधारसे ईस्वी सातवीं शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते हैं। यदि ये आठवीं या नवमीं शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शंकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोंका उल्लेख अवश्य करते। हम देखते हैं कि—व्योमशिव शंकरवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें 'अलौकिक-वैश्याति, स्मृतिप्रमोष आदिका खण्डन करते पर भी शंकरके अनिर्वचनीयार्थव्याप्तिवादका नाम भी नहीं लेते। व्योमशिव जैसे ब्रह्मश्रुत एवं सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करनेवाले आचार्योंके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीवर्ती आचार्योंके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीषका इन्हें नवमीं शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हें छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जँचता।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ६१३ (ई० ६११) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। व्योमशिव बुद्धादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २० क)। श्रीधर आल्यान्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंकी मुक्तिका खंडन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८ २६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१ अ) में 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर देखते हैं।

वात्सायन और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंसे ही इनका निर्देश किया गया है।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्ततः सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होंने दिङ्नामके प्रमाण-समुच्चयके खंडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खंडन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिकारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिकारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका “भावाभावयोस्तद्वत्ता” यह लक्षण प्रमेयकमलमार्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रसाचन्द्र—भट्टजयन्त जरनैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगर सौरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—“जयन्तभट्टका गंगेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरनैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे “जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः” यह वाक्य ‘आचार्यैः’ करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गंगेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये।” इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा ‘संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास’के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वीसे ११ वीं शताब्दी तक मानते थे। अतः जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा “जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः” इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय ‘न्यायसूचीनिबन्ध’ के अन्तमें स्वयं दिया है। यथा—

“न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वत्सवंवसुवत्सरे।”

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने ‘वत्सर’ शब्दसे शकसंवत् लिया है। डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम संवत् लेते हैं। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि ‘तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी ‘लक्षणावली’ शक सं० ९०६ (984 A. D.) में समाप्तकी है। यदि वाचस्पतिका समय शक सं० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि-जैसी टीका बन जाना संभव मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पति मिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ (841 A. D.) प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखीं हैं। सर्वप्रथम इन्होंने मंडनमिश्रके विधिचिन्तेक पर ‘न्यायकणिका’ नामकी टीका लिखी है; क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थोंमें प्रायः इसका निर्देश है। उसके बाद मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या ‘ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा’ तथा ‘तत्त्वविन्दु’; इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद ‘तात्पर्य-टीका’ लिखी गई। तात्पर्य-टीकाके साथही ‘न्यायसूची-निबन्ध’ लिखा होगा; क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। ‘सांख्यतत्त्वकीमुदी’ में तात्पर्य टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्य-टीकाके बाद ‘सांख्यतत्त्वकीमुदी’ की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें ‘सांख्यतत्त्वकीमुदी’ का निर्देश है, अतः निदिष्ट कीमुदीके बाद ‘तत्त्ववैशारदी’ रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका ‘भामती’ टीकामें निर्देश होनेसे ‘भामती’ टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

ॐ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्तिक-भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एंड बिब्लोग्राफी ऑफ दि न्याय-वैशेषिक Vol. III, पृ० १०१।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्याय-कणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा:—

‘अज्ञानतिविराशनर्त्त परवसनीं न्यामञ्जरीं रचिराम् । प्रसवित्रे प्रसवित्रे विद्यारत्नरे नमो गुरवे ॥”

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादिओंका दमन करनेवाली, रचिर न्यायमञ्जरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो ।

इस श्लोकमें स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने में भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्य-टीकामें 'त्रिलोचनगुरुनीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक 'जातञ्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः' इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है, किन्तु न्यायवातिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवातिक पृ० २३६), जिस न्यायवातिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निविवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' में लिखते हैं कि—“वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थों पर वाचस्पतिका कोई असर देखने में नहीं आता।” ‘जातञ्च’ इत्यादि वाक्यके विषय में भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—“यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिये।” वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायमञ्जरी (पृ० १२०) में उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः' इस पद्यको टिप्पणीमें 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१-३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है, मूलका नहीं है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—‘व्यवसायात्मक’ पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा ‘अव्यपदेश्य’ पदसे निविकल्पक ज्ञानका। संशयज्ञानका निराकरण तो ‘अव्यभिचारी’ पदसे हो ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना ‘व्यवसायात्मक’ पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात में ‘गुरुनीत मार्ग’ का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार ‘अयमश्वः’ इत्यादि शब्दसंसृष्ट ज्ञानकी उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति ‘अयमश्वः’ इस ज्ञानकी उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधार पर—

शब्दजत्वेन शाब्दञ्चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः । स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत् ॥

इसलिये वे ‘अव्यपदेश्य’ पदका प्रयोजन निविकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में ‘उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है’ इस मतका ‘आचार्यः’ इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खंडन किया है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्याः' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि—यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका। तात्पर्य-टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है; सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (संभवतः व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य-टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य-टीकामें (पृ० १०२) 'यवा ज्ञानं तवा हानोपादानोपेक्षादुदयः फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयञ्चेदम्' इत्याकारकपरामर्श, इत्यादि बताया है।

न्यायमंजरी (पृ० ६६) में इसी प्रकरणमें शङ्का की है कि—प्रथम आलोचन ज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें कई क्षणोंका व्यवधान पड़ जाता है? इसका उत्तर देते हुए मंजरीकारने 'आचार्याः' शब्द लिखकर 'उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्याः' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके संपादक पं० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मंजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्यातका मत दिया है जो इस परामर्शात्मिक उपादेयता ज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि—यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती† जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्याः' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होंगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "जातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येकः कालः" इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलों में 'आचार्याः' पद पर 'वाचस्पतिमिश्राः' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमें रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि—जयन्त मंजरीमें धर्मकीतिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मात्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके 'एकमेवेदं हर्षविषाद-

* न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्त्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूपं पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमिति शब्दोच्चारणानन्तरं प्रतिपद्यत इत्युभयजं ज्ञानम्; ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराजसम्भवादयुक्तमेतत् । तथाहि—मनसासाधिष्ठितं न श्रोत्रं शब्दं गृह्णति पुनः क्रिया-क्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम् । न च शब्दज्ञानस्यैतावत्कालमवस्थानं सम्भवतीति कथमुभयजं ज्ञानम् ? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोल्लासा विभागमारभते । ततः स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयजं ज्ञानम् । यदि वा "भवत्येवोभयजं ज्ञानम्" —प्रश्न० व्यो० पृ० ५५५ ।

† 'द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदुःखसाधनत्वोपलब्धेः तज्ज्ञानानन्तरं यद्यत् द्रव्यादिजातीयं तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेदं द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चयः तत् उपादेयज्ञानम्" —प्रश्न० व्यो० पृ० ५६१ ।

द्यनेकाकारिवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्” (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालंकारकी प्रेसकापी पृ० ४२९) इस वचनका संज्ञन करते हैं, (न्यायमंजरी पृ० ७४)।

भिक्षु राहुलजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीतिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरमुक्तका ७००, धर्मातर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अतः जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A. D. तथा उत्तरावधि ८४० A. D. होनी चाहिए। क्योंकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A. D. में बनाया गया है, इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वविन्दु और तात्पर्यटीका लिख चुके हैं। संभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो। इस न्यायकणिका में जयन्तकी न्यायमंजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D. ही मानना समुचित ज्ञात होता है। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वाजावलीसे भी संगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरी कथासारमें लिखते हैं कि—

“भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड़ ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।”

काश्मीरके कर्कोट वंशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A. D. तक रहा है। शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ़ अवस्थामें मन्त्री होंगे, अपने मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होंगे। इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढ़ीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन् ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी ८०० तकमें अपनी ‘न्यायमंजरी’ बनाई होगी। इसलिये वाचस्पतिके समयमें जयन्त बृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हे आदर की दृष्टिसे देखते होंगे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमें न्यायमंजरीकारका स्मरण किया है।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि—हरिभद्रसूरिने अपने पद्धदर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में न्यायमंजरी (विजयानगर सं० पृ० १२९) के

“गम्भीरगजितासम्भनिभिन्नगिरिगह्वराः। रोलम्बगलव्यालतमालमलिनरिवधः॥

स्वङ्गतडिल्लतासङ्गपिषङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः। वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमूचः॥”

इन दो श्लोकोंके द्वितीय पादोंको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है। प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिन-विजयजीने ‘जैन साहित्यसंशोधक’ (भाग १ अंक १) में अनेक प्रमाणोंसे, खासकर उद्योतनसूरीकी कुवलय-माला कथामें हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) में हुई थी। मेरा इस विषयमें इतना संशोधन है कि उस समयकी आयु-स्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है। उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमंजरीको देख सकेंगे। हरिभद्र जैसे सैकड़ों प्रकरणोंके रचयिता विद्वान्के लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नहीं हो सकता। अतः ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमंजरीके श्लोकोंका अपने ग्रन्थमें शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधक प्रमाण है।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एवं न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एवं न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एवं समुचित उपयोग किया है। षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमञ्जरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते हैं। प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी स्वन्म्यस्त

थी। वे कहीं कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकारः' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्य-वादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गई हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गई हैं। (न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।

तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४२१) "भूयोऽवयवसमान्ययोगो यद्यपि मन्यते।

सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायमं० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "नन्वस्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिप्रहः।

भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्विष्यति ॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमंजरीका नाम लिखा जा सकता है।

वाचस्पति और प्रभाचन्द्र—षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ में समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सांख्यों के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खंडन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी सांख्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामें अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करने के लिए "यथा पथः पथोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति...." इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष में उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें विधिविवेक के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है— "नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम् ॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र—जैमिनिसूत्र पर शबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें कुमारिल के श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शबरभाष्य की दलीलों को भी पूर्वपक्षमें रखा है। शबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७६) में शब्दको वायवीय भाननेवाले शिक्षाकार भीमांसकोंका मत भी शबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र में शाबरभाष्य के कई वाक्य प्रमाणरूप में और पूर्वपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

कुमारिल और प्रभाचन्द्र—भट्टकुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्र-वार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम्।

अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥” [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६-१०) में वाक्यपदीय (१।७) के “तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते” अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वाक्यधिकरण श्लो० ५१) में वाक्यपदीय (२।१-२) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री ह्वेनसांगने अपने यात्रा-विवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेय-कमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादि-प्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत की हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार प्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी “तस्मादुभय-हानेन व्यवृत्त्यनुगमात्मकः” आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत की हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्बेक-कृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोचन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जातीं। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हों।

मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र—आ० मंडनमिश्रके मीमांसासूक्तमणी, विधिविवेक, भावना-विवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० १ वीं शताब्दी का पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोंमें सप्तमशतकवर्षों कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा

८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४६) में मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं” श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्ष में मंडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधियादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र—शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्टकुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का विस्तृत खंडन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र—प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नाम की पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्जिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञान-नुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र—आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समर्थ ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमात्’ हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र—शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीसृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ९ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे “ब्रह्माविद्यावदिष्टश्चेन्ननु” इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)

तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-
वार्तिक (३।५।४३-४४) से “यथा विशुद्धमाकाशे” आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

भामह और प्रभाचन्द्र—भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ० २६१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली “यदि गौरित्ययं शब्दः” आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६वें परिच्छेद (श्लो० १७-१८) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५-७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र ‘कल्पनापोढ’ पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके ‘कल्प-
नापोढ और अभ्रान्त’ उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-
विषयक “यदि गौरित्ययं” आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

बाण और प्रभाचन्द्र—प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यरलोक “रजोजुषे जन्मनि सत्त्वश्रुत्तये” प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २१८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३६३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है—“कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः”—अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र—शिशुपालबध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का “युगान्तकाल-प्रतिसंहृतात्मनो...” श्लोक प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

(अवैदिकदर्शन)

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र—अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

“दीपो यथा निर्द्वैतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

जीवस्तथा निर्द्वैतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिल्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥”

[सौन्दरनन्द १६।२८, २९]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र—नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी ‘न स्वतो नापि परतः’ और ‘यथा मया यथा स्वप्नो’ ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र—वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३६०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत कीं हैं। देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३६५ ।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र—आ० दिङ्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट संस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोद लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने^१ दिङ्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रदमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ८०) में

‘स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः’ लिखकर प्रमाणसमुच्चयका ‘प्रमाणभूताय’ इत्यादि मंगलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है—
 “दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् ‘नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः’ इत्युक्तम्।”

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र—बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति इसाकी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खंडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अमयदेव, वादिदेवसूर आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खंडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह “अकलङ्कग्रन्थत्रय” की प्रस्तावना (पृ० १८-) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुविन्दु, न्यायविन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की ल्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका “हसति हसति स्वामिनि” आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमात्’ आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी “असाधनाङ्गवचनमदो-पोद्भावनं द्वयोः” कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोंका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी इसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चरचा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि—विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खंडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कार में ही किया है^१। मिश्र राहुलसांकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्न-लिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जड़ताका चिह्न बताया है—

“वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।

सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥”

उत्तराध्ययनसूत्रमें ‘कम्मुणा बह्मणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ’ लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितके २५ वें अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगत आदिने जातिवादके खिलाफ योड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी खोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णकगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका ‘अलङ्कार’ शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका ‘आहुर्विधातु’ श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० = ८ वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुद-चन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणों पर कर्णकगोमिकी खवृत्ति-टीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र—तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रह-पञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्राबाहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अकलंक ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० २७ में देखना चाहिए।

२ इन आचार्योंके ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।

३ देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना पृ० Xcvi

वार्तिकमें नहीं पाई जाती। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिके ग्रन्थों से न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतु-लक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी १ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दु-विवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। मिश्र राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिवेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चरचामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अज्ञाते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अन्नाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र—ज्ञानश्रीने क्षणभंगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयानाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खंडन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बरांक (१०६) शक, ई० १८४ में समाप्तकी थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० १८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। मिश्र राहुल सांकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोह-सिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है—

“अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।”

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें “अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां” कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं है पर उदयनाचार्य (ई० १८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपसंहारसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपसंहारग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खंडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपसंहारवादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञानका पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपसंहार ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६४८) में 'तत्त्वोपसंहारवादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३९) में भी तत्त्वोपसंहारवादीका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खंडनमें क्वचित् तत्त्वोपसंहारवादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपसंहारवादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र—दिगम्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दाका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार—के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-३६) में स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिगम्बरीकी मान्यताका विस्तृत खंडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र—आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आतमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाँचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्थानं तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आतमीमांसाका उपसंहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि—

“श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलमिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं पृथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्

विद्यानन्दैः स्वस्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥१२३॥”

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तर्त्तोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल—प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोंका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी स्वामीने मीमांसा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है ।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आसकी मीमांसा की है उसी आसकी मैंने परीक्षा की है। वह मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था । यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोंके निकालनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं । यह ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता; क्योंकि भट्टा-कलङ्कदेव और विद्यानन्दने अपने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है । यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते । इस श्लोकमें विद्यानन्दने ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्त रत्न निकाले थे । वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते । परन्तु यही विद्यानन्द आसपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं । यथा—

“किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—मोक्षमार्गस्य नेतारं....”

इस पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है । किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वीचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते हैं । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्क-देवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं—“तेन ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्’ इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति । ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमस्त्वसा । द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमकलङ्कावबोधने ।” इस अवतरणमें ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष’ वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा ‘प्रत्यक्षलक्षणं’ श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है । अतः मात्र सूत्रकारके नामसे ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम ‘विद्यानन्दका भुक्ताव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है’ यह नहीं समझ सकते । अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते । अतः इस पंक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्वर्त्तोंके उद्भवकर्ता आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए । ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगलश्लोक है । और यदि समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आत्ममीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं । प० सुखलालजी का यह तर्क कि—“यदि समन्तभद्र

पूज्यपादके प्राकालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आत्ममीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किए बिना नहीं रहते” विचारणीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आत्ममीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित “विरूपकार्यारम्भाय” आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आत्ममीमांसाकी “द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः” कारिकाके खंडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक संभवतः धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हों। अर्चटका समय ९ वीं सदी है। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी “वटमौलिसुवर्णार्थी” कारिकाके प्रतिच्छाद्यभूत निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

“वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥

स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥” [मी० श्लो० पृ० ६१६]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय इसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अन्यथा दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पांचवी और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धमन्त्रिसे ‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः’ पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्चण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहां कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहां प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—‘संस्कृतसाहित्यका संचित इतिहास’ के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वें शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए ० वी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—“धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमें की है।” डॉ० पाठक और उक्त

१ देखो अनेकान्त वर्ष १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बंबईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है।

इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोंके समय निर्धारणकी भांति धनञ्जयके समयमें भी बड़ी भारी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८ वीं सदीका अन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१ जर्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिसुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है—

“द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः। यथा जातं फलं तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः ॥”
इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—“यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।” आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जर्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जर्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्य-मीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलकचूषमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२ बादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—
“अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये सुहुः। बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥”
इस श्लोकमें “अनेकभेदसन्धानाः” पदसे धनञ्जयके “द्विसन्धानकाव्य” का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। बादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी धर्वलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

“हेतावेवं प्रकारैः व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समामौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः ॥”
आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके—

“प्रमाणमकलङ्कन्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥”
इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुसुमचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्योचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका सुसुलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाक्यका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाविकवार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलङ्कवाक्यके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवा-
र्तिकवृत्ति (पृ० ६८) में 'एके अनन्तवीर्यादयः' पदसे संभवतः इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विधानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विधानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकावर्तिक, अष्टसहस्री, आसपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल्य तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विधानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विधानन्दके ग्रन्थोंका अन्गुठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विधानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभा-
चन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

“विधानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्”

इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विधानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विधानन्दके ग्रन्थ प्रभा-
चन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विधानन्द अपने आसपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्धये' 'सत्यवाक्याधिपाः' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७) लिखते हैं कि—“बहुत संभव है कि उन्होंने गंगवाडि प्रदेश में बड़वास किया हो, क्योंकि गंगवाडि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गंगवंशमें होने वाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह संभव है कि विधानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके “प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः” इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।” इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आसपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आसपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, ‘सत्यवाक्य’ नाम नहीं लिया है, पर आसपरीक्षा आदिमें ‘सत्यवाक्य’ नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मंडनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३४ कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं। मंडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपलब्धवादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चरचा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके ‘पूर्ववत्’ आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र—लघीयल्लयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयल्लयादिसंग्रहकी ही प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वदिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

“आत्मनैवाद्धितीयेन जीवसिद्धि निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते ॥”

वदिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये

हों। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोंका और प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि—(पृ० १=१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ—

“किन्तु अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपरयन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्रव्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नानुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च—तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वाज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥”—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

“किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्रव्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नानुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आनुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्—तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वाज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥”—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १=१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र—राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोंसे मिलता जुलता था। ये नम्र रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ देखो—पं० नाथूरामप्रेमीका ‘यापनीय साहित्यकी खोज’ (अनेकान्त वर्ष ३ किरण १) तथा प्रो० ए० उपाध्यायका ‘यापनीयसंघ’ (जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७) लेख।

शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह संघ दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृंखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है—“शाकटायनोऽपि यापनीय-यतिग्रामाग्रणीः श्लेषशब्दानुशासनवृत्तौ”। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्रे० ग्रन्थोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा क्षीमुक्तिके समर्थनके लिए क्षीमुक्ति और केवलमुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं^१। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर विलगावमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें क्षीमुक्ति और केवल-मुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं विषयोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें क्षीमुक्तिका संक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप सन्मतटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाण्ड्यटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्धादरत्नाकरकार वादि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोजिजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए अभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विक-दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि क्षीमुक्ति और केवलमुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसंघ वालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि कवीर कवीर समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खंडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें क्षीमुक्ति और केवलमुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलमुक्ति और क्षीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाण्ड्यटीका और जैनतर्कवार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने क्षीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहार-वादमें श्वेताम्बर आचार्योंकी वजाय शाकटायनके केवलमुक्ति और क्षीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने

खंडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६१) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः विख्याताः शीलवत्तया जगति ।

सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥” [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिद्वारा महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने ‘शब्दाम्भोजभास्कर’ नामका जैनेन्द्रव्याकरण-का महान्यास बनाया है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ नामक लेखमें जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मतसार कर्मकाण्ड (गा० ४३६) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है—

“जस्स य पायपसाएणुणंतंसारजलहुमुत्तिण्णो ।

वीरिण्णदिवच्छो णमामि तं अभयणदिगुरुं ॥”

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८६६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

वादिराजसूरिने अपने पार्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्वचरित शकसंवत् १४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मतसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गंगवंशीयमहाराज मारसिंह द्वितीय (१७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने श्रवणवेल्गुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

१ इसका परिचय ‘प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ’ शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए।

२ जैन साहित्यसंशोधक भाग १ अंक २।

३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना।

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३६३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वीं सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ६६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है; क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र—मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वङ्गकेरिक्त। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रचीं हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवश्यक्निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सम्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। संभव है कि गोम्मतसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मतसारमें बहुभाग स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "एगो मे सस्सवो" "संजोगमूलं जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८, ४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाण्डु तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) में "आचेलकुहेसिय" आदि गाथांश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा नं० ६०६) में तथा भगवती आराधनामें (गा० ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरआगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १६७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस संक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिगं० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (६७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ६८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मतसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका संक्षिप्त संस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'छोयायासपएसे'

गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसंग्रह में पाई जाती है। अतः आपाततः यही निष्कर्ष निकल सकता है कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसंग्रहसे उद्धृत की होगी; परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।३८) तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ३८६) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) में 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड में है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और धवलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अकलंकके प्रकरणोंके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुसुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही संक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने^१ प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमांसा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुसुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड को पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—देवसेन श्रीविमलसेन गण्ठीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें माघ सुदी दशमी विक्रमसंवत् ८६० (ई० ९३३) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसंग्रह ग्रन्थकी रचना की थी; क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसंग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुसुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसंग्रह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

“णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।

ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो गेयो ॥”

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि—

“पुब्बायरियकयाई गाहाई संचिऊण एयत्थ । सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसत्तेण ॥

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम संस्करणके संपादक पं० बंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ “प्रमेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति । मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥

तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनास्मिन् सताम् । चेतोहरं भूतं यद्वत्तद्या नवधटे जलम् ॥”

३ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ९।

४ नयचक्रकी प्रस्तावना पृ० ११-।

रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसण णवए । सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धं माहसुद्धदसमीणा”
अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है।
तथापि बहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन
धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका
उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः
इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ६६७ (ई० ६४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तु-
प्रक्रिया उपलब्ध है^१। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिनकृत
महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि
न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो ‘टीकामाल’ शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी
टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

“सूत्रस्तम्भसमुद्भूतं प्रविलसन्न्यासोरुन्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम् ।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,
प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥”

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अगलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—
“इति परमपुरनाथकुलभूषुत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिज्ञाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधा-
नदीपवर्तिश्रीमदगलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते” । यह चरित्र शक संवत् १०११, ई०
१०८६ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना
युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा
दी है। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्रे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र—म० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरों
ने द्वादशांगी रूपमें रूँथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा
श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी संकलन वीर सं० ६८०
(वि० ५१०) में श्वेताम्बरार्य देवद्विगणि क्षमाश्रमणने किया था। अंगग्रन्थोंके सिवाय कुछ
अंगबाह्य या अंगगालक श्रुत भी है। छेदसूत्र अंगग्रन्थमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने
न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६८) के क्षीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र (५१२०) से “नो कपपइ
गिगंभीए अचेलाए होत्तए” यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो
वह, जिस पर स्वयं वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्य-
पादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य-

१ देखो प्रेमीजीका ‘जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्यदेवनन्दी’ लेख, जैनसा० सं० भाग १ अंक २।

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। सुखारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के लीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्ध-कारिकाओंमेंसे “श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः” कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थ-राजवार्तिक (पृ० १०) में भी “अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः” वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें ‘उक्तञ्च’ लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी ‘दग्धे बीजे’ कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनसे इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र—आ० सिद्धसेनके सम्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सम्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ० जैकोबी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। पं० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पांचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि “सिद्धसेन ईसाकी छठी या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने संभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो^१।” न्यायावतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायत्रिन्दु भी अपना यन्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय ‘धानुष्क’ का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४-१६ से भलीभांति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र—श्रे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृत-गायानिवद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है; क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है^२। सिद्धर्षिने उपमतिभयप्रपञ्चाकथा वि सं० २६२ ज्येष्ठ शुद्ध पंचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की ६ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की ‘वरिससयदिवलययाप अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू’ इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

१ देखो गुजराती सम्मतितर्क पृ० ४०।

२ इंग्लिश सम्मतितर्क की प्रस्तावना।

३ जैनसाहित्यको इतिहास पृ० १८६।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जी-ने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है—कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए; क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमंजरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मंजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रचरित्रके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

“प्रत्यक्षमनुमानश्च शब्दश्रोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥”

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका एक श्लोक—
 “प्रत्यक्षमनुमानश्च शब्दश्रोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ॥”
 इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे संभावना की जा सकती है कि जैमिनीकी षट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह संभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लावण है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं ? इसका एक और उदाहरण यह है कि—
 “विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च । समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥
 आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः । क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥
 स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते । पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥
 धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च...”

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२-४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके आसम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्ता-समुच्चयमें समन्तभद्रकी आसमीमांसाके श्लोक उद्धृत कर अपनी षड्दर्शनसमुच्चयक बुद्धिके प्रेरणा

बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र—श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, विक्रम संवत् १६२ (१ मई १०६ ई०) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि—“जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके बिना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए बिना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।” न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारीका दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोंके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र—चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ह्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद्ध थे। सम्मतिर्ककी गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) में श्रीमान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराव्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराव्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। पं० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी संभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १०९६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिका का संशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं में सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिक-प्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सम्मतिटीका में पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सम्मतिटीका में क्षीमुक्ति और केवलिकवलाहाराका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

युक्तियोंमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब सनकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि क्षीमुक्ति और केवलमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खंडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी चर्चा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके क्षीमुक्ति और केवलमुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि—“जो के आ टीकामां सैकड़ों दार्शनिक-ग्रन्थों नु दोहन जगाय छे, छुतां सामान्यरीते मीमांसककुमारिलभट्टनु श्लोकवार्तिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह उपरनी कमलशीलकृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगरे ग्रंथों नु प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे।” अर्थात् सन्मतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूँ कि—“प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनों ग्रंथोंके बहुभागमें जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रंथ हैं—भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विधानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आमपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सन्मतितर्कटीका और प्रमेय-कमलमार्त्तण्डमें आया है।” सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि—सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मति-

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्चण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो—प्रमेयकमलमार्चण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए समन्तिटीका के अवतरण ।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र—देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे । प्रभावक चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था । ये प्राग्वटवंशके रत्न थे । इन्होंने वि० सं० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था । ये भड़ोच नगरमें ६ वर्षकी अल्पवयमें वि० सं० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० सं० ११७४ में इन्होंने आचार्यपद पाया था । राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० सं० १२२६ में इनका खर्गवास हुआ । प्रसिद्ध है कि—वि० सं० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी समामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे । इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है । इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है । इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है । परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं । माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सित्राय अकलङ्कके स्वविवृतियुक्त लघीयख्य, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थरत्नलोकावार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है । इस तरह भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है ।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्चण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेवके लघीयख्यपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है । प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं । इन लेखोंमें विविध विकल्पजालोंसे परपक्षका खंडन किया गया है । प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी संग्रहदृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते । इनकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्चण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चमत्कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्चण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है । वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थोंके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है । यह रत्नाकर मार्चण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्देक्षित हुआ है । प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दादरय है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है ।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि—प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि—मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चक्षुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खंडन कर चुके हैं। जब हम भासुरूपवाली आंखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोंसे छायापुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६८८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि—“स्वच्छताविशेषाद्वि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते।”—अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खंडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनका आंखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ़ संग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके मंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये ‘कलिकाल सर्वज्ञ’ के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी लघुवयमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् १११०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूरिपद पर प्रतिष्ठत हुए। ये महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२८ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना-प्रमाणमीमांसा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमांसाके निग्रह-

स्थानके निरूपण और खंडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परि-
हारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाण-
मीमांसाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके
द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही संक्षिप्त कर प्रमेयरत्न-
मालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका
सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक
संगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने
अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया
प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय मदेनजर रखा है।
प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंधी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाण-
मीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं
शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी,
प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति,
नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका
(पृ० ३७१ A.) में वे अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे
असहमत जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयल्यस्त्वविवृति (का० ६२) का
'नयोऽपि तथैव सम्यगोक्तान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके
साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६२१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत
करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—“अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता
नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोग-
प्रकारेणैव सम्यगोक्तान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु
मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।”—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि
मलयगिरिके सामने लघीयल्यकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक
वस्तुको अखंडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण
करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका
निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलंकने प्रमाणवाक्यकी
तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब
'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप
न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय

करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होंने अकलंकदेवके इस तत्त्वको मदेनजर नहीं रखा कि—नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि—जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे—अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलंककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलंकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B.) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्द-नय भी प्रमाण ही हो जायेंगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हें विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र—देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने न्यायावतारटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० संवत् ११६३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रत चरित्र' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं—

१—“परिमण्डलाः परमाणवः तेषां भावः... पारिमण्डल्यं वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात् ।” (पृ० २५)

२—“प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः तां विदन्ति अधीयते वा वैभाषिकाः इत्युवाच ।” (पृ० ७६)

ये दोनों अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३=पं० १३ तथा पृ० ३६० पं० १ में पाए जाते हैं। इसके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र—आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागोद्वगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमंजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि—इन्होंने शक संवत् १२१४ (ई० १२६३) में दीपमालिका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमंजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमंजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—“एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।” इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमंजरीमें अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५६८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेव-सुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत ‘षड्दर्शन-समुच्चय’ पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्बृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्न-समुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोंका लेखनकाल विक्रम संवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैन-मत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वामित मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखंडनके भागमें न्याय-कुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटि-क्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखंडनके भागोंपर न्यायकुमुद-चन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युग प्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में पं० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर बादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे ‘न्यायविशारद’ पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हें ‘वाचक-उपाध्याय’ का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३

(सन् १६८६) में अनशन पूर्वक खर्गस्थ हुए थे । दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा । उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है । इन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं । इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था । सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था । इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी । जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्याय-दीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं । इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोंके परपक्ष खंडनवाले अंशोंमें प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं । इन्होंने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योंकी समालोचना भी की है ।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोंकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है । बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुसुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था । जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तर-कालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है । बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था ।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हें जीवनोपयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था । प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं । न्यायकुसुदचन्द्र (पृ० ६६६) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोंका सद्भाव दिखानेके लिए उनसे वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः ॥”

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है । इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका खंडन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छुलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं । प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ८) में नडु-लोदक—तृणविशेषके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है ।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलंक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ३६६) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा-पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

उदारविचार—आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणा शक्ति और उदार विचारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकारमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुण-कर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

“ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम् ; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्ति-विशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः । तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धयतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः ।”

[न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ । प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४८६]

“प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करें तथा ब्राह्मणोंके योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करें उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारों को क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है ।”

वे प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—“ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे होती ही है ।”

बौद्धोंके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है—

“न जटाहिं न गोत्तेहिं न जच्चा होति ब्राह्मणो ।

जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं ।” [धम्मपद गा० ३६३]

“कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

वईसो कम्मुणा होइ सुहो हवइ कम्मुणा ॥” [उत्तरा० २५।३२]

दिगम्बर आचार्योंमें बराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनन्दि कितने स्पष्ट शब्दोंमें जातिको क्रियानिमित्तक लिखते हैं—

“क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥” [बराङ्गचरित २५।११]

“शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको ‘अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति’ इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं । यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है । क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है ।”

ऐसे ही विचार तथा उद्धार पद्मपुराणकार रविषय, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्म-परीक्षाकार अमृतगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं^१ । आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक संस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोंका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परि-सिञ्चन कर पोषण किया है । यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधान-तया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अंशोंके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती । उन्होंने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए ।

§ २. प्रभाचन्द्रका समय—

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुसुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें ‘पद्मनन्दि सैद्धान्त’ को अपना गुरु लिखा है । श्रवणबेलगोलाके शिलालेख (नं० ४०) में गोलाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है । और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपसे वर्णन किया गया है । प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनों विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुसुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोंके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्करनामक जेनेन्द्रन्यासके कर्त्ता भी थे । इसी शिलालेखमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्वक्कर्णीदिक और कौमारदेवव्रती लिखा है । इन विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि—पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे । ये मूलसंवातर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोलाचार्यके शिष्य थे ।

प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसेद्धान्त थे और सधर्मा ये कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की। ये धाराधीशभोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी “श्रीभोज-देवराज्ये धारानिवासिना” आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोज-देवके राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुसुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराण-टिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके “श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्वारानिवासिना” शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

अवश्यावेल्गोलाके शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“अवर सधर्मैरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोतादमरदिमच्छटा-

च्छायाकुङ्कुमपङ्कजलिचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।

न्यायाब्जकारमण्डने दिनमणिशब्दाब्जरोदोमणिः,

स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः ॥१७॥

श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽवृष्टयः प्रवादिभिः।

पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्गुशः ॥१८॥”

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमल-समूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्त्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पण्डित रूपी कमलोंके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथितर्कग्रन्थकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ‘हाँ’ में दिया जा सकता है, पर इसमें एकही बात नयी है। वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपने ही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं। यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धारा-धीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। हलेबेलगोलके एक शिलालेख (नं० ४६२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०६४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार—आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, प्रेमीजी § तथा मुस्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण का यह श्लोक—

“चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकवि स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥”

अर्थात्—‘जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।’ इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझ गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयध्वला टीकाको शक सं० ७५६ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय ज्योतिषवर्षका राज्य था। जयध्वलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुद्धर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ० १२३) में डॉ० पाठक आदिके मतका निरास करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ६५० से १०२० तक

§ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने “श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र” लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अंक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि—“हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोंका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रिया-कलापटीका, प्रवचनसारसरजोभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्ता भी वही हैं।”

‡ पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके ‘चन्द्रांशुशुभ्रयशसं’ श्लोकमें चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नहीं मालूम होते। यतः (१) आदि-

निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अश्रान्त नहीं हैं। ५० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ६५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ६५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्काराणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

पुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदि-पुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीनबुद्ध जयन्त से प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें 'उल्लेख्य' हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन से 'अन्धाद्यं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसास्। गुणभद्रभद्रतानां कृतिरात्मानु-शासनम्॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अतः आत्मानुशासनका रचना-काल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है— "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वस्वोपकारकं सम्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः..." अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयोंकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्ममाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनकी स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मनीश, कवि, अचिकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्ध-बुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अचिकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तर-पुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। ५० नायूरामजी प्रेमीने विद्वद्वल-माला (पृ० ७५) में यही संभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेन की मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करने से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पतिः' भर्तृहरिके नीति-शतकका ८८वाँ श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'यदेतस्त्वच्छब्द' वैराग्यशतकका ५० वाँ श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धाद्यं महानन्धः' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

“श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागर-
सेनसैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद-
बला[त्का]गणश्रीसंघाचार्यस्तत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डमभूतरिपुराज्यविजयिनः
श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्ये(?)विरचितं समाप्तम् ।”

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोँके अनन्तर—“श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्वारानवासिना परापर-
परमेष्ठिप्रणामोपाजितामलपुण्यनिराकृतानिखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराण-
टिप्पणके शतत्रयधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति ।” यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराण पर दोनों आचार्योंके पुथक् पुथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेखसे स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके ‘श्रीविक्रमादित्य’ वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश ‘इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्’ लिख दिया है। इसी लिए डॉ० पी० एल० वैद्य, प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्तमें “श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्वारानवासिना परापरपरमेष्ठि-
पदप्रणामोपाजितामलपुण्यनिराकृतानिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाण-
प्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।” यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्याय-
कुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख ‘श्री भोजदेवराज्ये’ की जगह ‘श्रीजयसिंह-
देवराज्ये’ पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् १८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् मुस्तारसा० तथा पं० कैलाशचन्द्रजी प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाए जाने वाले उक्त ‘श्रीभोजदेवराज्ये और श्री जयसिंहदेवराज्ये’ आदि प्रशस्तिलेखोंकी स्वयं प्रभा-
चन्द्रकृत नहीं मानते। मुस्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचन्द्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्य को प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनोंके आधार जुदे जुदे हैं। मुस्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेन

१ देखो पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित ‘श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र’ शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ४
किरण १। २ महापुराणकी प्रस्तावना पृ० Xiv। ३ रत्नकरण्डप्रस्तावना पृ० ५९-६०। ४ न्यायकुमुदचन्द्र
प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

के पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते । पं० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १० वीं और ११ वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते । सुस्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है कि—प्रमेयकमलमार्तण्डकी कुछ प्रतियों में यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता । और इसके लिए भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है । मैंने भी प्रमेयकमलमार्तण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्त भवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं । इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है । इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भा० प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतियोंमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है । हाँ, भा० और श्र० प्रतियाँ, जो ताडपत्र पर लिखी हैं, उनमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति-वाक्य है । इनमें भा० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है । इस तरह प्रमेय-कमलमार्तण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं । न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंह देवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है । श्रीमान् सुस्तार सा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्ति-वाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते ।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं । लेखक आखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको खकपोलकल्पित करके उसमें जोड़ दें । जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई ।

१ रत्नकरण्ड० प्रस्तावना पृ० ६० । २ देखो इनका परिचय न्यायकु० प्र० भाग के सम्पादकीयमें ।

३ पं० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि—'भाण्डारकर इंस्टी-ट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५-७६) की प्रतिमें प्रशस्तिका 'श्री पद्मनन्दि' वाला श्लोक और 'भोजदेव-राज्ये' वाक्य नहीं । वहीं की नं० ६३८ (सन् १८७५-७६) वाली प्रतिमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं है । पहिली प्रति संवत् १४८९ तथा दूसरी संवत् १७९५ की लिखी हुई है ।' वीरवाणी विलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पारवैनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताडपत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते हैं कि—'प्रतियोंकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये' श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य हैं । प्रमेयकमलमार्तण्डकी प्रतियोंमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी । उन दोनों प्रतियोंमें शकसंवत् नहीं है' । सोलापुरकी प्रतिमें 'श्री भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है । दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्तवाक्य नहीं है । अनेक प्रतियोंमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जानेवाले 'सिद्धं सर्वजनप्रबोध' श्लोककी व्याख्या नहीं है । इन्दौरकी तुकोर्ग-जवाली प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है । खुरईकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है, पर चारों प्रशस्तिश्लोक हैं ।

जब ग्रन्थ अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको ठिण्णकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं ढाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तिवाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तिवाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२—यापनीयसंघाप्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्य-काल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३—सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिकी भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० १०६ में अपनी उपमितभ्रमप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ११० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४—भासवर्षङ्का न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासवर्षङ्की स्तोत्रज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासवर्षङ्के इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्धि आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शशीशचन्द्र विद्याभूषण इनका समय ई० १०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० १०० के बादही होना चाहिए।

५—आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रंथ (रचनासमय ११० वि० १३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रंथ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् १४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् १४० के बाद होना चाहिए।

६—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना (पृ० ३३) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानतः १६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७—पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् १६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्त्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० १६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्ण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एवं पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८—श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् १११ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ११० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९—श्रवणबेलगोलालेख नं० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्क-ग्रन्थकार लिखा है—

“अविद्वक्कर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।

कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः,

सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।

शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-

चन्द्राख्यो सुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥”

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्ण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है—“उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्य परम्परा इस प्रकार है—कुलभूषणके सिद्धान्तवारानिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य

हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे—सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसतिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वोधिकारी हिरिय भंडारी, अभिनवगङ्गदंडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लखनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख नं० ३६ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके खर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ़ शुक्ल ६ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लखनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरु भक्तिके उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००—१२५ वर्ष अर्थात् शक ६५० (ई० १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गंडरादित्यदेवके उल्लेख शक सं० १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।”

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सत्रमां कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका संभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रांतमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अंकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वोक्ति सन् ६६० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०—वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वोक्तोंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ६७७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरण पर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनतर आचार्योंके ग्रन्थोंसे

प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण खतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२८३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A.) में लघीय-लघ्यकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृतकी है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतार-टीकाटिप्पण (पृ० २१, ७६) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानों के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२—रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्ड-टीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८ श्लो० ६३) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है; क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खंडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि—“तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।” इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ० १५) में लिखा है कि—“यैः पुनर्योगसांख्यैः सुक्तौ तत्पञ्च्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।” इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड और

* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७। † रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३-त्रादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा खर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था। ये वि० सं० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्धादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्धादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४-जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिस्मृत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पंचवस्तुप्रक्रिया बनाई है। श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्त्ता अगलकविके गुरु थे। अगलकविने शक १०११, ई० १०८२ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रन्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पुरोधा ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् १८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिरेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिरेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हें किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपयुक्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० १८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है*।

* देखो-इसी प्रस्तावनाका 'श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' ग्रंथ, पृ० ३६।

* प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमसंस्करणके सम्पादक पं० बंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने उक्त संस्करण के उपोद्घातमें 'श्रीभोजदेवराज्ये' प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओंका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अब्रान्त नहीं है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विमहगइमावण्णा' और 'लोयायासपेसे' गाथाएँ उद्धृत हैं। पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नहीं हैं। पहिली

§ ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक । उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुद-चन्द्र (लघीयख्य व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायन-न्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोंका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है । यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है । गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं । इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंवदन्तियोंके आधारसे शाकटायन-न्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है§ । शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं—

“माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमदी ।

चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्त्तण्डबुद्धौ नितरां व्यदीपित ॥

*सुखि... न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।

शाकटायनकृतसूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥”

जैनसिद्धान्तभवन आरामे वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है । उसमें भी ये श्लोक हैं । उनमें ‘सुखि...’ की जगह ‘सुखीशे’ तथा ‘व्रतीन्दवे’ के स्थानमें ‘प्रमेन्दवे’ पाठ है ।

गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है और उमास्वातकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी पाई जाती है । दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वीं) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है । अतः इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता । अवश्य ही इन्हें नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है । अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वीं सदी नहीं साध सकता ।

§ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५ ।

* इस शिलालेखके अनुवादमें राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायन-न्यासका कर्त्ता लिख दिया है । यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे “सुखि” इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है । वह श्लोक यह है—

“न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो-

न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयद्विह तां भात्यसौ पूज्यपाद-

स्वामी भूपालबन्धः स्वपरहितवचः पूर्णदुर्बोधवृत्तः ॥”

थोड़ी सी सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि ‘सुखि’ इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोंका ‘न्यास’ वाले लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है । ब० शीतलप्रसादजीने ‘मन्त्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक’ में तथा प्रो० हीरालालजीने ‘जैनशिलालेख संग्रह’ की भूमिका (पृ० १४१) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है ।

यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्षमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्याद्धादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है—

१—इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं।

२—सन्धियोंके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रमेन्दुर्जिनः' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३—प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्चण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता—

“शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।

प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः॥

सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।

ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) कियते नामनामतः॥”

४—शाकटायन यापनीयसंघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कडूर दिगम्बर। इन्होंने शाकटायनके छीमुक्ति और केवलमुक्तिप्रकरणोंका खंडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५—इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघप' आदि विशेषणों का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा—

“एवंभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः॥

महतारभते तत्र महाश्रमणसंघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरिन्नेन मनःसमाधानमाख्यायते। विषयेषु विशिष्टचेतसो न मनः-समाधिः... असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्यायां गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयबुद्धिप्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव...”

§ मैसूर यूनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कापी है (नं० A. 605)। उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक है—

“प्रणम्य जयिनः प्राप्तविश्वव्याकरणश्रियः। शब्दानुशासनस्यैवं वृत्तेर्विवरणोद्यमः॥

अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाभिताः। न्यासा न्यस्ताः कृताः टीकाः पारं पारायणाव्ययः॥ तत्र वृत्ता (स्या) दावयं मंगलश्लोकः श्रीवीरममृतमित्यादि॥”

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मंगलश्लोकसे अत्यन्त विलक्षण है।

६—प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७—प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्रायः उल्लेख करते हैं। यथा न्याय-कुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८—शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से इन्हें शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर—श्रवणवेल्गोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्रके लिये ‘शब्दाम्भोजदिवाकरः’ विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पद्मालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति संवत् १९८० में देहलीकी प्रतिलिखित है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह नुटित है। ३९ से ६७ नं० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसंख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से १५ तक पंक्तियाँ और एक पंक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मंगलाचरण—

“श्रीपुण्यपादमलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसंशयहरं निखिलेषु बोधम्।

सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्पृष्टमलं प्रणिपत्य सिद्धम् ॥ १ ॥

सविस्तरं यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।

मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वोपि मार्गे (?)

...तदुक्तं कृतशिक्ष (?) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।

किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः ॥३॥

शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्,

यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणांशो गतः।

तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,

सुव्यक्तैरसभैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्ठदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह—लक्ष्मी-
रात्यन्तिकी यस्य...

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आतुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा—

“सिद्धिरनेकान्तात्—प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रप्राप्ततया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थोधिकार आशास्त्रपरिसमा-
प्तेर्वैदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः
अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः”—महावृत्ति पृ० २।

“द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीय (१)
विकारागमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्वेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रप्राप्तौ (ज्ञाः) परमार्थतो ये
प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः
तद्वेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामर्थ्यतेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येवोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमा-
प्तेर्वैदितव्यः। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्य-
सामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्ता-
त्मक इत्यर्थः।”—शब्दान्भोजभास्कर पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गए इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है—

“नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥”

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें “इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दान्भोजभास्करो जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः” इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक हैं—

“इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दान्भोजभास्करो जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्या-
ध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ श्रीवर्धमानाय नमः ॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तुयमानो हठात्।

अज्ञानान्धतमोपहः क्षितितले श्रीपूज्यपादो महान् ॥

सार्वः सन्ततसन्निधिनित्यः पूर्वापरानुक्रमः।

शब्दान्भोजविवाकरोऽस्तु सहस्रानः श्रेयसे यं च वै ॥

नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरुवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥ छ ॥

श्री वासुपुज्याय नमः । श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत् १६८० मासोत्तममासे चैत्रशुक्ल-
पक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीरसंवत् २४४६ । हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक
पालम (सूबा देहली)”

जैनेन्द्रव्याकरणके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं—एक तो वह जिस पर अभयनन्दिने महा-
वृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है; और दूसरा वह जिस पर सोमदेव-
सूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है । पं० नाथूराम प्रेमीने^१ अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिसम्मत
सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है । प्रभाचन्द्रने इसी अभय-
नन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठ पर ही अपना यह शब्दाम्भोजभास्कर नामका महान्यास बनाया है ।

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद
बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है—

“तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेय-
कमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।”

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३२६) में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ देखनेका
अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं—“एतच्च प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिह
द्रष्टव्यम् ।”

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत
दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है ।
इसमें विधिविचार, कारकविचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी
भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं । इसमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन तथा अन्य अनेक
आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है । पृ० ६१ में ‘विश्वदृष्ट्याऽस्य पुत्रो जनिता’
प्रयोगका हृदयग्राही व्याख्यान किया है । इस तरह क्या भाषा, क्या विषय और क्या प्रसन्नशैली,
हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मल और प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभावसे निहित है ।

प्रवचनसारसरोजभास्कर—यदि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विकसित करनेके लिए
मार्त्तण्ड बनानेके पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका निर्माण किया हो तो कोई

१ देखो—‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ लेख, जैनसाहित्य संशोधक भाग १ अंक २ ।

२ पंडित नाथूराल शास्त्री इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगंज इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दा-
म्भोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं । उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्तिलेख बम्बईकी प्रतिके ही
समान है । पं० भुजबलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारकलके मठमें भी इसकी प्रतिके हैं । इस प्रतिके
में भी तीन ही अध्यायका न्यास है । प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बंबईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रतिके हैं
उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११ वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं । हो सकता है कि यह प्रभा-
चन्द्रकी अन्तिमकृतिति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो ।

अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। (प्रमेय) कमल-
मार्शिण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय
बुद्धिने ही (प्रवचनसार) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की
खिली हुई जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है।
इसका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है—

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साइज १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तियां
तथा एक पंक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ—

“ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः।

वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।

वक्ष्ये सुखावबोधं निर्वाणपदं प्रणम्यात्मम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो
निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्ठदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कृत्तन्नाह
॥ छ ॥ एस सुरासुर.... ॥”

अन्त—“इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः
समाप्तः ॥छ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्यमाथां तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे
व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थसंख्या षट्त्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥१७४६॥”

मध्यकी सन्धियोंका पुष्पिकालेख—“इति श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोज-
भास्करे....” है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं
सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए
पर्याप्त हैं। अवतरण—(गा० २।१०) “नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः” (गा०
२।२८) “स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः” इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिक
का तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में
भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने—

(गा० २।१३) “यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं
सत्तातः पृथग्वा ? तत्राद्यः पक्षो न भवति; यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन
न तं तत् भवति । कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत् । हवदि पुणो अण्णां वा । अथ
सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्थी।
सत्तासम्बन्धात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः—सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याञ्च सम्बन्ध-
सिद्धौ सत्यां तत्सत्त्वसिद्धिरिति । तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि
तत्त्वसङ्गः । तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम् ।” (गा० २।१६)
“... तथाहि—द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति ।

गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः । द्रव्यं वा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः । इत्ये-
तस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एष हि अतद्भावः ।”
इन गाथाओंकी श्रमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी
दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है । इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है
और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है ।

श्रमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन २६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्रायः वे गाथाएँ
प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं । जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण
करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है । हाँ, जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त
भी हैं । इस टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका सन्तुष्टिसे खुलासा करना । परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे
ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहाँ उन्होंने
सन्तुष्टिसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है ।

प्र० ९० ए० ९०० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिमंगीकार श्रुतमुनिके ‘सारत्रय-
निपुण प्रभाचन्द्र’ के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्ताका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक
भाग सूचित किया है । परन्तु यह संभावना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है ।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही । आ० जयसेन
अपनी टीका में (पृ० २९) केवलिकवलाहारके खंडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि—
“अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहुवो दोषाः ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्म-
ग्रन्थत्वाच्चोच्यन्ते ।” सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिकी विवक्षा
हो । अस्तु, मुझे तो यह संक्षिप्त पर विशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है ।

गद्यकथाकोश—यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है । इसकी प्रतियें
८९ वीं कथाके बाद “श्रीजयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति है । इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत
न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा पूरा सादृश्य है । इसका मंगलश्लोक यह है—

“प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम् ।

वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धः ॥”

८९ वीं कथाके अनन्तर “जयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया
है । इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखी हैं । और अन्तमें “सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः” श्लोक

१ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२—

“यैराराध्य चतुर्विधमनुपममाराधनां निर्मलम् । प्राप्तं सर्वसुखास्पदं निरुपमं स्वर्गपवर्गप्रदा (?) ।

तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना संस्थिता । स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्राकृतारावधि ॥१॥

सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्रकृतः प्रबन्धः ।

कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणां सुरेन्द्रवन्तीव विराजतेऽसी ॥२॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्वारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपाजितमण्डपमुत्थिराकृतनिखिलमलकल-
ङ्कन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्सुकथाप्रबन्धः कृतः ॥”

तथा “इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः” यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थ समाप्ति की सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८६ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने मूलसे ८६ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्ति सूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे। यही कारण है कि उनमें ‘भोजदेवराज्ये’ या ‘जयसिंहदेवराज्ये’ कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुसुमचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। संभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हों।

२. पं० जुगलकिशोर जी मुस्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है; जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः दृढ़ प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्य प्रमाण हैं कि—“प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् हैं, और इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू (ई० ९५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानतः वि० की १३ वीं शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानतः वि० सं० ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते हैं, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती।” इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जब प्रभाचन्द्र का समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी ही हों तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योंका उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक नहीं है। वसुनन्दि और पद्मनन्दि का समय भी विक्रमकी १२ वीं और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नहीं मालूम होती। वसुनन्दि की ‘पडिगहमुच्चट्टाण’ गाथा स्वयं उन्हीं की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके ‘अध्रुवाशरणे’ आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिनाम लेकर उद्धृत नहीं हैं और न इन श्लोकोंके पहिले ‘उक्तं च, तथा चोक्तम्’ आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृतही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुस्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुसुमचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—

“तदलमतिप्रसङ्गं प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुसुमचन्द्र प्रपञ्चतः रूपाणाम्”—रत्न० टी० पृ० ६।
“यैः पुनर्योगसाध्यैर्मूर्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुसुमचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रस्ताव्यताः।”—समाधितन्त्रटी० पृ० १५।

इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कत्तने ही उक्त टीकाओंको बनाया है—

टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका*, आत्मानुशासनतिलका आदि ग्रन्थोंकी भी प्रभाचन्द्र-कृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोंके विषयमें विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है।

फाल्गुनशुक्ल द्वादशी }
आष्टाह्निकपूर्व }
वीर नि० सं० २४६७ }

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.

स्याद्वार विद्यालय काशी.

“तदात्मकत्वञ्चायस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेशच यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।” —शब्दार्थभोजभास्कर ।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है। इति ।

* क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मंगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मंगल— “जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम् ।
अनन्तबोधदिभवं गुणीयं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥”

प्रशस्ति—“बन्धे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यवीपप्रभुः, संसृद्धातिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य संशोषकः ।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्री पद्मनन्दिप्रभुः, तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः ॥१॥
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयतां (?) दोषा यतीनां कुतो व्योपाताः (?) प्रलये तु रमलस्तेषां महादशितः ।
श्रीमद्गौतमनाभिर्भगवत्तैल्लोकत्रयोदशोत्तकैः, सव्यकु (?) सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जातः प्रभाचन्द्रतः ॥२॥

यः (यत्) सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोऽद्वयम्,
नो बाञ्छाकलितत्र दोषमलिनं न इवासनुद्व (द्व) क्रमम् ।
शान्तामर्थविषयैः (मर्षविषैः) समं परशु (पशु) गणैराकर्णितं कर्णतः,
तद्वत् सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥ ३ ॥”

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि-सिद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सिद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अतः क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलकाकी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मंगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मंगल— “वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्घोषिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम् ।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमहं प्रवरं प्रवक्ष्ये ॥”

प्रशस्ति—“मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलम् । भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसवैः पदैः ।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः । सूक्तार्थेषु कृतावरैरहरहश्चेतस्यल चिन्त्यतम् ॥१॥

इति श्री आत्मानुशासन (नं) सतिलक (कं) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (तं) सम्पूर्णम् ॥”

न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

विषयः	पृ०	विषयः	पृ०
१० कारिकाव्याख्यानम्	४०४	समारोपव्यवच्छेदकत्वात् प्रमाणं स्मृतिः	४१०
श्रुतस्य स्वरूपम्	४०४	अनुमानलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वाच्च प्रमाणं	४१०
स्मृतिप्रामाण्यवादः	४०५-४११	स्मृतिः	४१०
(बौद्धादीनां पूर्वपक्षः) स्मृतेः स्वरूपं ज्ञातं ज्ञानं वा ?	४०५	साध्यसाधनसम्बन्धो हि सत्तामात्रेण अनुमाना- ङ्गम्, परिज्ञातो वा, स्मृतिः कोऽङ्गो वा ?	४१०
ज्ञानमपि ज्ञानमात्रमनुभूतविषयं वा ज्ञानम् ?	४०५	प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यवादः	४११-४१८
अनुभूते जायमाना स्मृतिरिति अनुभवेन	४०५	(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) विरुद्धधर्माध्यासात्, कारणाभावात्, विषयाभावाच्च न प्रमाणं	४११
प्रतीयते स्मृत्या उभाभ्यां वा ?	४०५	प्रत्यभिज्ञा	४११
यदि अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात्तदेव स्मृति- रपि तामनुभूततां ज्ञातुं शक्ता	४०६	सोऽयमित्यत्र प्रत्यक्ष-स्मरणयोः स्पष्टास्पष्ट- लक्षणविरुद्धधर्माध्यास एव	४१२
स्मृतेर्विषयोऽर्थमात्रं स्यात् अनुभूतताविशिष्टो वार्थः ?	४०६	'स एवायम्' इत्यत्र आकारद्वयं परस्परानु- प्रवेशेन प्रतिभासते अननुप्रवेशेन वा ?	४१२
अनुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेश्च प्रमाणता अविद्य- मानविषयत्वात्	४०६	प्रत्यभिज्ञानस्य हि कारणमित्त्रिंशं स्यात्, पूर्वा- नुभवजनितः संस्कारः तदुत्तरं वा ?	४१२
असदर्थविषयत्वेन स्मृतौ अर्थक्रियाऽपि न संभवति	४०६	प्रत्यभिज्ञानविषयो हि पूर्वज्ञानगृहीतमेव वस्तु स्यात्, तदतिरिक्तं वा ?	४१३
(उत्तरपक्षः) संस्कारप्रभवः तदित्याकारो ज्ञानविशेषः स्मृतिः	४०६	अतिरिक्तपक्षे किं स्वरूपभेदकृतः अतिरेकः, कालद्वयसम्बन्धकृतः, तत्सम्बन्धे ऐक्य- प्रतिपत्तिः कृतो वा ?	४१३
कारणभेदात् स्वरूपभेदात् विषयभेदाच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्ना स्मृतिः	४०७	ऐक्यप्रतिपत्तिपक्षे एकत्वसंख्या स्यादित्वं वा विवक्षितम् ?	४१३
'अनुभूते स्मृतिः' इति त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा प्रतीयते	४०७	स्यादित्वमपि वस्तुनो भिन्नमभिन्नं वा ?	४१३
स्मृतिर्हि गृहीतग्राहिवादप्रमाणम्, परिच्छि- त्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतार्थं प्रवर्त- मानत्वात्, अर्थादिनृत्पद्यमानत्वात्, विसं- वादकत्वात् समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद् वा ?	४०८	भेदपक्षे किं तत् पूर्वमप्युत्पन्नम्, प्रत्यभिज्ञान- समय एव बोध्यते ?	४१३
गृहीतग्राहित्वे कस्य गृहीतार्थस्य ग्रहणम्-ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य, ज्ञानविशिष्टस्य ज्ञेयस्य, तद्विशि- ष्टस्य वा ज्ञानस्य ?	४०८	(उत्तरपक्षः) किं धर्माणां धर्मिणा सह विरोधः परस्परं वा ?	४१४
ज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्वं हि तत्र संयोगः, समवायः, विशेषणीभावो वा ?	४०९	विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्म- रणकारणाभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्येत स्वभावभूताभ्यां वा ?	४१४
प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः गृहीतार्थप्राप्तिलक्षणञ्च द्वयमप्यविसंवादकत्वं स्मृतावस्थेयं	४१०	परस्परानुप्रवेशो हि परस्परस्वरूपसाङ्ग्यम्, एकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा ?	४१४
		दर्शनस्मरणयोः चित्रज्ञानवत् कथञ्चिदनुप्रवे- शोऽभ्युपगम्यते	४१५

दर्शनस्मरणलक्षणकारणस्य सदभावान्न
कारणाभावात् प्रत्यभिज्ञानाभावः ४१५
विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमान-
त्वाद्वा प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्यं स्यात् ? ४१६
प्रत्यभिज्ञानविषयो हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मर-
णेन, प्रमाणान्तरेण वा ? ४१६
प्रत्यक्षस्मरणयोः द्रव्याविषयत्वेऽपि द्रव्यविषय-
कप्रत्यभिज्ञानजनकत्वमस्त्येव ४१७
प्रत्यभिज्ञानविषयस्य हि बाधकं प्रत्यक्षम्
अनुमानं वा स्यात् ? ४१७
लूनपुनर्जातनखकेशादौ एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य
बाध्यमानत्वेऽपि न सर्वत्र तस्याप्रामाण्यम् ४१८
नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य बाध्यमान-
नत्वम् ; अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात् ४१८
तर्कस्य लक्षणम् ४१८
व्याप्तिलक्षणम् ४१९
तर्कप्रामाण्यवादः ४२०-४२४
(चार्वाकस्य पूर्वपक्षः) व्याप्तिस्वरूपस्यैवा-
संभवात् कथं तर्कस्य प्रामाण्यम् ? ४२०
व्याप्तिर्हि देहात् कालतो वा स्यात् ? ४२०
किं सामान्यस्य सामान्येन अविनाभावः, किं
वा सामान्यस्य विशेषः, उत विशेषाणां
विशेषः ? ४२०
द्वितीयपक्षे देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे
सामान्यस्याविनाभावः तदवच्छिन्ने वा ? ४२०
विशेषाणां विशेषैरविनाभावो हि दृष्टानां
दृष्टः स्यात्, अदृष्टानामदृष्टः, दृष्टानां
वाऽदृष्टैरिति ? ४२१
न सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहः सुकरः ४२१
अविनाभावशब्दो हि व्यतिरेकमात्रवचनः ४२१
'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इत्यत्र अग्न्यभावः
पारमाथिकः सन् विशेषणम्, अपार-
माथिक एव वा ? ४२१
एकस्य कस्यचिदग्न्येरेभावे धूमो नोपपद्यते,
सर्वस्य वा ? ४२१
धूमसदभावविरोधस्य च धूमाभाव एव
उपाधिर्न अग्न्यभावः ४२२
अविनाभावे सत्यपि धूमाद् बह्निरेवानुमीयते
ननु तद्गतं पञ्जल्यम् ४२२

(उत्तरपक्षः) स्वरूपप्रयुक्ताऽव्यभिचार एव
हि व्याप्तिः ४२२
यस्य येन अव्यभिचारः तस्य तेन व्याप्तिः ४२३
अविनाभावशब्दो हि तथोपपत्त्यन्यायानुपप-
त्तिरूपनियमे पर्यवसितः ४२३
व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण प्रतीयते ननु एकैक-
धर्म्यल्लेखेन ४२४
धूमाभावे अग्न्यभावस्य निमित्तात् ४२४
अग्निधूमयोर्हि अग्नित्वधूमत्वद्वारेणैव व्या-
प्तिर्न तु पञ्जल्यादिना ४२५
व्याप्तिज्ञानस्य कारणभूतौ प्रत्यक्षानुपलभ्यौ
प्रथमदर्शनकाले न स्तः अतो न प्रथम-
समये एव व्याप्तिग्रहणम् ४२६
अन्वयव्यतिरेकवशात् व्याप्तिप्रतिभासे किं सा
ताभ्यां ज्ञम्यते ज्ञाप्यते वा ? ४२६
११ कारिकाव्याख्यानम् ४२७
अस्मदादिसम्बन्धिनः योगिसम्बन्धिनो वा
प्रत्यक्षान्न व्याप्तिप्रतिपत्तिः ४२७
न स्वसंवेदनेन्द्रियमानसप्रत्यक्षैः व्याप्तिपरि-
ज्ञानम् ४२७
(योगानां पूर्वपक्षः) प्रत्यक्षेणैव अविनाभावः
प्रतीयते ४२७
भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रिय-
प्रभवं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकम् ४२८
अनुसन्धानेन व्याप्तिरुल्लिख्यते अतो न प्रथम-
प्रत्यक्षेणैव तद्वग्रहणम् ४२९
अन्वयव्यतिरेकी च प्रयोजकसन्देहव्युदासायी ४२९
(उत्तरपक्षः) किमेन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं
व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ? ४२९
प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायकम्, अन्वयव्य-
तिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे
प्रभवेत् ? ४२९
पुरोदृश्यमाने हि नियताग्निसम्बन्धित्वेन धूमः
प्रतिभासेत, अनियताखिलाग्निसम्बन्धि-
त्वेन वा ? ४३०
प्रत्यक्षस्य अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वं हि स्वविष-
यातिक्रमेण अथान्तरे वृत्तिः, स्वविषये
प्रवर्तमानस्य अतिशयाधानं वा ? ४३०
इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण
व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ? ४३०

किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उत तदु-
पलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषैः ? ४३१
व्याप्तिज्ञाने हि तत्कारणकारणत्वादिन्द्रिया-
पेक्षा न तु साक्षात् ४३१
न मानसं प्रत्यक्षं बहिर्मुखे इन्द्रियनिरपेक्षं प्रवर्तते ४३१
सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनसः सद्भिरेव अर्थैः
नातीतानागतादिभिः ४३२
नापि योगिप्रत्यक्षाद् व्याप्तिग्रहः ४३२
योगी हि व्याप्तं प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विद-
ध्यात् परार्थं वा ? ४३३
योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकमगृही-
तव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत् ? ४३३
कारिकाविवृत्योर्व्याख्यानम् ४३३
अनुमानस्य लक्षणम् ४३४
१२ कारिकाव्याख्यानम् ४३५
प्रतिज्ञाप्रयोगसमर्थनम् ४३५-८
(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) पक्षस्य प्रयोजनाभावतः
प्रयोगानुपपत्तेः ४३५
साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजनमपि न पक्ष-
प्रयोगेण सिद्धयति ४३६
स हि केवलः साध्यमर्थं प्रतिपादयेत् हेतुपत्त्यास-
समन्वितो वा ? ४३६
(उत्तरपक्षः) पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धि-
त्वादप्रयोगः, प्रक्रमात्सिद्धेः, प्रयोजना-
प्रसाधकत्वात्, हेतुपत्त्यासापेक्षस्य तत्प्रसा-
धकत्वाद्वा ? ४३६
हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिक-
त्वादिदोषानुपपन्नः ४३७
हेतुप्रयोगापेक्षस्यैव पक्षस्य साध्यसाधकत्वम् ४३७
पक्षाभावे कथं सपक्षविषयव्यवस्था ? ४३८
प्रतिज्ञायाः प्रयोगानहर्हेव शास्त्रादावपि सा
नाभिधीयेत ४३८
त्रैरूप्यनिरासः ४३८-४४१
(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) हेतोरत्रैरूप्यं हि असिद्ध-
विरुद्धानैकान्तिकदोषव्यवच्छेदार्थम-
भ्युपगम्यते ४३८
(उत्तरपक्षः) न त्रैरूप्यं हेतोरलक्षणं हेत्वाभा-
सेऽपि वर्तमानत्वात् ४३९
तत्पुत्रत्वादी हेत्वाभासेऽपि त्रैरूप्यं समस्ति ४४०

न हि कृत्तिकोदयात् शकटोदयानुमाने पक्ष-
धर्मता संभवति ४४०
नापि कृत्तिकोदयादौ कालाकाशादीनां पक्षत्वम् ४४०
शब्दानित्यत्वे श्रावणत्वस्य, सर्वस्य क्षणिकत्वे
साध्ये सत्त्वस्य च सपक्षसत्त्वभावोऽपि
गमकत्वप्रतीतिः ४४०
विपक्षेऽसत्त्वं तु अविनाभावतात्मकमेव ४४१
सपक्षे सत्त्वभावोऽपि अन्तर्व्याप्तिलक्षणोऽ-
न्वयः समस्त्येव ४४१
अन्यथानुपपत्तिलक्षणदेव हेतोः दोषत्रयपरि-
हारीपपत्तेः ४४१
अविनाभावप्रपञ्चार्थं त्रैरूप्यस्याभिधाने निश्चि-
तत्वस्य अबाधितविषयत्वादिश्च अभि-
धानप्रसङ्गः ४४१
पाञ्चरूप्यनिरासः ४४२-४४२
साध्याविनाभावव्यतिरेकेणापरस्य अबाधित-
विषयत्वादेरसंभवात् ४४२
बाधितविषयत्व-अविनाभावयोर्विरोधात् ४४२
अबाधितविषयत्वं निश्चितमनिश्चितं वा हेतो
रूपं स्यात् ? ४४२
निश्चयनिबन्धनञ्च अनुपलम्भः संवादो वा ? ४४२
अन्यदपि तद्विषयं प्रमाणात्तन्म अविनाभावा-
वगमो वा अबाधितविषयत्वनिश्चय-
निबन्धनं स्यात् ? ४४३
प्रतिपक्षो हि अनुपलब्धः तुल्यबलो वा प्रतिपिध्येत ? ४४३
अनुपलब्धत्वञ्च तयोः पक्षधर्मत्वादिभावाभाव-
कृतमनुमानं गन्धाजनितं वा ? ४४३
हानादिबुद्धयोऽनुमानस्य फलम् ४४४
अविनाभावविचारः ४४४-४४८
(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) अविनाभावो हि तादा-
त्म्य-तदुत्पत्तिभ्यामेव नियतः ४४४
तादात्म्येन स्वभावहेतोरविनाभावः तदुत्पत्त्या
च कार्यहेतोः, अनुपलब्धिश्च स्वभावा-
हेत्वन्तर्गतैव ४४४
कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भप्रपञ्च-
केन प्रतिपत्तेः ४४४
स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन अविना-
भावावगतिः यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन ४४५
अनुपलब्धिश्च सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्त-
र्भवति अतः तादात्म्यमेव सम्बन्धः ४४६

(उत्तरपक्षः) तादात्म्ये सति भेदाभावात् तस्य

अविनाभावनियमनिमित्तत्वम् ४४६

तादात्म्येन गमकत्वे च हेतुग्रहणवेलायामेव

साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् व्यर्थमनुमानम् ४४६

विपरीतारोपव्यवच्छेदार्थमपि नानुमानस्य

साफल्यं यतो हि तत्स्वरूपे प्रतिपन्ने

अप्रतिपन्ने वा विपरीत आरोपः स्यात् ? ४४७

साध्यसाधनयोरव्यतिरेके च शिंशपात्ववत्

वृक्षत्वमपि हेतुः स्यात् ४४७

वह्न्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेषु श्यामत्वादेषु अवि-

नाभावस्यानुपलब्धेः न तदुत्पत्त्यापि अवि-

नाभावनियमः ४४७

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव अविनाभावनियमे

कथं कृत्तिकोदयशकटोदययोः चन्द्रोदय-

समुदवृद्धयोश्च गम्यगमकभावः ? ४४८

प्रत्यक्षस्य निविकल्पकस्य अनुपलम्भस्य च

अर्थान्तरोपलम्भरूपस्य न व्याप्तिग्रहणे

सामर्थ्यम् ४४८

विवृतिव्याख्यानम् ४४९

तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि चन्द्रात् जलचन्द्र-

प्रतिपत्तिः भवति ४५०

१३ कारिकाव्याख्यानम् ४५०

प्रतिबिम्बवाद् ४५१-४५८

(कुमारिलस्य पूर्वपक्षः) बिम्बसन्निधाने हि

प्रतिबिम्बं गुणरूपं द्रव्यरूपं वा समुत्पद्यते ? ४५१

द्रव्यरूपमपि निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्य-

रूपं वा तदुत्पद्यते ? ४५१

प्रतिबिम्बस्य जलादिपरमाणव एव आरम्भका

अन्ये वा ? ४५१

नापि बिम्बरूपस्य प्रतिबिम्बारम्भकत्वम् ४५१

बिम्बसन्निधाने च आश्रयस्य आदशदिः परि-

माणगौरवयोस्तर्कः स्यात् ४५१

जले सूर्यादिदिशिनां चक्षुरश्मिविनिर्गमनप्रक्रिया

यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तदा कथं बिम्बे चलति

तदपि चलेत् तिष्ठति च तिष्ठेत् ? ४५३

यदि च प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तदा विनष्टेऽपि

बिम्बे दृश्येत ४५३

अतः जलादेः प्रतिहता रश्मयः व्यावृत्त्य बिम्ब-

मेव दर्शयन्ति न तु तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्तिः ४५४

(उत्तरपक्षः) प्रतिबिम्बासंभवो हि ग्राहकप्रमा-

णाभावात् उत्पादककारणाभावाद्वाऽ-

भिधीयते ? ४५४

चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामीति प्रत्यक्षमेव

तद्ग्राहकम् ४५४

न चेयं प्रतीतिर्भ्रान्ता बाधक-कारणदोषा-

भावात् ४५४

आश्रयबिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वा-

दर्थान्तरं प्रतिबिम्बम् ४५५

प्रतिबिम्बोत्पत्ती हि जलादिकमुपादानकारणं

चन्द्रादिकं तु निमित्तकारणमिति ४५५

द्रव्यरूपमेव प्रतिबिम्बमुत्पद्यते ४५६

सावयवमेव प्रतिबिम्बमस्मदादीन्द्रियग्राह्यत्वात्

घटादिवत् ४५६

जलादिकमेव प्रतिबिम्बाकारतया परिणमते

अतो न पृथक् तत्पराशङ्क्युपलम्भः ४५६

जलादिपरमाणव एव प्रतिबिम्बारम्भकाः ४५६

न चात्र सावयवद्रव्यद्वयं किन्तु जलादीना-

मेव प्रतिबिम्बाकारपरिणामः ४५६

समानाकाशदेशत्वञ्च सावयवयोरपि वातात-

पयोरिवानिरुद्धम् ४५७

सावयवयोः जलकनकादिसंयुक्तानलादेरिव

परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि नास्ति ४५७

रश्मिरूपस्य चक्षुषोऽप्रसिद्धेः अन्तर्गुणदर्शना-

मित्याद्यसङ्गतम् ४५७

स्वसामग्रीतः प्रतिबिम्बं स्वयदक्षिणविपर्यये-

णोत्पद्यते ४५७

प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बत्वं हि स्वयदक्षिण-

विपर्ययसिद्धेः, स च गुण एव ४५७

यदि आदशादिना प्रतिहता रश्मयः मुखमेव

प्रकाशयन्ति तदा कुड्यादिप्रतिहता अपि

ते मुखं प्रकाशयेयुः ४५८

यदि च प्रतिहता रश्मयः बिम्बमेव प्रकाश-

यन्ति तदा हस्त्यादीनां स्वपरिमाणान-

तिक्रमेणैव प्रतीतिः स्यान्न लघुतया ४५८

निमित्तकारणभूतबिम्बक्रियानुकारितया

प्रतिबिम्बे प्रतीतिरपि छत्रछायावत् ४५८

प्रदीपछन्नादेरुपाये प्रकाशछाययोरुपायवत्

बिम्बापाये प्रतिबिम्बमप्यपैति ४५८

प्रदीपविनाशेऽपि यथा न तस्य पृथगवयवा

उपलभ्यन्ते तथैव प्रतिबिम्बविनाशेऽपि न तत्पुत्रवयवोपलब्धिः ४५९	प्रागभावादभिदेवत्वाभावास्तु प्रभावः ४६७
पूर्वोत्तरचरहेत्वोः समर्थनम् ४५९	अभावस्यावस्तुत्वे हि अर्थानां साङ्ख्यं स्यात् ४६७
१४ कारिकाव्याख्यानम् ४६०	प्रागभावादीनां लक्षणानि ४६७
वैशेषिकसूत्रोक्तानां कारणादिप्रश्नहेतूनां निरासः ४६०-६१	अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वादभावो वस्तु (उत्तरपक्षः) अभावस्य प्रत्यक्षादिभिः परि- च्छिद्यमानत्वात् भावादतिरिक्तत्वम् ४६८
(वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः) कारण-कार्य-संयोगि- समवाधि-विरोधिभेदेन पञ्चधानुमानम् ४६०	अविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः प्रत्यक्षेणैव परि- च्छिद्यते ४६८
(उत्तरपक्षः) उक्तपञ्चहेत्वतिरिक्तानां कृति- कादिहेतूनां प्रतीतेः न लिङ्गस्य पञ्च- संख्यानियमः ४६१	अभावस्याप्रत्यक्षत्वं हि इन्द्रियेणासम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात्, असदूपत्वाद्वा ? ४६८
अविनाभाववशाद्धि गमकत्वं न कारणादि- रूपतामात्रेण; अव्यापकत्वादेतिप्रसङ्गाच्च ४६१	रूपित्वस्य प्रत्यक्षतां प्रत्यनङ्गं वाच्यं अरूपि- त्वादेव भावस्याप्रत्यक्षता ४६९
सांख्यपरिकल्पितमात्रामात्रिकादिसप्त- विधहेतुनिरासः ४६२	चक्षुरादिभावभावादानुविधायित्वादभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वम् ४६९
अदृश्यानुपलब्धेरपि गमकत्वप्रदर्शनम् ४६२	अभावस्याप्रत्यक्षत्वे हि आलोकापेक्षान्न स्यात् ४६९
१५ कारिकाव्याख्यानम् ४६३	इह भूतले घटो नास्तीति शानस्य भेदासिद्धेः न चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानमन्यथा- सिद्धम् ४७०
अभावप्रमाणविचारः ४६३-४८२	प्रतियोगिस्मरणानन्तरभावितादेव भावस्य अप्रत्यक्षत्वे सविकल्पकज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं न स्यात् ४७०
(सोमान्तस्य पूर्वपक्षः) अभावप्रमाणं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं भिन्नसामग्री- प्रसवत्वात्, भिन्नफलसाधकत्वाच्च ४६३	देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावश्च अनुमाना- दिपरिच्छेद्यः ४७१
अभावप्रमाणं हि नेन्द्रियादिसामग्रीतः प्रादु- र्भवति, किन्तु प्रतिषेध्यानुपलब्धि-आश्र- योपलब्धि-प्रतियोगिस्मरणरूपसामग्रीतः ४६४	‘नासीदपवरके देवदत्तः’ इति प्रतीतेः स्मरण- रूपत्वात् ४७१
अनुपलब्धिर्हि गृहीतव्याप्तिका अगृहीतव्या- प्तिका वाऽभावमनुमापयेत् ? ४६५	न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणम् ४७२
व्याप्तिग्रहणवैलोक्याच्च आभावाख्यधर्मग्रहणं किमत एव, अनुमानान्तराद्वा ? ४६५	आश्रयस्य ग्रहणं हि किं निषेध्याभावसहि- तस्य केवलस्य वा ? ४७२
अनुपलब्धिरपि उपलब्ध्यभावरूपा, अत- स्तत्प्रतिपत्तावपि अगमेव दोषः ४६५	प्रतियोगिनीति स्मरणं किमभावान्क्रान्तस्य तद्विपरीतस्य वा ? ४७२
इह भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययस्य हि किं घटो विषयः स्यात्, भूतलम्, संसर्गो वा ? ४६५	परात्मना प्रतीयमानोऽपि नञर्थः घटादेरेव स्वरूपम् ४७३
घटविविक्तभूतलस्य तद्विषयत्वे तद्विविक्त्यं किं भूतलस्वरूपमात्रं तद्विषयतिरिक्तं वा ? ४६५	घटविविक्तत्वं हि भूतलधर्मतया कथञ्चित् भिन्नं पुच्छ्यते पदार्थान्तरतया वा ? ४७३
न हि प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभावः इन्द्रियेणा- सन्निकृष्टस्य ग्रहणात् ४६६	पदार्था हि परस्परसङ्कीर्णाः समुत्पन्नाः तद्वि- परीता वा ? ४७३
नाप्यनुमानादभावावगतिः ४६६	अभावानामन्योन्यं भावान्तराच्च विवेको यद्यन्याभावात्तदानवस्था ४७४
प्रमाणेन परिच्छिद्यमानत्वाभावाभावस्य अवस्तुत्वम् ४६७	घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिः इतरेतरा- भावात्, अभावात्तराद्वा ? ४७४

अभावस्य वस्तुत्वे हि किं सः प्रमाणान्तरणं गृह्यते अभावप्रमाणेन वा ?	४७५
प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिर्हि किं निषेध्यविषय- ज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणामः अन्य- वस्तुविज्ञानं वा ?	४७५
आत्मनोऽपरिणामस्य हि अभावरूपत्वात् कथं प्रामाण्यम् ?	४७५
अन्यस्मिन् वस्तुमात्रे विज्ञानम्, घटाभावाश्रये वा विज्ञानमभावपरिच्छेदकम् ?	४७६
(सोगतस्य पूर्वपक्षः) न भावरूपरूपतिरिक्तः कश्चिदभावः प्रत्यक्षानुमानप्राप्तः	४७६
अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुपदेशे ज्ञानस्याप्य- सत्त्वापत्तिः	४७७
अविनाभाविलिङ्गाभावाज्ञानुमानादपि अभावग्रहणम्	४७७
(उत्तरपक्षः) प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भावा- भावयोर्भेदः	४७७
प्रतिनिवृत्तप्रतियोगिस्मरणान्ध्यानुपपत्त्या प्रतिनिवृत्ताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतएव प्रतिपत्ताव्या	४७८
इह भूतले घटो नास्तीति विशिष्टप्रतीतिः किं निषिध्यमानो घटादिरेव निबन्धनम्, तदाश्रयो भूतलादिर्वा ?	४७८
यदि भाव एवाभावः तर्हि भावकाले भावदेशे च अभावप्रतीतिः स्यात्	४७९
भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतिनिबन्धनं विशिष्टं वा ?	४७९
विशिष्टत्वपक्षे च किं स्वरूपकृतं वैशिष्ट्यं घट- संसर्गहितत्वकृतं वा ?	४७९
नापि सद्ध्यवहारानुदये एव अभावव्यवहारः यतोऽभावस्य आभिमानिकत्वम्	४७९
सद्ध्यवहारानुदयस्य च नास्तीति व्यवहार- निबन्धनत्वे सुषुप्तावस्थायामपि नास्तीति व्यवहारः स्यात्	४८०
न च मुदगरादिसामग्र्याः कपालोत्पाद एवो- पयोगः; तथा घटविनाशस्यापि करणात्	४८०
प्रमाणतः प्रतीयमानत्वादिसाधनैः अभावस्य वस्तुत्वसिद्धिः	४८२
अर्थक्रियाकारित्वात् प्रागभावादिभेदवत्त्वाच्च अभावो वस्तु	४८२

१६ कारिकाव्याख्यानम्	४८३
सविकल्पकप्रत्यक्षेण न सर्वान्माना वस्तु प्रती- यते अतः अगृहीतांशग्रहणाय अनुमानस्य साफल्यम्	४८३
१७ कारिकाव्याख्यानम्	४८५
क्षणिकत्वसिद्धये न स्वभावहेतोः सम्भावना	४८५
१८ कारिकाव्याख्या	४८७
सविकल्पबुद्धेः न स्वतः सिद्धिः नापि परतः	४८७
१९ कारिकाव्याख्या	४८८
उपमानस्य न प्रमाणान्तरत्वम्	४८९
उपमानप्रमाणविचारः	४८९-५००
(सोमांसकस्य पूर्वपक्षः) उपमानस्य लक्षणम्	४८९
अनधिगतार्थगन्तुत्वादुपमानस्य प्रामाण्यम्	४९०
न प्रत्यक्षानुमानयोरुपमानस्य अन्तर्भावः	४९०
लिङ्गादनुत्पद्यमानत्वात् पक्षधर्मत्वादिग्रहणा- भावाच्च नानुमानत्वम्	४९१
नाप्यर्थपत्त्यादिवु उपमानस्यान्तर्भावः	४९१
(उत्तरपक्षः) प्रत्यभिज्ञान एव उपमानस्य अन्तर्भावः	४९२
पूर्वं कस्यानुभावभावः—भावयावच्छेदस्य सादृश्यं वा ?	४९२
सादृश्यं हि असिद्धिहितत्वाज्ञानुभूयते, प्रतिब- न्धकसद्भावाद्वा ?	४९३
सादृश्यस्य एकैकत्र परिसमाप्तिः प्रतियोगि- न्यदृष्टेऽप्युपलब्धिः	४९३
सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न तु स्वरूपम्	४९३
स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षं सादृश्यज्ञानमुपजन- यति अनपेक्षं वा ?	४९४
गोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे च किं गोपिण्डस्मृति- मात्रापेक्षम्, सादृश्यवच्छिन्नगोपिण्डस्म- रणापेक्षं वा ?	४९४
सन्निकृष्टसादृश्यस्य हि करणत्वं किं तदनुमाप- कत्वम्, तत्स्मारकत्वम्, तदुपमापकत्वं वा ?	४९५
उपमानस्य अनुमाने वाऽन्तर्भावः	४९६
(न्यायिकस्य पूर्वपक्षः) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान- मुपमानम्	४९६
न हीदं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षाद्यन्त्यत- प्रमाणकलम्	४९७

बुद्धनैयायिकास्तु साख्यप्रतिपादकमतिदेश-
वाक्यमेव उपमानं स्वीकुर्वन्ति ४९७
(उत्तरपक्षः) साक्षात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रति-
पत्त्यङ्गस्य उपमानता परम्परया वा ? ४९७
साख्यज्ञानं हि केवलं तदङ्गं स्यात् संज्ञासंज्ञि-
सम्बन्धसमृत्तिहायं वा ? ४९७
शब्दादनुत्पद्यमानत्वादस्य आगमाफलत्वम्,
तत्प्रतीतानुपायस्यापरस्यापेक्षणात्, वाक्य-
संवित्यपेक्षणा ? ४९८
अतिदेशवाक्यस्य आगमरूपतया उपमानत्वा-
योगात् ५००
प्रसिद्धार्थसाधर्म्यमन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतं
चेत्तदनुमानेऽन्तर्भावः ५००
बुद्धोऽयमिति ज्ञानञ्च किञ्चाम प्रमाणम् ? ५०१
२० कारिकाव्याख्या ५०२
एतस्मात् पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा एत-
न्नामकं ग्रामधानकमिति वाक्यश्रावणः
तद्देशिनः तन्नामप्रतिपत्तिः किञ्चाम
प्रमाणम् ? ५०२
२१ कारिकाव्याख्यानम् ५०३
इदमर्थं महद्दूरमित्याद्यापेक्षिकज्ञानस्य नव
प्रमाणे अन्तर्भावः ? ५०४
द्विवादिस्वस्याज्ञानस्य च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः ५०४
अर्थापत्तिप्रमाणनिरासः ५०५-५२०
(मीमांसकस्य पूर्वपक्षः) प्रत्यक्षादिभ्यः विभिन्न-
स्वरूपत्वादर्थपत्तिः प्रमाणान्तरम् ५०५
प्रत्यक्षादिषट्प्रमाणभ्यो जायमानत्वात् षट्-
प्रकारा अर्थापत्तिः ५०६
अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वादर्थपत्तयः प्रमाणान्तरम् ५०६
न हि शक्तिः प्रत्यक्षपरिच्छेद्या ५०६
नापि शक्तिस्तनुमानप्राह्या ५०६
नापि शब्दोपमानाभ्यां शक्तिः गृह्यते ५०७
वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दमित्यत्वसिद्धिः
अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः ५०७
'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणात्
रात्रिभोजनप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः ५०७
जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽभार्यं प्रतिपद्य बहिर्भावं-
प्रतिपत्तिः अभार्यार्थापत्तिः ५०९
पक्षधर्मतादिसामर्थ्यभावाच्चाप्यर्थापत्तिः अनुमा-
नेऽन्तर्भवति ५०९

बहिर्भावविशिष्टे चेत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहि-
र्भावे साध्ये गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य,
चैत्राभावविशिष्टस्य गृहस्य, गृहे चैत्रा-
दर्शनस्य वा हेतुत्वम् ? ५०९
प्रमेयानुपप्रेषप्रसङ्गाच्च नैयमनुमानम् ५०९
सम्बन्धग्रहणाभावादपि नैयमनुमानम् ५१०
गृहद्वारवर्तिनो गृहेऽभावस्य बहिःसद्भावेन
सम्बन्धग्रहेऽपि गृहे सद्भावस्य बहिर्-
भावेन कथं सम्बन्धग्रहः ? ५११
(उत्तरपक्षः) दृष्टः श्रुतो वार्थः साध्येन सम्बद्धः
सन् तं कल्पयति असम्बद्धो वा ? ५१२
सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञातः अज्ञातो वा
तत्कल्पनानिमित्तं स्यात् ? ५१३
ज्ञातोऽपि साध्यप्रतिपत्तिकालपूर्व जातो ज्ञातः ? ५१३
साध्यप्रतिपत्तिकालेऽपि प्रमाणान्तराज्ज्ञातः
तत एव वा ? ५१३
अर्थापत्तिरनुमानमेव प्रमाणान्तरावगतसाध्य-
सम्बन्धाद्धेतोरुपजायमानत्वात् ५१३
पूर्वं साध्यसम्बद्धतयाऽप्यौ साध्यधर्मिणि ज्ञातः
दृष्टान्तधर्मिणि वा ? ५१३
दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसम्बद्धतयाऽप्यौ भूयो-
दर्शनात् विपक्षेऽनुपलभ्यात् अर्थापत्यन्त-
राद्धा प्रतीयते ? ५१३
प्रत्यक्षपूर्वार्थापितौ किं दाहशक्त्या विना स्फोटा-
देरभादोऽनुपपन्नः, प्रमाणविरोधो वा ? ५१४
प्रमाणविरोधपक्षेऽपि कारणाभावः निश्चितः सन्
कार्याभावनिश्चायकः अनिश्चितो वा ? ५१४
श्रुतार्थापत्तौ हि कार्यतः कारणप्रतिपत्तिर्भ-
वन्ती अनुमानमेव ५१५
रात्रिभुजितमान् देवदत्तः रसयानाद्युपयोगाभावे
दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात् ५१५
जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावः बहिर्भावपूर्वकः जीव-
मनुपप्यगृहाभावत्वात् इत्यनुमानस्वरूपैव
अभावाप्यर्थापत्तिः ५१६
प्रमेयानुपप्रेषादुपपत्तेरिति सत्तामात्रं प्रमेयमिष्टं
बहिर्देशविशेषितं वा सत्त्वम् ? ५१६
न हि जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव
बहिर्भावप्रतीतिः ५१७
अन्यथानुपपन्नत्वं गमकविशेषणमस्तु गम्यवि-
शेषणं वा नैतावता अर्थापत्यनुमानयो-
र्भेदाभावः ५१८

अर्थापत्तौ अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वञ्च
असिद्धम् ५१९

उपमानादीनां परोक्षेऽन्तर्भावान्न जेतानां
प्रमाणसंख्याव्याघातः

इति तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः

२२ कारिकाव्याख्या

५२३

प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धमपि विज्ञानं कथञ्चि-

देव प्रमाणाभासं न सर्वथा ५२३

ज्ञानं हि यस्मिन्नंशे अविविचितादि तत्र प्रमाण-

मितरत्र तदाभासम् ५२३

विवृतिविवरणम् ५२४

२३ कारिकार्थः

५२५

विकल्पज्ञानं न प्रत्यक्षाभिं किन्तु प्रमाणमेव ५२५

निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षानं भवितुमर्हति ५२५

विवृतिव्याख्या ५२६

२४ कारिकार्थः

५२८

प्रतिसंहारेकान्तस्य लक्षणम् ५२८

प्रत्यक्षादीनां व्यवहाराविविचितात् प्रामाण्यम् ५२९

२५ कारिकार्थः

५२९

श्रुतज्ञानमतीन्द्रियार्थं प्रमाणम् ५३०

२६ कारिकार्थः

५३०

श्रुतस्य प्रमाणात्त्वसमर्थनम् ५३१-५३६

(वैशेषिकबोद्धव्योः पूर्वपक्षः) शब्दोऽनुमानान्न

व्यतिरिच्यते अभिज्ञसामग्री-विषयवत्त्वात्,

सम्बन्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्, अन्वयव्यति-

रेकवत्त्वात्, पक्षधर्मपितृत्वाच्च ५३१

शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्यार्थं ५३१

(उत्तरपक्षः) अभिज्ञविषयत्वस्यासिद्धेः, अर्थ-

मात्रं हि शब्दस्य विषयः अनुमानस्य तु

धर्मविशिष्टो धर्माति ५३२

अनयोर्विषयाभेदो हि सामान्यमात्रविषयतया,

तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बन्धार्थप्रति-

पत्तिहेतुतया वा स्यात् ? ५३२

अभिज्ञसामग्रीसमन्वितत्वमप्यसिद्धम् ५३२

नह्यत्र पक्षधर्मता, धर्मिणोऽसिद्धेः ५३३

अत्र धर्मा शब्दः, अर्थो वा स्यात् ? ५३३

शब्दत्वाद्धेतोः किं शब्दस्य अर्थविशिष्टत्वं

साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वम्,

अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ? ५३३

नाप्यर्थस्य धर्मित्वम्; शब्दार्थयोः सम्बन्धा-

भावादेव ५३४

नापि शब्दार्थयोः अन्वयव्यतिरेको स्तः ५३४

सम्बन्धस्तृप्त्यपेक्षितवञ्च अननुमानभूते संश-

योपमानादावप्यस्ति ५३५

ततः शब्दो नानुमानं विभिन्नविषय-सामग्री-

समन्वितत्वात्, पुरुषैर्यथेष्टं नियुज्यमानस्य

अर्थप्रतीतिहेतुत्वात् ५३५

शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैव अव्यभि-

चारिज्ञानजनकत्वात् ५३६

शब्दस्य अर्थवाचकत्वम् ५३६-५४३

(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) शब्दोऽप्रमाणम् वस्तु-

सम्बद्धत्वात् ५३६

शब्दार्थयोर्हि तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा सम्बन्धः

स्यात् ? ५३६

अर्थसंस्पृशिनः शब्दाः विकल्पमात्रजन्मानः

तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति ५३६

नचात्र पुरुषदोषाणामपराधः ५३७

बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानं

जनयति अतो नासौ अर्थसंस्पृशी ५३७

(उत्तरपक्षः) शब्दः सम्बन्धमेवार्थं प्रकाशयति

प्रतिनियतप्रत्ययहेतुत्वात् ५३८

योग्यतालक्षणश्च सम्बन्धोऽभ्युपेयते ५३८

सङ्केतसचिवा योग्यता अर्थबोधनिमित्तम् ५३९

सङ्केतस्य लक्षणम् ५३९

सङ्केतोऽपि सहजयोग्यतानिबन्धन एव प्रव-

र्तते अतो न वाच्यवाचकव्यत्ययः ५३९

सर्वशब्दानां सर्वशब्दार्थप्रत्यायनशक्तिरप्येते,

सङ्केताच्च प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिर्भवति ५४०

शब्दो हि शापकः अतः सङ्केतापेक्ष एवार्थबोधकः ५४१

आप्तप्रणीतस्य शब्दस्थार्थासंस्पृशित्वं प्रसा-

ध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ? ५४१

शब्दे हि संवादविसंवादी पुरुषगुणदोषनिबन्धनौ ५४२

शब्दस्य हि स्वरूपमर्थमात्रप्रकाशकत्वं न तु

यथार्थायार्थप्रकाशकत्वम्, तस्य वक्तु-

गुणदोषनिबन्धनत्वात् चक्षुर्वत् ५४२

प्रमाणं शब्दः अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् स्वपर-

पक्षसाधनदूषणसमर्थत्वात् सकलतत्त्ववि-

प्रतिपत्तिनिमित्तत्वाच्च ५४३

शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धनिरासः ५४३-५४६
 (सोमांसकस्य पूर्ववक्षः) अनित्यो हि सम्बन्धः
 प्रतिपुरुषं प्रतिशब्दं प्रत्यर्थं वा सर्गादौ
 क्रियते ? ५४३
 प्रतिपुरुषं हि सम्बन्धः किमेकः क्रियते अनेको वा ? ५४३
 तथा किमेकः तत्सम्बन्धकर्ता बहुवो वा ? ५४४
 प्रतिशब्दमपि उच्चार्यं समयः क्रियते
 अनुच्चार्यं वा ? ५४४
 प्रतिशब्दमुच्चार्यं अभिनवः सम्बन्धो विधीयते
 प्राक्तन एव वा ? ५४४
 नित्यसंज्ञेतप्रतीतिश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्या
 (उत्तरपक्षः) न हि नित्यसंज्ञेतः विचार्यमाणो
 घटते ५४५
 सम्बन्धस्य नित्यत्वं हि स्वभावतः सम्बन्धि-
 नित्यत्वाद्वा स्यात् ? ५४६
 संज्ञेतस्य पुरुषाश्रयत्वात् अन्यथापि तत्संभा-
 वनया वेदस्य मिथ्यात्वापत्तिः ५४७
 नित्यसम्बन्धवशाच्चावो शब्दः किमेकार्थ-
 नित्यः अनेकार्थनित्यो वा ? ५४७
 एकार्थनित्यश्चेत् किमेकदेशेन सर्वात्मना वा ? ५४७
 एकदेशनित्यत्वे स एकदेशः किमभिमतैकार्थ-
 नित्यः अभिमतार्थनित्यो वा ? ५४७
 अभिमतार्थैकनित्यमोऽपि पुरुषात् स्वभावाद्वा ? ५४७
 नित्यः सम्बन्धी किं शब्दः स्यादर्थो वा द्वयं वा ? ५४८
 नित्यसम्बन्धः किमैन्द्रियः अतीन्द्रियः अनुमा-
 नगम्यो वा स्यात् ? ५४९
 अनुमानावपि सम्बन्धग्रहे किमत एवानुमाना-
 दन्यतो वा ? ५४९
 नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम्-अर्थज्ञानम्,
 अर्थः, शब्दो वा स्यात् ? ५४९
 नित्यसम्बन्धस्वीकारेऽपि अभिव्यक्तेरनित्यत्वो-
 पगमेपि पूर्वोक्तदोषाः प्रसज्यन्ते ५५०
 नित्यसम्बन्धवादिनः चोदनायाः कार्येऽर्थे
 प्रामाण्यानुपपत्तिः ५५०
 अन्यापोहवादः ५५१-५५५
 (बौद्धस्य पूर्वपक्षः) अर्थाभावेऽपि शब्दानामु-
 पलब्धेन तेषामर्थवाचकत्वं किन्तु अन्या-
 पोहमात्राभिप्रायिता ५५१
 शब्दस्य बहिरर्थो हि विषयः स्वलक्षणं वा
 स्यात् सामान्यं वा ? ५५१

न च शब्दार्थस्वलक्षणयोरेकत्र ज्ञाने प्रतिभासो
 येन संकेतग्रहः स्यात् ५५२
 अपोहो हि अर्थपञ्चकाकारः ५५५
 अपोहो द्विविधः पर्युदासात्मा प्रसज्यश्च,
 पर्युदासोऽपि द्विविधः-शब्दात्मा, अर्थात्मा
 चेति ५५५
 विकल्पाकारस्य मुख्यमन्यापोहत्वम्, त्रिविधं
 कारणैः औपचारिकोऽपोहः ५५६
 वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणरूप एव ५५६
 (उत्तरपक्षः) अपोहः प्रत्यक्षतः सिद्धयेदनु-
 मानतो वा ? ५५६
 अकृतकत्वव्यावृत्तिः कृतकत्वं किं स्वलक्षणा-
 त्मकम्, नित्यव्यावृत्तिरूपानित्यात्मकं वा ? ५५८
 ज्ञाने स्वलक्षणस्य प्रतिबिम्बनं सामान्यस्य वा ? ५५९
 शाब्दविकल्पस्य प्रतिबिम्बमात्राध्यवसायित्वे
 कुतो बहिरर्थं प्रवृत्तिः ? ५५९
 अर्थाध्यवसायश्च किं बाह्यस्यार्थस्य ग्रहणम्,
 करणम्, योजनम्, समारोपो वा ? ५५९
 बाह्यार्थस्य विकल्पेन स्वाकारे समारोपे
 स्वीक्रियमाणे किमुभयग्रहणे सति समारोपः
 स्यादसति वा ? ५६०
 उभयोर्ग्रहणञ्च विकल्पेन निविकल्पेन वा ? ५६०
 पूर्वं स्वप्रतिभासमनर्थमभ्युपगच्छादर्थमा-
 रोपयति विकल्पः, युगपदेव वा स्वप्रति-
 भासञ्चानुभवति अर्थञ्च समारोपयति,
 किं वा स्वाकारानुभव-अर्थाध्यवसाययो-
 रेकार्थत्वम् ? ५६०
 दुस्यविकल्पार्थयोरेकीकरणञ्च तेनैव ज्ञानेन
 ज्ञानान्तरेण वा ? ५६१
 ज्ञानान्तरञ्च किमेकमनेकं वा ? ५६१
 अपोहो हि भावे भावस्य प्रतीयते केवलो वा ? ५६१
 भावयोः प्रतीतिः किं शब्दादेव प्रमाणान्तराद्वा ? ५६१
 शब्देन च किं भावो प्रतीत्य अपोहः प्रतीयते
 अपोहं प्रतीत्य भावो वा ? ५६१
 अपोहमात्रप्रतीतिं च विशेषणविशेष्यभेदः
 अतीतादिकालभेदः स्त्रीपुंनपुंसकादिभेदः
 एकद्विवहुवचनादिभेदश्च न स्यात् ५६२
 अपोहस्य हि भेदः किमपोहभेदात्, वासना-
 भेदात्, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, वि-
 भिन्नकार्यकारित्वात्, आश्रयभेदात्, स्व-
 रूपभेदाद्वा स्यात् ? ५६२

पर्युदासरूपः प्रसज्यरूपो वाऽपोहः स्वरूपतो
भिन्नः शब्दैरभिधीयते ? ५६३
पर्युदासपक्षे भावान्तरं किं विशेषः सामान्यं
तदुपलक्षितो विशेषः तत्समुदायो वा स्यात् ? ५६३
निषेधमात्राभिधायित्वे च नीलोपल्लादिशब्दयोः
सामानाधिकरण्यं न स्यात् ५६४
सुनिश्चिततापत्प्रणेतृका हि शब्दा बाह्यार्थ-
प्रतिबद्धाः नतु सर्वे शब्दाः ५६५
अभिन्नेऽप्यर्थे सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदो
भवति ५६५
कार्यकारणभावस्य वाक्यवाचकरूपत्वे स्व-
क्षणमपि वाचकं स्यात् ५६६
जातिमात्रवाच्यत्वनिरासः ५६६-५७३
(मीमांसकस्य पूर्वपक्षः) विशेषाणामनन्त-
त्वात् न तत्र सङ्केतः शक्यः क्रियः अपि तु
सामान्यमात्रे ५६७
जातिमद्विशेषवाचकत्वे हि किं शब्दो जाति-
मभिधाय व्यक्तिसमिधत्ते, अनभिधाय वा ? ५६७
सामान्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च विशेषेषु
प्रवृत्तिः सुघटा ५६७
लक्षितलक्षणया च विशेषप्रतिपत्तिः ५६८
(उत्तरपक्षः) सङ्केतो हि सामान्यविशेषवत्यर्थे
क्रियते न तु सामान्यमात्रे ५६८
अनन्ता अपि विशेषाः सदृशपरिणामप्रधानतया
ऊहप्रमाणेन उपलब्धुं शक्यन्ते ५६८
जातितद्गतोश्च युगपदेकत्र ज्ञाने प्रतिभासनमिष्यते ५६९
यदि शब्दात् केवलं सामान्यं प्रतीयते तदा
व्यक्तेः किमायातं येनासौ तां गमयति ५७०
सामान्यविशेषयोर्हि संयोगः समवायः तदु-
त्पत्तिः तादात्म्यं वा सम्बन्ध इष्यते ? ५७१
सामान्यविशेषयोः सम्बन्धः किं शब्दप्रयोग-
काल एव प्रतिपन्नः पूर्व वा ? ५७१
तत्काले तत्प्रतीतिश्च किं प्रत्यक्षतः, अनुमा-
नात्, शब्दादेव वा स्यात् ? ५७१
जातेऽश्च व्यक्तिनिष्ठतास्वरूपं किं सर्वसर्व-
गतायाः स्वव्यक्तिसर्वगताया वा ? ५७१
जातिः सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षतः
प्रतीयते अनुमानतो वा ? ५७१
प्रत्यक्षतश्चेत् किं युगपत् क्रमेण वा ? ५७१
शब्दो हि संकेतितः सन् सामान्यमभिधत्ते

असंकेतितो वा ? ५७२
सङ्केतोऽपि प्रतिपन्ने सामान्ये स्यादप्रतिपन्ने वा ? ५७२
शब्दान्निविशिष्टं सामान्यं प्रतीयमानं पुरुषं
प्रवर्तयति विशिष्टं वा ? ५७२
वैशिष्ट्यञ्च किं विशिष्टव्यविततादात्म्य-
कृतम्, तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्,
अस्येदमिति प्रतीतिकृतं वा ? ५७२
विधिवादः ५७३-५८८
विधिरेव वाक्यार्थः अप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात् ५७३
शब्दविध्यादिवादिनां पंचदश प्रकाराः ५७४
(शब्दविधिवादिपूर्वपक्षः) अन्यव्यतिरे-
काभ्यां शब्दस्यैव प्रवर्तकत्वम् ५७४
शब्द एव मुख्यतया प्रवर्तकः ५७४
लिङ्गलोदृत्यप्रत्ययान्तस्यैव शब्दस्य प्रवर्त-
कत्वम् ५७४
(उत्तरपक्षः) प्रवर्तकार्थविवोधकत्वं विना
शब्दस्य प्रमाणत्वानुपपत्तेः ५७५
साध्यस्वभावयागादिव्यापारलक्षणविषयावबो-
धकत्वेनैव लिङ्गाद्यन्तस्य प्रमाणत्वम् ५७५
अनियमात्प्रवृत्तेः न शब्दो विधिः ५७५
संविदाश्रयणात् शब्दो विधिः ५७६
(भावनावादिनो भाट्टस्य पूर्वपक्षः) शब्द-
व्यापाररूपा शब्दभावनैव प्रवर्तकत्वाद्
विधिः ५७६
शब्दभावनायाः पुरुषप्रवृत्तिः प्रवृत्तिमान् वा
पुरुषो भाव्यो भवति ५७८
प्राशस्त्याभिधानं विना विधिशक्तिर्निमित्तात्त्व-
मुपगतापि प्रवर्ततायां समर्था न भवति ५७८
भावना किं केन कथमिति व्यंशपरिपूर्णा भवति ५७८
शब्दभावना शब्दधर्मः ५७९
प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य प्रवर्तनात्मको
व्यापारः निश्चीयते ५७९
यजेतेत्यत्र पुरुषप्रेरणा रूपा शब्दात्मिका अथ
च पुरुषव्यापाररूपा अर्थात्मिकेति द्वे
भावने प्रतीयते ५७९
अर्थभावना सर्वाख्यातप्रत्ययेषु विद्यते ५८०
लिङ्गादिप्रत्ययेषु द्वे भावने प्रतीयते-पुरुषः स्व-
व्यापारे यागादौ प्रवर्तते इति अर्थभावना,
तमयं लिङ्गं प्रवर्तयतीति शब्दभावना चेति ५८०
(उत्तरपक्षः) शब्दस्य भावना शब्दभावना

स्यात्, शब्द एव भावना वा ? ५८०
 अचेतने च शब्दे प्रयोजनात्सुस्थानाभावात्
 प्रेरकत्वम् ५८०
 शब्दभावनायाः सद्भावे किं लिङादिश्रवणा-
 नन्तरभाविनी प्रवृत्तिः प्रमाणं किं वा
 शब्द एव ? ५८१
 शब्दः स्वव्यापारं विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति
 अनपेक्षो वा ? ५८१
 यदि शब्दः स्वव्यापारं करोत्यभिधत्ते च; तदा
 उत्पाद्य परचात्तमभिधत्ते, युगपद्वोत्पाद-
 यति अभिधत्ते च ? ५८१
 (प्रभाकरस्य नियोगवादिनः पूर्वपक्षः)
 नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद्धिः ५८२
 शुद्धं कार्यं नियोगः ५८३
 प्रेरणैव नियोगः ५८३
 प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः ५८३
 कार्यसहिता प्रेरणा नियोगः ५८३
 कार्यस्यैव उपचारतः प्रवर्तकत्वम् ५८४
 कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोगः ५८४
 कार्यप्रेरणासमुदायो नियोगः ५८४
 यन्त्रारूढो नियोगः ५८४
 भोग्यरूपो नियोगः ५८४
 पुरुष एव नियोगः ५८४
 (उत्तरपक्षः) नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य
 कार्यस्य नियोगरूपतोपगम्यते तत्सापे-
 क्षस्य वा ? ५८५
 प्रेरणादिनियोगवादानां प्रतिविधानम् ५८५
 किं नियुङ्क्षते इति नियोगः, किं वा नियुक्तिः,
 नियुज्यतेऽनेनेति वा नियोगः स्यात् ? ५८६
 नियोगः शब्दव्यापाररूपः, पुरुषव्यापाररूपः,
 उभयरूपः, अनुभयरूपो वा ? ५८६
 अनुभयपक्षे विषयस्वभावः फलस्वभावः
 निःस्वभावो वा स्यात् ? ५८६
 यागादिविषयः किं नियोक्तृवाक्यकालजस्त
 न वा ? ५८६
 नियोगः प्रवर्तकस्वभावः अप्रवर्तकस्वभावो वा ? ५८७
 प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणस्य पुरुषधर्म-
 स्यापि विधित्वमनुपपन्नम्; अपौरुषेये वेदे
 पुरुषधर्माणां प्रेषणादीनामसंभवात् ५८८
 प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणानि ५८८

प्रेषादिविशेषनिरपेक्षस्य प्रवर्तनासामान्य-
 स्यापि विधित्वमनुपपन्नम्; विशेषानिर-
 पेक्षस्य सामान्यस्यासंभवात् ५८८
 फलस्यापि प्रवर्तकत्वमनुपपन्नम्; अर्थात्
 विना फलमात्रस्य अप्रवर्तकत्वात् ५८९
 नियतकर्मसाध्यतायाः फलसमवेतायाः प्रवृत्ति-
 हेतुत्वदर्शनात् फलस्य प्रवर्तकत्वे किं
 तत्साध्यता फलस्य स्वरूपम्, शक्तिभेदो
 वा स्यात् ? ५९०
 फलं विद्यमानं सत् पुरुषं प्रेरयति अविद्य-
 मानं वा ? ५९०
 फलं सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः साध्यतावि-
 शिष्टं वा ? ५९१
 फलाभिलाषस्य च बालकप्रवृत्त्यादिषु अव्या-
 पकत्वात् प्रवर्तकत्वम् ५९१
 कर्मणस्तु विधिविषयतया विधित्वभावताऽ-
 नुपपन्ना ५९१
 उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्धचर्यं पुरुषं प्रवर्तयति
 अनुत्पन्नं वा ? ५९२
 अप्राप्तक्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिरपि न अभि-
 लाषमन्तरेण प्रवर्तिका ५९२
 श्रेयःसाधनतायाः विशिष्टशब्दाव्ययतायाऽप्र-
 सिद्धेः न तस्याः विधित्वम् ५९३
 कस्येयं श्रेयःसाधनता-भावनायाः धात्वर्थस्य वा ? ५९३
 उपदेशस्य विधित्वे ठकाशास्त्रोपदेशस्यापि
 विधित्वं स्यात् ५९४
 वेदस्यापौरुषेयत्वात् तत्र उपदेशस्य संभावनैव
 नास्ति ५९४
 कर्तव्यताप्रतिपत्तिरपि किं निविशिष्टा प्रवृत्ति-
 हेतुः श्रेयःसाधनताविशिष्टा वा ? ५९५
 प्रतिभास्वरूपस्य च असिद्धत्वात् तस्याः
 विधिरूपता ५९६
 प्रतिभासमानाकारनिर्णयरूपतामात्रस्य प्रति-
 भात्वे सविकल्पकज्ञानस्य प्रतिभात्वप्रसङ्गः
 स्यात् ५९६
 साधनविशेषे क्रियाविशेषस्फुरणञ्च किं पूर्वा-
 हितसंस्कारवशात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणव्या-
 पारानुसारतः, चोदनातः, स्वो मे आता-
 गन्तेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा स्यात् ? ५९६
 भक्तिर्हि उत्पन्ना सती प्रवृत्तिनिमित्तम्, उत्प-

तिरश्चास्याः किं शब्दात्, निग्रहानुग्रह- समर्थपुरुषविशेषाद्वा ?	५९७
विषयफलनिरपेक्षणांम् इच्छाप्रयत्नादीना- मपि प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधित्वमनु- पपन्नम्	५९८
२७ कारिकाव्याख्या	५९९
श्रुतस्य प्रमाणत्वसमर्थनम्	५९९
२८ कारिकाव्याख्या	५००
आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थविनिश्चयाभावे सत्येतरव्यवस्थाऽभावः स्यात्	६००
सुगतेतरयोः आप्तानाप्तव्यवस्थां क्वचित् साधनासाधनाङ्गत्वव्यवस्थां वाऽभ्युपग- च्छता सौमतेन वाचः बाह्यार्थविषयता स्वीकरणीया	६०१
२९ कारिकाव्याख्या	६०२
पुंसः अभिप्रायवैचित्र्यात् शब्दानामविशेषतः अर्थव्यभिचारे कार्यकारणभावादीनामपि व्यभिचारदर्शनादनुमानमपि प्रमाणं न स्यात्	६०२
इति चतुर्थ आगमपरिच्छेदः —❧❧—	
३० कारिकाव्याख्या	६०५-६०७
नयदुर्नययोः स्वरूपम्	६०५
३१ कारिकाव्याख्या	६०६
३२ कारिकायां संग्रहनयस्वरूपम्	६०६
३३-३४ कारिकयोः प्रत्यक्षस्यापि द्रव्यग्राहकत्वनिरूपणम्	६११
३५-३६ कारिकयोः क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाभावप्रदर्शनम्	६१४
३७ कारिकायां चित्रज्ञानवत् द्रव्य- स्यापि पूर्वापरपर्यायव्यापित्व- प्रदर्शनम्	६१८
३८ कारिकायां परसंग्रहस्य स्वरूपम्	६२१
३९ कारिकायां नैगमतदाभासयोः निरूपणम्	६२२
४० कारिकायां सत्तातद्वतां भेदै- कान्तप्रतिषेधः	६२४

४१-४२ कारिकयोः व्यवहारनय- निरूपणम्	६३८-६३९
व्यवहाराभासस्य स्वरूपकथनम्	६३९
४३ कारिकायां ऋजुवृत्तनयस्वरूपम्	६३५
४४ कारिकायां शब्दसमभिरुद्धे- त्वंभूतनयलक्षणानि	६३७
४५ कारिकायाम् अक्षबुद्धिस्मृत्योर- भिन्नार्थविषयत्वप्रदर्शनम्	६४०
४६ कारिकायां शब्दज्ञानस्यापि अविसंवादितात् प्रमाणत्वम्	६४४
४७ कारिकायां कालादीनां स्वरूप- कथनम्	६४६
४८ कारिकायाम् अनेकान्तात्मनोऽ- र्थस्य षट्कारकात्मकत्वप्रदर्शनम्	६५०
४९-५० कारिकयोर्व्याख्या	६५२-६५४
पञ्चमः नयपरिच्छेदः —❧❧❧—	
५१ कारिकायां मंगलाचरणम्	६५५
५२ कारिकायां प्रमाणन्यासनयानां लक्षणानि	६५६
५३ कारिकायाम् अर्थकारणतायाः निरासः	६५८
५४ कारिकायाम् अर्थस्य ज्ञानकार- णत्वे संशयादिज्ञानानुत्पत्तिप्र- सङ्गापादनम्	६६१
५५ कारिकाव्याख्या	६६४
५६ कारिकायाम् आलोककारणतायाः निरासः	६६५
तमोद्रव्यवादः	६६६-६७२
(शालिकनाथ-योगयोः पूर्वपक्षः) ज्ञानानुत्पत्ति- व्यतिरेकेण नास्त्यन्यत्तमः	६६९
तमसो द्रव्यान्तरत्वे हि तत्प्रकाशने आलोका- नपेक्षा न स्यात्	६६६

आलोकाभावरूप एव हि छाया ६६७
 छायाया द्रव्यान्तरत्वे हि छायाद्यपायेऽपि आलो-
 केन सहावस्थानं स्यात् ६६७
 आवावरकद्रव्यगतकर्मादौपात् 'छाया गच्छति'
 इति प्रतीयते न वस्तुतः ६६८
 देशान्तरप्राप्तिर्हि छायायाः देशान्तरेण संयोगः
 समवायो वा ? ६६८
 (उत्तरपक्षः) आलोकतमसोः स्वरूपवैलक्षण्यं
 प्रतीयते ६६८
 तमसो रूपादिमत्त्वादभावरूपताविरोधः
 छायातमसोः कृष्णरूपं शीतवच्च रसोः प्रसिद्धः ६६८
 द्रव्यं तमः गुणवत्त्वात् ६६९
 वैद्यकशास्त्रेऽपि तमसो गुणवत्त्वं प्रसिद्धम् ६६९
 छायातमसोः गुणानामौपचारिकत्वे ज्योत्स्ना-
 तपयोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्न स्यात् ६७०
 सवैथा ज्ञानानुत्पत्तिः तमः प्रतीतिहेतुः
 कश्चिच्छब्दा ? ६७०
 तमसो ज्ञानानुत्पत्तिरूपत्वे आलोकस्यापि
 विशदज्ञानोत्पत्तिरूपतैव स्यात् ६७१
 छायाद्यन्वयकारः द्रव्यं घटाद्यावावरकत्वात्,
 गतिमत्त्वाच्च ६७१
 देशान्तरप्राप्तिश्च संयोगरूपैव ६७१
 छायाया असत्त्वे हि आवावरकद्रव्यगतकर्मणस्तत्र
 आरोपविरोधः ६७२
 छायां परमार्थसतो अध्यारोप्यमाणगतित्वात् ६७२
 ५७ कारिकायाम् प्रतिनियतावरण-
 विगमवशादात्मनः प्रतिनिय-
 तार्थप्रकाशकत्वनिरूपणम् ६७३
 ५८ कारिकायां तज्जन्मताद्रूप्यतद-
 ध्यवसायानां प्रामाण्यहेतुता-
 निरासः ६७५
 ५९ कारिकायां स्वहेतुजनितयोः
 ज्ञानज्ञेययोः परिच्छेद्यपरिच्छे-
 दकभावप्रदर्शनम् ६७८
 ६० कारिकायां प्रमाणस्य व्यवसा-
 यात्मकत्वसमर्थनम् ६७९
 ६१ कारिकायां प्रमाणभेदनिरूपणम् ६८२

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादीनामनि-

न्द्रियप्रत्यक्षता

६८२

६२ कारिकायां श्रुतस्य स्याद्वाद-

नयात्मकयोः द्वयोः उपयोगयोः

निरूपणम्

६८६

सकलादेशविकलादेशयोः स्वरूपम्

६८६

६३ कारिकायां स्यात्कारप्रयोगस्य

विचारः

६८९

अयोग-अन्ययोग-अत्यन्तायोगभेदेन त्रिधा
एवकारः ६९३

स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिप्रतिषेधा-

नुपपत्तेः

६९४

स्याद्वादाभ्युपगम एव एवकारस्य अयोगान्व-

योगात्यन्तायोगप्रकाराः सङ्गच्छन्ते

६९५

६४-६५ कारिकयोः शब्दानां बहि-

रर्थविषयत्वप्रदर्शनम्

६९६

शब्दनित्यत्ववादः

६९७-७२०

(सोमांसकस्य पूर्वपक्षः) प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य

नित्यत्वं निश्चीयते

६९७

प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षत्वम् इन्द्रियान्वयव्यतिरे-
कानुविधाधित्वात्

६९८

उच्चारणं हि शब्दस्य अभिव्यञ्जकम्

६९९

'कालो गाविसम्बद्धः कालत्वात्' इत्यनुमान-

तोऽपि शब्दस्य श्रावणत्वम्

६९९

नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्

६९९

'देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्ध्यः एक-

गोशब्दविषया गौरित्युत्पद्यमानत्वात्'

इत्यनुमानतोऽपि शब्दनित्यत्वसिद्धिः

७००

ह्यस्तनो गोशब्दः अद्याप्यनुवर्तते गौरिति

ज्ञायमानत्वात् इत्यनुमानेनापि नित्यत्वम्

७००

अद्यतनो गोशब्दः ह्योऽपि आसीत् गौरिति

ज्ञायमानत्वात् इत्यनुमानादपि नित्यत्वम्

७००

सम्बन्धवलेन अर्थमतित्जनकत्वादिपि नित्यत्वम्

७००

अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य नित्यत्वम्

७०१

सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न तत्रि-

मित्तान्वयार्थप्रतिपत्तेः

७०२

(उत्तरपक्षः) 'स एतावन् गकारः' इति प्रत्यभि-

ज्ञानस्य भ्रान्तताः सादृश्यनिबन्धनत्वादेव ७०३

न च प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षम् अविशदरूपत्वात् ७०४
 'उत्पन्नः शब्दः विनष्टः शब्दः' इति शब्दोत्पा-
 दविनाशग्राहकप्रत्यक्षबाधित्वात् न प्रत्य-
 भिज्ञा शब्दनित्यत्वसाधिका ७०४
 शब्दाभावप्रतीती च शब्दान्तरमेव एकज्ञान-
 संसर्गि भवति ७०५
 नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनूपलम्भः
 किम् इन्द्रियाभावात्, शब्दस्यासन्निहि-
 तत्वात्, आवृत्तत्वाद्वा स्यात् ? ७०५
 व्यञ्जकव्यापारात्पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित्प्रमाणा-
 त्प्रसिद्धौ आवरणकल्पना युक्ता ७०७
 आवरणमपि दृश्यमदृश्यं नित्यमनित्यं व्यापक-
 मव्यापकं एकमनेकं वा स्यात् ? ७०७
 शब्दाः प्रतिनियतावरणावायाः प्रतिनियतव्य-
 ञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति अभिज्ञ-
 देशत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात् ७०९
 तात्वादीनां ध्वनीनां वा व्यञ्जकत्वे तद्वधा-
 पारे शब्दानां नियमेनोपलब्धिर्न स्यात् ७०९
 न सर्वगतः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति-
 बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् ७१०
 ध्वनयश्च किं प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते अनुमानेन
 अर्थापत्त्या वा ? ७१०
 प्रत्यक्षेण चेत्; श्रौत्रेण त्पार्श्वेन वा ? ७१०
 विशिष्टसंस्कृत्यन्यथानुपपत्त्या ध्वनिप्रतिपत्तौ
 संस्कृतिः शब्दसंस्काररूपा स्यात्, श्रोत्र-
 संस्काररूपा, उभयसंस्काररूपा वा ? ७११
 शब्दसंस्कारः किं शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः
 कश्चिदतिशयः, अनतिशयव्यावृत्तिः,
 स्वरूपपरिपोषः, व्यक्तिसमवायः, तद्ग्रह-
 णापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमित्रम्,
 आवरणविगमो वा स्यात् ? ७१२
 श्रोत्रप्रदेश एव शब्दस्य ध्वनिभिः संस्कारः
 क्रियते सर्वत्र वा ? ७१२
 इन्द्रियसंस्कारपक्षे सर्वशब्दानां युगपच्छ्रवणं
 स्यात् ७१३
 अतः तात्वादिव्यापारानन्तरभावित्वात् तज्ज-
 न्यत्वमेवोपपन्नं शब्दस्य ७१४
 कालत्वाद्वेतोः शब्दस्यैयंसाधने विद्युदादीना-
 मपि नित्यत्वप्रसङ्गः स्यात् ७१६
 गौरित्युत्पद्यमानत्वञ्च गोशब्दलिपिवुद्ध्या

अनेकान्तिकम् ७१६
 सम्बन्धबलेनार्थमतिजनकञ्च चेष्टया अनेका-
 न्तिकम् ७१७
 कञ्चित्कालावस्थायित्वञ्च किमुपलम्भकाला-
 वस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्तमान-
 कालावस्थायित्वं वा ? ७१८
 भ्रूमवदनित्यस्यापि शब्दस्य सादृश्यतोऽर्थप्रति-
 पादकत्वोपपत्तेः ७१८
 शब्देष्वपि उदात्तादिभेदतो नानात्वस्य प्रसिद्धेः
 अस्ति तेषु शब्दत्वं सामान्यं सदृशपरि-
 णामात्मकम् ७१९
 सादृश्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात् न तत्र बाधा ७१९
 अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् ७१९
 कृतकः शब्दः कारणान्वयव्यतिरेकानुविधाधित्वात् ७१९
 वैदिकानामपि शब्दानाम् अपौरुषेत्वप्रसाधक-
 प्रमाणभावादिति नित्यत्वमेव ७२०
 वेदापौरुषेयत्ववादः ७२१-३७
 (सीमांसकस्य पूर्वपक्षः) अपौरुषेयो वेदः कर्तुः
 स्मरणयोग्यत्वे सत्यपि अस्मर्यमाणकर्तृ-
 कत्वात् ७२१
 छिन्नमूलत्वाच्च वेदे कर्तृस्मरणाभावः ७२२
 वैदिकी रचना अपौरुषेयी दृष्टकर्तृकरणरचना-
 विलक्षणत्वात् ७२२
 वेदाध्ययनवाच्यत्वात् कालत्वाच्च वेदस्या-
 पौरुषेयत्वम् ७२२
 नहि आप्तगुणसंक्रान्त्या शब्दस्य प्रामाण्यम्
 आप्तस्य शब्दोच्चारणमात्रे व्यापारात् ७२३
 वेदानुपूर्व्याः स्वसामर्थ्येनैव प्रामाण्यम् ७२४
 (उत्तरपक्षः) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं किं कर्तृ-
 स्मरणाभावः अकर्तृकत्वं वा ? ७२४
 अभावप्रमाणमपि कर्तृस्मरणाभावं निराश्रयं
 प्रसाधयेत् साश्रयं वा ? ७२४
 आश्रयोऽपि स्वात्मा स्यात्, सर्वप्रमातारो वा ? ७२५
 न चाभावः कर्त्रेभावावेदकः वेदस्य स्वयं
 स्वकर्तृप्रतिपादकत्वात् ७२६
 स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्कितः काण्व-
 माध्यन्दिनादयः शास्त्राभेदाः कथमस्मर्य-
 माणकर्तृकाः ? ७२६
 एताः तत्कृतत्वात्सामभिराङ्कितः तद्दृष्ट-
 त्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? ७२६

यदि योगादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिः
तदा कर्तृविशेषस्मरणमेव अप्रमाणं स्यात्
तु कर्तृसामान्यस्मरणमपि ७२७
कार्यमेव हि स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाण-
कर्तृकं वा प्रतीयते, अतः कृतको वेदः
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् ७२७
कर्तृस्मरणं हि वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य
वा स्यात् ? ७२८
कर्तृभावसिद्धिश्च प्रमाणान्तरात्, अत एव वा ? ७२८
अध्यक्षेण वेदकर्तृरनुभवाभावात् स्मरणं छिन्न-
मूलम् प्रमाणान्तरेणानुभवाभावाद्वा ? ७२९
अध्यक्षेण चेत्; भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्ब-
न्धिना वा ? ७२९
पौरुषेयो वेदः रचनावत्त्वात्, पदवाक्यात्म-
कत्वाच्च ७२९
प्रमाणान्तरविषयभाजि वैदिकानि वाक्यानि
आप्तोक्तानि वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात् ७३०
वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वं हि
किं दुर्भणत्वम्, दुःश्रवणत्वम्, लोक-
व्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्द-
विनिवेशः, अपूर्वछन्दोनिबद्धत्वम्, अती-
न्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेत-
मन्त्रयुक्तत्वं वा ? ७३०
अध्ययनवाक्यत्वं किं निविशेषणं सद् वेदस्य
अपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत् सविशेषणं वा ? ७३१
वेदाध्ययनं हि किं तावन्मात्रेण हेतुः अपर-
विशेषणविशिष्टत्वेन ? ७३१
अतीन्द्रियार्थप्रतिपादने वेदस्य प्रामाण्याभावः
गुणबद्धकृत्वात् ७३३
अपरविशेषणपक्षे किं कर्तृस्मरणं विशेष-
णमभिप्रेतं सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ? ७३३
सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः सर्वलोक-
गतो वा ? ७३३
सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च किं स्वतन्त्रं प्रमाणम्,
प्रत्यक्षाध्यतमत्, तदन्तर्भूतं वा ? ७३३
कालत्वहेतोः प्रतिविधानम् ७३३
वेदः व्याख्यातः अव्याख्यातो या स्वार्थ-
प्रतीतिं कुर्यात् ? ७३४
व्याख्यानमपि स्वतः, पुरुषाद्वा स्यात् ? ७३४
व्याख्याता च अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो

वा स्यात् ? ७३५
मन्वादीनां प्रज्ञातिशयश्च वेदार्थाभ्यासात्,
अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? ७३६
अभ्यासोऽपि ज्ञातस्य वेदस्य स्यादज्ञातस्य वा ? ७३६
ज्ञातस्य चेत्; तज्ज्ञप्तिः स्वतः, अन्यतो वा ? ७३६
वेदार्थानुष्ठानाच्चेत्; ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा
वेदार्थस्य अनुष्ठानात् स्यात् ? ७३६
अतः पौरुषेयो वेदो न ररचितरचना-
वशिष्टत्वात् ७३७
वाक्यलक्षणविचारः ७३५-४५
पदवाक्ययोलक्षणे ७३८
आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुधर्मः, सा च वाक्ये-
ष्वध्यारोप्यते ७३८
आख्यातशब्दो हि पदान्तरनिरपेक्षः सापेक्षो
वा वाक्यं स्यात् ? ७३९
सापेक्षपक्षे ऋषिभिरपेक्षोऽसौ न वा ? ७३९
संघातस्य वाक्यत्वे किं वर्णानां पदानां वा
संघातो वाक्यत्वं प्रतिपद्यते ? ७४०
देशकृतः कालकृतो वा पदसंघातः वाक्यं स्यात् ? ७४०
कालकृतोऽपि संघातः पदेभ्यो भिन्नः
अभिन्नो वा ? ७४०
अभिन्नश्चेत्; सर्वथा कश्चिद्वा ? ७४१
पदसंघातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणायाः
पदसंघातात्कश्चिदभिन्नाया जातेः
वाक्यत्वमभ्युपगम्यत एव ७४१
बुद्धिश्च भाववाक्यं द्रव्यवाक्यं वा स्यात् ? ७४१
अनुसंहृतेर्भाववाक्यरूपता स्वीक्रियते ७४२
पदानामेव वाक्यार्थबोधविधायकत्वे किं
परस्परसापेक्षानां पदानां तद्विधायकत्वं
निरपेक्षानां वा ? ७४३
वाक्यार्थः पदार्थान्यः अनन्यो वा ? ७४३
अथ अन्यः क्रियाकारकसंग्रहः; तदा
असौ नित्यः अनित्यो वा स्यात् ? ७४३
अनित्यश्चेत्; किं विवक्षितपदार्थजन्येते पदा-
न्तरि वा ? ७४३
विवक्षितपदार्थजन्यत्वे त एवोत्पादका ते एव
च ज्ञापकाः; तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति,
पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पाद-
यन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ? ७४३
अतः क्रियाकारकसंग्रहस्य कर्त्तव्यतया प्रति-

पादने किं कर्तव्यता भावरूपा स्यादभाव-
रूपा वा उभयरूपा वा अन्वयरूपा वा ? ७४३
पदञ्च वर्णभ्यो भिन्नमभिन्नं वा स्यात् ? ७४४
भेदपक्षेऽपि किं तद् दृश्यमदृश्यं वा ? ७४४
पदं वाक्यं वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते वर्णद्वारेण वा ? ७४४
वर्णद्वारेणापि सावयवस्य निरवयवस्य वा प्रतीतिः
स्यात् ? ७४४
निरवयवञ्च किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्यः प्रतीयते
व्यस्तेभ्यो वा ? ७४४
सकलवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया वर्णबुद्ध्या
वाक्यावधारणे सा बुद्धिः किं स्मरणम्
उत अध्यक्षं वा स्यात् ? ७४५
पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्यां समुत्पन्नस्य
विकल्पज्ञानस्य वाक्यावधारणकर्तृत्वे तद्वि-
कल्पज्ञानं प्रमाणं न वा ? ७४५
प्रमाणञ्चेत्; किं प्रत्यक्षाद्यन्तमत्, प्रमा-
णान्तरं वा ? ७४५
स्फोटवादः ७४५-५६
(वैयाकरणानां पूर्वपक्षः) स्फोट एव अर्थप्रति-
पादकः न तु वर्णाः ७४५
वर्णा हि समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादकाः स्युः ? ७४५
पूर्ववर्णानाम् अन्त्यवर्णानुग्राहकत्वे किम् अन्त्य-
वर्णजनकत्वमनुग्राहकत्वमभिप्रेतम्, अर्थ-
ज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? ७४६
संवेदनप्रभवसंस्काराश्च केवलं स्वविषयस्मृति-
हेतवो भवन्ति न त्वथान्तरे ज्ञानोत्पादकाः ७४७
अन्त्यवर्णस्य च अर्थप्रतिपादकत्वे पूर्ववर्णोच्चा-
रणवैयर्थ्यम् ७४७
अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या स्फोटः अर्थप्रतीति-
हेतुः स्वीकरणीयः ७४७
प्रत्यक्षतः अभिन्नः स्फोटः समनुभूयते ७४८
नित्यश्चासीत् स्फोटः ७४८
स्फोटो हि अन्तरालप्रत्ययैर्व्यज्यते ७४९
(उत्तरपक्षः) पूर्णवर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णा-
दर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः स्फोटकल्पना व्यर्था ७५०
पूर्णवर्णविज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञानजनित-
संस्कारसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णः अर्थप्रती-
त्युत्पादकः ७५०
पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारस्य अन्त्यवर्णसहा-
यताप्रणाली ७५१

अदृष्टवशात् अविनष्टा एव पूर्ववर्णसंविदः
तत्संस्काराश्च अन्त्यवर्णसंस्कारं विदधति ७५१
तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो
वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः ७५१
यदि वर्णाः व्यस्ताः समस्ता वा नाथप्रतिपत्ति-
विदधति तदा स्फोटस्याभिव्यक्तावापि न
तेषां सामर्थ्यं स्यात् ७५२
एकनैव वर्णेन वा स्फोटस्याभिव्यक्तौ द्वितीया-
दिवर्णाच्चारणवैयर्थ्यम् ७५३
नापि पूर्ववर्णैः स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यवर्णस्य
व्यञ्जकत्वम् ७५३
संस्कारो हि स्फोट एव तद्वर्मा वा स्यात् ? ७५३
किञ्च असौ संस्कारः किमेकदेशेन क्रियते
सर्वात्मना वा ? ७५३
स्फोटसंस्कारो हि स्फोटविषयसंवेदनम् आव-
रणापनयनं वा ? ७५३
चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य अर्थप्रकाशन-
सामर्थ्यासंभवात् चिदात्मैव स्फोटोऽस्तु ७५४
वायूनामपि न स्फोटाभिव्यञ्जकत्वम् ७५४
स्फोटस्वरूपवेदकप्रमाणाभावान्नास्य अभि-
व्यक्तिकल्पना युक्ता ७५५
यदि वर्णैः तद्बुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो शब्दस्फोटोऽ-
भ्युपगम्यते तदा प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्यु-
पगन्तव्यः ७५६
एवं गन्धादिस्फोटोऽपि स्वीकार्यः ७५६
तथा हस्त-पाद-करण-मातृकास्फोटा अपि
अभ्युपेयाः स्युः ७५६
अपभ्रंशादीनां वाचकत्वविचारः ७५७-६७
(सीमासकवैयाकरणादीनां पूर्वपक्षः) संस्कृत-
शब्दानामेव वाचकत्वं साधुत्वात् तु प्राकृ-
तानां गाव्यादीनाम् ७५७
अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां हि वाचकत्वं
संस्कृतशब्द एव निश्चीयते ७५८
गाव्यादिप्राकृतशब्देषु वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण
अर्थबोधकत्वमतस्तत्र गोशब्दस्मृत्या
अन्वयव्यतिरेको अन्यथासिद्धौ ७५८
नहि गाव्यादिशब्देषु संकेतोऽपि शक्यक्रियः ७५९
सकलशब्दानां सामान्यद्वारेण संकेतसौकर्याय
व्याकरणस्य उपयोगिता ७५९
व्याकरणस्याप्रामाण्ये हि लोकशास्त्रविरोधः ७६०

शब्दसाधुत्वस्य च प्रत्यक्षतः एव प्रतीतिः ७६१
 व्याकरणसंस्कारापेक्षमेव श्रोत्रं साधुत्वप्राहकं
 भवति ७६१
 व्याकरणानुशिष्टत्वात् अदृश्यमानप्रयोगाणा-
 मपि शब्दानां साधुत्वं ज्ञायते ७६१
 आगमाथापत्त्यादिभिरपि साधुत्वप्रतीतिर्भवत्येव ७६१
 (उत्तरपक्षः) लोकव्यवहारे हि गाव्यादिशब्दा-
 नामेव साधुत्वमतस्तेषामेव वाचकत्वम् ७६२
 न हि प्राकृतशब्देभ्यः प्रथमं संस्कृतशब्दस्मरणं
 ततोऽर्थबोधः इति व्यवहिता प्रतीतिर्भवति ७६२
 येनच संस्कृतशब्दा न श्रुताः तेषां कथं संस्कृत-
 शब्दस्मरणम् ? ७६२
 गाव्यादिशब्दानामप्यष्टत्वञ्च पुरुषार्थाप्रसा-
 धकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्व-
 दानवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्,
 सङ्केतेन अर्थोभिधायित्वादा स्यात् ? ७६३
 साधुत्वञ्च किं वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता,
 धर्मसाधनत्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्,
 विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, बाधारहितत्वम्,
 प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम्, अनुपहृतेन्द्रिय-
 प्राहृतत्वम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्ध-
 स्वरूपत्वं वा स्यात् ? ७६३
 अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया नित्यत्वा-
 पेक्षया बोध्यते ? ७६४
 प्रकृतिरेव हि प्राकृतं न तु प्रकृतेर्भवम् ७६४
 प्रकृतिश्च किं स्वभावः, धातुगणः, संस्कृत-
 शब्दस्वरूपं वा ? ७६४
 गुणान्तराधानं हि संस्कारः, अतः कथं संस्कृतं
 प्रकृतिः स्यात् ? ७६४
 न हि अविचलितरूपतयावस्थापनमेव शब्दानां
 संस्कारः, अप्रतीतिः ७६४
 अविचलितरूपतयावस्थापनञ्च शब्दानां साधु-
 द्यापेक्षया, नित्यैकरूपापेक्षया वा स्यात् ? ७६५
 धर्मसाधनत्वमपि साक्षात् परम्परया वा ? ७६५
 व्याकरणसिद्धस्वरूपता च प्राकृतशब्दस्याप्यस्ति ७६६
 संस्कृता वाक् कदा वक्तव्या कर्मकाले अध्य-
 ययनकाले वा ? ७६६
 अध्ययनकाले चेत्, कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य
 संस्कृतस्य वा ? ७६६
 गाव्यादिशब्दानामप्यष्टत्वञ्च किं स्वरूप-

मात्रात् व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? ७६६
 प्राकृतस्य अधर्महेतुत्वमपि सर्वदा यापादि-
 कर्मकाले वा ? ७६७
 संस्कृतशब्दोच्चारणस्य धर्महेतुत्वे चान्येषां
 पुण्यानुष्ठानानां वैयर्थ्यम् ७६७
 ब्राह्मणत्वजातिविचारः ७६७-७६९
 (मीमांसकादीनां पूर्वपक्षः) प्रत्यक्षेणैव हि ब्राह्म-
 णोऽयं ब्राह्मणोऽयमिति ब्राह्मण्यं प्रतीयते ७६७
 मातापितृब्राह्मण्यज्ञानसहायं हि प्रत्यक्षं ब्राह्म-
 णत्वजातिप्राहकम् ७६८
 अथवा ब्राह्मणोऽयमित्युपपदेशसहकृतेन इन्द्रि-
 येण ब्राह्मणत्वजातिप्राही प्रत्ययो जन्यते ७६८
 मातापित्रोः अविप्लुतत्वञ्च प्रवादाभावान्नि-
 द्धीयते ७६८
 अनुमानतोऽपि ब्राह्मणत्वजातिः प्रतीयते ७६९
 ब्राह्मणपदं व्यक्तित्वरिक्तकनिमित्ताभिधाय-
 सम्बद्धं पदत्वात् इत्यनुमानादपि ब्राह्मण-
 त्वसिद्धिः ७६९
 वर्णविशेषयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनि-
 वन्धनं ब्राह्मण इति ज्ञानम् ७६९
 आगमादपि ब्राह्मणत्वजातिसिद्धिः ७७०
 (उत्तरपक्षः) किं केवलैन्द्रियजनितेन प्रत्य-
 क्षेण ब्राह्मणत्वं प्रतीयते अन्यसहकृतेन्द्रि-
 यजनितेन वा ? ७७०
 प्रथमपक्षे निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वा तेन
 तत्प्रतीयेत ? ७७०
 इन्द्रियाणां सहाकारि हि किं ब्राह्मणभूतपितृ-
 जन्यत्वं स्यात्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेशः,
 आचारविशेषः, संस्कारविशेषः, वेदा-
 ध्यानम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्म-
 प्रभवत्वं वा ? ७७१
 पित्रोः ब्राह्मणत्वमपि ब्राह्मणभूतपितृजन्य-
 त्वात् सिद्धयेत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? ७७१
 पित्रोरविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया,
 अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वाऽभिप्रेतम् ? ७७२
 प्रथमपक्षे तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्,
 अनादिकाले वा ? ७७२
 तज्जन्मनि चेत्, केन प्रतीयेत-पुत्रेण अन्यैर्वा ? ७७२
 अन्यैरपि प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, आगमाद्वा
 तत्प्रतीयेत ? ७७२

पिशोरविप्लुतत्वे हि किं सांवृताकारविशेषः
 अपत्येष्वविलक्षणता वा लिङ्गं स्यात् ? ७७३
 आगमतोऽपि अपौरुषेयात् पौरुषेयाद्वा तत्प्र-
 तीतिः स्यात् ? ७७३
 अवलानां प्रायेण कामातुराणामविप्लुतत्वम-
 शक्यनिश्चयम् ७७३
 आचारविशेष-संस्कारयोश्च अव्याप्यतिव्या-
 प्तिसद्भावात् ब्राह्मणत्वनिश्चायकत्वम् ७७४
 ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा ? ७७४
 अस्ति चेत्; किं सर्वत्र मुखप्रवेश एव वा ? ७७४
 ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव
 वाऽसौ जायते ? ७७५
 'ब्राह्मणपदम्' इत्यनुमानञ्च प्रत्यक्षबाधितम् ७७५
 सत्ताकाशकालादिपदेनैकान्तिकश्च पदत्वं हेतुः ७७५
 नगरादिभिरनैकान्तिकश्च पदत्वहेतुः ७७६
 नगरादिषु अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं हि द्रव्यम्,
 सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ? ७७६
 सत्तापि गृहादिविशेषिता नगरप्रत्ययम्-
 त्वादयेत् केवला वा ? ७७६
 प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि गृहादीनां गृहाद्यन्तरैः
 समवायः संयोगो वा अभिप्रेतः ? ७७६
 अप्रतिपक्षे च ब्राह्मण्ये लिङ्गस्य अविनाभा-
 वावगमो न भवति ७७६
 आगमतोऽपि अपौरुषेयात् पौरुषेयाद्वा तत्प्र-
 तीतिः स्यात् ? ७७७
 अर्थापत्त्युपमानाभ्यामपि न ब्राह्मणत्वप्रतीतिः ७७७
 जैतानाञ्च क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नो-
 पलक्षिते व्यक्तिविशेषे वर्णाश्रमव्यवस्था
 तस्मिन्निष्पन्नं तपोदानादिव्यवहारः घटते ७७८
 जातेः पवित्रताहेतुत्वे वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां
 ब्राह्मणानां कथं निन्दा स्यात् ? ७७९
 क्रियाभ्रंशान्निवृत्तायां सिद्धं क्रियानिमित्तकं
 ब्राह्मणत्वम् ७७९
 विवृतिविवरणम् ७७९
 विवक्षामात्रसूचकत्वे हि शब्दानां कथं बहिरर्थं
 प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः स्युः ? ७८०
 विवक्षा च किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्,
 अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामीत्यभि-
 प्रायो वा स्यात् ? ७८०
 समयानुपेक्षः शब्दः तादृशमभिप्रायं गमयेत्

तत्सापेक्षो वा ? ७८१
 ६६-६७ कारिकायोः सप्तम्यनिर्देशः ७८२
 श्रुतभेदा नयाः नतु मतिभेदाः ७८३
 स्पर्शवत्त्वात् जलादीनामपि गन्धादिमत्ता
 सिद्धयति ७८७
 ६८ कारिकायां नैगम-नैगमाभास-
 निरूपणम् ७८८
 ६९ कारिकायां संग्रहतदाभासयोः
 लक्षणम् ७९०
 ७० कारिकायां व्यवहारतदाभास-
 स्वरूपम् ७९०
 ७१ कारिकायाम् ऋजुसूत्रतदाभास-
 लक्षणम् ७९२
 ७२ कारिकायां नैगमादीनां चतुर्णां-
 मर्थनयत्वस्य शब्दादित्रयाणां
 शब्दनयत्वस्य च समर्थनम् ७९३
 शब्दादीनां नयानां लक्षणानि ७९४
 अनेकान्तरिराकृतेः नयानां निरपेक्षत्वम् ७९४
 इति षष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः
 ७३-७६ कारिकासु निक्षेपस्वरूप-
 निरूपणम् ७९८
 नामादिनिक्षेपाणां लक्षणानि ७९९
 निर्देशाद्यनुयोगानां स्वरूपम् ८०२
 सदाद्यनुयोगानां लक्षणानि ८०२
 अर्थात्मिकी निक्षेपी द्रव्यभावी, वागात्मकः
 नामरूपः, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूपः ८०३
 एकजीवानेकजीवादिनामभेदेन अनेकधा
 नामनिक्षेपः ८०४
 सद्भावासद्भावभेदेन द्विधा स्थापना ८०५
 आगम-नोआगमादिभेदेन द्रव्यनिक्षेपस्य भेदाः ८०६
 भावनिक्षेपस्य भेदाः ८०७
 आवरणस्वरूपविचारः ८०८-८१२
 (वेदान्तिनां पूर्वपक्षः) न चावरणस्य स्वरूपं
 किञ्चित् प्रसिद्धम्; तद्वि शरीरम्,
 रागादि, देशकालादिकं वा स्यात् ? ८०८

अविद्यैव आवरणं स्यात् न पीद्गालिकं कर्म ८०९
 पीद्गालिकत्वेऽपि वा अनादिसन्तानत्वात् न
 निर्जरासंभवः ८०९
 (उत्तरपक्षः) कर्ममात्रसद्भावे विवादः
 ज्ञानावरणादिकर्मविशेषे वा ? ८०९
 हीनस्थानादिषु विशिष्टाभिरतिदर्शनात्
 कर्मसद्भावसिद्धिः ८०९
 ज्ञानं सावरणं स्वविषयेऽस्पष्टत्वात् इत्यनुमा-
 नात् ज्ञानावरणसिद्धिः ८१०
 अविद्याया अमूर्तत्वादावरणत्वासंभवः ८१०
 मूर्तेन मदिरादिना अमूर्तस्याप्यात्मन आवरणं
 भवति ८१०
 मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनः
 तत्स्वरूपान्ध्याभावस्वभावत्वात् इत्यनु-
 मानात् कर्मसिद्धिः ८१०
 कर्मणामात्मगुणत्वे हि आत्मपारतन्त्र्यनिमित्ता-
 त्वं न स्यात् ८१०
 हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् पारतन्त्र्यमात्मनः
 सुप्रसिद्धम् ८१०
 शरीरं हीनस्थानमात्मनो दुःखहेतुत्वात् ८११
 पीद्गालिकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् ८११
 विपक्षपरमवर्णसद्भावे कर्मणामनादित्वेऽपि
 प्रक्षयोपपत्तेः ८११
 प्रकृष्यमाणत्वाद्वेतोः ज्ञानादीनां परमप्रकर्ष-
 गतिः संभाव्यते ८११
 आवरणहानिः प्रकृष्यमाणा आवरणहानित्वात् ८१२
 ज्ञानावरणादि आमूलं प्रक्षीयते समग्रक्षयहेतु-
 वेतत्वात् ८१२
 कर्मप्रक्षयहेतुं च संवरनिर्जरे ८१२
 अष्टष्टस्य प्रकृतिविवर्तत्वनिरासः ८१३-८१३
 (सांख्यस्य पूर्वपक्षः) नात्मगुणोऽदृष्टं प्रकृति-
 विवर्तत्वात् ८१३
 पुरुषो हि साक्षित्वादित्स्वरूपः ८१३
 कर्तृत्वं हि प्रकृतेरेव ८१४
 प्रकृतिसंस्पर्शात् अकतंऽपि पुरुषः कर्त्तव्ये भाति ८१४
 प्रकृतिस्थपि सुखादिकमज्ञानतमश्छन्नतया
 आत्मस्थं मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वा भवति ८१५
 (उत्तरपक्षः) न हि प्रकृतिः प्रमाणसिद्धा यत-
 स्तद्विवर्त्तत्वं कर्मणां स्यात् ८१६
 प्रकृतिहि पुरुषस्य निमित्तामपेक्ष्य तथा परि-

णमेतु अनपेक्ष्य वा ? ८१६
 यद्यपेक्ष्य; तदा किमपेक्ष्यम्-विवेकानुपलम्भः ८१७
 अदृष्टं वा ? ८१७
 अमुक्तात्मनि प्रवृत्ताधिकारत्वञ्च किं तत्र
 सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादिसम्पादकत्वं वा ? ८१७
 शरीरादिना आत्मनः कश्चिदुपकारः क्रियते
 न वा ? ८१७
 क्रियते चेत्; भिन्नः अभिन्नो वा ? ८१८
 पुरुषो न वस्तु सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात् ८१८
 अकर्तृत्वे चात्मनः भोक्तृत्वविरोधः, भुजि-
 क्रियायाः कर्त्तव्यं हि भोक्ता ८१८
 कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुसून्यत्वे भोक्तृत्वादि-
 धर्माणामपि वस्तुसून्यत्वं स्यात् ८१९
 अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशकृता-
 भ्यामप्यप्रसङ्गः ८१९
 बुद्धिचैतन्ययोर्हि भेदाभावः ८१९
 अपरिणामिन्याश्चित्ताशक्तेः वस्तुत्वमेव अनु-
 पपन्नम् ८२०
 जैनास्तु मुक्तात्मानमपि परिणामिनं स्वीकुर्वन्ति ८२०
 यदा बुद्ध्या चित्ताशक्तेः विषयः प्रदर्श्यते तदाऽ-
 सो प्राचीनमदशितस्वरूपं त्यजति न वा ? ८२०
 शुद्धत्वादनन्तत्वाद्वा न चित्तरपरिणामित्वसिद्धिः ८२१
 किम् अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ? ८२१
 विवेकख्यातिश्च किं प्रकृतेर्भवति पुरुषस्य
 तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? ८२२
 विवेकख्यातिश्च बुद्धिधर्मत्वात् भवन्मते पुरुषे
 न संभवति, संभवे वा सा ततो भिन्ना,
 अभिन्ना वा ? ८२२
 भिन्ना चेत्; मित्या अनित्या वा ? ८२२
 नित्यापि सम्बद्धा असम्बद्धा वा ? ८२२
 अनित्यापि जन्या अजन्या वा ? ८२२
 जन्यत्वेऽपि आत्मना प्रकृत्या तद्व्यतिरिक्तेन
 वा केनचिदसौ जन्यते ? ८२२
 आत्मनापि प्रकृतिवियुक्तेन तत्सहितेन वासौ
 जन्यते ? ८२२
 प्रकृतेर्जडतया 'विज्ञातविषयाद्भम्' इति
 ज्ञानानुत्पत्तेः ८२३
 विज्ञातापि मोक्षावस्थायामपि भोगसम्पादनाय
 वायुवत् प्रवर्तताम् ८२३
 अतः मोक्षेऽप्यात्मा विशुद्धज्ञानादिरूपः स्वीकार्यः ८२३

मुक्तिस्वरूपविचारः	८२३-४७
(योगानां पूर्वपक्षः) नवानामात्मविशेषगुण- नामत्यन्तोच्छेदात् आत्मस्वरूपेण अवस्थानं	
मोक्षः	८२३
सन्तानत्वाद्धेतोः विशेषगुणोच्छेदसिद्धिः	८२४
तत्त्वज्ञानाच्च मुक्तिः	८२४
सञ्चितकर्मणाञ्च फलोपभोगात् प्रक्षयः	८२४
अभिलाषाभावेऽपि तत्त्वज्ञानिनः कर्मक्षयाधितया कर्मफलोपभोगे प्रवृत्तिः	८२५
शरीरादिनिवृत्ती चात्मा सर्ववैषयिकसुखदुःख- शून्यः समस्तधर्माधर्मरहितत्वात्	८२५
'न ह वै सशरीरस्य' इत्याद्यागमादपि मुक्तौ विशेषगुणशून्य आत्मा प्रतीयते	८२५
(उत्तरपक्षः) आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादि- विशेषगुणानां सन्तानस्य उच्छेदः प्रसाध्यते, अभिज्ञानाम्, कथञ्चिदभिज्ञानां वा ?	८२५
सन्तानत्वञ्च साधनं सामान्यरूपं विशेषरूपं वा ?	८२६
सामान्यरूपत्वेऽपि परसासामान्यरूपम्, अपर- सामान्यरूपं वा स्यात् ?	८२६
विशेषरूपत्वेऽपि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादि- क्षणविशेषरूपम्, पूर्वापरसमानजातीयक्षण- प्रवाहमात्ररूपं वा ?	८२६
कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्या- नित्यैकान्तयोरसम्भवात् विरुद्धोऽयं हेतुः	८२७
सन्तानत्वाद्धेतोः इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिगुणा- नामुच्छेदः साध्येत अतीन्द्रियाणां वा ?	८२७
नहि निखिलगुणोच्छेदरूपे पाषाणकल्पे वैशेषि- काभिमते मोक्षे प्रेक्षाकारिणां प्रवृत्तिः	८२८
मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभावः कारणा- भावात्, मिश्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा	८२८
स्यात् ?	८२८
आद्यपक्षे कस्य कारणस्याभावः-चक्षुरादेः, प्रति- बन्धकापायस्य वा ?	८२८
भवतां मते संसारस्वरूपं हि विशेषगुणानुच्छेदः भवान्तरावातिर्त्वा स्यात् ?	८२६
अत्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षात्वे भवतः प्रदीपनिर्वाणकारिणः को विशेषः ?	८२९
उपभोगाच्च कर्मणामात्यन्तिकप्रक्षयानुपपत्तेः उपभोगसमये अपररागादीनामवश्य-	

म्भावित्वात्	८२९
आतुरस्यापि नीरुग्भावाभिलाषेणैव प्रवृत्तिः	८३०
संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकमतः मोक्षकारणेनापि त्रितयात्मकेनैव भवि- तव्यम्	८३०
(वेदान्तिनां पूर्वपक्षः) परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्व- भावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादि- स्वभावता	८३१
आत्मा सुखस्वभावः अत्यन्तं प्रियबुद्धिविषयत्वात्, मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरित- प्रेयःशब्दवाच्यत्वाच्च	८३१
इष्टार्थो मुमुक्षुप्रयत्नः प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्	८३१
तारतम्यदर्शनात् सुखस्य पराकाष्ठाप्राप्तिः	८३१
'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादि श्रुतेश्च आनन्दरूपताप्रसिद्धिः	८३१
अविद्यावशाच्च संसारावस्थायां नित्यानन्द- स्यानभिभ्यवितः	८३२
(उत्तरपक्षः) सुखस्वभावत्वं किं सुखत्वजाति- सम्बन्धित्वं सुलाभिकरणत्वं वा विवक्षितम् ?	८३२
सुखञ्च नित्यमनित्यं वा ?	८३२
नित्यमपि कथञ्चित् सर्वथा वा ?	८३२
आत्मनः प्रतिबन्धकापायोपेतस्य मुक्तौ अप- रापरसुखोत्पत्तेः कारणत्वात्	८३२
नित्यसुखग्राहि प्रमाणञ्च प्रत्यक्षम् अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ?	८३२
प्रत्यक्षञ्च ऐन्द्रियम्, मानसम्, स्वसंवेदनं वा ?	८३३
यस्मात्प्रमाणात्तत्सुखरूपप्रतीतिः तत्प्रमाणं नित्यमनित्यं वा ?	८३३
संसारावस्थायां हि प्रतिबद्धत्वं किं शरीरेण अविद्यायां वैषयिकसुखाद्यनुभवेन बाह्य- विषयव्यासङ्गेन वा ?	८३४
यदि नित्यं सुखं मुक्तावभ्युपगम्यते तदा नित्यं देहादिकमपि स्वीकर्तव्यम्	८३५
नित्यसुखाभ्युपगमे तत्संवेदनाभ्युपगमे च दर्श- नस्य शक्तेश्च सामर्थ्यसिद्धत्वादनन्तचतु- ष्टयरूपतैव आयाता	८३६
अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमनन्यपरतयोपादीय- मानत्वञ्च दुःखाभावेन अनैकान्तिकम्	८३६
प्रेयोबुद्धिविषयत्वं निरुपचरितप्रेयः शब्दवाच्य-	

त्वञ्चासिद्धम्; दुःखितायामप्रियबुद्धे-
रपि भावत् ८३६
अनिष्टोपरमार्थमपि प्रेक्षावत्प्रत्यन्तो भवति ८३६
इष्टशब्देन च किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेत-
प्रयोजनमात्रं वा ? ८३६
तारतम्यशब्दवाच्यत्वञ्च साधनं परत्वादिना
अनैकान्तिकम्, दुःखपरमप्रकर्षेण व्यभि-
चारि च ८३७
आगमस्य तु अपौरुषेयस्य प्रामाण्यमेव नास्ति ८३७
आगमश्च आनन्दरूपतासद्भाववत् सुखाभाव-
मपि सूचयति ८३७
अविद्यायाः आवरणरूपतानुपपत्तिः ८३८
(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) कार्यकारणभूतज्ञानप्रवाह-
व्यतिरेकेण अन्यस्य आत्मनोऽभावात् कस्य
आनन्दादिरूपता प्रसाध्यते ? ८३८
आत्मदर्शिनश्च मुक्तिः दूरोत्सारिता ८३८
आत्मदर्शनं हि रागादिनिमित्तम् ८३८
समुक्षुणा स्वल्पं पुनःकलादिकञ्च अनित्या-
नात्मकासुचिदुःखरूपेण श्रुतमध्या चिन्ता-
मध्या च भावनया भावनीयम् ८३९
नैरात्म्याभ्यासान्मुक्तिः ८४०
इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु स्वत्वधीः
नैरात्म्य भावनयैव निर्वायते ८४०
कायक्लेशरूपतपसः नारकादिकायसन्तापवत्
कर्मफलरूपत्वात् तपस्त्वानुपपत्तेः ८४१
नापि कर्मणा शक्तिवसङ्करद्वारा तपः कर्म-
क्षयकारि ८४१
(उत्तरपक्षः) रागादिनिवृत्तौ मुक्तिः इति तु
स्वीक्रियते एव ८४२
कालान्तरस्थाद्येकात्मव्यतिरेकेण भावनापि न
सङ्गच्छते ८४२
क्षणिकपक्षे हि बन्धमोक्षयोरैकाधिकरण्यमेव
नोपपद्यते ८४२
इष्टानुसन्धानेन हि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिर्भवति,
भवत्यपक्षे च कः अनुसन्धाता स्यात्-क्षणः
सन्तानो वा ? ८४२
आत्मनोजन्मभ्युपगमे च एकत्वाध्यारोपस्या-
प्यनुपपत्तेः ८४३
संस्काराणां निरन्वयविनश्वरत्वे हि मोक्षार्थः
प्रयासो व्यर्थ एव ८४३

तेन हि प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशः क्रियते
भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा
क्षयः, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निरा-
स्वचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? ८४३
अन्त्यज्ञानञ्च सत्, तदुत्पादने शक्तञ्च तत्क-
श्च ज्ञानान्तरक्षणमुत्पादयति ? ८४३
सहकारिणा हि भावस्योत्पत्तेः प्रतिबन्धः
क्रियते उत्पादकत्वस्य वा ? ८४३
अन्त्यचित्ताक्षणस्य अर्थक्रियाकारित्वाभावे सकल-
सन्तानस्यावस्तुत्वं स्यात् ८४४
निरास्वचित्तसन्तत्युत्पत्तिपक्षे सा चिरासन्ततिः
सन्वया निरन्वया वा ? ८४४
'बद्धमेव आत्मानं मोचयिष्यामि' इति दृढतरै-
कत्वाध्यवसाये कथं नैरात्म्यदर्शनम् ? ८४५
हिताहिततत्त्वज्ञो हि आत्यन्तिकसुखसाधनमेव
उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादा-
त्विकसुखसाधनम् ८४५
न हि आत्मानं साहचर्यादिदर्शनात्स्नेहो भवति
किन्तु उपभोगाश्रयत्वाद्यगुणदर्शनात् ८४५
व्रताविरोधी हि कायक्लेशः निर्जराहेतुत्वात्
तप इत्यभिधीयते ८४७
क्षीणमोहान्त्यसमये अयोगचिरमसमये च स्व-
त्पेनैव परमशुक्लध्यानरूपतपसा बहुतरकर्म-
प्रक्षयोऽभ्युपगम्यत एव ८४७
सुषुप्त्यादिषु ज्ञानसद्भावसिद्धिः ८४७-४९
(वैशेषिकादीनां पूर्वपक्षः) किञ्चिदव्यपरि-
च्छिन्दश्चेव हि सुषुप्त इत्यभिधीयते ८४७
अतस्तत्र नास्ति ज्ञानसद्भावः ८४७
ज्ञानसद्भावे हि जाग्रत्सुषुप्त्यवस्थयोर्भेदा-
भावः स्यात् ८४७
निद्रयाऽभिभवो हि ज्ञानस्य नाशः तिरोभावो
वा स्यात् ? ८४८
(उत्तरपक्षः) सुषुप्तावस्थायां स्वापादिसंवे-
दनस्य तत्सुखसंवेदनस्य च सद्भावात् ८४८
ज्ञानानभ्युपगमे च 'सुखमहमस्वापम्' इत्युत्तर-
कालं स्मरणं न स्यात् ८४८
मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि 'न किञ्चिन्नम-
यानुभूतम्' इति स्मरणसद्भावादस्ति
विज्ञानम् ८४८
न च सुषुप्तादिषु ज्ञानस्य इदमित्यमिति निरूप-

णाभावादभावः; बालसुखेनानेकान्तात् ८४९
 सुषुप्तावस्थायां ज्ञानसद्भावेऽपि अभिभूतज्ञान-
 नवती जाग्रदवस्था अभिभूतज्ञानवती च
 सुषुप्तावस्थेति तयोर्भेदः ८४९
 ज्ञानस्य निद्रादिना अभिभवोऽपि बाह्याध्या-
 त्मिकार्यविचारविधुरूपेणावस्थानमेव ८४९
 सुषुप्तावस्थायां ज्ञानाभावं स एवात्मा
 प्रतिपद्यते पार्श्वस्थो वा ? ८४९
 यदि स एव; किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्,
 तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभावि-
 ज्ञानान्तराद्या ? ८४९
 अनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविनः अन्यकाल-
 भाविनो वा तदभावप्रतिपत्तिः ? ८५०
 ननु द्विविधः प्राणादिः-चैतन्यप्रभवः प्राणादि-
 प्रभवश्च, चैतन्यप्रभवो जाग्रदवस्थायां
 प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्त्यादिषु; इत्यप्यसत्;
 सुषुप्तेतरावस्थयोः प्राणादेर्विशेषाप्रतीतिः ८५१
 सुषुप्त्यादौ च प्रथमः प्राणादिः कुतो जायताम् ? ८५१
 केवलिकवलाहारविचारः ८५२-८६५
 (शाकटायनस्य श्वेताम्बराणाञ्च पूर्वपक्षः) अवि-
 कलकारणत्वादस्ति केवलिनो भुक्तिः ८५२
 क्षुदभावे हि प्रमाणम् आगमः अन्यद्वा ? ८५२
 प्रमाणान्तरञ्च स्वभावानुपलम्भः अन्यद्वा ? ८५२
 अन्यतोऽपि विधीयमानात् निषिध्यमानाद्वा
 केवलिनो क्षुन्निषेधः ? ८५२
 ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः, तद्विशेषस्य वा ? ८५२
 निषिध्यमानस्य भावः क्षुधः कार्यं कारणं
 व्यापको वा स्यात् ? ८५३
 प्रतिपक्षभावनाऽनिवर्त्यत्वेन च न मोहस्व-
 भावा क्षुत् ८५३
 शीतोष्णबाधातुल्यत्वाच्च न क्षुधो मोहस्व-
 भावता ८५३
 न च क्षुदभ्युपगमे अशेषज्ञत्वविरोधः ८५४
 भुक्त्यभावे देशोनपूर्वकोऽपि विहरतः केवलिनः
 कायस्थितिः न घटते ८५४
 प्रदीपज्वालाजलधारासमानं शरीरं कथं
 भुक्त्यभावे स्थितिमास्ति घ्नते ८५४
 भुक्तिर्यदि दोषः तदा निषेधा गमनञ्च केव-
 लिनो न स्यात् ८५४
 मांसादिदर्शनतोऽन्तरायसंभावना तु अवधि-

ज्ञानिनामपि अस्ति ८५५
 नापि केवलिनो जिह्वारसप्राप्तेः मतिज्ञानि-
 त्वम्; अन्यथा गणधरदेवाददर्शन-
 दिव्यतूर्यरवादिश्रवणभ्यामपि तत्स्यात् ८५५
 केवली देवच्छन्दकाभिधाने स्थाने गणधरदेव-
 रानीतमाहारं क्षुदेदनोदये गृह्णाति ८५५
 सर्वज्ञाहारनिहारयोः मनुष्यतिरश्चामगो-
 चरत्वात् ८५५
 (उत्तरपक्षः) वेद्यादिकर्मोदयात् केवलिनो
 आहारमात्रं प्रसाध्येत कवलाहारो वा ? ८५५
 षड्विधाहारमध्ये कवलाहारभावेऽपि कर्मनो-
 कमदानलक्षण आहारः स्वीक्रियत एव ८५६
 न च कवलाहारेणैव आहारित्वं जीवानाम् ८५६
 वेद्योदयः कवलाहारसाधक इति अभ्युपग-
 ममात्रात् स्वीक्रियते, प्रमाणतो वा ? ८५७
 प्रमाणमपि किं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्. आगमो
 वा ? ८५७
 प्रत्यक्षञ्चेत्; किमन्ध्रियम्, अतीन्द्रियं वा ? ८५७
 अनुमाने च किं वेद्योदय एव लिङ्गं स्यात्
 मनुष्यत्वं वा देहस्थितित्वं वा ? ८५७
 देहस्थितित्वाच्च हेतोः किमाहारमात्रपूर्वकत्वं
 प्रसाध्येत कवलाहारपूर्वकत्वं वा ? ८५७
 केशादिविवृद्धचमो भवत् केवलिनो भुक्त्यभा-
 वोऽपि अविरुद्धः ८५७
 न च केशादिवृद्धचमो देवोपनीतः ८५७
 भुक्त्यभ्युपगमे च अक्षिपक्षमनिषेधः नखकेश-
 वृद्ध्यादिश्चाभ्युपगन्तव्यः ८५७
 तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादिवृद्ध्यास्य
 अभुजितपूर्वकत्वे को विद्वेषः ? ८५७
 आयुःकर्मैव हि प्रधानं शरीरस्थितेतिमितं
 भुक्त्यादिकं तु सहायमात्रम् ८५५
 आकालं शरीरस्थितेर्भुक्त्यभावेऽप्रतीतिः किं
 प्रत्यक्षात् अनुमानाद्वा ? ८५८
 अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षः क्वचित्पर-
 मकाष्ठामापद्यते प्रकृष्यमाणत्वात् इत्यनु-
 मानात्तत्सिद्धिः ८५८
 अविकलकारणत्वञ्च भुक्तेः असिद्धम्;
 मोहनीयाभावात् ८५९
 नास्ति भगवति बुभुक्षा तत्कारणमोहाभावात् ८५९
 यदि कर्मणामुदयः अनपेक्षः कार्यकारी स्यात्

तदा प्रमत्तादिषु त्रिवेदोदयात् मैथुना-
दिकं स्यात् ८५९
नामादीनां शुभप्रकृतीनां केवलिन स्वकार्य-
कारिता अप्रतिबद्धत्वात् ८५९
प्रतिबद्धसामर्थ्यमपि वेदनीयं यदि केवलिन
क्षुधमुपादयेत् तदा दण्डकवाटादिरूप-
समुद्घातक्रिया व्यर्थ ८५९
न हि बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव
कार्यम् ८६०
बुभुक्षापि प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते इच्छा-
त्वात् रिरंसावत् ८६०
न बुभुक्षान् केवली तद्विरोधिनिर्मोहस्व-
भावोपेतत्वात् ८६०
पिण्डेषणोपदेशोऽपि चेतसः प्रतिपक्षभावना-
मयत्वोत्पत्तेः प्रागवस्थायामेव ८६०
दुःखरूपत्वाच्च क्षुधो न अनन्तमुखे केवलिन
संभवः ८६०
क्षुद्रदुःख विरोधिनः बलवतोऽनन्तमुखस्य सद्-
भावे हि नाभ्युदितकारणापि क्षुत् केव-
लिन संभाव्या ८६१
सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुद्रभावः ८६१
'एकादशजिते' इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येकादश-
परीषद्प्रतिषेधपरः प्रतिपत्तव्यः 'एकेन
अधिकान् न दश' इति व्युत्पत्तेः ८६२
वचनादीनां तीर्थकरत्वकर्मादयापाक्षितत्वात्
दोषरूपत्वासंभवाच्च ८६२
नहि अष्टादशदोषेषु क्षुधादिवत् वचनादिरपि
पठ्यते ८६२
अवधिज्ञानिनां ज्ञानस्य सोपयोगतया उपयोग-
काले एव अन्तरायसंभावना, केवल-
ज्ञानस्य तु सदोपयुक्तत्वात् सर्वदाऽन्त-
रायः स्यात् ८६३
किमर्थञ्चासौ भुङ्क्ते-शरीरोपचयार्थम्,
ज्ञानदर्शनवीर्यादिक्रयनिवृत्त्यर्थम्, भुद्धेद-
नाप्रतीकारार्थम्, आयुषोऽसाधितभुक्ति-
कस्यापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगुडचुपश-
मार्थम्, लोकानुगृहार्थं वा ? ८६३
समवसरणं विहाय केवली किमर्थं देवच्छन्दके
गच्छति-मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसि-
द्ध्यर्थम् निरोधाक्षमत्वतो यथामुखम-

वस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? ८६४
रहस्यकार्यञ्च निन्द्यमनिन्द्यं वा ? ८६४
अनिन्द्यञ्च कार्यं भोजनम्, कर्मक्षणं वा ? ८६४
कस्मादसौ एकांते भुङ्क्ते-दृष्टिदोषभयात्,
याचकभयात् अनुचितानुष्ठानाद्वा ? ८६४
कर्मणां क्षणमपि पूर्वोपाजितानां भुक्तिका-
लोपाजितानां वा ग्रहंता तत्र विधीयते ? ८६४
पूर्वोपाजितानामपि घातिनामघातिनां वा
क्षयः क्रियते ? ८६४
भुक्तिकालोपाजितानां कर्मणां क्षयो यदि
प्रतिक्रमणतो विधीयते तदा कथं निर्दा-
यता केवलिन स्यात् ? ८६४
'भोजनकुर्वणः केवली गणधरदेवैरपि न
दृश्यते' इत्यत्र किं तददर्शनकारणम्-
बहुलतमः पटलाच्छादितत्वम्, काण्डपटा-
द्यावृत्तत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरो-
धानम्, अन्यजनातिशायी माहात्म्यवि-
शेषो वा ? ८६५
स्त्रीमुक्तिवादः ८६५
(शाकटायनस्य सितपटानाञ्च पूर्वपक्षः)
अत्रिकलकारणात्वादित् द्वयस्त्रीणां
निर्वाणम् ८६५
स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयस्याभावः प्रत्यक्षतः
अनुमानात्, आगमाद्वा प्रतीयते ? ८६६
'सप्तमपृथिवीगमनाभावात्' इति हेतोरपि न
स्त्रीणां निर्वाणभावः; तद्गमनाभावस्य
निर्वाणभावेन व्याख्येयभावात् ८६६
न हि सप्तमपृथिवीगमनं निर्वाणस्य कारणं
व्यापकं वा ? ८६६
चरमदेहेः व्यभिचारि च ८६७
विषमगतयोऽप्यथ स्यात् उपरिष्ठात्तुल्यमासह-
सारं गच्छन्ति तद्विषमगत्यूनताऽहेतुः ८६७
नापि वादादिलब्धभावात् स्त्रीणां मोक्षाभावः ८६७
स्त्रीणां वस्त्रलक्षणपरिग्रहसद्भावोऽपि न
निर्वाणभावप्रसाधकः; नहि वस्त्रादि
परिग्रहः धर्मसाधनत्वात् ८६८
ममत्वमेव हि परिग्रहः ८६८
प्रमादो हि हिंसा, नतु जन्तुपत्तिस्थानवस्त्र-
परिधारणमात्रम् ८६८
गणधरादयोऽपि तीर्थकरादिभिरवस्थानाः अतः

पुरुषैरवन्त्यादपि न स्त्रीणां मोक्षाभावः		संभवात्	८७४
प्रतिपादयितुं शक्यः	८६९	स्त्रीणां शीलपालनार्थं वस्त्रमस्तु, नात्र विवादः,	
नापि हीनसत्त्वाः स्त्रियः	८६९	मोक्ष एव विवादः	८७४
सत्त्वं हि तपःशीलसाधारणम्, तच्च स्त्रीषु		नहि सचेत् गृहस्थशीलं मोक्षहेतुः	८७४
विद्यत एव	८६९	वस्त्रग्रहणे लोभकषायपरिणती अप्रमत्त-	
‘अदुस्यमेगसमये’ इत्यागमोऽपि स्त्रीनिर्वाणे		त्वानुपपत्तेः	८७४
प्रमाणम्	८७०	लज्जापनोदार्थं वस्त्रस्वीकारे च कामपीडाप-	
यथा स्त्रीवेदेन पुंसां सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि		नयनाय कामुकादिस्वीकारोपि कर्त्तव्यः	८७४
स्यात्	८७०	न हि वीतरागस्य लज्जापि संभवति	८७४
न च सिद्धघतो वेदः संभवति	८७०	यदि पुसामचेलः संयमः स्त्रीणाञ्च सचेलः	
(उत्तरपक्षः) रत्नत्रयं हि परमप्रकर्षप्राप्तं		मोक्षहेतुः स्यात्तदा कारणभेदात् मुक्तेरपि	
सत् मुक्तिकारणं तन्मात्रं वा ?	८७०	भेदः स्यात्	८७५
नास्ति निर्वाणकारणरत्नत्रयप्रकर्षः स्त्रीषु		सचेलसंयमस्य मुक्तिहेतुत्वे वस्त्रादित्यागः	
परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथिवीकारणापु-		किमर्थमुपदिष्टः ?	८७५
ण्यपरमप्रकर्षवत्	८७०	न वस्त्रं मुक्तेरङ्गं तत्स्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदि-	
अविनाभाववशाद्धि सप्तमपृथिवीगमनाभावात्		व्यमानत्वात्	८७५
हेतोः निर्वाणाभावः प्रसाध्यते	८७०	स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः यतिगृहिदेवबन्ध-	
चरमशरीरिणामपि भरतादीनां दिव्यजयया-		पदानर्हत्वात्	८७५
त्रायां सप्तमपृथिवीगमनयोग्याशुभकर्म-		परापरभेदेन यतिबन्धं पदं द्विविधम्	८७५
र्जनम्, देवार्चनसमये च सर्वार्थसिद्धि-		गृहि-देवबन्धमपि पदं परापरभेदात् द्विविधम्	८७५
गमनकारणशुभकर्मर्जनं भवति	८७०	प्रतिगृहञ्च प्रभुत्वं पुरुषाणामेव श्रूयते न	
यस्य उपरिष्ठात् प्रकृष्टाशुभगतिप्रसाधने		स्त्रीणाम्	८७५
सामर्थ्यं तस्य अधस्तात् प्रकृष्टाशुभगति-		ततः स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात्	८७६
प्रसाधनेऽपि, न च स्त्रीणां प्रकृष्टाशुभ-		सारणवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणां पुरुषाः	
गतिसमुपाज्जनसामर्थ्यमभ्युपेयते अतः		कुर्वन्ति न तु पुरुषाणां स्त्रियः	८७६
उत्कृष्टशुभोपाज्जनसामर्थ्यमपि नास्ति	८७२	तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा एव	८७६
यदा स्त्रीषु लौकिकवादादिलब्धिहेतुः संयमोपि		नहि पुरुषवत् महासत्त्वाः स्त्रियः	८७६
नास्ति तदा मोक्षहेतुरसौ कथं भविष्यतीति? ८७२		स्त्रीवगपि क्षयैव सीतादीनां प्रकृष्टत्वमुक्तं न तु	
आगमे संयमविशेषनिषेधादेव मोक्षाभाव		पुरुषापेक्षयापि	८७६
उक्त एव	८७२	न स्त्रीशरीरं रत्नत्रयोपेतात्माश्रितम् महता	
स्त्रीणामाचेलव्यसंयमनिषेध आगमे कृत एव	८७२	पापेन निर्वर्तितत्वात्	८७६
प्रतिलेखनं हि संयमरक्षार्थं वस्त्रं तु किमर्थम्? ८७३		न स्त्रीशरीरं सकलकर्मक्षणाप्रारम्भहेतुः मह-	
‘धर्मसाधनानां परिग्रहत्वे’ इत्यत्र कोऽयं धर्मः		ता पापेन मिथ्यात्वसहायेनोपाजितत्वात्	८७७
यः वस्त्रात् स्यात्-पुण्यविशेषः, संयम-		यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि	
विशेषो वा ?	८७३	नास्ति तासां कथं मोक्षपदप्राप्तिः ?	८७७
आगमवित्तविधिना उपादीयमानाः पिण्डीष-		‘अदुस्यमेगसमये’ इत्याद्यागमो नास्माकं	
ध्यादयः मोक्षहेतोरुपकर्तारः	८७३	प्रमाणम्	८७७
बुद्धिपूर्वं हि पतितं वस्त्रमादाय परिदधानस्य		‘पु’वेदं वेदन्ता जे पुरिसा’ इत्यागमे द्रव्यपुत्-	
मूर्छारहितत्वानुपपत्तेः	८७३	षाणामेव पु’वेदोदयवत् इतरवेदोदयेनापि	
उपसर्गाद्यासक्ते वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वं ग्रहणा-		मुक्तिः प्ररूपिता	८७८

न द्रव्यस्त्री भावतः पुरुषो भूत्वा सिद्धयति;
द्रव्यस्त्रीवेदस्य मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याऽ-
भावात्

८७८

अतः नास्ति द्रव्यस्त्रीणां मोक्षः

८७८

७७-७८ कारिकयोः शास्त्राध्ययनस्य

प्रयोजननिरूपणम्

८७८-७९

ग्रन्थकृत्प्रशस्तिः

८८०

इति सप्तमः निक्षेपपरिच्छेदः

प्रशस्तिः

८०१

सम्पादकप्रशस्तिः

८०२





श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

(द्वितीयो विभागः)

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-प्रेतिह्यतुलनार्थबोधकटिप्पणी-परिशिष्टाद्यंशुभी राजितः]



“श्रीमद्भट्टकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥”

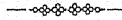
—शुभचन्द्रः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥



[द्वितीयो भागः]



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षं प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वार्थान्वितं तत्त्वतः ,
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिशून्यमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।
प्रामाण्यं पुनरस्य यैस्तु कुंमतध्वान्ताभिभूतेक्षणैः ,
नेष्टं तैर्नतु विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्तं जलम् ॥१॥

अथेदानीं परोक्षस्वरूपरूपणायाह—

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥१०॥
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिह्याद्यैर्विभूष्य संस्क्रियते ।

न्यायकुमुदचन्द्रोत्तरभागः सम्यङ् महेन्द्रेण ॥१॥

(१) अस्पष्टम् । (२) श्रुतस्य । (३) निरुचयेन । (४) अतीन्द्रियज्ञानाय । (५)
अनया कारिकया ‘मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्’ [तत्त्वाथं सू० १।१३] इति
सूत्रार्थं समन्वेति । तुलना—‘मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न यतस्तत्र-
संकीर्णैरन् । तदेकान्तो पुनर्न क्वचित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात्, अनवस्थानादेः ।’—सिद्धिबि० पृ० १००
A. । अनन्तवीर्यविद्यानन्दाभयदेवाद्याचार्याभिप्रायेण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविनां मतिस्मृत्यादीनां
मतिज्ञानेऽन्तर्भावः तदुत्तरकालभाविनां तु तेषां श्रुतेऽन्तर्भावः इति । तथा च तेषां ग्रन्थाः—‘ननु
मत्यादिकं सर्वमभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्येति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽस्य, तथा च तच्चिन्तने
एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेदत्राह—‘शब्दयोजनम्’ इत्यादि । मतिस्मृ-
त्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्ति किन्तु तद्योजने सति भवन्ति इत्येवमेकान्तो न, यत एव एकान्तात्
तत्र अन्तर्भाव्यैरन् इत्यर्थः । यत इति वा आक्षेपे नैव संकीर्णैरन् । विपक्षे बाधकमाह—तदेकान्त इत्यादि ।
स चासौ एकान्तरश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे पुनः न क्वचित् बहिरन्तर्वा स्युः मतिस्मृत्यादयः । कुत एत-
दित्यत्राह—तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादयः तत् तन्नाम इत्युच्यते तस्य स्मृतेर-
योगात् ।’—सिद्धिबि० टी० पृ० १०० A. । ‘संप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमलंकप्रत्यमनुवादपुरस्सरं

१ कुमति—आ०, ब० । २ बाभिनि—ब० । ३—बोधकम् ब०, अ०, —बोधनम् म० लघी० ।

विवृतिः—अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा, स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य, संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । प्रौक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकायां शेषम् अवशिष्टं ज्ञानमित्युक्तम्, तत् किम् ? § श्रुतम् अवि-
कारिकाव्याख्यानम्— स्पष्टतर्कणम् § “श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्” [] इत्यभिधानात् । किं
यत् नामयोजनाज्जायतेऽविशदं ज्ञानं तदेव श्रुतम्, उतान्यदपि ? इत्याह—

प्राङ् नामयोजनात् । नाम्नः अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्टं ज्ञानं
तच्छ्रुतम् नामयोजनानितार्थाऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्रायः । ‘चिन्ता च’ इत्यत्र
चशब्दो भिन्नप्रक्रमः ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं
नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु ‘शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

विचारयति—अत्र प्रकथते केचिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः ॥ शब्दा-
नुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते । तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नान्यमती भवम् ॥ यद्यपेक्षवचस्तेषां
श्रुतं सांव्यवहारिकम् । स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति संप्रतिपद्यते ॥ ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः
शब्दानुगमादृते’ । इत्येकान्तं निराकर्तुं तथोक्तं तैरिहेति वा ॥ ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनि-
बोधिकम् । प्राग्नामसंसृतं शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ अत्राकलङ्क्यदेवाः प्राहुः—ज्ञानमाद्यं स्मृतिः...
तत्रेदं विचार्यते—मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव
शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमः तदा न कश्चिद्विरोधः, शब्द-
संसृष्टज्ञानस्य अश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात् । अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमः; तदा श्रोत्रमति-
पूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धान्तविरोधः स्यात् । सांव्यवहारिकं शब्दं ज्ञानं श्रुतमि-
त्यपेक्षया तथानियमे तु नेष्टवाधाऽस्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थतोऽभ्युपगमात् स्वसमय-
प्रतिपत्तेः । अथवा ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठि-
तम् ॥’ इत्येकान्तं निराकर्तुं प्राग्नामयोजनादाद्यमिष्टं न तु तन्नामसंसृष्टमिति व्याख्यानमाकलंकमनु-
सर्त्तव्यम् । (पृ० २३९-४०) शब्दानुयोजनात्त्वेषा श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत् । संभावभावसंवितीरर्थापत्तिस्त-
द्यानुमा ॥ नामासंसृष्टरूपा हि मतिरेशा प्रकीर्तिता । नातः कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादाभ्युपगमोपनिगमा ॥”
—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३३ । “अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिष्यवहारनिर्वर्त-
नक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ।” —सम्मति० टी० पृ०
५५३ । षड्व० बृह० पृ० ८४ B. ।

(१) तुलना—“धारणास्वरूपा च मतिः अविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम्, स्मृति-
रपि तथाभूतप्रत्यवमर्शोऽस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्,
चिन्तापि अनुमानालक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिवुद्धिजनकत्वात् ।” —सम्मति० टी०
पृ० ५५३ । षड्व० बृह० पृ० ८४ B. । (२) तुलना—“प्राक् शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत् शेषमने-
कप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतमिति केचित्” —सम्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्व० बृह०
पृ० ८४ B. (३) उद्धृतमिदम्—सिद्धिबि० टी० पृ० १०१ B. तुलना—“मतिपूर्वं ततो शेषं श्रुतमस-
ष्टतर्कणम् ।” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७ । न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B. ।

१-शब्दज्ञान-श्र० । § एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ०, श्र० । २-तेवि-आ०, व०, श्र० ।

३-योजनाज्जनि-श्र० ।

जायते तदपि श्रुतम्' इति संगृहीतं भवति । किं तद् ? इत्याह—“संज्ञा” इत्यादि ।
 ‘चिन्ता च’ इत्ययं चैशब्दः पुनर्भिन्नप्रक्रमः ‘मतिः’ इत्यस्यानन्तरं स्मृतिसमुच्चयार्थो
 द्रष्टव्यः । तेन स्मृत्याद्यविशदं ज्ञानं श्रुतमित्युक्तं भवति । इन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं तु
 देशतो वैशद्यसंभवात् सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युक्तम् । तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ?
 इत्याह—ज्ञानमाद्यं कारणम् । किन्नाम ? इत्याह—“मतिः” इति । नचागमविरोधः;
 “मतिपूर्वं श्रुतम्” [तत्त्वार्थसू० १।२०] इत्यभिधानात् । ‘पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं
 स्यादुत्तरोत्तरम्’ [लघी० का० ७] इत्यनेन अधिकां कारिकां कृत्वा व्याचष्टे—
 ‘अविसंवाद’ इत्यादिना । न विद्यते विसंवादो यस्याः सा चासौ स्मृतिश्च तस्याः ।
 कथम्भूतायाः ? फलस्य फलभूतायाः हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा संस्कारः ।

ननु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवादः 10

स्मरणस्य अप्रामा- प्रार्थ्येत; तथाहि—स्मृतिशब्दवैच्यस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञाता, ज्ञानं वा ?
 ण्यवादिनां बौद्धादीनां तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञातुः कस्यचिदप्य-
 पूर्वपक्षः— संभवात् । द्वितीयपक्षेऽपि ज्ञानमात्रम्, अनुभूतविषयं वा ज्ञानं
 तैच्छब्दवाच्यं स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् तैव्यतिरिक्त-
 प्रत्यक्षादिप्रमाणभेदवाचोच्छेदः स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यद्वद- 15
 तप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतिव्यतिरिक्तः । अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे
 तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; धारावाहिप्रत्यक्षस्यापि
 स्मृतिव्यतिरिक्तत्वात्, उक्तप्रक्रियायास्तत्राप्यविकलत्वात् ।

किञ्च, ‘अनुभूते^१ जायमानम्’ इत्येतत् केन प्रतीयते—अनुभवेन, स्मृत्या,
 उभाभ्यां वा ? न तावदर्जुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवासंभवात् । नचाऽसती विषयीकर्तुं 20
 शक्या; अतिप्रसङ्गात् । यद् असन्न तत् विषयीकर्तुं शक्यं यथा खरविषाणम्, असती च
 अनुभवकाले स्मृतिरिति । नचाऽविषयीकृता ‘तत्रोपजायते’ इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्र-
 सक्तेरेव । यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य ‘तैत्तत्रोपजायते’ इति प्रतीतिरुक्ता
 यथा सुप्तेनाऽविषयीकृते नीलसुखादिविषये जाग्रत्युरुपप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता
 च अतीतार्थे स्मृतिरिति । तत्र अनुभवात्तथाप्रतीतिः । नापि स्मृतेः; अनुभवाऽर्थयोर- 25

(१) यौगः ग्राह—आ० टि० । (२) तुलना—“ननु कोऽयं स्मृतिशब्दवाच्योऽर्थः ज्ञानमात्रम्, अनु-
 भूतार्थविषयं वा विज्ञानम् ?”—प्रमेयक० पृ० ३३६ । (३) स्मृतिशब्द—आ० टि० । (४) स्मृति—आ०
 टि० । (५) अनुभूतेऽर्थ—आ० टि० । (६) धारावाहिकप्रत्यक्षेऽपि । (७) तुलना—“ननु अनुभूते जाय-
 मानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् . . .”—प्रमेयक० पृ०
 ३३६ । (८) प्रत्यक्षेण—आ० टि० । (९) तुलना—“अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्य-
 योगात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३३६ ।

1 ‘च’ नास्ति आ०, श्र० । 2-शब्दानं आ०, श्र० । ३-प्रभवमति—ब० । 4-वाच्यार्थ—ब० ।
 5 तत्रो—ब०, श्र० ।

विषयीकरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्यनैया प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि जानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभवानुसारित्वात्तस्याः । नचैतौ प्रत्यक्षगम्या; अनुभूयमानतामात्र एव अस्य पर्ववसानात् । तन्न स्मृत्यापि तैत्तरीतिः । नाप्युभाभ्याम् ; उभयपक्षनिक्षिप्तदूषणप्रसङ्गात् । तन्न स्मृतिः स्वरूपतो विचार्यमाणाऽवतिष्ठते ।

नापि विषयतः; तस्या हि विषयः अर्थमात्रम्, अनुभूतताविशिष्टो वाऽर्थः ? न तावदर्थमात्रम्; सकलप्रमाणानां स्मृतित्वप्रसङ्गात् । नाप्यनुभूतताविशिष्टः; देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रसङ्गापादनात् । अनुभूतार्थविषयत्वे चास्याः प्रामाण्यञ्च स्यात् अविद्यमानविषयत्वात् । यदविद्यमानविषयं न तत् प्रमाणम् यथा खे केशपाशज्ञानम्, अविद्यमानविषयञ्च अनुभूतार्थविषयतयाऽभिप्रेतं स्मरणज्ञानमिति । तैथाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गः ।

किञ्च, अर्थक्रियार्थिनामर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकं प्रमाणं प्रसिद्धम् । न च स्मृतौ असदर्थविषयत्वेन एतत्सम्भवति, अतः कथमसौ प्रमाणमिति ?

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'ज्ञाता ज्ञानं वा' इत्यादि; तदसमीचीनम्; ज्ञानस्यैव स्मृतिशब्दवाच्यत्वप्रतिज्ञानात् । नचैवं सर्वस्य ज्ञानस्य स्मृतित्वमनुष्यते; स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वाभावात् । ज्ञानविशेष प्रामाण्यव्यवस्थापनम्— एव हि संस्कारविशेषप्रभवः तदित्याकारोऽनुभूतार्थविषयः स्मृतिरित्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्यः कारणस्वरूपविषयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेदः—

(१) स्मृत्या । (२) अनुभूतता—आ० टि० । (३) प्रत्यक्षस्य । (४) 'अनुभूते जायमानम्' इति प्रतीतिः । (५) स्मृतिप्रत्यक्षाभ्याम् । (६) अविद्यमानविषयस्यापि स्मरणस्य । (७) तुलना—'लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते, तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वं नान्यत् । तथाहि— न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति अपि त्वर्थं पुरुषं प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव, न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् . . . अर्थक्रियार्थिभिरुचार्थक्रियासमर्थार्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मूयते । यच्च तैर्मूयते तदेव तेन शास्त्रे विचार्यते । ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम् ।'—न्यायविन्दुटी० पृ० ५-६ । (८) अर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वम् (९) पृ० ४०५ प० ११ । (१०) तुलना—'आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।'—वैशे० सू० १।२।६ । 'अनुभूतविषयऽस्मरप्रमोषः स्मृतिः ।'—योगसू० १।११ । सांख्यतत्त्वलो० पृ० १६ । 'लिंगदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्मनसोः संयोगविशेषात् पदव्यभ्यासादप्रत्ययजनितत्वाच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।'—प्रश० भा० पृ० २५६ । 'प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसन्धानविषयः प्रत्ययः स्मृतिः ।'—न्यायबा० पृ० ३६६, ४३१ । 'स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं पूर्वविज्ञानविषयं वा स्मृतिरित्युच्यते ।'—शाबरभा० पृ० ६५ । 'स्मृतिः पुनः पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ।'—प्रकरण पं० पृ० ४२ । तन्त्ररह० पृ० २ । 'स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानमभिधीयते ।'—शास्त्रदी० पृ० १५३ । 'स्मरणं स्मृतिः'—सर्व-

स्मृतेः पटुतरसंस्कारकारणकत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च चक्षुरादिहेतुकत्वात् । स्वरूपभेदः—
स्मृतेः तदित्युल्लेखित्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च ईदमित्याद्युल्लेखित्वात् । विषयभेदेऽपि—
स्मृतेः अनुभूतार्थगोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च वर्त्तमानार्थविषयत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्यां वा प्रतीयते’ इत्यादि;
तदप्यनल्पतमो विलसितम्; त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीतेः कर्तुं शक्यत्वात् । 5
पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता; इत्यप्युक्तम्; तद्व्यतिरिक्तस्यास्य सन्तान-
निषेधावसरे प्रपञ्चतः प्रसाधितत्वात् । नैवेवं प्रमातुः प्रत्यक्षेण अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे
अनुभूतताऽनुभवोऽपि स्यात् तत्सद्भावाविशेषात्, तथाच गृहीतप्राहित्वात् स्मृतेर्न
प्रामाण्यम्; इत्यप्यसत्; अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताकाले अनुभूततायाः
संभवाभावात्, प्रमातृसद्भावमात्रस्य तत्प्रतिपत्तिं प्रत्यनङ्गत्वाच्च । स्मृतिसहायो हि प्रमाता 10
अर्थेऽनुभूततां प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति ।

एवं कारण-स्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसंभवेऽपि अप्रामाण्ये
कारणं वक्तव्यम्—तच्च गृहीतप्राहित्वम्, परिच्छिन्निविशेषाभावं, असत्यतीतार्थे प्रवर्त-

र्थसि० १।१३। “तैरेवेन्द्रियैः परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यत् कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत्
स्मृतिज्ञानम् । अतीतवस्तुबन्धनमेककर्तृकं चैतन्यपरिणतिस्वभावं मनोज्ञानमिति यावत् ।” —तत्त्वार्थ-
भाष्यव्या० १।१३। “संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति” —परीक्षासू० ३।३ । प्रमाणमी०
१।२।३। “तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृतिः” —प्रमाणप० पृ० ६९। “स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा ।” —जैन-
तर्कवा० वृ० पृ० ९९। “तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं संवेदनं स्मरणम् ।” —प्रमा-
णनय० ३।१। षड्व० बृह० पृ० ८४ B.। “अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम् ।” —जैनतर्कभा० पृ० ८ ।

(१) तुलना—“प्रणिधाननिबन्धाभ्यासालङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगो-
पकार्यविरोधातिशयप्राप्त्यव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयाश्रितस्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तभ्यः ।” —न्यायसू०
३।२।४३ । (२) पृ० ४०५ पं० १९ । (३) पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य प्रमातुः । (४) पृ० ९-
(५) तुलना—“न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे” —प्रमेयक० पृ० ३३६ । (६) प्रमातृसद्भाव ।
(७) अनुभूतताप्रतिपत्तिम् । (८) तुलना—“अमुष्याप्रामाण्यं कुतोऽयमाविष्कुर्वीत—किं गृहीतार्थप्रा-
हित्वात्, परिच्छिन्निविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवा-
दकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद्वा ?” —स्या० र० पृ० ४८६ । (९) “पार-
तन्त्र्यात्स्वतो नैषां प्रमाणत्वावधारणा । अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते ॥ पूर्वविज्ञानविषयं
विज्ञानं स्मृतिरुच्यते । पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥” —तन्त्रवा० १।३।१ । “तत्र यत्पूर्व-
विज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते । तदुपस्थापनमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥” —मी० श्लो० पृ०
३९६ । “प्रमिते च प्रवृत्तत्वात्स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता ।” —मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १०४ । “गृहीत-
ग्रहणान्तेऽं सावृत्” —प्रमाणवा० १।५ । “यद् गृहीतप्राहि न तत्प्रमाणं यथा स्मृतिः ।” —तत्त्वसं
पं० पृ० ३८८ । “न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात् । स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राचीं

१ इदमित्युल्ले—श्र० । २ प्रमात्रा श्र० । ३-भवेऽनुभवोऽपि आ० । ४ गृहीतार्थप्रा-ब० ।
५-स्मृतीतेऽर्थे ब० ।

मानत्वम्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वम्, विसंवादकत्वम्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोजन-
प्रसाधकत्वं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्-ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य,
ज्ञानविशिष्टस्य ज्ञेयस्य, तद्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य ? न तावज्ज्ञानस्य; तैत्तिरिक्तैज्ञेयस्य
स्मृतौ प्रतिभासनात् । अथ ज्ञेयस्य; अस्तु नामैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण
5 स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, अनुमानेनाधिगतेऽनौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्य-
प्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि केनचिदंशेन अधिगतार्थाधिगमसंभवेन अप्राप्ता-
प्यप्रसङ्गाच्च । अथ अधिगतार्थाधिगमेऽर्थात् पूर्वस्याप्यर्थज्ञास्याऽधिगमसंभवात् प्राप्ता-
प्यम्; कथमेवं स्मृतेरप्रामाण्यं तत्रापि हि वर्तमानकालावच्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीत-
कालावच्छेदेनाऽधिगतेरपूर्वार्थाधिगमोपपत्तेः ? प्रयोगः-स्मृतिः प्रमाणम्, प्रमाणान्तरप्रति-

प्रतीतिमनुरुद्धयमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम् ।” -प्रकरणपं० पृ० ४२ ।
तत्रग्रह० पृ० २ । “न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थसम्बन्धः । लोकश्च संस्कार-
मात्रजन्मनः स्मृतेरन्यामुपलब्धिमर्थव्यभिचारिणीं प्रमाणाचष्टे ।” -न्यायवा० ता० पृ० २१ । न्याय-
कुसु० ४।१ । “अत एव न प्रमाणं तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे
पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् ।” -प्रश० कन्द० पृ० २५७ । (१०) “एतदुक्तं भवति-सर्वं प्रमाणादयोज-
धिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमयं दामित्क्रामति तद्विषया वा
तद्वान्विषया वा नतु तदधिकविषया ।” -योगसू० तत्त्वब० १।११ ।

(१) जैनतर्कवातिककारा हि अर्थाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति; तथाहि-
“एवं मन्यते वातिककारः-अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतेः अर्थमन्तरेणापि तस्या
भावात् । प्रत्यक्षादेस्तु अव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचिद् व्यभिचारेऽपि न दोषः, नत्वेवं स्मृते-
रव्यभिचारनिमित्तमस्ति । अमूकस्मृतेस्तु पूर्वप्रत्यक्षफलत्वान्न पृथक् प्रामाण्यम् ।” -जैनतर्कवा० पृ० ५०
९१ । (२) “नार्थाद् भावस्तदाऽभावात् ।” -प्रमाणवा० २।३७५ । “अनुभवादुत्पद्यमाना स्मृतिरर्थमन्तरेण
भवन्ती कथं नीलाद्याकारा ?” -प्रमाणवातिकालं, मनोरथ० २।३७५ । “अर्थार्थजत्वमेव स्मृतेः कस्मा-
न्नेष्यते ? अर्थाविनाशेऽप्युत्पादात् । न च यद्देशकालालिङ्गितेऽनुभवज्ञानमुत्पन्नं तदालम्बनमेव न्याय्यम् ।
स्मृतिकाले तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात् । बाह्येन्द्रियाणां च स्मृतिजन्मानि प्रत्येकं व्यभिचारा-
दन्तःकरणस्य व्यापारो निश्चीयते । न च तस्य स्वातन्त्र्येण बहिर्विषये व्यापारः सम्भवतीत्यनर्थजत्वमेव
न्याय्यम् तस्माद्विषयत्वमेव ।” -प्रश० व्यो० पृ० ६२१ । “न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतप्राहिताकृतम् ।
अपि त्वनर्थजत्वत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥ ननु कथमनर्थजा स्मृतिः ? तदारब्धस्य वस्तुनस्तदानीमस्तत्त्वात् ।”
-न्यायम० पृ० २३१ । (३) “कस्मात् स्मरणज्ञानमप्रमाणमिति चेत् ? रज्जुसर्पादिज्ञानवत् प्राक्तत्वा-
दिति ब्रूमः ।” -न्यायसारटी० पृ० ६८ । (४) तुलना-“गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेऽन्वेषप्रमाणता । धारा-
बाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्यते केन सा ॥ विशिष्टस्योपयोगस्याभावे तापि चेन्मता । तदभावे स्मरणेऽ-
प्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः ॥ स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते । येन प्रेक्षावतां तस्याः प्रवृत्ति-
विनिवार्यते ॥” -तत्त्वार्थदलो० पृ० १८९ । (५) ज्ञेयविशिष्टस्य-आ० टि० । (६) ज्ञानव्यतिरिक्त ।
(७) तुलना-“अनुमानेनाधिगते बह्वी तदुत्तरकालभाविनः प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।” -स्या०
२० पृ० ४८६ । प्रमेयक० पृ० ३३७ । (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयोः । (९) प्रत्यक्षादि ।

१ अर्थाद्यनु-ब० । २-नासाध-ब० । ३-रिक्तस्य ज्ञेयस्य श्र० । ४-धिगमप्रभवेन आ०, श्र० ।

५-न्यानुषङ्गाच्च ब० । ६ अथ अर्थाधिगमे-आ०, श्र० । ७-पूर्वाशाधि-ब० ।

पक्षेऽप्यर्थे केनचिदंशेनाऽपूर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यद्यत्तथाविधं तत्तत्प्रमाणम् यथा अनुमानाधिगतार्थे प्रत्यक्षादि, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति ।

एतेन ज्ञानविशिष्टज्ञेयपक्षोपपत्तः; अंशतः प्रामाण्यस्य अत्राप्युपपत्तेः । किञ्चेदं ज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्वं नाम—तत्र संयोगः, समवायः, विशेषणीभावो वा ? तत्र आद्यपक्षद्वयमनुपपन्नम्; ज्ञेये ज्ञानस्याऽद्रव्यतया संयोगाऽसंभवात्, आत्मनि समवेततया च समवायस्याप्यनुपपत्तेः । तदभावे विशेषणीभावोऽपि दुर्घटः; तस्य तैत्पूर्वकत्वात् । न खलु दण्डपुरुषादौ संयोगादिसम्बन्धानपेक्षस्तर्ङ्गावो दृष्टः । ज्ञेयविशिष्टज्ञानपक्षस्तु न युक्तः; तत्प्रतिभासस्य स्मृतौ स्वप्नेऽप्यसंभवात् । नहि ज्ञानं निर्विशेषणं सविशेषणं वा स्मृतौ प्रतिभासमानं केनचिदिष्टम्, बहिर्वस्तुन एव तत्र प्रतिप्राणि प्रतिभासप्रतीतेः । तन्न गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् ।

नापि परिच्छित्तिविशेषाभावात्; निहितमन्त्रिताधीतादौ तस्यास्तद्विशेषसद्भावात् ।

नाप्यसैत्यतीतार्थे प्रवर्त्तमानत्वात्; यतोऽतीतस्याऽर्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ? न तावत् स्वकाले; तदा तस्य विद्यमानत्वात् । स्मृतिकाले तु तद्ग्राह्यस्याऽसत्त्वं नाऽप्रामाण्यं प्रत्यङ्गम्; प्रत्यक्षस्यापि अप्रामाण्यप्रसक्तेः, तत्काले तद्ग्राह्यस्याप्यसत्त्वाऽविशेषात् । नहि प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थः प्रत्यक्षकाले सौगतैः सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते ।

“भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥” [प्रमाणवा० २।२४७]

इत्यस्य विरोधाऽनुषङ्गात् । अतः प्रत्यक्षस्याप्यसति प्रवर्त्तनादप्रामाण्यं स्यात् ।

(१) ज्ञेयपक्षनिराकरणेन । (२) संयोगसमवायाद्यभावे । (३) सम्बन्ध । (४) विशेषणीभावः । (५) ज्ञेयविशिष्टज्ञानप्रतिभासस्य । (६) तुलना—“निहितमन्त्रिताधीतादौ हानोपादानहेतोः परिच्छित्तिविशेषस्य स्मरणे सद्भावात् ।”—स्या० २० पृ० ४८७ । (७) परिच्छित्तिविशेष । (८) तुलना—“यतोऽतीतस्यार्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ?”—स्या० २० पृ० ४८७ । (९) अतीतकाले । (१०) स्मृतिग्राह्यस्य । (११) प्रत्यक्षकाले प्रत्यक्षग्राह्यस्यापि । (१२) व्याख्या—“... युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् । = प्राग्भावित्वाद् भिन्नकालं वस्तु कथं ग्राह्यमिति चेत् ? हेतुत्वमेव ज्ञाने आकारस्य स्वानुरूपस्य अर्पणक्षमं ग्राह्यतां युक्तिज्ञा विदुः । न हि सन्दर्शायोगोऽयोरिव ज्ञानपदार्थयोः ग्राह्यग्राहकभावः । कथन्तर्हि ? यदाकारमनुकरोति तत् ग्राह्यस्य ग्राहकमित्युच्यते ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२४७ । निम्नग्रन्थेषु समुद्धृत्यम्—‘हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञाना’—न्यायवा० ता० पृ० १५३ । विधिवि० टी० पृ० १९८ । स्फोटसि० टी० पृ० २३३ । ‘हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाका’—सर्वद० पृ० ३६ । ‘ज्ञानाकारार्पणक्षमम्’—अद्वयवज्रसं० पृ० १७ । प्रमाणमी० पृ० २० । प्रकृतपाठः—न्यायवि० वि० पृ० १३५ B. । स्या० २० पृ० ४८७ । प्रमेय० २।७ ।

१ प्रमाणस्य आ०, श्र० । २-वायो वा विशेषे-श्र० । ३-योगाभावात् व०, श्र० । ४ आत्मसमवे-श्र० । ५-वायस्यानुप-व० । ६ ‘सविशेषणं’ नास्ति व० । ७ स्मृतिभासमा-श्र० । ८-सत्यतीतार्थप्र-आ० । ९-सत्त्वं वा ना-श्र० । १०-पक्षम् श्र० ।

अर्थानुत्पद्यमानत्वञ्च अध्यक्षेऽप्यविशिष्टम्, ज्ञानं प्रति अर्थे कारणत्वस्य निराकरण्यमाणत्वात् ।

विसंवादकत्वञ्च स्मृतेरसिद्धम्; स्वप्रतिपन्नेऽर्थे अविसंवादकत्वात्तस्याः । यद्यत्राऽविसंवादकं तत्तत्र प्रमाणम् यथा प्रत्यक्षाद्यर्थे प्रत्यक्षादि, अविसंवादिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति । अविसंवादो हि गृहीतेऽर्थे प्राप्तिः, प्रमाणान्तरवृत्तिर्वा स्यात् । स द्विविधोऽपि स्मृतिप्रतिपन्ने स्वयंवृत्तद्रव्याद्यर्थेऽस्त्येव । यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासासत्त्वः ।

समारोपव्यवच्छेदकत्वान्न स्मृतिः प्रमाणम्; इत्यप्यसमीचीनम्; तद्गृहीतेऽर्थे विपरीतारोपानुप्रवेशतः तैव्यवच्छेदसंभवात् । यत् समारोपव्यवच्छेदकं तत् प्रमाणम् यथा अनुमानम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति ।

प्रयोजनप्रसाधकत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम्; इत्यप्यसुन्दरम्; अनुमानप्रवृत्तिलक्षणस्य तैत्साध्यप्रयोजनस्य सद्भावात् । तैद्धि साध्यप्रतिबद्धाद्वेतोः प्रवर्त्तते । साध्यैर्प्रविन्ध्यश्च सत्तामात्रेण तैत्प्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञातः सन्, स्मृतिः कोडीकृतो वा ? प्रथमपक्षे नालिकेरद्वीपायातस्य अप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु

(१) तुलना—“अर्थानुत्पद्यमानत्वञ्च स्मरणस्यासिद्धम्; स्वविषयभूतादर्थानुत्पद्यमानत्वात् ।”
—स्या० २० पृ० ४८७। (२) तुलना—“प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात् । गृहीतप्रवृत्त्यान्ते चेन्न प्रयोजनमेवतः । प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविसंवादात् न पुनरर्थानुकारितयातिप्रसंगात् । स पुनरनुभूतस्मृतेर्वेदि स्यात् प्रामाण्यं लक्षयति । सविकल्पेऽपि धातुव्यावृत्त्यवसायाभावादयुक्तमिति चेन्न; प्रयोजनविशेषात्, क्वचित्तादृशकारभेदानां तथैव प्रामाण्याविरोधात् । अन्यथा कालादिभेदेन अनधिगतार्थानधिगतेरपि अन्यतः प्रमाणात्तान्भ्युपगमात् । साकल्येनादितो व्याप्तिः पूर्वं चेत्लिङ्गलिङ्गिनोः । अनुमेयस्मृतिः सिद्धा न प्रमाणविशेषवत् ॥”—सिद्धिर्वि०, टी० पृ० १४६ B. प्रमाणसं पृ० ९९ । “सा च प्रमाणमविसंवादकत्वात् प्रत्यक्षवत् ॥”—प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३३७ । सम्मति० टी० पृ० ५५३ । स्या० २० पृ० ४८७ । प्रमेय० पृ० ३१ । प्रमाणमी० पृ० ३३ । न्यायदी० पृ० १७ । जैनतर्भा० पृ० ९ । (३) “अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्”—प्रमाणवा० ११३ । “अविसंवादश्च अर्थानुत्पत्तेः अर्थव्यभिचातः ।”—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २७३ । “स चाविसंवादोऽर्थक्रियालक्षण एव ।”—तत्त्वसं पं० पृ० ७७८ । “अविसंवादिद्वयञ्च अभिमतार्थक्रियासमर्थार्थप्रापणशक्तिवत् न तु प्रापणमेव प्रतिबन्धाविसम्भवात् ॥”—तत्त्वसं पं० पृ० ३९२ । (४) तुलना—“तस्याश्च प्रामाण्यं युक्तम्, न हि तयार्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते ।”—सिद्धिर्वि०, टी० पृ० ३४ A. प्रमेयक० पृ० ३३७ । स्या० २० पृ० ४८७ । (५) “समारोपव्यवच्छेदः समः स्मृत्यनुमानतः । स्वाधे प्रमाणात् तेन नैकत्रापि निवार्यते ॥”—तत्त्वार्थद्वयो० पृ० १८९ । प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० २० पृ० ४८७ । (६) स्मृतिसाध्यः । (७) अनुमानं हि । (८) साध्याविनाभाविनः । (९) अविनाभावसम्बन्धः । तुलना—“लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धः सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतुः, तद्दर्शनात्, तत्स्मरणाद्वा ?”—प्रमेयक० पृ० ३३८ । “साध्यप्रतिबन्धश्च हेतोः सत्तामात्रेण अनुमानप्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञातो वा, स्मृतिः कोडीकृतो वा ?”—स्या० २० पृ० ४८८ । (१०) अनुमानप्रवृत्तेः । (११) स्मृतिविषयीकृतः । (१२) एतद्द्वीपवासिनो हि नालिकेरकलमत्वा तज्जलञ्च निपीय जीवनं यापयन्ति, अतस्तैः पाकार्थमुपयुक्तो अग्निधूमो न दृष्टचरो ।

बालावस्थायां प्रतिपन्नामिधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धावस्थायां विस्मृततत्सम्बन्धस्यापि धूमदर्श-
नादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः । तृतीयपक्षे तु कथं स्मृतेः प्रामाण्यप्रतिषेधः अंनुमानप्रवृत्तेरङ्ग-
त्वात् ? यदनुमानप्रवृत्तेरङ्गं तदप्रमाणं यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाण-
मिति । तदेवं स्मृतेः कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धेः, स्वविषयेऽवि-
संवादप्रसिद्धेश्च सूक्तम् — ‘अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा’ इति ।
तथा स्मृतिः प्रमाणम् अविसंवादसंज्ञाया हेतुत्वात् । अस्याः पर्यायमाह—प्रत्यवमर्शस्य
‘स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्’ इति वा एकत्वसादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं प्रत्यवमर्शः ।

ननु प्रमाणप्ररूपणावसरे प्रत्यभिज्ञायाः प्ररूपणमयुक्तम्; विरुद्धैर्धर्माध्यासतः

विरुद्धधर्माध्यासात् कारणाभावाच्च अस्याः स्वरूपस्यैवाऽसंभवात्, विषयाभावतः प्रामा-
ण्यानुपपत्तेश्च । तथाहि—पूर्वं ज्ञातस्य पुनः कालान्तरे ‘स एवायम्’
मावतश्च नास्ति प्रत्य- इत्यादिज्ञानं प्रत्यभिज्ञा । न चास्या एकत्वं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्,
भिज्ञानस्य प्रामाण्यमिति यत्र विरुद्धधर्माध्यासः न तत्रैक्यम् यथा जलानलादौ, विरुद्धधर्मा-
बौद्धस्य पूर्वपक्षः— ध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति । न चायमसिद्धः, स्पष्टेतररूपक्रान्ततया

(१) अग्निधूमसम्बन्ध । (२) तुलना—‘को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तां
निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निराकरणानुपपत्त्यात् ।’—प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० २० पृ० ४८८ ।
प्रमेयर० पृ० ३२ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । स्या० मं० पृ० २०८ । रत्नाकरा० ३।४। (३)
तुलना—‘पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिस्निधज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।’
—न्यायभा० ३।२।२। ‘प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्यक्षनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ
स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम् ।’—न्यायवा० पृ० ४०० । ‘प्रत्यभिज्ञा नाम स्मर्यमाणानुमूयमानसामानाधि-
करण्यग्राहिणी संस्कारसचिवेन्द्रियजन्या प्रतीतिरिति केचित् । अन्ये मन्यन्ते स्मर्यमाणपूर्वज्ञान-
विशेषितार्थग्राहित्वात् तद्विशेषणस्य चार्थस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्तेः स्तम्भादावपि मानसी प्रत्य-
भिज्ञेति ।’—न्यायमं० पृ० २२४। एतन्मतद्वयमभिमतं मञ्जरीकारस्य, दृष्टव्यम्—न्यायमं० पृ० ४६१।
‘प्रत्यभिज्ञा प्रति आभिमुख्येन ज्ञानम् । लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिस्निधानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि
ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते ।’—सर्वद० पृ० १९३ । ‘सञ्ज्ञानं संज्ञा’—सर्वाथिसि० १।१३ । ‘संज्ञाज्ञानं
नाम यत्तरेवेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्ण इति संज्ञाज्ञानमेतत् ।’—
तत्त्वार्थभा० व्या० १।१३ । ‘दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं
तत्प्रतियोगीत्यादि ।’—परीक्षा० ३।५। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।४। ‘अनुमंत्रस्मृतिहेतुकं
तियगूर्ध्वतांसाभ्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।’—प्रमाणनय० ३।३। जैनतर्कभा० पृ० ९।
(४) बौद्धः प्राह—आ० टि० । (५) ‘स एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानो नैकत्वे प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात्
दृष्टस्यैव तस्य प्रतिपत्तेः । एकत्वं हि पूर्वेण सह गृह्यमाणभेकतां विवादविषयतां स्वीकरोति । वर्त-
मानतामात्रस्यैकत्वे सिद्धसाधनमेव । तच्च पूर्वं पूर्वप्रत्ययेन गृहीतत्वान्नापरम् । पूर्वप्रत्ययेन चासी
वृत्त्यदवस्थ एव पूर्वतया च गृह्यते । ततः पुनरनुसन्धीयमानं यथाभूतं गृहीतं तथाभूतमेव वाऽनुसन्धा-
तव्यम् । गृहीतत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेतदिति गृहीतग्राह्यत्वादप्रमाणमपरस्मरणवत् । संवादस्त्वर्थ-
क्रियाकरणत्वात् । न चैकत्वसाध्यार्थक्रियाः वस्तुसामर्थ्यमात्रादुत्पत्तेः । तस्मात् ‘स एवायम्’ इति

१ यज्ज्ञानमनुमान—ब० । २-पये वाऽविसं—श्र० । ३-वाद्वास्याः श्र० । ४ पूर्वज्ञानस्य श्र० ।

५-भिज्ञानं नचा—ब० ।

तत्रैतत्प्रसिद्धेः । तथाहि—‘सः’ इत्याकारः स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्टः, ‘अयम्’ इति चाध्यक्षरूपत्वात् स्पष्टः । न चात्रैतत् स्पष्टैतैरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेष्वभेदो युक्तः; प्रत्यक्षानुमानयोरप्यभेदप्रसक्तेः ।

किञ्च, ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयं किं तत्रैतत् परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननु-
 5 प्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षे अन्येतराकारस्थैव प्रतिभासः स्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽविवि-
 क्त्वरूपत्वात्, यद् यतोऽविविक्तस्वरूपं न तत्ततो भेदेन प्रतिभासते यथा तस्थैव स्वरूपम्,
 एकस्मादाकारादविविक्तस्वरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्न-
 प्रतिभासद्वयप्रसङ्गः, अन्योन्यानुप्रवेशेन आकारद्वयस्यावस्थानात्, ययोः अन्योन्यानु-
 प्रवेशेन अवस्थानं तयोः परस्परविभिन्नप्रतिभासः यथा रूपरसयोः, अन्योन्यानुप्रवेशेना-
 10 ऽवस्थानञ्च ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयस्य इति । न च ‘प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्’
 इत्यभिधातव्यम्; परोक्षपरोक्षाकारयोः प्रतिभासयोरेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः, अन्यथा सर्व-
 संविदापेकाधिकरणत्वप्रसक्तेः पुरुषाद्वैतसिद्धिः स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासानैकमिदं
 ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । अतः कथं प्रत्यभिज्ञानसंभवः ?

कारणाभावाच्च; तथाहि—तत्कारणम् इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनितः संस्कारः, तदुभयं
 15 वा ? न तावदिन्द्रियम्; तस्य वर्तमानार्थावभासजनकत्वात् । नापि संस्कारः; तस्य स्मरण-
 कारणत्वात् । नाप्युभयम्; उभयदोषानुपपन्नात् । न च कारणान्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्य-
 भिज्ञानसंभवः ।

प्रत्ययद्वयमेतत् । १—प्रमाणवार्तिकालं ० पृ० ५१ । “स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते ।
 अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी । अनयोर्वच भेदो न कथञ्चिदभेदो वर्तमानकालभाविरूपैकस्व-
 भावत्वाद्बस्तुनः । तस्माद् भेद एव प्रत्यभिज्ञाने सति भासते इति कथमनेन क्षणिकत्वानुमानबाधा ?
 यद्वा बस्तुनः पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसदेव पूर्वकालाभावात् । सत्त्वे वास्य वर्तमानकालसम्बन्धित्व-
 मेव स्यात् पूर्वकालसम्बन्धित्वं विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यासतो ग्राहकः स इति
 ज्ञानांशो भ्रान्तः, अन्यथा बस्तुनः स्पष्टबालाद्यवस्थाग्राहकः स्यात्, न च भवति । तस्मात् भ्रान्तात्
 पूर्वदृष्टरूपारोपेण ‘स एवायम्’ इति ज्ञानात् कथमनुमानबाधा ? ... विस्तरतस्त्वं प्रत्यभिज्ञाभङ्ग-
 विचारो नैरात्म्यसिद्धौ कृत इति तत्रैवावधार्यः । १—प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ७८ । “तथाहि—घटः
 स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरशे
 चानुभवः, यत स्मृतिरदेव, आहोस्विदनुभव एव ?” खंडनखंड० पृ० १५६ । (६) “प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो
 भ्रान्त एव निविषयत्वात् । प्रयोगश्चैवं यः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः स तत्त्वतो नैकालम्बनः यथा लूनपुनर्जात-
 त्पादिवु, प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्चायं तदेवेदं नीलादीनि प्रत्ययः इति विरुद्धव्याप्तीपलब्धिः ।” तर्कभा०
 मो० पृ० २१ ।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम् । (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्धेः । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञा-
 याम् । (५) ‘सः’ इत्याकारस्य ‘अयम्’ इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु ज्ञानद्वयमेतत्—स इत्याकारस्य
 स्मरणरूपत्वात् इदमंशस्य च प्रत्यक्षात्मकत्वादिति भावः ।

१-सिद्धेः स इत्या-आ०, अ० । २-तरविलक्षण-अ० । ३-यथा स्थानुपुरुषयोः व०, अ० ।
 ४-णमितीन्द्रि-अ० । ५-ज्ञानसत्त्वम् अ० ।

अस्तु वा; तथापि न तत् प्रमाणम्, विषयाभावात् । तस्य हि विषयः—पूर्वज्ञाने प्रतिभातमेव वस्तु, तदतिरिक्तं वा ? तत्राद्यविकल्पे न तत् प्रमाणं गृहीतमिदं हि त्वात् धारा-
वाहिज्ञानवत् । द्वितीयविकल्पेऽपि किंकृतस्तस्य अतिरेकः—स्वरूपभेदकृतः, कालद्वयस-
म्बन्धकृतः, तत्सम्बन्धे ऐक्यप्रतिपत्तिकृतो वा ? यदि स्वरूपभेदकृतः; तदा ज्ञानवत् ज्ञेय-
स्यापि प्रतिक्षणं स्वरूपभेदप्रसिद्धेः सौगतमेतत्प्रसङ्गः ।

5

अथ कालद्वयसम्बन्धकृतः; तदप्युक्तम्; तत्सम्बन्धस्य अर्थभेदेऽप्युपपद्यमानत्वात् ।
न हि लूनपुनर्जातनखकेलाद्यर्थभेदे कालद्वयसम्बन्धोऽसिद्धः । अथ कालद्वयसम्बन्धे देव-
दत्तस्य ऐक्यं प्रतीयते, अतः पूर्वज्ञाने प्रतिभातस्य वस्तुनः प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यग्रहणान्न
गृहीतमिदं हि त्वेन अप्रामाण्यमित्यभिधीयते; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः किमिदमैक्यं नाम—
एकत्वसंख्या, स्थायित्वं वा ? यदि एकत्वसंख्या; तदास्याः पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वात् कथमा-
धिक्यपरिच्छेदः प्रत्यभिज्ञायाः ? अथ स्थायित्वम्; तत् किं देवदत्तस्वरूपाद् भिन्नम्,
अभिन्नं वा ? यद्यभिन्नम्; तदा तत्स्वरूपवत् तदपि पूर्वज्ञानेनैव प्रतिपन्नम् । यद्यतोऽभिन्नं
तस्मिन् प्रतीयमाने तदपि प्रतीयते यथा तस्यैव स्वरूपम्, अभिन्नञ्च प्रत्यभिज्ञाविषय-
त्वेनाऽभिप्रेतं वस्तुनः स्थायित्वमिति । अथ भिन्नम्; तत् किं पूर्वमप्युत्पन्नम्, अथ
प्रत्यभिज्ञानसमय एवोत्पद्यते ? यदि पूर्वमप्युत्पन्नम्; तदा पूर्वज्ञानेनैव अर्थं परिच्छेदात्
कथं प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यपरिच्छेदः ? केनचिदंशेन आधिक्यपरिच्छेदाभ्युपगमे वा
अनैवस्थातो न प्रकृतैतत्त्वसिद्धिः । अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एव उत्पद्यते; तर्हि तस्य पूर्व-
मप्रतिपन्नत्वात् कथं प्रत्यभिज्ञाविषयत्वम् ? पूर्वप्रतिपन्नस्यार्थस्य पुनः कालान्तरे गृह्यमाणस्य
प्रत्यभिज्ञाविषयत्वाभ्युपगमात् । पूर्वज्ञानाप्रतिपन्नार्थान्तरावबोधकज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञात्वे च
घटज्ञानान्तरमाविर्भूतपटज्ञानस्यापि तत्त्वप्रसङ्गः । तत्समये स्थायित्वस्य उत्पत्तौ च
क्षणिकत्वानुपपत्तात् कथं तद्विशिष्टार्थानामक्षणिकत्वं स्यादिति । ॥४॥

20

(१) प्रत्यभिज्ञानं । (२) “निष्पादितक्रिये चार्थे वृत्तेः प्रस्मरणादिवत् । न प्रमाणमिदं युक्तं
करणार्थविहायितः ॥—यदेव हि प्रमिति क्रियासिद्धौ प्रकृतमुपकरणं तदेव साधकतमं कारकं प्रमाणमुच्यते ।
यदि च प्रत्यभिज्ञा पूर्वप्रमाणगृहीतार्थविषया स्यात् तदा निष्पन्नप्रमिति क्रियेऽर्थं प्रवृत्त्याऽसाधकतमत्वात्
कथमिव प्रमाणतामश्नुवीत ? अन्यथा हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० १५९ । (३)
विषयस्य । (४) अतीतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धस्य । (५) प्रत्यक्षकाले एव । (६) देवदत्तस्वरूपवत् ।
(७) स्थायित्वमपि । (८) स्थायित्वस्य । (९) स अंशः वस्तुस्वरूपाद् भिन्नोऽभिन्नो वा ? अत्रेदे
वस्तुस्वरूपवत् पूर्वमेव प्रतिपत्तिः । भेदे किमसौ पूर्वमेवोत्पन्नः, अथ प्रत्यभिज्ञासमय एवोत्पद्यते ?
इत्यादिरूपेण ग्रन्थावर्तनरूपाऽनवस्था । (१०) प्रत्यभिज्ञाने आधिक्यपरिच्छेदसिद्धिः । (११)
प्रत्यभिज्ञानत्वप्रसंगः । (१२) प्रत्यभिज्ञानसमये । (१३) तत्कालोत्पन्नस्थायित्वविशिष्टार्थानाम् ।
त्रिकालानुयायिस्थायित्वविशिष्टस्यैव अक्षणिकत्वादिति भावः ।

1—मतप्रवेशः ब० । 2—सम्बन्धदेव—ब० । 3—प्यमित्यभिधानमा—ब० । 4—भिप्रेतवस्तुनः आ०,
श्र० । 5—गमेऽनवस्था—आ०, ब० । 6—कृतत्व—आ० । 7—ज्ञानवि—ब०, श्र० । 8—तिपन्नानन्तरावबोधक
—आ० । 9—ज्ञानत्वे श्र० । 10—तत्प्रसङ्गः श्र० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘विरुद्धधर्माध्यासतः’ इत्यादि । तत्र किं धर्माणां तत्प्रतिविधानपुरस्सरं धर्मिणा सह विरोधः, परस्परं वा ? न तावत् धर्मिणा; तत्र तेषां प्रती-
प्रत्यभिज्ञानस्य प्रयत्नः यमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीला-
श्रमास्यप्रसाधनम्—आकाराः, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न
5 तत्रात्र विरुद्धमिति । यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्तत्र कदाचिदप्युलभ्यते, यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे
शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति । तत्र धर्मिणा सह धर्माणां
विरोधो युक्तः । परस्परविरोधे तु धर्मिणः किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः
प्राप्यते ? धर्माणां हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधसंभवे तेषामेव अन्योन्यं भेदो युक्तः ।

किञ्च, विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य
10 भेदः साध्येत, स्वभावभूताभ्यां वा ? तत्राद्यपक्षे सिद्धसाधनम् । न खलु ‘कारणस्वरूपमेव
सर्वथा कार्यस्वरूपम्’ इति स्याद्वादिनो मन्यन्ते । द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित् भेदः साध्येत,
सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित् ; तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्वतोः कथञ्चिद्भेदाभ्युप-
गमात् । सर्वथा भेदस्त्वनुपपन्नः ; तयोः तत्स्वभावत्वाभावात्प्रसङ्गात् । यो यत्स्वभावः
न तस्य तद्वतः सर्वथा भेदः यथा चित्रज्ञानात् नीलाद्याकारस्य, स्वभावार्थं प्रत्यभिज्ञानस्य
15 ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयमिति । तद्वि प्रत्यक्ष-स्मरणसामग्रीतः समुपजायमानं
कोडीकृताऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपट्यादिसामग्रीतः चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षा-
दिसामग्रीतो निर्विकल्पेतराकारैकविकल्पवद्वा ।

यदप्युक्तम्—‘आकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभौसते’ इत्यादि; तत्र कोऽय-
मस्य अनुप्रवेशो नाम—परस्परस्वरूपसाङ्ग्यम्, एकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा ? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) प्र० ४११ पं० ८ । (२) धर्मिणि । (३) तुलना—‘तत्र यदि नाम दर्शनस्मरणलक्षण-
योरकारमोविरोधः, तथापि धर्मिणः प्रत्यभिज्ञानस्य किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः
प्राप्यते ।’—स्या० २० पृ० ४९२ । (४) तुलना—‘विरुद्धाभ्यां दर्शनस्मरणकाराभ्यां कारणभूताभ्यां
स्वभावभूताभ्यां वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्येत ?’—स्या० २० पृ० ४९३ । (५) कार्यकारणयो-
र्भेदस्येष्टत्वात्—आ० टि० । (६) प्रत्यभिज्ञानभेदः—आ० टि० । (७) दर्शनस्मरणकारयोः
स्वभावयोः । (८) प्रत्यभिज्ञान । (९) आदिपदेन विकल्पदासनाशब्दसंकेतस्मरणादिसामग्री
ग्राह्या । (१०) एकज्ञानस्वरूपवत्—आ० टि० । तुलना—‘यदि पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मभेदात् पूर्वोप-
रावस्थापरामर्शज्ञानं भिद्येत, ह्यतः सोऽपि हि परोक्षश्चापरोक्षश्च, विकल्पोऽविकल्पश्च । अथे परोक्षो विकल्पश्च स्वात्मनि त्वविकल्पोऽपरोक्षश्च । तस्माद्विषयभेदादविरोध
इति चेत् ; न निवृत्तापि तदेवैकं विज्ञानं तस्यैवैकस्य वस्तुतः पूर्वदेशकालसम्बन्धे परोक्षम्, अपरोक्षञ्चा-
परदेशकालसम्बन्ध इति को विरोधः ?’—स्यायवा० ता० पृ० १४० । विकल्पो हि स्वरूपे निर्विकल्प-
कमवैरूपे च सविकल्पकमिति सीगतमतम् । (११) प्र० ४१२ पं० ४ । (१२) तुलना—‘परस्परस्वरूप-
साङ्ग्यमेकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा ।’—स्या० २० पृ० ४९३ ।

१-ध्यास इ-आ० । २-चित्रपल-आ०, अ० । ३-स्परं विरो-ब० । ४ प्राप्यते अ० । ५ तेषा-
मन्योन्यं ब०, अ० । ६-न्यभेदो अ० । ७-वस्य प्र-ब० । ८-भासतेत्या-ब० । ९-स्परं स्व-ब० ।

नुपपन्नः; प्रतीतिविरोधात् । नहि यथोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रतीयते । द्वितीयविकल्पे तु नेहि किञ्चिदनिष्टम्, एकस्मिन् प्रत्यभिज्ञास्ये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्बाधप्रतीतौ प्रतिभासमानत्वात् । यद्यथा निर्बाधायां प्रतीतौ प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया, प्रतिभासते च तथाविधायां प्रतीतौ आकारद्वयान्वितैवेनैकं ज्ञानमिति । न च प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुस्वरूपे मिथ्याविकल्पसंहतिः किञ्चित्कर्तुं समर्था 5 सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चैवंवादिनः चित्रज्ञानादेः सिद्धिः ? नीलादिप्रतिभासानां हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एकनीलाकारज्ञानवत् ? तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ततिनीलादिप्रतिभासानामिव अत्यन्तभेदसिद्धेः नितरामचित्रता । एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः प्रतिपादितदोषानवकाशः प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्टः । तत्र विरुद्धधर्माध्यासतः प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्तः । 10

नापि कारणाभावतः; दर्शन-स्मरणलक्षणस्य तत्कारणस्य सद्भावात् । कथं विभिन्नविषययोः विभिन्नाकारयोश्चानयोः तत्कारणतेति चेत् ? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणम् यथा बीजाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायि अङ्कुरः तत्कारणकः; दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रत्यभिज्ञेति । न खलु बीजादेः अङ्कुरकारणतायां चित्रपट्यादेः चित्रज्ञानकारणतायां वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादन्यन्निबन्धनमस्ति । तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्तः । 15

किञ्च, इदं प्रत्यभिज्ञानं कार्यम्, कार्यञ्च प्रतीयमानं कारणसद्भावमवबोधयति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान् ? तथाहि—यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा घटादि, कार्यञ्चेदं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

यदप्युक्तम्—‘सतोऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यम्’ इत्यादि; तदप्यसमीक्षिता- 20

(१) दर्शनस्मरणरूपम् । (२) ‘दर्शनस्मरणरूपमाकारद्वयं परस्परमनुप्रवेशेनानुप्रवेशेन वा प्रतिभासते’ इत्येवं वादिनः सौगतस्य । तुलना—“कथञ्चैवं वादिनश्चित्रज्ञानसिद्धिः...”—प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० २० पृ० ४९३ । (३) नीलादिप्रतिभासानाम् । (४) देवदत्तस्य नीलज्ञानं यजदत्तस्य पतिज्ञानं इन्द्रदत्तस्य च रक्तज्ञानं यथा परस्परतोऽप्यन्तर्भिन्नं सत् चित्रैकरूपतां न प्रतिपद्यन्ते तथैव । (५) नीलादिप्रतिभासानाम् । (६) तुलना—“नापि कारणाभावतः...”—स्या० २० पृ० ४९४ । “यत्तुनरुक्तं सामग्रीभेदात् विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य एकत्वानुपपत्तिरिति; तदयुक्तम्; सम्प्रयोगसंस्कारयोः सम्भूयसामग्रीत्वात् । न नान्यत्र सम्प्रयोगसंस्कारयोः प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयोः कारणत्वादेकज्ञानकारणतानुपपत्तिः, यस्मात् अन्यत्र लिङ्गेन्द्रियोरन्योन्यनिरपेक्षयोः दृष्टं सम्भूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति । तस्मात् प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य एकत्वेन प्रामाण्यसंभवात् ।”—चित्तु० पृ० २१४ । (७) ‘दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्’ [परोक्षाम् ३१५] इत्यभिधानात् । (८) वर्तमानपर्यायविषयं हि दर्शनम् अतीतविवर्तणीवरञ्च स्मरणम् । (९) इदमाकारोल्लेखि हि दर्शनम् तदाकारोल्लेखि च स्मरणम् । (१०) पृ० ४१३ पं० १ ।

1 न किञ्चि—ब० । 2 सलिलतया श्र० । 3 तत्वेनैव ज्ञान—आ०, श्र० । 4 गतत्का—आ०, श्र० । 5—चित्रपटादेः ब०, श्र० । 6—कार्यं प्रती—श्र० । 7—स्य प्रामा—ब० ।

भिधानम्; यतो विषयाभावात्, गृहीतग्राहिवात्, बाध्यमानत्वाद्वाऽस्य अप्रामाण्यं स्यात् ? न तावद्विषयाभावात्; पूर्वोक्तारविषयवर्त्यकद्रव्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् । प्रत्यक्षादितः प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसंभवाच्च विषयवैलक्षण्यमर्थश्याभ्युपगन्तव्यम् । यस्य यतः स्वरूपवैलक्षण्यं तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात् स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्यं प्रत्यभिज्ञानस्येति । सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयोः स्पष्टेतरूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्तमानकालावच्छेदेन विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रापि । प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकालावच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्नः, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकालावच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषयः । न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वात् द्रव्यविशेषस्य कस्यचिदप्यसंभवात् कस्य तद्विषयता प्राप्न्येते इत्यभिधातव्यम्; क्षणभङ्गप्रतिषेधेन द्रव्यसिद्धेः प्रागेवं प्रपञ्चतो विहितत्वात् । तन्न विषयाभावात् तदप्रामाण्यम् ।

नापि गृहीतग्राहिवात्; तद्विषयस्य प्रमाणान्तरेण गृहीतुमशक्यत्वात् । स हि प्रत्यक्षेण गृह्यते, स्मरणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण; तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रगोचरचारितया अतीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्त्तितो द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवात् । नापि स्मरणेन; तस्य अतीतपर्यायविषयतया तद्ग्रहणेऽसमर्थत्वात् । नापि प्रमाणान्तरेण; उभयविवर्त्तवर्त्तितद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यप्रमाणस्थाऽसंभवात् । तदुभयसंस्कारजनितं कल्पनाज्ञानमस्तीति चेत्; न; तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

(१) तुलना—“तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहिवात्, स्मरणानन्तरमाविवात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमानत्वाद्वा स्यात् ?”—प्रमेयक० पृ० ३४३ । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) प्रत्यक्षे स्मरणे च प्रत्येकमिह तु युगपदिति विशेषः—आ० टि० । (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि । (५) पृ० ३५७—३८९ । (६) तुलना—“आकारवादप्रतिषेधे पूर्वानुभवजनितसंस्कारस्मरणसहकारीन्द्रियेण स एवायमिन्द्रियमयोल्लेखि ज्ञानं जग्यते । तस्य च अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानात् निर्विषयत्वमयुक्तम् ।”—प्रज्ञा० व्यो० पृ० ३९७ । “अतीतकालविशिष्टो वर्त्तमानकालावच्छिन्नस्वार्थ एतस्यामवभासते ।”—न्यायम० पृ० ४५९ । “प्रतीयते तावदेतस्माद्विज्ञानात् पूर्वपरकालावच्छिन्नमेकं वस्तुतत्त्वम्, तदप्यस्य विषयो न भवतीति संविद्विद्वद्भ्यः । ग्रहणस्मरणे च नैकं विषयमालम्ब्यते तस्मादेकमेवेदं विज्ञानं प्रतीतिसामर्थ्यादुभयविषयमाख्येयम् ।”—प्रज्ञा० कन्ध० पृ० ८० । (७) तुलना—“न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यं येन तत्र प्रवर्त्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मयेत, तद्गृहीतातीतवर्त्तमानविवर्त्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्ववर्त्तितेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वं लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसंगात् तस्यापि सर्ववैवापूर्ववर्त्तित्वासिद्धेः ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । स्या० २० पृ० ४९५ । प्रमेयक० पृ० ३३ । प्रमाणमी० पृ० ३५ । (८) अतीतवर्त्तमानपर्यायानुयायिद्रव्यग्रहणे । (९) अतीतवर्त्तमान । (१०) स्मरणप्रत्यक्ष । तुलना—“प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनाज्ञानमस्तीति चेत्; न; तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वेनास्माभिरभ्युपगमात् ।”—स्या० २० पृ० ४९५ । (११) उभयसंस्कारजनितविकल्पस्यैव ।

१-विवरवर्त्ये—आ० । २-वश्यमभ्यु—अ० । ३-क्षणिकत्वतो द्र—ब० । ४-विवर्त्तगोच—आ०, अ० । ५-विवर्त्तितद्रव्यस्य अ०, —विवर्त्तितो द्रव्यस्य ब० ।

ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयोः द्रव्यमविषयः तर्हि कथं ताभ्यां तत्र तैज्ज्येयः ? यद् यस्य विषयो न भवति न तत्रात्र ज्ञानमुत्पादयति यथा चक्षुरस्ते, अविषयश्च एकत्वं प्रत्यक्षस्मरणयोरिति; तदप्यसुन्दरम्; विकल्पोत्पादकाऽविकल्पकाध्यक्षेण अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पादकैवप्रतीतेः । 'विकल्पवासनासहायं स्वाविषयेऽपि तत्र तैव तैमुत्पादयति' इत्युत्तरम् अन्यत्रापि तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरण-
सहायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीतेः, सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वात् । कथम-
न्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अभ्यासविशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत् ? एकत्वविषयत्वश्च
प्रत्यक्षस्यापि अक्षणीकत्वसिद्धौ^१ समर्थितम् । अन्यथा निर्विषयत्वमेव अस्य स्यात्,
एकान्तेन अनित्यत्वस्य कदाचनान्यप्रतीतेः । केवलं तेनैकत्वं प्रतिनियतवर्त्तमानपर्या-
याधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणाऽनुभूयमा-
नपर्यायाधारतयेति विशेषः । अतः कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः न गृहीतम्राहित्वमस्य यतोऽ-
प्रामाण्यं स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्गः सर्वथाऽपूर्वार्थविषयत्वाऽ-
संभवात्, तद्विषयस्य देशादिविशिष्टपावकादिव्यक्तविशेषस्य सम्बन्धग्राहिज्ञानविषयात्
साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धेः ।

बौध्यमानत्वात्तर्ह्यप्रमाणं प्रत्यभिज्ञा; इत्यप्युक्तम्; तद्बाधकस्य कस्यचिदप्य-
संभवात् । तस्य हि बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्; तस्य
तद्विषये प्रवृत्त्यभावात् । यद् यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्रास्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

(१) द्रव्ये । (२) प्रत्यभिज्ञानम् । (३) सौगतमते हि निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्प-
द्यते । निर्विकल्पकं च परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यत्वात् वस्तुविषयं सविकल्पकं तु बुद्धिकल्पितसामान्यगो-
चरत्वादवस्तुविषयकं प्रसिद्धम् । ततो यथा निर्विकल्पकं सामान्यमज्ञानदपि सामान्यविषयं विकल्पमु-
त्पादयति तथैव अतीतवर्तमानोभयविवर्तवर्तिनमेकत्वमज्ञानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयकं प्रत्यभिज्ञान-
मुत्पादयतामिति भावः । तुलना—“विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात् ।”—स्या० २० पृ० ४९५ । (४)
सामान्ये । (५) निर्विकल्पकम् । (६) विकल्पम् । (७) प्रत्यक्षस्मरणान्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानस-
मुत्पादनस्थलेऽपि । (८) अभ्यासविशेषादयः सहकारिणः—आ० टि० । (९) पृ० ३८१ । (१०) प्रत्य-
क्षेण । (११) अनुमानविषयस्य—आ० टि० । (१२) पूर्वतादिदेशस्थपावकस्य—आ० टि० । (१३)
तर्क—आ० टि० । तुलना—“सम्बन्धग्राहिज्ञानविषयात् साध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमे-
यस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । (१४) तुलना—
“संवादो बाधवैधुर्यनिरचयश्चेत् स विद्यते । सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवाञ्जसा ॥ प्रत्यक्षबाधकं
तावन्न संज्ञानस्य जातुचित् । तदभिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥”—तत्त्वार्थद्वयो० पृ० १९२ । “बाधक-
प्रमाणान्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्; तद्बाधकस्यासंभवात् । न हि प्रत्यक्षं तद्बाधकं तस्य
तद्विषये प्रवृत्त्यसंभवात्, साधकत्ववद् बाधकत्वविरोधात् ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । अष्टसह० पृ० २८० ।
प्रमेयक० पृ० ३४४ । स्या० २० पृ० ४९६ । प्रमेयर० पृ० ३६ ।

१ न तत्र आ०, श्र० । २—कत्वं प्रती — श्र० । ३—भिज्ञाने तु आ०, श्र० । ४ इति
चायुक्तम् श्र० ।

रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञाविषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्; तद्विषये तस्याप्यप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वा संवादकत्वाच्च तद्वाधकत्वम् । ननु लूनपुनर्जातनखकेशादौ बाध्यमानं तर्कं प्रतीतमेव अतः कथं तत् प्रमाणमिति चेत् ? यदि नाम तत्र तर्कतया प्रतीतम्, अन्यत्रै किमायातम् ? अन्यथा शुक्तिशकले रजताभासप्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वोप-
 5 लम्भात् सत्यरजतेष्यस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । तन्न एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापह्नवो युक्तः ।
 नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्यै; अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्—येनैव हि पूर्वं धूमसहितोऽ-
 ग्निर्दृष्टः तस्यैव चत्वारकालं पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनात् अग्न्यनुमानोत्पत्तिर्गुहा, नान्यस्यै
 अनुदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सदृशम्' इति प्रतिपत्तिर्घटते, पूर्व-
 प्रत्यक्षेण उत्तारस्य तद्व्यत्यक्षेण च पूर्वस्य धूमादिवस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । न च द्रव्याऽप्रति-
 10 पत्तौ द्विष्टं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यमतिप्रसङ्गान् । यद् द्विष्टं तद् द्वयप्रतिपत्तावेव प्रतीयते
 यथा सम्बन्धः, द्विष्टञ्च सादृश्यमिति । ततः सिद्धा एकत्वोल्लेखिनी सादृश्योल्लेखिनी
 च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह—संज्ञा प्रमाणं चिन्तायाः 'फलस्य हेतुत्वात्' इति सम्बन्धः । अस्याः
 पर्यायमाह—तर्कस्य इति । कः पुनरयं तर्कः नाम इति चेत् ? व्याप्तिज्ञानम् । व्याप्तिर्हि

(१) प्रत्यभिज्ञाविषये । (२) अनुमानस्यापि । (३) तुलना—'न च लूनपुनर्जातनख-
 केशादिवत् सर्वत्र निविषया प्रत्यभिज्ञा'—प्रमेयकं पृ० ३४२ । स्या० र० पृ० ४९४ । (४)
 स एवायं नखादिरिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (५) लूनपुनर्जातनखकेशादौ । (६) स एवायं नख-
 केशादिरिति प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानम् । (७) तस्मिन्नेव नखे केशे वा स एवायं नखादिरिति प्रत्यभि-
 ज्ञानं कथं बाध्यमानमिति भावः । (८) एकत्र बाध्यमानत्वोपलम्भात् सर्वत्र बाध्यमानत्वस्वीकारे ।
 (९) रजताभासप्रत्यक्षस्य । (१०) अपह्नवो युक्त इति गतेन सम्बन्धः । (११) तुलना—'सादृश्य-
 प्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम् । प्रमाणं स्वार्थसंवादादप्रमाणं ततोऽन्यथा ॥'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९३ ।
 "कथञ्च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिः येनैव हि ..."—प्रमेयकं पृ० ३४३ । "अनुमानानुत्पत्तिप्र-
 सङ्गात्, येनैव हि पूर्वं धूमोऽग्नेः ..."—स्या० र० पृ० ४९६ । (१२) प्रतिपत्ता । (१३) प्रतिपत्तुः ।
 (१४) जनस्य । (१५) घटादिदर्शनात् । (१६) धूमस्य । (१७) उत्तरकालीनधूमप्रत्यक्षेण । (१८)
 तुलना—'न च द्रव्याप्रतिपत्तौ'—स्या० र० पृ० ४९६ । (१९) 'चिन्ताज्ञानमागामिनी वस्तुन एव
 निपत्तिर्भवति अथवा नेति, यथैवं ज्ञानादित्रयसमन्विते तत्रैव परमसुखावाप्तिरत्यथा तस्यैतच्छिन्ताज्ञानं
 मनोज्ञानमेव ।'—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ७८ । 'सम्बन्धं व्याप्तिर्तोऽप्यानां विनिरुच्य प्रवर्त्तते । येन
 तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७० । 'उपलम्भानुप-
 लम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः । इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च ।'—परीक्षामु० ३।११,
 १२ । प्रमाणमी० १।२।५ । 'उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धधालवन्तमिद-
 मस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः ।'—प्रमाणनय० ३।५ । जैनतर्कभा० पृ०
 १० । 'व्याप्तिज्ञानं तर्कः ।'—न्यायदी० पृ० १९१ । 'अन्यव्यतिरेकाभ्यां व्यतिज्ञानं दर्शनस्मरणान्या-
 ममूहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धनं तर्कः चिन्ता ।'—लघी० अ० पृ० २९ । 'अविज्ञाततत्त्वेऽप्ये कारणोप-
 पत्तिस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।'—न्यायसू० १।१।४० । 'अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि

१-भिज्ञाने विषये श्र०,—भिज्ञानविषये व० । २ धूमोऽग्निर्वृष्टः व० । ३ 'यद्' नास्ति श्र० ।

साध्यसाधनयोरविनाभावः । तद्ग्राहि ज्ञानं तर्कोऽभिधीयते, तत्र तस्यैव प्रमाण्यात्, ज्ञानान्तराणां तद्ग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवतः तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः ।

एकशतानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् संभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्षस्यवित्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमुहस्तर्कः ।”-न्यायसं० पृ० ५८६ । न्यायकलि० पृ० १३ । “एकधर्म्मभूषणमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूपः तर्कः”-न्यायली० पृ० ५४ । “व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याहार्यारोपाद्यो व्यापकस्याहार्यारोपः स तर्कः । यथा निर्वह्नि-त्वारोपान्निर्धूमत्वारोपः । यदि निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादिति ।”-न्यायसूत्रवृ० १।१।४० । “तर्कश्चा-पाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूलः ।”-महावि० पृ० १३१ । “जैमिनीयास्तु भुवते-युक्त्या प्रयोगनिरूप-णमूहः ।”-स च त्रिविधः मन्त्रसामसंस्कारविषयः । [शाबरभा० १।१।१]-”न्यायसं० पृ० ५०८ । “अदृष्टसम्बन्धात् परोक्षप्रतीतिः तर्क इति लक्षणम् ।”-प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३०० ।

(१) “सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गना”-मी० इलो० अनु० इतो० ४ । “नियमरूपं मीमांसकाः”-न्याय० मा० पृ० ५६ । प्रकरणपं० पृ० ६८ । “व्याप्तिरविनाभावः इति”-प्रश० व्यो० पृ० ५७० । “स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः ।”-न्यायसा० पृ० ५ । “साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम् । तस्मिन् सत्येव भवने न विना भवन् ततः ॥ अयमेवाविनाभावो नियमः सहचारिता ।”-न्यायसं० पृ० १२१ । न्यायकलि० पृ० २ । “तस्माद् यो वा स वाऽस्तु सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेत्तरः सम्बन्धीति युज्यते ।”-न्यायवा० ता० पृ० १६५ । “स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थः ।”-ता० पं० पृ० ६९१ । न्यायली० पृ० ५४ । “अनौपाधिकः सम्बन्धः”-प्रश० किर० पृ० २१७ । “अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः । यदा साध्यसामानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ।”-बैज्ञे० उप० ३।१।१४ । तत्त्वचि० व्या० । “उपाधिविधुरः सम्बन्धः”-सर्वद० पृ० ७ । “साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम् । यथोक्ततम्-“व्याप्तिव्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य च तत्रैव भावः [प्रमाणवा० स्ववृ० ३।१] इति ।”-न्यायजिह्वुटी० पृ० ६४ । “द्विविधा चेयं व्याप्तिः व्यापकव्याप्यधर्मतया । तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्तिः, व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावो नाम तस्य व्याप्तिः । आभ्यां यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुक्तौ । व्याप्यसद्भावे व्यापकस्य सत्त्वनियमस्य अन्वयरूपत्वात् । व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात् ।”-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१ । “तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिर्यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधर्मतया प्रतीतेः । यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भाव एवेति सम्बन्धः । तत्रेति सप्त-म्यर्थप्रधानमेतन्नाधारार्थप्रधानम् धर्माणां धर्मान्तरत्वाभावात् । तेनायमर्थः-यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र व्यापकस्य भाव एवेति व्यापकधर्मो व्याप्तिः । नत्वेवमवधार्यते व्यापकस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात्, अव्यापकस्यापि मूलत्वेदस्तत्र भावात् । नापि तत्रैवेत्यवधार्यते, प्रत्ययानन्तरीयक-त्वादेरेहेतुत्वापत्तेः । साधारणश्च हेतुः स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात् । यदा तु व्याप्यधर्मता व्याप्ते-विवक्षिता तदा यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव व्याप्यस्य भावो नान्यत्र । अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यवधारणम् हेत्वभावप्रसङ्गेरेव नाश्रितम् अव्याप्यस्यापि तत्र भावात् । नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेत्यवधार्यते; सपक्षकदेशवृत्तेरेहेतुत्वप्राप्तेः, साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्व-वश्यम्भावादिति । व्यापकस्य तत्र भाव इत्यनेन चान्यत्र आक्षिप्तो व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव इत्यनेन व्यतिरेक आक्षिप्तः ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१ । हेतुवि० टी० पृ० १८० । प्रमाणमी० पृ० ३८ । “सहकमभावनियमोऽविनाभावः”-परीक्षा० ३।१६ । प्रमाणमी० १।२।१० । (२) व्याप्तिग्रहणे तर्कस्यैव । (३) प्रत्यक्षादीनाम् । (४) व्याप्तिग्रहणे ।

ननु व्याप्तिस्वरूपस्यैवाऽसंभवात् कथं तत्र तर्कः प्रमाणम् ? तथाहि—व्याप्तिः
 व्याप्तिस्वरूपस्यैवा- सम्बन्धोऽर्थानाम्, सौ च देशतः कालतो वा कैस्यचित् केनचित्-
 संभवात्तास्ति तर्कस्य स्यात् ? न तावद् देशतः; यतो व्योम्नि धूमः, भूमौ अग्निः, उपरि
 प्रामाण्यमिति चार्वा- देशे वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः । नापि कैलतः; न हि वृष्टिकाले नदीपूरः
 कस्य पूर्वपक्षः— कृत्तिकोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति ।

किञ्च, कस्य केनायमविनाभावः—किं सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य
 विशेषैः, उत विशेषाणां विशेषैः ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यत्व-विभुत्वाभ्यां सकल-
 देशकालसम्बन्धितया अग्नित्व-धूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि देशकालानव-
 च्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः, तदवच्छिन्ने वा ? यद्यनर्बच्छिन्ने; तदा सिद्ध-
 साधनमेव । अथ देशकालावच्छिन्ने; तदा अनुगमाभावः । नहि महानसत्त्वधूमसामा-

(१) तुलना—“किञ्च, साध्यसाधनयोः व्याप्तिः किं यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति देश-
 रूपा निरूप्येत, किं वा यदा यदा साधनं तदा तदा साध्यमिति कालरूपा, युगपदुभयस्वभावा वा ?”—
 हेतुबिड० पृ० ४ B. (२) साधनस्य साध्यस्य वा । (३) साध्येन साधनेन वा । (४) तुलना—
 “देशव्याप्तिसामान्यकारे समग्रजाग्रत्प्रामाणिकमान्ये धूमानुमानेऽपि सत्यताभिमानोऽभिमानशालिना
 कथं पृथापयमानीयते, तत्र च देशव्याप्तेः स्वप्नदशायापमपि विभावनाभावात् । तथाहि—गानमण्डल-
 लावलम्बी धूमः पर्वताखर्वनितम्बसम्बन्धी च धूमध्वज इति क्व देशव्याप्तिरिति ।”—हेतुबिड० पृ० ४ B. ।
 (५) उपरि वृष्टे मेघः अधोनदीपूरदर्शनादित्यनुमाने । (६) तुलना—“उदयो तो नमश्चन्द्रो जलचन्द्रो-
 दयदर्शनात्, आसीत्यूर्ध्वमस्मिन् देशे वृष्टिः उत्तरत्र तथाविधवारिपूरविलोकनात्, भविष्यति वा वारि-
 वाहवृष्टिः तादृक्वादिवाहविभावनात्, उदेष्यति रोहिणी कृत्तिकोदयात्, उदेष्यति श्वः सवित्ता अद्यत-
 नादित्योदयदर्शनात्, उदगः मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वाफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनीनामुदयोपलब्धेः इत्यादि मानानाम-
 नैकेषां देशकालोभयेभ्यो विप्रकृष्टानां कार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरहेतुविशेषाणां देशकालोभवेः क्वापि
 व्याप्यनुपपत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः ।”—हेतुबिड० पृ० ४ B. (७) तुलना—“इतोऽपि अविनाभावसम्बन्ध-
 ग्रहणानुपपत्तिः—किं सामान्ययोः सम्बन्धावधारणम्, आहो स्वलक्षणयोः सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ?”—
 तत्त्वोप० पृ० ६५, ८३ । “तथाहि—व्याप्तिर्भवन्ती किं साधनसाध्यव्यक्त्योर्बांभोति, उताहो साधनत्वसाध्य-
 त्वजात्योर्वा, आहोस्त्विच्च साधनवत्साध्यवतोः, किं वा साधनत्ववत्साध्यवतोः, उत साधनवत्त्वसाध्यव-
 त्वयोः इति पक्षपञ्चतयी . . .”—हेतुबिड० पृ० ४ A. । “तथाहि—किं व्यक्त्योर्वा जाल्योस्तद्वतोर्वा
 विशेषयोः । व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः । सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जाल्योस्तद-
 संभवात् । न तद्वतोऽस्तदोपाध्न चतुर्थोऽनिरूपणात् ।”—चित्सु० पृ० २१३ । (८) पर्वत-महानसादिदेशम्
 अतीतवर्तमानादिकालञ्चानपेक्ष्य अग्यादिविशेषमात्रे । तुलना—“यद्यनवच्छिन्नैः; तदा सिद्धसाध्यतैव
 देशकालानवच्छिन्नानां वल्लभादिविशेषाणामतिप्रतीतत्वात् ।”—स्या० १० पृ० ५०५ । (९) तुलना—
 “किं चानुमानं प्रमाणमुपेत्योक्तं वस्तुतस्तु न तन्मानमित्याह—विशेष इति । विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये
 सिद्धसाध्यता । इत्यादिदोषदुष्टत्वाच्च नोऽनुमितिः प्रमा ॥ —व्यक्त्योर्वा व्याप्तिः, जाल्योर्वा,
 तदाकालविशेषयोर्वा, धूमवत्त्ववल्लभमस्त्वयोर्वा ? नाद्यः; सर्वोपसंहारासिद्धेः । न द्वितीयः; तयोः स्वरूप-
 भेदात् धर्मभेदाच्च । न तृतीयः; उक्तदोषात् । न चतुर्थः; औपाधिकधर्मस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानि-
 रूपणात् ।”—बृहदा० वा० पृ० १४०१ । न्यायकुमु० पृ० ६९ टि० ५ ।

१-स्वरूपासंभ-अ० । २ व्याप्तिस्वम्ब-ब० । ३ ‘उत विशेषाणां विशेषैः’ नास्ति ब० ।
 ४ नित्यविभुत्वा-ब० । ५-पक्षे देश-आ० ।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्येन । नापि विशेष-
षाणां विशेषैरनियमः; स हि दृष्टानां दृष्टैः, अदृष्टानामदृष्टैः, दृष्टानां वा अदृष्टैः स्यात् ।
यदि दृष्टानां दृष्टैः; तदा सिद्धसाधनम्, अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिः । अथ
अदृष्टानामदृष्टैः; तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावादनुगमाभावाच्च कथमनुमानम्? नापि दृष्टा-
नामदृष्टैः; पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् ।

किञ्च, अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धग्रहणपूर्वकः, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ
विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्गृहीतुं शक्या ?

किञ्च, अयमविनाभावशब्दः साध्याभावे साधनाभावं वदतीति व्यतिरेकमात्रवचनः,
न सम्बन्धवचनः ।

किञ्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्तेः अग्न्यभावो विशेषणम् ।
सः पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा स्यात् । पारमार्थिकत्वे अवियमानत्वात् धूमस्य
न तदाश्रिता व्याप्तिर्गृहीतुं शक्या, नहि अगृह्यमाणे आश्रये तदाश्रितं गृहीतुं शक्यमति-
प्रसङ्गात् । अपारमार्थिकत्वे तु उपाधेः तदुपहितार्यं धूमानुपपत्तेरपि अपारमार्थिकत्वं
स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि अपारमार्थिकत्वमेव आयातम् । अथैवमुच्यते—अग्न्य-
भावश्चेद् धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्; तदप्यनुप-
पन्नम्; विद्यमाना गृहीता च व्याप्तिः अनुमानाङ्गम् न प्रसज्यमाना, तस्यैः सत्त्वे-
नाप्यनिश्चितत्वात् । संभावनाज्ञानं चैतत्, न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चे-
न्नाभविष्यद् अपतिष्यन् पर्वताः' इति ।

किञ्च, एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ? न तावदेकस्य;
अस्याभावेऽपि अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपद्यमानत्वात् । नापि सर्वस्य; उपहितग्रहणस्य
उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसंभवात् । धूमानुपपत्तेः अशेषाग्न्यभाव एवोपाधिः, न चासौ

(१) प्रत्यक्षसिद्धैः प्रत्यक्षसिद्धस्य अविनाभावे सिद्धेऽपि न किञ्चित्फलम्, साध्य-साधनयोः
प्रत्यक्षत्वात्, तथा च नानुमानप्रामाण्यमिति भावः । (२) अपूर्वव्यक्ती अविनाभावग्रहणाभावात् नानु-
माप्रवृत्तिः । (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणासंभवात्, संभवेऽपि अनुगमाभावः । (४) अपि तु
यो द्वौ सम्बन्धिनौ महानसीयधूमाग्नी प्रत्यक्षविधयो स्याताम् तयोरेव सम्बन्धो गृहीतः स्यात् न सकलसा-
ध्यसाधनव्यक्तीनाम् । (५) अग्न्यभावस्येति शेषः—आ० टि० । (६) धूमाश्रिता । (७) धूमलक्षणे ।
(८) व्याप्तिस्वरूपम् । (९) अग्न्यभावरूपविशेषणस्य । (१०) अग्न्यभावविशिष्टायाः । (११) संभा-
व्यमाना । (१२) संभाव्यमानायाः व्याप्तेः सत्त्वमपि अनिश्चितमेव । (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात्
धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः स्यात्' इत्याकारकं पूर्वोक्तं ज्ञानम् । (१४) कस्यचिदेकस्य अग्नेरभावेऽपि
'अशेषाग्न्यभावविशिष्टो धूमाभावः' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तेरिति भावः । (१५) विशिष्ट-
आ० टि० । (१६) अशेषाग्न्यभावरूपविशेषण ।

१-पत्तेः श्र० । २ 'अथ' नास्ति आ० । ३ स्वाश्रये श्र० । ४ उपाधिः श्र०, व० । ५-हित-
त्वात् धू-व० । ६ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ७-सर्वव्यक्तत्वं स्यात् श्र० । ७-पत्तेः श्र० ।

सर्वाग्निष्वगृहीतेषु ग्रहीतुं शक्यते, अभावग्रहणस्य प्रतियोग्याश्रयग्रहणसव्यपेक्षत्वात् ।

अपि च कचिदग्न्यैवाभावावेऽपि धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नान्यभावे धूमभावविरोधस्य उपाधिः, किन्तु धूमाभाव एव । अतो न व्याप्ति-
विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्वाहिणः तर्कस्य तद्व्यभिचारिणोऽनुमानस्य वा प्रामाण्यम् ? अस्तु
वा व्याप्तिः; तथापि अविनाभावे सत्यपि न धूमाद् वह्निपैङ्गल्यमनुमीयते वह्नेरेव धूमेन
अनुमीयमानत्वात् । तथा नियतत्वाविशेषेऽपि धूम एव गमको न तद्गताः श्या-
मत्वादय इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘व्याप्तिस्वरूपस्य’ इत्यादि; तदसमीचनम्;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं यतः स्वरूपप्रयुक्तस्याऽव्यभिचारस्य व्याप्तिव्यतिज्ञानात् कथं तस्याः
10 तर्कस्य पृथक् प्राप्तास्य— स्वरूपासंभवः ? स्वरूपं हि साध्यसाधनयोः स्वधर्मकलापकलितम्
व्यवस्थापनम्— अग्नित्वं धूमत्वञ्च, तद्विद्विद्वन्त्यतो देशकालाकारादेर्व्यावर्त्य प्रवर्षेण
सम्बन्धम् आत्मन्येव योजयति । ‘मंदवीनामेव व्याप्तिं बुध्यस्व बुध्यस्व’ इत्यात्म-
सम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तामेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति ।

यदप्युक्तम्—देशतः कालतो वाऽविनाभावो न संभवति’ इति; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्;
15 तद्वतः तद्वता अविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिकृष्टप्रतिभासत्वात् । अव्यभिचारिणा हि

(१) यस्याभावः क्रियते सः प्रतियोगी यथा अशेषान्यभावे कर्तव्ये अशेषाग्निः प्रतियोगी,
यस्मिन् अभावः क्रियते स आश्रयः, यथा त्रिकाले त्रिलोके च अशेषान्यभावे प्रस्तुते कालत्रयं त्रिलो-
कत्रय आश्रयः । “गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तितत्तज्ज्ञानं जायतेऽज्ञानपे-
क्षया” —[सी० श्लो० अभा० श्लो० २७] इत्यभिधानात् । (२) तुलना—“अपि च यत्सद्भाव
एव यस्य निवृत्तिः तेनैव तस्य विरोधः, तद्विह धूमाभाव एव सति धूमस्य निवृत्तिर्दृश्यत इति धूमाभा-
वेनैव अस्य विरोधो नत्वग्न्यभावेन । केवलाङ्गाराद्यवस्थायाम् अग्न्यभावाभावेऽपि धूमनिवृत्तेः प्रतीय-
मानत्वात् ।” —स्या० २० पृ० ५०५ । (३) अङ्गारावस्थापन्नाग्निमहिर्भूमप्रदेशे अग्न्यभावाभावेऽपि
अग्निसद्भावे सत्यपि । (४) यदि हि अग्न्यभावः धूमाभावस्य उपाधिः स्यात् तदा ‘उपाध्युपाये
उपाधिमतोऽभावात्’ इति न्यायेन अङ्गारावस्थापनमत्यदेशे अग्न्यभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र
धूमाभावस्यापि अभावः प्राप्नोति, न च तत्र धूमाभावस्याभावः धूमसद्भावकल्पः समस्ति । अतः
नान्यभावः धूमाभावस्य विशेषणम् अपि तु धूमनिवृत्तिरेव । (५) तर्कगृहीतव्याप्तिबलोद्भूतम् ।
(६) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वे समानेऽपि । (७) पृ० ४२० प० १ । (८) तुलना—
“अविनाभावस्य साध्याव्यभिचारितत्त्वस्य” —प्रमाणवा० मनोरथ० ३११ । “स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य
व्याप्तिव्यतिज्ञानात्” —स्या० २० पृ० ५०६ । जैनतर्कभा० पृ० १० । (९) धूममत्तमग्नित्वञ्च ।
(१०) अग्नित्वधूमत्वप्रयुक्ततामेव । (११) पृ० ४२० प० १ । (१२) सामान्यविशेषवतो धूमादेः—आ० टि० ।
(१३) सामान्यविशेषवता अग्न्यादिना—आ० टि० । तुलना—“धूमो हि यत्र यत्रेति सामन्येनैव गृह्यते ।
न पुनः पर्वतैरप्ये गृहे वेत्येवमिष्यते ।” —न्यायसं० पृ० १११ । “देशकालौ परिपत्य स्वरूपमात्रेणैव
धूमादेरग्न्यादिना सहाविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिकृष्टत्वात् ।” —स्या० २० पृ० ५०६ ।

व्याप्तिः । न च § देशकालयोरव्यभिचारित्वम्; विवक्षितः देशकालयोरभावेऽपि धूमादे-
रूपलम्भात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘कस्य केन व्याप्तिः’ इति; तत्र यस्य येन अव्यभिचारः तस्य
तेन व्याप्तिः; सामान्यविशेषवत्तश्च धूमादेः सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात्
तस्य तेनैव व्याप्तिः; अतश्च उक्तदोषानवकाशः । गैम्यं हि व्यापकम्, गमकं व्याप्यम् । 5
न च केवलौ सामान्यविशेषौ गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, जात्यन्तररूपस्यैव
उभयात्मनः तद्रूपतयाऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्—‘अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः’
इत्यादि; तदप्यनेनैव प्रत्याख्यातम्; सामान्योपलक्षितविशेषयोर्व्याप्तिः सर्वोपसंहारेणैव
संभवात् । नहि तत्र आनन्त्यादिदोषोऽवकाशं लभते । 10

यच्चोच्यते—‘अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचनः;
तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि
तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमः तथोपपत्ति-अन्यथातुपपत्तिप्रकाराभ्यां
व्यवस्थितः; अतः तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, ‘यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः,
यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ इति । ननु ‘यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ 15
इत्येतत् कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात्
तत्सद्भावनिवृत्य एवाऽसौ, अन्यथा यथा धूमाभावेऽपि कर्चिर्दग्निरुपलभ्यते तथा

(१) तुलना—‘यो यथा नियतो येन यादृशेन यथाविधः । स तथा तादृशस्यैव तादृशोऽन्यत्र
बोधकः ॥’—न्याय० मा० पु० ५७ । (२) पु० ४२० पं० ६ । (३) तुलना—‘व्याप्यस्य गमकत्वञ्च
व्यापकं गम्यमिष्यते । यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य
समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽप्ये व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्य-
व्यापकता तयोः ॥’—मी० श्लो० अनु० श्लो० ४-६ । (४) सर्वथा सामान्यविशेषाभ्यां विलक्षणजा-
तिकस्य कथञ्चिदुभयरूपस्य इत्यर्थः । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) पु० ४२१ पं० ६ । (७)
धूमत्वान्तिव्यतिरेकधूमगम्यव्यक्तयोः । ‘तुलना—‘सामान्यवतीरविनाभावग्रहणाभ्युपगमात् । यद्यपि
अग्निविशेषा धूमविशेषाश्चानन्त्येनावस्थिताः तथापि तेष्ववस्थितमग्नित्वं धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राह-
कमस्तीति तदुपग्राहकवशात् भूयोदर्शनबलादग्निधूमयोर्देशादिव्यभिचारोऽव्यभिचारग्रहणम्” —प्रश०
व्यो० पु० ५७० । प्रश० कन्ध० पु० २१० । (८) यावान् कश्चिद्धूमः सः कालान्तरे देशान्तरे च
अग्निजन्यैव अग्निजन्मा कदापि न भवतीत्येवं प्रकारेण । तुलना—‘सर्वोपसंहारवती व्याप्तिः’—तर्कभा०
मी० पु० १९ । (९) अनुगमदेशादिव्यभिचारादयः । (१०) पु० ४२१ पं० ८ । (११) अभाव-
सामान्ये । (१२) तुलना—‘अविनाभाव एव हि नियमः, साध्यं विना न भवतीति कृत्वा ॥’—
प्रमाणवा० स्वव० टी० पु० ७० । (१३) तुलना—‘हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥’—न्यायाव० श्लो० १७ । परोक्षानु० ३।१५ । प्रमाणनय०
३।२८ । प्रमाणमी० २।१।४ । (१४) अग्निसद्भावः । (१५) धूमस्य अग्निसद्भावनिवृत्यत्वाभावे,
अग्नेर्वा धूमसद्भावनिवृत्यत्वे । (१६) तत्प्रायोगोल्लासो ।

§ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 1 जात्यन्तरस्यैव व० ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि कचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियतः यथा धूमाभावेऽप्युपपद्यमानोऽग्निर्न धूमेन नियतः, अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य, तस्मादसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्—‘अग्न्यभावस्य पारमार्थिकत्वे धूमस्याविद्यमानत्वात् तदाश्रिता व्याप्ति-
५ प्रहीतुं शक्या’ इति; तदप्यसमीचीनम्; यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभावः तत्रैव धूमस्य अविद्यमानत्वं न सर्वत्रेति कथं तदाश्रिता व्याप्तिः प्रत्येतुमशक्या ?

यदपि—‘एकस्याग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते सर्वस्य वा’ इत्याद्युक्तम्; तदप्युक्तम्; यतो व्याप्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते ‘यः कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः’ इति, न पुनः एकैकधर्म्युल्लेखेन ‘पर्वते गृहे अरण्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः’ इति । तथा
१० तत्प्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपत्तिर्न स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमान-
वैफल्यप्रसङ्गाच्च, अग्निधूमवतामशेषाणां धर्मिणां व्याप्तिग्रहणकाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वोऽग्निध्वगृहीतेषु धूमानुपपत्तौर्विशेषणभूतः तदभावो प्रहीतुमशक्य इत्यभिधातव्यम्; यतः तदभावः तदन्यदेशादिस्वभावः, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य, तुच्छस्वभावाऽभावस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाखिलाग्निविविक्तो देशोऽपि प्रत्य-
१५ क्षत एव प्रतीयते । व्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षः न स्वरूपप्रतिपत्तिः, कथमन्यथा घटादेरपि प्रतिपत्तिः स्यात् तद्वैस्वरूपस्यापि त्रैलोक्यविलक्षणतया त्रैलोक्या-
प्रतिपत्तावप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ?

यच्च—‘अग्न्यभावाभावेऽपि कचिद् धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः’ इत्याद्य-
भिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्तमानत्वात्
२० तद्विरोधे^{१५} स्वाभावस्येव अग्न्यभावस्यापि निमित्तात्वोपपत्तेः । यद्वै यस्मिन् सति नियमेन निवर्तते तत्तद्विरोधनिमित्तात् यथा उष्णस्पर्शसद्भावे शीतस्पर्शः, नियमेन निवर्तते चाग्न्यभावे धूमसद्भावः, तस्माद् धूमविरोधस्यासौ^{१६} निमित्तमिति । ननु अग्न्यभावे

(१) प्र० ४२१ पं० ११ । (२) महाह्लादौ । (३) धूमाश्रिता । (४) प्र० ४२१ पं० १९ । (५) तुलना—‘तत्र सर्वस्येति धूमः, यतो धूमानुपपत्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वः सर्वस्यानेतरभावेऽनुपपन्नः’—स्या० २० पृ० ५०६ । (६) प्रतिनियतधर्मव्यक्तिनिर्देशेन व्याप्ति-
प्रतीतो आनन्त्यं बाधकम् तदाह तथेति । (७) अग्न्यभावः—आ० हि० । (८) अग्न्यभावः—आ० हि० । तुलना—‘यतोऽग्न्यभावः तदन्यदेशादिस्वभावः भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य’—स्या० २० पृ० ५०७ । (९) तस्माद्विवक्षितवस्तुनो बह्वैरन्यदेशः पर्वतादिस्तदग्रहणस्वभाव इति—आ० हि० । (१०) महाह्ला-
दादिः । (११) अत्र घटाभावः अत्र अग्न्यभाव इति व्यवहारः । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि प्रतियोगिग्रहणापेक्षा स्यात्तदा । (१३) घटस्वरूपस्यापि । (१४) प्र० ४२२ पं० २ । (१५) धूमविरोधे । (१६) धूमाभावस्येव । (१७) तुलना—‘तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवृत्तिः तेन तद्विरोधमेव, अग्न्यभावे च सति धूमस्य नियमेन निवर्तमानत्वात् धूमाभावेनेव तेनापि तस्य विरोधः । तथाहि यस्मिन् सति यन्नियमेन निवर्तते’—स्या० २० पृ० ५०७ । (१८) अग्न्यभावः—आ० हि० ।

१-धर्मोत्प्ले-ब० । २-प्रहीतुं शक्य -ब० । ३-क्ष एव ब० । ४-तद्विरोधित्वभावस्येव अग्न्य-
सभावस्या-अ० । ५-वस्येव ब० ।

धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वमसिद्धम्, गोपालघटिकादौ तद्भावेऽपि तत्सद्भावप्रतीतिः; इत्यप्यसत्; तत्रापि तत्सद्भाव एव तद्भावसंभवात् । धूमस्य हि भावः आत्मलाभः, स च अनौ सत्येव संवृत्तः, तत्कथं तत्र अग्न्यभावे धूमसद्भावाशङ्कापि ? तर्हि पर्वतादा-
विव गोपालघटिकादावपि धूमोऽग्निं गमयेत्; इत्यप्ययुक्तम्; पर्वतादिधूमो बहलपताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते, 5
न चायं तथा, अतो नास्य अग्न्यनुमापकत्वम् ।

यदप्युक्तम्—‘अविनाभावे सत्यपि न धूमात् पैङ्गल्यमनुमीयते’ इत्यादि; तदप्य-
सङ्गतम्; यतो व्याप्यनुसारेण अनुमानं विधीयते, व्याप्तिश्च अग्नित्व-धूमत्वद्वारेणैवा-
वसीयते न पैङ्गल्यादिधर्मद्वारेण, तेषामानन्त्यात् व्यभिचाराच्च । पैङ्गल्यं हि हरितालकाञ्च-
नादौ व्यभिचरदुपलभ्यते, भासुत्वं सूर्य-तारका-तडिदादौ, द्रव्यत्वं नवस्वपि द्रव्येषु, 10
ऊर्ध्वगतित्वं वील्यादौ, इति अग्निगतानां धर्माणां व्यभिचारः । तथा धूमगतानामपि;
तथाहि—श्यामत्वं नीलाञ्जनादौ, कटुकत्वं त्रिकटुकादौ, अक्षिविकारकारिणं कटुतैलादौ,
कण्ठग्रहित्वम् अपक्वजम्बूफलादौ, ऊर्ध्वगतित्वं वाष्पादौ साधारणं दृश्यते । अतो येन
एकेनैव रूपेण त्रैलोक्योदरवर्त्तिन्यो वह्निव्यक्तयो धूमव्यक्तयः तद्वर्माश्च संगृह्यन्ते तदेव
रूपं व्याप्तिं नियमेन व्यवस्थापयति, तच्च अग्नित्वधूमत्वे मुक्त्वा नान्यद् भवितुमर्हति । 15
न खलु यथा वैस्त्वन्तरसाधारणाः पैङ्गल्यादयः तथा अग्नित्व-धूमत्वे । तद्वाचके चोच्चरिते
शब्दे प्रतिपन्ना त्रैलोक्यविलक्षणः स्वधर्मकलापकलितोऽग्निः धूमश्चार्थः संगृह्यते इति सिद्धा
तद्द्वारेण व्याप्तिः साध्यसाधनयोः ।

ननु यदि अनैयोः वस्तुतो व्याप्तिरस्ति तर्हि प्रथमदर्शनकाले कस्मान्नोल्लिखतीति
चेत् ? आह काभावात् । यत्काले यद्वाहकं नास्ति तत्काले तन्न प्रतिभासते यथा रूपद- 20
र्शनकाले रसः, अग्निधूमयोः प्रथमदर्शनकाले नास्ति च व्याप्तिग्राहकं ज्ञानमिति ।

(१) इन्द्रजालघटादौ । ‘गोपालघटिकादिषु’—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७१ । स्या० २० पृ०
५०७ । (२) अग्न्यभावेऽपि धूमसद्भावप्रतीतिः । (३) अग्निसद्भाव एव । (४) इन्द्रजाल-
घटादौ । (५) गोपालघटिकागतधूमस्य । तुलना—‘पर्वतादिधूमादस्य वैलक्षण्यात् । वह्निमानसमय-
सत्ताकोहिपर्वतादिधूमो बहलः पताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते ’—स्या० २० पृ० ५०७ । (६) पृ० ४२२
पं० ५ । (७) तुलना—‘यतो व्याप्यनुसारेणानुमानं विधीयते, व्याप्तिश्चाग्नित्वधूमत्वद्वारेणैवावसीयते’—
स्या० २० पृ० ५०७ । (८) वात्या—वातुलः ‘बवण्डर आंधी’ इति भाषायाम् । (९) त्रयाणां कटूनां
शुण्ठीमरीचपिप्पलीनां समाहारः त्रिकटुकम् ‘विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते । कटुत्रयं तु
त्रिकटु व्यूषणं व्योष उच्यते ॥’—भाव प्र० ५।६० । (१०) हरितालसुवर्णादयो वस्त्वन्तरम् । (११)
अग्निधूमप्रतिपादके । (१२) अग्नित्वधूमत्वद्वारेण । (१३) अग्निधूमयोः ।

१—भावे तत्त-श्र०, व० । २ धूमस्य श-श्र० । ३—धूमस्य वै-श्र० । ४ नीलोत्पलाञ्जनादौ
व० । ५ एकेन स्वरूपेण व० । ६ तदेकं रू-श्र० । ७ अग्निधूमत्वे श्र० । ८ सिद्धान्तद्वारेण व० ।
९ नास्ति व्या-आ० । १०—कं तर्कस्य ज्ञानमिति व० ।

तत्काले तद्ग्राहकाभावश्च तत्कारणाभावात् सिद्धः । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणम् प्रत्यक्षानु-
पलम्भौ । न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्तः । न च ग्राहकामौवात् तदा व्याप्तेरप्यभावः ;
तदा ग्राहकाभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्, अन्यथा दूरे रूपदर्शनकाले रसस्याप्यभावः
स्याद्विद्वेषोपात् । तदा व्याप्तेरभावे च कथं पश्चात् प्रतिभासेत खपुष्पवत् ?

- 5 अथ अन्वयव्यतिरेकवशात् प्रतिभासेत; ननु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सौ किं जन्यते,
ज्ञाप्यते वा ? न तावज्जन्यते, 'तौ हि प्रमाणम्, न च प्रमाणं प्रमेयमुत्पादयति । अथ
ज्ञाप्यते; तत्रापि किं तर्काले सती सा ज्ञाप्यते, प्रागपि वा ? तत्काले चेत् ; न; अन्वय-
व्यतिरेककाल एव व्याप्तेः सत्त्वे कारणाभावात् । अथ प्रागपि सती ज्ञाप्यते; सिद्धं तर्हि
प्रथमदर्शनकालेऽपि व्याप्तेः सत्त्वमिति कथं सा तद्ग्राहकतर्कश्च अपहूयेत ? प्रतीयमा-
10 नस्याप्यपहूवे रूपादेः तद्ग्राहकज्ञानस्य वाऽपहूवे स्यात् । ततः सिद्धः तर्कः प्रमाणम् ।

एतदेवाह—चिन्ता प्रमाणम् अभिनिबोधस्य फलस्य हेतुत्वात् । अस्य पर्यायमाह—
अनुमानादेरिति । किन्नाम इदमुक्तलक्षणं प्रमाणम् ? इत्यत्राह—श्रुतज्ञानम् इति । कुत एतत् ?
दोषम् अस्पष्टं यतः, 'शब्दानुयोजनात्' इत्येतन्मध्ये करणात् अनेनैव च सम्बध्यते ।
तद्योजनात् यत् पूर्वम् अर्वाग् अस्पष्टम् तद्योजनाच्च यच्छेषमस्पष्टं तत् सर्वं श्रुतज्ञानमिति ।

- 15 तच्च अनेकप्रमेदम् शब्दयोजनान्वितेतराऽस्पष्टज्ञानव्यक्तिभेदानुमानस्यादिति ।
ननु व्याप्तितीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः ; प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा
तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

अधिकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥ ११ ॥
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।

(१) प्रथमं धूमनिर्देशनकाले । (२) तर्कस्य । "तुलना—व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणमुपलम्भानु-
पलम्भौ, न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्तः ।" —स्या० २० पृ० ५०८ । (३) साध्यसाधनसद्भावविषयकं
ज्ञानं प्रत्यक्षम्, साध्याभावसाधनाभावगोचरञ्च ज्ञानमनुपलम्भः । (४) प्रथमदर्शनकाले । (५)
अप्रयोजकत्वात् । (६) यदि ग्राहकामावाद् वस्तुनोऽभावः स्यात्तदा । (७) रसग्राहकस्य रासन-
प्रत्यक्षस्य अभावात् । (८) प्रथमदर्शनसमये । (९) भूयोदर्शनानन्तरम् । (१०) उपलम्भा-
नुपलम्भाभ्याम् । (११) व्याप्तिः । (१२) अन्वयव्यतिरेकग्राहिणौ उपलम्भानुपलम्भावेव अत्र
अन्वयव्यतिरेकशब्देन विवक्षितौ विषयविधर्मस्य विषयेऽप्युपचारात् । (१३) अन्वयव्यतिरेककाले ।
(१४) चाक्षुषादिप्रत्यक्षादेः । (१५) शेषशब्देन । (१६) निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण । (१७) अविनाभावः । (१८)
व्याप्तिग्रहणात् पूर्वमलब्धात्मलाभत्वात् । (१९) तर्कालम्ब्यम् । (२०) "लिङ्गं साध्यसाधनयोरविनाभावः ।
किञ्चिद् ईषवपि । न सम्प्रतीयते न सामस्त्येन ज्ञायते । कया ? अविकल्पधिया निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण
सौगतमिप्रेतेन, यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽपि निजजन्मैव अनन्निजन्मा वा न भवतीत्येतावद्विकल्पविक-
लत्वात्तस्य अन्यथा सविकल्पकत्वापत्तेः । नाप्यनुमानात् ; तस्यैवासिद्धत्वात् व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वादनुमा-
नोत्थानस्य । अनुमानान्तरात्तत्राप्यविनाभावनिर्णये चानवस्थाप्रसङ्गात् । प्रथमानुमानात् द्वितीयानुमाने

1—भावे तदा श्र० । 2—भासेते श्र०, व० । 3—हकस्तर्क—श्र०, व० । 4—अयेन आ० ।

5 सम्बध्यते श्र० ।

विश्रुतिः—नहि प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावक-
स्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्ते-
रविचारकत्वात् । नाप्यनुमानान्तरम्; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य
लिङ्गिना व्यभिचरसिद्धौ कश्चित् किञ्चिदनुमानं नाम । "तत्र अप्रत्यक्षम् अनुमानव्य-
तिरिक्तं प्रमाणम्" [] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ।

लिङ्गं हि साध्येन साधनस्य अविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन् सत्येव लिङ्गस्य
लिङ्गत्वोपपत्तेः । तस्य प्रतिपत्तिः किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात् ? प्रत्यक्षाच्चेत्;
किम् अस्मदादिसम्बन्धिनः, योगिसम्बन्धिनो वा ? प्रथमपक्षे किं स्वसंवेदनात्, इन्द्रि-
यजात्, मानसाद्वा ततोऽसौ प्रतीयेत ? न तावत् स्वसंवेदनात्; तस्य स्वरूपमात्रविष-
यतया बहिरर्थवार्त्तानभिज्ञत्वात् । इन्द्रियमनःप्रभवादपि प्रत्यक्षात् सविकल्पात्, 10
निर्विकल्पाद्वा अविनाभावः प्रतीयेत ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; सविकल्पकप्रत्यक्षस्य
सौगतैः प्रामाण्यानभ्युपगमात् । तदभ्युपगमेऽपि न तैस्तत्र समर्थम्, इत्याह—'न प्रत्यक्षम्'
इत्यादि । प्रत्यक्षं सौगतयौगकल्पितं मानसेन्द्रियलक्षणम् तत्र 'यावान् कश्चिद् धूमः
कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान्
कर्तुं समर्थम् । कुत एतत् ? सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः । सन्निहितः अविप्रकृष्ट- 15
देशकालो यो विषयः अग्निधूमादिः साध्यसाधनव्यक्तिलक्षणः तस्य बलं सामर्थ्यं तेन
उत्पत्तेः । एतेन निर्विकल्पकमपि न तैर् तर्तः तत्रै समर्थमिति प्रतिपत्तव्यम् । अत्रैव
हेत्वन्तरमाह—अविचारकत्वात् इति । न विद्यते विचारः 'यावान् कश्चिद् धूमः स
सर्वोऽग्नेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावात्
तस्यैवात् । चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत् ? 20

व्याप्तिनिर्णय इति चेत्; सोऽयं परस्परश्रयदोषः । तन्नानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तद्ग्राहकं प्रमा-
णान्तरं तर्कस्थम् आञ्जसं पारमार्थिकं न मिथ्याविकल्पात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा अनुमानप्रामा-
ण्यायोगात् ।—लघी० ता० पृ० ३० ।

(१) तुलना—'यदाह नहीदमित्यतो व्यापारान् कर्तुं समर्थमिति ।'—प्रमाणवा० स्व०० टी०
१।४१ । "न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं क्वचित् कदाचिद् भवितुमर्हति सन्निहितवि-
षयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।"—सिद्धिबि०, टी०पृ० १५६ । अष्टज्ञ०, अष्टसह० पृ० ११९ । "यथाहुः—
न हीदमित्यतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।"—शां० भा० भागती
पृ० ७६६ । न्यायवा० ता० पृ० १३७ । (२) उद्धृतमिदम्—प्रमाणसं० पृ० १०१ । (३) तुलना—'सन्निकृष्ट-
विप्रकृष्टयोः साकल्येनेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तर्कः परं शरणम् ।'—सिद्धिबि०, टी०
पृ० २९३ । (४) अविनाभावः । (५) अविनाभावः । (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहणे । (७)
प्रत्यक्षम्—आ० टि० । (८) सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः—आ० टि० । (९) व्याप्तिग्रहणे—आ० टि० ।

१ इति यतो ज० वि० । २—नुमात—ई० वि० । ३ व्यप्तिरसि—ज० वि० । ४ प्रतीयेत
श्र० । ५ तत्त्वाच्च चशब्दो आ०, व० ।

कंस्यचित् परोक्षत्वात्, अपरस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेन अनवस्थानात्, अस्यस्य क्षणिकत्व-
वदकिञ्चित्करत्वात् ।

अत्र यौगा जुवते— साध्यसाधनयोरविनाभावः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते । प्रथमप्रत्य-

प्रत्यक्षेणैव अविना- स्तेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्वतो नियमोऽपि

भावस्यावगतिरिति प्रतिभासत एव । न च तैर्त्रायैतयोऽपि, अर्न्थत एव वेति संशयवि-
शेषानां पूर्वपक्षः— पर्ययौ स्तः; ‘अग्नेरेव अयम्’ इति तत्सम्बन्धित्वेनैव अर्थोऽवसायात् ।

इत्थं प्रथमप्रत्यक्षेण व्याप्तौ प्रतिपन्नयाम् अन्वयव्यतिरेकौ भूयसोपलभ्यमानौ तस्यैव
ज्ञानस्य दार्ढ्यमुत्पादयतः । भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं वा प्रत्यक्षं

व्याप्तिं प्रतिपद्यते । ननु यदि प्रथमप्रत्यक्षेणैव व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि किमित्ययमेनेन नियत

इत्येवंरूपा तदानीमेव व्याप्तिप्रतीतिनोत्पद्यते इति चेत् ? सामर्थ्यभावात् । अनुसन्धानेन

(१) मीमांसकस्य, ऐन्द्रियस्य मानसस्य—आ० टि० । (२) नैयायिकस्य । (३) सीगतमते,
स्वलक्षणस्य—आ० टि० । (४) यथा हि क्षणिकांशे निर्विकल्पकं सञ्जातमपि न तन्निश्चिनोति अतः
क्षणिकांशे अकिञ्चित्करं निर्विकल्पकं तथैव नीलाद्यंशेऽपि । (५) “लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्य-
क्षम्”—न्यायवा० पृ० ४४ । (६) धूमेऽपि । (७) अयं धूमः किमग्नेर्जातः उत अन्यस्मादपि करणात् इति
संशयः । (८) धूमोऽयम् अग्न्यतिरिक्तादव्यस्मादेव कस्माच्चित् कारणाज्जात इति विपर्ययः । (९)
अग्निसम्बन्धित्वेनैव । (१०) धूमस्य । (११) “भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः । ज्ञायते
मेवहानेन क्वचिन्वापि विशेषयोः ॥” —मी० श्लो० अनु० श्लो० १२ । “न ह्यायान्तात्पत्तिः प्रत्यक्षस-
मधिगम्या । कार्याव्यभिचारसमधिगम्या हि सा । अव्यभिचारश्च असङ्गदर्शनपूर्वकः ।”—बृहती० पृ०
१११ । बृह० पं० पृ० ९६ । प्रक० पं० पृ० ७० । न्याय० मा० पृ० ७२ । “भूयोदर्शनबलादपि न भू-
योदर्शादिव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्”— प्रश्न० व्यो० पृ० ५७० । “तस्मादभिजातमपि भेदतत्त्ववत्
भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव भूमादीनां वृत्तयादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्प-
त्त्यामः । एवं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्ब-
न्धग्रहणे प्रमाणान्पुञ्जतव्यापि ।”—न्यायवा० ता० पृ० १६७ । ता० पृ० ५० ६९७ । “तदनेन अन्वय-
व्यतिरेकादेव भूयोदर्शनसहचारिणो तद्ग्रहणोपाय इति दर्शितम् । भूयोदर्शनं हि तज्ज्ञानजनितसंस्कार-
सहितमिन्द्रियमुच्यते । मणिभेदतत्त्वञ्चात्र स्फुटमुदाहरणम् । तथाहि—मणिर्यथैवियस्यैतत्तद्वहवार-
विषयो भवति धारयितुः तत्तत्फलसम्पादकश्चोक्षीयते ते सूक्ष्मविषयोः परोक्षकेण भूयोभिरेव दर्शनैर-
क्षीयन्ते तथात्रापि । प्रथमं हि काकतालीय्युदासाय ततः सातत्योर्ध्वगमनविशेषनिश्चयाय तदचो-
त्पादिविरासाय ।”—प्रश्न० किर० पृ० २९५ । “सहभावदर्शनजसंस्कारसहचारिणा निरस्तप्रतिपक्षशेकेन
चरमप्रत्यक्षेण भूमसामान्यस्य अग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभावं निश्चित्य इदमेनेन नियतमिति
नियमं निश्चिनोति । यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीतः तथापि न नियमग्रहणम् । न हि सहभाव-
मात्रान्नियमः अपि तु निष्पादिकसहभावात् । निष्पादिकत्वञ्च तस्य भूयोदर्शनाभ्यासावज्ञेयमित्येतेन
भूयःसहभावग्रहणबलभूवा सविकल्पकप्रत्यक्षेण सोऽध्यवसीयते ।”—प्रश्न० कण्ड० पृ० २०९ । “व्यभि-
चारज्ञानविरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम् । ज्ञानं निश्चयः, शंका च । सा च क्वाचिदुपाधि-
सन्नेहात्, क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात् । तद्विहृद्श्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात् क्वचित्
स्वतः सिद्ध एव ।”—तत्त्वचि० अनु० पृ० २१० ।

१—भासमानात् ब० । २ न तत्रा—श्र० । ३ तत्रान्यतोप्यन्यत एवेति आ०, तत्राप्यन्यत एवेति ब० ।

हि व्याप्तिरित्युच्यते । अनुसन्धानञ्च सक्तुदेकेन सहितस्यैव ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण सहितस्यैव ग्रहणम् । एतच्च भूयोदर्शनस्यैव उत्पद्यते । अन्वयव्यतिरेकौ च प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थौ युक्तावेव । अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देहः—“किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियमः, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः ?” इति । तत्र तार्णत्वादयः सम्बन्धिनो व्यभिचारिणः, श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षाः, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम् । तस्मिन् सति न कदाचिदग्नित्वं व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्वयव्यतिरेकवतो विस्फारिताक्षस्य अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षाकारतया उपजायमानत्वात् विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—“प्रत्यक्षेणैव अविनाभावः प्रतीयते” इत्यादि; तत्र किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्तते ? न तावद् ऐन्द्रियम्; तद्धि येनार्थेन प्रतिनियतदेशकालादिना इन्द्रियं सम्बध्यते तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकाल-परिगतार्थाक्षेपेण अवस्थितत्वात् । स हि गृह्यमाणा त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् अतीतानागतवर्त्तमानाऽशेषार्थानामुपसंहारेण गृह्यते । यतो व्यापनं व्याप्तिः, सर्वासां व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च क्रोडीकरणम् । न च तत्रैव इन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामर्थ्यं वा संभवति; वर्त्तमाने नियत एवार्थे तत्संभवात् । न च विश्वोदरवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वाः तेन सम्बद्धा वर्त्तमाना वा, तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्; भूमिवनवर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधूमव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्—प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्वतो नियमोऽपि प्रतिभासते” इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतः पुरोदृश्यमाने नियताग्नि-

(१) महानागिनना—आ० टि० । (२) धूमस्य । (३) चत्वराम्निना । (४) अनुसन्धानम् । (५) अन्वय—आ० टि० । (६) व्यतिरेक—आ० टि० । (७) तृणनिमित्तकटादिष्वपि भावात् । (८) ५०४२८ पं० ३ । (९) तुलना—“तत्र किमैन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रवर्तते ?”—स्या० २० पृ० ५१० । (१०) तुलना—“न तावत्प्रत्यक्षम्; सन्निहितदेशवर्त्तमानकालवस्तुविषयनियमात् । येन हि प्रमाणेन सर्वदेशेषु च धूमादीनामग्न्यादिसम्बन्धोऽवगम्यते, तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते । न च प्रत्यक्षं तत्र समर्थम् ।”—प्रक० पं० ५० पृ० ६८ । अष्टसह० पृ० ४३ । प्रमेयक० पृ० ३४६ । स्या० २० पृ० ५१० । चित्तु० पृ० २३८ । (११) सर्वोपसंहारेण । (१२) व्याप्तिः । (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिषु । (१४) सम्बन्ध-ग्रहणसामर्थ्ययोः संभवात् । (१५) इन्द्रियेण । (१६) विश्ववर्तिषु व्याप्यव्यापकव्यक्तिषु । (१७) भूमिगृह—आ० टि० । (१८) ५०४२८ पं० ३ । (१९) समक्षीभूते महानागिना ।

सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत्, अनियताखिलाग्निसम्बन्धित्वेन वा ? प्रथमपक्षे कथं प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? प्रतिनियतव्यक्तौ व्याप्तेरेवाऽसंभवात्, तस्याः सर्वाक्षेपेण पर्थवसानात् । द्वितीयपक्षे तु आस्तां प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षशतैरपि न व्याप्तिः प्रत्येतुं शक्या, तेषां सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽ-
५ ग्नौ' एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्तावसमर्थत्वात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्षः प्रत्युक्तः ।

नाप्यन्वयव्यतिरेकसहकृतं तैत्तां प्रतिपत्तुं समर्थम्; यतः तत्सहस्रकृतस्याप्यस्य यत्रैव स्वयं प्रवृत्तिः तत्रैव तत्प्रतिपत्तिर्वदते न पुनः 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः, यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्रैव व्याप्तिप्रतिपत्तौ वैयर्थ्यम् ।
१० अनुमानार्थं हि सां दृश्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपन्ने साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे किमुत्तमानेन ?
अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिः, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अतिशयाधानं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः, स्वार्थातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्वस्य कचिदप्यप्रतीतेः । न खलु प्रदीपसहकृतं चक्षू रसादौ प्रवर्त्तमानं प्रतीयते । स्वेविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वे
१५ सिद्धे सिद्ध्येत् । तत्रैव असिद्धम्, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात्तस्य । न च तैत्सहकृतस्यापीन्द्रियजाध्यक्षस्य कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणाध्यर्थान् गृहीयात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनावगाताऽन्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इति प्रत्युक्तम् । किञ्च, इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा । न तावद् विद्यमानत्वात्; रसादेरपि चाक्षुषत्वानुषङ्गात्, व्याप्तिवद् धूमादौ
२० तैत्सत्त्वस्याप्यविशेषात् । नापि स्वविषयत्वात्; तस्याः तद्विषयत्वानुपपत्तेः । अनियत-विषया हि व्याप्तिः, [तां] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं प्रतिपद्येत ?

(१) तुलना—'यतः पुरोदृश्यमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूमः प्रथमप्रत्यक्षे प्रतिभासेत्, सकलाग्निसम्बन्धित्वेन वा ?"—स्या० २० पृ० ५१० । (२) व्याप्तेः । (३) प्रत्यक्षाणाम् । (४) सत्येव भवति अन्यभावे तु कदाचिदपि न भवतीत्यध्याहार्यम् । (५) पृ० ४२८ पं० ७ । (६) प्रत्यक्षम् । (७) सहस्रशः अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्यापि प्रत्यक्षस्य । (८) व्याप्तिः । (९) प्रत्यक्षविषयवीभूते धूमान्निव्यक्तिविशेषे । (१०) व्याप्तिप्रतिपत्तिः । (११) तुलना—'अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वं हि प्रत्यक्षस्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिः, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यामतिशयाधानं वा ?"—स्या० २० पृ० ५११ । (१२) अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वम् । (१३) अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्य । (१४) पृ० ४२८ पं० ८ । (१५) तुलना—'किञ्च, इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ?"—स्या० २० पृ० ५११ । (१६) इन्द्रियप्रभवः । (१७) यथा धूमादिवु व्याप्तिरस्ति एवमाग्नादौ रसादित्वमपि—आ० टि० । (१८) व्याप्तेः । (१९) प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः । (२०) तुलना—'अनियतविषया हि व्याप्तिरिति कथं नियतविषयेन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षां प्रतिपद्येत ?"—स्या० २० पृ० ५११ ।

यद्व्यभिहितम्—‘अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरुल्लिख्यते, तर्कं भूयोदर्शनादर्श-
नैरेव उपपद्यते’ इत्यादि; तदुपपन्नमेव; उपलब्धानुपलम्भप्रभवस्यैव ज्ञानस्य अस्माभिः
व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपक्रान्तत्वात् । प्रत्यक्षरूपता तु तस्यै अनुपपन्ना,
विभिन्नसामग्रीविषयत्वात् । तैद्धि इन्द्रियादिसामग्रीकं सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयश्च प्रसिद्धम्,
नचेदं^१ तथा इति कथं प्रत्यक्षरूपतां प्रतिपद्येत ?

ननु सामान्यस्य व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकत्वात्, तस्य च इन्द्रियेण सम्बद्धत्वात्
वर्त्तमानत्वाच्च कथन्न व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षम् ? इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतः किं
सामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उत तदुपलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषैः ? तत्र
आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये सिद्धसाधनतोऽनुमानवैफल्य-
प्रसङ्गात् । तदुपलक्षितविशेषाणां तु आनन्त्यात् कथं सम्बद्धवर्त्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य 10
प्रत्यक्षता स्यात् ?

एतेन ‘भूयोदृष्टान्वय’ इत्यादि^२ प्रत्युक्तम्; विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्ध-
वर्त्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तैद्धिपर्ययात् इत्यसकृ-
दावेदितम् । अथ अस्य अप्रत्यक्षत्वे कथम् ‘इन्द्रियापेक्षा’ इत्युच्यते ? ‘तत्कारणकारण-
त्वात्’ इति ब्रूमः । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणं प्रत्यक्षानुपलम्भौ तयोश्च इन्द्रियमिति । तत्र 15
इन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम् ।

नापि भौतसम्; भौतसो ब्राह्मेन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरर्थे प्रवृत्त्यभावात् । “अस्वतन्त्रं

(१) प्र० ४२८ पं० १० । (२) अनुसन्धानम् । (३) तर्कत्वस्य-आ० टि० । (४) जैनैः ।
(५) उपलब्धानुपलम्भजन्य तर्कस्य । (६) प्रत्यक्षम् । (७) तर्कस्य ज्ञानम् । (८) धूमत्वस्य
अग्नित्वस्य च । (९) संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावात्, चक्षुःसंयुक्ते अग्नी धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य
च समवायात् । (१०) सामान्योपलक्षित । (११) अग्निधूमसामान्ययोः महानसादावेव प्रत्यक्षसिद्ध-
त्वात् । (१२) विशेषस्यैव साधनीयत्वात्-आ० टि० । (१३) प्र० ४२९ पं० ६ । (१४) सकल-
साध्यसाधनव्यवितविषयतया सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरत्वाभावात् । (१५) व्याप्तिज्ञानस्य-आ० टि० ।
(१६) “तत्र केचिदाचक्षते मानसं प्रत्यक्षं प्रतिबन्धग्राहीति । प्रत्यक्षानुपलम्भभ्यामनलसहचरितमनग्ने-
श्च व्यावर्त्तमानं धूममुपलम्भं विभावसौ नियतो धूम इति मनसा प्रतिपद्यते । मनश्च सर्वविषयं
केन वा नामुपेयते असिंहितमप्यर्थमवधारयितुं क्षमम् । ...भावाभावसाहचर्यमवधार्य मनसा नियम-
ज्ञानसिद्धेरित्यलं निर्वन्धेन ।”-न्यायसं० पृ० १२१, १२३ । “तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहाय्यान्मा-
नसात् प्रत्यक्षात् । धूममग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलम्भानग्नेश्च जलादेर्व्यवर्त्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा
मनसा निदिचनोति धूमोऽग्नित्वा व्यभिचरतीति ।”-न्यायकलि० पृ० ३ । (१७) तुलना-“प्रत्यक्षं
मानसं येषां सम्बन्धं लिङ्गलिङ्गिनोः । व्याप्त्या जानाति तेप्यर्थोऽतीन्द्रियं किमु कुर्वते ॥ यत्राक्षाणि प्रवर्तन्ते
मानसं तत्र वर्तते । नोऽप्यत्राक्षदिवैधर्म्यप्रसंगात् सर्वदेहिनाम् ॥”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७९ । “न वाती-
तानागतानां व्यक्तीनां मनसा सङ्कलनमिति न्यायम्; मनसो बहिरर्थं स्वातन्त्र्ये अन्धबधिराद्यभावात्प्र-
सङ्गात् ।”-प्रश० कन्ध० पृ० २१० । “मनस्वेदहिविषये कारणान्तरनिरपेक्षं प्रवर्तते तदा सर्वः सर्वदर्शो
स्यादविशेषात् ।”-प्रक० पं० पृ० ६९ । बृह० पं० पृ० ९५ । न्याय० मा० पृ० ५८ । प्रमेयक० पृ०
३५१ । स्या० २० पृ० ५११ ।

बहिर्मनः” [] इत्यभिधानात् । व्याप्तिश्च बहिरर्थधर्मत्वाद् बहिरर्थः, यो बहिरर्थधर्मः स बहिरर्थः यथा रूपदिः, बहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति । भवत्कल्पितस्य मनसः षट्पदार्थपरीक्षायां प्रतिषेधतोऽसत्त्वाच्च कथं तद्वच्च प्रत्यक्षतां प्रतीयात् । सत्त्वे वा न अणुस्वभावस्यास्यै अशेषार्थैः सकृत् सम्बन्धसंभवः, यदणुस्वभावं न तत् सकृदशेषार्थैः सम्बन्धयेत् यथा परमाणुः, अणुस्वभावश्च भवत्कल्पितमन इति । अथ साक्षात् मनसोऽशेषार्थैः सम्बन्धभावेऽपि परम्परयाऽसौ भविष्यति; तथाहि—मनसा साक्षात् संयुज्यते आत्मा तेन च संयुक्ताः सर्वेऽग्न्यादयो धूमादयश्च साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति; तदप्यपेक्षलम्; एवं सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गात्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सर्वार्थानां मनसा सम्बद्धसंबं (सम्बन्धसम्बन्धसं) भवात् ।

किञ्च, असौ सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनसः सद्भिरेव अर्थैः स्यात् नाऽसद्भिः; तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? न चात्मनो व्यापित्वं सिद्धम्, तस्यै षट्पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषेधात्, तत्कथं सम्बन्धसम्बन्धगन्धोऽपि स्यात् ? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयोः भवता व्याप्तिः प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थानं साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्त्यनिश्चयात् । तन्न सौगतमते यौगमते वा ऐन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्ति-

प्रतिपत्तेरङ्गमिति स्थितम् ।

एतेन योगिप्रत्यक्षस्यापि अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गत्वं प्रत्याख्यातम्; तस्याप्यविचारकतया कारणभूतप्रतिनियतसन्निहितार्थगोचरचारितया चैतार्थतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वाविशेषात् । अस्तु वा ततः तत्प्रतिपत्तिः; तथापि—योगी^{१६} प्रत्यक्षतो नृत्याति

(१) तुलना—“परतन्त्रं बहिर्मनः ।”—विधिवि० पृ० ११४ । लौकिकन्या० वृ० पृ० ८२ । उद्धृतमिदम्—स्या० २० पृ० ५११ । (२) योगपरिकल्पितस्य । (३) पृ० २६९ । (४) मनोभवज्ञानम् । (५) मनसः । (६) सम्बन्धः । (७) आत्मव्यापकत्वप्रयुक्तसंयुक्तसंयोगवशात् अशेषधूमनिग्न्यक्तीनां मनसा सम्बन्धकल्पने । (८) परम्परसम्बन्धः, मनःसंयुक्त आत्मा तेन च संयुक्ताः सर्वेऽर्थे इति । (९) तुलना—“किञ्चासौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सद्भिरेवार्थैः नासद्भिरीतानागतैः तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?”—स्या० २० पृ० ५१२ । (१०) अतीतानागतदेशकालभारवैरिति—आ० टि० । (११) आत्मनो व्यापित्वस्य । (१२) पृ० २६१ । (१३) तुलना—“अन्ये तु व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपत्तुयोगिनं इवाशेषविषयं परिज्ञानमस्तीति ब्रुवते । अन्यथा हि सर्वो धूमोऽग्निं विना न भवतीति व्याप्तिस्मरणं न स्यात् । विवेकेन चाप्रतिभासः समानाभिध्याहारात् यथा धान्यराशिश्चिन्ताया धान्यव्यक्तेरिति ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७० । “यस्तु मन्यते प्रज्ञाकरगुप्तः योगिज्ञानं व्यतिज्ञानमिति ।”—सिद्धिवि० टी० पृ० १०५ B. (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि । (१५) यावान् कश्चिद्भूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्मा अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येतावतः (१६) तुलना—“योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिरिति व्युत्पत्तिरिति युष्मत् । सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिनः ज्ञानं प्रति ॥ योगिनोऽपि प्रति व्यर्थं स्वस्वार्थानुमित्ताविव । समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥”—तत्त्वार्थं श्लो० पृ० १७९ । प्रमेयक० पृ० ३५१ ।

1 तत्प्रभवं व० । 2 सम्बन्धसंभवात् व० । 3 सम्बद्धसम्बन्ध-आ० । 4 सम्बद्धसम्बन्ध-आ० ।

5 वेता-व० ।

प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विदध्यात्, परार्थं वा ? न तावत् स्वार्थम्; सकलसाध्यसाधन-
व्यक्तिविशेषाणां प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य अफलत्वात् । यत् प्रत्यक्षतः
परिस्फुटतया प्रतिपन्नम् न तत्र अनुमानं फलवत् यथा प्रत्यक्षस्वरूपे, प्रत्यक्षतः परि-
स्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निखिलाः साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति । न च तर्था
तैत्तिप्रतिपन्नेष्वप्येतेषु समारोपव्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्; योगिनो
विधूतकल्पनाजालतया समारोपस्यैवाऽसंभवात् । अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्; ननु
गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत् ? यदि गृहीत-
व्याप्तिकम्; कुतस्तेन गृहीता व्याप्तिः ? न तावत् स्वसंवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानैः; तेषां
तद्विषयत्वप्रतिपादनात् । नापि योगिप्रत्यक्षेण; अनुमानानर्थक्यानुपपत्त्यात् । अगृहीत-
व्याप्तिकस्य च प्रतिपादानुपपत्तिः अतिप्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चिदपि प्रत्यक्षात् साध्य-
साधनयोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं शक्या ।

अतः सूक्तम्—‘अविकल्पधिया’ इत्यादि । न विद्यते विकल्पः स्वपरव्यव-

कारिका-विवृत्योर्व्या-
ख्यानम्—

सायो यस्याः सा चासौ धीश्च तथा परोक्षया ज्ञानान्तरानुभवनिश्चया-
त्मिकया च न किञ्चित् स्वभावविषयं कार्यादिविषयं वा लिङ्गम्

अविनाभावः सम्प्रतीयत इति । तर्हि अनुमानात् तत्सम्प्रतीयते

इत्यत्राह—न अनुमानात् ‘लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम्’ इत्येवं लक्षणात् तैत्तिप्रतीयते;
तथाहि—प्रथमानुमानं हेतोः अविनाभाववाचसाये समर्थम्, अनुमानान्तरं वा ? तत्राद्य-
पक्षोऽनुपपन्नः; तदेतन्मानस्य असिद्धत्वात् । अत एव तैत्तिप्रतीयते अन्योन्याश्रयः—
सिद्धे हि हेतोरविनाभावे ततस्त्वेदुत्पत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च हेतोरविनाभावसिद्धिरिति ।
नाप्यनुमानान्तरम्; यतः तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावान् हेतोरुपपद्यते, तैत्तिप्रतिपत्तिश्च
तत्र प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे दूषणमाह—‘सर्वत्र’ इत्यादि । सर्वत्र
प्रथमानुमानवत् द्वितीयेष्वनुमाने अविशेषात्, ‘न प्रत्यक्षम्’ इत्यादेर्दोषस्य उभेदात् ।
अनुमानतोऽपि तत एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? यदि तत एव; अन्योन्याश्रयः ।

(१) अनुमानस्य । (२) परिस्फुटतया । (३) योगिप्रत्यक्षज्ञातेष्वपि साध्यसाधनव्यक्ति-
विशेषेषु । (४) “प्रागुक्तं योगिनां तेषां तदभावनामयम् । विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥” —
प्रमाणवा० २।२८१ । “सत्यस्वरूपविषयत्वेन विधूतकल्पनाजालम् अविकल्पकत्वाच्च स्पष्टं विषादज्ञेया-
कारमेवावभासते ॥” —प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८१ । (५) तुलना—“तर्हि योगी परार्थानुमानेन
गृहीतव्याप्तिकमगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत् ॥” —प्रमेयक० पृ० ३५१ । (६) परेण प्रतिपाद्येन ।
(७) व्याप्त्यविषयत्वं । (८) सकलसाध्यसाधनयोः स्पष्टं प्रतिभातत्वात् । (९) मीमांसकमते ।
(१०) नैयायिकमते । (११) लिङ्गम्—अविनाभावः । (१२) प्रकृतानुमानस्य व्याप्तिप्रहणात्पूर्वमलब्ध-
स्वरूपत्वात् । (१३) अनुमानसिद्धौ । (१४) अनुमानोत्पत्तिः । (१५) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमा-
नान्तरे । (१६) समानत्वात् । (१७) सिद्धायां हि व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनुमानोत्थानम्, सति च अनु-
मानात्मलाभे व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति ।

१—नर्थक्यप्रसङ्गात् श्र० । २ एतदनन्तरं व० प्रती ‘अविकल्पधिया’ इति कारिकाऽपि लिखिता
समस्ति । ३ स्वरूपव्यव—श्र० । ४ ‘कार्यादिविषय’ नास्ति व० । ५ सिद्धे हेतो—श्र० ।

- अथाऽन्यतः; तदा अनवस्था—तदुत्थापकहेतावप्यनुमानान्तरात्तत्पत्तिप्रसङ्गात् । तत्र कुतश्चित् परस्य प्रतिबन्धसिद्धिः । मा भूत्, किं तथा ? इत्यत्राह—‘नहि’ इत्यादि । न खलु साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद् अनित्यत्वादौ बह्वयादौ वा साध्ये व्यवहारे परमार्थे वा किञ्चित् स्वभावलिङ्गजं कार्यादिलिङ्गजं वा अनुमानन्नाम ।
- ५ इदमत्र तात्पर्यम्—यथा अनुमानमन्तरेण न किञ्चित् साध्यं सिद्धयति इति तदर्थमनुमानमिष्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिव्याप्तिसिद्धिमन्तरेण तदपि न सिद्धयति इति तदर्थं सांप्रि इष्यतामविशेषात् । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘तन्न’ इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् न अप्रत्यक्षं परोक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणमस्ति किन्तु अनुमानमेव’ इत्युक्तम्, लिङ्गप्रतिपत्तेः अविनाभावप्रतिपत्तेः तर्कख्यायाः प्रमाणान्तरत्वाद् अलिङ्गजाऽऽ-
 १० विशदस्वभावतया प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात् । ततः सूक्तम्—‘चिन्ता प्रमाणम् अनुमानादेर्हेतुत्वात्’ इति । कीदृशं तदनुमानम् ? इत्याह—

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥ १२ ॥
 लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः ।

(१) अन्यानुमानोत्थापक । (२) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (३) अनुमानमपि । (४) अनुमानसिद्धयर्थः । (५) व्याप्तिसिद्धिरपि । तुलना—“तर्कसंवादसन्देहे निःशङ्कानुमतिः क्व ते ।”—तत्त्वार्थ-
 श्लो० पृ० १९५ । (६) ‘तन्नाप्रत्यक्षम्’ इत्यादि बोधोक्तं वाक्यम् । (७) अनुमानप्रत्यक्षरूप । (८) व्याख्या—“अनुमानं प्रमाणं भवति । किम् ? लिङ्गिधीः लिङ्गिनः साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थः । लिङ्गमविनाभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति लिङ्गीति विग्रहात् । तस्योत्पत्तिकारणमाह लिङ्गात् साध्यात् । साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्, साध्येन इष्टाबाधितासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽन्यथातुपपत्तिनियमः तस्य अभितो देशकालान्तरव्याप्त्या निबोधो निर्णयः स एकं प्रधानं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं तस्माल्लिङ्गादुत्पद्यमाना लिङ्गिधीरनुमानमित्यर्थः । नन्वस्य तर्कफलत्वात्कथं प्रमाणत्वमित्याशङ्क्याह—
 तत्फलं हानादिबुद्धयः, हानं परिहारः आदिशब्देन उपादानमपेक्षा च गृह्यते । तासां बुद्धयो विकल्पाः तस्य अनुमानस्य फलं भवन्ति, ततः फलहेतुत्वादनुमानं प्रमाणं प्रत्यक्षवदित्यभिप्रायः ।”—लघी० ता० पृ० ३१ । (९) “अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥”
 —प्रश० भा० पृ० २०० । “उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः । तथा वैधर्म्यात् ।”—न्यायसू० १।१। ३४-३५ । “हेतुस्त्रिरूपः”—न्यायप्र० पृ० १ । “पक्षधर्मस्तद्वशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिरूपः सः । अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥”—हेतुवि० प्र० परि० प्रमाणवा० ३।१ । तत्त्वसं० का० १३६२ । “त्रिरूपो हेतुः ।”—सांख्यका० भा० पृ० १२ । “साधनत्वव्यापकं लिङ्गवचनं हेतुः ।”—न्यायसा० पृ० ५ । “अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलक्षणमीरितम् ।”—न्यायवा० श्लो० २२ । “साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्”—प्रमाणसं० पृ० १०२ । न्यायवि० का० २६९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४ । परीक्षाभा० ३।१५ । “तथा चाभ्युधायि कुमारनन्दिभट्टटारकः—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते ।”—प्रमाणप० पृ० ७२ । “निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ।”—प्रमाणनय० ३।९ । “साधनत्वाभि-
 व्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ।”—प्रमाणमी० २।१।१२ । (१०) “लिङ्गदर्शनात्संजायमानं लैङ्गिकम् ।”—प्रश० भा० पृ० २०० । “अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरजसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः ।”—शाबरभा० १।१।१५ । “प्रतिबन्धवृक्षः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।”—सांख्यसू० १।१०० । “अनुमानं मितेन लीगेन अनु पश्चान्मानम् ।”—न्यायवा० पृ० २८ । “तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये

विवृतिः—नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।

लिङ्गात् हेतोः । किंविशिष्टात् ? इत्याह—“साध्य” इत्यादि । साध्येन इष्टाऽबाधिताऽसिद्धविशेषणविशिष्टेन अविनाभावो व्याप्तिः, 5
कारिकाव्याख्यानम्—
तस्य अभि समन्तात् निबोधो निश्चयः एकं प्रधानं लक्षणं यस्य तस्मात् मुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः । लिङ्गिनि साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने वा धीः ज्ञानम् अनुमानम् ।

ननु “प्रयुज्यमाने साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि” इत्युक्तम् ; पक्षस्य प्रयोजनाभावतः प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रति- 10
पगच्छतो बौद्धस्य पत्त्युपपत्तेः । अथ तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजन-
प्रतिविधानम्—संभवात् तदसंभवोऽसिद्धः; तन्न; तस्य तत्प्रतिपादनासंभवात् । स

ज्ञानं तदनुमानम् ।”-न्यायबि० २।३ । “सम्यगविनाभावेन पदोक्तानुभवसाधनमनुमानम् ।”-न्यायसा०
पृ० ५ । “साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चयकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समज-
वत् ॥”-न्यायबि० श्लो० ५ । “साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं”-न्यायबि० का० १६७ । तत्त्वावश्लो०
पृ० १०७। प्रमाणप० पृ० ७०। परीक्षामु० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी०
पृ० २०। जैनतर्कभा० पृ० १२ । (११) तुलना—“तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रतितिरग्निज्ञानम् । अथवा
जनिज्ञानमेव प्रमाणम्, प्रतितिरग्नी गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।”-प्रश० भा० पृ० २०६ ।

(१) तुलना—“पक्षः प्रसिद्धो धर्मि, प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेषितः,
प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।”-न्यायप्रवे० पृ० १ । “स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽग्निराकृतः पक्ष
इति ।”-न्यायबि० पृ० ७९ । “न्यायमुखप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेषितः पक्षो विरुद्धार्थोऽग्निराकृतः
इति पाठात्”-प्रमाणवातिकालं परि० ४ । “साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यग्निराकृतः ।”-न्यायबि०
श्लो० १४ । “साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्”-न्यायबि० श्लो० १७२ । “इष्टमबाधितमसिद्धं
साध्यम्”-परीक्षामु० ३।१५ । “अप्रतीतमग्निराकृतमभीषितं साध्यम्”-प्रमाणनय० ३।१२ । “सिंहा-
ध्यायितमबाध्यं साध्यं पक्षः ।”-प्रमाणमी० १।२।१३ । (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् हेतोः पक्षधर्म-
त्वसमर्थनाद्वा अर्थादापत्तेः । (३) “तत्पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने । प्रमाणं संशयोत्पत्तस्ततः
साक्षान्न साधनम् । साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम् । ननु—अव्यापिते हि विषये हेतुवृत्तेर-
संभवात् । विषयव्यापनदेव सिद्धौ चेत्तस्य शक्तता ॥ उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतकः शब्द ईदृशाः ।
सर्वेऽन्तित्या इति प्रोक्तेप्यर्थात्साध्याधीर्भवेत् ॥ अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिवचनः । त्रिष्वन्यतम-
रूपस्यैवानुक्तितन्मूर्ततादिता ॥”-प्रमाणवा० ४ । १६-२३ । हेतुबि० प्र० परि० । “अथवा तस्यैव
साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं
व्यर्थमभिधानात् । ननु च विषयोपदर्शनाय प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव ; न ; वैयर्थ्यात् असत्यपि
प्रतिज्ञावचने यथोक्तात् साधनवाक्याद् भवत्येवेष्टार्थसिद्धिरित्यपार्थक्यं तस्योपादानम् ।”-वादव्याप्य पृ०
६१-६५ । “द्वयोरन्यतयोः प्रयोगे नावश्यं पक्षनिर्देशः । यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदु-
त्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयोः तस्मात् पक्षोऽवश्यमेव न निर्देश्यः । अथ यदि पक्षो न निर्देश्यः

हि केवलः सौध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्याससमन्वितो वा ? यदि केवलः; हेतूपन्यासो
व्यर्थः, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव तत्प्रतिपत्तेः संज्ञातत्वात् । अथ हेतूपन्याससमन्वितः;
तर्हि हेतोरेव तत्र सामर्थ्योपपत्तेः किं तत्प्रयोगेणेति ?

अत्रोच्यते—पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धित्वादप्रयोगः; प्रकृमात् तैत्संसिद्धेः,
5 प्रयोजनाऽप्रसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य तत्प्रसाधकत्वाद्वा ? न तावत् तत्सिद्धि-
प्रतिबन्धित्वात्; वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विप-
क्षप्रसाधकत्वतः तत्प्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः । यत् यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे
तद्विपक्षप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिबन्धकम् यथा धूमे काष्ठादिकम्, सम्यक् साधनतः
स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षप्रसाधकश्च प्रतिज्ञाप्रयोग इति ।

10 प्रकृमात्तत्सिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वादावप्यविशिष्टा, तैत्सस्याप्यप्रयोगप्रसङ्गः ।
नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने कृतकत्वादिहेतुः घटादिदृष्टान्तश्च प्रकृमात्रं सिद्धयति ।
तथाविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराधः कृतः येनास्य तथाविधस्याभिधानं नेष्यते ?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वञ्च असिद्धम्; प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्प्रसाध्यप्रयोजनस्य
सद्भावात् । प्रतिपाद्यो हि कश्चिन् मन्दमतिः कश्चिन्तीव्रमतिः । तत्र यो मन्दमतिः न
15 तस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिविशेषः प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि नैयायिकादेः
पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नसङ्कतस्यामन्दमतेरपि । तदप्रयोगे तेन निग्रहस्थानाभिधानात् ।
“हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्” [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात् । तीव्रमतेस्तु तत्प्रयोग-
मन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतिस्तस्य वैयर्थ्यं हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्यं
स्यात्, निश्चितताऽविप्रतारकपुरुषवचनाद् ‘अग्निरत्र’ इत्यादिप्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव
20 कैस्यचित् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् ? न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु असाध्यं केचित् साध्यं
साध्यं चासाध्यं प्रतिपत्ताः, तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् ।—न्यायबि० टी०
४० ७७-७९ । “असाधनाङ्गभूतत्वात् प्रतिज्ञानुपयोगिनी ।”—तत्त्वसं० ४० ४१८ ।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्तेः । (२) साध्यार्थप्रतिपत्ती । (३) तुलना—“तस्यावचनं साध्यसिद्धि-
प्रतिबन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्वा ?”—प्रमेयक० पृ० ३७३ । “कथञ्च पुनरस्याः साधनाङ्गत्वं किं सर्वथैव
कथास्वतुपयोगात्, अथोपयुक्तस्याप्यन्यथैव परिग्रहात् ?”—प्रश० किर० पृ० ३३५ । (४) प्रकरणात् ।
(५) पक्षप्रयोगसंसिद्धेः । (६) प्रयोजन । (७) स्वपक्षविरुद्धासाधकत्वात् । (८) साध्यसिद्धि । (९)
यतः हेत्वादीनामपि प्रकरणादेव सिद्धिस्ततः । (१०) प्रकरणात् सिद्धस्यापि (११) तुलना—“तत्प्रयोगे
प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३७३ । स्या० २० पृ० ५५० । (१२)
प्रतिज्ञाया अप्रयोगे । (१३) नैयायिकेन । (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग । (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना—
“अविप्रतारकतानिश्चितपुरुषवचनमात्रादपि ‘अग्निरत्र’ इत्यादिरूपात् क्वचित् प्रमेयोर्थः सिद्धयतीति
हेतोरेव साधनताप्रसङ्गात् तद्विरहेणापि साध्यसिद्धेः ।”—न्यायबि० टी० पृ० ४७ । (१७) तीव्रमतेः श्रद्धालोः ।

1 सामर्थ्यं प्र-अ० । 2 संज्ञानत्वात् ब० । 3 पक्षमात्रसिद्धेः श्र० । 4-अ प्रसि-ब० ।
5 नियासकादेः ब० ।

एतेन हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोजनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि प्रत्याख्यातम्; नियमा-
भावात् । कचिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केवलस्यैव पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्ति-
विशेषलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रतीतेः ।

किञ्च, हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिकत्वादिदोषानुषङ्गः, तन्मन्तरेण
तत्र वास्तवगुणदोषविवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यथैव हि लक्ष्यनिर्देशं विना धानु- 5
ष्कस्य इष्टं प्रतिक्षिपतो गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेक्षकजनानां व्यामोहात्
प्रतिभाति, तन्निर्देशे तु तद्गुणो लक्ष्यवेधप्रावीण्यलक्षणः तद्विपरीतत्वलक्षणश्च दोषः
तेषां यथावत् प्रतिभाति, एवं पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतावपि 'किमयं हेतुः
साध्ये एव वर्तते तदभावे वा' इत्याशङ्ककलङ्कितत्वादनैकान्तिकः, 'विपक्ष एव वर्त्तिष्यते'
इति विपरीताशङ्काऽनिवृत्तेः विरुद्धो वा स्यात् । पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे धानुष्कवत् 10
यथावत्तद्गुणदोषयोः प्रतिपत्त्युपपत्तेः न कश्चिद् दोषः ।

यदप्यभिहितम्—'केवलस्यैव पक्षस्य साध्यप्रतिपादनसामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थः'
इति; तदप्यभिधानमात्रम्; एकाकिनः कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीतेः । न खलु बीजादेः
केवलस्यैव अङ्कुरादिकार्यकरणे सामर्थ्यं दृष्टम् । नाप्येकस्य तत्र सामर्थ्ये अन्येषां वैय-
र्थ्यम् । कैथञ्चैवं हेतोः केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्थनस्य उपनयादेक्ष वैय- 15
र्थ्यञ्च स्यात्? पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेत्वपेक्षणाञ्च तत्सिद्धिनिबन्धनत्वम्; इत्यप्यसुन्दरम्;
भैवकल्पिताऽविकल्पकाध्यक्षस्याप्यर्थसिद्धिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् तत्सिद्धौ तस्य
विकल्पापेक्षणात् । अथ 'तत्प्रतिपन्नमेवार्थं विकल्पो व्यवस्थापयति' इत्युच्यते; तर्हि

(१) तुलना—'तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतुगोचरदीपकः ॥ अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः ।
प्रत्याप्यस्य भवेद्धेतुविरुद्धारोक्तो यथा ॥ धानुष्कगुणसंप्रेक्षजनस्य परिविध्यतः । धानुष्कस्य विना
लक्ष्यनिर्देशेन गुणतरी ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विपक्षे एवायं वर्तते इति व्यामोहाद् विरुद्धदूषणम-
भिदधीत, पक्षोपन्यासात् निर्णीतहेतुगोचरस्य नैव दोषः स्यादित्यभिप्रायः' यथा लक्ष्यनिर्देशं विना
धानुष्कस्येष्टं प्रक्षिपतो यौ गुणदोषौ तौ तद्प्रक्षिजनस्य विपर्यस्तावपि प्रतिभातः—'गुणोपि दोषतया, दोषोऽ-
पि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशं विना हेतुमुपन्यस्यतो वादिनो यौ स्वभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वा-
समर्थत्वलक्षणौ गुणदोषौ तौ प्रास्तिकप्रतिवाद्यादीनां विपरीतावपि प्रतिभात इति भावार्थः ।'—न्याया-
ब० इलो० १४-१६, टी० पृ० ४८-४९ । (२) लक्ष्यनिर्देशे । (३) धानुष्कस्य कौशल्यम् । (४)
प्रेक्षकजनानाम् । (५) वादिनः स्वभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षयोः गुणदोषयोः । (६)
पृ० ४३६ पं० १ । (७) बीजस्य हेतोर्वा । (८) अङ्कुरोत्पादने साध्यप्रतिपादने वा । (९) क्षितिस-
लिलादीनाम् पक्षप्रयोगादीनां वा । (१०) तुलना—'तत्र च यद्दूषणयुक्तम्—तर्हि हेतोरेव तत्र साम-
र्थ्योपपत्तेः किं पक्षवचनेनेति; तदयुक्तम्; एवं हि हेतोः समर्थनापेक्षस्य साध्यसिद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेः
तद्वचनमपि न स्यात् ।'—स्या० २० पृ० ५५० । न्यायाब० टी० पृ० ४७ । (११) साध्यसिद्धिः ।
(१२) सीगत । (१३) अर्थसिद्धौ (१४) अविकल्पकाध्यक्षस्य । (१५) निर्विकल्पप्रतिपन्न ।

1 इत्यत्रापि श्र० । 2 केवलस्यास्यैव व० । 3 यथावद्गुण—आ० । 4—कार्यकारणे आ० ।
5—निबन्धनम् व० ।

पक्षप्रतिपादितमेवार्थं हेतुः प्रतिपादयति, तत्प्रतिपादितञ्च प्रमाणान्तरं समर्थयत इत्यनु-
च्यतामविशेषात् । ईदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्—यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थप्रतिपादकत्वं नाम ।
'पच्यते कोमलीक्रियते हेतुना सुकुमारप्रज्ञानां साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते
इति पक्षः' इति व्युत्पत्तेः ।

5 यदि च पक्षो नेष्यते कथं तर्हि सपक्षविपक्षव्यवस्था स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्याः ?
तदभावे च त्रिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेदः स्यात् ।

किञ्च, प्रैतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत अविशेषात् । न
चैवम्, तत्र तत्प्रयोगदर्शनात् । नहि शास्त्रेऽनिर्यतकथायां वा प्रतिज्ञा नाभिधीयते
'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिशपात्वात्' इत्याद्यभिधानानां तत्रोपलम्भात् । 'परानुग्रह-
10 प्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव
उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे वादेऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तद्वद्वत्त्वादिति^१ ।

ननु लिङ्गस्य साध्याविनाभावैकलक्षणत्वमयुक्तम्, तर्ह्यपक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रया-
पक्षधर्मत्वविरूपत्र-
यस्य लिङ्गलक्षणत्व-
व्युदासपुरस्सरं तस्य
15 अविनाभावैकलक्षण-
त्वसमर्थनम्—
न्वितत्वेन एकलक्षणत्वायोगात् । तदनन्वितत्वे हेतोः असिद्धत्वादि-
दोषानुपपन्नात् । नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेदः,
सपक्षे सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासः, विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अनै-
कान्तिकत्वनिषेधः कर्तुं शक्य इति । उक्तञ्च—

(१) हेतुप्रतिपादितञ्च । (२) समर्थनरूपम् । (३) तुलना—'पच्यते इति पक्षः । पच्यते व्यक्ती-
करणे । पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः स पक्षः ।'—न्यायप्र० पृ० १३ । न्यायसारटी० पृ० १०१ ।
(४) पक्षपूर्वकत्वात् । (५) सपक्षविपक्षव्यवस्थायाः । (६) सपक्षविपक्षव्यवस्थाया अभावे । (७)
तुलना—'प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत विशेषाभावात् । नहि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयत
एव अनियतकथायां वा, 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिशपात्वात्' इत्यादिवचनानां शास्त्रे दर्शनात्,
'विरुद्धोऽयं हेतुरसिद्धोऽयम्' इत्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथायां प्रयोगात् ।'—अष्टसह० पृ०
८३ । प्रमेयक० पृ० ३७३ । स्या० २० पृ० ५५१ । (८) प्रयोगानर्हत्वाविशेषात् । (९) शास्त्रादौ ।
(१०) सुगोष्ठ्याम् । (११) शास्त्रे सुगोष्ठ्यां वा । (१२) तुलना—'परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां
प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्येति चेत्, वादेऽपि
सोऽस्तु, तत्रापि तेषां तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनाय आचार्याणां प्रवृत्तेः ।'—अष्टसह०
पृ० ८३ । प्रमेयक० पृ० ३७३ । स्या० २० पृ० ५५१ । (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु । (१४) वादेऽपि ।
(१५) शास्त्रकाराणां । (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिमत्त्वात् । (१७) प्रकारान्तरेण पक्षप्रयोगसमर्थनं निम्न-
त्रयेषु द्रष्टव्यम्—प्रश० व्यो० पृ० ६०१ । न्यायसं० पृ० ५७१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० २७५ ।
प्रश० कण्ठ० पृ० २३५ । प्रश० किर० पृ० ३३५ । प्रमाणमी० पृ० ५१ । (१८) 'हेतुस्त्रिरूपः । किं
पुनस्त्रैरूपम् ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति ।'—न्यायप्रब० पृ० १ ।
'वैरूप्यं पुनः लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, अनुमेयं वक्ष्यमाणलक्षणम्, तस्मिन्लिङ्गास्य सत्त्वमेव
निश्चितमेकं रूपम्, तत्र सत्त्ववचनेन असिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम् । एवकारेण पक्षेकदेशा-

१ इत्यप्युच्येताविशेषात् व० २ इदमेव पक्ष—आ, अ० । ३ 'इतिपक्षः' नास्ति व० । ४ शास्त्रेनिय-
आ० । ५ वादे सो—वादे सा—अ० । ६ शक्यते इति व० ।

“हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्ययस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपर्ययैः ॥” [प्रमाणवा० ३१४] इति ।

अत्रोच्यते—न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोलक्षणम्, विपक्षेऽप्यस्य वर्तमानत्वात्, यद् विपक्षेऽपि वर्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्नेः, विपक्षेऽपि हेत्वाभासलक्षणे वर्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यदेवै हि विपक्षासाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शवत्त्वम् अग्नेः । न चेदं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं

सिद्धो निरस्तो हेतुः, यथा चेतनास्तरवः स्वापात् इति । पक्षीकृतेषु तत्पुत्रसंकोचलक्षणः स्वापः एकदेशेन सिद्धः । न हि सर्वं वृक्षा रात्रौ पुत्रसंकोचभाजः, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पक्षवाङ्मतेन एवकारेण असाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि हि अनुमय एव सत्त्वमिति कुर्यात् श्रावणत्वमेव हेतुः स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः । सपक्षएव सत्त्वम्, सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चितं द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः, स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तु भयत्रापि । सत्त्वग्रहणात् पूर्ववधारणवचनेन सपक्षव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थः स्यात्—सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकं न हेतुः स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः, यथा सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्, असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः, विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षकदेशवृत्तेर्निरासः, नित्यः शब्दः कृतकत्वात् खवत् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये हि अनित्यत्वं विपक्षकदेशे विद्युदादावस्ति आकाशादौ नास्ति ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्ववचनात् पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थः स्यात्—विपक्षे एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति ततो न हेतुः स्यात्, ततः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः ।” —न्यायबि०, टी० पृ० ३१-३३ । वादन्याय पृ० ६० । तत्त्वसं० पृ० ४०४ ।

(१) ‘निर्ययः’—प्रमाणवा० । (२) अभावादित्यर्थः—आ० टि० । (३) अस्य व्याख्या—

“यत् एवं तेन कारणेन हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मव्यव्यतिरेकेषु निश्चयो वर्णितः आचार्यदिमानेन प्रमाणसमुच्चयादिषु ‘असिद्धस्तु द्वयोरपि साधनम्’ इत्यादिना । कस्य निरासेनेत्याह—असिद्धेत्यादि । आद्यादित्वात् तृतीयार्थं तसिः विपक्षेण इत्यर्थः । तत्र असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णितः । विपरीतार्थो विरुद्धः, तस्य विपक्षेण अन्वयनिश्चयः । व्यभिचार्यनैकान्तिकः, तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनिश्चयः ।” —प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्या० २० पृ० ५१८ । “तेन—प्रतिबन्धस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन हेतोः त्रिष्वपि . . .” —प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । ‘निर्ययस्तेन’—बृहदा० भा० वा० पृ० १५२१ । स्या० २० पृ० ५१८ । (४) हेत्वाभासेऽपि । तुलना—“निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षेऽसत्त्वमेव च । सपक्ष एव जन्यत्वं तत्तयं हेतुलक्षणम् ॥ केचिदाहुर्न तद्युवत हेत्वाभासेऽपि संभवात् । असाधारणतापायाल्लक्षणत्वाविरोधतः ॥ असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारादग्नेरीष्यवत्, न च त्रैरूप्यसाधारणता तद्धेतो तदाभासेऽपि तस्य समुद्भवात् ।” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८ । (५) तुलना—“यदेव हि लक्ष्यसाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रतीतमव्यभिचारित्वात्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शवत्त्वमग्नेः ।” —स्या० २० पृ० ५१८ ।

1 लक्षणं तथा लोके आ०, तल्लक्षणतया लोके अ० ।

तथाविधं तत्पुत्रत्वादौ तदाभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत् । अथ अन्यथानुपत्ति-
नियमवत्त्रैरूप्यं तल्लक्षणं न त्रैरूप्यमात्रम्, तैथाविधञ्च तत् तदाभासे नास्तीति; तदप्य-
सङ्गतम्; एवं सति त्रैरूप्यकल्पनाऽनर्थक्यप्रसङ्गात् तन्निर्णयमादिवास्य गमकत्वोपपत्तेः ।

- न खलु कृतिकोदयात् शकटोदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता संभवति । अथ 'काला-
काशदिः भविष्यच्छकटोदयादिमान् कृतिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालादिवत्' इती-
त्यमत्र पक्षधर्मताऽभिधीयते; तर्हि न कश्चिदर्पक्षधर्मको हेतुः स्यात्, काककाण्ण्यदेरपि
प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुसकत्वात्; तथाहि-
जगत् प्रासादधावल्ययोगि काककाण्ण्ययोगित्वात् । तथा महोदध्याधाराऽभियोगि तत्
महानसधूमयोगित्वात् पूर्वोपलब्धजगत्त्वदिति । लोकविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्टः । तत्र
10 पक्षधर्मत्वं हेतोरगमकत्वाङ्गम् ।

नैपि सपक्षे सत्वम्; 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'

(१) विपक्षासाधारणम् । (२) तुलना-“न च सपक्षे सत्त्वं पक्षधर्मत्वं विपक्षे चासत्त्वमात्रं
साधनलक्षणम्, स स्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सम्भावसिद्धेः । सपक्षे हीतरत्र
तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सर्वं प्रसिद्धम्, विवादाव्याप्तिं च तत्पुत्रे पक्षीकृते
तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे बाङ्ग्यामे क्वचिदयपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्व-
मात्रं च । न च तावता साध्यसाधनत्वं साधनस्य ।”-प्रमाणप० पृ० ७० । सम्मति० टी० पृ० ५९० ।
स्या० र० पृ० ५१८ । प्रमेयर० ३१५ । प्रमाणसी० पृ० ४० । न्यायदी० पृ० २६ । (३) अवि-
नाभानियमवत्त्रैरूप्यम् । (४) अन्यथानुपत्तिनियमादेव । (५) तुलना-“न हि शकटे धर्मिणि
उदेष्यतायां साध्यायां कृतिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृतिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम् ।”-
प्रमाणप० पृ० ७१ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । स्या० र० पृ० ५१९ । प्रमेयर० ३१५ । प्रमाणमी०
पृ० ४० । “नन्वेवमपि ‘इव उदेष्यति सविता अद्यतनादित्योदयात्, जाता समुद्रवृद्धिः शशाङ्को-
दयदर्शनात्’ इत्यादिप्रयोगेषु हेतोः पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेन पक्षधर्मत्वं तल्लक्षणम् ।”
-सम्मति० टी० पृ० ५९१ । (६) “तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्धयनुमानं चन्द्रोदयात् (पूर्व
पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात् । चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्; यद्येवं
तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः, तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च
तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ?”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १३ । (७) कृतिकोदयादौ । (८)
तुलना-“कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः ।”-प्रमाणसं० पृ० १०४ । “यदि पुनराकाशं कालो वा
धर्मी तत्सोदेष्यच्छकटवत्त्वं साध्यं कृतिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम्; तदा धरित्रीधर्मिणि महोद-
ध्याधाराग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्निं
गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् ।”-प्रमाणप० पृ० ७१ । तत्त्वावस्थेः पृ० २०० ।
सम्मति० टी० पृ० ५९१ । स्या० र० पृ० ५१९ । जैनतर्कभा० पृ० १२ । “कृतिकोदयपुरादेः काला-
दिपरिकल्पनात् । यदि स्यात्पक्षधर्मत्वं चाक्षुषत्वं न किञ्चनौ (किं ध्वनौ)”—जैनतर्कभा० वृ० पृ०
१४० । न्यायाव० टी० पृ० ३५ । (९) जगत् । (१०) “तुलना-निःशेषं सात्तकं जीवच्छरीरं परिणा-
मिना । पुंसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तिः ॥ सपक्षसत्त्वबुध्यस्य हेतोरस्य समर्थनात् । नूनं निवर्चयते
सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम् ॥ क्षणिकत्वेन न व्याप्तं सत्त्वमेवं प्रसिद्धयति । सन्दिग्धव्यतिरेकाच्च ततोऽ-

इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतेः । विपक्षे बाधकप्रमाणबलात् अन्तर्व्याप्ति-
सिद्धेरस्यैव गमकत्वे बहिर्व्याप्तिकल्पनाऽनर्थक्यम्, अत एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्तेः । तत्र
पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम् ।

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याऽविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्त-
देवै प्रधानं हेतोः लक्षणमस्तु अलं लक्षणान्तरेण । न च संपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्व- 5
यत्वानुपपत्तिः; अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्य अन्वयस्य सद्भावात् अन्यथानुपपत्ति-
रूपव्यतिरेकवत् । नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्वयो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य इति नियमो
युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । नहि निरन्वयं क्षणिकत्वं
कचिदपि प्रसिद्धम्, शब्द-विद्युत्-प्रदीपादावपि विप्रतिपत्तेः ।

यदप्युक्तं—'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासंभवे हेतोरसिद्धत्वादितोषानुपपत्तिः' इत्यादि; 10
तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अन्यथानुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव असिद्धत्वादितोषप-
रिहृतरसिद्धेः । स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत् ।
तथापि अविनाभावप्रसङ्गात् पक्षधर्मत्वादेः असिद्धादि (द्वत्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने
निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य अज्ञातासिद्धताव्यवच्छेदार्थम्, अबाधितविषयत्वादेश्च बाधित-
विषयत्वादेर्व्यवच्छिन्नतये अभिधानप्रसङ्गः । तत्र सौगतपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं 15
हेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

सिद्धिः क्षणक्षये ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१-२०२ । "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादेः शब्दा-
नित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीतेः ।"—प्रमेयक० पृ० ३५५। स्या० २० पृ० ५१९ ।

(१) "पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः । यथा
अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्था-
नम् ।"—प्रमाणनय० ३।३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा । (३) अन्तर्व्याप्तेरेव । (४) तुलना-
"साध्याभावे विपक्षे तु योऽसत्त्वस्यैव निश्चयः । सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपान्तथाह च ॥"—तत्त्वार्थ-
श्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० २० पृ० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव । (६) तुलना-
"अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादित्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् ।"—प्रमेयक० पृ०
३५६। स्या० २० पृ० ५२०। (७) तथा साध्ये सत्येव उपपत्तिः साधनस्य । (८) अन्यथा साध्याभावे
अनुपपत्तिः अभावः साधनस्य । (९) शब्दादीनामपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वाभ्युपगमात् । (१०) पृ० ४३८
पं० १२। (११) तुलना—"हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहृतरसिद्धेः, स्वयमसिद्धस्य
अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवात् अनैकान्तिकविपरीतार्थवत् । तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूप-
त्वात् । तस्य च असिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेतावसंभावनीयत्वात् ।"—प्रमाणप० पृ० ७२। तत्त्वार्थ-
श्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० २० पृ० ५२१। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०।
(१२) हेतोः-आ० टि० (१३) असिद्धादीनाम् अविनाभावशून्यत्वे सत्यपि । तुलना—"रूपत्रय-
स्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि । निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥ त्रिषु रूपेषु चेदृषं
निश्चितत्वं न साधने । नाज्ञातासिद्धता हेतो रूपं स्यात्तद्विपर्ययः ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३।
प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० २० पृ० ५२१। (१४) अज्ञातः सन्नसिद्धः तद्भावस्तत्ता-आ० टि० ।

१ लक्षणमलं ब० । २ सपक्षसत्त्वा-ब० । ३-कत्ववत् श्र० । ४-हारप्रति-श्र०, ब० ।

नापि यौगोपकल्पितं पञ्चरूपत्वम्; पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात्,

मौगपरिकल्पितस्य साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अबाधितविषयत्वादेरप्यसंभवात्,
पञ्चरूपस्य प्रतिवि- अतस्तदेव प्रधानं हेतोलक्षणमस्तु किं पञ्चरूपकल्पनया ? नहि
यामम्— 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत्' इत्यादावपि अविनाभावाभावादप्युद्

५ बाधितविषयत्वं नाम प्रतीयते; बाधितविषयत्व-अविनाभावयोः विरोधात् । साध्यसद्भाव
एव हेतोः धर्मिणि सद्भावः अविनाभावः; तर्हिभावे एव च तत्र तत्संभवे विषयबाधेति ।

किञ्च, अबाधितविषयत्वं निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोलक्षणं स्यात् ? न
तावदनिश्चितम्; अतिप्रसङ्गात्, अज्ञायमानस्य ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वाच्च । नापि निश्चितम्;
तन्निश्चयनिबन्धनाऽसंभवात् । तन्निबन्धनं हि अनुपलम्भः; संवादः, अन्यद्वा किञ्चित् ?

१० तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सर्वान्तरसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात् ।

(१) "तत्र परोक्षार्थो लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्, तच्च पञ्चलक्षणम् । कानि पुनः पञ्च-
लक्षणानि ? पक्षधर्मत्वं सपक्षधर्मत्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति । सिसाधवि-
धितधर्मविशिष्टो धर्मो पक्षः; तद्वर्तमानं तदाश्रितत्वमित्यर्थः । साध्यधर्मयोगेन निजितं धर्म्यत्वं सपक्षः तत्रा-
स्तित्वम् । साध्यधर्मसंस्पृशस्यो धर्मो विपक्षः ततो व्यावृत्तिः । अनुमेयस्यास्य प्रत्यक्षेणामेन वाजपह-
रणमबाधितविषयत्वम् । संशयबीजभूतेनार्थेन प्रत्यनुमानतया प्रयुज्यमानेनानुपहृतत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् ।
एतैः पञ्चभिरलक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति ।"—न्यायसं० पृ० १७० । न्यायकलि० पृ० २ । न्याय-
सा० पृ० ६ । "पञ्चसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हेतोरविनाभावः परिसमाप्यते तस्मादबाधितत्वासत्प्रतिपक्षित-
त्वपद्वयसंसूचनाया निगमनमिति..."—न्यायवा० ता० पृ० ३०२ । "अतश्चानयोः (कालात्ययापविष्टप्रक-
रणसमयोः) व्यवच्छेदार्थमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च समानतन्त्रगतमभ्युहम्, चशब्दस्यानुक्तसमु-
च्चयार्थत्वात् ।"—प्रश० व्यो० पृ० ५६५ । (२) तुलना—"साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्य अबा-
धितविषयत्वादेरसंभवात्"—प्रमेयक० पृ० ३५७ । (३) अविनाभावित्वमेव । (४) तुलना—"अन्यथानु-
पपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् । नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ॥"—प्रमाणप० पृ०
७२ । स्या० र० पृ० ५२७ । (५) तुलना—"बाधाया अविनाभावस्य च विरोधादिति । तथाहि—सत्यप्य-
विनाभावे यथोक्ते बाधासम्भवं मन्यमानैरबाधितविषयत्वं ह्यनन्तरमुच्यते, सा चेयं तत्सम्भावना न संभ-
वति बाधाया अविनाभावेन विरोधात् सहानवस्थानलक्षणात् । तमेव विरोधं साध्यगत्याह—अविनाभावे
हि इत्यादि । सत्येव हि साध्यधर्मं भावे हेतोरविनाभाव उच्यते, प्रमाणबाधा तु तस्मिन्मसति । यदि
हि सत्येव तस्मिन्तदभावविषयं प्रमाणं प्रवर्तते तदास्य भान्तत्वादप्रमाणतैव स्यादिति कुतो बाधा ?
ततः स हेतुस्तल्लक्षणः साध्याविनाभावी धर्मिणि स्यात् अत्र च साध्यधर्मः कथम् भवेत् यतो बाधाव-
काशः स्यात् । तस्मादविनाभावस्य प्रमाणबाधायाश्च सहानवस्थानम्, अविनाभावैर्नोपस्थापितस्य
च तदभावस्य परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया विरोधेन एकत्र धर्मिण्यसंभवादिति ।"—हेतुवि० टी०
पृ० १९५ B. । वादव्यायटी० पृ० १३८ । न्यायसं० पृ० ४४८ । प्रमेयक० पृ० ३५७ । प्रमाणसं०
पृ० ४१ । (६) साध्याभाव एव । (७) धर्मिणि विपक्षे । (८) हेतुसम्भवः । (९) तुलना—
"किञ्चाबाधितविषयत्वं निश्चितमनिश्चितं वा हेतोलक्षणं स्यात् ?"—प्रमेयक० पृ० ३५८ ।
(१०) अबाधितविषयत्वनिश्चय । (११) तुलना—"तन्निबन्धनं ह्यनुपलम्भः; संवादो वा स्यात् ।"
—प्रमेयक० पृ० ३५८ । (१२) तुलना—"सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी ।
विल्याद्विस्मृद्वदिरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥"—तत्त्वसं० पृ० ६५ । "स्वसर्वानुपलम्भयोः । आरेका-

द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; प्रागनुमानप्रवृत्तेः संवादस्याऽसिद्धत्वात् । तदुत्तरकालं
तत्सिद्धयभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रयः; तथाहि—अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादसिद्धिः; ततश्च
अबाधितविषयत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति । अथान्यत् किञ्चित्; तत् किं तद्विषयं
प्रमाणान्तरम्, अविनाभावावगमो वा ? तत्र प्रमाणान्तरात् कुतश्चिदबाधितविषय-
त्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्वं साध्यस्यापि अत एवावगमात् । न ह्यसति साध्यसद्भावा-
वगमे तद्भावाविरहो निर्द्वैतेतुं शक्यः । अथाविनाभावावगमात् तद्वैषम्यः; तन्न; पञ्च-
रूपयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तिवादिनाम् अबाधितविषयत्वस्याऽनवगमे अवि-
नाभावाऽवगमस्यैवाऽसंभवात् । ततोऽबाधितविषयत्वस्याऽसिद्धेः न तद्वेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

नाप्यसत्यतिपक्षत्वम्; यतः प्रतिपक्षः तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रति-
विध्येत ? तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावानुपपत्तिः । ययोस्तुल्यबलत्वं न तयोर्बाध्यबा-
धकभावः यथा राज्ञोः, तुल्यबलत्वञ्च पक्षप्रतिपक्षयोरिति । अतुल्यबलत्वं तु अनयोः
किञ्चित्—पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? न तावत् प्रथमपक्षो
युक्तः; पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यविशेषात् । नहि मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादेः पक्षधर्म-
त्वादिकं न संभवति, शौक्ल्यस्याख्यानलिङ्गस्यैव वा संभवति । द्वितीयपक्षोऽप्यसंभाव्यः;
अनुमानबाधाया अद्याप्यसिद्धेः । नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वम्
अपरस्य च बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषणैव तत्प्रसङ्गात् । अन्योन्याश्रयश्च;

सिद्धते ...—न्यायवि० का० ४०६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३ । सम्प्रति० टी० पृ० १८ । आत्मतत्त्ववि०
पृ० ९४ । तर्कभा० सो० लि० पृ० २२ । न्यायली० पृ० २२ । सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सर्वज्ञ-
त्वमन्तरेण ज्ञानुपपत्त्यवसादसिद्धत्वम्, आत्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारी ।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम् । (२) संवादसिद्धिस्वीकारे । (३) अर्थक्रियायां सत्याम् अर्थ-
क्रियास्थितिलक्षणः संवादः सिद्धयति । (४) तुलना—“तद्वाधाभावनिर्णीतिः सिद्धा चेत्साधनेन किम् ।
यथैव हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५ । “तदाप्यकिञ्चित्करत्वं हेतोः;
यथैव हि हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये तत्साधनासमर्थत्वादकिञ्चित्करत्वं तथैव बाधाविरह-
निश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धेस्तत्साधनाय प्रवर्तमानस्य सिद्धसाधनादपि इति ।”—स्या० २० पृ०
५२६ । (५) प्रमाणान्तरादेव । (६) अबाधितविषयत्वावगमः—आ० टि० । (७) योगानाम्—आ०
टि० । “एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वाविनाभावः समाप्यते”—न्यायकलि० पृ० २ । (८) तुलना—“यतः
प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा सन् स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३५९ । स्या० २० पृ० ५२७ । “अत आह
तुल्ये लक्षणे हि इत्यादि । शङ्क्यमानप्रतिहेतुना तुल्यं लक्षणं दर्शनादर्शनामात्रनिमित्ताविनाभावरूपं यस्य
तस्मिन्, दृष्टः प्रतियोगिनः प्रतिहेतोर्बाधकस्य संभवः स येषामपि तत्तुल्यलक्षणानां प्रतियोगी न दृश्यते
तेष्वपि शंकां प्रतिहेतुसम्भवविषयामुत्पादयति । किं कारणम् ? अदृष्टप्रतियोगिनो दृष्टप्रतियोगिनो विशे-
षाभावात् । न हि तस्येतेरेण कश्चिद्विशेषोऽस्ति यतस्तत्संभवो न शक्येत । “अथ विशेषः प्रतिबन्ध-
लक्षणोऽविनाभावनिश्चायको दृष्टप्रतिहेतोरदृष्टप्रतियोगिन इष्यते, यतः प्रतियोगिसंभवाशंकाऽस्तमुपैति
तदा सति वा विशेषे स विशेषो हेतोर्लक्षणम् ।”—हेतुबि० टी० पृ० २०४ A. । (९) अमूर्खोऽयं
शास्त्रव्याख्यानादित्यस्यापि संभवात्—आ० टि० । (१०) बाध्यत्वस्य बाधकत्वस्य वा ।

तथाहि—अतुल्यबलत्वे अनुमानबाधा, तस्याञ्च अतुल्यबलत्वमिति । ततः सूक्तम्—
यथोक्ताल्लिङ्गात् लिङ्गिणीः अनुमानमिति ।

ननु कार्यं निष्फलत्वात् किं तत्स्वरूपनिरूपणप्रयासेन ? फलवता हि प्रमाणेन
भवितव्यम् नान्येन अतिप्रसङ्गात्, इत्याशङ्कानोदार्थं ‘तत्फलम्’ इत्याद्याह । तस्य
5 अनुमानस्य फलं हानम् आदिर्यस्य उपादानानादेः तस्य बुद्धयः । ननु न किञ्चिद्
वास्तवं प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अन्यत्राऽविद्यावासनाविशेषात्; इत्यप्यविचारित-
रमणीयम्; तदुभयसद्भावस्य वास्तवस्य ‘पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरो-
त्तरम्’ [लघी० का० ७] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वात् ।

अत्र सौगतः प्राह—यदुक्तं ‘साध्याविनाभाव’ इत्यादि; तत्सूक्तम्; अविनाभा-
10 अविनाभावस्य तादा- वलेनैव सर्वत्र हेतोः गमकत्वप्रतीतिः, स त्वविनाभावः तादात्म्यतदु-
त्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव त्यत्तिनियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव अवतिष्ठते । तदात्म्येन हि
नियतत्वात् कार्यस्व- स्वभावहेतोः अविनाभावः परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या तु कार्यहेतोः ।
भावहेतावेव तत्समा- न च अन्यलिङ्गमस्ति, अनुपलब्धेरपि स्वभावहेतौ अन्तर्भावः ।
वेनेति बौद्धस्य पूर्वपक्षः घटाद्यभावो हि घटादिविविक्तभूतलादिस्वभावः, तदनुपलब्धिश्च

15 तद्विविक्तभूतलादिस्वभावोपलब्धिः ।

तैत्तिप्रतिपत्तिश्च ऊह्यानात्; ईर्यपि श्रद्धामात्रम्; कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्यक्षा-

(१) अनुमानस्य । (२) काकदन्तादीनामपि निरूपणप्रसङ्गात् । (३) प्र० २०८ । (४)
“स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात् साध्यादर्थादुत्पत्तेश्च । अतस्त्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च
तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् । ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।”—
न्यायिनि० पृ० ४०-४२ । ‘कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमो दर्शनाभा-
दर्शनात् ॥ यत् एवं प्रतिबन्धवशाद् गमकत्वात्तस्मात् कार्यकारणभावाद्वा नियामकात् साध्यसाधनयो-
रव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यलक्षणान्नियामकात् कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभावः
साध्यधर्मं विना न भाव इत्यर्थः—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३३ । हेतुबि० टी० पृ० ६ B. । “यत्तादा-
त्म्यतदुत्पत्त्या सम्बन्धं परिनिश्चितम् । तदेव साधनं प्राहुः सिद्धये न्यायवादिनः ॥”—तत्त्वसं० पृ० ४२९ ।
(५) “इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति”—न्याय-
वि० पृ० ५५ । “अनुपलब्धेस्तु स्वभावेऽन्तर्भावः ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ४३१ । “स्वभावानुपलब्धिस्तु
स्वभावहेतावन्तर्भावेति तस्याः तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्धः । व्यापककारणानुपलब्धौ तु तादा-
त्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धवशादेव व्याप्यव्यापकयोर्निवृत्ति साध्यतः ।”—हेतुबि० टी० पृ० ७ A. । (६)
“यस्मादेकज्ञानसंसर्गिणोः प्रत्यक्षेण एकस्य ग्रहणमेव अन्यस्याग्रहणम्, तदग्रहणमेव च तस्याभावग्रहणम्,
भावे हि तस्याग्रहणयोगात् । यदाह—अन्यहेतुसाकल्ये तदव्यभिचारान्नोपलम्भः सत्ता, तदभावोऽनुपलब्धि-
रसत्ता, अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति ।”—प्रमाण वा० स्ववृ० टी० १।५ । (७) घटानुपलब्धिः । (८)
घटरहित । (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च । (१०) तुलना—न्यायकु० पृ० १२ डि० ३ । “यस्तु
अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलम्भः एकः, तदनन्तरमन्येनोपलम्भः ततो धूमस्येत्यनुपलम्भद्वयम्,
पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वानुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद् व्या-

1-प्ररूपण-ब० । 2 साध्याविनाभाववलेनैव आ० । 3 तदसूक्तम् अ० । 4 कार्यहेतोः स्वभाव-
ध०, कार्यसद्भावे-ब० । 5-स्या का-ब० । 6-लब्धेः आ० । 7 इत्याद्यपि ब० ।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः । तथाहि—अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूत-
लाद्यर्थेषु प्रथमम् अग्निधूमयोरनुपलम्भः एकः, अनन्तरम् अग्नेरुपलम्भः ततो धूमस्य
इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नैरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भः इति द्वावनुप-
लम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तौ कार्यकारणभावावगमो भवति
अग्नेः कार्यं धूमः । यैश्च यत्कार्यः स तेन नियतः । यदि तेन नियतो न स्यात् तर्हि
निरपेक्षत्वात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । यैश्च नियतः स नियामकवान्, तदभावे
स्वातन्त्र्यात् नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः पुनः प्रसङ्गः स्यात् । ततश्चायमर्थः सम्पन्नः—यो
यस्मादुत्पद्यमानः सङ्कटप्युपलब्धः स तस्मादेवं नान्यस्मात्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात्
सर्वस्योत्पत्तिः, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्वभावहेतुद्वयेन च कार्यहेतोः सार्वत्रिकी
व्याप्तिः प्रतीयते ।

10

स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन । तथाहि—
अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते चाऽक्ष-
णिकान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तते, सौ च सत्त्वम् । कस्मात् पुनः
अक्षणीकात् क्रमयौगपद्योर्व्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । कौलतः पौर्वापर्यं हि
क्रमः तद्विपरीतं यौगपद्यम्, इत्थञ्च ते नानारूपे, अक्षणीकैस्त्वञ्च एकरूपता, एकरूपता-
नानारूपते च एकाश्रिते विरुद्धे, अतः अक्षणिकान्निवर्त्तमानं सत्त्वं क्षणिक एव अवतिष्ठते
प्रकारान्तरासंभवात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तस्तृतीयः प्रकारोऽस्ति यतस्तत्र
अस्य वृत्तिराशङ्क्यते ।

15

प्लिग्रह इत्येषां सिद्धान्तः । तदुक्तम्—“धूमाधीर्वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तस्योः । प्रत्यक्षानुपलम्भा-
भ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥”—जनकभा० पृ० ११ । “प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।”
—हेतुबि० पृ० ५३ B. ।

(१) उपलम्भ इति शेषः । (२) धूमोऽग्निनियतः तत्कार्यत्वात् इति । (३) अग्निना । (४)
“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यान्पेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥”—प्रमाणवा०
१।३६ । (५) धूमोऽग्निनियामकः अग्निकार्यत्वेन तन्नियतत्वात् । (६) उत्पद्यते इति शेषः ।
(७) आसन्नोक्त-नियतत्वनियामकत्वरूपेण—आ० टि० । पूर्वोक्तं नियतत्वनियामकत्वलक्षणं हेतुद्वयम् ।
(८) “सत्” शब्दः कृतको वा, यस्त्वेवं य सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधनं विषये
बाधकप्रमाणोपदर्शनेनम् । यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणीकस्य क्रमयौगपद्या-
भ्यामर्थक्रियाऽयोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् । सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं
हि निरुपाध्यमिति ।—बादन्याय पृ० ७ । तत्त्वसं० पृ० १४३ । हेतुबि० टी० पृ० १४३ A. । क्षणभंग-
सि० पृ० २० । न्यायकु० पृ० ८ टि० १ । (९) क्रमयौगपद्ये । (१०) अर्थक्रिया । (११) “क्रमो
नाम परिपाटिः कार्यान्तरासाहित्यं कैवल्यमङ्कुरादेः । यौगपद्यमपि तस्यापरैर्बीजादिकार्यैः साहित्यं
प्रकारान्तराङ्कुरादेः, तदुभयावस्थाविरहेऽन्यथाभवन्म्” —हेतुबि० टी० पृ० १४३ B. । (१२)
तृतीये क्षणिकाक्षणीकबहिर्भूते प्रकारान्तरे । (१३) सत्त्वस्य ।

1-पलम्भाजन्त-आ०, श्र० । 2-यौगपद्यव्या-ब० । 3-कता चैक-ब० । 4 ‘एकरूपता’ तास्ति
आ०, श्र० ।

अनुपलब्धिः पुनः सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपलब्धिश्च स्वभावेहेतुः, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिबन्धः । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिबन्धचिन्ता इति ।

अत्र प्रतिबिधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अविनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियतः’

इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; नहि तादात्म्यम् अविनाभावनिय-

तद्विधानपुरस्सरं
तादात्म्यतदुत्पत्त्यभा-
वेऽपि अविनाभाव-
सम्भवात्ततः कृत्ति-
कोदयादिहेतुनां गम-
कत्वप्रदर्शनम्—

मनिमित्तम्; तस्मिन् सति भेदाभावेन सम्बन्धाभावे अविनाभावानुप-
पत्तेः, भेदाधिष्ठानत्वात् सम्बन्धस्य । न चानंशार्थवादिनैः तादात्म्य-
भेदौ मनागपि व्यपपद्य (चे) ते । तादात्म्यं हि तत्त्वभावता, तेन साध्येन
साधनस्यैक्यम्, न चैक्ये भेदः संभवति, भेदे वा नैक्यम्, अतः
कथं तादात्म्यतया शिंशपा वृक्षं गमयेत् ? तादात्म्येन च गमकत्वे

हेतुग्रहणवेलायामेव तदव्यतिरेकितया साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् नानुमानस्य साफल्यम् ।
न ह्यगृहीतं लिङ्गं लिङ्गविषयां धियमाधत्ते । गृहीतौ च यदि लिङ्गप्रतीतौ न लिङ्गी
प्रतिभासेत् तदा कथं तथैस्तादात्म्यम् ? प्रतिभासे तु सिद्धमनुमानस्य वफल्यम्, प्रति-
ज्ञाथैकदेशता च हेतोः । विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्य^१ साफल्यञ्चेत्^२; ननु तस्य-

(१) पृ० ४४४ पं० १० । (२) तुलना—‘तथा वृक्षत्वशिंशापात्वयोर्न तादात्म्यप्रतिबन्धः

साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसंगात् । तथाहि—धर्मिण्युपलब्धे तत्तादात्म्यादुभयोरप्युपलम्भे कथं साध्यसाध-
नभावः ।’—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७१ । ‘अपि च तादात्म्ये कथं गम्यगमकभावः, न हि तदेव कर्म कर्तुं
चेति युक्तम्, तस्य भेदाश्रयत्वात् ।’—न्यायवा० ता० पृ० १६३ । ‘न च तादात्म्ये गम्यगमकता घटते
एकस्य सकृज्ज्ञातत्वाज्ञातत्वायोगात् ।’—बृह० पं० पृ० ९५ । ‘तादात्म्ये च यदनुमानं तदपि न साधीयः,
सिद्धं हि लिङ्गं साध्यं लैङ्गिकम्, न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते ।’—प्रश्न० पं० पृ० ६७ ।

‘न च तादात्म्ये गम्यगमकभावव्यवस्था युक्ता, तस्या भेदाश्रयत्वात् । यदि शिंशापात्वे गृह्णाम्ये वृक्षमगृ-
हीतं क्व तादात्म्यम् ? गृहीतं चेत् क्वानुमानम् ?’—प्रश्न० कन्द० पृ० २०७ । ‘अपि च यदि तादात्म्यं
गमकत्वांगमिष्यते तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावादविनाभावानुपपत्तिः’—स्या० २० पृ०
५३३ । (३) सौप्तिकम् । (४) तुलना—‘तादात्म्ये तावद् गमकत्वाङ्गे हेतुसाध्ययोरव्यतिरेके गम्यगम-

कभाव एव दुरुपपादः । न खल्वगृहीतं लिङ्गं लिङ्गप्रतीतिमाधातुमर्हति । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्गं
कभावः प्रतिभासे न वा ? अप्रतिभासे तद्बुद्ध्या तदग्रहणात् कथं तस्य तादात्म्यकत्वम् । प्रतिभासे
तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव साध्यः इति किमनुमानेन ?’—न्यायमं० पृ० ११३ । ‘तादात्म्येन च गमकत्वे
हेतुप्रतिपत्तिवेलायामेव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वात् नानुमानस्य साफल्यम् ।’—स्या० २० पृ० ३५३ । (५)
हेतुतादात्म्येन अभिन्नत्वात् । (६) गृहीतिशब्दस्य सत्त्वम्येकवचनम् । लिङ्गग्रहणे सत्यपि, चशब्दस्य
हेतुतादात्म्येन अभिन्नत्वात् । (७) लिङ्गलिङ्गिनोः । (८) लिङ्गप्रतीतौ साध्यस्य प्रतिभासे । (९) साध्यसाध-
नयोः वृक्षत्वशिंशापात्वयोः तादात्म्ये हि प्रतिज्ञैकदेशभूतं यत् वृक्षत्वं साध्यं तत्तादात्म्यापन्नं शिंशापात्व-
मेव च हेतुः इति साध्यस्य असिद्धत्वात् हेतोरस्यसिद्धत्वमिति भावः । (१०) तुलना—‘विपरीतसमा-
रोपव्यवच्छेदादार्थमनुमानमिति चेत्; न; तत्स्वरूपग्रहणे विपरीतारोपणावसरभावत्वात् । न हि शिरःपाण्या-
दिविशेषदर्शने सति स्थाणुसमारोपः प्रवर्तते, तत्र तद्भेदादुपपद्येतपि, न हि शिरःपाण्यादय एव पुरुष
इति, तद्ग्रहणेऽप्यपुरुषारोपः कामं भवेत्, इह वृक्षत्वशिंशापात्वयोरभेदात् शिंशापात्वग्रहणे सति का कथा
वृक्षतस्मारोपस्य ।’—न्यायमं० पृ० ११३ । स्या० २० पृ० ५३५ । (११) शिंशापात्वस्त्वेहेतोः

—आ० टि० । (१२) हेतुस्वरूपे ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोपः स्यात् ? तत्र प्रतिपन्ने कोऽवसरो विपरीत-
समारोपस्य ? न हि शिरःपाण्यादिविशेषोपलब्धे स्थाणुसमारोपः समाविशति । तत्स्व-
रूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य ?

किञ्च, वृक्षत्वग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदंशिश-
पात्वसमारोपः, नतु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपः । शिंशपात्वे हि यस्य प्रत्यक्षं
वृक्षत्वं न तस्याऽप्रत्यक्षम् ।

किञ्च, सौध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्ष-
त्वेनापि किञ्च शिंशपात्वं तादात्म्याऽविशेषात् ? अथ शिंशपात्वमेव वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न
वृक्षत्वं शिंशपात्वे; न तर्हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव । तत्र तादात्म्ये
अविनाभावस्य नियतत्वम् ।

नापि तदुत्पत्तौ; वैह्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेण श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुप-
लब्धेः । न च सामान्ययोः कार्यकारणभावः किन्तु विशेषयोः, ययोश्चाऽनर्थोर्मेहानसादौ
कार्यकारणभावोऽवगतः न तयोर्गन्ध्यगमकभावः, ययोस्तु पर्वतस्थयोः गन्ध्यगमकभावः न
तयोः कार्यकारणभावोऽवगतः । न चानवगते तस्मिन् तयोरविनाभावो ग्रहीतुं शक्यः ।

(१) शिंशपात्वलक्षणे हेतुस्वरूपे प्रपिपन्ने हि तदभेदाद् वृक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य
वृक्षत्वेतत्त्वस्य आरोपः कथं स्यात् ? (२) “तुलना—अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यधर्मग्रहणाद्वि-
शेषानध्यवसायात् कदाचिदंशिशपासमारोपः स्यान्न तु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्तः ।
प्रमातुः शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षगोचरः । परोक्षं तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम् ॥” —न्यायसं०
पृ० ११४ । (३) तुलना—“तथोभयोस्तादात्म्याविशेषेऽपि शिंशपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वृक्षत्वेन
शिंशपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात् ॥”—प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । “किञ्च साधसाधनयोरव्यतिरेकाद् यथा
शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वृक्षत्वेनापि शिंशपात्वमनुमीयते तादात्म्याविशेषात् । ततश्च सपक्ष-
व्याप्त्यव्याप्तिभ्यां कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर्यो भेद उक्त स हीयेत । ननु चास्यः सम्बन्धः अन्यश्च
प्रतिबन्धः, द्विष्टः सम्बन्धः, प्रतिबन्धस्तु परायतत्त्वलक्षणः । तत्र शिंशपात्वं वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्वं
शिंशपात्वे, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि अनित्यत्वे नियतं न त्वनित्यत्वं तत्रैति, तथा धूमस्याग्नौ प्रतिबन्धः
न त्वगन्धधूमः सत्यमेवम् ; कित्त्वेवमुक्त्यान्ने नियम एवाङ्गीकृतो भवेन्न तादात्म्यम् । तादात्म्ये हि यथा
शिंशपा शिंशपां विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिंशपापरहितं न दृश्येत, दृश्यते च खदिरादौ शिंशपा-
रहितं वृक्षत्वम्, विद्यदादौ च प्रयत्नानन्तरीयकत्वरहितमनित्यत्वमुपलभ्यत इति कथमभेदः ? विना साधन-
धर्मेण साध्यधर्माऽप्यमस्ति हि । दृष्टस्तद्व्यतिरेकेण तादात्म्या चेति केतवम् ॥” —न्यायसं० पृ० ११४ ।
प्र० ४० पृ० ६७ । स्या० २० पृ० ५२५ । (४) तुलना—“कार्यहेतुरपि न संभवति, भवतां हि
क्षणयोर्वा कार्यकारणभावो भवेत्, सत्तानयोर्वा ? ...यदि धूमः कार्यत्वादनलमनुमापयेत् कटुमालिन-
गगनगाभिर्वादिधर्मैरपि तस्य गमको भवेत् । न च कथञ्चित्तत्कार्यत्वं कथञ्चिदतत्कार्यत्वञ्च धूमस्योपा-
पन्नम् ; सर्वौत्पत्तयः तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रभवत्वात् ॥” —न्यायसं० पृ० ११६ । स्वा० २० पृ०
५३५ । (५) कार्यकारणभूतयोः धूमाग्न्योः । (६) कार्यकारणभावे । (७) पर्वतस्थधूमाग्न्योः ।

न च अगृहीतोऽसौ अनुमानाङ्गम् । तैदानीं ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रति-
पत्तेर्जातत्वात् किमनुमानेन ?

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावप्रतिनियमे च कथं कृत्तिकोदय-शकटोदययोः
चन्द्रोदय-समुद्रवृद्धोश्च गम्यगमकभावस्तत्रैव तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् ।

- 5 यदप्युक्तम्—‘अविनाभावस्य प्रत्यक्षातुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः’ इत्यादि; तदप्य-
साम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्य अविकल्पकतया अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य
तर्थाभूततया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्यासंभवात् । नहि निर्विकल्पकम्
‘इदमस्मिन् सत्येव भवति अतोऽन्यथा न भवत्येव’ इत्येतावतो व्यापारात् कर्तुं
समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इत्युक्तमनन्तरमेव । नापि तत्त्वमवो
10 विकल्पः; तस्य भवतां प्रामाण्यानभ्युपगमात् ।

“व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्वं प्रतिबन्धस्तु वस्तुनोः ।

विकल्पैर्ग्रहणं तस्यैव को ब्रूयात् सौगतात् परः ॥” [न्यायसं० पृ० ११७]

यदपि—‘स्वभावहेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणेन व्याप्तिः प्रतीयते’ इत्याद्युक्तम्; तदप्यु-

(१) अविनाभावः । (२) अनुमानप्रयोगकाले तु कार्यकारणयोः अविनाभावग्रहणे स्वीक्रिय-
माणे । (३) तुलना—“एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्, शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं
कृतं नावधारणार्थम् । कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात् । तद्यथा अध्वर्युरीश्रावयन् व्यवहितस्य होतु-
लिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च, शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति । एवमादि
तत्सर्वमस्येदमिति वचनात् सिद्धम् ।”—प्रश्न० भा० पृ० ५६२ । न्यायसं० पृ० ११७ । “न च तादा-
त्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धाभ्युपगमे रूपदर्शनात् स्पर्शानुमानम्, उदयादस्तमयप्रतिपत्तिः, कृत्तिको-
दयाच्च रोहिण्यनुमानं न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात् ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७१ । “अपि च
रसादन्त्यद्रूपं रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातारः, न चानयोरस्ति कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा ।
“अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य ह्यस्तनेन सवितुरुदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्धया
मध्यनक्षत्रदृष्ट्या चाष्टमास्तमयोदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा, अथ च दृष्टो गम्यगमकभावः ।”
—न्यायवा० ता० पृ० १६१-१६३ । प्र० पं० पृ० ६७ । प्रश्न० क० पृ० २०९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ०
१९९ । स्रमति० टी० पृ० ५९३ । स्या० २० पृ० ५३६ । (४) कृत्तिकोदयादिहेतौ । (५) पृ०
४४४ पं० १६ । (६) अविकल्पतया—आ० टि० । (७) साध्याभावे । (८) पृ० ४२७ पं० २ ।
(९) निर्विकल्पकजन्यो विकल्पः । (१०) सौमतेन । (११) तुलना—“अपि च—व्यावृत्त्योर्लिङ्गलि-
ङ्गित्वं प्रतिबन्धश्च वस्तुनोः । विकल्पैर्ग्रहणं तस्य कथं सङ्गच्छतामिदम् ॥”—न्यायसं० पृ० ११७ ।
“यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभावः प्रतिबन्धं दृष्यते स किं वस्तुधर्मो विकल्पापेक्षितकारणधर्मो वा ? तत्र
नायमारोपितधर्मो भवितुमर्हति, वस्तु वस्तुना जन्यते वस्तु च वस्तुस्वभावं भवेत् तस्माद्वस्तुधर्मः
प्रतिबन्धः । विकल्पैश्च वस्तु न स्पृश्यते तत्प्रतिबन्धश्च निश्चीयत इति चित्रम् । इदञ्च स्वभाषितम्
वस्तुनोः प्रतिबन्धस्तादात्म्यादि गम्यगमकत्वञ्च विकल्पापेक्षितयोरोपहृयोः । तदेवमन्यत्र प्रतिबन्धः
अन्यत्र तद्ग्रहणोपायः अन्यत्र प्रतीतिः अन्यत्र प्रवृत्तिप्राप्ति इति सर्वं कृतवम् ।”—न्यायसं० पृ० ३४ ।
(१२) प्रतिबन्धस्य अविनाभावरूपस्य । (१३) पृ० ४४५ पं० ११ ।

क्लिमात्रम्; यतो विपक्षे बाधकं प्रमाणं क्रमयोगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम् । अनुमानश्च सिद्धव्याप्तिकमेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । व्याप्तिश्च तत्रोप्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रथमानुमानेन वा ? अनुमानान्तरेण चेत्; अनवस्था । प्रथमानुमानेन चेद्; अन्योन्याश्रयः । अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणान्तरं प्रतिपत्तव्यः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तद्वैहणानुपपत्तेः इति ।

एतदेवाह—‘नहि’ इत्यादि । तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भावः तादात्म्यम्, तस्मात् साध्याद् आत्मलाभः तदुत्पत्तिः, पुनरनयोः इतरतरयोगविवृतिव्याख्यानम्—

लक्षणो द्वन्द्वः । ननु स्वन्तर्त्वात् तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति; तन्न; अस्य लक्षणस्य “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” [जैनेन्द्रव्या० २।१।१०४] इत्यनेन अनेकान्तिकत्वात् । ते तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि नैव ज्ञातुं शक्येते । कथमित्याह—‘विना’ इत्यादि । साध्याभावप्रकारेण अन्यथा वा अनुपपत्तिः अद्यतना साधनस्य तस्याः सम्बन्धी ग्राहकत्वेन तर्कः तेन विना । तदेवं वृक्षत्वशिशपात्वादौ तादात्म्यादेः सद्भावेऽपि अविनाभावबलेनैव शिशपात्वादेरेव वृक्षादिकं प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादेः शिशपादिकं प्रति इति प्रतिपाद्य, इदानीं तदभावेऽपि तद्वलेनैव गमकत्वं प्रतिपादयन्नाह—‘ताभ्याम्’ इत्यादि । ताभ्यां तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनैव एकलक्षणस्य अविनाभावस्य सिद्धिः निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा । एतदेव समर्थयमानः ग्राह—‘नहि’ इत्यादि । ‘हिर्यस्मात् न वृक्षादिः आदिशब्देन रसादिपरिग्रहः । छायादेः अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकारः, स्वभावः वृक्षादिछायाद्योः देशादिविभेदात्, कार्यं वा सहभावात् इत्यभिप्रायः ।

ननु च आस्वाद्यमानात् रसात् वृक्षाच्च सामग्री अनुमीयते ततो रूपस्य छायायाश्चा-

(१) अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानं हेतुः । (२) नित्यमर्थक्रियासूत्रं क्रमयोगपद्यानुपलम्भात् इत्यत्र । (३) व्याप्तिग्रहणानुपपत्तेः । (४) ‘सु’ इति संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे पाणिनिव्याकरणस्य ‘धि’ संज्ञायाः स्थाने प्रयुज्यते । “द्वन्द्वे सुः ।” १ । ३ । १७ । द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोज्यम् ।—जैनेन्द्रव्या० । (५) ‘द्वन्द्वे सुः’ इति व्याकरणसूत्रस्य । (६) अत्र हि हेतुशब्दः स्वन्तस्तथापि नास्य पूर्वनिपातः । (७) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि । (८) अविनाभावबलेनैव । (९) वृक्षादि छायादेर्न स्वभावः देशादिविभेदात्, न च कार्यं सहभावात्—आ० डि० । (१०) “एकसामग्र्यधीनस्य रूपादेः रसतो गतिः । हेतुधर्मानुमानेन धूमन्धनविकारवत् ॥ या च रसतो मधुरादिकात् रूपादेः, आदिशब्दात् गन्धस्य स्पर्शस्य च एकसामग्र्याधीनस्य रसादिना सह एकसामग्र्यायतस्य गतिः, सा कथमित्याह हेतुधर्मानुमानेन रसकारणस्य धर्मो रसादिसहचररूपजनकत्वं तदनुमानेन रसाद् रूपादिगतिः । न हि कार्यं रसः कारणमन्तरेण, कारणञ्चास्य रससहकारिरूपजनकं पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तेः । अतस्तस्मिन्ननुमितेऽनुमितमेव रूपम् धूमन्धनविकारवत् । धूमाद् हेतुधर्मानुमानेन इत्थनविकारस्य अङ्गारादेर्धूमसहचरस्यैव वानुमानम् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।८ । “तेनायमर्थो रसात् सकाशात् तद्वतो रससमानकालभाविरूपजनकत्वनिश्चीयते, एवं हि तस्य रससमानकालभाविरूपजनकत्वं निश्चीयते । यदि समानकालभाविनो रूपस्यापि निश्चयः स्यात् तेनातीतैककालानामेकैव गतिः कार्यलिङ्गजा ।”—प्रमाणवा० स्वब० टी० ३।८ । हेतुवि० टी० पृ० ५४५ ।

१-लक्षणमनुमानञ्च सि-ब० । २ इत्यन्तर्त्वात् श्र०, स्वल्पान्तर्त्वात् ब० । ३-मित्याद्याह ब० । ४ वृक्षादेः ब० । ५ हि य-ब० । ६ देशादिभे-श्र०, ब० । ७ सामाध्यातु-ब०, सामाध्यातु-श्र० ।

नुमानम् अनुमितानुमानात्; इत्यप्यसत्; तथा व्यवहाराभावात् । नहि आस्वाद्यमानाद्
रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोर्ति; वर्त्तमानरूपादेरप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा च 'इदमा-
न्नफलम् एवंविधरूपम् एवंविधरसत्वात्' इत्यनुमानम्, पावकरूपदर्शनात् तत्समकालो-
ष्णस्पर्शानुमानम्, तदर्थिनः तत्रैव प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति । व्यवहारानुसारेण च भवैता प्रमा-
५ णचिन्ता प्रतन्यते "ग्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २।५] इत्यभिधानात् । सैमग्रीतो
रूपानुमाने च कारणात् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात् । ततः सिद्धम्-
अकार्यादस्वभावाच्च वृक्षादेः छायाद्यनुमानम् । तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्राह-
'नच' इत्यादि । नच नैव वृक्षादेः छायाद्यनुमाने विसंवादो व्यभिचारोऽस्ति तत्प्राप्ति-
प्रतीतिः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह-

१० चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥ १३ ॥

विवृतिः-न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ।

चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेः स तथोक्तः, तस्मात्, जलचन्द्र आदिर्यस्य

कारिकावितुषोः जलआदित्यादेः सोऽपि तथोक्तः तस्य प्रतिपत्तिः तथा [अन्यथाऽ] तुयैप-
व्याख्यानम्- तिप्रकारेण अनुमा अनुमानम् । जलचन्द्रादिना प्रतिपत्तिः चन्द्रादेरिति

१५ वा व्याख्यातव्यम् । एतदेव व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । 'नहि' नैव जलचन्द्रादेः

(१) तुलना- "समानक्षणयोग्यम्यगमकभावोपलब्धेः; तथाहि-रूपक्षणात् समानकालः स्वर्गोऽनु-
मीयते न पूर्वः, तत्र एकसामग्र्यधीनत्वासेव एव । न च रूपस्पर्शयोः परस्परोत्पत्तौ कारणत्वे प्रमाणमस्ति
इतरान्वयस्येतरानुपलब्धेः ।" -प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । "लौकिकानाञ्चैतद्वसाद् रूपानुमानम् । न चैते
पिशितचक्षुषः क्षणानामन्योन्यभेदमध्यवस्यति । न चानध्यवस्यन्तः प्रवृत्तरूपोपादानसामर्थ्यं रसहेतुमनु-
मातुमुत्सहते ।" -न्यायवा० ता० पृ० १६३ । "लोकस्येत्यमप्रतीतिः; रूपमेव रसाल्लोकः प्रतिपद्यते ।"
लौकिकी च प्रतीतिः परीक्षकैरप्यनुसरणीया ।" -प्रक० पं० पृ० ६७ । बृह० पं० पृ० ९४ । (२) न
प्राप्नोतीत्यर्थः किन्तु इदमामूलकमेवंविधसामग्रीकमिति प्राप्तिः -आ० टि० । (३) रूप-उष्णस्पर्शाग्निः ।
(४) रूपादौ न प्रवृत्तिः प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम् -आ० टि० (५) संगतेन । (६) तुलना- "तथा
च रसात् कार्यात्कारणं रूपमनुमातव्यं तत्तत्त्वानुमिताद्वृत्तात् कारणात् तत्कार्यं रससमानकालं रूपमनु-
मातव्यं तथा च कारणात् कार्यानुमानं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यदिति नाभ्यमेव प्रतिबन्धसिद्धिः ।"
-न्यायवा० ता० पृ० १६२ । प्रक० पं० पृ० ६७ । बृह० पं० पृ० ९४ । "रसादेकसामग्र्यनुमानेन
रूपानुमानमिच्छद्भिरीष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुयैव सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।" -परीक्षासू०
३।६० । सन्मति० टी० पृ० ५९३ । प्रमाणनय० ३।६६ । प्रमाणमी० पृ० ४३ । (७) यदि सामग्री
कारणं रूपादप्रस्तु कार्यं तदा स्वभावलिङ्गं कार्यलिङ्गं कारणलिङ्गमिति त्रयप्रसक्तः -आ० टि० । (८)
"श्रीण्येव च लिङ्गानि । अनुपलब्धिः स्वभावकार्यं चेति ।" -न्यायवि० पृ० ३५ । (९) कारणहेतुसमर्थ-
नार्थम् । (१०) "चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेरसौ चन्द्रादिः तस्मात् कारणभूतात्, जले स्वच्छाम्भासि
चन्द्रादेः चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्य प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमा अनुमानमनुमत्तव्यमव्यभिचारात् । किंवत् ? तथा
कार्यात्कारणप्रतिपत्तिवत् ।" -लघी० ता० पृ० ३२ । तुलना- "चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविधः ।
छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ।" -तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१ । (११) जलप्रतिबिम्बितस्य
चन्द्रादेः । (१२) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि -आ० टि० ।

१ अनुमित्यनुमा-आ०, ब० । २ प्रतिपत्तिश्च ब० ।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अतः तत्रे अव्यभिचारिणी प्रतिपत्तिः प्रतीयते इति ।

ननु जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति, तत्संभवे बिम्बसन्निधानात्
जलादौ न आदित्यदेः प्रागपि तत्रै तदुपलम्भप्रसङ्गात् । अथ बिम्बसन्निधान एव तदुत्पद्यते
प्रतिबिम्बं किन्तु स्वदे- अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्गः ; ननु तैत्सन्निधाने गुणरूपम्, द्रव्यरूपं वा
शस्य एव आदित्यादिः तदुत्पद्येत ? न तावद् गुणरूपम् ; द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । अथ 5
तत्र प्रतिभासते इति प्रति- द्रव्यरूपम् ; तर्हि निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूपं वा ?
बिम्बभाववादिनः कुमा- तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः ; तत्रै अवयवप्रतिभासनात् । नापि सावयवम् ;
रिलभहस्य पूर्वपक्षः— जलादिस्पर्शात् पृथक् तैत्सपक्षोपलम्भासम्भवात् ।

स्पर्शवन्तश्च परमाणवः स्पर्शवद्रव्यस्यारम्भका भवन्ति, तत्र चार्थं किं जलादि-
परमाणव एव आरम्भकाः, अन्ये वा ? न तावदन्ये ; स्पर्शवद्रव्यविदेशे तेषां तदारम्भ- 10
कत्वासंभवात् । अथ जलादिपरमाणव एव तदारम्भकाः ; तन्न ; जलमयत्वेन अस्याऽप्र-
तिभासनात् । जलरूपवैलक्षण्यप्रतीतिश्च, शुक्लं हि रूपं जलस्य, न च मुखादिप्रतिबिम्बे
तदस्ति । न च बिम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम् ; निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशा-
वर्धितस्य रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात् । द्विथोश्च सावयवयोः समानाकाशदेशत्वा-
नुपपत्तिः । आश्रयद्रव्यस्य च आदर्शादेः परिमाणगौरवयोर्लक्ष्णः स्यात्, नचैतदस्ति । 15
अतो न प्रतिबिम्बं किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम् । ननु यदि तन्नास्ति कथं जलादौ सूर्या-
दिप्रतिबिम्बप्रतिभासः ? इत्यप्युक्तम् ; तत्रै तत्प्रतिभासाऽसंभवात्, स्वदेशस्थस्यैव
आदित्यादेः तत्रै प्रतिभासनात् ।

अत्रैके प्रतिबिम्बोदयवादिनः पर्यनुयुज्यते—यदि स्वप्रदेशस्थ एव सविता उप-
लभ्यते न प्रतिबिम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते ? नहि अन्यत्रैस्थः अन्यत्रै द्रष्टुं 20

(१) जलचन्द्रादेः । (२) चन्द्रादी । (३) जले—आ० टि० (४) प्रतिबिम्बोपलम्भ । (५)
प्रतिबिम्बम् । (६) बिम्बसन्निधाने । (७) प्रतिबिम्बे—आ० टि० । (८) हस्तपादादीनाम्—आ०
टि० । (९) यदि सावयवं प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूतं जले समुत्पन्नं तदा तस्य स्पर्शादिभिः पृथग्भूतैर्भवि-
तव्यम्, न चैतत्संभवति, जलीयस्पर्शोच्चात्मकत्वात् प्रतिबिम्बस्पर्शादीनाम् । (१०) प्रतिबिम्बस्य ।
(११) उत्पादकाः (१२) अन्येषाम्—आ० टि० । (१३) शुक्लं रूपम् । (१४) कार्यद्रव्यरू-
पारम्भकं हि समवायिकारणगतं रूपं भवति । (१५) अथ निमित्तकारणं तत्रागत्य निष्पादयतीत्याहु-
—आ० टि० । निमित्तसमवायिकारणयोः । “सहैकत्र द्वयासत्त्वाच्च वस्तु प्रतिबिम्बकम् । तत्कथं कार्यता
तस्य युक्ता चेत्यारमायिकी ॥ अवस्तुत्वे हेतुः सहैकत्र द्वयासत्त्वादिति । यत्रैव प्रदेशे आदर्शरूपं दृश्यते
प्रतिबिम्बकञ्च तत्रैव । न चैकत्र प्रदेशे रूपद्वयस्यास्ति सहभावः सप्रतिष्ठत्वात्, अतः सहैकत्र द्वयोः
रूपयोः सत्त्वं न प्राप्नोति । तस्माद् भ्रान्तिरियम् ।” अतो नास्त्येव किञ्चिद्द्रवस्तुभूतं प्रतिबिम्बकं नाम ।”
—तत्त्वसं० पं० पृ० ४१८, ६९७ । (१६) प्रतिबिम्बम् । (१७) जलादौ । (१८) सूर्यादिप्रतिबिम्ब ।
(१९) जलादौ (२०) जनादयः । (२१) नभोदेशस्थः । (२२) जलादौ ।

1 जलादेवं व० । 2 नावयवम् श्र० । 3 स्पर्शद्रव्य-श्र० । 4—स्थितस्य कार्य-व० ।
5—रूपारम्भक-श्र० । 6 वा व० । 7—स्यातेः प्रति-व०, श्र० । 8 अत्र केचित् प्र- श्र० ।

पार्यते सर्वदा, तैथादर्शनप्रसङ्गात् । न च प्रतिबिम्बमन्तरेण कूपादिषु अधस्तात्तद्दीक्षणम् । प्राङ्मुखश्च दर्पणं पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात् ? यदि च बहिर्निष्कान्तिमिन्द्रियं तैत्रैव बोधयेदर्थं तत एतदेवं भवेत्, शरीरे तु तैद्बोधकमिति । उक्तञ्च—

“अन्ये तु बोधयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैषिणः । स एव चेत् प्रतीयते कस्मादपरि दृश्यते ? ॥

० कूपादिषु कुतोऽधस्तात् प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम् । प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम् ? ॥ तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्याति तैदीन्द्रियम् । तत एतद्बोधेदर्थं शरीरे तत्तु बोधकम् ॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८३-१८६ ।] इति^{११} ।

अत्रोच्यते—जले सूर्यादिदर्शिनां द्वेषा चक्षुः सर्वदा प्रवर्तते, एकमूर्ध्वम्, अपरञ्च अधस्तात् । तत्र नोर्ध्वासंप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽनुजु-
10 त्वात्, अवागवृत्ता तु तं बुध्यते पारम्पर्यापि तं सन्तम् अधिष्ठानजुत्वात्, अवागिव च मन्यते । ऊर्ध्ववृत्तिदेकत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आदित्यः सान्तरालः प्रतीयते । एवं दर्पणादौ नायनो रश्मिः प्रतिहतो व्यावृत्त्य स्वकीयमेव मुखं प्राङ्मुखरश्मेः समर्पयति, ततश्च प्राग्नतया नायनरश्मिवृत्त्या मुखं बुद्धमानः प्रतिपत्ता प्रत्यक् तद्वृत्तिसमर्पितं ‘प्रत्यम्’ इत्यवगच्छति । तैतुक्तम्—
15 “अध्वसूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेषो चक्षुः प्रवर्तते । एकमूर्ध्वमधस्ताच्च तैर्बोर्ध्वासंप्रकाशितम् ॥

(१) जलादावेव सूर्यदर्शनं स्यात् । (२) सूर्यादि । (३) पुरुषः । (४) अर्थेदेशे गत्वा । (५) स्वदे-
शस्य एव आदित्यादिस्तत्र प्रतिभासत इति—आ० टि० । (६) इन्द्रियं चक्षुः । (७) व्याख्या—“जलादिषु यथैकोऽपि नानात्मा सञ्चितेक्ष्यते—इत्यस्य हेतुव्यामिचारविषयत्वेनोक्तस्यासिद्धिं मन्यमानाः प्रतिबिम्बमर्था-
न्तरमिच्छन्तस्तच्चोदयन्ति । यदि स एव एवादित्यो दृश्यते न प्रतिबिम्बं तत्किमिति उपरिस्तादस्य दर्शनं न
भवति ? एवं हि तस्य दर्शनं भवेत् यदि देशावस्थितस्वरूपं गृह्णीयात् नान्यथा, अन्यथा हि अतिप्रसङ्गः ।
किञ्च, कूपादिषु च दूरावःसंविष्टस्याकादिः कथं ग्रहणं भवेत् यदि तत्र प्रतिबिम्बं नोत्पन्नं स्यात् ? न हि
तत्र तथाकादिव्यवस्थितिः । अपि च प्राङ्मुखो दर्पणमवलोकयत् कथमिव प्रत्यङ्मुखो भवति ? न हि
तस्य तदा पृष्ठाभिमुखं मुखमुपजातं दृश्यते । एवं मन्यते यदि बहिर्निगतमिन्द्रियमादित्यं बोधयेत्तत
एतत्स्यात् उपरिस्थितमेव पश्येन्नाधस्तादिति । यावता धर्माधर्मवबोद्धते शरीरे एव तदिन्द्रियं ग्राहकमि-
ष्यते नोपरिस्थम् ॥” —तत्त्वसं० पं० पृ० ६१४ । (८) ‘प्रतिबिम्बेक्षणं भवेत्’—मी० श्लो० । (९) ‘स्याच्चेत्परि’
—मी० श्लो० । (१०) ‘यदिन्द्रियं’—मी० श्लो० । (११) उद्धृता एते—तत्त्वसं० पृ० ६१४ । प्रमेयक०
पृ० ४०८ । (१२) प्रतिबिम्बनिषेधिभिः—आ० टि० । (१३) ऊर्ध्वाधोरश्मिनामेकत्वात्—आ० टि० ।
(१४) व्याख्या—“एकमेव चक्षुरुकण्ठलम्बमानसंप्रवृत्तं द्वेषा वर्तते अधस्तादूर्ध्वञ्च । तत्रोर्ध्ववृत्तिप्र-
काशितं देहानार्जवात्मा बुद्धयत इति । कस्मात्तद्बुद्धयत अत आह—पारम्पर्येति । ऊर्ध्ववृत्तिरधोवृत्त्यै
समर्पयति सा च आत्मन इति । कः पुनर्ऊर्ध्ववृत्तेरधोवृत्त्या सम्बन्धो येन समर्पयति अत आह ऊर्ध्वेति ।
एकस्यैव हि तावन्तो तेनास्योर्ध्ववृत्तेस्तथा वृत्त्या धर्मरूपेणैक्यमिति अधोवृत्त्याऽन्यदुध्यमानस्तदानुगुण्याद-
वागिव सूर्यं मन्यते इति ।यत् प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् कथं प्रत्यङ्मुखो दृश्यत इत्युक्तं तत्राह—
एवमिति । तत्रापि प्रत्यवृत्तिप्रकाशितं मुखम् अधिष्ठानानार्जवात्मा प्रतिपद्यत इति, किन्तु प्रत्यवृत्तिः
प्राग्वृत्त्यै समर्पयति तथा च समर्पितः प्राग्वृत्त्या बुध्यमानः तदानुगुण्येन प्रत्यगिति बुध्यते । नन्वत्र दर्पणस्थमेव

१ बोधयन्त्यत्र श्र० । २ स तम् श्र० । ३—छलीति व० । ४ उक्तञ्च श्र० ।

अधिष्ठानानुजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते । पारम्पर्यापितं सन्तमवावृत्त्या नु बुध्यते ॥
 ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात् अवागिव च मन्यते । अथस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥
 एवं प्रोग्नतैर्या वृत्त्या प्रत्यवृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुखं भ्रान्तः प्रत्यगित्यवगच्छति ॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९० ।] ईति ।

किञ्च, यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरं बिम्बादुत्पन्नं तदा कथं बिम्बे चलति नियमेन ५
 तदपि चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठत् ? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च ततोऽर्थान्तरभूतो घटः
 नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीतम् । प्रतीयते च बिम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन
 प्रतिबिम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न तत् ततोऽर्थान्तरम् । § यदि च तत्ततोऽर्थान्तरं §
 स्यात् तदा दर्पणादौ बिम्बापाये कुतो नोपलभ्यते ? विनष्टत्वाच्चेत् ; न ; निमित्तकारणा-
 पाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीतेः । न खलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादेः कार्यस्य 10
 विनाशः स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा तदपाये तद्विनाशः ; तथापि प्रतिबिम्बविनाशे
 पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः घटविनाशे कपालोपलम्भवत्, न चैवमस्ति । ततो न
 मुखं गृह्यते न जलपात्रेष्विव अधःसान्तरालं तत्कस्य हेतोः ? अत्रापि सान्तरालमेव प्रत्यवृत्त्या प्रकाशितं
 प्राग्भूत्यै समर्पितं तथैव ग्रहीतव्यम् ; उच्यते-चलत्स्वभावस्यापयन्नुपलब्धत्वाददोषः । तेजसेषु हि दर्पणादिषु
 तद्गतमेव मुखं गृह्यते जले तु सान्तरालमिति किमत्रपूच्छयते इति ।”-मी० श्लो० न्यायर० पृ० ७७६-७७७
 “ये हि जलपात्रे जले सूर्यञ्च पश्यन्ति तेषामसूर्यदर्शनामेकमेव चक्षुर्ध्वमधश्च द्विधा भागशः प्रवर्तते ।
 ततोर्ध्वभागप्रकाशितमादित्यमात्मा पुरुषो न गृह्णाति । कुतः ? अधिष्ठानानुबुध्यत्वात्-चक्षुरिन्द्रिया-
 धिष्ठानस्याज्वेन तदानवस्थितत्वात् । पारम्पर्येण तु सूरिण तेजसा वृत्तेरपितमादित्यमवागृत्वा कार-
 णभूतया बुध्यते । तथाहि-किल सौरं तेजस्तेजस्विनं वृत्तेरपयति वृत्तिश्चक्षुषश्चक्षुरात्मन इत्येतत्
 पारम्पर्यापिणं सूर्यस्य तेजस्विन इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरिस्थञ्च तमादित्यमवागिव अधःस्थि-
 तमिव मन्यते । कः ? आत्मा । न पुनरधस्तादन्य एवादित्यः । कुतः ? तदेकत्वात् तस्यादित्यस्य
 अभिन्नत्वात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मादनन्तरोदितेनैव चक्षुषो वृत्तिवशेन सान्तरालोऽवस्तात्कूपादिषु
 सूर्या दृश्यते जलादिपात्रभेदाच्च । अन्यथा कथमभेदेन ग्रहणं स्यात् ? प्रथमं किल चक्षुरस्मयो मुखमा-
 दाय निर्गच्छन्ति यावदादशादिदेशम्, सा प्राञ्जना वृत्तिरुच्यते । ते च तत्रादशादीं प्रतिहता निवर्तमानाः
 स्वमुखमेव यथावस्थितमागच्छन्ति । सा च प्रत्यवृत्तिः । तत्र प्राञ्जना वृत्तिमुखं प्रत्यवृत्तेरपयति,
 प्रत्यवृत्तिरचात्मनः, तत आत्मा प्रत्यवृत्तिसमर्पितमवगच्छन् मुखं भ्रान्त्या प्रत्यक्षमुखं यास्यामीति
 मन्यते । चक्षुर्वृत्तेर्वाच्यमेव भ्रान्तिबीजमिति भावः ।”-तत्त्वसं० पं० पृ० ६१५ । (१५) ‘चक्षुर्द्वेषा’
 -मी० श्लो० । (१६) ‘तत्रोर्ध्वावृत्ति’-तत्त्वसं० ।

(१) ‘अधिष्ठानानुबुध्यत्वाच्चात्मा’-मी० श्लो०, तत्त्वसं० (२) ‘वृत्त्याज्वत्’-तत्त्वसं० ।
 ‘वृत्त्या तु वृ’-मी० श्लो० । (३) ‘ऊर्ध्ववृत्तितदे’-मी० श्लो०, ‘ऊर्ध्ववृत्तितदे’-तत्त्वसं० । ऊर्ध्ववृ-
 त्तिरस्मीनामधोवृत्तिभिः रश्मिभिः सममेकत्वात्-आ० टि० । (४) ‘प्राग्भूतया’-मी० श्लो० । (५)
 ‘भ्रान्त्या’-मी० श्लो०, तत्त्वसं० । ‘भ्रान्तेः’-प्रमेयक० । (६) उवृत्ता इमे-तत्त्वसं० पृ० ६१४ ।
 प्रमेयक० पृ० ४०८ । (७) प्रतिबिम्बमपि । (८) दण्डात् । (९) प्रतिबिम्बम् । (१०) विम्बात् ।
 (११) प्रतिबिम्बम् । (१२) निमित्तकारणस्य बिम्बस्याभावे । (१३) कार्यभूतस्य प्रतिबिम्बस्यापायः ।
 (१४) प्रतिबिम्बावयव । (१५) न खलु प्रतिबिम्बनाशे पश्चात्तुटिता अवयवाः समुपलभ्यन्ते ।

१ प्रागतया अ० । २ तदा तत्कथं आ० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपमन्तव्यम्, किन्तु तेन प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुखादि-
बिम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति’

- तस्मिन्समुत्पन्नं इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽस्य असंभवः प्राहकप्रमाण-
प्रतिबिम्बस्य परमा- संभवात्, उत्पादककारणाभावाद्वा स्यात् ? तत्रैव पक्षोऽनुपपन्नः;
यतः पुद्गलात्मकत्व- निखिलप्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र तैत्सद्भावावेदकस्य संभ-
प्रसाधनम्— वात् । ‘निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामि’ इति प्रतीतिः
प्रतिप्राणि प्रसिद्धा । नहि ईयं ‘चन्द्रं पश्यामि’ इत्येवं रूपोपजायते, नापि जलम् । किं
तर्हि ? चन्द्रादेः प्रतिबिम्बमिति । न चेयं प्रतीतिर्भ्रान्ता; सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशो-
नैव रूपेण उपजायमानत्वात् । यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशोनैव रूपेण उपजायते न
तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसंवेदनम्, तथाभूता चेयं प्रतिबिम्बप्रतीतिः, तस्मान् भ्रान्ता
इति । भ्रान्तसंवेदनस्य तथाविधैरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नहि भ्रान्तं शुक्तिकादौ
रजतादिसंवेदनं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशोनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव
पुंसं तदुत्पत्तिप्रतीतिः, अदुष्टेन्द्रिययोगिनां तेषां तदनुपपत्तेः ।

- किञ्च, यत्र ज्ञाने समुत्पन्ने बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं वा प्रादुर्भवति तद्
भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकायां रजतादिज्ञानम् । न च आदर्शदौ प्रतिबिम्बप्रतीतौ
‘नैतदेवम्’ इत्येवंरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति । न च बाधकाभावेऽप्यस्य
भ्रान्तत्वं वाच्यम्; अतिप्रसङ्गात् । कारणदोषाऽप्रतीतिश्च न तत्प्रतीतिर्भ्रान्ता । प्रतिबिम्ब-
प्रतीतिः खलु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र दोषाः प्रतीयन्ते । नहि
क्षुदादिरात्मनो दोषः निद्रादिर्मनसः काचकामलादिश्चक्षुषः तैत्प्रतीत्युत्पत्तौ प्रतीयते;
सन्तुप्रस्य निद्राद्यनुपहृतचेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तुः प्रतिबिम्बप्रतिपत्तेः प्रतीयमान-
त्वात् । तदेवं सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्षं बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्वप्रसाधकम् ।
तथा अनुमानमप्यस्य औश्रय-बिम्बाभ्यामर्थान्तरत्वप्रसाधकमस्येव । तथाहि—

(१) जलदर्पणादिना । (२) पृ० ४५१ पं० २ । (३) तुलना—“न हि दृष्टाज्येष्ठं
गरिष्ठमिष्टम्”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८० । “न हि दृष्टाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति”—नयच० वृ०
पृ० १८ । “न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति ।”—हेतुबि०टी० पृ० ८७ A. । (४) जलादौ ।
(५) प्रतिबिम्ब । (६) प्रतीतिः । (७) पश्यामीत्येवं रूपोपजायते इति शेषः । (८) एकादृश-आ०
टि० । (९) पुरुषाणाम् । (१०) तुलना—“तस्मात् यस्य च दृष्टं कारणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स
एवासमीचीनः प्रत्ययः नान्य इति ।”—शाबरभा० १ । १ । ५ । (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य । (१२)
आत्ममनश्चक्षुरादिषु । (१३) प्रतिबिम्बप्रतीति । (१४) प्रतिबिम्बस्य । (१५) जलादि ।

१ यतो यस्यासंभ-अ० । २-छपसो-अ० । ३ इति प्रतिप्रा-ब० । ४ न तेन तद् ब० । ५
-विधरूपेणो-ब० । -विधरूपेणो-ब० । ६-दृशोनैकरूपेण अ० । ७ न हि चक्षुरादि-अ०, व० ।
८-हृतमनसो व० । ९ प्रतिबिम्बप्रति-ब० ।

यद् यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-
बिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यश्च चन्द्रादिप्रतिबिम्बमिति । न चैतदसिद्धम्; बिम्बा-
कारानुकारितया हि बिम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिबिम्बम्, यथा मुद्रा-
कारानुकारिणी प्रतिमुद्रा । तत्प्रतीतौ च कथं तौ विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वमस्यै असिद्धम् ।
न चैतद् बिम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्; जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिबिम्बम-
पश्यते; तत्प्रतीतिदर्शनात् । न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य तौ भेदं
न प्रसाधयतीति वाच्यम्; सर्वत्र भेदवाचोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्यैः प्रतीतिभेदैर्नि-
बन्धनत्वात् । अतः बिम्बात् प्रतिबिम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम् । कथमन्यथा यद्वस्तु कदा-
चिदपि न प्रतीतं तस्मिन् परिदृश्यमाने व्यवहितेऽपि तद्विम्बावारकाभावे^३ तत्प्रतिबिम्ब-
प्रतीतिः स्यात् ? तद्विम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात् । तन्न
ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिबिम्बासंभवः ।

नाप्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य
चात्र संभवात् । प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिकं तु निमित्त-

(१) प्रतिबिम्बं जलाद्याश्रयात् चन्द्रादिबिम्बाच्च भिन्नं तद्विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वात् । तुलना-
“तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत्ततो भिन्नं यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा”-स्या० २० पृ० ८६३ ।
(२) बिम्बाकारानुकारितया प्रतीतौ च । (३) चन्द्रादिबिम्बादाश्रयभूतदपणदिश्च । (४) प्रतिबिम्बस्य ।
(५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बदर्शनं । (६) पुरुषस्य । (७) प्रतिबिम्ब । (८) प्रतिबिम्बस्य । (९)
आश्रयाद् बिम्बाच्च । (१०) भेदवाचिण्याः । (११) प्रतीतिभेदो निबन्धनमस्या इति । (१२) वस्तुनि
बिम्बाख्ये । (१३) बिम्बस्य आवरणं यदि स्यात् तदा प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्विम्बा-
वारकाभावे । (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयोः, अव्यवहितत्वनिबन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य ।
(१५) स्थावावरत्नाकरे । (पृ० ८६५) अस्य सोढरं खण्डनमित्यम्-“यदपि प्रभाचन्द्रः प्राह-प्रति-
बिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणं चन्द्रादिकं च निमित्तकारणं गगनतलावल्बिनं चन्द्रं निमित्ती-
कृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति; तदस्यात्यन्तार्जवविजृम्भितम्; यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्रादे-
श्छायापुद्गलाः पृथिव्यादावाश्रये छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिबिम्बस्य छाया-
पुद्गला दपणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिबिम्बरूपतया परिणमन्ते तदा किञ्चाम क्षणं स्यात् अस्यापि
छायाविशेषस्वभावत्वात् । तथा चागमः-सामा उदिया छायाऽभासुरागया निसिमि कालाभा । सा च्चेह
भासुरागया सवेहवन्ना मुण्येव्वा ॥ आदरिससंतो देहावयवा ह्वेति संकंता । तेसि तस्युवल्दी पगासजोगा
न इयरेसि ॥ प्रकरणचतुर्दशशतीकारोपि धर्मसारप्रकरणे प्राह-न ह्यङ्गनावदनछायानुसंक्रमातिरेकेणा-
दर्शके तत्प्रतिबिम्बसंभवः इत्यादि ।”-स्या० २० पृ० ८६५ । तच्च चित्त्यम्-आ० वादिदेवसुरिमतेन हि
मुखादिबिम्बस्य छायापुद्गलाः मुखाद्विनिर्गच्छन्तः दपणादौ स्वच्छतादिसमाग्रीवशात् प्रतिबिम्बमारभन्ते
'अस्मन्मते तु स्वच्छ एवादशादौ बिम्बसन्निधाने तद्गतछायापुद्गलसंक्रमात् प्रतिबिम्बमुत्पद्यते' (स्या०
२० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात् । तत्रेदं विचारणीयं यत्-मुखादिभ्यः छायापुद्गलविनिर्गमनं
किञ्चिद्वन्धनम् ? यदि तेषां स्वभावोयं यत् सदैव विनियन्ति तदा चक्षुषो रश्मिविनिर्गमनं नैयायिकादि-
भिः उक्तं कथं प्रतिषिध्यते । यदि हि आस्रस्वरान्मुखात् घटादौ छायापुद्गलविनिर्गमिः सुक्तिप्रपञ्चथा-
नित्यमिमन्यते तदा भास्वरूपशालिचक्षुषो रश्मिविनियोगं तु न्यायानुभवसङ्गतं सुतरामेव स्यात् । अत-

कारणम्, गगनतलावलम्बनं चन्द्रं निमिच्छीकृत्य जलादिस्तथापरिणामात् ।

यदप्युक्तम्—‘तत्सन्निधाने गुणरूपम् द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत’ इत्यादि; तदप्युक्तम्; द्रव्यरूपस्यैवास्यै तत्सन्निधाने तैत्रोपादाभ्युपगमात् ।

यदपि—‘निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तत् स्यात्’ इत्याद्युक्तम्; तदप्युक्तम् ।
5 क्तिमात्रम्; अस्मदादीन्द्रियग्राह्यद्रव्यस्य निरवयवत्वाऽसिद्धेः ।

यत्पुनरुक्तम्—‘नापि सावयवं जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भाऽसंभवात्’ इति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्तदा स्यात् यदा जलादेः तत्प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूतं द्रव्यं स्यात्, यदा तु जलादिकमेव तंथा परिणमते तदास्य तैतोऽर्थान्तरत्वासंभवात् कथं पृथक् तैत्स्पर्शोपलम्भस्याशङ्काऽपि स्यात् ?

एतेन ‘जलादिपरमाणव एवास्य आरम्भका अन्ये वा’ ईत्यादि प्रत्युक्तम्; जल-
परमाणूनामेव उक्तप्रकारेण तदारम्भकत्वप्रतिज्ञानात् । प्रतिबिम्बे जलरूपाद् विलक्षण-
रूपप्रतीतेः कथं ते तदारम्भकाः ? ईत्यप्यनुपपन्नम्; पुद्गलानां विचित्ररूपादिपरिणाम-
सामग्रीसन्निधाने विचित्ररूपादिपरिणत्युपपत्तेः । हृदयते हि मुखादिबिम्बेऽपि तैत्सन्निधाने
विचित्रैर्वा रूपपरिणतिः, कोपाद् रक्ततया लज्जातः कृष्णतया हर्षात् सुकान्तिसत्तया मुखादेः
15 परिणामप्रतीतेः । अतो मुखचन्द्रादिबिम्बसन्निधाने जलादेर्विचित्रो रूपादिपरिणामो न
विरोधमध्यास्ते ।

एतेन इदमपि प्रतिव्यूढम्—‘द्वयोः सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः,
आश्रयद्रव्यस्य चादर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्’ इति; द्वयोः सावयवद्रव्ययोः
अत्राऽसंभवात्, एकस्यैव जलादिद्रव्यस्य स्वसामग्रीविशेषवशात् तैथापरिणामात् । नच
20 सैमानाकाशदेशत्वं सावयवयोः विरुद्धम्; जलभस्मनोः वातातपयोर्वा सावयवयोरपि

स्वक्षुपो रश्मिविनिर्गमनं प्रतिक्षिपद्भिः मुखादिबिम्बात् छायापुद्गलविनिर्मुक्तिः स्वीक्रियमाणा स्वबधाय
कृत्योत्पापनमेव प्रतिभाति । स्या० रत्नाकरस्य ६९८ पृष्ठे तु एभिरेव प्रमेयकमलमार्तण्डमनुसरद्भिः
स्पष्टमुक्तम् यत्—‘स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्प-
द्यन्ते’ इति, अत्रैव च चक्षुषो रश्मिविनिर्गमनस्य प्रतिषेधात् ज्ञायते यत्तत्प्रकरणे तु वादिदेवसूरयः प्रभाचन्द्र-
मर्थतः शब्दतश्च अनुसरन्ति, अत्र तु तत्खण्डनाभिलाषेण पूर्वपरविरोधमपि न पश्यन्तीति चित्रमेतत् ।

(१) प्रतिबिम्बाकारतया । (२) पृ० ४५१ पं० ४ । (३) प्रतिबिम्बस्य । (४) बिम्ब ।
(५) जलादौ । (६) पृ० ४५१ पं० ६ । (७) हस्तपादाद्यवयवैः सावयवमेव तत्प्रतिबिम्बमभ्युपगम्यते ।
(८) पृ० ४५१ पं० ७ । (९) प्रतिबिम्बरूपेण । (१०) जलादेः । (११) प्रतिबिम्ब । (१२)
पृ० ४५१ पं० ९ । (१३) बिम्बसन्निधानेन जलादीनां प्रतिबिम्बाकारतया परिणमनप्रकारेण । (१४)
श्यामरूपं प्रतिबिम्बे जलादौ शुक्लं रूपम् । (१५) जलादयः । (१६) विचित्रकोपाद्युद्भेदकसामग्रीस-
न्निधाने । (१७) पृ० ४५१ पं० १४ । (१८) प्रतिबिम्बोत्पत्तिस्थले । (१९) प्रतिबिम्बाकारतया ।
(२०) तुलना—‘तदपि समानदेशप्रसारसमीरातपाभ्यां व्यभिचारि’—स्या० २० पृ० ८६१ ।

तत्प्रतीतेः । परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि सावयवयोर्नास्ति; जलकनकादिसंयुक्ताऽनलादौ तदप्रतीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘अप्सूर्यदर्शनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्त्तते’ इत्यादि; तदप्य-
विचारितरमणीयम्; रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः । ततस्तदप्रसिद्धिः
चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपितौ ।

5

ननु प्रतिबिम्बोदयवादिनां मते बिम्बानुकारिणा प्रतिबिम्बेन भवितव्यम् तत्कथं
सव्यदक्षिणविपर्ययेण प्रतिबिम्बस्य प्रतीतिः; इत्यप्यचोद्यम्; स्वसामग्रीतः तस्य सव्य-
दक्षिणस्वभाववैधैव उत्पत्तेः । बिम्बाभिमुखेन हि प्रतिबिम्बेन भवितव्यम्, आभि-
मुख्यञ्च सव्यदक्षिणविपर्ययसव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति तथैव अस्त्योत्तिरूपपन्ना,
अन्यथा ‘प्रतिबिम्बम्’ इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्नः स्यात् ।

10

किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिणविपर्ययोऽसौ गुण एव, यत एव

(१) तुलना—“किम्बतकनकपारदाभ्यामनैकान्तिकत्वात्” —स्या० २० पृ० ८६१ । (२)

उष्णजले हि जलाम्योः द्वयोः सावयवयोः समानदेशता जाता न च परिमाणगौरवयोस्तत्कर्षः, तथा तत्तत्सुवर्णं
सुवर्णान्योः सावयवयोः सम्बन्धोऽपि न तयोस्तत्कर्षः सन्दृश्यते इति भावः । (३) परिमाणगौरवयोः प्रतीतेः—
आ० डि० । (४) पृ० ४५२ पं० १५ । (५) तुलना—“स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणासिद्धेः चाक्षुषं
तेजः प्रतिस्त्रोतः प्रवर्त्तितमिति चातीवासंगतं प्रमाणाभावात्” —प्रमेयक० पृ० ४२५ । चाक्षुषं तेजः
प्रतिस्त्रोतः प्रवर्त्तितमिति चातीवासङ्गतम्; प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तैजसि जलेनाभिसम्बन्धः पुनः
सवितारं प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते । यथा च नायनरश्मीनां विषयं प्रति प्रवृत्ति-
र्नास्ति तथा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रपञ्चके प्रतिपादितमित्यलमिति प्रसङ्गेन । —स्या० २० पृ० ६९८ । (६)
पृ० ७५—८२ । (७) सव्यदक्षिणविपर्ययेणैव । (८) तुलना—“तदपि प्रतिबिम्बशब्दनिश्चयैव कृतोत्तरम्, परं
मिथ्याभिनिवेशाच्च चेतयते भवान् । प्रत्यक्षिबिम्बं प्रतिबिम्बमुच्यते । प्रत्यक्षिता चास्य सकलतदीया-
लकतिलकभ्रूभङ्गकुट्टादिविशेषस्वीकरणेनाभिमुखतया पुरःस्थायित्वम् । तच्च सव्यदक्षिणपार्श्वविपर्यय-
सव्यतिरेकेणास्य नोपपद्यते इति तथैवोत्पत्तिरूपपन्ना, अन्यथा तु प्रतिबिम्बमिति व्यपदेश एवास्यानुपपन्नः
स्यात्” —स्या० २० पृ० ८६२ । (९) तुलना—“किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिण-
पार्श्वयोर्विपर्ययोऽसौ गुण एव । यत एव बिम्बविपरीतधर्मयोगोज्ज एवातोऽस्यान्यत्वमिति ।” —स्या० २० पृ०
६८२ । “आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणतोऽपलभ्यते इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव ।
अत्राह—विपरीतग्रहणं कुतः प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखं छाया दृश्यते इति ? प्रसन्नद्रव्यपरिणामविशेषाद्
भवति । अत्र चोद्यते नादर्शतलादिच्छायासदभावः । किं तर्हि ? नयननिर्गतेन रश्मिना धनद्रव्यात् प्रति-
हृतनिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति; तदयुक्तम्; विपर्ययग्रहणाभावप्रसङ्गात् कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात्
ग्रहणशक्त्यभावाच्च । विपर्ययग्रहणाभावप्रसङ्गात् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव
ग्रहणं प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमेव ग्रहणं स्यात् विपर्ययसहेत्वभावात् । कुड्यादिषु वाजतिप्रसङ्गः स्यात्,
नयनरश्मेः प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात् ।” —राजवा० पृ० २३३ । न्यायवि० वि० पृ० ५६७ B ।
“कथं पुनर्दर्पणतलादिषु प्रतिबिम्बं मुखादीनां सम्मुखमेव छायाकारेण परिणमते न प प्राङ्मुखम् ? कथं
वा कठिनमादर्शमण्डलं प्रतिभिच्च मुखतो विनिर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिह्वत इति ? यतावदुच्यते
सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुदेति नात्यन्तो मुखमिति; तत्र परिणामः स तादृशः पुद्गलानाम्, न हि तद्विषयः
पर्यनुयोगः कर्तुं शक्यः” —तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६४ । (१०) मम—आ० डि० । जैनस्य ।

1-परिणाम-ब० । 2-तदप्रतिपत्तेः ब० । 3-वसिद्धिश्च चक्षु-ब० । 4-विपर्ययोऽसौ गुण ब० ।

विम्बधर्मविपरीतधर्मयोगोऽत एव अस्य अतोऽन्यत्वम् । यदि च प्रतिविम्बमन्यन् स्यात्, आदर्शदिना प्रतिहतैर्नयनरश्मिभिर्व्यावृत्त्य देशविपर्ययेन मुखादेरेव आदर्शदौ प्रकाशनात् ; तदा कुड्यादिनाऽपि प्रतिहतास्ते व्यावृत्त्य किमिति कुड्यादौ मुखेन प्रकाशयन्ति विशेषाभावात् ? नचात्रैव स्वच्छता उपयोगिनी; रश्मिप्रतीघातमात्रस्यैव तत्रोपयोगात्, तच्च उभयैत्राप्यविशिष्टम्, प्रत्युत कुड्यादिनां घनद्रव्येण अतिशयवान् प्रतीघातो विधीयते, अतः तत्र अतिशयवता तद्व्यतिभासेन भाव्यम् । कारणातिशयाद्धि कार्यातिशयो दृष्टः, यथा पिप्तातिशयात् शङ्खादिषु पीतत्वावभासातिशयः । अस्मन्मते तु निर्मले स्वच्छ एव आदर्शदौ विम्बसन्निधाने प्रतिविम्बमुत्पद्यते न पुनः कुड्यादौ तद्विपरीते, अतस्तत्रैव तद्व्यतिभासाभावः ।

किञ्च, आदर्शदिना प्रतिहता रश्मयः व्यावृत्त्य यदि विम्बमेव प्रकाशयन्ति; तर्हि महतो हस्त्यादेः स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् । नचैवम् । अतः प्रतिविम्बमेव तत्रैव तर्थाभूतमुत्पन्नं प्रतिभासते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । स्वपरिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिविम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्तिरविरुद्धा । यदि च कृपाणादौ कर्चादौ चाश्रये प्रतिहतास्ते व्यावृत्त्य विम्बमेव प्रकाशयन्ति; तदा आयत-इयाममुखप्रतीतिर्न स्यात् । अस्मन्मते तु अश्रयस्य आयतत्वात् इयामत्वाच्च तदारब्धस्य प्रतिविम्बस्यापि आयतत्वं इयामत्वञ्चोपपन्नम् । जलादेस्तु अतिस्वच्छत्वात् विम्बाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिविम्बोत्पत्तिः ।

यदप्युक्तम्—“यदि प्रतिविम्बमर्थान्तरमुत्पन्नम्” इत्यादि; तदप्यत्र चिन्ताभिधानम्; अर्थान्तरस्यास्योत्पत्तावपि नियमेन निमित्तकारणक्रियानुकारितया तैस्क्रियायां नियमेन क्रियावत्त्वोपपत्तेः प्रदीपप्रकाशवत्, छत्रछायावद्वा । यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति प्रकाशश्छाया च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एवं विम्बे चलति नियमेन

(१) प्रतिविम्बस्य । (२) विम्बात् । (३) तुलना—“यदि चावर्षाद्विप्रतिहता रश्मयः मुखं प्रकाशयन्ति तदा शिलातलाद्विप्रतिहता अपि ते तत्प्रकाशयेयुः विशेषाभावात्”—स्या० २० पृ० ८६४ । (४) व्यावृत्त्य विम्बप्रकाशने । (५) प्रतिघातमात्रम् । (६) दर्पणादौ कुड्यादौ च । (७) विम्बप्रतिभासेन । (८) जैनमते । (९) अस्वच्छेऽप्यारदर्शनि । (१०) कुड्यादौ । (११) विम्ब । (१२) तुलना—“तदा महतो हस्त्यादेः स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गाल्लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् ।” स्या० २० पृ० ८६४ । (१३) दर्पणादौ । (१४) लघ्वाकारोपेतम् । (१५) तुलना—“अपि च यदि काचकृपाणादौ प्रतिहतास्ते व्यावृत्त्य विम्बमेव प्रकाशयन्ति तदा तत्रायतस्याममुखप्रतीतिर्न स्यात् ।” स्या० २० पृ० ८६४ । (१६) इयामकाचादौ । (१७) रश्मयः । (१८) कृपाणस्य काचादेश्च । (१९) पृ० ४५३ पं० ५ । (२०) तुलना—अर्थान्तरस्योत्पत्तावपि नियमेन परिणामकारणक्रियानुकारितया तस्मिन्चलति चलनस्य तिष्ठति स्थानस्य च तत्रोपपत्तेः ।” स्या० २० पृ० ८६२ । (२१) मुखादिविम्ब । (२२) मुखादौ क्रियायां सत्याम् ।

१—दर्शनादौ व० । २—ष्टं पटकुड्या—व० । ३—ना द्रव्येण व० । ४—हस्तादेः आ० ।

५ लघुप्रति—श्र० ।

प्रतिबिम्बं चलति तिष्ठति तु तिष्ठति । न खलु घटे नियमेन निमित्तकारणक्रिया-
नुविधानं न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र तन्निषेद्धमुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि तन्निषेध-
प्रसङ्गात् । घटे च तद्वद् भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः प्रदीपप्रकाशादावपि
तन्निषिद्धतामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्टः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीतेः’ इत्यादि; तदप्यनल्प- 5
तमोविलसितम्; प्रदीपछत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशछाययोरपायप्रतीतेः ।

एतेन ‘प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः’ इत्यादि प्रत्युक्तम्;
प्रदीपादेर्विनाशेऽपि तद्वदप्रतीतेः । न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक्
तदवयवाः कचित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थायिनो भवन्तीति ।

साम्प्रतम् ‘अतीतैर्कालानां गतिः नाऽनागतानां व्यभिचारात्’ [प्रमाणवा० 10
स्ववृ० ११२] इत्येतन्निराकुर्वन्नपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति—

भविष्यत् प्रतिपद्येत शक्यं कृत्तिकोदयात् ।

अ आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥ १४ ॥

(१) दण्डादि—आ० टि० । (२) प्रतिबिम्बेऽपि । (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम् ।
(४) निमित्तकारणक्रियानुविधान । (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुक्लरूपादिकमपि । (६)
निमित्तकारणभूतप्रदीपवत् भासुररूपादिकं तत्प्रकाशे निषिद्धयताम् । (७) पृ० ४५३ पृ० १० । (८)
तुलना—‘न खलु मृदाद्यपाये कलशादावपायो नोपलब्धः इति ।’—स्या० २० पृ० ८६३ । (९)
पृ० ४५३ पृ० ११ । (१०) तुलना—‘सौवामिनीप्रदीपादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनु-
पलम्भात् ।’—स्या० २० पृ० ८६३ । (११) अवयवोपलम्भ—आ० टि० । (१२) ‘अतीतानामेककालानाम्’
—प्रमाणवा० स्ववृ० । व्याख्या—‘तत्रापि रसादे रूपाद्यनुमाने अतीतानामेककालानाञ्च गतिः रसोपादा-
नसमानकालभाविनोऽतीताः लिङ्गभूतरससहभाविनः एककालाः तेषाञ्ज्गतिः नानागतानाम् वर्तमानेन
लिङ्गेनानुमानं व्यभिचारात्, अनागतं हि कारणान्तरप्रतिबद्धं तत्र प्रतिबन्धवैकल्यसंभवाच्च भवेदपि ।
यच्चाद्योदयात् इवः सूर्योदयाद्यनुमानन्न तदनुमानं नियामकलिङ्गाभावात्, अद्य गर्दभदर्शनात् इवः
सूर्योदयानुमानवत् ।’—प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० ११२ । उद्धतमिदम्—सिद्धिबि० टी० पृ० ३११ A ।
प्रमेयक० पृ० ३८१ । स्या० २० पृ० ५९० । (१३) रोहिणीनक्षत्रम् । (१४) ‘शक्यं रोहिणीं
धर्मां मुहूर्तान्ते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्मः, कुतः ? कृत्तिकोदयादिति साधनम् । न खलु कृत्तिकोदयः
शक्योदयस्य कार्यं स्वभावो वा; केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरमिति प्रतिपद्येत अनुमन्येत
सर्वोऽपि जनः इति । तथा इवः प्रातः आदित्यः सूर्यः उदेता उदेष्यति अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत । तथा
इवो ग्रहणं राहुसर्पशो भवष्यति एवंविधफलकाङ्क्षादिति वा प्रतिपद्येत सर्वनाड्यभ्यभिचारात्’—लघी०
ता० पृ० ३३ । तुलना—‘कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिकलृप्तिवत् ।’—मी० हली० पृ० ३५१ ।
प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । प्रमाणप० पृ० ७१ । परीक्षामु० ३।७१ । सम्मति० टी० पृ० ५९१ ।
प्रमाणनय० पृ० १८० । प्रमाणमी० पृ० ४१ । जेतर्कभा० पृ० १६ । ‘प्रतिबन्धपरिसंख्यायाम् उदेष्यति
शक्यं कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम् ?’—सिद्धिबि० पृ० ३१७ B ।

१—क्रियानुमानं व०, —क्रियाविधानं आ० । २—प्रदीपादावपि व० । ३—विशेषः आ० ।

४—बिम्बप्रकाशे व० । ५ तत्प्रतीतेः श्र० । ६ प्रतीतै—आ० ।

विवृतिः—तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाण-
संख्याश्च प्रतिरुणद्धि ।

भविष्यद् भावि, प्रतिपद्येत जनः । किम् ? शकटम् । कुतः ?

कृत्तिकोदयात् । तथा इवः प्रातः आदित्य उदेता इति

कारिकार्थः—

प्रतिपद्येत अद्य आदित्योदयात् इति गम्यते । ‘ग्रहणां वा भविष्यति’

इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाङ्क्षादेः ।

करिकायाः तात्पर्यार्थमुपदर्शयन्नाह—‘तद्’ इत्यादि । तस्माद् एकलक्षणाश्रितता-

द्धेतोः एतद् भविष्यद्विषयं भाविशकटोदयादिगोचरम् अविसंवादकं
विवृतित्याख्यायाम्—

ज्ञानं सिद्धम् । तत् किं करोति ? इत्याह—प्रतिबन्धसंख्यां प्रतिरुणद्धि

10 तादात्म्यतदुत्पत्त्योरत्राऽसंभवात् । अर्थं कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकार्थवादयमदोषः ;

तन्न; अतीतकृत्तिकोदयादेः शकटोदयात् प्रतीयभावप्रसङ्गात् । अन्योन्यकार्यत्वे अन्यो-

न्याश्रयप्रसक्तिः । अन्यच्च तत् किं करोति ? इत्याह—प्रमाणसंख्याश्च प्रतिरुणद्धि परंपरि-

कल्पितस्य प्रतीतिबन्धस्य पक्षधर्मत्वाद्वाऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावात् ।

तन्न कार्यस्वभावानुपलब्धिनिष्पन्नमभवं त्रिविधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्या-

15 नियमः सौगतानां व्यवतिष्ठते प्रौढगुलङ्घप्रभवानुमानानां ततोऽर्थान्तरत्वप्रसिद्धेः ।

एतेन नैयायिकोपकल्पितः पञ्चधैवानुमानमित्यनुमानसङ्ख्यानियमः प्रत्याख्यातः ;

पूर्वोक्तानुमानानां पञ्चस्वनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु “अस्येदं कारणं कार्यं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्” [ब्रह्मे० सू० १।२।२]

कारणादयः पञ्च हेतव इति सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम् अविनाभावस्य अत्रैव

20 एव गमकाः इति वैशे- परिसमाप्तेः, तत्कथं नैयायिकानामनुमानसंख्यानियमो न व्यव-

धिकस्य पूर्वपक्षः— तिष्ठेत ? अत्र कारणानुमानम् ; यथा ज्वलदिन्धनदर्शनात्

(१) फलेके पट्टके खंडद्याद्यगणनायाः (खटिकादिलिखिताङ्कगणनायाः)—आ० टि० । (२) अविनाभावक । (३) कृत्तिकोदय-शकटोदययोः । तुलना—“न पूर्वोत्तरचारित्र्योस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ।”—परीक्षामु० ३:६१ । प्रमाणनय० ३:६७ । (४) भाविकारणवादी प्रज्ञा-करणगुप्तः प्राह । प्रज्ञाकरणगुप्तस्य भाविकारणतासूचकं मतमित्यम्—“भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत एव मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः । यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवदेवभूतमरिष्टमिति... तस्मादनागतस्यापि कारणत्वमव्यभिचारोदिति युक्तमेतत् ।”—प्रमाणवातिकाल० पृ० १७७ । (५) भवत्येवमपि प्रयोगः—जातः कृत्तिकोदयः शकटोदयात्—आ० टि० । (६) कृत्तिकोदयानुमाने सिद्धे सति ततः शकटोदयानुमानम्, तस्माच्च कृत्तिकोदयानुमानमिति । (७) सौगत । (८) तादात्म्या-दिसम्बन्धस्य । (९) हेतो रूपत्रयस्य । (१०) कृत्तिकोदयादिहेतुजन्यानुमानानाम् । (११) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धनिबन्धनानुमानात् । (१२) “कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलम्भापुलभ्यमानं सद्

१—पञ्चेत् आ० । २—अथत्वप्रस-ब० । ३ प्रतिबिम्बस्य ब० । ४ पञ्चतैवा—अ० ।

५—तिष्ठेत् आ० ।

मविष्यति भस्म इति । कार्यत् कारणानुमानम् ; यथा नदीपूरोपलम्भात् वृष्टेः । संयोगि-
दर्शनात् संयोगिनोऽनुमानम् ; यथा धूमदर्शनाद् बहेः । समवायिदर्शनात् समवायिनो-
ऽनुमानम् ; यथा शब्दाद् आकाशस्य । ऐकार्थसमवायिदर्शनात् ऐकार्थसमवायिनो-
ऽनुमानम् ; यथा रूपाद् रसस्य । विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम् ; यथा विस्फू-
र्जितनकुलदर्शनात् सन्निहितसर्पज्ञानमिति ।

5

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्’ इत्यादि;
तदसमीक्षिताभिधानम् ; तदतिरिक्तानां कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्व-
प्रतिपादनात् । अविनाभाववशाद्दि हेतोरनुमानाङ्गत्वं न कारणादि-
रूपतामात्रेण अस्याऽव्यापकत्वादिप्रसङ्गाच्च । अविनाभावस्य तु सकल-
हेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्वशादेव हेतोर्गम-
कत्वं प्रतिपत्तव्यम् । नहि तद्व्यतिरेकेण कचिदपि हेतोर्गमकत्वं
प्रतीयते; सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्तेः । कार्यकारणभावस्य च षट्-
पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात् परमते कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धिः । संयोगसम-
वाययोरपि तत्रैव निषेधात् संयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धिः । विरोधिनोऽप्यविना-
भावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् ।

10

15

गमकम्, यथाहि—विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्ठाद् वृष्टो देवः इति । तथा च बहुलस्वरूपफेनफेनिलपर्ण-
काष्ठादिवहनविशिष्टस्य नदीपूरस्य वृष्टिकार्यत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तमनुमानम्—
अयं नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिति । पूरस्तु उभयतटव्यापकोदक-
संयोगः । स पारम्पर्येण वृष्टिकार्य इति । कारणमिति कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेरुपलम्भमानं तल्लिङ्गं
यथा च विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मणः ।तथा धूमोऽग्नेः संयोगीसमवायी च उष्णस्पर्शां वारिस्थं
तेजो गमयतीति । विरोधीच यथाहिर्विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादिलिङ्गमिति ।—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७२ ।
प्रश्न० किर० पृ० ३०२ ।

(१) पृ० ४६० पं० १९ । (२) तुलना—‘समुद्रवृद्ध्यादौ यथोदितसम्बन्धाभावेऽप्यनुमानदर्शनात् ।
संयोगसमवायैकार्थसमवायास्तु नानुमानोत्पत्ती कारणम् । नहि कण्डलुना छात्रानुमानम्, नापि रूपादेः
पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रसानुमानमिति । यच्च विरुद्धस्यानुमानस्योदाहरणं भूतं वर्षणकर्म
अभूतस्य वाय्वभूसंयोगस्यानुमापकं तथाऽभूतं वर्षणकर्म भूतस्य वाय्वभूसंयोगस्यानुमापकमिति; तदनु-
पपन्नम्; भावाभावयोर्द्वय गम्यगमकता, न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् कार्यकारणभावादय एव
सम्बन्धाः यस्य येन नियता अव्यभिचारिणः स हेतुरिति.....’—प्रक० पं० पृ० ६८ । व्याख्या०
ता० पृ० १६४ । स्या० २० पृ० ५३२ । लघी० ता० पृ० ३४ । (३) कारणादिरूपतामात्रस्य
कृत्तिकोदयादिहेतुषु अव्याप्तिः, धूमादिसाध्यं प्रति व्यभिचारित्वाद्वत्वाभासभूतेषु अग्न्यादिवु सद्-
भावाच्चातिप्रसंगः । (४) अविनाभावं विना । (५) पृ० २२० । (६) वैशेषिकमते । (७) षट्-
पदार्थपरीक्षायाम् पृ० २९७ ।

यदपि सांख्यैरभिहितम्—मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि-वध्य-

सांख्यपरिकल्पितेभ्यो
मात्रामात्रिकादिसत्-
हेतुभ्योऽपि कृत्तिको-
६ दयादिपूर्वचरदिहे-
तूनां पृथक्त्वया गम-
कत्वप्रसाधनम्—

घाताद्यैः सप्रधाऽनुमितिः । तत्र मात्रामात्रिकानुमानम् ; यथा चक्षुषो
विज्ञानानुमानम् । कार्यात् कारणानुमानम् ; यथा विबुधुर्दर्शनात् कारण-
विज्ञानम् । प्रकृतिविरोधिर्दर्शनात् तद्विरोध्यन्तरानुमानम् ; यथा न
वर्षिष्यति बलाहकः प्रत्यनीकपवनयोगित्वात् । सहचराऽनुमानम् ; यथा
चक्रवाकयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम् । स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनु-
मानम् ; यथा लत्रविशेषदर्शनात् राज्ञोऽनुमानम् । वध्यघातानुमानम् ;
यथा सहर्षनकुलदर्शनात् ‘घातितोऽनेन सर्पः’ इति ज्ञानम् । आदिग्रहणात् संयोग्यनु-
मानम् ; यथा समुदायवर्तिनि परिव्राजके ‘कः परिव्राजकः’ इति संशये त्रिदण्डदर्शनात्
१० ‘परिव्राजकोऽयम्’ इति ज्ञानमिति । तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम् ; कृत्तिकोदयादिहेतूनां
नैयायिकोपकल्पितहेतुभ्य इव अतोऽर्थान्तरभावाविशेषात् ।

अथेदानीम् ‘दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या संशयहेतुत्वात्’ इति नियमं
निराकुर्वन्नाह—

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।

तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तिः ॥ १५ ॥

विबुधिः—अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्धयति
अपि तु स्वचित्तभावश्च, तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः

(१) आदिशब्दात् संयोग्यनुमानं सप्तमम्—आ० टि० । (२) विबुधः कादाचित्कत्वेन कार्य-
त्वात् केनापि कारणेन भवितव्यमिति—आ० टि० । (३) तुलना—“एतेन सप्तविधः सम्बन्धः इति प्रत्यु-
क्तम्”—न्यायवा० पृ० ५७ । “एतेनैव—मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः । स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः
सांख्यानां सप्तधानुमा ।”—न्यायवा० ता० पृ० १६५ । नयचक्रवृ० पृ० ४२४ अ. १ लघी० ता० पृ०
३४ । (४) सांख्यकल्पितहेतोरपि । (५) “प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः, सति
वस्तुनि तस्या असंभवात्, अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु आत्मप्रत्यक्ष-
निवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् । (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशय-
हेतुः प्रमाणनिवृत्तावपि अथभावासिद्धेरिति ।”—न्यायवि० पृ० ५९ । वादन्याय पृ० १८ । “अनु-
पलब्धिलक्षणप्राप्त्यानुपलब्धेः संशयहेतुतयाऽगमकत्वादिति भावः ।”—वादन्यायटी० पृ० १९ । हेतुवि०
टी० पृ० १६२ अ. १ । (६) “विदुर्जानन्ति, के ? लौकिकाः । अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, तेन लौकिका
गोपालादयोऽपि किं पुनः परीक्षकाः इत्यर्थः । कम् ? अभावम् असत्ताम्, कस्य ? अदृश्यपरचित्तादेः
परेषामातुराणां चित्तं चैतन्यमादिर्यस्यासौ परचित्तादिः, अदृश्यरचासौ परचित्तादिश्च स योक्तस्तस्य ।
आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिप्रभृतिर्गुह्यते यस्य सूक्ष्मस्वभावः । कुतः ? तदित्यादि, तस्य परचित्तादेः
कार्यभूतोऽविनाभावी आकार उष्णस्पर्शादिलक्षणः तस्य विकारोऽन्यथाभावः आदिर्यस्य वचनविशेषा-
रोप्यादेः तस्यानुपपत्तिः असंभवात् ।”—लघी० ता० पृ० ३४ । (७) “अदृश्यानुपलब्धभावाविति सिद्धि-
रित्युक्तम् ; परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः संस्कृतृणां पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगा-
देविनिवृत्तिर्निर्णयात् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२ । लघी० ता० पृ० ३५ ।

परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतग्रहण्यधिपरिग्रहः,

कारिकार्थः— तस्याऽभावं लौकिका विदुः । कुत इत्यत्राह—‘तदाकार’
इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना सहभावी शरीरगत उष्णस्पर्शा-

दिलक्षण आकारः तदाकारः तस्य विकारः अन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनवि- 5
शेषस्य तस्य अन्यथानुपपत्तिः ।

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापारः, परचित्ताभावश्च अभावः

तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेदः । तच्च अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादि-
अभावपरिच्छेदे अभाव-
प्रमाणस्यैव व्यापारः
न भावरूपाणां प्रत्यक्षा-
दीनामिति अभावस्य
प्रथक् प्रामाण्यवादिनो
मीमांसकस्य पूर्वपक्षः—
भ्यो भिन्नम्, तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भिन्नविषयत्वात् भिन्नफल-
साधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वादिविशेषणविशिष्टं 10
तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतश्चेदम्, तस्मा-
त् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वम-

सिद्धम्; तथाहि—इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपायाः प्रत्यक्षादिसामग्रीतः
तावदभावप्रमाणं नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन सह इन्द्रियाणां सन्निकर्षाभावात् । न हि तत्र
तेषां संयोगलक्षणः सन्निकर्षः संभवति; अभावस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षणः; 15
द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात् । तैरभावो च तत्प्रभेदः संयुक्तसमवा-
यादिः दूरादपास्तः । संयुक्तविशेषणभावोऽप्यसंभाव्यः; घटाभावस्य भूप्रदेशविशेषणत्वा-
भावात् । विशेषणं हि संयुक्तं समवेतं वा भवति यथा दण्डो गुणादिश्च, न चाभावः
कचित् संयुक्तः समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च—

“न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।

मावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८]

(१) “अभावोऽपि प्रमाणभावः नास्तीत्यर्थस्यासन्निकृष्टस्य”—शाबरभा० १।१।५। (२)
“अभावशब्दान्वयत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते । प्रमाणभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥”—मी० श्लो०
अभाव० श्लो० ५४। (३) द्रव्यद्रव्ययोश्च संयोगात् । (४) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषणामेव
च समवायित्वम् । (५) संयोगसमवाययोः । (६) चक्षुःसंयुक्तं भूतलं तद्विशेषणश्चाभाव इति ।
“मा भूत् संयोगतः, संयुक्तविशेषणत्वाद् गृह्यतामिति चेत्; न; असति सम्बन्धे विशेषणत्वायोगात् ।
अस्त्येव सम्बन्ध इति चेत्; कोऽसौ ? न तावत्संयोगः; अद्रव्यत्वात् । न समवायः; तदनभ्युपगमात् ।
अभ्युपगमे वा संयुक्तसमवायादेव ग्रहणात् तद्विशेषणत्वमवक्तव्यं स्यात् । तत्र तावद् भवतामस्ति
सन्निकर्षः अस्माकं तु अस्ति संयुक्तसमवायः । तथापि तु नैन्द्रियकत्वमित्यत्रैव वक्ष्यामः ।”—मी० श्लो०
व्यापार० पृ० ४७९। (७) “न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः”—मी० श्लो०। (८)
‘संयोगो’—मी० श्लो०। सन्मति० टी० पृ० ५८०। प्रमाणमी० पृ० ९। (९) उद्धृतोऽयम्—

१-सिद्धिपरी-ज० वि० । २ ‘भिन्नविषयत्वात्’ नास्ति व० । ३ प्रत्यक्षतत्साम-व० ।
४-विशेषणीभावो अ० । ५-भाव्यो यथा घटा-व० ।

यदि नेन्द्रियादिसामग्रीतस्तदुत्पद्यते, कुतस्तर्हि तदुत्पद्येत इति चेत् ? उप-
लब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेधार्थानुपलब्धिर्भूतलाद्याश्रयोपलब्धि-प्रतिषेधघटादिस्मरणलक्षण-
सामग्रीविशेषात् ।

“गृहीत्वा वैस्तुसङ्गावं स्तृवौ च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपेक्षयौ ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

“प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभावा उच्यते ।

सौत्सर्गोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

इति तत्त्वलक्षणसामग्रीतस्तैदुत्पत्तिश्च तद्वदन्यतमस्याप्यपाये तदनुपपत्तेः सुप्रसिद्धा ।

यदि हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाद्याश्रयोपलब्ध्यापि अभाव-
प्रतीतिर्न स्यात् । यदि च भूतलाद्याश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा भूतलाद्यवच्छेदेन घटाद्यभाव-
प्रतीतिर्न स्यात् । नहि अज्ञातस्य विशेषणत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात् । न च सामान्येन
घटाद्यभावप्रतीतिरुपजायते, किन्तु भूतले । तथा, यदि प्रतियोगिस्मरणं न स्यात् तर्हि
‘नास्ति’ इत्येवंरूपा प्रतीतिः स्यात् ननु ‘घटो नास्ति’ इति । अतः सिद्धं प्रत्यक्षसामग्री-
तो मित्रसामग्रीप्रभवत्वमभावप्रमाणस्य ।

तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि; तस्य हि सामग्री लिङ्गादिलक्षणा, न च अभावेना-

सिद्धिर्वि० टी० पृ० १७९ B. । प्रमेक० पृ० १८९ । सन्मति० टी० पृ० ५८० । जैनतर्कवा० पृ०
७८ । न्यायाव० टी० पृ० २२ । स्या० र० पृ० २८० । प्रमाणमी० पृ० ९ ।

(१) भूतलाद्याश्रयलक्षणम् । (२) यस्याभावः क्रियते स प्रतियोगी यथा घटाभावे घटः ।
(३) उद्धृतोऽयम्-प्रश्न० व्यो० पृ० ५९२ । न्यायमं० पृ० ५० । बृहदा० वा० पृ० ८८५ ।
सिद्धिर्वि० टी० पृ० १७९ B. । प्रमेयक० पृ० १८९ । सन्मति० टी० पृ० २३, २७६ । न्यायाव० टी०
पृ० २२ । न्यायवि० वि० पृ० ४८८ A. । स्या० र० पृ० २८० । प्रमेयर० पृ० ६९ । रत्नाकराव०
२।१ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३ । प्रमाणमी० पृ० ९ । जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९२ । प्रभाकरवि० पृ० ५८ ।
प्रमेयरत्नको० पृ० ५८ । (४) ‘सात्मनः परिणामः’-मी० श्लो० । ‘तामेव द्विधा विभजते सेति ।
योज्यमात्मनो घटादिविषयः प्रत्यक्षादिज्ञानस्वरूपः परिणामः तदभावमात्रमेवानुत्पत्तिरभावः इति
बोध्यते । तच्च घटाद्यभावविषयं नास्ति, बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाणं नास्ति इति ।’-मी० श्लो०
न्यायर० पृ० ४७५ । ‘सा प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः निषेध्याभिमतघटादिपदार्थज्ञानरूपेणापरिणतं साध्या-
वस्थमात्मद्रव्यमुच्यते, घटादिविविक्तभूतलज्ञानं वा’-तत्त्वसं० पृ० ४७१ । आत्मनः स्वरूपस्या-
परिणामः इति प्रसज्य इति प्रतिषेधः-आ० टि० । (५) पयुदासः-आ० टि० । भूतलादिवस्तुन्या-
श्रयभूते । उद्धृतोऽयम्-प्रश्न० व्यो० पृ० ५९२ । ‘इयते’-तत्त्वसं० का० १६४९ । प्रमेयक० पृ०
१८९ । सन्मति० टी० पृ० ५८० । स्या० र० पृ० २७८ । बृह० पृ० १२० A. । रत्नाक-
राव० २।१ । बृहत्सर्व० पृ० १५२ । (६) आभावोत्पत्तिश्च । (७) प्रतिषेध्यानुपलब्धि-आश्रयो-
पलब्धि-प्रतियोगिस्मरणेष्वन्यतमस्य । (८) इह भूतले घटाभाव इति प्रतिनियतदेशतया । (९)
भूतलस्य (१०) “न चाप्यत्रानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते । भावांशो ननु लिङ्गं स्यात्तदानीं नाजि-
घृषणत् ॥”-मी० श्लो० पृ० ४८४ ।

१-लब्धिप्रतिषेधभूतला-श्र० । २-त्वा तत्प्रति-आ०, ब० ।

ऽविनाभूतं किञ्चिज्ज्ञमस्ति । अनुपलब्धिरस्तीति चेत् ; नन्वसौ गृहीतव्याप्तिका, अगृहीत-
व्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत् ? न तावदगृहीतव्याप्तिका; अतिप्रसङ्गात् । नापि गृहीत-
व्याप्तिका; यतो व्याप्तिग्रहणं धूमाग्निवद् उभेयधर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाश्च
कुतः अभावाख्यधर्मग्रहणम्—अत एव अनुमानात्, तदन्तराद्वा ? यदि अत एव; अन्यो-
न्याश्रयः; तथाहि—अतोऽनुमानादभावसिद्धौ अनुपलब्धेरभावेन अविनाभावित्वसिद्धिः, 5
तत्सिद्धौ चाऽतोऽनुमानादभावसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तत्सिद्धौ चाऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्याख्यं लिङ्गमपि उपलब्ध्यभावस्वभावम्, अतः तत्स्वरूपप्रति-
पत्तावपि उक्तदोषानुषङ्गः । अनुपलब्धेरग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्योः अविनाभाव-
प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीसमुत्थता; प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाण- 10
सामग्र्याः अर्थापत्त्यादिसामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-
शब्दाद्विलक्षणायाः सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षादिभ्यो भिन्न-
सामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम् ।

नापि भिन्नविषयत्वम्; तथाहि—‘इह भूतले घटो नास्ति’ इति प्रत्ययः न तावद्
भावविषयः, तद्वैलक्षण्येन प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषयः, 15
भूतलम्, तत्संसर्गो वा ? प्रथमपक्षे सति घटे घटसत्ताप्रत्ययवत् अभावप्रत्ययोऽपि
स्याद् आलम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु सघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्गः
विषयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्संसर्गः; घटसंयुक्तेऽपि भूतले
‘घटो नास्ति’ इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविविक्तं भूतलम् अस्य विषयः; ननु तद्वै-
विष्यं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा ? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्; † तर्हि 20
विद्यमानेऽपि घटे तत्प्रत्ययप्रसङ्गः । अथ ‘तद्व्यतिरिक्तम्; तर्हि नाममात्रं भिद्यते नार्थः;
विं विक्ताशब्देन अभावस्यैव अभिधानात् । अतः सिद्धो भावादर्थान्तरम् अभावप्रमाण-
स्यैव परिच्छेदोऽभावः, प्रत्यक्षादीनां भावविषयतया अभावगोचरचारित्र्याभावात् ।

(१) “प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिङ्गं भविष्यति । ... न चानवगतं लिङ्गं गृह्यते चेदसर्वपि ।
अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना ॥ स चान्येन ग्रहीतव्यो गृहीते हि लिङ्गता । तद्गृहीतिर्हि
लिङ्गेन स्यादव्येनेत्यनन्तता ॥ लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यतः । क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्वं
लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥” —मी० इलो० पृ० ४८६-८८ । शास्त्रदी० पृ० ३३५ । (२) साध्य-
साधनरूपोभयधर्म—आ० टि० । (३) असिद्धम्—आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविलक्षणतया । (५)
विषयभूतस्य घटस्य । (६) “न भूतलम्; सत्यपि घटे प्रसङ्गात्” —शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (७)
घटो नास्तीतिप्रत्ययस्य । (८) “कोऽयं घटविवेकः ? यदि भूतलरूपमेव; घटवत्यपि प्रसङ्गः ।
‘घटसंयोगाभावस्वेत्; अङ्गीकृतस्तर्हि अभावः ।” —शास्त्रदी० पृ० ३२७ । (९) नास्तीतिप्रत्ययः ।

1—हि अनुमा—आ० । 2 वास्तो आ० । 3 वाज्—आ० । 4—स्थलि—आ०, ४० । 5 विषयभूतलस्य
व० । विषयभूतस्य भूतस्य श्र० । † एतदन्तरगतः पाठो नास्ति आ० । 6 विविक्तशब्देन आ० ।

यदि चाभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टः परिच्छिद्येत ? यदा हि केनचिद् अपवरकः स्वरूपेण गृहीतः जिज्ञासाऽभावाद् 'देवदत्तोऽत्र नास्ति' इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदेशमसौ गतः, यदा केनचित्पुष्टः 'किं तत्र देवदत्त आसीन् वा' इति ? प्रतिवेचनञ्चासौ तदैव तद्देशमनुसृत्य देवदत्ताभावं प्रतिपद्य प्रयच्छति 'नासीत्' इति । नहि तत्र इन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसंभवः ? ततो न प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभावः ।

नाप्यनुमानादिपरिच्छेद्यः; तद्वित्ताभाविनो लिङ्गादेरसंभवात् । अनुपलब्ध्यदेशं तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव कृतोत्तरत्वात् । अतः पारिशेष्याद् अभावप्रमाणगोचर एव अभाव इति नासिद्धं भिन्नविषयत्वम् । उक्तञ्च—

10

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणात् ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

नापि भिन्नफलसाधकत्वम्; अभावावगतिलक्षणफलस्य अभावप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः । अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य प्रतीषेध्याधारग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य नवर्थविषयस्य नवर्थसंवित्तिफलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) “स्वरूपमात्रं दृष्ट्वाऽपि पश्चात्किञ्चित्स्मरन्नपि । तत्रान्यमास्तितं पृष्टस्तदेव प्रतिपद्यते ॥ यदा हि कश्चित् प्रातःकाले कञ्चिद्देशमध्यासीनस्तत्र व्याघ्रादिकमदृष्ट्वा तदस्मरणाच्च तदभावमप्यगृहीत्वा देशमात्रं दृष्ट्वा देशान्तरगतो मध्यन्दिने पुच्छते 'कश्चित्तरिमन्देरो प्रातःकाले व्याघ्रो गजः सिंहः पाथिवो वा समागतः?' इति । स तदा तं देशमवगतत्वात्स्मरन्नपि तत्र देशेऽप्येषां व्याघ्रादीनामभावं प्रागगृहीतं तदैव गृह्णाति । न च मध्यन्दिने समये प्रातःकालिकस्याभावस्यानिन्द्रियसन्निकृष्टस्य संभवति प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, तस्यैन्द्रियसन्निकृष्टवर्तमानविषयत्वात् ।”—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४८३ । शास्त्रदी० पृ० ३३९ । (२) उत्तरम् । (३) देवदत्ताभावे । (४) “नाप्यनुमेयः; अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धग्रहणासंभवात् ।”—शास्त्रदी० पृ० ३४० । (५) “मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् । भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणात् । तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणात् ॥ अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते । प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद् भावात्मकात् पृथक् ॥”—मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५, ४६, ५५ । (६) व्याख्या—“आचकः (उन्नेकः) त्वेवं व्याख्यातवान् यत्र घटाख्ये वस्तुनि प्रत्यक्षादि सद्भावप्राहकं नोपजायते तस्य नास्तित्वा भूयदेशाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया”—स्या० र० पृ० २७९ । “तत्र सदसद्रूपेणोभयात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूपे वस्त्वेषोऽसद्रूपाख्ये प्रमाणपञ्चकमर्थोपसिपर्यन्तं न जायते । किमर्थम् ? वस्तुनः सत्ताभावबोधार्थम् । तत्र अभावांशे प्रमेये अभावस्य प्रमाणात् ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७० । उद्घृतोऽयम्—प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । हेतुभि० टी० पृ० १९० A. । तत्त्वसं० का० १६४८ । षड्व० श्लो० ७६ । प्रमेयक० पृ० १८९ । सन्नति० टी० पृ० ५८० । नन्दि० मलय० पृ० २५ । स्या० र० पृ० २७९ । ‘वस्त्वसत्तावबोधार्थं’—षड्व० श्लो० ५०, बृह० पृ० १२० A. । प्रमेयर० पृ० १३९ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३ । चित्सु० पृ० २६८ । बृहत्सर्व० पृ० १६५ । नन्दि० मलय० पृ० २५ । (७) असिद्धमित्यत्रापि योज्यम्—आ० टी० । (८) प्रतिषेधो घटः तस्याधारो भूलादिः (९) प्रतियोगिस्मरणम् प्रतियोग्यनुपलब्धिश्च शाब्दा ।

१ —च हि तदे —अ० । २ —देव सिद्धेः अ० ।

न च अवस्तुविषयत्वादस्य अप्रामाण्यम्; अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्तेः । यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भावः, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति । अवस्तुत्वे चास्य भेदो दुर्घटः, यदवस्तु न तस्य भेदः यथा खपुष्पादेः, अस्ति च प्रागभावादिभेदोऽभावस्य इति । तदवस्तुत्वे च अर्थानां साङ्कर्यं स्यात्, दध्यादेः क्षीराद्यवस्थायां प्रागभावादेरवस्तुतयाऽसाङ्कर्योऽहेतुत्वात्, तथा च 5 प्रतिनियतव्यवहारवाचोच्छेदः स्यादिति । तदुक्तम्—

“नै च स्याद्व्यवहारोऽयं कौरणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि मिद्यते ॥
यद्वाऽऽवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तौ यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिबद्धस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥
नै चावस्तुन एते स्युः भेदाः तेऽस्य वस्तुता । कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादितः (ना) ॥
वस्त्वै सङ्करसिद्धिश्च तैस्त्रामाण्यं समाश्रिता । क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥ 10
नास्तिता पयसो दधि प्रध्वंसामावलक्षणम् । गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योऽप्याभाव उच्यते ॥

(१) अभावस्य । (२) अभावस्य । (३) परस्परान्तत्वम् । (४) व्याख्या—“यत् खलु दधिरूपं प्रागभूत्वा भवति तदुपादेयं कार्यम्, यच्च प्रागवस्थितं क्षीररूपं पश्चाच्च भवति तदुपादानकारणम्, सोऽयं कार्यकारणविभागः । तथा गौरश्वो न भवति, अश्वो न भवति गौः, विषाणस्यैव शश इत्यादि व्यवहारोऽस्त्यभावस्य प्रागभावादिरूपभेदे तोपपद्यत इति ।”-मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७४ । (५) कार्यस्य प्रागभावः कारणम्-आ० टि० । (६) व्याख्या—“अस्ति ह्यभावस्य प्रागभावादिरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति । तत्रैव हेतुवन्तरमाह प्रमेयेति”-मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५ । “अभावो वस्तु इति पक्षः, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति हेतुद्वयं गवादिवादिनि दृष्टान्तः ।”-तत्त्वसं० पं० पृ० ४७३ । (७) अभाव इति-आ० टि० । (८) प्रागभावादि-आ० टि० । (९) व्याख्या—“न ह्यवस्तुनो भेदो युक्तः वस्तुविधेयान्तात्वात्तस्य तस्मादभावो वस्तु । कीदृशं पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह-कार्यादीनामिति । क्षीरादेः कारणस्य यो भावः स एव दध्यादेः कार्यस्याभावः, कार्यस्य दध्यादेर्यो भावः स एव क्षीरादेः कारणस्याभाव इत्येतदभाववस्तुत्वम् ।”-तत्त्वसं० पं० पृ० ४७३ । (१०) भेदवत्त्वेन । (११) ‘को योऽभावः कारणादिनः’-मी० श्लो० । ‘स यो भावः कारणादिना’-तत्त्वसं० । ‘को भावो यः कारणादिन’-स्वामि० टी० । ‘को भावो यः कारणादिनः’-स्या० २० । ‘को भावो यः कारणादिना’-षड्व० बृह० । (१२) व्याख्या—“प्रत्यक्षादिभिः सद्रूपेण प्रमीयमाणमपि घटादिकमसद्रूपेण अभावस्य प्रमेयम्, असंकरोऽसद्रूपमभाव इति यावत् ।”-मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७३ । (१३) ‘तत्प्रामाण्यसाधनाय’-मी० श्लो० । (१४) व्याख्या—“क्षीरमूवादी कारणे दधिघटादिलक्षणं कार्यं नास्तीत्येवं यत्प्रतीयते लोके स प्रागभाव उच्यते । यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादी दध्यादि कार्यं भवेदेव । एवं दधि क्षीराख्यस्य यन्नास्तित्वमयं प्रध्वंसभावः, अन्यथा दधि क्षीरं भवेदेव । गवादी अशवादेरभावोऽन्योऽप्याभाव उच्यते । यस्मात्तस्य गवादेः पररूपमशवादिस्वभावो नास्ति तस्मात्तयोरन्योन्याभाव उच्यते । अन्यथा गवादी भवेदशवादि यन्नन्योन्याभावो न भवेत् । शशशिरसोऽवयवा निम्ना (अनुवृत्ताः) बुद्धिकाठिन्याभ्यां रहिता विषाणादिरूपेण अत्यन्तमनन्तः अत्यन्ताभाव उच्यते । यदि त्वत्यन्ताभावो न भवेत् शशो शृङ्गं भवेदेव ।”-तत्त्वसं० पं० पृ० ४७२ । उद्धृतोऽयम्-न्यायसं० पृ० ६५ । हेतुबि० टी० पृ० ८१ B. ।

शिरसोऽवयवौ निम्ना वृद्धिकाटिन्यवर्जिताः । शशशृङ्गादिरूपेण सोऽल्यन्ताभाव उच्यते ॥
 चौरि दधि भवेदेवं दधि चौरं घटं पटः । शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥
 अस्तु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह । व्योम्नि संस्पृश (शि)ता ते च न चेदस्यै प्रमाणात् ॥
 [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७, ९, ८, २-६ ।] इति ।

- ५ अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अभावप्रमाणं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्’ इत्यादि;
 तत्प्रतिविधानपुरस्सरम् अभावस्य प्रत्यक्ष- तदसमीक्षिताभिधानम्; तद्विषयस्य प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमानतया
 तद्विषयस्य प्रत्यक्ष- तस्य ततो भेदानुपपत्तेः । द्विविधो हि अभावः—विप्रकृष्टार्थसम्बन्धी,
 तद्विषयस्य प्रत्यक्ष- अविप्रकृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः
 समर्थनम्— स प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते, इन्द्रियव्यापारादनन्तरम् ‘अघटं भूतलम्’
 १० इत्यादिप्रत्ययप्रतीतेः । अप्रत्यक्षत्वं च अभावस्य इन्द्रियेणाऽसम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात्,
 असद्रूपत्वाद्वा ? न तावदसम्बद्धत्वात्; रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उक्तता अथ च वृद्धिमन्तः कठिना अवयवा विषाणत्वेन व्यपदिश्यन्ते, यदा च शशशिर-
 सोऽवयवाः निम्नाः अनुपपन्ना अथ च वृद्धिकाटिन्यविरहिताः तदा त एव शृङ्गाभावरूपेण व्यपदेशाः ।
 (२) रसगन्धौ । (३) संस्पृशितो भावः संस्पृशिता स्पर्श इत्यर्थः । ‘संस्पृशकास्ते च’—तत्त्वसं०,
 स्या० २० । ‘संस्पृशता ते च’—सत्यति० टी० । (४) रूपरसगन्धाः—आ० टि० । (५) अभावस्य ।
 (६) एतेऽष्टावपि श्लोकाः निम्नप्रश्नेषु उद्धृताः—तत्त्वसं०, तत्त्वसं० ५० पृ० ४७१-४७३ ।
 प्रमेयक० पृ० १९० । सन्मति० टी० पृ० ५८०-५९१ । षड्व० बृह० पृ० १२० B. । ‘न च स्यादव्य’
 इति श्लोकं विना सप्त श्लोकाः—स्या० २० पृ० २८१-८३ । (७) पृ० ४६३ ५० C. । ‘अभावोऽप्यनु-
 मानमेव, यथोक्तं कार्यं कारणसदभावे लिङ्गम्, एवमनुत्पत्त्यं कार्यं कारणसदभावे लिङ्गम् ।’—प्रश०
 भा० पृ० ५७७ । (८) तुलना—‘प्रत्यक्षादिनैवाभावस्य प्रतीतेः, तथा चाक्षव्यापारादिव भूतले घटो
 नास्तीति ज्ञानमपरोक्षमूल्यमानं दृष्टम्’—प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । प्रश० कन्ध० पृ० २२६ । ‘शब्दे
 ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।’—न्यायसू० २।२।२ ।
 ‘अभावोऽप्यनुमानमेव’—न्यायवा० पृ० २७६ । ‘सत्यमभावः प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमान-
 स्वरूपत्वात् प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छिद्यते मृगयते । अदूरमेदिनीवैश्वर्यनिस्तस्य चक्षुषा । परिच्छेदः
 परोक्षस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि ॥’—न्यायसं० पृ० ५१ । ‘अन्यस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्योपलब्ध्या
 घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धिः । एतदुक्तम्भवति—घटप्राहकत्वस्य भूतलप्राहकत्वस्य चैकज्ञा-
 नसंसर्गित्वात् यदा भूतलप्राहकमेव तज्ज्ञानं भवति तदा घटप्राहकत्वाभावं निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्य-
 क्षसिद्धेव घटानुपलब्धिः ।’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १६ । ‘यदि वस्तु प्रमाभावः सेयाभावस्तथैव च ।
 प्रत्यक्षेऽन्तर्गतोऽभावः तथा सति कथञ्च ते ॥’—तत्त्वसं० पृ० ४७५ । ‘भावाभाववितरस्यापि प्रत्यक्ष एव’
 —सिद्धि० टी० पृ० १७९ A. । ‘एवञ्चाभावप्रमाणवैयर्थ्यम् असदंशस्यापि प्रत्यक्षादिसंसर्गगम्य-
 त्वसिद्धेः ।’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । ‘अभावप्रमाणं तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवति’—स्या० २० पृ०
 ३१० । न्यायवा० टी० टि० पृ० २१ । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षादेः—आ० टि० ।
 (११) ‘न चाभावस्यासत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्व्यवसीयमानत्वात्; तथाहि—इह भूतले घटो नास्तीति
 ज्ञानमिन्द्रियभावव्यतिरेकानुविधानादिन्द्रियजम् ।’—प्रश० व्यो० पृ० ४०० ।

१—तामेव न व० । २—द्वयप्र-व० । ३ विप्रकृष्टोऽर्थसम्बन्धी चेति व० । ४—सम्बन्धभावाः
 आ० । ५—सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य असम्बद्धस्य ग्रहणं तथा अभावस्यापि । ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्त्तिनोऽपि ग्रहणप्रसङ्गः अविशेषात्; इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम् । नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्त्तिनो ग्रहणं दृष्टम् । अथ रूपे चक्षुषः संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावादसम्बद्धत्वमसिद्धम्; तन्न; चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात् । तैस्त्वन्वात् तैस्य तेनैव ग्रहणे च रसादेरपि ग्रहणप्रसक्तिः तदविशेषात् । 5 अयम्यत्वात्तदग्रहणे देशान्तरादिस्थस्य अभावस्याप्यत एवाग्रहणमस्तु अविशेषात् ।

किञ्च, आश्रयग्रहणसापेक्षम् अभावग्रहणम्, आश्रयश्च सन्निहित एव गृह्यते, तत्कथं देशान्तरादिस्थस्य अभावस्य ग्रहणसम्भावनाऽपि ? तन्नेन्द्रियेणासम्बद्धत्वादस्य अप्रत्यक्षता युक्ता ।

नाप्यरूपित्वात्; तैस्य प्रत्यक्षतां प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्वं प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्, 10 परमाणूनां रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात् । गुण-कर्म-सामान्येन अनेकान्ताच्च; न खलु रूपादिगुणस्य गमनादिकर्मणः गोत्वादिसामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते ।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षतां प्रतिहन्ति; असद्रूपस्य हि सद्वृत्तया प्रत्यक्षत्वमनुपपन्नं न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थानां प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात् । नहि घटस्य 15 पटात्मना प्रत्यक्षत्वविरोधे स्वात्मनापि तद्विरोधो युक्तः; सर्वत्र प्रत्यक्षव्यवहारोच्छेद-प्रसङ्गात् । तत्सर्वतमिच्छता भाववद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम् । ननु तथापि अभावस्य कथं प्रत्यक्षता विरोधीदिति चेत् ? भावस्य कथम् ? प्रत्यक्ष-प्राप्तत्वाच्चेत्; ईतरत्र समानम् । तथाहि—उन्मीलिते चक्षुषि भूतलं घटाभावश्च प्रतिभासते, न निमीलिते । अतः समाने तद्भावभावित्वे कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्षं न घटाभाव- 20 ज्ञानमिति नियमविभागो युक्तः ? प्रयोगः—यच्चक्षुर्भावाऽभावानुविधायि तत् प्रत्यक्षम् यथा भूतलविज्ञानम्, तदनुविधायि च घटाभावज्ञानमिति । अप्रत्यक्षत्वे चास्य आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारकत्वेन प्रसिद्धः । तदुपकृत-चक्षुःप्रभवत्वानभ्युपगमे च घटाभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्तिः स्यात् ।

- (१) अभावस्य । (२) असम्बद्धत्वस्य समानत्वात् । (३) पृ० ७७ । (४) संयुक्त-समवायसम्बन्धात् । (५) रूपस्य—आ० टि० । (६) इन्द्रियेण—आ० टि० । (७) संयुक्तसमवाया-विशेषात् 'चक्षुःसंयुक्तमामादिकं' तत्र च रसस्य समवायात् । (८) रसस्याग्रहणे । (९) अयोग्य-त्वादेव । (१०) तुलना—'नचासम्बद्धत्वाविशेषाद्देशान्तरादिषु सर्वाभावग्रहणमाशङ्कनीयम्; आश्रय-ग्रहणसापेक्षादभावप्रतीतिः, आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षत्वात् ।'—न्यायमं० पृ० ५२ । (११) आश्रयो भूतलादिः । (१२) अभावस्य । (१३) रूपित्वस्य । (१४) प्रत्यक्षत्वविरोधः । (१५) प्रत्यक्षव्यवहारम् । (१६) प्रत्यक्षत्वेत् कथमभावः, अभावत्वेत् कथं प्रत्यक्ष इति विरोधः । (१७) अभावेऽपि । (१८) चक्षुः—आ० टि० । (१९) घटाभावज्ञानस्य । (२०) आलोकादकृत ।

ननु घटाद्यभावज्ञाने लोचनान्वयव्यतिरेकाविविधानम् अन्यथासिद्धम् रूपज्ञानान्तरभाविस्पर्शसंवेदनवत्, यथैव हि दूरदेशस्थितज्वलज्ज्वलनज्वालारूपोपलम्भानन्तरभाविनि तद्रूपेणस्पर्शसंवेदने लोचनान्वयव्यतिरेकाविविधानम् अन्यथासिद्धं तर्था भूतलोपलम्भानन्तरभाविनि घटाद्यभावज्ञानेऽपि; इत्यप्यसाम्प्रतम्; 'इह भूतले घटो नास्ति' इति ज्ञानस्य भेदाऽसिद्धेः । सिद्धे हि ज्ञानभेदे तद्वैयव्यव्यतिरेकाविविधानस्य अन्यथासिद्धत्वं वक्तुं युक्तम् रूपस्पर्शज्ञानवत् । न चात्रै तद्भेदोऽस्ति, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिज्ञानवत् 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिज्ञानस्यापि एकस्य उभयार्थावलम्बिनः अनुपरतनयनव्यापारे प्रतिपत्तिरि प्रतीतेः । अस्तु वा तद्भेदः, तथापि इन्द्रियान्वयव्यतिरेकाविविधायित्वेन उभयस्योपलम्भाऽविशेषे कथमेकस्य प्रत्यक्षत्वमन्यस्याऽप्रत्यक्षत्वं वक्तुं युक्तं स्वेच्छाकारित्वप्रसङ्गात् ?

प्रतियोगिस्मरणानन्तरभावित्वात् घटाद्यभावप्रतीतिरप्रत्यक्षत्वे संविकल्पकप्रत्यक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तद्वि निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं शब्दार्थसम्बन्धस्मरणे सति 'घटोयम्' इत्याद्याकारमुपजायते । तर्थाविधस्याप्यस्य इन्द्रियान्वयव्यतिरेकाविविधायितया प्रत्यक्षत्वे घटाद्यभावप्रत्ययस्यापि तद्वस्तु अविशेषात् । न चैवं रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनेऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गः इत्यभिधातव्यम्; स्पर्शग्रहणयोग्यताशून्यत्वाच्चक्षुषः स्पर्शनस्यैव तद्ग्रहणयोग्यतासद्भावात्, अन्यथा उपर्युक्तवगिन्द्रियस्यापि

(१) अनुमया -आ० टि० । "अवश्यकलूतनियतपूर्ववृत्तिन एव कार्यसंभवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धम्"-मुक्ता० का० १९-२० । तुलना-"न च दूरव्यवस्थितदूतवहुरूपदर्शनपूर्वकस्पर्शानुमानवदिदमन्यथासिद्धं तद्भावभावित्वम्; तत्र हि बहुधाः स्पर्शदर्शनकौशलशून्यत्वमवधारितं चक्षुषः, स्पर्शपरिच्छेदि च कारणान्तरं त्वगिन्द्रियमवगतम् । अविनाभावित्वा च पुरा तथाविधयो रूपस्पर्शयो रूपलब्धेत्यनुमेय एवासी स्पर्श इति युक्तं तत्रान्यथासिद्धत्वं चक्षुष्यापारस्य, प्रकृते तु नेदृशः प्रकारः समस्ति ।"-न्यायमं० पृ० ५१ । "यत् भूप्रदेशग्रहणजन्मन्येव अक्षाणामुपयोगित्वादक्षापेक्षित्वमन्यथासिद्धमभावज्ञानस्येत्युक्तम्; तदनुपपन्नम्; न खलु ज्ञानद्वयं क्रमेणोत्पद्यमानमिदमनुभूयते प्रथममिन्द्रियजं भूप्रदेशज्ञानं ततः प्रतियोगिस्मरणे सति मानसमिन्द्रियानपेक्षं नास्तिताज्ञानं च । एकस्यैव कुस्मादिविविक्तभूप्रदेशग्रहिणो ज्ञानस्याभावग्राहित्वेनाप्यनुभूयमानत्वात्, तस्य चेन्द्रियजत्वेन त्वयापि प्रतिपन्नत्वात्तान्यथासिद्धमक्षापेक्षित्वमभावज्ञानस्य ।"-इया० २० पृ० ३१० । (२) इन्द्रिय । (३) इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र । तुलना-मभावज्ञानस्य । (४) घटो नास्तीति ज्ञानमेकमेवेदमिह कुण्डे दधौति ज्ञानवद् उभयालम्बनमनुपरतनयनव्यापारस्य भवति, तत्र भूप्रदेशमात्र एव नयनजं ज्ञानमतरत्र प्रमाणान्तरजमिति कुतस्त्योऽयं विभागः ।"-न्यायमं० पृ० ५१ । (४) भूतलघटाभावो उभयम् । (५) ज्ञानभेदः । (६) भूतलघटाभावो उभयम् । (७) भूतलस्य । (८) घटाभावस्य । (९) घटस्मरण । (१०) वैशेषिकाद्यभिमतया-आ० टि० । (११) सविकल्पकम्-आ० टि० । (१२) स्मरणानन्तरभाविनोऽपि सविकल्पकस्य । (१३) प्रत्यक्षत्वम् । (१४) इन्द्रियान्वयव्यतिरेकाविविधानस्य समानत्वात् । (१५) स्पर्शग्रहण । (१६) चक्षुषा स्पर्शग्रहणे सति-आ० टि० । (१७) बधिरत्वगोवत्त्वगिन्द्रियस्यापि-आ० टि० । पक्षाघातादिना शून्यस्पर्शनेन्द्रियस्य पुंसः ।

१-न्ययत्वातिरेका-ब० । २ तदा श्र० । ३ ज्ञानस्यास्य भे-श्र० । ४ ज्ञानस्य भे-श्र० । ५ प्रतिपत्तिं प्र-आ०, श्र० । ६-प्रत्यक्षस्यापि श्र० ।

स्पर्शसंविन्तिः स्यात् । तस्मादानुमानिकमेव ईदं विज्ञानं 'यद् रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि वा, यदेवंविधरूपवत् तदेवंविधस्पर्शवत्' इति सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्तेः, यदित्यमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तदग्निमत्, यद्वा यदेवंविधधूमवत् तदेवंविधाग्निमत्' ईत्याद्यवगताविनाभावहेतुप्रभवं विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तर-
भाविस्पर्शविज्ञानमिति । ततः स्थितमेतत्-देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यत इति ।

यस्तु देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः सोऽनुमानादेः; तत्र देशविप्रकृष्टस्य कमलाकरकमलादेः सम्बन्धी विकासाद्यभावः दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते । कालविप्रकृष्टस्य च शर्कटादेः मुहूर्तान्ते उदयाभावः अश्विन्युदयात् प्रतीयते । स्वभावविप्रकृष्टस्य च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभावः व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते । न खलु एवंविधाभावः एवंविधलिङ्गादन्यतः कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्यः ।

एतेन यदुक्तम्- 'यद्यभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देवदत्ताद्यभावः परिरिच्छेद्ये' इत्यादि; तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरके देवदत्तः' इत्यादिप्रतीतिः स्मृतिर्वात् 'आसीत् तत्र घटः' इत्यादिप्रतीतिवत् । अपवरक-
प्राहिणौ हि प्रत्यक्षेण तत्राऽसैन्निकृष्टार्थानामभावा युगपत्प्रतिपन्नाः तत्र सन्निकृष्टार्थसद्भाववत् । तदुत्तरकालश्च संस्कारप्रबोधवशात् तद्भावाभावविषया प्रतीतिः उदयमासादयन्ती स्मृतिवत् जहातीति । न चैतद् वक्तव्यम्- 'सकृदनुभूतेषु सकल्पदार्थाभावेषु

(१) रूपदर्शानन्तरभावि स्पर्शज्ञानम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात् । (२) इयं सामान्येन व्याप्तिः । (३) एषा विशेषतो व्याप्तिः । (४) सामान्यतो विशेषतश्च । (५) तुलना- 'कश्चित्पुनरसन्निकृष्टदेशवृत्तिरनुभूतेषु भवदयभावः यथा सन्तमसे सलिलधाराविसर्गसक्तस्य मूलमभिवर्षति देवे घनपवनसंयोगाभावोऽनुमीयते, यथा वाऽर्थापत्तावुदाहृतं गृहभावेन चैत्रस्य बहिरभावकल्पनमिति । आगमादप्यभावस्य क्वचिद् भवति निश्चयः । चौरादिनास्तितज्ञानमध्वगानामिवाप्ततः ॥'-न्यायमं० पृ० ५४ । (६) रोहिण्यादिनक्षत्रस्य । (७) पु० ४६६ पं० १ । (८) तुलना- 'अस्य स्मरणत्वात् । यद्यपि पूर्वं हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पकं ज्ञानं नोत्पन्नं तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवकुले निर्विकल्पकं ज्ञानमुत्पन्नम् । अन्यथा हि यदाहं देवकुलमद्राक्षं न तदा तं समीपवर्तिनं हस्तिनमिति प्रश्नानन्तरं स्मरणं न स्यात् । तत्तु दृष्टम् । यस्य वस्तुनः पूर्वं नाभावः परिरिच्छिन्नस्तत्र परप्रश्नानन्तरं संशेते 'न निरीक्षितं मया किं तत्र देवदत्तोऽस्त्युत हस्ती' इति । न चेदानीमभावो निश्चिनोति' अतः पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीत्युक्तमेतत् स्मरणं 'न मया तत्र हस्ती दृष्टः' इत्यादि । -प्रश्न० व्यो० पृ० ५९३ । न्यायमं० पृ० ५३ । प्रश्न० कन्व० पृ० २२७ । (९) देवदत्तादीनाम् । (१०) अपवरके । (११) येषामर्थानां सद्भावः तेषां सद्भाववत्या येषाञ्च देवदत्तादीनामभाववत्तेषामभाववरूपेण । (१२) तुलना- 'ननु मेवकबुद्ध्या सकलाभावग्रहणे सहस्रैव सकलाभाववत्स्मृतिरुप-

१ मुहूर्तान्ते श्र० । २-स्य चै-श्र० । ३ परिरिच्छते श्र०, परिरिच्छते आ० । ४-हिणा प्र-आ०, श्र० । ५-नामभावो युगपत्प्रतिपत्तेः तत्र ब० ।

सहसैव स्मृतिः स्यात्' इति; अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यकारणत्वात्, अनुभूतेष्वपि हि भावाभावस्वभावेषु निखिलार्थेषु यस्य यस्य संस्कारोद्बोधनिमित्ता प्रश्नादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृतिः प्रादुर्भवति 'इदं तत्रासीत्, इदं नासीत्' इति ।

- यदपि—'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाद्याश्रयग्रहणरूपा सामग्री' इत्याद्युक्तम्; तद-
 ४ प्यसारम्; आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न खलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यक्षं भूतलग्रहणादृते घटते । न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति; अन्धकारे प्रदीपाभावप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेऽप्युत्पत्तेः । न चान्धकार एव आश्रयः इत्यभिहितव्यम्; प्रकाशाभावमात्रतया भवता तस्य दृष्टेः, स एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य तैद्यतिरिक्तस्य कस्यचित्तत्रं ग्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीतिः
 10 आश्रयग्रहणनिरपेक्षैवोत्पद्यते, निमीलिताक्षस्यैपि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनन्तरं गन्धाभावप्रतीतिः उत्पद्यते । न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति; दर्शन-स्पर्शनाभ्यमेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात् । तथा 'नास्ति शब्दः' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षाद्भवति अभावप्रतीतिः । न हि श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य आश्रयो ग्रहीतुं शक्यः; तस्य अत्यन्तपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायात् । तन्नाश्रयग्रहणसभावप्रमाण-
 15 सामर्थ्यामनुप्रविशति ।

- अनुप्रविशतु वा; तथापि आश्रयस्य ग्रहणं किं^{३०} निषेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ?^{३१} प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्—किम् अभावाकान्तस्य, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविशेषितयोः आश्रयप्रतियोगिनोः ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयोः तैर्कारणत्वाभ्युपगमे 'अभावज्ञानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं स्यात् । न च स्वात्माश्रयस्य कस्यचित् सिद्धि-
 20 युक्ता अतिप्रसङ्गात् । चक्रकप्रज्ञश्च—अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्तौ च तैर्द्विशेषितयोः आश्रयप्रतियोगिनोः प्रतिपत्तिः, तस्याञ्च सत्याम् अभाव-

जायेत; मैवम्; यत्रैव प्रश्नादि स्मरणकारणमस्य भवति तदेव स्मरति न सर्वम् अविद्यमानस्मरण-निमित्तम् । अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेष्वपि वर्णेषु युगपदत्यवर्णान् भवसमनन्तरं स्मरणम् । अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेऽपि क्रमेण स्मरणं भविष्यतीति न मेवकबुद्धावयं दोषः ।—न्यायसं० पृ० ५३ ।

(१) पृ० ४६४ पं० २ (२) वैशेषिकेण (३) अन्धकारस्य । "द्रव्यगुणकर्मणिष्ठातिवैधर्म्यादभावस्तम् ।"—वैशे० सू० ५।२।१९। (४) प्रकाशाभाव एव । (५) प्रदीपाभावमिवस्य । (६) प्रदीपाभावप्रतिपत्तौ । (७) आकाशम् । (८) तुलना—'तत्र निषेध्याधारो वस्तुन्तरं प्रतियोगिसंस्पृष्टं वा प्रतीयते, असंस्पृष्टं वा ?...प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं वस्तुन्तरसंस्पृष्टस्य असंस्पृष्टस्य वा ?"—प्रमेयक० पृ० २०३ । सम्मति० टी० पृ० २४ । जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९३ । स्या० २० पृ० ३११ । (९) भूतलस्य (१०) घटाभावसहितस्य । (११) घटस्य । (१२) भूतलघटयोः (१३) अभावप्रतीतिहेतुत्वे । (१४) स्वस्य स्वापेक्षया प्रतीतो स्वात्माश्रयत्वम् । (१५) अग्नेरेव अग्निसिद्धिप्रसङ्गात् । तथा च सर्वं सर्वस्य सिद्धयेत् (१६) अभावविशिष्टयोः ।

1—ग्रहणत्वरूपा श्र० । 2—प्युपपत्तेः श्र० । 3—पि घ्रा—आ०, श्र० । 4—स्तं भवति न श्र० । 5—तौ तद्वि—आ०, व० ।

प्रमाणोत्पत्तिरिति । अभावनिरपेक्षतया च आश्रये प्रतियोगिनि च गृह्यमाणे यद्यभाव-
प्रतीतिः स्यात् तदा घटोऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रतीतिः स्याद् विशेषाभावात् ।
ततो यथोक्तसामग्र्या विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः चक्षुरादिसामग्रीत एव अभावप्रमाणस्य
उत्पत्तिः स्वपरात्मना सदसद्रूपघटाद्यर्थविषयता चाभ्युपगन्तव्या । ननु परात्मना घटादेर-
सत्त्वं प्रतीयमानं न स्वात्मतया प्रतिपन्नं स्यात्, यच्च स्वात्मतया न प्रतीयते कथं तत्तस्य
रूपम् अतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; यतः परात्मनाऽपि प्रतीयमानमसत्त्वं घटादेरेव
प्रतीयते ननु परस्य, 'घटो हि पटो न भवति' इत्येवं नवर्थः प्रतीयते, नतु 'पटः पटो न
भवति' इत्येवम् । अतः परात्मना प्रतीयमानोऽपि नवर्थः घटादेरेव प्रतीयते इति
तस्यैव तद्रूपेण असत्त्वमिति व्यपदिश्यते ।

यच्चान्यदुक्तम्—'घटविविक्तत्वं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा' इत्यादि; 10
तदप्ययुक्तम्; यतः तद्विविक्तत्वं तद्वर्मेतया तैतः कथञ्चिद् व्यतिरिक्तं पृच्छयते, पदार्था-
न्तरतया वा ? तत्र तद्वर्मेतयैव तत् कथञ्चिद्विन्नमुपपन्नं न पुनः पदार्थान्तरतया ।
स्वहेतुतो हि भावाः परस्परार्थसङ्कीर्णस्वभावविशिष्टाः समुत्पन्नाः, तद्विपरीता वा ? प्रथम-
विकल्पे सिद्धमेषां स्वकारणकलापादेव अन्योऽसंसृष्टस्वभावत्वम्, अतो वैयर्थ्यम-
र्थान्तरभूताभावपरिकल्पनायाः । यत् स्वरूपतो विविक्तस्वभावं न तत्र अर्थान्तर- 15
भूताऽभावपरिकल्पना फलवती यथा प्रागभावादौ, स्वरूपतो विविक्तस्वभावाश्च भावाः
स्वहेतुतः समुत्पन्ना इति । द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः; स्वरूपतोऽविविक्तानामर्थानां
व्यतिरिक्ताभावेन 'वैविक्त्यर्थं' कर्तुमशक्यत्वात् । यत् स्वभार्वतोऽविविक्तस्वरूपम्
न तत्र अर्थान्तरभूताभावेन विवेकः कर्तुं शक्यः यथा एकव्यक्तौ, स्वभार्वतोऽविविक्त-
स्वरूपाश्च परमते पदार्था इति । 20

(१) घटस्यैव । (२) पटरूपेण (३) पृ० ४६५ पं० २० । (४) घटवर्मेतया । (५) घटात् ।
(६) द्विविधा हि विविक्तता—धर्मधर्मिरूपेण कथञ्चिद्विविक्तता यथा ज्ञानात्मनोः, पदार्थान्तररूपेण
सर्वथा यथा घटपटयोः । (७) तुलना—'सर्वे हि भावाः स्वस्वरूपस्थितयो नात्मानं परेण मिश्रयन्ति
तस्यापरत्वप्रसङ्गात्'—प्रमाणवा० स्ववृ० ११४२ । "नाप्येषां परस्परभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते
कर्तुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति । नापि
परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो
भावानामात्मात्मन्यीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च प्रत्यक्षप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः ।"—प्रमाणवा०
स्ववृ० टी० ११६ । "यतः स्वकारणकलापात् स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावाः समुत्पन्नाः नात्मानं परेण
मिश्रयन्ति तस्याऽपरत्वप्रसङ्गात्'—प्रमेयक० पृ० २०८ । सन्मति० टी० पृ० ५८८ । स्या० २० पृ०
५८१ । (८) अन्योन्यममिलितस्वरूपाः भिन्ना इत्यर्थः । (९) भिन्नस्वभावत्वम् । (१०) प्रागभावे
नास्ति प्रध्वंसादिरित्यत्र । (११) भिन्नतायाः ।

१ इति स्या-ब० । २-मानं स्वा-श्र० । ३ न तु पटो न ब० । ४-स्वमित्येवं व्य-ब० ।
५-वतभावाश्च श्र० । ६ विविक्तस्य ब० । ७-तो विवि-ब० ।

किञ्च, अर्भावं विना भावानां विवेकौऽसंभवे कथमभावानामन्योन्यं भार्वान्तराच्च विवेकः स्यात् ? तत्रैपि तद्वेतोरभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः । अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो विवेकः; तर्हि वैयर्थ्यम् अर्था-
न्तराभावपरिकल्पनायाः, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो व्यावृत्तिप्रसिद्धेः ।
6 तथाहि—घटादेः अन्यतो व्यावृत्तिः विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव, अन्यतो व्यावृत्तित्वात्,
या अन्यतो व्यावृत्तिः सा विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृ-
त्तिश्च घटादेरिति ।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावः तावन्न भिद्यते सर्वत्रैव अस्यैकत्वेनाऽभ्यु-
पगमात् । ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽर्भावनिबन्धना । तत्र हि इतरेत-
10 राभावः, अभावान्तरं वा निबन्धनं स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्; किं स एव, अन्यो
वा ? न तावत् स एव; अतो घटादेर्व्यावर्तमानत्वात् । यत् यतो व्यावर्तते न तस्मा-
देव तस्य व्यावृत्तिः यथा पटाद् व्यावर्तमानस्य घटस्य न पटादेव व्यावृत्तिः, व्याव-
र्तते च इतरेतराभावाद् घट इति । इतरेतराभावान्तराभ्युपगमे च अस्यैकत्ववृत्तिः
अनवस्था च स्यात् । अथ अर्भावान्तरमस्यैकत्वं ततो व्यावृत्तेर्निबन्धनम्; तन्न;
15 इतरेतराव्यावृत्तेः अभावान्तरनिबन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽ-
नर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदमस्ति प्राज्ञः नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादि-
प्रतीतिरुपपत्तेः । अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः ?

(१) तुलना—“किञ्च भावाभावयोर्मैदो नाभावनिबन्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदः;
तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितेन ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । “यदि
चेतरेतराभाववशात् घटः पटादिभ्यो व्यावर्तते तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावादभावात्तराच्च प्रागभावादेः
किं स्वतो व्यावर्तते, अन्यतो वा ?”—प्रमेयक० पृ० २०८ । स्या० २० पृ० ५८१ । (२) भेदाभावेः
(३) प्रागभावः प्रवृत्ताद् भिन्नः । (४) प्रागभावः घटादेर्भिन्न इति । (५) अभावेऽपि । (६) भेदहेतोः
इतरेतराभावस्य । (७) अभावस्य । (८) भावाद् घटादेः अभावान्तराच्च प्रागभावादेः । (९)
भिन्नाभावः । (१०) पटादेः । (११) घटो भूतलं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतरा-
भावादेव (विलक्षणस्वभावादेव) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिर्न पुनराभावादिति भावः—आ० टि० ।
(१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव नाभावनिबन्धनैव—आ० टि० । (१३) इतरेतराभावस्य ।
(१४) द्वितीयाभावः । (१५) अभावनिबन्धनत्वे—आ० टि० । (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतरा-
भावात् । (१७) घट-इतरेतराभावयोः व्यावृत्तिर्न तदितरेतराभावनिबन्धना तस्मादेव तस्य व्यावर्त-
मानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव—आ० टि० । (१९) इतरेतराभावस्य । “गव्यस्वाभावोऽवे च
गोरभाव इतरेतराभावः, स च सर्वत्रैको नित्य एव पिण्डविनाशोऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात् ।
यथा सामान्यमदृष्टवशादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्धयते नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम्, तथेतरेतरा-
भावोऽपि ।”—प्रश० कण्ठ० पृ० २३० । (२०) द्वितीयेतरेतराभावस्य व्यावृत्त्यर्थम् तृतीय इतरेतरा-
भावः कल्पनीयः तद्व्यावृत्त्यर्थञ्च चतुर्थ इति । (२१) इतरेतराभावाद् भिन्नः कश्चित् प्रागभावादिरूपः
अभावः अभावान्तरम् । (२२) घटस्य । (२३) इतरेतरतः—आ० टि० । (२४) प्रागभावः ।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घटः स्यात् । यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति ।

यदपि—अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्; तदैपि वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यास्यै वस्तुत्वानुपपत्तेः । यैत् सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति । अस्तु वा अस्य 5 वस्तुत्वम्; तथापि तैत् केन गृह्यताम्—किमभावाख्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भावः, अभावो वा ? यदि भावः; कथमभावग्राह्यः तस्य तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात् ? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयविरोधाच्च । यैत् तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रयः यथा शराविषाणम्, तुच्छस्वभावश्च परैः परिकल्पितोऽभाव इति । अथ अभावः; तन्न; वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि 10 तस्यै अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्तोच्छेदः स्यात् । अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तैत्; तन्न; प्रमाणान्तराणामभावग्राहकत्वाऽनभ्युपगमे तैत् तवस्तुत्वग्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात् । तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते ।

नापि फलम्; अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात् । किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता । न च अस्य तत्सिद्धम् । 15 ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूपं प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतुं शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतः केयं तैदनुत्पत्तिः—किं निषेधैर्विषयज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणामः, अस्मिन्वस्तुविज्ञानं वा ? तत्र अपरिणामस्य अभावस्वभावत्वात् कथं तैथाविधज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात् ? कथं वा प्रामाण्यम् ? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छेद- 20 दकमतिप्रसङ्गात् ? यैत् स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदकं यथा

(१) इतरेतराभावः घटात्मकः तस्मादव्यावर्तमानत्वात् । (२) ४६७ पं० १ । (३) वस्तुत्वम् । (४) अभावस्य । (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात् । (६) वस्तुत्वम् । (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य । (८) अभावविषयत्व । (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रयः तुच्छस्वभावत्वात् । (१०) वस्तुत्वस्य । (११) वस्तुत्वम् । (१२) अभावगत । (१३) अभावस्य । (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिः । (१५) निषेधो घटादिः । (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु । (१७) तुलना—“नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणता । न युज्यते प्रमेयस्य सा हि संवित्ति- 1 लक्षणा ॥ यत्प्रमेयाधिगतिरूपं न भवति न तत्प्रमाणं यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिद्वयस्वभाव इति व्यापकानुपलब्धिः ।”—तत्त्वसं० पं० ४७८ । “यतः प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात् कथं प्रमेयाभावं परिच्छिन्वात् परिच्छित्तेज्ञानधर्मत्वात् ।”—प्रमेयक० ४०२ पं० २०५ । सन्मति० टी० ४७८ । स्या० २० ४०३ पं० १ । (१८) ‘अत्र घटो नास्ति’ इत्याकारकज्ञानोत्पादने । (१९) खरविषाणादेरपि परिच्छेदकत्वप्रसक्तिः । (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभावः न प्रमेयपरिच्छेदकः स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात् ।

१ घटः ब० । २—इत् परि—ब० । ३ अभावस्वरूप—श्र० । ४—ते तन्न श्र० । ५ सिद्धस्वरूपे ब० । ६ युक्तम् ब० । ७—विषयज्ञानतया ब० । ८ अभावस्य भावत्वात् आ० । ९—विषयस्य ज्ञान—श्र० ।

वन्ध्यास्तनन्धयः, स्वरूपेणाकिञ्चिद्रूपञ्च परपरिकल्पितमभावप्रमाणमिति । परिच्छेद-
कत्वं हि ज्ञानधर्मः, सोऽश्चविषाणप्रख्यस्य अध्यक्षाद्यभावस्यातिदुर्घटः । ततश्च 'प्रमा-
णाभावः प्रमाणञ्च' इति प्रतिज्ञा-पदयोः विरोधः, यथा 'इदञ्च, नास्ति च' इति ।

अन्यवस्तुविज्ञानपक्षेऽपि किमन्यस्मिन् वस्तुमात्रे, घटाभावाश्रये वै ज्ञानमभाव-
५ परिच्छेदकं स्यात् । तत्रापक्षे यत्र कुत्रचिद् यस्य कस्यचिद् अभावस्य ज्ञानं स्यात् ।
अथ घटाभावाश्रयस्य; नन्वेतत् घटाभावे सिद्धे सिद्ध्येत्, न चासौ भवत्पक्षे सिद्धः ।
प्रतियोगितापि एतेन प्रत्याख्याता; सिद्धे हि घटाभावे 'अयमस्य आश्रयः, अयञ्च
प्रतियोगी' इति सिद्ध्येत् । ततोऽभावप्रमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपसामग्रीविषयफलाना-
मन्यवस्थितेः वस्तुधर्म एवाभावः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धश्च भाववदभ्युपगन्तव्य इति ।

१० अत्र सुगतमतावलम्बिनः प्राहुः—न भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः
'न भावस्वरूपव्यति-
रिक्तः कश्चिदभावः
प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । प्रत्यक्षस्य हि स विषयो भवति यो
जनकत्वे सति आकारसमर्पकः, अभावस्य च जनकत्वमाकारसमर्प-
कत्वञ्चातिदुर्घटम् । यैद् अभावरूपं न तत् कस्यचिज्जनकं स्वाकार-
इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः—
समर्पकञ्च यथा खपुष्पम्, अभावरूपश्चाभावो भवद्विरिष्ट इति ।
१५ स्वाकारमर्पयतो ज्ञानजनकत्वे चास्य भावरूपतैव स्यात् । यत् स्वाकारमर्पयत् ज्ञानं

(१) प्रत्यक्षाद्यनुपपत्तिरूपतया अभावप्रमाणं प्रमाणाभावात्मकम्, अथ च अभावपरिच्छेदकत्वेन
परिच्छेदकत्वधर्माधारभूतं प्रमाणात्मकञ्चेति विरोधः । (२) प्रमाणाभावरूपस्वीकरणं प्रतिज्ञा, परिच्छे-
दकत्वेन प्रमाणरूपतोर्वर्णनं पदम् । (३) भूतलादौ वा । (४) "एवमन्यते—अभावो नाम नास्त्येव
केवलं भूदस्य भावविषयमेव प्रत्यक्षमन्याभावं व्यवहारयति ।"—प्रमाणवा० स्वरू० टी० ११६ ।
"एकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरं तदुपलब्धिश्चानुपलब्धिर्विवक्षिता उपलब्धेरन्यत्वादभक्ष्याऽस्पृशीनीयवत्, स
एवाभावः, तदतिरिक्तस्य विग्रहवतोऽभावस्याभावात् ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० २१३ । "तस्मादुपल-
ब्धिविज्ञानादान्या वस्त्वन्तरविषया उपलब्धिः ज्ञानात्मिकाऽनुपलब्धिः । कथं पुनरुपलब्धिरेवानुपलब्धिरन्यते
इत्याह विवक्षितेत्यादि । यथा भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे विवक्षिताद् भक्ष्यादन्यत्वादभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो
भक्ष्योऽपि सन् तदन्यस्योच्यते, यथा च स्पृशीनीयाऽस्पृशीनीयाधिकारे विवक्षितात् स्पृशीनीयादन्यत्वादस्प-
ृशीनीयश्चाण्डालादिस्तदन्यस्य स्पृशीनीयोऽपि सन्त्युच्यते तदुपलब्धिरेवानुपलब्धिर्मन्तव्याः" तस्मात्
प्रतिषेध्याद् घटादेः स्वविषयविज्ञानजननयोग्याद् योऽन्य उपलम्भजननयोग्य एव न तद्विपरीतः स्वभावो
घटविविक्तप्रदेशरूपः स एव चात्र अनुपलब्धिशब्देनोच्यते ।"—हेतुबि० टी० ४० १६३ A ।
"तस्यान्यस्य प्रदेशस्य केवलस्य यत् तत् कैवल्यम् एकाकित्वमसहायता तदेवापरस्य प्रतियोगिनो घटादेर्वै-
कल्यमभाव इति । तस्मादन्यभाव एव भावांश एव त्वदभिमतस्तदभावः प्रतियोग्यभावांशो न ततः
पृथग्भूतं धर्मान्तरमित्युच्यते सुगतसुतैः ।"—हेतुबि० टी० ४० १७९ B । "न ह्यभावः कश्चिद्विग्रहवान्
यः साक्षात्कर्तव्यः अपि तु व्यवहर्तव्यः ।"—क्षणभङ्गसि० ४० ६५ । (५) अभावः कस्यचिज्जनकः
स्वाकारसमर्पकश्च न भवति अभावरूपत्वात् । (६) अभावस्य ।

१ स्वरूपेणास्वरूपेणा—अ० । २ 'यस्य कस्यचित्' नास्ति आ० । ३ अभावज्ञानं अ० ।
४ द्वे घ—आ० । ५—सिद्धभावव—आ० । ६ न तावत्स्व—व० ।

जनयति तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञानं जनयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्नं केनचिद्रूपेण प्रतिभासमानं काश्चिदर्थक्रियां करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

किञ्च, अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यैव असत्त्वप्रसङ्गात् कुतः किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येवं प्रत्यक्षं तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधा-
तव्यम्; ईदृशसंसर्गेणोपजायमानस्यास्य विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्पा-
नाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसंस्पर्शित्वात्तेषाम् । तन्न प्रत्यक्षतोऽभावसिद्धिः ।
नाप्यनुमानतः; तद्धि साध्यप्रतिबद्धलिङ्गबलादुदयमासादयति । प्रतिबन्धश्च साध्य-
साधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयते ? न तावत् प्रत्यक्षतः; अभावस्य
उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततोऽस्य केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः ।
अनुमानतः तत्प्रतीतौ अनवस्था, तत्रापि अनुमानान्तरात् तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । तन्न
कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्धप्रतिबन्धं लिङ्गं साध्यसाधनाय प्रभवति
अतिप्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभावः' इत्यादि;
तदसमीक्षिताभिधानम्; भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात्
स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धिः । यथैयं
यतः प्रतीत्यादिभेदः तस्य ततो भेदः यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादि-
भेदश्च भावादभावस्य इति । न चायमसिद्धः; तथाहि—मैवाऽ-
भावयोस्तावत् प्रतीतिभेदः सुप्रसिद्ध एव 'इदमत्रास्ति, इदं नास्ति' इति । नहि
प्रतीयमानापीत्थं भेदेन अभावप्रतीतिरपह्नोतुं युक्ता; भावप्रतीतिरेव्यपह्नवप्रसङ्गात् ।
ननु निर्विकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च
तद्विज्ञादर्थव्यवस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्याऽभावात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; सविकल्प-
कसिद्धौ निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्तर्बहिर्वा वस्तुव्यव-

- (१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारार्पकत्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि ।
(३) "एकोपलम्भानुभवादिदं नोपलभे इति । बुद्धेरुपलभे वेति कल्पिकायाः समुद्भवः ॥"—प्रमाणवा०
४।२७० । (४) प्रत्यक्षस्य—आ० टि० । (५) विकल्पानाम्—आ० टि० । (६) अनुमानं हि । (७)
अविनाभावः । (८) प्रत्यक्षात्—आ० टि० । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि ।
(११) अविनाभावप्रतीति । (१२) घृ० ४७६ पं० १० । (१३) अभावो भावस्वरूपातिरिक्तः
प्रतीतिस्वरूपसामग्र्यर्थक्रियाभेदात् । (१४) तुलना—“इदं तावत्सकलप्राणिसाक्षिकं संवेदनद्वयमुपजा-
यमानं दृष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ।”—व्यासं० घृ० ५८ । (१५) विकल्पवशात्—आ० टि० ।
(१६) अन्तस्चेतनात्मकस्य बहिर्ज्ञाचेतनस्वरूपस्य वस्तुनः ।

१-स्याज्ञाने व० । २-संसर्गोप-व० । ३-तीयेत् आ० । ४-प्रतिबन्धलिङ्गं व० ।
५ प्रामाण्यादित्यपि श्र० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात् । तस्मात्प्रत्यक्षेणोत्पन्नाऽभावविकल्पाद्
अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि अतोऽतिदुर्लभा । अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः; अभाव-
सिद्धौ तत् किं काकैर्मक्षितम् ? प्रथमं हि इन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम्
अनैकैर्भावभावोपाधिखचितमुपाधिमानं प्रतिपद्यते, ततः शब्दार्थयोः प्रतिपन्नप्रतिबन्धः
6 प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्दं स्मृत्वा 'इदमि-
हास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं दर्शयति । यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न
प्रतिपन्नाः तदा प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात् । नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे
घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । अतः प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथा-
नुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति ।

10 न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपप-
त्तिर्युक्ता । या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः,
विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति । अथ भाव अभावप्रतीतेर्नि-
बन्धनम् अतः स एवास्यां विशेषणं भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्टं सिद्धयेत्;
इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः किं निषिध्यमानो घटादिर्भावः अस्या निबन्धनमभ्युपगम्यते,
15 तदाश्रयो भूतलादिर्वा ? प्रक्षमपक्षोऽयुक्तः; भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्बाधतया प्रतीयमानयो-
र्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः । अत्रिर्बाधतया प्रतीयमानयोः
प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च
निर्बाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति । न च तत्प्रतीत्योर्निर्बाधता वैलक्ष-
ण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्; तद्वाचकस्य कस्यचिदप्यभावात्, परस्परं चाऽसङ्कीर्णस्व-
20 भावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च । नहि कश्चिदवालिशो भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या
हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति । यदि च भाव एव अभावः स्यात्; तर्हि
तस्मात्ताक्षणे तद्देशे चाऽभावप्रतीतिः स्यात् । न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियतां भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७ । (२) निर्विकल्पक-आ० टि० । तुलना-“तत्र विकल्पमात्रसंवेदनमनाल-
म्बनमात्रांशालम्बनं वेत्यादि यदभिलष्यते तन्नास्तितान्नान्न इव अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि
प्रामाण्यं भवतु द्वयोरपि वा भा भूत् ।”-न्यायसं० पृ० ५८ । (३) भावविकल्पात् । (४) निर्विक-
ल्पकप्रत्यक्षम्-आ० टि० । (५) अनेके भावा अभावाश्च उपाधयः विशेषणानि तैः खचितं शबलितं
चित्रितम् उपाधिमानं विशेष्यभूतमर्थम् । (६) गृहीतसङ्केतः । (७) यस्याऽभावः सः प्रतियोगी ।
(८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिः विशेषणग्रहणपूर्विका विशिष्टप्रतीतित्वात् । (९) भाव एव ।
(१०) अभावप्रतीतिः-आ० टि० । (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीतिः । (१२) घटा-
भावाश्रयो । (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्बाधप्रतीतिवैलक्षण्यात् ।
तुलना-“नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरस्त्युदयः, नापि व्यवहारभेदस्य संभवः ।”-प्रस०
कन्द० पृ० २२९ । (१४) अत्योन्मं भिन्नस्वभावतया । (१५) भावसत्ताक्षणे (१६) भावदेशे ।

1-त्राच्छाभाव-अ० । 2-अभावसि-ब० । 3-अनेकभाव-ब० । 4-प्रदर्श-अ० । 5-घटा-
दिभावः ब० । 6-चिदभा-ब० । 7-शोऽभावमेव भावतया आ०, अ० । 8-यदि भाव ब० ।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमानघटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतः भूतलादिभावः तदभावप्रतीतेर्निबन्धनम्; तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, विशिष्टं वा ? प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् तदविशेषात् । द्वितीयपक्षेऽपि किङ्कृतमस्यै वैशिष्ट्यम्-स्वरूपकृतम्, घटसंसर्गरहितत्वं कृतं वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्; सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात् स्वरूपसत्त्वस्य तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटसंसर्गरहितत्वनिबन्धनत्वे तु नास्ति विवादः घटाभावस्य घटसंसर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्यम्-अभिमानमात्रमेवायं 'नास्ति' इति व्यवहारः, सद्भववहारानुदय एव तत्संभवादिति; यतः प्रतीयमानस्य बाधारहितस्यास्याभिमानिकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्यवहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः । यदि चैव सद्भववहारानुदय एव नास्तीतिव्यवहारस्य

(१) तुलना-" त इदं प्रष्टव्याः नास्तीति संविदः किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्; दत्तः स्वहस्तो निरालम्बनं विज्ञानमिच्छतां महायानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्; कण्टकादिभृत्यपि भूतले कण्टको नास्तीति संविदिति तत्पूर्वकश्च निःशङ्कं गमनागमनक्षणो व्यापारो दुर्निवारः । केवल-भूतलादिष्वयं नास्तीति संवेदनम्, कण्टकसदभावे च कैवल्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत्; ननु किं कैवल्यं भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूपं तावत् कण्टकादिसंवेदनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोषः । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धिः ।"-प्रश्न० कन्व० पृ० २२९ । प्रश्न० किर० पृ० ३२९ । (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकरैः । "अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्वं नाऽपरम्...न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयम्; यस्मात्तदर्थसंसृष्टानुभवयुक्ततैवात्मनः तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता, सा चावस्था आत्मनः स्वसंविदितैव । अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।"-बृह० पं० पृ० ११९-२० । "तस्माद् भाव-ग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेवाऽभावावगमं प्रसूते"(पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादित्यः प्रमेयाभावः, प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयंप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावात्थस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणात्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि तां विना नास्ति कुत्रचित् । योग्यप्रमाणानुत्पत्तेः कारणत्वपरिग्राहत् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपास्यते ।"-प्रकरणपं० पृ० १२९ । नयवि० पृ० १६२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ । (६) काल्पनिकत्वे । (७) तुलना-"ज्ञानाभावे ज्ञानभूमः व्यवहाराभावे व्यवहारभूमः आलोकादर्शने अन्वकारभूमवत्; न; सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । अप्रमिते च भूमाऽयोगात् सुषुप्त्यादिवत् ।-अथापि वैयर्थ्यादुच्यते न च तत्पक्षे नास्तीति बुद्धिव्यवहारौ स्तः, किन्तु चैवदर्शनाभावे चैवो नास्तीति ज्ञानं भूमः चैवोचितव्यवहाराभावे च तदभावे व्यवहारभूमः । अत्रैव निदर्शनमाह-आलोकादर्शनेऽन्वकारभूमवत्... तदेतन्निराकरोति-न; सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावे तद्विभूमः सुषुप्त्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्गः । नहि तदा ज्ञानं नापि व्यवहारः, समस्तविज्ञानोपसंहृतिलक्षणत्वात्सुषुप्त्याद्यवस्थायाः । हेवन्तरमाह-अप्रमिते च भ्रान्त्ययोगात् सुषुप्त्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावे समारोपभ्रान्तिर्न पुनरसतो ज्ञानाकारस्य नाप्यग्रह इत्युपपादितं विभ्रमविवेके, अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावा

अङ्गम्; तदा सुषुप्तावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् सञ्चवहारादुद्देश्यं तत्राप्यविशेष-
पात् । ततो निर्वाधयोर्भावाऽभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यसिद्धेः सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तवो भेदः ।

स्वरूपभेदाच्च; अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्वं स्वरूपं नेतैरस्य । स्वरूपभेदेऽपि
अनयोर्भेदे भेदवात्तोच्छेदप्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदा-
5 दन्त्यतोऽप्रसिद्धेः ।

सामग्रीभेदाच्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च तद्वेदः । तथाहि—घटादिभावमुत्पाद-
यितुकामः तदुत्पादनानुकूलामेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुपादत्ते, विनाशयितुकामस्तु तद्वैलक्षण्यं
मुद्रादिसामग्रीमिति ।

ननु मुद्रादिसामग्री परस्पराऽसंस्पृष्टकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न
10 च तदुत्पादवत् तदभावोर्ध्वत एव भविष्यतीत्यभिधातव्यम्; यतः सर्वोऽपि कार्यभेदः
कारणभेदेन व्याप्तः । न च अभाव-कपाललक्षणकार्यभेदे कारणभेदोऽस्ति, मुद्रारलक्ष-
णस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतेः । न च तस्यैकस्यैव अन्योन्यविरुद्धकार्यद्वयजनकत्वं
युक्तं विरोधात्; इत्यप्यसमीचीनम्; प्रतीतिविरोधानुषङ्गात् । तथाहि—मुद्रादिदिव्यापा-
रानन्तरं लौकिकेतरयोः ‘अनेन विनाशितो घटः’ इति प्रतीतिः, न पुनः ‘कपालानि

उपलब्धपूर्वी । तदुपलम्भे वा कृतमत्र भूमोपन्यासेन । तस्मादप्रमिते भ्रान्त्यनुपपत्तेरयुक्तमेतदित्यर्थः ।”
—विधिवि०, न्यायकणि० पृ० ७३-७४ ।

(१) तुलना—“स्वरूपभेदस्योपपत्तेः; यथाहि कारणादुत्पद्यमानाः रूपादयः परस्परं स्वरूपभे-
दाद् भिद्यन्ते तथाऽभावोऽपि भावादिति । अस्ति च द्रव्यादिषड्लक्षणाऽलक्षितत्वं भावपरतन्त्रेण
गृह्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति ।”—प्रश्न० ध्यो० पृ० ४०० । (२) भावस्य । (३) भावाभावयोः ।
(४) सामग्रीभेदः । (५) उत्पादसामग्रीभिन्नाम् । (६) “तस्मात् स्वरसतो निवर्तते काष्ठादि-
अग्न्यादिभ्यस्तु अङ्गारादिजन्म इत्येव भद्रकम् ।”—हेतुचि० टी० पृ० ८३ A । “तदयमत्र समुदायार्थः—
मुद्गरव्यापारानन्तरं द्वयं प्रतीयते, घटनिवृत्तिः कपालञ्च । तथैते विनाशरूपतया प्रतीयते । तत्र
घटनिवृत्तेर्निरूपत्वेनाकार्यत्वादिति वक्ष्यति । तत्कार्यत्वेन तु तत्प्रतीतिभ्रान्तिरेव, कार्यत्वे वास्या न
घटनिवृत्तिरूपत्वं स्यात् घटसम्बन्धित्वेन कृतकत्वात्, विनाशरूपतया च न प्रतीतिः स्यात् घटस्य
सत्त्वात् ।...निर्हेतुके तु विनाशे स्वरसतो निवर्तमान एव घटो मुद्गरादिसहकारी कपालजनकत्वेन
सदृशक्षणानारम्भकत्वात् मुद्गरव्यापारानन्तरं घटनिवृत्तेः कपालस्य च सदभावात् तयोर्विनाशरूपतया
विनाशस्य च सहेतुकत्वेन मन्दमतीनामवसायो युज्यत एव ।... प्रयोगस्तु ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते
तद्भावनिवृत्तयः तद्यथाऽसम्भवप्रतिवन्धा कारणसामग्री कार्योत्पादने, अन्यानपेक्षश्च कृतको भावो
विनाश इति स्वभावहेतुः ।”—प्रमाणवा० स्वबु० टी० १।१९६-९७ । प्रमाणवा० सनोरथ० ३।२६९-७० ।
तत्त्वसं० पृ० १३२ । (७) घटविनाशोऽपि । (८) मुद्गरादिव्यापारादेव । (९) मुद्गरादिव्यापारस्य ।
(१०) घटविनाश-कपालोत्पादलक्षण । (११) तुलना—“तस्मात्कार्यकारणयोस्तत्पादविनाशी न सहेतुका-
हेतुकौ सहभावाद्भावादिवत् । मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतिः विनष्टो
घटः उत्पन्नानि कपालानि इति व्यवहारद्वयसद्भावात् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २०० ।

१-दयस्य च त-ब० । २-तत्रानिर्वा-श्व० । ३-भेदाद्वाऽभा-ब० । ४-एतयोर-ब० ।
५-भेदाद्वाऽभा-ब० । ६-श्च तथा तद्भेदः ब० । ७-प्रतीतेः ब० ।

उत्पादितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धानं स्वप्नेऽप्यनुभूयते । न खलु विषादिना शत्रुवधे बह्मधादिना च पटदाहे प्रवृत्तयश्च शत्रुपट-विनाशादहे 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तुः पटविनाशकस्यैवा अनुसन्धानमस्ति । नापि पाश्वस्थानां 'अन्यत् किञ्चिदनेनोत्पादितम्' इति प्रतीतिः, किन्तु 'तद्विनाश एव अनेन कृतः' इत्यखिलजनानां प्रतीतिः । तद्विनाशे एव चासौ परितुष्यति । 5 नहि अवयवनिष्पत्त्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावानां स्वभावतो विनाशस्वभावनियततया विनाशस्य अहेतुकत्वान्न मुद्गरादेः तद्धेतुत्वम्; इत्यप्यपेशलम्; तेषां तैस्त्वभावनियतत्वस्य अक्षणीकत्वसिद्धौ निराकृतत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'कार्यभेदः कारणभेदेन व्याप्तः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; एककारणस्य एककार्योत्पादकत्वेन अविनाभावोऽभावात्, प्रदीपादेरेकस्यापि अनेककार्योत्पादकत्व-प्रतीतेः । अतः सिद्धः सहेतुको विनाशः । तथा च घटाभावोत्पादकसामग्रीतो भावोत्पादक-सामग्र्या भेदसिद्धेः सिद्धो भावोऽभावयोर्भेदः । 10

अर्थक्रियाभेदाच्च; सुप्रसिद्धो हि भावोऽभावयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेदः, जलाद्यर्थिनः तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । प्रमोदाद्यर्थ-क्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेदः; तथा हि शत्रुविनाशः कृतः श्रुतो वा परं प्रमोदमाधत्ते, तत्सद्भावस्तु विषादम् । न ह्यत्र भावोऽभावोऽभ्यामन्यस्य प्रमोदो-विषादहेतुत्वं प्रतीयते । 15

यदप्युक्तम्—'अभावोऽपि यदि कुतश्चिदुत्पद्येत काञ्चिदर्थक्रियां कुर्यात् तदा भावं एव स स्यात्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो भावप्रतीतिविषयत्वं भावत्वम्, न पुनः अर्थक्रियाकारित्वादि । अभावो हि स्वकारणकलापाद् भावविलक्षणतयोत्पन्नः अर्थक्रियाश्च कुर्वणः पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया । 20

यच्चान्यदुक्तम्—'यदि अभावः स्वाकारं ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरूपता स्यात्' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; अर्थाकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतीक्षेणात् । निराकारमेव हि ज्ञानं योग्यतया योग्यदेशस्थं योग्यव्याख्यां प्रकाशयति इत्युक्तं प्रत्यक्ष-रूपप्रस्तावे ।

(१) पुरुषस्य । (२) प्रेक्षकजनानाम् । (३) विषदायिना, पटविनाशकेन वा पुरुषेण । (४) विनाशस्वभावनियतत्वस्य । (५) पृ० ३८६ । (६) पृ० ४८० पं० १० । (७) वंतिमुखादाह-तैल-शोष-कज्जलोत्पादन-अन्धकारविनाशादि । (८) मुद्गराद्यभिघातादिरूपायाः । (९) घटोत्पादकमुत्पिण्डादिरूपायाः । (१०) तुलना—'सुखदुःखसमुत्पत्तिरभावे शत्रुमित्रयोः । कण्टकाभावमालक्ष्य पदं पथि निधीयते ॥पश्यन्नभावं को नाम निह्नुवीत सचेतनः ।'—न्यायमं० पृ० ५९ । (११) पृ० ४७७ पं० २ । (१२) तुलना—'सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव इष्यते असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति ।'—न्यायमं० पृ० ५९ । (१३) पृ० ४७७ पं० ४ । (१४) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणया । (१५) पृ० १७१ ।

१ प्रवृत्तः श-आ० । २-स्य चानुस-अ० । ३ घटादिभावो-ब० । ४ कुतः परं ब० । ५-दुत्पद्यते आ० । ६ भाव एव स्यात् अ०, ब० । ७-या प्रदेशस्य ब० ।

- न चाऽवस्तुत्वादभावस्य किं प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातव्यम्; प्रमाणतः प्रतीय-
मानत्वादिसाधनात् तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धेः । तथाहि—अभावो वस्तु, प्रमाणतः प्रतीयमानत्वात्,
यत् प्रमाणतः प्रतीयमानं तद् वस्तु यथा भावः, प्रमाणतः प्रतीयमानश्चाऽभाव इति ।
तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति । तथा,
5 यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु तथा प्रदीपः, अर्थक्रियाकारी चाऽभाव इति । तथा, यद् अवा-
न्तरभेदेन मिथ्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, प्रागभावाद्यवान्तरभेदेन मिथ्यते चाऽभाव
इति । ततः सिद्धो भाववद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्मः प्रमेय इति । प्रमाणं तु तत्प-
रिच्छेदकम् अभावाख्यं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं वास्तवं न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परि-
च्छेदसिद्धेः । यैत् प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते न तत्र प्रमाणनियमः यथा बह्वयादौ,
10 प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति । यत् पुनः यत्प्रकारप्रमाणान्तरात्र परि-
च्छिद्यते तत्र तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा रूपरसादाविति ।

ततः सूक्तम्—‘अदृश्यस्यापि परचित्तविशेषस्य अभावः तदाकार-
विकारादेरन्यथानुपपत्तिः’ इति । सर्वत्र हि गमकत्वं अन्यथानुपपत्तिप्रसा-
दादेव, सा च अदृश्यानुपलब्धावप्यस्ति इति कथं नास्या गमकत्वम् ?

- 15 ‘अदृश्य’ इत्यादिना व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याप्ये—अदृश्यानुपलब्धेः
सकाशात् संशयैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे न केवलं परिचित्ताभावो न
विवृतिव्याख्यानम्—
सिद्ध्यति सौगतस्य अपि तु स्वचित्तभावश्च न सिद्ध्यति । कुत एतद् ?
इत्यत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य स्वचित्तस्य यद् अनशं तत्त्वं सैजातीयविजातीय-
व्यावृत्तं मध्यक्षणस्वरूपं तस्य अदृश्यात्मकत्वात् । ततः किं जातम् ? इत्यत्राह ‘तथा च’
20 इत्यादि । तथा च तेन च स्वचित्तभावाऽसिद्धिप्रकारेण कुतः न कुतश्चित् परमार्थसतो
मानाद् भावस्य क्षणभङ्गसिद्धिः धर्मिहेतुदृष्टान्तादेरसिद्धेः । न खलु बहिरन्तर्वा अनं-
शतत्त्वस्य अदृश्यात्मतर्थाऽसिद्धौ धर्म्यादेः सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च कुतः क्षणभङ्गादेः

(१) अभावस्य । (२) ‘स च द्विविधः प्रागभावः प्रध्वंसाभावश्चेति । चतुर्विध इत्यन्ये इतरे-
तराभावः, अत्यन्ताभावश्च तौ च द्वौ । षट्प्रकार इत्यन्ये—अपेक्षाभावः सामर्थ्याभावश्च ते च
चत्वार इति ।’—न्यायमं० पृ० ६३ । ‘अभाववस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः । प्रागभावस्तथा
ध्वंसोऽन्योन्याभाव एव च ॥ एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गभाव इष्यते ।’—मुक्तां० का० १२-१३ ।
(३) अभावपरिच्छेदकं पृथग्भावाख्यं प्रमाणं नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरादपि तस्य परिच्छिद्यमान-
त्वात् । (४) रसो यथा रूपग्राहिवाक्षुषप्रत्यक्षान्तरादपि तस्य परिच्छिद्यते अतः तदग्रहणाय रासनप्रत्यक्षस्य
नियमो भवति, नचैवमभावे प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमाने । प्रमाणान्तरत्वनियमः । (५) स्वचित्त-
सद्भावः । (६) अदृश्यात्मकत्वादसिद्धौ सत्याम् ।

- १ प्रतीयमान-ब० । २ प्रदीपादि अर्थ-ब० । ३-नियमोऽपि यथा ब० । ४ तत्तत्प्रका-आ० ।
५ तत्प्रमाणनि-आ० । ६-लब्धावस्तौति आ० । ७ ‘तदित्यादि’ नास्ति आ०, ब० । ८ सजातीयव्या-ब० ।
९ तेन स्वचित्त-आ० । १०-सतो भावस्य अनुमानात् क्ष-अ० ।

सिद्धिः स्यात् ? कस्य तर्हि क्षणभङ्गसिद्धिः स्यात् ? इत्याह—‘तद्’ इत्यादि । तस्माद् अनंशतत्त्वाद् विपरीतं साशं तत्त्वं तस्य । कथम्भूतस्य ? अभेदलक्षणस्य युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य स्याद् भवेत् क्षणभङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति एवकारार्थः ।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्क्यपनोदार्थमाह—

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणाभङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥

विवृतिः—स्थूलस्यैकस्य द्रव्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभाव-
सिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः
विज्ञानानंशतत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा
जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे
अनेकान्तसिद्धिः ।

वीक्ष्यम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलमेकं ग्रहणम्, तस्य ये **अणवः** अतिसूक्ष्मा
भागाः तेषां **पारिमाण्डल्यं** वर्तुलत्वं यच्च **क्षणाभङ्गादि** आदिशब्देन
कारिकार्थः—
कार्यकारणसामर्थ्योदिपरिग्रहः तस्याऽ**वीक्षणम्** अग्रहणम् । अत्र दृष्टा-
न्तमाह ‘**स्व**’ इत्यादि । **स्वसंविदो** बौद्धैकल्पितनिर्देशबुद्धेर्यः **विषयाकारस्य**
स्थूलाद्याकारस्य विवेकः निवृत्तिः तस्य **अनुपलम्भवत्** । नहि तस्यां प्रतिभासमानायां

(१) अनेकपयविषु अनुगताकारतया व्यापिनः अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति यावत्, अथवा
अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापिनः अभेदलक्षणस्य स्कन्धस्येति । (२) “वीक्ष्यमुपलब्धि-
लक्षणप्राप्तं स्थूलं तस्याणवः सूक्ष्मा भागा अवयवास्तेषां पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वम् अन्योन्यविवेकः क्षणे
क्षणे भङ्गः क्षणभङ्गः समयं प्रति नाश इत्यर्थः । स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यदिरसौ तथोक्तः,
वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यं च क्षणभङ्गादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्, योगि-
प्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यादित्यर्थः, सत्त्वात्प्रमेयत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूनां कथञ्चिदनेका-
नित्यादिधर्मव्याप्यत्वात्तदविनाभावप्रसिद्धेः । प्रकृतार्थं दृष्टान्तमाह—स्वसंविदित्यादि । स्वसंवि-
त् स्वसंवेदनं तस्या विषयाकारो घटाद्याकारस्तस्माद्विवेको व्यावृत्तिस्तस्यानुपलम्भः प्रत्यक्षेणाग्रहणं तद्वत् ।
यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने बहिरर्थाकारनिवृत्तिविद्यमानेनापि न प्रतिभासते सौम्यतानां तस्य
तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तस्त्वाणुपारिमाण्डल्यादि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथाशक्त्यभावात् ।
ततोऽनुमानमनेकान्तमेव सफलमित्यर्थः ।—लघी० ता० पृ० ३६ । (३) घटपटादि । (४) “नित्यं
परमाणुमनःसु तातु पारिमाण्डल्यम्, परिमाण्डल्यमिति तस्य नाम, तथाहि—परिमण्डलानि परमाणुमनांसि
तेषां भावः पारिमाण्डल्यं तत्परिमाणवेव ।”—प्रश्न० भा०, व्यो० पृ० ४७३ । “पारिमाण्डल्यमिति
सर्वापकृष्टं परिमाणम् ।”—प्रश्न० कन्द० पृ० १३३ । “पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्”—सप्तप० टी०
पृ० ४९ । मुक्ता० का० १५ । (५) स्वर्गप्रापणादौ—आ०टि० । (६) संविदि—आ० टि० ।

विषयाकारविवेकः प्रतिभासते स्थूलाद्याकारभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् । यत्र यदा वास्तवो यदाकारः प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीताकारस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विषयाकारविवेकः सौगतकल्पितायां संविदि इति ।

- कारिकार्थं विवृण्वन्नाह—‘स्थूलस्य’ इत्यादि । स्थूलस्य महतः एकस्य क्रमाऽ-
 क्रमानेकविवर्त्तव्यापिनः प्रतिपादितप्रकारेण दृश्यात्मन एव उपलभ्य-
 5 विवृतिन्याह्वानम्—
 स्वभावस्यैव अनित्यत्वं सिद्ध्यति ‘नान्यस्यैव’ इति सम्बन्धः । कुत
 एतत् ? अनुपलम्भात् हेतोः तस्यैव पूर्वापराकारकोट्योः अभावसिद्धेः । तथा च
 यदुक्तं परेण—“यद् यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा क्वचित्
 प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षणः पूर्वापरकोट्योः” []
 10 इति; तदयुक्तम्; यतः कथञ्चित् तत्र तर्दभावसाधने सिद्धसाधनम् । सर्वथा तत्साधने
 पक्षस्य प्रत्यक्षसाधनं हेतोश्चाऽसिद्धिः, तथा तत्र तर्दनुपलम्भाऽसिद्धेरिति । ननु चास्तु
 स्थूलादिस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं न तु परमार्थसत्त्वम् मरीचिकाजलादिवदसत्त्वात्,
 इत्याशङ्क्याह—‘बुद्धेः’ इत्यादि । यथोक्तस्यैवार्थस्य परमार्थसत्त्वं बुद्धेर्वेद्यवेदकाकार-
 प्रमेदस्य इव । प्रयोगः—यद् अनेकस्वभावं तदेव परमार्थसत् यथा वेद्यवेदकाद्यनेकस्व-
 15 भावा संवित्, अनेकस्वभावश्च अन्तर्बहिर्वा जैनाभ्युपगतं वस्तु इति । तथापि मरी-
 चिकातोयनिदर्शनेन अस्याऽसत्त्वे बुद्धेरर्थतोऽसत्त्वप्रसङ्गः विशेषाभावात् । ननु नाऽने-
 कस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं परमार्थसत्त्वं वा अपि तु परमाण्वादेः; इत्यत्राह—‘नपुनः’
 इत्यादि । न पुनः नैव परिमण्डलसम्बन्धात् परिमण्डलः परमाणुः आदिर्यस्य
 यौगकल्पिताऽवयवव्यादेः स तथोक्तः तस्याऽनित्यत्वं परमार्थसत्त्वश्च । निदर्शनमाह—

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम् । (२) यदि हि संविदि ग्राह्याद्याकाराः प्रतिभासेरन्, तदैव तस्यां
 प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्वं शक्येत कल्पयितुम्, यदा च संवित्तिः ग्राह्याद्याकारशून्य-
 वास्ति तदा कथं तत्र भ्रान्तत्वेनापि स्थूलाद्याकारः प्रतिभासेत ? (३) संविदि न भ्रान्ततयाऽपि
 स्थूलाद्याकारप्रतिभासः, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात् । (४)
 स्कन्धस्य । (५) निरूपणपरमाणुरूपस्वलक्षणस्य । (६) सौगतेन । (७) पूर्वपरिक्षणयोः—आ० टि० ।
 (८) मध्यक्षणाभाव—आ० टि० । (९) सर्वथा । (१०) पूर्वपरिक्षणयोः । (११) मध्यक्षण । (१२)
 बौद्धमते—आ० टि० । (१३) स्थूलादिस्वभाव एवार्थः परमार्थसन् अनेकस्वभावत्वात् । (१४) “यथोक्तम्
 आर्यरत्नावल्याम्—मरीचिकतोयमित्येतदिति मत्वा गतोऽत्र सन् । यदि नास्तीति ततोयं गुल्लियान् मूढ एव
 सः ॥ मरीचिप्रतिभं लोकमेवमस्तीति गुल्लितः । नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते ॥ अज्ञान-
 कल्पितं पूर्वं पश्चात्तत्त्वार्थनिर्णये । यदा न लभते भावमेवाभावस्तदा कुहू ॥ इति । तदेवं निःस्वभावानां
 सर्वभावानां कुतो यथोक्तप्रकारसिद्धिः । तस्माल्लौकिकं विपर्यासमभ्युपेत्य सांवृतानां पदार्थानां मरीचिका-
 जलकल्पानामिदं प्रत्ययतामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नान्येन ।”—साध्यमिकषु० पृ० १८८ । (१५) स्थूला-
 दानेकस्वभावस्य वस्तुनः । (१६) मरीचिकातोयदृष्टान्तात् । (१७) परिमण्डलः वर्तुलाकारः ।

1-ति विद्-ब० । 2 पूर्वपरिकोटचोर-श्र०, ब० । 3 तदुपलम्भासिद्धिरिति ब० । 4 नानैक-
 ब० । 5-व्यादिः ब० । 6 -त्वं निद-ब० ।

‘विज्ञान’ इत्यादि । विज्ञानस्य यद् अनंशं तत्त्वं स्वरूपं तस्य इव तद्वदिति । ननु बहिरन्तश्च अनंशस्यैव तत्त्वस्य उपलम्भः अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भाच्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्वं सिद्धयति इति यौगं-सौगताः; तत्राह—‘नापि’ इत्यादि । नापि नैव क्षणिकाः परिमण्डलाः परमाणवः आदयो यस्य अवयव्यादेः स तथोक्तः तस्य अविभागविज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् कदाचिदपि स्वयम् आत्मना उपलब्धिः ।⁵ कुत एतदित्यत्राह—‘तथैव’ इत्यादि । तथैव परपरिकल्पितप्रकारेणैव अप्रतिभासनात् । अथ बहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनंशादिस्वभावतया अप्रतिभासनेऽपि सच्चेतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोषः; तत्राह—‘तत्कथञ्चिद्’ इत्यादि । तस्य बहिरन्तस्तत्त्वस्य कथञ्चित् न सर्वात्मना तत्त्वभावप्रतिभासे सच्चेतनादिस्वरूपप्रतिभासने अङ्गीक्रियमाणे अनेकान्तसिद्धिः एकस्य दृश्येतरस्वभावसिद्धेः ।¹⁰

एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतुं निराकुर्वन्नाह—

अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥ १७ ॥

विवृतिः—साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोर-
संभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत् एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः ।¹⁵ न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वञ्चानुपलब्धेः कृतकत्वादनित्यत्वं सिद्धयेत् नान्यथा ।

यौगलौगतकल्पितं यद् अनंशं तत्त्वम्, क ? बहिरन्तश्च । तत्किम् ?

अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्राप्तं न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह—**तदप्र-**²⁰
कारिकार्थः—

तिभासनात् तस्य अनंशतत्त्वस्य अप्रतीतेः । ततः किं जातम् ?

इत्यत्राह—‘कस्तद्’ इत्यादि । कः, न कश्चित् तस्य अनंशस्य स्वभावो हेतुः

(१) यौगानां मते अन्तः अनंशस्य निरवयवस्य व्यापिनः आत्मन उपलम्भः, बहिरश्च निरंशा-
वयविनः । सौगतमते च स्वलक्षणस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभावः, मध्यमक्षण एव च स्थायिता ।
(२) “यत् सौगतेः परिकल्पितं बहिरच्चेतनम् अन्तश्चेतनम्, निरंशम्, अंशा द्रव्यक्षेत्रकालाव-
विभागाः तेभ्यो निष्क्रान्तं निरंशं तदप्रत्यक्षं प्रत्यक्षाविषयः । कुतः ? तदभासनात् तस्य निरंशतत्त्वस्या-
भासनादननुभवात् । न खलु द्रव्यादिविभागरहितं चिदचिद्धा तत्त्वं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते, तत्र नित्या-
नित्याद्यनेकाशिव्यापित्वेन वस्तुनः प्रतीतेः । ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो धर्मः को
हेतुर्लिङ्गं स्यात्, न कोऽपि इत्यर्थः । प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य कार्यञ्च किम् हेतुः स्यात्,
सर्वथा निरंशस्यापरिणासिनः कार्यकरणयोगात् यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचनं न कुतोऽपीत्यर्थः । तन्न
सौगतमतेऽनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दत्यनुपपत्तेः ।”—लघी० ता० पृ० ३७ । (३) “प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः
कार्यकारणभावः ।”—हेतुबि० टी० पृ० ७३ । “भावे भाविनि तद्भावः भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे
हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।”—(सम्बन्धप०)—प्रमेयक० पृ० ५१० । स्या० र० पृ० ८१८ ।

1—भावादिसिद्धेः व० । 2 किमप्रत्यक्षप्राप्तं व० ।

स्यात् । किं न किञ्चित् तस्य अनंशस्य कार्यं हेतुः । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् मित्रानां संयोगिसमवाय्यादीनां निरासः सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्गं घटते यतोऽनुमा स्यात् ।

- कारिकां विवृण्वन्नाह—‘साक्षात्’ इत्यादि । साक्षात् स्वभावं स्वरूपम् अप्रदर्शयतो भावस्य यत् निरंशं तत्त्वं स्वरूपं तस्य अनुमितौ क्रियमाना 5 विवृतिव्याख्यानम्—
णायां स्वभावहेतोरसंभवः । कुत इत्याह—‘स्वभाव’ इत्यादि ।
स्वभावस्य स्वरूपस्य विप्रकर्षाद् अदृश्यत्वात् । तत् एव तद्विप्रकर्षादेव कार्यहेतोर-
प्रतिपत्तिः । कुत ऐतत् ? इत्याह—‘कार्य’ इत्यादि । कार्यकारणयोः सर्वत्र बहिरन्तर्वा 10 अनुपलब्धेः अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतोः प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र सोऽस्ति इत्याह—‘नच’ इत्यादि । नच नैव अत्र यौग-सौगतकल्पिते एकान्ते प्रत्य-
क्षानुपलम्भौ साधनं यस्य स तथोक्तः । कः ? प्रभवः, कार्यकारणभावः ‘प्रभवति’
‘प्रभवति अस्मात्’ इति च व्युत्पत्तेः । यथा च तत्कल्पितैकान्ते प्रभवो न घटते तथा 15 विषयपरिच्छदे प्रैषञ्चितम् । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः, किन्तु क्वचित् इन्द्रियशक्तिवत् कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात् ; इत्याशङ्क्य आह—‘कार्य’
इत्यादि । कार्यस्य व्यतिरेकः विवक्षितकारणव्यतिरिक्तकारणसाकल्येऽपि अनुत्पादः 20 तेन उपलक्षिता वा । पक्षान्तरसूचको वाशब्दः । कारणशक्तिः ‘न चात्र’ इति सम्बन्धः । निरंशयोः कार्यकारणयोः मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकतः कार्यव्यतिरेकाऽसिद्धिः इत्यभिप्रायः । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरणं युक्तम् इत्याह—‘तदङ्गीकर-
णम्’ इत्यादि । तस्याः कारणशक्तेः अङ्गीकरणम् कार्यव्यतिरेकतः सद्भावस्वीकरणं 25 प्रमाणान्तरमन्तरेण ऊहाख्यप्रमाणं विना अनुपपन्नम् । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे कार्यव्यतिरेकतः कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभा-
वादिसम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्—‘अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते’ [लघी० का० ११] इत्यत्र । कुतः पुनस्तदङ्गीकरणं तदन्तरेणाऽनुपपन्नम् ?
इत्याह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मना उपलब्धस्य मध्यदशायां दृष्टस्य प्रागू-
र्ध्वञ्च या तस्यैव अनुपलब्धिः स्वयमेव अदर्शने तस्या यत् सिद्धं कृतकत्वं कार्यत्वं 25 तस्माद् अनित्यत्वं शब्दादेः सिद्ध्येत् नान्यथा न प्रकारान्तरेण । नच प्रत्यक्षमनुमानं

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति यत्कार्यमिति कार्यव्युत्पत्तिः, प्रभवति कार्यं यस्मात् कारणात् इति कारणव्युत्पत्तिः—आ० हि० । (३) पृ० २२०, पृ० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः । (५) कारणशक्तिस्वीकारः । (६) ऊहप्रमाणमन्तरेण ।

१ कार्यहेतुः श्र० । २-नुमानं स्यात् आ०, श्र० । ३ स्वरूपं दर्शय-व० । ४ एतद्वेत्याह-व०, एतद्वित्यत्राह श्र० । ५ प्रभवति अस्मात् इति व्यु-व०, श्र० । ६ प्रपञ्चितः व० । ७-क्षितो वा व० । ८-ञ्च तया व० ।

वा तथा प्रत्येतुं समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते । कृतकत्वानित्यत्व-
ग्रहणमुपलक्षणं सकलहेतुसाध्यानाम् ।

ननु सर्वोऽयं कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पार-
मार्थिकः तत्कथं प्रमाणान्तरप्रसक्तिः? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतो विकल्पबुद्धौ सिद्ध्यायं तत्कल्प
तोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात् । न च तैस्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति—

धीर्विकल्पाविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्धयेत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

विवृतिः—सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि, निश्चयस्यापि
कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात्
कुतस्तत्संव्यवहारसिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलाषसंसर्गयोग्यायोग्य-
विनिर्भासैकज्ञानं प्रतिपत्तयं स्वरूपवत् ।

धीः बुद्धिः, कथम्भूता ? निश्चयात्मा विकल्पबुद्धिः इत्यर्थः । पुनरपि कथ-

**म्भूता ? इत्याह—‘विकल्प’ इत्यादि । विकल्पो व्यवसायः,
अविकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ यस्याः सा तथोक्ता ।**

क ? बहिरन्तश्च; बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति । सा किम् ? इत्यब्राह्म—

(१) “तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्ध्याकृतेन धर्मवर्गभेदेन-
त्युक्तम् । अ-आचार्यदिनारायणोपेतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि । सर्व एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरनिधू-
मयोर्वस्तवो भेदः तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहारायोगात् । अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गम् अनुमेयः साध्य-
धर्मा साध्यधर्मश्च तेषां व्यवहारो नानात्वप्रतिरूपः, बुद्ध्याकृतेन धर्मवर्गभेदेन बुद्धिप्रतिभासगतेन
भिन्नेन रूपेण भेदव्यवहार इति यावत् ।” —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १४ । (२) विकल्पसिद्धिः । (३)
“किं पुनः सिद्धयेत् ? न सिद्धयेदित्यर्थः । का ? धीः बुद्धिः । किं विशिष्टा ? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धि-
रित्यर्थः । पुनरपि कथम्भूता ? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पो व्यवसायः अविकल्पोऽव्यवसायः तावा-
त्मानौ यस्याः सा तथोक्ता । क्व ? बहिरन्तश्च, अत्र यथासंख्यमभिसम्बन्धः कर्तव्यः, बहिर्घटादिविषये
विकल्पात्मा, अन्तः स्वरूपे निर्विकल्पात्मा चेति । कुतो न सिद्धयेत् ? स्वतः स्वसंवेदनात्, तस्य निर्वि-
कल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात् । सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनमिति वचनात् । न केवलं स्वतः,
अपि तु परतोऽपि । किं पुनः सिद्धयति ? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्धयतीत्यर्थः । कुतः ? अनव-
स्थितेः । तदपि विकल्पान्तरतः, स्वतो न सिद्धयति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्धयर्थं विकल्पान्तरं
कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपपत्तात् । ततोऽनुमानस्यासिद्धेः कथं बौद्धकल्पितः प्रमाणसंख्यानियमो घटत
इति भावः ।” —लघी० ता० पृ० ३८ । (४) “सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् । चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैता
विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । सर्वे च ते चित्तचैतारश्च सर्वचित्तचैताः । सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात्
स्वसंविदिताः नाप्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था
यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् ।” —न्यायवि०
टी० पृ० १९ । (५) तुलना—“स्वत एव विकल्पसंविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्पः स्यात्,
परतश्चेदवस्थानादप्रतिपत्तिः ।” —अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७० ।

- किं पुनः सिद्धयेत् ? नैव सिद्धयेत् । कुतः ? स्वतः स्वसंवेदनात् निर्विकल्पकात् ।
यत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्धयति यथा क्षेणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पेन
गृह्यते च विकल्पस्वरूपमिति । तर्हि विकल्पान्तरात् तत् सेत्स्यति; इत्यत्राह—‘परतः’
इत्यादि । न केवलं स्वतः अपि तु परतः विकल्पान्तरादपि किं पुनः सिद्धयेत् इति
5 ‘नो सिद्धयेत्’ इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्याह—अनवस्थितेः अनवस्थानात्
विकल्पान्तरस्यापि तदन्तरात् सिद्धिप्रसङ्गात् ।

- कारिकां विवृण्वन्नाह—‘सर्व’ इत्यादि । सर्वविज्ञानानां विकल्पेतरज्ञानानां
स्वसंवेदनम् आत्मग्रहणं प्रत्यक्षम् अविकल्पकं निर्विकल्पकं यद्वि
विवृतिव्याख्यानम्—
चेत् इष्यते । अत्र दूषणम् ‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयस्यापि न
10 केवलम् अनिश्चयस्य कस्यचिद् अनुमानानुमेयव्यवहारहेतोः स्वत एव स्वसंवेदनादेव
‘अनिश्चयात्’ निश्चयाभावात् । अर्थ अन्यतो निश्चयः स्यादत्राह—‘निश्चय’
इत्यादि । प्रकृतान्निश्चयाद् अन्यो निश्चयः तदन्तरम् तस्य कल्पनायाम् अनवस्थानात् ।
कुतः, न कुतश्चित्, तस्मात् संव्यवहारस्य कार्यकारणभावदिलक्षणस्य सिद्धिः ।
तस्यैव असिद्धेः इत्यभिप्रायः । अस्तु तर्हि धीः निश्चयात्मा बहिरिव अन्तरपि
15 इत्यत्राह—‘ततः’ इत्यादि । ततः तस्माद् उक्तदोषात् स्वार्थेऽपि स्वस्य बुद्धेः अर्थो ग्राह्यं
बहिःस्वलक्षणं तत्रापि न केवलं सामान्ये कथञ्चित् न सर्वात्मना, ‘अभिलष्यते अनेनै’
‘अभिलष्यते’ इति च अभिलाषौ शब्दजात्यादी तयोः संसर्गः ‘अस्येदं वाचकम्,
अस्येदं वाच्यम्’ इति योजनं तस्य योग्ययोग्यौ निर्भासौ तयोरेकं साधारणं ज्ञानं
प्रतिपत्तव्यम् सौगतैः । अत्र दृष्टान्तमाह—‘स्वरूपवत्’ इति । स्वरूप इव तद्वदिति ।
20 एवं परं प्रति तर्कादिकं प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्त-
रत्वनियमं विधुरयन्नाह—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादनम् ? ॥१९॥

(१) विकल्परूपमसिद्धं निर्विकल्पेन गृह्यमाणत्वात् । (२) नीलादौ क्षणक्षयः, अहिंसाक्षणे
च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम् । (३) इति अभिलापः शब्दः । (४) इति अभिलापः अभिलष्यमानो जात्यादिः ।
(५) ‘अत्र यदित्येतदध्याह्नियते । प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात् उप-
जायमानं साध्यस्य ज्ञेयस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधनं गोसदृशो गवय इति ज्ञानं यद्युप-
मानं प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवैसादृश्यादुपजायमानं साध्यसाधनं गोविलक्षणो
महिष इति ज्ञानं किं प्रमाणं स्यात् ? तस्य किन्नामेत्याक्षेपः । नहि तदुपमानमेव तल्लक्षणाभावात् ।
नापि प्रत्यक्षादिः भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च । तथा संज्ञितो वाच्यस्य प्रतिपादनं च

- 1 कुतः स्वसं-आ०, ध्र० । 2-तः संवेद-ब० । 3-कल्परूपमिति ध्र० । 4 अपि विक-आ० ।
5 ‘नो सिद्धयेदिति’ नास्ति आ०, ध्र० । 6-त्पनि-ब० । 7 यदोष्यते ब० । 8-वेदनानिश्च-आ०,
ध्र० । 9 ‘अर्थ’ नास्ति आ० । 10 अनवस्थाभावात् ब० । 11 अन्तरेऽपि ब० । 12 बाभि-ब० ।
13 ‘स्वरूपवदिति’ नास्ति आ०, ब० ।

विवृतिः-प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतश्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथानु युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'वृक्षोऽयम्' इति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् । 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु ईतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः 5 किन्नाम प्रमाणम् ? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ।

प्रसिद्धोऽर्थो गौः तेन साधर्म्यं सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् साध्यस्य

करिकार्थः-

सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य साधनं सिद्धिः **उपमानं** प्रमाणम् । 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्र दूषणमाह-'तद्' इत्यादि । तेन प्रसिद्धार्थेन **वैधर्म्यं** वैसदृश्यं यन्महिष्यादेः तस्मात् 10 साध्यसाधनं 'गोविलक्षण एते महिष्यादयः' इति प्रतीतिः, तत् किं प्रमाणम् किमभिधानं तत्प्रमाणम् ? तस्य किञ्चिन्नाम कर्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न संभवति । तथा च सप्तमप्रमाणप्रसङ्गात् 'षडेव प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः ।

ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्तिः ?

उपमानं पुष्कं प्रमा- येन हि प्रीतिपत्रा गौरुपलब्धा न गवयः, न च अतिदेशवाक्यं श्रुतं 'गौरिव 15 गुमिति मीमांसकस्य गवयः' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सदृशो पूर्वपक्षः- गौः' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम् ।

विवक्षितसंज्ञाविषयत्वेन संकलनं यथा वृक्षोऽयमिति । तदपि किन्नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते । न खलु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः; उपमानाप्रामाण्यापत्तेश्च ।"-लघी० तर० पृ० ३९ । "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यत्साध्यसाधनमुपमानम् ।"-न्यायसू० १।१।६ । (६) तुलना-"गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादौ प्रवर्तते । तद्वैसादृश्यविज्ञानं यत्तदन्या प्रमाणं किम् ॥"-तत्त्वसं० पृ० ४५० । "साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।"-न्यायकुसु० ३।९ । "सादृश्यञ्चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यञ्च किं तथा ।"-जैनतर्कवा० पृ० ७६ । उद्धृतोऽयम्-स्या० २० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३।४ । प्रमेयर० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः अतिदेशः"-व्युत्पत्तिवा० ग० । "इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगादादेशः"-वाचस्पत्यम् । "ताद्वदिदं कर्तव्यमित्यतिदेशः ।"-शास्त्रदी० पृ० २७७ । (२) "उपमानमपि सादृश्यमन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शने गोस्मरणस्य ।"-शाबरभा० १।१।५ । "सादृश्यदर्शिनोत्थं ज्ञानं सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टगोः पुरुषस्य गवयं तत्सदृशं पश्यतो यद् गोविषयकं गवयसदृशज्ञानं तदुपमानम् ।"-प्रक० पं० पृ० ११० । "सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत्प्रति-योगिनि जायते । सादृश्यविषयं ज्ञानमुपमानं तदुच्यते ॥"-बृह० पं० पृ० १०९ । "पूर्वदृष्टे स्मर्यमा-णार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यासावस्माभिर्नगरे दृष्टा गौः साज्जेन सदृशीति ।"-शास्त्रदी० पृ० २५८ । नयवि० पृ० १४६ । तन्त्ररह० पृ० १३ ।

1 युज्येत ज० वि० । 2 इतरेषु तस्यैव ई० वि० । 3-त्ति प्रमा-ई० वि० । 4 प्रसिद्धार्थो अ० । 5-णं किञ्चि-ब० । 6 प्रतिपत्ता आ०, ब० । 7 न वातिदे-ब० ।

अत्र च विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टं सादृश्यं करणम् । उक्तञ्च—

“दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।

सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥” []

अस्य च अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम् । यद्यपि गौरनेन प्रागेव उपलब्धः,

- 5 सादृश्यञ्चेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि ‘गवयसदृशो गौः’ इति प्रागप्रतिपत्तेः अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वम् । तर्हि इदानीमेव गोः स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधिगमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगन्तृत्वमस्ति; इत्यप्युक्तम्; तद्विशिष्टत्वस्य तत्र ताभ्यैर्मानधिगतेः । यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्यं प्रतिपन्नं गौश्च स्मृत्या, तथापि सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां वाऽप्रतीतेः तद्विषयत्वेन उपमा-
10 नस्य अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम् । नहि अनुमानेऽपि अतोऽन्यत् प्रामाण्यनिबन्धनम् । प्रत्यक्षेऽपि हि प्रदेशादौ धर्मिणि स्मृत्या चाग्नौ प्रतिपन्नेऽपि अग्निविशिष्ट-प्रदेशादिविषयत्वेन अनुमानस्य प्रामाण्यं तद्वदुपमानस्यापि । तदुक्तम्—

“तस्माद्वैत्सर्ग्येन तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तद्वैत्सर्ग्यम् ॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते । विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणात् ॥

- 15 प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके । विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणात् ॥”

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३९] इति^३ ।

ननु अस्तु उपमानं प्रमाणम्, ननु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं तदन्यतमस्वभावत्वात्तस्य; इत्यप्यनुपपन्नम्; तदन्यतमस्वभावत्वस्य तत्राऽसंभवात् । तथाहि—न तत्रैव प्रत्यक्षरूपं तत्; परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात् । नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गौः । (२) सन्निकृष्टं गवयनिष्ठं सादृश्यम् । (३) साधकतमं करणम्—आ० टि० । (४) गवयात् । (५) गवि । (६) उद्धृतोऽयम्—आप्तप० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० १८५ । ‘तत्त्वज्ञैः’—सम्प्रति० टी० पृ० ५७५ । (७) उपमानस्य । (८) पुरुषेण । (९) स्मृतिवत्—आ० टि० । (१०) उपमानस्य । (११) सादृश्य—आ० टि० । (१२) गवि । (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम् । (१४) विशिष्टविषयत्वेन । (१५) विशिष्टविषयत्वात् । (१६) पर्वतादौ—आ० टि० । (१७) गौः । ‘तस्माद् दृश्यते’—न्यायाव० टी० पृ० १९ । (१८) इति सादृश्यावधारणम्—आ० टि० । (१९) तयोः गोगवयोरुपलब्धत्वात् । ‘तदाश्रितं’—तत्त्वसं० । व्याख्या—‘यस्मादेव प्रत्यक्षे गवये न किञ्चिदुपमानस्य प्रमेयमस्ति तस्मात्समर्थमाणेव गौर्गवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति । ननु गवये सादृश्यं प्रत्यक्षं गृहीतं गौः स्मर्यते किमन्यदुपमेयमत आह—प्रत्यक्षेणेति । तत्रैव दृष्टान्तमाह प्रत्यक्षे इति ।’—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४४५ । (२०) ‘विशिष्टस्यान्यतः सिद्धे’—प्रमेयक० पृ० ३४५ । (२१) उद्धृता इमे—तत्त्वसं० पृ० ४४५ । प्रमेयक० पृ० ३४५ । सम्प्रति० टी० पृ० ५७६ । आद्यौ द्वौ—स्या० र० पृ० ४९७ । जैनतर्कभा० पृ० १० । (२२) प्रत्यक्षाद्यान्यतम । (२३) उपमाने । (२४) “तदिदमुपमानं न प्रत्यक्षम्; तिरोहितं गवि चक्षुःसन्निकृष्टातिवर्तिनि जायमानत्वात् । न च स्मृतिः; गोदर्शनसमयेऽप्रतीतगवस्य तत्सादृश्यानुभवाभावात् ।”—प्रक० प० पृ० १११ ।

त्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षप्रतिपक्षे एव अर्थे स्मरणस्य आधिर्भावात् । न च गोप्रत्यक्षकाले तत्प्रत्यक्षेण गवयप्रतिपत्तौ तत्सादृश्यं प्रत्येतुं शक्यम् ।

“भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते । सादृश्यं तस्यैव (तु) ज्ञप्तिः गृहीते प्रैतियोगिनि” ॥”

[न्यायमं० पृ० १४६] इत्यभिधानात् ।

नाप्यनुमानरूपताऽस्य; लिङ्गादनुत्पत्तेः । अत्र हि लिङ्गम्—सादृश्यं पैरिकल्पते, 5
परिदृश्यमानो गवयो वा ? यदि सादृश्यम्; तर्हि गोगतम्, गवयगतं वा लिङ्गं स्यात् ?
न तावद् गोगतम्; गवयदर्शनात् प्राक् तस्य असिद्धत्वात् । नचाऽसिद्धस्य लिङ्गत्वम्;
अतिप्रसङ्गात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गाच्च, गोगतत्वेन हि सादृश्यं प्रमेयम् तदेव च
लिङ्गमिति । गवयगतं तच्चर्हि लिङ्गमस्तु उक्तदोषद्वयासंभवादिति चेत्; न; अत्रापि
व्यधिकरणासिद्धत्वप्रसक्तेः । न च व्यधिकरणासिद्धस्य गमकत्वं कौककाण्योदिवत् । 10

एतेन गवयस्यापि लिङ्गता प्रत्याख्याता; व्यधिकरणत्वाविशेषात् । उक्तञ्च—

“न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्मसंभवात् । प्रैक् प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मत्वेन न गृह्यते ॥

(१) तुलना—“न च स्मरणमेवेदं प्रमेयाधिक्यसम्भवात् । गवयेन हि सादृश्यं न पूर्वमवधारितम् ॥”—न्यायमं० पृ० १४६ । (२) गोप्रत्यक्षेण । (३) गवयसादृश्यम् । (४) गवयसादृश्यस्य प्रतियोगी गवयः । (५) “ननु च ज्ञातसम्बन्धिता तुल्या, सा चात्र लक्षणम्, तत्र वाच्यत्र वेति श्वेदमुपयुज्यते ? वादमुपयुज्यते, एकदेशदर्शनादिति हि तत्र लक्षणम्, ज्ञातसम्बन्धस्येति विशेषणम् । अतो न गवयस्य सादृश्यं सदृशावगतरेकदेशः । किञ्च असकृद् दृष्टसम्बन्धो ह्यनुमानस्य हेतुः असंजातीयव्यावृत्तिसव्यपेक्षश्च, द्वयमात्रास्तीति प्रमाणान्तरम् ॥”—बृह० पृ० १०८ । प्रक० पं० पृ० १११ । शास्त्रदी० पृ० २८७ । (६) गोसादृश्यस्य । (७) साध्यम् । (८) सादृश्यम् । (९) साध्यं हि गवयिता सादृश्यं लिङ्गञ्च गवयगतं सादृश्यमिति व्यधिकरणासिद्धः—आ० हि० । (१०) ‘धवलः प्रासादः काकस्य काण्यार्ति’ इतिवत् । (११) गवयो हि वनवर्ती सादृश्यञ्च गवि साध्यमिति व्यधिकरणासिद्धता । (१२) व्याख्या—“ये तु साक्याः प्रमाणद्वयवादिनः सांख्या वा प्रमाणत्रयवादिनोऽप्यानुमानान्तर्भावमन्यन्ते तान् प्रत्याह न चेति । असम्भवमेव दर्शयति—प्रागिति । प्रमेयो गौः तदगतं तावत्सादृश्यं न लिङ्गं तस्य प्रागुपमानात्तद्धर्मत्वेनाग्रहणादिति । गवयगतमपि सादृश्यं गवि प्रमेये न पक्षधर्म इत्याह गवये इति । गोगतस्य च प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादपि न लिङ्गता, तदेव हि गोगतं प्रमेयमित्याह—प्रतिज्ञेति । सादृश्यविशिष्टो गवयोऽपि पक्षधर्मत्वाभावादेव न लिङ्गमित्याह गवये इति । ननु तत्सम्बन्धितामात्रमेव तद्धर्मत्वं न संयोगसमवायावैव, अस्ति गवयस्य गोसम्बन्धः तस्यासौ सदृशः, तत्र कथमपक्षधर्मत्वमत आह—सादृश्यमिति । भवतु कथञ्चित्पक्षधर्मता, न त्वन्वयोऽस्ति । नहि गवयगतं गोसादृश्यं गोगतेन गवयसादृश्येनान्वितं दृष्टम्, इदानीमेव गवयसादृश्यं गृह्यते । ननु युगपद् गवयं गवयसादृश्यं पश्यतोऽप्यदृश्यं परस्परसदृशं येन यस्यसदृशं तदपि तेन सदृशमिति शक्यमेवान्वयग्रहणं कर्तुम् अत उक्तं सर्वेणेति । सत्यं दृष्टं न तु सर्वेण गवयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यं गृह्यतैवमन्वयो गृहीतो भवतीति । अस्ति चादृष्टसदृशद्वयस्याप्येकमेव गां दृष्ट्वाैव वने द्वितीयं गवयं पश्यतस्तदैव सादृश्यविशिष्टे प्रत्यय इत्याह—एकस्मिन्निति ।”

—मी० इलो० न्याय० पृ० ४४७ । (१३) गवयदर्शनात् प्राक्—आ० हि० ।

1 तस्य तज्ज्ञप्तिः श्र०, व० । 2 प्रत्ययोगिनि व० । 3 परिकल्पत आ० । 4—प्रसंगाद् गोग—व० ।

5 न च तस्यानु—श्र० । 6 न दृश्यते व० ।

गवये गृह्यमाणश्च न गवैर्यानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥
गवयश्चाप्यसम्बन्धाच्च गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च सर्वेषां पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने । सादृश्येन सैहैवोस्मिस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥”

[सी० श्लो० उपमान० श्लो० ४३-४६] इति ।

5 नाप्येतत् शब्दम्; अश्रुताऽतिदेशवाक्यस्य प्रतिपत्तः तत्संभवात् । नाप्यर्थापत्तिः;
अन्यथानुपपद्यमानदृष्ट-श्रुतार्थानपेक्षणात् । नाप्यभावः; प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अनेन सदृशो गौः’ इत्यादि; तदसमीक्षि-

तस्मिन्पुरस्सरम्
उपमानस्य सादृश्य-

10 प्रत्यभिज्ञान एवान्त-
र्भावप्रदर्शनम्—

तामिधानम्; तथाविधायाः प्रतीतेरेवाऽसंभवात् । तथाहि—अश्रुताति-
देशवाक्यो नागरकः कानने पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोसदृशं पशुं पश्यन्
एवं बुद्ध्यते ब्रवीति च—‘गवा सदृश एव कश्चित् पशुः’ इति, ननु
‘अनेन सदृशो गौः’ इत्येवंविधज्ञानमभिधानं वा कस्यचित्तादानीम-

स्तीति । अस्तु वा, तथापि अर्थं प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणान्तरत्वम् । ननु अनुभू-
तेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते दर्शनस्मरणनिबन्धनत्वात्तार्थैः, न च पुरोवर्त्तिगवयैवच्छिन्न-
सादृश्योपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूतः, गवयाग्रहणे तदवच्छिन्नसादृश्यविशेषितस्य
15 गोपिण्डस्य ग्रहीतुमशक्तेरिति; तदयुक्तम्; यतः कस्य अनुभवाभावः—गवयावच्छेदस्य,

(१) ‘गवानुमापकम्’—सी० श्लो० । (२) व्यधिकरणत्वात्, सम्बन्धे हि गमको गम्यं गमयति
—आ० टि० । (३) न च तदन्वयि गवयगतं सादृश्यं पूर्वं दृष्टं किन्तु गवयदर्शनकाल एव सर्वस्यापि
प्रमातृस्वीयते, अनेनानधिगतायाधिगन्तृत्वं प्रामाण्यबीजमुपमानस्य ज्ञापितम्—आ० टि० । (४)
‘सहैकस्मिन्’—सम्पत्ति० टी० पृ० ५७७ । (५) उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० १८७ । सम्पत्ति० टी० पृ० ५७७ ।
तुलना—‘त्रैरूप्यानुपपत्तेश्च न च तस्यानुमानता । पक्षधर्मादि नैवात्र कथञ्चिदवकल्पते ॥ (प्राग्गोगतं
हि सादृश्यं) धर्मत्वेन गृह्यते । गवये गृह्यमाणञ्च न गवानुमापकम् ॥ प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य
न लिङ्गता । गवयश्चाप्यसम्बन्धाच्च गोलिङ्गत्वमृच्छति ॥’—तत्त्वसं० का० १५३९-४१ । (६) “श्रुता-
तिदेशवाक्यत्वञ्च चातीवोपयुज्यते । येऽपि ह्यश्रुतद्वयक्रियास्तेषामपि भवत्ययम् ॥”—सी० श्लो० उपमान०
श्लो० १० । (७) तुलना—“अन्यथानुपपद्यमानदृष्टश्रुतार्थानपेक्षत्वात्प्राथम्यपत्तिः । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्य-
नपेक्षणाभावात् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ४५० । (८) पृ० ४८९ पं० १६ । (९) तुलना—“एवंविधप्रतीत्य-
भावात् । प्रसिद्धेन हि सादृश्यमप्रसिद्धस्य गम्यते । गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विपर्ययः । तथाहि
—अश्रुतातिदेशको नागरकः कानने परिभ्रमन्नदृष्टपूर्वं गोसदृशं प्राणिनमुपलभमान एवं बुद्ध्यते ब्रवीति
च, अहो नु गवा सदृश एव कश्चन प्राणीति । नत्वनेन सदृशो गौरिति ज्ञानमभिधानं वा तदानीं कस्यचिद-
स्तीति अतः प्रतीतेरेवाभावात् किं प्रमाणचिन्त्या ।” —न्यायसं० पृ० १४६ । (१०) तुलना—“एकत्वसा-
दृश्यप्रतीत्योः सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानानतिक्रमात् ।” —प्रमेयक० पृ० ३४५ । न्यायव० टी०
पृ० १९ । स्या० २० पृ० ४९७ । प्रमाणसी० पृ० ३५ । जैनतर्कभा० पृ० १० । (११) प्रत्यभिज्ञायाः ।
(१२) गवयपिण्डसादृश्यविशेषणविशिष्टतया । (१३) इदं सादृश्यं गवयपिण्डमित्याकारस्य ।

1 सहैकस्मिन्—ब० । 2 शब्दम् ब० । 3—तिरन्यथापत्तेः अन्यथानुप—आ० । 4 प्रमाणं प्रमेय-
ब०, श्र० । 5 नागरिकः ब० । 6 पश्यन्मैवं ब० । 7—नत्वात् न च ब०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स एवायम्' इत्यादि प्रतीतेरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उत्तरपर्यायावच्छेदस्य पूर्वमननुभवात् । अथात्रै अवच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेदस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता; तदन्यत्रापि समानम्-अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेदस्य अधिगमात् । कथमप्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीतिः—गोदर्शनसमये, उत्तर-
कालं वा ? प्रथमविकल्पे उत्तरपर्यायस्यापि द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्गः, पूर्वपर्यायप्रतीति-
समये तस्याप्यप्रतीतेः । अथ उत्तरप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य तस्य तद्विशेषणता; तदेतदन्यत्रा-
प्यविशिष्टम् । तत्र गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावः ।

नापि सादृश्यस्य; तद्धि असन्निहितत्वान्नानुभूयते, प्रतिबन्धकसद्भावाद्वा ? न तावदसन्निहितत्वात्; सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धेः । नापि प्रतिब-
न्धकसद्भावात् तस्यानुपलम्भः; गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिबन्धकस्य
कस्यचिदप्यनुपलम्भात् । ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भसमये
प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भः स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; एकैकत्र अर्थस्य समाप्ततया प्रति-
योगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्तेः । कथमन्यथेदं शोभेत—

“सामान्यवच्च सादृश्यमैकैकत्र समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तैत्तस्मादुपलभ्यते ॥” 15

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५] इति ।

‘इदमनेन सदृशम्’ इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुनः तत्त्व-

(१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमेकत्वमित्याकारस्य । (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने । मीमांसकाभिमतोप-
मानस्य प्रशस्तपादभाष्यादिषु आगमस्मरणयोरप्यन्तर्भावः प्रादक्षि; तथाहि—“आत्मेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य
गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव ।”—प्रश्न० भा० पृ० ५७६ । “किञ्च स्मृतिस्त्वभावत्वाद्वा न
प्रमाणमुपमानं स्मृत्यन्तरवत् ... एवं तु युज्यते तत्र गोलुपावयवैः सह । गवयावयवाः केचित्तुल्यप्रत्ययहे-
तवः ॥ तत्रास्य गवये दृष्टे स्मृतिः समुपजायते ।”—तत्त्वसं० पृ० ४४८ । “भवतु वंषा बुद्धिरनेन सदृशो
गोः तथापि स्मृतित्वान्न प्रमाणफलम् ।”—न्यायसं० पृ० १४६ । “तस्माद् गवयग्रहणे सति असन्निहितगो-
पिण्डावलम्बनी सादृश्यप्रतीतिः सदृशदर्शनाभिव्यक्तसंस्कारजन्या स्मृतिरेव न प्रमाणात्तरम् ।”—प्रश्न०
कन्ध० पृ० २२१ । “सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयवैः क्रमः—पूर्वं तावत् गोगवययोर्विषाणित्वादिसादृश्यं गवि
प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं ‘यदेतद् विषाणित्वादिसादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया
तद् गव्यपुलपलब्धम्’ इति स्मरति तदनन्तरं विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसन्धानं जायते ‘अनेन पिण्डेन सदृशो
गोः’ इति । एवञ्च स्मर्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत् ?”—सम्प्रति० टी० पृ० ५८२ । (३)
सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेऽपि । (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्थले । (५) उत्तरपर्यायस्यापि । (६)
‘उत्तरपर्यायस्य—आ० टि० । (७) अन्वितद्रव्यस्थानीयमत्र गोगवयगतं सादृश्यं विवक्षितम्, अत्रापि
गवयप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविशेषणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) सादृश्यस्य ।
(९) ‘तस्मात्तादुपपद्यते—मी० श्लो० । ‘तस्मात्तादुपलभ्यते—न्यायसं० पृ० १४७ । उद्धृतोऽयम्—
न्यायसं० पृ० १४७ । प्रमेयक० पृ० ३४६ । प्रश्न० कन्ध० पृ० २२१ । तुलना—“सामान्यवद्धि सादृश्यं
प्रत्येकं च समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तादुपलभ्यते ॥”—तत्त्वसं० पृ० ४४५ ।

१ गवय एवायम् ब० । २ प्रतीतस्य तद्वि—अ० ।

रूपप्रतिपत्तिः । प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूतं गोपिण्डसंस्थानविशेषम् अवहि-
तचेतसा परिभाव्य तयोः सादृश्यव्यवहारं प्रवर्तयति सङ्कलयति चैवम्—‘मया पूर्वमेव
गौः अनेन प्राणिना तुल्यसंस्थानः प्रतिपन्नाः, ततस्तां तुल्यसंस्थानतां स्मृत्वा सादृश्यं
व्यवहरामि’ इति । ततो र्यः सङ्कलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा ‘स एवा-
यम्’ इति प्रत्ययः, सङ्कलनात्मकश्च ‘अनेन सदृशो गौः’ इति प्रत्यय इति । सङ्कलनं
हि पूर्वोत्तरसमयसमधिगतयोः वस्तुरूपयोः एकैर्धर्मयोगितया सदृशादिधर्मयोगितया
वा प्रत्यवमर्शनम् । तदात्मकत्वञ्च अत्रास्ति, गोगवययोः सदृशधर्मान्वितत्वेन प्रत्यव-
मर्शसम्भवात् ।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वप्रसङ्गः तत्सामग्रीत एवास्य आवि-
र्भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तेः । न च विलक्षणसामग्री-
प्रभवं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं युक्तमितिप्रसङ्गात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; अत्रापि तत्सामग्र्या
विद्यमानत्वात् । तथाहि—स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षम् एवैविधं ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्षं
वा ? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि एतत् स्यात् । अथ स्मरणापेक्षं
जनकत्वम्; तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्षं वा तैत्तज्जनयेत् ?
यदि स्मरणमात्रापेक्षम्; तदा अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत् । अथ गोपिण्डस्मरण-
पेक्षम्; तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षं वा ?
प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि तस्य तज्जनकत्वप्रसङ्गः, सादृश्याप्रतिपत्तेः उभयत्राप्य-
विशेषात् । गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणोपेक्षित्वे तु सिद्धः पूर्वमेव सादृश्यानु-
नुभवः, तदसिद्धौ संस्कारविशेषाभावात्; तैत्स्मरणस्यैवानुपपत्तेः । पूर्वं तदनुभवे च

(१) अनेन सदृशो गोरिति प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानात्मकः सङ्कलनात्मकत्वात् । (२) स एवाय-
मिति प्रत्यभिज्ञाने—आ० टि० । (३) तुलना—‘तत्र किं स्मरणापेक्षमिन्द्रियमेवं ज्ञानं जनयति अनपेक्षं
वेति ? अनपेक्षस्य ज्ञानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणेऽप्येतत् स्यात् । अथ पिण्डमात्रस्मरणे;
अस्वादिपिण्डस्मरणे स्यात् । अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणापेक्षं जनकम्; तत्रापि यदि स्मरणमात्रम-
पेक्षेत, गजादिस्मरणेऽपि स्यात् । अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्; तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणमपेक्षेत,
गवयसादृश्यावच्छिन्नं गोपिण्डस्मरणं वेति ? गोपिण्डमात्रस्मरणे अस्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात् ।
गवयादिसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे पूर्वमेवानुभवो वाच्यः, तदन्तरेण संस्कारानुत्पत्तेः स्मरण-
स्यैवाभावात् । अतः सविकल्पज्ञानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्डे पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्यः ।
येन हि संस्कारोत्पत्तौ स्मरणान्मदीयया गवा सदृशोऽयं गवय इति ज्ञानं स्यात् । पूर्वं च गवयसादृश्या-
वच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयोपलम्भात् ‘मदीया गोरनेन सदृशी’ इति कथमेतत् स्मरणं न स्यात् ?
तथा पुष्टौ श्रवीति एतत्सदृशी मयोपलब्धा न तु प्रमाणान्तरं निदिशति ।’—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५८८ ।
(४) अनेन सदृशो गोरिति—आ० टि० । (५) गवयप्रत्यक्षम् । (६) गवयप्रत्यक्षस्य । (७) यथा
हि महिष्यादिस्मरणे न गोसादृश्यं प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्तिः ।
(८) सादृश्यस्मरणस्यैव ।

१ संकल्पयति व० । † एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । २ एकधर्मयोगितया वा प्र- व० ।
३-विधज्ञान-व०, -विधविज्ञान-प्र० । ४-णापेक्षत्वे व० ।

गोपिण्डसंस्थानविशेषविषयं निपुणनिरूपणमनर्थकमेव स्यात् । पिण्डमात्रस्मरणेऽपि सन्निकृष्टसादृश्यदर्शनबलेन विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतेरुत्पादप्रसङ्गात् । न च पिण्डमात्रामनु- स्मरतः संस्थानविशेषमनिरूपयतः सादृश्यप्रतीतिरुत्पद्यते । अतो मन्यामहे-गवयसादृ- श्यावच्छिन्नगोपिण्डानुभवभावितेयं स्मृतिरिति । तथाविधस्मृतिसहायश्रृं गवयप्रत्यक्षम् 'अनेन सदृशो गौः' इति ज्ञानमुत्पादयतीति सिद्धमस्य स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वम् । अतः 5 नोपमानं प्रत्यभिज्ञानाद् भिद्यते, अभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, यदभिन्नसामग्रीप्रभवं तद- भिन्नम् यथा अविनाभावलक्षणलक्षितहेतुतः समुपजायमानं कार्यस्वभावाद्यनुमानम्, स्मृतिप्रत्यक्षलक्षणऽभिन्नसामग्रीप्रभवश्च प्रत्यभिज्ञानोपमानलक्षणं ज्ञानद्वयमिति ।

यदप्युक्तम्-विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतो सन्निकृष्टं सादृश्यं करणम्' इत्यादि; तत्र किमिदं सन्निकृष्टसादृश्यस्य करणत्वम्-तदनुमापकत्वम्, तस्मात्करणत्वम्, तदुपमापकत्वं 10 वा ? प्रथमपक्षे पूर्वापरविरोधः-पूर्वं तस्य तदनुमापकत्वप्रतिषेधात् इह चाभ्युपग- मात् । द्वितीयपक्षे तु सन्निकृष्टसादृश्यस्य विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिहेतुत्वात् उपमानहेतुत्वा- नुपपत्तिः, स्मृतेः उपमानत्वाऽसंभवात् । तैस्मृतिसहायं तु तैत् तदेर्तुः स्यात् न केवलम्, तथा च 'दृश्यमानाद् यदन्यत्र' इत्यादि दुर्घटम् । एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्या- ख्यातः; केवलस्य तत्सादृश्यस्य तदुपमापकत्वासंभवात् । न च सादृश्यस्य ज्ञानजनकत्वं 15 संभवति; अर्थे ज्ञानजनकत्वस्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अतः सदृशवस्तुविषयाभ्यां दर्शनस्मरणाभ्यां गो-गवययोः सादृश्यपरामर्शि प्रत्यभिज्ञानाऽपरपर्यायमुपमानं जन्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तस्मात् उपमानस्य प्रत्यभिज्ञास्वभावत्वाच्च प्रमाणान्तरत्वं युक्तम् । अनुमानैस्वभावत्वाद्धा । कथमस्यानुमानत्वमिति चेत् ? उच्यते स्मर्यमाणो गोपिण्डो 20 विवक्षितगवयावच्छिन्नसारूप्यमान्, तेन अवच्छिद्यमानत्वात्, यद् यदेवम् तत्तत्तथा

(१) प्रतीतिः । (२) पृ० ४९० पं० १ । (३) गवयगतसादृश्यस्य । (४) विप्रकृष्ट- स्मृति-आ० टि० । (५) सन्निकृष्टसादृश्यम्-आ० टि० । (६) उपमान-आ० टि० । (७) विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिनिरासस्य । (८) न प्रमाणान्तरत्वं युक्तमिति सम्बन्धः । तुलना-"तेषां तद्गो- चरत्वेऽपि भवत्येवानुमैव हि । त्रिरूपलिङ्गजन्यत्वमस्य चैवं प्रतीयते ॥ यो गवा सदृशोऽस्ति हि गवयश्च- तिगोचरः । संकेतग्रहणकाले बुद्धिस्थो गवयो यथा ॥ गोसदृशत्वं हेतुः, गवयश्चतिगोचरत्वं साध्यधर्मः, संकेतग्रहणकाले विकल्पबुद्धिप्रतिभासी बुद्धिस्थो गवयो दृष्टान्तः दृश्यमानो गवयो धर्मी ॥"-तत्त्वसं० पं० ४५३-५४ । "तथाप्यनुमानजन्यत्वान्न प्रमाणान्तरमाविशति । स्मर्यमाणो गौः धर्मी एतत्सदृश इति साध्यो धर्मः एतदवयवसामान्ययोगित्वात् सन्निकृष्टद्वितीयगवयपिण्डवत् । तदसन्निधाने सामान्येन व्याप्तिर्दक्षिणेत्या । यत्र यदवयवसामान्ययोगित्वं तत्र तत्सादृश्यं यथा यमयोरिति ।"-न्यायसं० पृ० १४८ । "यदा च प्रत्यक्षेण प्रतियोगिण गवाश्वादौ भूयोऽवयवसामान्ययोगं तद्वियोगं वा ध्यामूढः सदृशासदृशत्वव्यवहारं न प्रवर्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् त्रैक्यसदभावानु- मानप्रमाणता समस्येव । तथाहि-गवाश्वादौ विषाणाद्यवयवसामान्ययोगः तद्वियोगो वा प्रागुपलब्ध 30 इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतोः..."-सम्मति० टी० पृ० ५८३ ।

यथा सन्निहितो गवयपिण्डः, तथा चायम्, तस्मात्तथेति । यदि वा, अविलक्षणविषाणा-
वयवयोगित्वादिति हेतुः, साध्य-दृष्टान्तौ तौ एव ।

ननु माभूत् सीमासकाभ्युपगतमुपमानं प्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणान्तरम्, नैयायिकै-

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान-
फलस्य उपमानस्य
पृथक् प्रामाण्यं वर्ण-
यतो नैयायिकस्य
पूर्वपक्षः-

रभ्युपगतं तु भविष्यति । ते हि “प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुप-

मानम्” [न्यायसू० १।१।६] इत्युपमानलक्षणं वर्णयन्ति । तत्र

प्रसिद्धञ्च तत्साधर्म्यञ्च, प्रसिद्धेन वा गवा साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्धं

वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयः तस्मात्, तमाश्रित्य

साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनं बोधनम् उपमानम् । श्रुताति-

देशवाक्यस्य हि प्रमातुः अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं यद् इन्द्रियजं

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलं तदुपमानं प्रतिपत्तव्यम् । तद्वि इन्द्रियजनितमपि धूम-

ज्ञानमिव तद्गोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नाग-

रकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविकवचः “यादृशो गौस्तादृशो

(१) “प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति । यथा गौरेवं गवय इति । किं

पुनरत्र उपमानेन क्रियते ? यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते इति

समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थं इत्याह । यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम्

इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । यथा मुद्गस्तथा

मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रपिपद्यमानस्ता-

मोषधीं नैषज्यायाहरति ।”-न्यायभा० १।१।६ । (२) “प्रसिद्धसाधर्म्यादिति-प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य,

प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रति-

पत्तिरूपमानार्थः । किमुक्तमभवति ? आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम् । यदा ह्यनेन

श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्यं पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं

गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः ।”-न्यायभा० पृ० ५७ । “प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरुभयी

श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽ-

यमीदृशः पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुः ।

“तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिसहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम् ।”-न्यायभा०

ता० पृ० १९८ । (३) “अद्यतनास्तु व्याचक्षते-श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्ध-

पिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम् । तद्विन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव

तदगोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोस-

दृशं प्राणिमवगच्छति, ततो वनेचरपुरुषकथितं यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा

च प्रतिपद्यते अयं गवयशब्दवाच्य इति । तदेतत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं तज्जन्यमित्युपमानफलमित्युच्यते ।”

-न्यायभा० पृ० १४२ । न्यायकलि० पृ० ३ । “सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह । प्रत्यक्षादेर-

साध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥”-न्यायकुसु० ३।१० ।-“ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवायादिकम् । सादृ-

श्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम् ॥ वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिव्यापार उच्यते । गवयादिपदानां

तु शक्तिधीरुपमाफलम् ॥” मुक्ता० का० ७९-८० । तर्कसं० उपमानपरि० । (४) सारूप्यज्ञानम् ।

(५) इन्द्रियागोचर ।

गवयः' इति स्मृत्वा प्रतिपद्यते 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति । तदेतत् संज्ञासंज्ञि-
सम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वात् उपमानफलम् । नहि प्रत्यक्षस्य तत्फलम्; वनस्थ-
गवयाकारमात्रपरिच्छेदफलत्वात्तस्य । नाप्यनुमानस्य; पक्षधर्म-अन्वय-व्यतिरेकादि-
सामग्रीमन्तरेणापि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेरुत्पादप्रतीतिः । नाप्यागमस्य तत्फलम्;
न खलु नागरकः प्रतिपत्ता आरण्यकवाक्यादेव अरण्यस्थप्राणिनं गवयशब्दवाच्यतया
प्रतिपद्यते, किन्तु सारूप्यं प्रसिद्धेन गवा तस्य पश्यन् । नहि गवयादर्शने 'अयं स
गवयशब्दवाच्यः' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । तद्दर्शने तु तदेव
'श्रुतातिदेशावैक्यस्य हि' इत्याद्युक्तप्रकारेण तत्प्रतीतिफलमुपमानमुच्यते इति ।

बृद्धनैयायिकास्तु प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमानं
वर्णयन्ति । गवयार्थी हि नागरकः अनवगतगवयस्वरूपः तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति
'कीदृशो गवयः' इति ? स तं प्रत्याह—'यादृशो गौः तादृशो गवयः' इति । तदेतद्वा-
क्यम् अप्रसिद्धस्य गवयस्य प्रसिद्धेन गवा सारूप्यमभिदधत् तद्द्वारकम् अप्रसिद्धस्य पशोः
गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयति इत्युपमानमुच्यते इति ॥ छ ॥

अत्रोच्यते । यत्तावदभिनवनैयायिकैरभिहितम्—'श्रुतातिदेशावाक्यस्य' इत्यादि;

तत्र किं साक्षात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता उच्येत, 15
उपमानस्य सादृश्य-
प्रत्यभिज्ञान एवाज्ज-
र्भावसमर्थनम्—
परम्परया वा ? प्रथमपक्षे न मीमांसकोपवर्णिता उपमानादस्य कश्चि-
द्विशेषः, अतस्तत्पक्षोक्तदूषणगणप्रसङ्गोऽत्राप्यनिवारितप्रसरः प्रति-
पत्तव्यः । न खलु भवत्कल्पितम् अप्रसिद्धपिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्य-
ज्ञानमिन्द्रियप्रभवं साक्षात् तत्प्रतिपत्तेरङ्गं भवितुमर्हति । तद्धि केवलं तदङ्गं भवेत्,
संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्मृतिसहायं वा ? यदि केवलम्; तदा अश्रुतातिदेशावाक्यस्यापि दृष्टगोः 20

(१) "प्रत्यक्षं तावदेवैतद्विषये न कृतश्रमम् । वनस्थगवयाकारपरिच्छेदफलं हि तत् ॥ अनुमानं
पुनर्नात्र सङ्कल्पमप्यधिरोहति । क्व लिङ्गलिङ्गसम्बन्धः क्व संज्ञासंज्ञितामतिः ॥ आगमादपि तत्तत्सिद्धिं
वनेवरभाषितात् । तत्कालं संज्ञिनो नास्ति गवयस्य हि दर्शनम् ॥"—न्यायसं० पृ० १४२ । "सिधं न
तावद्वाक्यमात्रफलम्; अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षफलम्; अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् ।
नापि समाहारफलम्; वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वात् । वाक्यतदर्थयोः स्मृतिद्वारोपनीतावपि गवयपिण्ड-
सम्बन्धेनापीन्द्रियेण तद्वगतसादृश्यानुपलम्भे समयपरिच्छेदासिद्धेः..."—न्यायसं० पृ० ३१० । (२)
गवयस्य । (३) "अत्र बृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते—संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिफलं प्रसि-
द्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम् । गवयार्थी हि नागरकोऽनवगतगवयस्वरूपः तदभि-
ज्ञमारण्यकं पृच्छति कीदृशगवय इति, स तमाह यादृशो गोस्तादृशो गवय इति । तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य
प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्द्वारकमप्रसिद्धस्य गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते ॥"—
न्यायसं० पृ० १४१ । (४) पृ० ४९६ पं० ८ । (५) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः ।

१—सेरुत्पत्तेः ब० । २—स्थं प्राणिनं ब० । ३—वाक्यो हि आ०, ब० । ४ असिद्धस्य, आ० ।
५ अत्र प्रतिबिधीयते ब०, अ० । ६ असिद्ध-ब० । ७ संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-आ० ।

नागरकस्य अटव्यां गवयं पश्यतः प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं तत्सम्बन्धप्रतिपत्तिं विद-
ध्यात् । अथ तद्वाक्यश्रवणसहायस्यैवास्यै तत्प्रतिपत्तिजनने सामर्थ्यं न केवलस्य, तेना-
यमदोषः; तर्हि श्रुतविस्मृतातिदेशवाक्यस्यापि प्रतिपत्तुः तत् तदप्रतिपत्तिं विदध्यात् ।
अथ तैस्प्रतिसिद्ध्यै सत् तत् तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्; तर्हि प्रत्यभिज्ञानप्रसादादेव साक्षात्
5 तत्प्रतिपत्तिरङ्गीकृता स्यात्, तस्यैव गोगवययोः सादृश्यपरामर्शद्वारेण संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-
प्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः । तत्स्मृतिसहायेन हि गवयप्रत्यक्षेण उपलब्धोपलभ्यमानयोः
गोगवययोः सारूप्यपरामर्शप्रत्यभिज्ञाख्यं ज्ञानं जन्मते अन्यैतत्स्मृताप्रामर्शयोगात् ।
नहि गवयप्रत्यक्षं गोस्मरणमुभयं वा तत्परामर्शं समर्थमित्युक्तं मीमांसकोपकल्पितोपमान-
विचारावसरे । तेन च तत्परामर्शं कुर्वता संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्विधीयते इति ।

19 एतेन 'परम्परया तत्प्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता' इत्यपि प्रत्युक्तम्; साक्षात् तत्सम्ब-
न्धप्रतिपत्त्यङ्गप्रत्यभिज्ञानजनकत्वेन प्रसिद्धसारूप्यज्ञानादेरपि उपचारेण उपमानताभ्यु-
पगमे सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् । चक्षुरादिना अतिप्रसङ्गाच्च; तस्यापि परम्परया तज्जनकत्व-
संभवात् । ततः 'तद्वि इन्द्रियजं नितमपि' इत्यादि प्रत्याख्यातम्; प्रत्यभिज्ञानस्यैव इन्द्रि-
यागोचरसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः ।

15 यदप्युक्तम्—'नाप्यागमस्य तत्फलम्' इत्यादि; तत्र सिद्धसाधनमेव, तत्सम्बन्ध-
ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानफलत्वात् । किञ्च, शब्दादनुत्पद्यमानत्वाद्व्यास्य आगमाऽफलत्वम्,
तत्प्रतीतितावुपायस्य अपरस्योपदेशात्, वाच्यसंविच्यपेक्षणाद्वा ? तत्राद्यपत्तेः किं सामान्य-
तोऽतिदेशवाक्यात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानानुत्पत्तिः, विशेषतो वा ? यदि सामान्यतः;
तदा 'अयमसौ गवयः यस्य मया पूर्वं संज्ञा श्रुता' इत्येवमाकारा प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा स्यात्,

(१) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानस्य । (२) अतिदेशवाक्य । (३) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानम् ।
(४) गवयप्रत्यक्षात्—आ० टि० । (५) पृ० ४९४ पं० १२ । (६) प्रत्यभिज्ञानेन । (७) साक्षात्सम्ब-
न्धबोधकारणं यत् प्रत्यभिज्ञानं तस्य जनकत्वेन, कारणे कार्योपचारादिस्थयः । (८) पृ० ४९६ पं० १० ।
(९) पृ० ४९७ पं० ४ । (१०) तुलना—'यादृशो गोस्तादृशो गवय इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य वने गवय-
मुपलभ्यमानस्यायं गवय इति प्रतीतिरुपमानफलमुच्यते । तत्र तावद् गोस्तादृश्यं ज्ञानं तदपि
पुरुषवाक्यमात्रप्रभवा नोपमानं भवति । यदपि वनगतस्य गवये तद्गते च गोस्तादृश्यं ज्ञानं तदपि
प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षम् । या त्वेतस्य गवयशब्दवाच्यतावगतिः सापि गवयशब्दप्रयोगादानुमानिकी । यस्य
शब्दस्य यव प्रयोगः तस्य तद्वाच्यतया सम्बन्धनियमोऽवगतः । वने च सञ्ज्ञानमुपलभ्यतैस्त्यैव मया
सञ्ज्ञाऽवगते तत्तज्ज्ञानं स्मरणमेवेति नोपमानस्यावकाशः ।"—प्रक० पं० पृ० ११२ । प्रश्न० क० पृ० २२१-
२२ । 'तथा गोस्तादृशो गवय इति सङ्केतकाले गोस्तादृश-गवयाभिधानयोः वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य
पुनर्गवयदर्शनात्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञेति किन्नेष्यते ?"—प्रमेयक० पृ० ३४७ । स्या० र० पृ० ४९८ ।
(११) "न निराकाङ्क्षतादृष्टिस्तदानीमुपजायते । तदुत्पादनपर्यन्तः शब्दव्यापार इष्यते ॥ न चासी
निर्वहृत्पत्र वाच्यसंविच्यपेक्षणात् । शब्देन तदनिराकाङ्क्षता स्वकार्यं कृतं भवेत् ॥"—न्यायमं० पृ० १४४ ।

1 तद्वाक्यात् श्रव-ब० । 2-पत्तुस्तत्प्रति-श्र० । 3-यं सत्तत्प्रति-ब० । 4-जनकमपि ब० ।
5-तिरितिदुर्घ-ब० ।

अतिदेशवाक्योच्चारणवैयर्थ्यञ्च । यत् यत्प्रतिपत्त्यर्थिनः तद्विषयां प्रतिपत्तिं मनागपि नोत्पादयति न तत्तं प्रति प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते यथा जैलप्रतिपत्त्यर्थिनोऽनलवाक्यम्, नोत्पादयति च गवयप्रतिपत्त्यर्थिनः तत्प्रतिपत्तिं मनागपि अतिदेशवाक्यमिति । अथ विशेषतः; तदा आगमप्रमाणाद्य दत्तो जलाञ्जलिः, तस्य प्रत्यक्षवत् देशकालाकार-विशेषतः कचिदपि विषये विज्ञानजनकत्वासंभवात्, सामान्यत एवागमात् सर्वत्र संवित्तिसंभवात् ।

अथ तैत्तरीत्युपायस्य अपरस्योपदेशान्नास्य आगमफलत्वम्, यत्र हि शब्दप्रत्य-यादेव अर्थतथात्वम् उपायान्तरनिरपेक्षमवधार्यते स आगमः, यत्र तु पुरुषः अर्थ-प्रतीतौ उपायान्तरमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायात् प्रसिद्धसाधर्म्यादिलक्षणात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धाद्यवधारणम्, उपायमात्रावगम एव तु शब्दव्यापार इति; तदसाम्प्रतम्; 10 शब्दव्यापारप्रभवस्याप्यस्य एतैवता विशेषेण यद्यागमात् प्रमाणान्तरत्वमिष्यते, तदा प्रमाणानामानन्त्यप्रसङ्गात् नैयायिकस्य 'चैत्वारि प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः स्यात् । तैथाहि—'यः सिंहासनाधिरूढः स राजा, पयोऽम्बुभेदी हंसः, षट्पादैः मधुपः,

(१) गवयप्रतिपत्त्यर्थिनोऽतिदेशवाक्योच्चारणं व्यर्थम् तत्प्रतिपत्त्यजनकत्वात् । (२) "ननु शब्दस्वभावत्वादास्याप्तोपदेशः शब्दः इत्यनेन गतार्थत्वाच्चेदं प्रमाणान्तरं भवेत् उच्यते—यत्र शब्दप्रत्ययादेव उत्पन्नेतुपुरुषप्रत्ययादेव वा अर्थतथात्वमुपायान्तरानपेक्षमवगम्यते स आगम एव ततस्तदर्थप्रतीतेः । यत्र तु पुरुषः प्रतीत्युपायमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायात् तदर्थविधारणम् । उपायमात्रावगमे तु शब्दव्यापारः, यथा परार्थानुमाने अपि न मान्यं पर्वतो धूमवत्त्वान्मानसवदिति । अत्र हि न पुरुषोपदेशविशवासादेव शैलस्य कृशानुमात्तां प्रतिपत्ता निमित्तान्तरनिरपेक्षः प्रतिपद्यते अपि तु तदवबोधकधूमाख्यलिङ्गसाधर्म्यादेव । तदिह यद्याटविको नागरकाय गवयार्थिने तदवगमोपायं प्रसिद्धसाधर्म्यं नाभ्यधास्यत्तर्हि तदुपदेश आगम एव अन्तरमविष्यत् । तदुपदेशात्तु तत् एव तदर्थविगम इति सत्यपि शब्दस्वभावत्वे प्रमाणान्तरमेवेदम् ।"—न्यायसं० पृ० १४२ । (३) उपायान्तरनिर्देशमात्रादेव । (४) "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।"—न्यायसू० १।१।३ । (५) तुलना—"अनन्तोपायजन्त्याश्च समाख्यायोगसंविदः । साधर्म्यमनपेक्ष्यापि जायन्ते नरपादिषु ॥ सितातपत्रपिहितबूधनपादो नराधिपः । तेषां मध्य इति प्रोक्त उपदेशविशेषतः ॥ कालान्तरेण तद्दृष्टो तन्नामास्येति या मतिः । सा तदाज्या प्रमा प्राप्ता साधर्म्याद्यनपेक्षणात् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ४५५ । "ननु चाप्तोपदेशात् प्रतिपाद्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणान्तरमिति चेत्; तर्हि आप्तोपदिष्टोपमानवाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरम् । सिंहासनस्थो राजा, मञ्चके महादेवी, सुवर्णपीठे सचिवः, एतस्मात्पूर्वं एतस्मादुत्तरत एतस्माद्दक्षिणत एतन्नामाणवयं (घामकमिदं) ग्रामवानक (ग्रामघानक) मित्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात् सोऽयं राजेत्यादि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः, षडाननो गृहश्चतुर्मुखो ब्रह्मा तुङ्गनासो भागवतः क्षीराम्भोविषेचनतुण्डो हंसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य तथाप्रतिपत्तिर्वा यद्यागमज्ञानं तदा तद्वदेवोपमानमवसेयं विशेषाभावात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ । "पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भूमरः स्मृतः । सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विशेषो विषमच्छदः ॥ पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी । युवतिश्चैकशृङ्गोपि गण्डकः परिकीर्तितः ॥ शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चाष्टटान्वितः । इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव मराला-

सप्तपणौर्विषमच्छदः' इत्येवमादिवाक्यैर्जनितसंस्कारस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टं राजादिकं पश्यतः 'अयमसौ राजा' इत्येवमौदित्यो संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुत्पद्यते सा भवन्मते प्रमाणचतुष्टयानन्तर्भूतत्वात् प्रमाणान्तरं स्यात् । न ह्यसौ उपमानम्; प्रसिद्धसाधर्म्यान्-पेक्षणात् । नाप्यागमः; तत्प्रतीतो^१ सिंहासनाधिरूढत्वादिरूपायान्तरस्योपदेशात् । तथा-
 5 प्यस्य आगमेऽन्तर्भावोपमानस्यापि तत्रान्तर्भावोऽस्तु अविशेषात् ।

एतेन 'वाच्यसंविचयपेक्षणात्' इत्यपि प्रतिव्यूढम्; उक्तप्रतीतेस्तदपेक्षणेऽपि आगमे अन्तर्भावोऽभ्युपगमात् । ननु उपयान्तरादर्थप्रतीतावपि उपमानस्य आगमेऽन्तर्भावोऽभ्युपगमे 'अग्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् महानसवत्' इत्यादेः परार्थानुमानस्य कुतस्तत्रान्तर्भावो न स्यादिति चेत् ? 'अनुमानकारणकार्यत्वात्' इति ब्रूमः । तथाहि—प्रति-
 10 पादकस्वार्थानुमानकार्यत्वात् प्रतिपाद्यस्वार्थानुमानकारणत्वाच्च वचनरूपस्यापि परार्थानुमानस्य अनुमानता न विरुध्यते । नचैतद् भवत्कल्पितोपमाने संभवति । न खलु उपदिष्टप्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणोपायादर्थप्रतीतिं विहाय अन्यदुपमानं किञ्चिद् भवतः प्रसिद्धमस्ति यत्कारणकार्यतया अस्यैव उपदेशप्रभवस्याभ्युपमानता स्यादिति^२ ।

एतेन दृष्टनैयायिकैर्यदुक्तमुपमानलक्षणम्—'प्रसिद्धेतरोयोः सारूप्यप्रतिपादकम-
 15 तिदेशवाक्यमेव उपमानम्' इति; तदपि प्रत्याख्यातम्; अतिदेशवाक्यात्मनोऽस्य आगम-स्वभावतया उपमानत्वायोगात् । किञ्चिद्विशेषमादाय अस्य अनागमस्वभावत्वाभ्युपगमे प्राक्प्रतिपादिताशेषदोषानुषङ्गः स्यात् । ततो गोगवययोः सारूप्यपरामर्शोत्पन्नं ज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञास्य मुख्यतः उपमानं युक्तं नान्यदिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्, अत्र उक्तदोषाणां लेशतोऽप्यवकाशासंभवात् ॥ छ ॥

20 कारिकायामुक्तमपि दूषणं 'प्रसिद्ध' इत्यादिना दर्शयन्नाह—प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम-
 निवृत्तिव्याख्यानम्— अन्यथातुपपन्नत्वेन साध्याभावप्रकारेण निर्णीतं चेत् यदि तर्हि

दीनवलोभ्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्संज्ञकलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तं दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात् । परेषां तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपपद्यत उपमानादौ तस्यान्तर्भावभावात् ।"—प्रमेयर० पृ० ८४ । स्या० १० पृ० ४९८ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । जैनतर्कभा० पृ० १० ।

(१) नैयायिकमते । (२) तुलना—'वाक्यादेव सङ्केतस्य प्रतीतत्वात् । तथाहि—सादृश्यवाक्य-स्यायमर्थो गो सद्युशः स गवय इत्येवं व्यवहर्तव्यः । स च वाक्यादुपलब्धसङ्केतः सादृश्यावाच्छि-पिण्डमुपलभमानः परं व्यवहरति अयं गवय इति ।"—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५८९ । "उपमानं तावत् यथा गोस्तथा गवय इति वाक्यम्, तज्जनितं घोरगम एव ।"—सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ३९ । वैशे० उप० पृ० ३३७ । (३) अतिदेशवाक्यावगतप्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानात् । (४) आगमे—आ० टि० । (५) "तद्वचनमपि तद्वैतत्वात्"—परीक्षा० ३।५६ । (६) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य—आ० टि० । (७) अतोऽप्यागमेऽन्तर्भावो युक्त इति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) पृ० ४९७ पं० ९ ।

1—विशेषविशि-अ० । 2—मादिकायाः सं-ब०,—मादित्यासं-अ० । 3—सौ तु उप-अ० ।

4—तौ हि सिंहा-अ० । 5—तः प्रमाणं युक्तं ब० । 6—वादिति ब० ।

लिङ्गमेव तल्लक्षणत्वात् लिङ्गस्य । अथ तथात्वेन तदनिर्णीतं तत्र दूषणमाह—‘ततः’
इत्यादि । ततः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् प्रतिपत्तिः साध्यसंवित्तिः अन्यथा अन्यथा-
नुपपन्नत्वनिर्णयाभावप्रकारेण न युज्यते । ‘प्रत्यक्ष’ इत्यादिना प्रथमं कारिकाद्वं
व्याचष्टे—प्रत्यक्षे दर्शनेन विषयीकृते अर्थे गवयलक्षणे ‘गवयः’ इति संज्ञा तस्या
गवयलक्षणोऽर्थः संज्ञी तयोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तेः 5
‘गवयोऽयम्’ इति संवित्तेः प्रमाणान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह—‘वृक्ष’ इत्यादि ।
अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः इति यत्ज्ञानं तत् ‘प्रमाणान्तरं स्यात्’ इत्यध्याहारः ।
कस्य तज्ज्ञानम् ? इत्याह—वृक्षदर्शिनः । अत्र निदर्शनमाह—‘गवय’ इत्यादि ।
‘अयं गवयः’ इति ज्ञानं यथा गवयदर्शिनः उपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तथा प्रकृतमपि
तदन्तरं स्यात् । उपमानं कस्मात् तन्न भवतीति चेत् ? अत्राह—‘प्रसिद्ध’ इत्यादि । 10
प्रसिद्धार्थसाधर्म्याद् या साध्यसिद्धिः तस्या अभावात् तत्प्रमाणान्तरम् । कथं तज्ज्ञा-
नमुत्पद्यत इति चेत् ? उच्यते वृक्षानभिज्ञो यदा कश्चित् कञ्चित् पृच्छति ‘कीदृशो वृक्षः’ इति ?
स तं प्रत्याह—‘शाखादिमान् वृक्षः’ इति । तद्वाक्याच्चाहितसंस्कारः प्रष्टा पुनः
शाखादिमन्तं पदार्थं पश्यन् ‘अयं वृक्षः’ इति प्रतिपद्यते । अनेन च तद्वैधर्म्यात्
तत्प्रतिपत्तिवैलक्षण्यात् इत्ययमर्थो व्यौख्यातः । 15

तथाऽपरमपि प्रमाणान्तरं परस्य आपादयितुं ‘गौरिव’ इत्याद्याह । अस्यायमर्थः—
यदा कश्चिदाटविकः नगरस्थेन ‘कीदृशो गवयः’ इति पृष्ठः इदमाह—‘गौरिव गवयः’
इति । तदा तस्य नागरकस्य ‘गौरिव गवयः’ इत्येवं वाक्यं श्रुत्वा पर्यटतो गवयद-
र्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् । तच्छब्देन दृष्टो गवयः परामृश्यते, तस्य ‘गवयः’ इति
नाम तस्य प्रतिपत्तिः सर्वं तद्वदिति । प्रत्यक्षेषु दर्शनविषयीकृतेषु इतरेषु प्रसिद्धार्थ- 20
विसदृशेषु तिर्यञ्च महिष्यादिषु तस्यैव ‘गौरिव गवयः’ इति वाक्यं श्रुतवतः पुनः
पश्चाद् ‘अगवयोऽयम्’ इति निश्चयः किन्नाम किमभिधानं प्रमाणं स्यात् ? सामान्येन

(१) तुलना—‘घोऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः’ इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव ।
यो हि शब्दो यत्र वृद्धः प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैवं
गवयशब्दो गोसदृशे इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव ।”-सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४० । न्यायली०
पृ० ५६ । वैशेष० उप० पृ० ३३७ । (२) अन्यथानुपपत्तिलक्षणत्वात् । (३) तुलना—“वृक्षोऽयमित्यादि”-
परीक्षामु० ३।१० । प्रमेयक० पृ० ३४७ । (४) प्रमाणान्तरम्—आ० टि० । (५) त पुनरुपमानरूपम्—
आ० टि० । (६) महिष्यादिषु वैधर्म्यात् प्रमाणान्तरत्वापत्तिः—आ० टि० । (७) ग्रहणवाक्यम्—आ०
टि० । (८) यथा तन्नामप्रतिपत्तिर्भवतः प्रमाणान्तरं तथा गवये दृष्टेऽर्थप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरं
प्राप्नोति इति भावः—आ० टि० ।

- 1 अथातथा—आ० । 2 तत्प्रसिद्धा—ब० । 3 प्रत्यक्षत इत्या—श्र० । 4 वृक्षोऽयमित्या—श्र० ।
5 गवयोऽयमित्या—श्र०, व० । 6 वृक्षाज्ञो आ०, वृक्षायज्ञो व० । 7 तेन च आ० । 8 व्याख्यायते व० ।
9 गवय इति दर्शिनः श्र० ।

निश्चयवचनम् अंशाब्दस्य मीमांसकसम्बन्धिनः शाब्दस्य च नैयायिकसम्बन्धिनो निश्चयस्य सङ्ग्रहार्थम्, तेन मीमांसकं प्रति यद् व्याख्यानं तदपि सङ्गृहीतम्, इतरथा 'अगवयनामनिश्चयः' इति ब्रूयात्। अथ अगवयज्ञानं प्रमाणं न भवतीत्युच्यते; अत्रोत्तरमाह—'हानोपादान' इत्यादि। हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिः फलं यस्य अगव-
 5 यज्ञानस्य तन्न अप्रमाणं भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणमेव तदिति प्रमाणयत्ताव्याघातः।
 तथाऽपरमपि परस्याऽनिष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः।

तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ? ॥ २० ॥

विवृतिः—आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन
 10 प्रमाणमप्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव। यथैव एतस्मात् पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामार्थानकमेतन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः। कथायं निश्चयः संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति ?

प्रत्यक्षश्च तदर्थान्तरश्च तस्य अपेक्षा यस्यां सा तथोक्ता। कासौ ? इत्याह—
 15 सारिकार्थः—
 सम्बन्धप्रतिपत्त्वाच्यवाचकयोः यः सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तिः
 यतः यस्मात् 'जायते' इत्यध्याहारः, तत्प्रमाणम्। तदनभ्युपगमे
 दूषणमाह—'न चेत्' इत्यादि। न चेत् प्रमाणं सर्वं मीमांसकनैयायिककल्पितम्
 उपमानम् कुतः ? न कुतश्चित् प्रमाणमिति सम्बन्धः तथा तेन तदप्रामाण्यप्रकारेण।

(१) मीमांसका हि सादृश्यज्ञानमुपमानं कथयन्ति अतस्तेषामुपमानं न शब्दात्मकम्। (२) नैयायिकास्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानं वर्णयन्ति अतस्तेषामभिप्रायेण तच्छाब्दबोधोपात्मकं भवति। (३) सूत्रकारः—आ० टि०। अकलङ्कदेवः। (४) 'यतो यस्माज्ज्ञानाद् भवति। का ? सम्बन्धप्रतिपत्तौ सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत्तिः ज्ञप्तिः। किं विशिष्टा ? प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा, प्रकृतात् शब्दलक्षणादार्थान्योऽर्थान्तरं प्रत्यक्षं च तदर्थान्तरञ्च प्रत्यक्षार्थान्तरं वृक्षादि तत्तथोक्तम्, तस्यापेक्षा यस्यां सा प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा। तज्ज्ञानं चेद् यदि न प्रमाणं स्यात्तदा तर्हि सर्वं नैयायिकमीमांसकादिकल्पितमुपमानं कुतः प्रमाणं स्यादविशेषात्। न हि सादृश्यसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं न पुनर्वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञानमिति विशेषोऽस्ति। ततः संज्ञासंज्ञिसङ्कलनमपि प्रमाणान्तरमेव भविष्यतीति कुतः प्रमाणसंख्यानियमः ?"—
 लघी० ता० १० ४०। (५) तुलना—'तथा अस्मात्पूर्वमिदं पश्चाद्दीर्घं ह्रस्वमिदं महत्। इत्येवमादिविज्ञाने प्रमाऽनिष्टा प्रसज्यते॥"—तत्त्वसं० पं० १० ४५०। तत्त्वार्थश्लो० १० २४२। (६) उपमानम्—आ० टि०।

1 असादृश्यामीमां-ब०। 2 सादृश्यं च ब०। 3 इतरथा गव-आ०, ब०। 4-हानोपेक्षाः फलं आ०, ब०। 5-धानकं ये तन्ना-ई० वि०। 6 संज्ञामग्न-ज० वि०। 7 यस्याः सा श्र०। 8-स्माज्ज्ञायते श्र०। 9-लिप्तं कुतः ब०, आ०।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘आगम’ इत्यादि । यो यस्य अविस्वादाकः पुरुषः स तस्य
 आप्तः तस्य वचनम् आगमः तेन आहितः संस्कारो यस्य तदर्थदर्शिन
 विवृतव्याख्यानम्—
 आगमार्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः आगमार्थमिधानप्रतिपत्तिः साक-
 ल्येन अनवयवेन या काचित् तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः सा प्रमाणमप्रमाणं वा ?
 ‘स्यात्’ इत्यध्याहारः । यदि प्रमाणम् ; प्रमाणसंख्याव्याघातः । अथ अप्रमाणम् ; 5
 तर्हि उपमानमप्यप्रमाणं स्यादविशेषात्, अतः स एव तत्संख्याव्याघातः । ननु तस्य
 तत्प्रतिपत्तिरुपमानमेव तर्ष प्रमाणमिष्टमेव इत्युक्तदोषानवकाश इत्याशङ्क्याह—‘न पुनः’
 इत्यादि । न पुनः नैव उपमानमेव तत्प्रतिपत्तिरित्यनुवर्तते । किन्तु ततोऽन्यापि विद्यते
 इत्यभिप्रायः । अत्रोदाहरणमाह—‘यथा’ इत्यादि । ‘यथा’ इत्युदाहरणप्रदर्शने, एतस्मा-
 न्नगरादेः पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकं ग्रामविशेषस्येयं संज्ञा एतन्ना- 10
 मकं एतदनिर्दिष्टं नाम यस्य तत्तथोक्तम् इत्येवमाहितसंस्कारस्य पुंसः पुनस्तदर्शिनो
 यत् तत् ‘एतस्मात्’ इत्यनेन ‘ग्रामधानकम्’ इत्यनेन चोक्तम् तत्पश्यतीत्येवंशीलस्य
 तन्नामप्रतिपत्तिः ग्रामधानकनामप्रतिपत्तिः । चशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । ‘एतस्मात्’ इत्यनेन
 अपेक्षं प्रत्यक्षाद्यन्तैरमुक्तम् ‘पूर्वम्’ इत्यादीनां तु तदपेक्षं ग्रामधानकम् । अत एवाऽस्य
 विशेषः । भवतु इयं प्रमाणं को दोषः इति चेत् ? अत्राह—‘कश्च’ इत्यादि । कश्च ? 15
 न कश्चिद् अयम् परेणोच्यमानो निश्चयोऽवश्यभावः । कोऽसौ ? इत्याह—संज्ञासंज्ञि-
 सम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्याद्विप्रतिपत्तिसाधनमिति
 किन्तु तदपि स्यादिति भावः । एतदेव दर्शयन्नाह—

इदमल्पं महद्ग्रामासन्नं प्रांशु नेति वा ।

व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ २१ ॥

20

(१) तुलना—“रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये । येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहृतं
 सदा ॥ आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् । सत्यं वक्ष्यन्ति ते, कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥”
 —चरक० सू० ११।१८—१९। “आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिन्त्यापविषया प्रयुक्त उप-
 देष्टा ।”—व्यायभा० १।१।७। सांख्यका० माठर० का० ५। युक्तिदी० पृ० ४६। “आप्तैर्नोच्छिन्नदोषेण
 सर्वज्ञेतागमेशिना । भवितव्यं—” —रत्नक० श्लो० ५। “यो यत्राविस्वादाकः स तत्राप्तः ततोऽपरो-
 ज्ञाप्तः ।”—अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६। (२) आगमार्थदर्शिनः । (३) तन्नामप्रतिपत्तिः । (४)
 उपमानम् । (५) नगरादि—आ० टि० । (६) प्रसिद्धसाधर्म्याद्यभावात्—आ० टि० । (७) नामप्रति-
 पत्तिः—आ० टि० । (८) द्विवादिंसंख्याया अपि अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् प्रमाणास्तस्त्वप्रसक्तिरिति भावः
 —आ० टि० । (९) “साधनान्तरं प्रमाणान्तरं स्यात् । किम् ? विकल्पो निश्चयः । तस्योल्लेखमाह—
 इदमस्मादल्पम्, इदमस्मान्महत्, इदमस्मादासन्नम्, इदमस्मात्प्रांशु दीर्घञ्च, इदमस्माच्च प्रांशु इति ।
 वाशब्दः परस्परसमुच्चये । कस्मिन् ? समक्षे प्रत्यक्षे पदार्थे । कुतः ? व्यपेक्षातः, विरुद्धस्य प्रतिपक्ष-
 स्यापेक्षा कथञ्चिदजहद्वद्वतिः तत इति । एवम् अल्पमहत्त्वादिसङ्कलनमपि परप्रमाणसंख्यानियमं विषट-

विवृतिः—दृष्टेर्वर्धेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानमधरोत्तरादि-
ज्ञानं द्वित्वादिसंख्याज्ञानमन्यच्च प्रमाणमविसंवाकत्वादुपमानवत् । अर्थापितिः
'अनुमानात् + प्रमाणान्तरं न वा' इति किन्नश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् ।
तत्समञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षश्चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्संख्यानवस्थानात् ।

विकल्पशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इदमल्पमिति विकल्पः, इदं
महदिति विकल्पः, इदं दूरमिति विकल्पः, इदमासन्नमिति
कारिकाः—
विकल्पः, इदं प्रांशु इति विकल्पः, तथा अल्पं नेति विकल्पः

महन्नेति, दूरं नेति, आसन्नं नेति, प्रांशु नेति । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः ।
कुतोऽसौ विकल्पो जायते ? इत्याह—'व्यपेक्षातः' इति । आमलकापेक्षया विरलं
महत् देवदत्तसमीपकृपापेक्षया पर्वतादिकं दूरम्, एवमन्यत्रापि योज्यम् । इदमल्प-
मित्यादिग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अधरोत्तरादिविकल्पस्य द्वित्वादिविकल्पस्य च ग्रहणम् ।
कासौ जायते ? इत्याह—समक्षेऽर्थे । स किम् ? इत्याह—साधनान्तरं प्रमाणान्तरम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'दृष्टेः' इत्यादि । दृष्टेषु प्रत्यक्षेषु अर्थेषु परस्परम् अन्योऽर्थं
व्यपेक्षालक्षणं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तत् ? अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्,
विवृतिव्याख्यानम्—
आदिशब्देन दूरादि गृह्यते । तथा अधरोत्तरादिज्ञानम् अत्रापि
आदिशब्देन मध्यादिज्ञानपरिग्रहः । द्वित्वादिसंख्याज्ञानम्, इहापि आदिशब्देन
त्रित्वादिसंख्याज्ञानपरिग्रहः । अन्यच्च पूर्वापरदिज्ञानम् । तत्किम् ? इत्याह—प्रमाणम् ।

यतीत्यर्थः ।—लघी० ता० पृ० ४० । तुलना—'एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छदः इत्याहित-
संस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदक्षिणामभिज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात् ? तथा स्यादिलक्षणश्रवणात् तथादक्षिणः
समभिज्ञानं संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वपरिनिरीक्षणात् पश्यताञ्च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्त-
रम् ।'—सिद्धि वि०, टो० पृ० १५० B । परीक्षा ५० ३।५-१०। प्रमाणनय० ३।५-६। प्रमाणमी० १।२।४।
उद्धृतोऽयं श्लोकः—'समसार्थे'—स्या० २० पृ० ४९८ । प्रमेयर० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) तुलना—'तेषां द्व्यादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरम्, गणितज्ञसंख्यावाक्याहितसंस्कारस्य
प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्वयादिषु संख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्व्यादीनि तानिनि संज्ञासंज्ञिसमन्वयप्रतिपत्ति-
द्वयोदिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यम् । तथोत्तराधर्षज्ञानं सोपानादिवु स्थविष्ठज्ञानं पर्वोदिवु
महत्त्वज्ञानं स्वर्वादिषु, संस्थानज्ञानं व्यसादिषु, वक्रज्वादिज्ञानञ्च क्वचित्प्रमाणान्तरमायातम् ।'
—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२ । (२) तुलना—'अनुमानोपमानागमाधीपत्तिसंभवाभावाव्यपि प्रमाणातीति
केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियाभिसन्निकर्षनिमि-
त्तत्वात् ।'—तत्त्वार्थाधि० भा० १।१२ । "उपमानार्थापत्यादीनामनैवान्तर्भावात्"—सर्वाधिसि० १।११ ।
'अर्थापत्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेन्तर्भावात् ।'—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१ । (३) तुलना—
'तत्पञ्चक्यादिसन्दृष्टौ एकादपददर्शनात् । द्वितीयशास्त्रिज्ञानादाद्योसाविति निश्चयः ॥ प्रमाणा-
न्तरमासक्तं सादृश्याद्यनपेक्षणात् ।'—तत्त्वसं० पृ० ४५० ।

१ परस्परं व्य-ई० वि० । २ अल्पबहुत्वादि-ई० वि० । † एतन्वदुत्तमः पाठो नास्ति ई०
वि० । ३ जात व० । ४ दृष्टेः इत्यादि व० । ५ इत्यत्राह व०, श्र० ।

कुतः ? अविसंवादकत्वात् । किमिव ? इत्याह—उपमानवदिति । एवं नैयायिकमीमांसकयोः प्रमाणान्तरसम्प्लवं तदभिमतप्रमाणसंख्यानिर्धमनाशकं निरूप्य इदानीं मीमांसका-
मिताऽर्थापत्तिं विचिन्तयन्नाह—‘अर्थापत्तिः’ इत्यादि । याऽसौ—

‘प्रमाणाषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथाभवन् ।

अदृष्टं कल्पयेदन्त्यं सार्थापत्तिरुदाहृतौ ॥’ [मी० इलो० अर्था० इलो० १] ४

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकैः परिकल्पितार्थापत्तिः सा ‘अनुमानात् प्रमाणान्तरं नैवा’ इति किन्नशिचिन्तया ? अयमभिप्रायः—अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य सौंध्याभावे नियमे-
नाऽनुपपद्यमानस्य अविनाभावस्वभावलिङ्गलक्षणलक्षितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपन्नम् ।
तैल्यभवश्च ज्ञानमनुमानमेवेति । अतः—

‘प्रत्यक्षमनुमानश्च शाब्दञ्चोपमया सह ।

10

अर्थापत्तिरभावश्च षट्प्रमाणानि जैमिनेः ॥’ [षड्व०समु०इलो०७२ (?)]

इति कुमारिलस्य वदतः प्रमाणसंख्याव्याघातः, प्रमाकरस्य च अभावं प्रत्यक्षविशेषं वदतः
‘पञ्च प्रमाणानि’ इति ।

ननु चार्थापत्तेः स्वरूपादिभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धेः कथं प्रमाणसंख्याव्या-

अर्थापत्तिः अनुमा-
नादतिरिक्तं प्रमापत्ति-
ति वदतो मीमांसक-
स्य पूर्वपक्षः—

घातः ? तथा च प्रयोगः—अर्थापत्तिः प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्, 15
विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूपं तत्ततः प्रमाणान्तरं यथा
प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । नच
विभिन्नस्वरूपत्वमसिद्धम् ; तथाहि—तस्याः स्वरूपम्—दृष्टः श्रुतो वाऽ-

(१) एकत्र प्रमेये बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः सम्प्लवः । (२) व्याख्या—‘यत्र देशकालादौ प्रत्य-
क्षानुमानोपमानशाब्दार्थापत्यभावलक्षणैः षड्भिः प्रमाणैः परिच्छिन्नोऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते यद्येवम्भूतोऽर्थो
न भवेदित्येवं या परोक्षार्थविषया कल्पना साऽर्थापत्तिः प्रमाणमुदाहृता शबरस्वामिना ।’—तत्त्वसं०
पं० पृ० ४५६ । (३) उद्धृतोऽयम्—‘नान्यथा भवेत्’—मी० इलो० । प्रश्न० व्यो० पृ० ५९० । तत्त्वार्थ-
इलो० पृ० २१६ । सम्मति० टी० पृ० ५७८ । ‘कल्पयत्यन्त्यं’—तत्त्वसं० पृ० ४५६ । सम्मति० टी०
पृ० ५७८ । प्रकृतपाठः—प्रमेयक० पृ० १८७ । स्या० १० पृ० २७६ । रत्नाकराव० २११ । (४)
पीनत्वस्य—आ० टि० । (५) रात्रिभोजनाभावे—आ० टि० । (६) लिङ्गप्रभवञ्च । (७) तुलना—
‘प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ।’—तत्त्व सं० पं०
पृ० ४५० । (८) अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् पञ्चसंख्यापत्तेः—आ० टि० । (९) ‘तत्र पञ्चविधं
मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा । शास्त्रं तथोपमानार्थापत्तीति गुरोर्मतम् ॥’—प्रक० पं० पृ० १२७ । (१०)
प्रमाणसंख्याव्याघात इति सम्बन्धः, तस्य चत्वारि [एव स्युः]—आ० टि० । (११) ‘अर्थापत्तिरपि
दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना, यथा जीवति देवदत्ते गृहभावादर्थेन बहिर्भविष्या-
दृष्टस्य कल्पना ।’—शबरभा० १।१।५ । ‘विना कल्पनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयना दृष्टमर्थं
सार्थापत्तिस्तु कल्पना ॥ दृष्टेनार्थेन दृष्टस्यार्थस्यार्थान्तरकल्पनायामसत्यामनुपपत्तिमापादयता साऽर्थान्ति-

1 इत्यत्राह ब०, श्र० । 2—नियमविना—श्र० । 3—सकपरिकल्पि—ब० । 4 न चेदिति ब०, न
चेति श्र० । 5 प्रत्यक्षादिविशेषं ब०, श्र० ।

- शोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यहद्यर्थकल्पना । तत्र दृष्टः प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुप-
लब्धः, श्रुतः लौकिकाद् वैदिकाद्वा वाक्यादवगतः तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तर-
कल्पना सा अर्थापत्तिः । सा च षट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात् । तत्र प्रत्य-
क्षप्रतिपन्नदेहाख्यकार्यान्यथानुपपत्त्या बह्वेदाहिककल्पना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः ।
5 देशान्तरप्राप्तेर्लङ्घादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिकल्पना अनु-
मानपूर्विका । तथा उपमानज्ञानावगतगवयसैरूप्यविशिष्टगोपिण्डान्यथानुपपत्त्या तस्यै
तैज्ज्ञानप्राह्यशक्तिकल्पना उपमानपूर्विका ।

- ता एता अर्थापत्तयः प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात् । न खलु शक्तयः
प्रत्यक्षपरिच्छेद्याः अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानपरिच्छेद्याः; प्रत्यक्षविषये अनुमान-
10 स्थाऽप्रवृत्तेः तैत्पूर्वकत्वात्तत्सर्व । प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमानं प्रवर्तते । न
च शक्तेरीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे तैः केनचिस्त्रिङ्गेन सह अस्याः प्रतिबन्धप्रतिप-
त्तिर्युक्ता । नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तैः प्रतिपत्तिः; प्रत्यक्षविषये तैः प्रवृत्तेरेवाऽसंभवात् ।
नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः; तद्विद्मेव, अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रवर्तते ? न ताव-
दिदमेव; चक्रकप्रसङ्गात्—सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः; तद्वहणश्च शक्तिप्रति-
रकल्पना साऽर्थापत्तिः ।—प्रक० पं० पृ० ११३ । “प्रतिप्रत्यक्षस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य
तदुपपत्तये याऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्तिः ।”—शास्त्रदी० पृ० २९० । नयवि० पृ० १५२ । तन्त्ररह०
पृ० १३ । प्रभाकरवि० पृ० ५३ ।

(१) “दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोऽववा । प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात्पूर्वविल-
क्षणा ।”—मी० श्लो० अर्था० श्लो० २ । “दृष्टशब्देन यद्यप्युपलब्धमात्रमुच्यते तथापि श्रुतशब्दसन्निधानात्
गोबलीवर्दन्त्यायेन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमुच्यते ।”—बृह० पं० पृ० ११७ । मी० श्लो० न्याय० पृ० ४५० ।
(२) स्फोट—आ० टि० । (३) सादृश्य । (४) साहचर्यविशिष्टगोपिण्डस्य—आ० टि० । (५) उपमा-
नज्ञान । (६) “शक्तयोऽपि च भावानां कार्यार्थापत्तिकल्पिताः । प्रसिद्धाः पारमार्थिक्यः प्रतिकार्यं व्यव-
स्थिताः ।”—मी० श्लो० श्रुत्य० श्लो० २५४ । “तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे । कार्यादर्शनतः
शक्तेरस्तित्वं सम्प्रतीयते । कार्यस्य ननु लिङ्गत्वं न सम्बन्धानपेक्षणात् । दृष्ट्वा सम्बन्धितां चैषा
शक्तिर्गम्येत नान्यथा । तदर्थेने तदानीं च प्रत्यक्षादेरसंभवात् । अर्थापत्तेः प्रमाणत्वं त्रैलक्ष्याध्यादिना
भवेत् । शक्तिकल्पनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह यत्रेति । चोदयति कार्यस्येति । कारणवत्तया शक्तिः कल्प्यते,
कार्याच्च कारणवृद्धिरनुमानमिति । निराकरोति नेति । कारणमाह सम्बन्धेति । बीजे सत्यङ्कुरोत्प-
त्तिदर्शनाद् बीजकारणत्वमवगम्यते, सत्यपि तस्मिन् भूमिकाप्राप्तिरङ्कुरानुत्पत्तेरकारणत्वं तदिव कारण-
कारणत्वव्याघातपरिजिहीर्षया शक्तिकल्पनम्, सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वान्नानुमानम्” इत्येव नानुमान-
मित्याह—दृष्टवैति साद्वेन । सम्बन्धग्रहणपूर्वकं हि सम्बन्धग्रहणम्, न च शक्तेः प्रत्यक्षग्रहणं सम्भवति
तोऽवश्यं सम्बन्धग्रहणवेलायां शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् । अर्थापत्तिर्हि त्रैलक्ष्यवर्जिता शक्नोति तां
ग्रहीतुमिति ।—मी० श्लो० अर्था० न्याय० पृ० ४६२-६३ । शास्त्रदी० पृ० ३०६ । (७) प्रत्यक्ष-
पूर्वकत्वात् । (८) अनुमानस्य । (९) अविनाभाव—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षात्—आ० टि० ।
(११) अविनाभाव । (१२) अन्वयव्यतिरेक ।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति)श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति। अथान्यतोऽनुमानात्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः; ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवर्त्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाजिज्ञात् प्रथमानुमानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाजिज्ञाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति। द्वितीयपक्षे त्वनवस्था—अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः। नहि तत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति। शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ संभावनैव नास्ति; शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः। अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम्।

तथा शब्दसाधनार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या तस्यै नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः।

‘पीनो देवदत्तो दिवा न मुङ्क्ते’ इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्तिः। नैहीदं श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्; पीनादिपदानां स्वार्थप्रतिपादनपरतया रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः। अथ पदसमुदायात् तत्प्रतिपत्तिः; तन्न; अस्य अन्यार्थप्रतिपादनपरत्वात्। श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि-

(१) प्रथमानुमानात्। (२) अनुमानान्तरम्। (३) शक्तिप्रतिपत्तेः। (४) वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या। (५) शब्दस्य। (६) “वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः कैश्चिदाश्रितः। तदर्थोपप्लुतस्यान्यैरिष्टो-वाक्यान्तरस्य तु। न तावद्व्युत्पन्नस्य वचसोऽर्थोऽप्यभिध्यते। न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा। पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते। न रात्र्यादिपदार्थैश्च दिवावाक्येन गम्यते। न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम्। न भेदो येन तद्वाक्यं तस्य स्यात् प्रतिपादकम्। अन्यार्थव्यापुतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना। तस्माद्वाक्यान्तरेणार्थं बुद्धिस्थेन प्रतीयते। प्रमाणं तस्य वक्तव्यं प्रत्यक्षादिषु यद्भवत्। न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्षं तावदिष्यते। नानुमानं न चेदं हि दृष्टं तेन सह क्वचित्। यदि त्वनुपलब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते। तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमिति भवेत्। श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्वं केचित्कल्पयन्ति, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति; तत्रानन्तरपक्षं निराकरोति न तावदिति। कारणमाह—न हीति। किञ्च यदि वाक्यं वाचकं स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्यं वाचकमित्याह वाचकतेति। कथं तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिरत अह—यदर्थेति। किमिति रात्रिभोजनं दिवावाक्यस्यार्थो न भवत्यत आह—न रात्रीति। न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते, ते कथमन्वितरूपतया तद्वाक्यार्थान्वेयुरिति। यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजनं दिवादिपदानां संसर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव वाक्यस्यार्थः स्यात् न तु तदस्तीत्याह न दिवेति। यद्यपि चानेकार्थता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्यापृतस्य नार्थान्तरं संभवतीत्याह—अन्यार्थेति। तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव कल्पितस्यायमर्थो न तु श्रुतस्येत्याह तस्मादिति। तस्य तु वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारणीयमित्याह—तस्येति। यच्च तदर्थान्तरं तदा यद्यपि वाक्यार्थत्वादागमिकं न निष्प्रमाणकं तथापि तदेव वाक्यं किं प्रमाणकमिति चिन्त्यमिति। तत्रार्थापत्तिरेव प्रमाणमिति वक्तुं पूर्वेषां तावदसम्भवं दर्शयितुमाह न हीति।—मी० श्लो० अर्थ०, न्यायर० पृ० ४६४-६५। (७) दिवा न मुङ्क्ते इति निषेधार्थप्रतिपादनपरत्वात्।

- भोजनविधिः, विधिप्रतिषेधयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधतो मिथः संसर्गा-
भावात् । न चार्चनम्बितस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता दृष्टेष्टा वा; प्रतीतिविरोधात् ।
नापि तैर्थाविधे पदसमुदाये अभिधात्री तात्पर्यशक्तिर्वास्तीति । अतः अर्थापत्तिस्त
एव रात्रिभोजनलक्षणोऽर्थः प्रतीयते इति प्रमाणान्तरं श्रुतार्थापत्तिः सिद्धा । तदुक्तम्—
5 तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञातादाहाद् दहनशैकित्वा । वह्नेरमुमितात् सूर्ये यानात्तच्छैकित्ययोगिता ॥
गव्यैषोपमिताया गोस्तज्ज्ञानप्राह्यशक्तिता । अमिधानप्रसिद्धयर्थमर्थापत्त्याऽवबोधितात् ॥
शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नैत्यत्वप्रमेयता । अमिधा नान्यथा सिद्धेरिति वाचकशैकित्वा ॥
अर्थापत्त्यावगम्यैव तदैन्यत्व (दनन्य) गतेः पुनः । अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः ॥
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्मिधास्यते ।” [सी० श्लो० अर्था० श्लो० ३-७]
10 “पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥”
[सी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१] इति ।

अभावार्थापत्तेस्तु लक्षणम्—

“प्रमाणामावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् । गेहाच्चैत्रवहिर्भावसिद्धिर्यां त्विह^१ दर्शिता ॥
तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ।” [सी० श्लो० अर्था० श्लो० ८-९] इति ।

(१) मा भूत्संसर्गः को दोष इत्याह—आ० टि० । (२) संसर्गरहितस्य । (३) अन्यार्थप्रति-
पादनतत्परे । (४) साक्षात् शक्तिः । (५) लक्षणा । (६) गमनशक्ति—आ० टि० । ज्ञानादा-
हाद्दहनशक्तता । वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तिरुच्यते ॥—सी० श्लो० । स्या० २० पृ० २७८ ।
उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । सम्प्रति० टी० पृ० ५७९ । (७) ‘गवयो-
पमिता या गोस्तज्ज्ञानप्राह्यता मता’—सी० श्लो० । ‘प्राह्यशक्तता’—स्या० २० पृ० २७८ । उद्धृतोऽ
यम्—प्रमेयक० पृ० १८८ । सम्प्रति० टी० पृ० ५७९ । तुलना—‘गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानप्रा-
ह्यशक्तता । उपमाबलसंभूतसामर्थ्येन प्रतीयते ॥’—तत्त्वसं० पृ० ४५९ । (८) ‘शब्दे बोधकसामर्थ्या-
त्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम्’—सी० श्लो० । (९) तस्य शब्दस्य नित्यत्वेन प्रमेयत्वं परिच्छेद्यत्वम्—आ० टि० ।
उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० १८८ । सम्प्रति० टी० पृ० ५७९ । स्या० २० पृ० २७८ । (१०)
‘अमिधा नान्यथा सिद्धयेदिति वाचकशक्तताम् । अर्थापत्त्यावगम्यैवं तदनन्यगतेः पुनः ॥’—सी०
श्लो० । ‘... अर्थापत्त्यावगम्यैव...’—तत्त्वसं० पृ० ४५९ । ‘...वाचकशक्तता । अर्थापत्त्यावगम्यैव’
—स्या० २० पृ० २७८ । प्रकृतपाठः—प्रमेयक० पृ० १८८ । ‘अमिधानममिधा अर्थप्रतिपादनमिति
यावत् । सा शब्दस्य अन्यथा—वाचकशक्त्या विना न सिद्धयेदित्येवं बोधकशक्तताम्, अवगम्य बुद्ध्या,
तदनन्यगतेः तस्या बोधकशक्तेरन्या गतिर्नास्ति शब्दनित्यत्वमन्तरेणेति । पुनरर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दस्य
नित्यत्वनिश्चयः ॥’—तत्त्वसं० पृ० ४५९ । (११) एकया अर्थापत्त्या वाचकशक्तिमवगम्य अन्याया
शब्दस्य नित्यत्वं निश्चिनय्यात् प्रमाता—आ० टि० । (१२) मीमांसासूत्रे । (१३) ‘शब्दार्थापत्तिरुच्यते’
—स्या० २० पृ० २७८ । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । सम्प्रति० टी० पृ०
५७९ । (१४) ‘वणिता’—तत्त्वसं० पृ० ४६० । उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० १८९ । सम्प्रति० टी०
पृ० ५७९ । स्या० २० पृ० २७८ । व्याख्या—‘प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्याभावेन निवृत्त्या निर्णीतो निश्चितो
यश्चैत्राभावेन तत्र विशेषिताद् गेहात् इह गृहे चैत्रो नास्तीत्यतः चैत्रस्य जीवने सति या बहिर्भावसिद्धिः

1 त्रयाविधवद—अ० । 2-शक्तता ब० । 3-स्याविबोधि—आ०, ब० । 4-शक्तता ब०,
अ० । 5-श्रुतेः ब० ।

जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभाव-
पूर्विका अर्थापत्तिः । अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धेः अनुमानमेवेयमित्युच्यते; तच्च; तत्सा-
मग्र्यभावात् । पक्षधर्मादिसामग्र्या हि यद्विज्ञानं जन्मते तदनुमानं प्रसिद्धम्, सां
चेह नास्ति । तर्थाहि—बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य
हेतुत्वम्—किं गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे चैत्रा-
भावस्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा ? तत्र नैतेषां मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते; पक्ष-
धर्मत्वाभावात् । नञ्हेतौ चैत्रधर्माः तद्वहिर्भावधर्मा वा ।

किञ्च, प्रमेयानुप्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि—आगमावगतजीवनस्य
बहिर्चैत्रो विद्यते इत्येवं निश्चयरूपा, इह भाष्ये वर्णिता शबरस्वामिना, तदन्यासामर्थपत्तीनामुपलक्ष-
णार्थमुदाहृतेति यावत् । यथा जीवति देवदत्ते गृहेऽदर्शनेन बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनेति ।—
तत्त्वसं० पृ० ५० ४६० ।

(१) पक्षधर्मादिसामग्री । (२) “पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद् भिन्नैवाप्यनुमानतः । बहिर्देशविशि-
ष्टेऽयं देशो वा तद्विशेषिते । प्रमेये यो गृहाभावः पक्षधर्मस्त्वसौ कथम् ॥ तदभावविशिष्टं तु गृहं धर्मं न
कस्यचित् । गृहाभावविशिष्टस्तु तदासी न प्रतीयते ॥ गम्यते तु गृहं तत्र न च चैत्रः प्रतीयते । न
चात्रादर्शनं हेतुर्यथाऽभावेऽभिधास्यते ॥ तेन वेदमन्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कल्प्यते । अवशेनादभावे च
प्रमेयस्यावधारिते । बहिर्भावमतिनासौ तेनादर्शनहेतुका । चैत्राभावस्य हेतुत्वं गृहेऽभावश्च संस्थितः ॥
पक्षधर्मत्वं तावन्निराकरोति बहिरिति । गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तस्य बहिर्देशस्य वा धर्मः, अभाव-
विशिष्टं तु गृहं न कस्यचिद्धर्म इत्याह गृहाभावेति । असौ देवदत्तो बहिर्देशो वेति । कथमित्याह गम्यते
इति । चैत्रग्रहणमुपलक्षणम्, गृहमेव गम्यते न चैत्रो बहिर्देशो वा । न चानवगतस्य धर्मावगतिः संभव-
तीति । यदि तु चैत्रादर्शनं हेतुरित्युच्यते अत आह न चेति । यथा ह्यभावेऽनुमेये लिङ्गत्वमाभावस्य न
संभवति तथाऽत्रापि पक्षधर्मत्वाभावादेव ।…… इतश्च नादर्शनस्य हेतुत्वमित्याह—अवशेनादिति ।
अवशेनादभावेऽवगते परचादुपजायमाना बहिर्भावमतिनादर्शननिमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्वं
न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह चैत्राभावस्येति ।—मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५४-५५ । तुलना-
न्यायसं० पृ० ३७ । (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षया—आ० टि० । (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षया—आ० टि०
(५) प्रमेयस्य साध्यस्य हेतुग्रहणकाल एव अनुप्रवेशः ज्ञानम् । ‘जीवतश्च गृहाभावः पक्षधर्मोऽत्र
कल्प्यते । तत्संवितार्बहिर्भावं न चाबुद्धोपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवता प्रतीयते । न तद्ग्र-
हणवेलायामग्न्यधीनं हि किञ्चन ॥ गृहाभावस्तु यः शुद्धो विद्यमानत्ववर्जितः । स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्-
हिर्वृत्तेन साधकः ॥ विद्यमानत्वसंसृष्टगृहाभावधियाऽनया । गृहादुत्कलितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥
गृहाभावत्वमात्रं तु यत्स्वतन्त्रं प्रतीयते । न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यैवावधार्यते । सिद्धे सद्भावविज्ञाने
गृहाभावधियाऽत्र तु । गृहादुत्कलिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारीमृतादिना ।
यस्य त्वव्यभिचारित्वं न ततोऽन्यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गृहे चैत्राभावे ह्यभावतः । ज्ञाते यत्स-
त्त्वविज्ञानं तदेवेदं बहिः स्थितम् ॥ पक्षधर्मात्मलाभाय बहिर्भावः प्रवेशितः । तद्विशिष्टोऽनुमेयः स्यात्
पक्षधर्मान्वयादिभिः ॥ पक्षधर्मादिविज्ञानं बहिः संबोधतो यदि । तैश्च तद्बोधतोऽवश्यमन्योन्याश्रयता
भवेत् । अन्यथानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता । तान्मूयेणैव विज्ञानान्न बोधः प्रतिभाति नः ॥ येन बहिर्भा-
वेन विशिष्टश्चैत्रोऽनुमातव्यः, स पक्षीकृतजीवश्चैत्रधर्मतया गृहाभावस्यात्मलाभाय तत्प्रतीतिवेलाया-
मेवानुप्रवेशित इति । तदेवं सत्यपि यद्यनुमानत्वमिष्येत तत्स्फुटमितरेतराश्रयमित्याह—पक्षधर्मादीति ।

१ जीवतोऽप्य हि श्र० । २ चैत्रस्य विशिष्टे बहिर्भावे श्र० । ३ गृहे चैत्राभावस्य वा नास्ति आ० ।

चैत्रस्य गृहाभावेन बहिर्भावः कल्प्यते, अन्यथा मृतेन अनेकान्तः स्यात् । अभावश्च गृहीतः, सन् बहिर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत् । अभावग्रहणञ्च सदुपलम्भ-
 कप्रमाणपञ्चकाभावपूर्वकम् । इह च सदुपलम्भकमस्त्येव जीवनग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्,
 सति तस्मिन् कथमभावग्रहणं प्रवर्तते इति ? प्रवर्त्तमानमेव एतत्सदुपलम्भकं प्रमाणं
 5 पृथग्विषयैयमवस्थापयति । जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तत्तै प्रतिपन्नं
 तद् गृहेऽभावं परिच्छिन्दता प्रमाणेन स्वविषयादन्यत्र सङ्कोच्यते 'बहिरस्य भावः गृहे
 त्वभावः' इति । तेन जीवतो गृहेऽभावलक्षणसाधनप्रतिपत्तेः बहिर्भावलक्षणसाध्य-
 प्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धेः सिद्धः प्रमेयानुप्रवेशः, अतः नेयमनुमानम् । नहि बहुधाद्यनुमाने
 धूमादिलिङ्गग्रहणसमये अनुमेयप्रतिपत्तिः प्रतीता, धूमादिग्रहणोत्तरकालं तत्प्रति-
 10 पत्तिप्रतीतिः । ननु अर्थापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान एव; सत्यमेव तेन;
 तथापि प्रमाणद्वयसमर्पितैकवस्तुविषयभावाभावसमर्थनार्थं प्रवर्त्तमाना अर्थापत्तिः
 परामृशत्येव प्रमेयद्वयम्, अन्यथा तत्सङ्घटनयोगात् । अतश्च येयम् आगमाद-
 नियतदेशतया कचिदस्तीति संवित्तिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'बहिरस्ति' इति संवित्
 संबृत्ता । तदतो वैलक्षण्यात् नातुमानमर्थापत्तिः ।

15

सम्बन्धग्रहणाभावार्थं । भावाभावौ हि न युगपद् बहिर्-धूमवद् एकत्रेन्द्रियप्रभ-

नत्वर्थपत्तावपि तुल्योऽयं दोषः, तत्रापि हि गृहाभावमात्रं मरणेनाप्युपपन्नं न बहिर्भावं कल्पयति,
 विद्यमानत्वसंसृष्टस्तु कल्पयेत्, स त्वनवगतः बहिर्भावेन शक्यतेऽवगन्तुम्, नचानवगतः कल्पको भवति,
 तदवगमे च प्रमेयाभावः स्यादत आह-अव्यथेति । अन्यथानुपपत्तिरूपे प्रमाणान्तरे योऽयं विद्यमान-
 त्वसंसृष्टगृहाभावमुद्भावेन प्रमेयस्य बहिर्भावस्यानुप्रवेशः स न दोषः । कस्मात् ? तादृशेयमेव ज्ञानात् ।
 ईदृशूपमेव हि एतत्प्रमाणं यदर्थञ्च यस्यासत्यार्थान्तरे मिथः प्रतिघातेनासम्भवमालोच्य अर्थान्तर-
 कल्पनया प्रतिघातं परिहृत्य सम्भवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणान्तरत्वम् अनुपपत्तिरिति
 चावगतस्यार्थान्तरेण प्रतिघातस्योच्यते इति ।—सी० श्लो०, न्याय० पृ० ४५५-७७ । शास्त्रदी०
 पृ० २९७ । तुलना-न्यायमं० पृ० ३७ ।

(१) केवलेन गृहाभावेन यदि बहिर्भावः कल्प्येत । (२) जीवित्वग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम् ।
 (३) न हि निविषयं प्रमाणं भवति, एवं च भावो गृहीतो नाभावस्तत्कथं स हेतुः, भाववदद्यापि
 साध्यत्वात्-आ० टि० । (४) चैत्रस्य । (५) अभावप्रमाणेन । (६) गृहलक्षणात् । (७) बहिः ।
 (८) बहिः । (९) जीवति चैत्र इति आगमाख्यं प्रमाणम्, गृहे च नास्तीत्यभावप्रमाणम्, तत्समर्थनार्थं
 बहिरस्तीत्यर्थापत्तिः प्रवर्तते अन्यथा प्रमाणद्वयस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्-आ० टि० । आगमप्रमाणेन हि
 चैत्रस्य भावो विषयीकृतः अभावप्रमाणेन च तस्याभाव इति, अतः चैत्रविषयकसद्भावाभावयोः अविरो-
 धस्यापनार्थम् अर्थापत्तिः प्रवर्तते, सा च चैत्रो गृहे नास्ति बहिरस्ति इति प्रमेयद्वयं परामृशति (१०)
 अर्थापत्तिं विना । (११) भावाभावयोः-आ० टि० । भावाभावयोः संघटनस्य अविरोधस्य अयोगात्
 अभावपत्तेः । (१२) नेयमनुमानमिति गतेन सम्बन्धः । (१३) "गृहाभावबहिर्भावो न च दृष्टी नियोगतः ।
 साहित्ये तु प्रमाणञ्च तयोरेव्यञ्च विद्यते ॥"—सी० श्लो० अर्था० श्लो० ३१ । तुलना-न्यायमं० पृ० ३७ ।

1 सच आ०, व० । 2 जीवग्राह्याग-आ०, व० । 3 वर्त्तना-श्र० । 4 बहिर्भावलक्ष्यसाध्य-ब० ।

5 एवास्त्यमेतत् व० । 6 योऽयम् श्र० । 7-ग्रहणाभावाभावाच्च श्र० ।

वप्रत्यये प्रतिबद्धतया बोद्धुं शक्यौ, गृहाभावस्य हि व्याप्यत्वे बहिःसद्भावो व्यापकः, स च प्रत्यक्षेण अर्वादिशिभिः साक्षात्कर्तुमशक्यः अनन्तदेशवृत्तित्वात् । ननु कश्चिद् द्वारि स्थितः कस्यचिद् देवदत्तादेः भावाभावौ गङ्गाति—‘यदा एतस्य गृहेऽभावः तदा अन्यत्र सद्भावः’ इत्येवं व्याप्तिग्रहणोत्तरकालं चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद् बहिःसद्भावो निश्चीयते; सत्यम्; तथाप्यनुमानादस्या वैलक्षण्यम्—तत्र हि सामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे सति उत्तरकालं पक्षधर्मतानिश्चयसमये व्यैपकस्य नियतदेशतया प्रतिपत्तिः, अत्र तु वैपरीत्यम् । नहि गृहेऽभावात् नियतदेशतया चैत्रः प्रतीयते^१ । यादृश एव हि व्याप्तिकाले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते ।

किञ्च, गृहद्वारवर्तिनो गृहेऽभावस्य बहिःसद्भावेन सम्बन्धग्रहे गृहे चैत्र-सद्भावेन बहिस्तदभावसाधने कथं सम्बन्धग्रहः स्यात् ? तदुक्तम्—

“नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः सङ्गतिग्रहः ।

भावेनाभावसिद्धौ तु कैथमेवं भविष्यति ॥” [न्यायसं० पृ० ३८]

न खलु गृहे चैत्रस्य सद्भावाऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तन्नास्तित्वासमाये गृहे तत्सद्भावरस्य देशान्तरे तन्नास्तित्वेन^२ अध्यक्षतः सम्बन्धग्रहो घटते, देशान्तराणामानन्त्यात् । कैथमेवं धूमस्य अग्निव्यतिरेकनिश्चयः इति चेत् ? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम् ? भूमज्वलनयोः अन्वयग्रहणसंभवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसंभवात् । नहि भूयोदर्शनसुल-भनिर्धेमज्ञानसम्पाद्यमानसाध्याधिगमनिर्धुतचेतसां^३ अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित् प्रयोजनं साध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात् ? इह पुनः अन्वयाधिगमसमय एव गम्यधर्मस्य

(१) गृहद्वारि स्थितो यस्तु बहिर्भावं प्रकल्पयेत् । यदैकस्मिन्नयं देशे न तदाज्यत्र विद्यते ॥ तदाप्यविद्यमानत्वं न सर्वत्र प्रतीयते । न चैकदेशे नास्तित्वाद् व्याप्तिर्हेतोर्भविष्यति ।”-मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३४-३५ । (२) अनुमाने हि । (३) प्रयोगकाले । (४) अग्नेः । (५) पर्वतादिस्थतया-आ० टि० । (६) अर्थापत्तौ । (७) अपि तु बहिः यत्र कुत्राप्यस्ति इत्यनियतरूपेण । (८) ‘गृहद्वारे वर्तिनः’-न्यायसं० । (९) ‘भावेन भावसिद्धौ’-न्यायसं० । (१०) सम्बन्धः । (११) व्याप्यभूतस्य । (१२) व्यापकभूतेन । (१३) “ननु चाग्न्याद्यभावेऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम् । तद्देशागमनात् स्पष्टो व्यतिरेको न सिद्ध्यति । यस्य वस्त्वन्तराभावः प्रमेयस्तस्य दुष्यति । मम त्वदृष्टमात्रेण गमकाः सह-चारिणः । यः खलु वस्त्वन्तरेषु विपक्षेषु लिङ्गस्याभावावधारणमनुमानाय प्रार्थयते तस्यैव दोषः, वयं तु द्वित्रिचतुरेषु अवगताग्निसाहचर्याद् धूमाद्विपक्षादर्शनमात्रेण सहचारिणमग्निमनुमितां न सर्ववि-पक्षेषु धूमाभावावधारणं प्रार्थयामहे । नापि सर्वधूमवतामग्न्यन्वयमिति ।”-मी० श्लो०, न्यायसं० पृ० ४६० । (१४) अनग्निप्रवेशानामानन्त्यात्-आ० टि० । (१५) प्रतिपत्तृणाम् । (१६) अर्थापत्तौ । (१७) बहिः सद्भावस्य-आ० टि० ।

१ यदि तस्य व० । २ गृहे भावाभावात् अ० । ३-द्वारप्रवर्ति-व० । ४-ग्रहो गृहे चैत्र व० । ५ ‘गृहे’ नास्ति आ०, अ० । ६ उक्तञ्च व० । ७ नन्वस्त्येव आ० । ८-द्वारिवर्तिनः व० । ९ कथमेव अ० । १०-निश्चयमज्ञान-अ० । ११-निवृत्तत्वे-व० । १२ अन्वयाद्यगम-व०, अ० ।

दुरधिगमत्वमुक्तम् अनन्तदेशवृत्तिवात् । अथ अनुपलब्ध्या तैस्मिन्श्चयः; तन्नः; गृह-
व्यतिरिक्तसकलदेशवर्तिनः तदभावस्य नियतदेशया अनुपलब्ध्या निश्चेतुमशक्यत्वात् ।
तेषु तेषु देशान्तरेषु गत्वा अनुपलब्ध्या तदभावः; इत्यप्यसुन्दरम्; यतः—

“गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य जौनासि नास्तिताम् ।

5 कौशाभ्यास्त्वयि निष्कान्ते तत्प्रवेशौमिशङ्कया ॥” [न्यायमं० पृ० ३८]

तस्मादभूमिरिदमसर्वज्ञानाम् । अतो नियतदेशोपलब्ध्यामपरिमितपरिमाण-
पुरुषशरीराऽन्यथानुपपत्त्यैव तद्वितरसकलदेशानास्तित्वाऽवधारणं तस्यै इत्यर्थापत्त्यैव तत्र
तदभावनिश्चयः इति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘दृष्टः श्रुतो वा’ इत्यादि; तत्र दृष्टः श्रुतो वाऽ-

10 अर्थापत्तेः अनुमान-
प्रमाणे श्रुतमौ-
समर्थनम्—
र्थः स्वसौध्येन सम्बद्धः; असम्बद्धो वा तं कल्पयति ? यदि असम्बद्धः;
कथं तत्कल्पनाकारणम् ? नहि यत्किञ्चिद् दृष्ट्वा यः कश्चिदर्थः कल्प-
यितुं शक्यः अतिप्रसङ्गात् । अथ सम्बद्धः; तर्हि औतो जायमाना

(१) यत्र नोपलभ्यते तत्र नास्ति चैत्र-आ० टि० । (२) व्यतिरेकमुखेन सम्बन्धनिश्चयः ।

“नन्वेवमितरत्रापि सम्बन्धोऽनुपलब्धितः । चैत्राभावस्य भावेन दृष्टत्वादुपपद्यते ॥ साहित्ये मितदेश-
त्वात्प्रसिद्धे चाग्निभूमयोः । व्यतिरेकस्य चादृष्टेर्मकत्वं प्रकल्प्यते ॥ इह साहित्यमेवेदमेकस्य सह-
भाविनः । अनन्तदेशवृत्तिवान् तावदुपपद्यते ॥”—मी० श्लो० अर्था० श्लो० १-४३ । (३) “नन्ववा-
विद्यमानत्वं सम्पत्तेऽनुपलब्धितः । सा चाप्रयत्नसाध्यत्वादेकस्थस्यैव सिद्धयति ॥ नैतयाऽनुपलब्ध्याऽत्र
वस्त्वभावः प्रतीयते । तद्देशाजगमानां सा हि दूरस्थेवस्ति सत्त्वपि ॥ गत्वा गत्वा तु तान् देशान्
यद्यर्थो नोपलभ्यते । ततोऽन्यकारणभावादसन्तित्यवगम्यते ॥”—मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३६-३८ ।

(४) ‘जानामि’-न्यायमं० । (५) ‘ज्ञादिशङ्कया’-न्यायमं० । (६) अनुपलब्धिः । (७) चैत्रस्य ।
(८) बहिः । (९) चैत्राभावनिश्चयः । (१०) पृ० ५०५ पं० १८ । (११) रात्रिभोजनादिना-

आ० टि० । तुलना—‘एषा विचार्यमाणा तु भिद्यते नानुमानतः ॥ प्रतिबन्धादिना वस्तु न वस्त्वन्तर-
बोधकम् । यत्किञ्चिदर्थमालोक्य न च कश्चित्प्रतीयते ॥ प्रतिबन्धोऽपि नाज्ञातः प्रयाति मतिहेतुताम् ।
न सद्योजातबालादेरुद्भवन्ति तथा विधयः ॥ न विशेषात्मना यत्र सामान्यज्ञानसम्भवः । तत्राप्यस्यैव
सामान्यरूपेण तदुपपद्यते ॥”—न्यायमं० पृ० ४१ । “अर्थापत्तेरप्यनुमान एवास्तंभविजिनाभावबलेनार्थ-

प्रतिपत्तिसाधनत्वात् । अन्यथा नोपपद्यते इत्युक्ते सत्येवोपपद्यत इति लभ्यते । अयमेवाविनाभाव इति ।”
—न्यायमं० पृ० २२ । “अर्थापत्त्युत्पादकोऽर्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतः, अवगतो वाऽदृष्टार्थपरिक-

ल्पतानिमित्तं स्यात् ?”—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० २० २८३ । (१२) दृष्टात् श्रुतादर्थान्-
आ० टि० । तुलना—‘वंशेनार्थादर्थानिपत्तिविरोध्येव श्रवणादनुमितानुमानम्’—प्रज्ञा० भा०, कण्ड०
पृ० २२३ । प्रज्ञा० व्यो० पृ० ५९० । “शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवनयन्तिर-
भावान्चाप्रतिषेधः ।”—न्यायसू० २।२।२। “प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानं तथा
चार्थापत्तिसम्भवाभावाः । वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनौकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमान-
मेव ।”—न्यायभा० २।२।२। “कथमर्थापत्तिरनुमानेन संगृह्यते ? द्वयोरेकत्रप्रतिषेधस्य द्वितीयाभ्यनुज्ञा-
विषयत्वात् । यत्र यत्र द्वयोर्वस्तुनोरेकतरद्वस्तु प्रतिषिध्यते तत्र तत्र द्वितीयाभ्यनुज्ञा दृष्टा, यथा दिवा न
भुङ्क्ते इत्यभिधानात् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते ।”—न्यायवा० पृ० २७६ । न्यायली० पृ० ५७ ।

१ नियतदेशतया व०, श्र० । २ तेषु देशान्त-आ०, श्र० । ३-तमानो पु-श्र० ।

प्रतीतिः अनुमानमेव, तथाहि—दृष्टात् श्रुताद्विज्ञानात् अर्थान्तरे प्रतीतिः अनुमानमेव, अविनाभावबलेन उपजायमानत्वात्, यद् यद् अविनाभावबलेनोपजायते तत्तदनुमानेव यथा धूमादग्निविज्ञानम्, अविनाभावबलेनोपजायते चार्थापत्त्यभिमतं प्रतीतिरिति ।

किञ्च, असौ तत्सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञातः, अज्ञातो वा तत्कल्पनानिमित्तं स्यात् ? न तावदज्ञातः; बालादेरपि अतोऽदृष्टार्थकल्पनाप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातः; तत्रापि किं साध्यप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बद्धतया असौ ज्ञातः, पूर्वं वा ? प्रथमपक्षे किं प्रमाणान्तरात् तत्सम्बद्धतया तदाऽसौ ज्ञातः, तत एव वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तैत्प्रतिपत्तिकाले तत्सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरस्यासंभवात्, संभवे वा साध्यस्यापि अत एव सिद्धेः किमर्थापत्त्या ?

अस्तु वासौ, तथापि—अनुमानान् भिद्यते; तथाहि—अर्थापत्तिः अनुमानमेव, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायमानत्वात्, यद्यप्यप्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमाद् वह्निविज्ञानम्, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद्धेतोः उपजायते चार्थापत्त्यभिमतं ज्ञानमिति । अथ तत एव साध्यसम्बद्धतया असौ ज्ञातः; तदा अन्योन्याश्रयः—सिद्धायां हि अर्थापत्तौ तदुत्थापकार्थस्य तत्सम्बद्धतया ज्ञप्तिरिति, तत्सिद्धौ च अर्थापत्तिरिति । अथ पूर्वं तत्सम्बद्धतयाऽसौ ज्ञातः किं साध्यधर्मिण्येव, दृष्टान्तधर्मिणि वा ? प्रथमविकल्पे अर्थापत्तौ वैयर्थ्यम् तत्साध्यस्य प्रागेव प्रसिद्धत्वात् । दृष्टान्तधर्मिण्यर्थानुपगमाभासौ तत्सम्बद्धतया ज्ञातव्यः ।

किञ्च, तत्रासौ साध्यसम्बद्धतया भूयोदर्शनात्, विषयेऽनुपलम्भात्, अर्थापत्त्य-

“न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसङ्कीर्णोदाहरणभावात्, प्रकारान्तराभावाच्च ।” न्यायकुसु० ३।१९। “सिद्धः साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावकः । संभवादेश्च यो हेतुः सोऽपि लिङ्गान्न भिद्यते ॥ दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं लिङ्गस्यापि निवेदितम् । तन्न मानान्तरं लिङ्गादर्थपत्त्यादिवेदनम् ॥”—तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २१७ । प्रमेयक० पृ० १९३ । सम्मति० टी० पृ० ५८५ । जैनतर्कवा० पृ० ७७ । स्या० २० पृ० २८३ । रत्नाकराव० २।१ ।

(१) दृष्टः श्रुतो वाऽर्थः—आ० टि० । (२) सम्बद्धरूपतया—आ० टि० । (३) तुलना—“अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वागमः अर्थापत्तेरेव प्रमाणान्तराद्वा ?”—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० २० पृ० २८४ । (४) साध्यप्रतिपत्तिकाले (५) सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरादेव । (६) गीतवगृहाभावादेः—आ० टि० । (७) मीमांसका हि अर्थापत्तौ सम्बन्धावगमं दृष्टान्ते न स्वीकुर्वन्ति अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गात् । “अविनाभावित्वा चान्न तदेव परिकल्प्यते । न प्रागवधूतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम्” (मी० श्लो०, अर्था० श्लो० ३०) इत्यभिधानात् । (८) दृष्टान्तधर्मिणि चेद् दृष्टः श्रुतो वार्थः पूर्वं प्रतिपन्नः तदा साध्यधर्मिणि किमायातम्—आ० टि० । (९) दृष्टान्तधर्मिणि । तुलना—“अथ प्रमाणान्तरात्तदवगमः; तत्किं भूयोदर्शनं विपक्षेऽनुपलम्भो वा ?”—प्रमेयक० पृ० १९४ । स्या० २० पृ० २८४ । (१०) विपक्षा हि अनपिदेशाद्या अनन्ता एव—आ० टि० ।

१—न्तरप्रतीति—श्र० । २—द्विद्विज्ञानम् ब० । ३ वा कल्पना—आ० । ४—सम्बद्धाद् ब० । ५—सम्बद्धाद्धे—आ० । ६ प्रागेव सिद्ध—श्र० । ७—सौ सम्बद्ध—ब०,—सौ साध्यस्य सम्बद्ध—श्र० ।

न्तराद्वा प्रतीयेत ? न तावद् भूयोदर्शनात्; शक्तेरतीन्द्रियतया भूयोदर्शनाऽसंभवात् ।
नापि विपक्षेऽनुपपत्तमात्; तस्यापि उपलब्धियोग्येभ्येवार्थेषु सम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुत्वात् ।
नापि अर्थापत्त्यन्तरात्; अनवस्थाप्रसङ्गात् । कथं तर्हि साध्यसाधनयोः सम्बन्धप्रति-
पत्तिर्भवतोऽपीति चेत् ? ऊहाख्यप्रमाणान्तरात् । अस्माकं तदभ्युपगमे को दोषः
5 इति चेत् ? प्रमाणसंख्याव्याघातः, तथा “प्रत्यक्षेण हि प्रतिपक्षे प्रतिवन्द्ये अनुमानं
प्रवर्त्तते” [] इत्यादिग्रन्थविरोधश्च, सर्वत्र ऊहाख्यप्रमाणादेव सम्बन्ध-
प्रतिपत्तिप्रसिद्धेः । न खलु तस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति येन शक्तेरतीन्द्रियतया केनचित्लङ्घनेन
सह सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः अनुमानतोऽप्रतिपत्तिः स्यात् ।

यदपि—“प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहाख्यकार्यान्यथानुपपत्त्या” इत्यादि प्रत्यक्षपूर्विकार्था-
10 पक्षोर्लक्षणमुक्तम्; तत्र अनुपपत्तिस्वरूपं वक्तव्यम्—किं साध्यैवेन विना स्फोटोदेरभावः
अनुपपत्तिः, प्रमाणविरोधो वा ? प्रथमपक्षे तेन विना नोपपद्यते इति व्यतिरेकमणितिः,
व्यतिरेकश्च प्रतीयमानः ‘तस्मिन् सति उपपद्यते’ इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ
च लिङ्गस्यैव गमकस्य धर्माविति कथमर्थापत्तिरनुमानादतिरिच्येत ? प्रमाणविरोधोऽपि
बाध्यबाधकभावान्नान्यः । तथा च शुक्तिकायां रजततदभावप्राहिणोर्विज्ञानयोः बाध्यबाध-
15 कभावे सति रजतान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरकैल्पनानुपपन्नः स्यात्, तैल्लक्षणाया अनुप-
पत्तेरत्राप्यविशेषात् ।

किञ्च, प्रमाणयोः परस्परप्रतिबन्धकत्वे सति अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते, ते च वक्तव्ये ।
ननु किमत्र वक्तव्यं सुप्रसिद्धत्वात् ? तथाहि—‘स्फोटस्वरूपं तावद् अभ्यक्षं परिच्छिन्नति’,
‘न च तस्य दृष्टं कारणं संभवति, कारणान्तरञ्च नोपलभ्यते, कारणभावे च कार्याभा-
20 वो दृष्टः, अतः कारणभावाख्यलिङ्गप्रभवानुमानात् तस्याभावः प्राप्तः’ इत्येवं प्रमाणद्वय-
विघटनायां तत्सङ्ख्यतान्त्रिका तयोर्विषयभेदं दर्शयन्ती अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते । स्फोट-
ज्ञानं हि स्फोटविषयम्, कारणभावानुमानञ्च परिदृश्यमानकारणनिबन्धनकार्याभाव-
विषयमिति; तदप्यसमीचीनम्; यतः कारणभावोऽत्र कार्याभावं निश्चये लिङ्गम्, स च
निश्चितः, अनिश्चितो वा तल्लिङ्गं स्यात् ? न तावदनिश्चितः; वाष्पादेरपि धूमादि-

(१) तुलना—‘भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः’—सी० श्लो० अनु० श्लो० १२ । (२) पृ०
५०६ पं० ४ । (३) दहनशक्त्या । (४) तुलना—‘तेन विना नोपपद्यते इति च व्यतिरेकमणिति-
रियम्, व्यतिरेकश्च प्रतीतः तस्मिन् सत्युपपद्यते इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ च गमकस्य
लिङ्गस्य धर्म इति च कथमर्थापत्तिरनुमानम् ।’—न्यायसं० पृ० ४१ । (५) प्रमाणविरोधलक्षणायाः ।
(६) वल्लिरूपम्—आ० टि० । (७) शक्तिरूपम्—आ० टि० । (८) स्फोटस्य—आ० टि० । (९) स्फोट
प्रत्यक्षेण तावत्स्फोटसदभाव आवेदितः, शक्तिरूपकारणभावानुमानेन तु स्फोटाभावोऽनुमित इति-
स्फोटविषये प्रत्यक्षानुमानेन विषट्ते, अतस्तयोर्विषयभेदं प्रदर्शयन्ती अर्थापत्तिः संघटनकारिणी भवति ।

1 सम्बन्धं प्रति हेतु—आ० । 2 ऊहात् अस्मा—ब० । 3—कल्पनानुपपन्नात् ब०, अ० ।
4 प्रवर्त्तते च वक्त—ब० । 5 दृष्टकारणं अ० । 6—निश्चयलिङ्गम् अ० ।

तथा सन्दिग्धस्य लिङ्गताप्रसङ्गात् । अथ निश्चितः; कुतस्तन्निश्चयः ? कारणानुपलब्धेऽचेत्; सा किं दृश्यानुपलब्धिः, अदृश्यानुपलब्धिर्वा ? यद्यदृश्यानुपलब्धिः; कथमतोऽभावसिद्धिः, परमाणुपिशाचादिना अनेकान्तात् ? अथ दृश्यानुपलब्धिः; तर्हि अतः कारणाभावसिद्धेः कथमर्थापत्तेः कारणसद्भावावेदिकायाः प्रामाण्यं स्यात् ? चक्रकप्रसङ्गाच्च न कारणाभावस्य लिङ्गता; तथाहि—कार्यकारणयोः सम्बन्धग्रहणे सति कारणाभावाख्यमनुमानं प्रवर्तते, सम्बन्धग्रहणञ्च कारणग्रहणे सति, कारणग्रहणञ्च अर्थापत्तिः, अर्थापत्तिश्च कारणाभावानुमाने सति, तच्च सम्बन्धग्रहणे सति इति । न च अर्थापत्ति एव स्फोटादौ कारणसद्भावसिद्धिः; अनुमानतोऽपि तत्सिद्धेः । तथाहि—स्फोटादि कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा धूमादि, कार्यश्चेदं स्फोटादि, तस्मात् कारणपूर्वकमिति ।

एतेन अनुमानोपमानपूर्वकाऽर्थापत्तिद्वयमपि^१ प्रत्याख्यातम्; तस्यापि शक्तिविषयत्वेन प्रत्यक्षपूर्वकार्थापत्तिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषानुपपन्नात् ।

यापि शब्दनित्यत्वसिद्धौ अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरुक्तौ; साप्ययुक्ता; शब्दस्यानित्यत्वेऽपि बाचकत्वस्योपपत्तेः, तदनित्यत्वञ्च अग्रे प्रसाधयिष्यामः ।

यपि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि श्रुतार्थापत्तिरुक्तौ; साप्यनुमानमेव, कार्यतः कारणप्रतिपत्तेः । असति हि रसायनाद्युपयोगे पीनत्वं स्वात्मनि अर्थत्र च भोजनकार्यत्वेन अवगतम्, तच्च देवदत्ताख्ये धर्मिणि आप्नवाक्यात् कौलविशेषे भोजननिषेधेन निश्चीयमानं प्रैतिषिध्यमानकालव्यतिरिक्तकालेऽप्रतिषिद्धे स्वीर्पादकस्य कारणस्य सत्तामवगमयति । नहि कारणं विना कार्यस्योदयो घटते, अहेतुत्वेन सदा सत्त्वस्य

(१) पृ० ५०६ पं० ५, ६ । (२) तुलना—“उपमानस्य तु स्मरणादभेदे तत्पूर्विकाऽर्थापत्तिरनुमानमेव, व्याप्तेः पूर्वं ग्रहणात् । तथा च सादृश्यावच्छिन्नो गोपिण्डो बाह्यादित्तमर्थः गोपिण्डत्वात् पूर्वपिलब्धैर्विषयगोपिण्डवत् ।”—प्रश० व्यो० पृ० ५९० । (३) पृ० ५०७ पं० ९ । (४) पृ० ५०७ पं० ११ । (५) तुलना—“श्रुतार्थापत्तिरपि वराकी नानुमानाद् भिद्यते, वचनैकदेशकल्पनाया अनुपपन्नत्वादर्थस्य च कार्यलिङ्गस्य सत्त्वात् । यथा क्षितिघरकन्धराधिकरणं घूममवलोक्य तत्कारणमनलमनुमिनोति भवान् एवमागमात्पीनत्वाख्यं कार्यमवधार्य तत्कारणमपि भोजनमनुमिनोतु कोऽत्र विशेषः”—व्यायसं० पृ० ४५ । “क्षपाभोजनसम्बन्धी पुमानिष्टः प्रतीयते । दिवाभोजनवैकल्यपीनत्वेन तदव्यवत् ॥ भोजने सति पीनत्वमव्यव्यतिरेकतः । निश्चितं तेन सम्बद्धाद्वस्तुनो वस्तुतो गतिः ॥”—तत्त्वसं० पृ० ४६५ । सन्मति० टी० पृ० ५८७ । स्या० २० पृ० ३०६ । “पीनो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभोजनकल्पनाज्जुमितानुमानम्, लिङ्गभूतेन वाक्येन अनुमितात् पीनत्वात् तत्कारणस्य रात्रिभोजनस्य अनुमानात् ।”—प्रश० कण्ठ० पृ० २२३ । “देवदत्तो राज्ञो भुङ्क्ते दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वादिति ।”—वैश० उप० ९।२।५ । (६) स्थूल पुरुषात्तरे । (७) दिवा । (८) पीनत्वोपपादकस्य—आ० टि० । (९) भोजनस्य । (१०) तुलना—“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं हि हेतोरन्यान्पक्षेणात् । अपेक्षातश्च भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥”—प्रमाणवा० ३।३४ ।

१ वाचकस्योपपत्तेः आ० । २ योऽपि व० । ३ प्रतिषेध्यमान—आ० । ४ स्वोत्पादकस्य व०, श्र० । ५ कारणसत्तामव—व० ।

असत्त्वस्यै वा प्रसङ्गात् । प्रयोगः—रात्रिभुक्तिमान् देवदत्तः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनः स रात्रिभुक्तिमान् यथा नक्तञ्चरः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्तः, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति । ततो 'नहीदं वाक्य-
मेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्' इत्याद्ययुक्तमुक्तम्; यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षण-
लिङ्गस्यैवातो वाक्यात् प्रतिपत्तेः, तैत्प्रतिपन्नाच्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्रतिपत्तिस्तिष्ठिरिति ।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः साध्यनुमानमेव, जीवतदचैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावावगमात् । तथाहि—जीवतदचैत्रस्य गृहेऽभावः बहिर्भावेन तद्वान्, जीवन्मनुष्य-
गृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैर्विधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्ध-
धूमवत् । तत्रश्च गृहादीनां लिङ्गत्वनिराकरणं शब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मतांशाऽस्पृशित्वात् ।

यत्पुनः प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्; तदपि न युक्तम्; यैतः किं प्रमेयमत्राऽभिप्रे-
तम्— किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषितं वा सत्त्वम् ? तत्र सत्तामात्रं तावद् आगमा-
देवाऽवगतमिति न प्रमाणान्तरप्रमेयतामवलम्बते । बहिर्देशविशेषितं तु सत्त्वं भवति
प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेशः । गृहे चैत्राभावग्राहकं हि प्रमाणं तत्रैव तत्सद्भा-
वावेदकं प्रमाणमपाकरोति न पुनः बहिस्तत्सदसत्त्वचिन्तां करोति ।

“युतस्य जीवतो दूरे तिष्ठतः प्राङ्गणेऽपि वा ।

गृहाभावपरिच्छेदे न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥” [न्यायसं० पृ० ४३]

(१)पृ० ५०७ पं० १२ । (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि—आ० टि० । (३) वाक्यप्रतिपन्नात् ।
(४) तुलना—“साध्यनुमानमेव, व्याप्तेः पूर्वमेव ग्रहणात् । तथाहि—देवदत्तो बहिर्देशसम्बन्धी जीवन-
सम्बन्धित्वे सति गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत् ।”—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५९१ । “तदापि गेहा-
युक्तत्वं दृष्ट्याऽप्युपलब्धमिति चिन्तम् । अतस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावसीयते ॥ सद्यः यो ह्यसंस्पृष्टो
नियतं बहिरस्त्यसौ । गेहाङ्गणस्थितो दृष्टः पुमान् द्वारिस्थितैरिव ॥ विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनात्तर्गतो
नरः । अर्थापत्तिरियं तस्मादनुमानात् भिद्यते ॥”—तत्त्वसं० पृ० ४७० । प्रमेयक० पृ० २०३ । सम्प्रति०
टि० पृ० ५८६ । स्या० २० पृ० ३०८ । “चैत्रस्य गृहाभावो धर्मी बहिर्भावेन तद्वानिति साध्यो धर्मः
जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात् पूर्वोपलब्धैर्विधगृहाभाववत् ।”—न्यायसं० पृ० ४३ । “तदप्यनुमानमेव,
यदा खलु सन्नैक नास्ति तदाऽप्यत्रास्ति, यदा वाऽप्यपक एकत्रास्ति तदाऽप्यत्र नास्ति, सोऽयं स्वशरीर
एव व्याप्तिग्रहः सुकरः । तथा च सतो गेहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानम् ।”—न्यायवा०
ता० पृ० ४३८ । साध्यतत्त्वको० पृ० ४४ । प्रश्न० कन्द० पृ० २२३ । न्यायकुसु० ३१९ । प्रश्न०
किण० पृ० ३२४ । वेशे० उप० १२१ । (५) पृ० ५०९ पं० ८ । (६) तुलना—“किं प्रमेयमभिप्रे-
तमत्र भवतां किं सत्तामात्रमुत बहिर्देशविशेषितं सत्त्वम् ।”—न्यायसं० पृ० ४३ । स्या० २० पृ० ३०९ ।
(७) गृह एव । (८) “युतस्य”—न्यायसं० । “युतस्य जीवतो वा दूरे प्राङ्गणेऽपि वा । तिष्ठतश्चैत्रस्य
गृहाभावपरिच्छेदे विशेषाभावात् ।”—स्या० २० पृ० ३०९ ।

१—स्य प्रस—अ० । २—न्यायतत्त्वप्रति—अ० । ३—प्रतिपत्तिरिति आ० । ४ मत्प्रमा—आ० ।
५—यान्तरं प्रमे—अ० । ६—परिच्छेदनवि—अ० ।

जीवनविशिष्टस्त्वसौ^१ गृह्यमाणो लिङ्गतामेव प्रतिपद्यते व्यभिचाराभावात् । न च विशेषणग्रहणमेव प्रमेयग्रहणम् ; यतो जीवनमन्यद् अन्यच्च बहिर्भावाख्यं प्रमेयमिति ।

अथ मतम्—जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिरिति; तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेर्बहिर्भावप्रतीतिर्भवति, न तु तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः । न हि दैहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिर्दृष्टा । अथ धूमादन्यो दहनः तेनैत्र तत्प्रतीतिभेदो युक्तः; तदेतदन्यत्रापि समानम्—गृहाभाव-जीवनाभ्यां तद्बहिर्भावस्यापि अन्यत्वात्, तत्कथमत्रापि तत्प्रतीत्योरभेदः स्यात् ? यथा च पर्वत-बह्वयोः सिद्धत्वात् मत्त्वर्थमात्रं तत्र अपूर्वमनुमेयमेवमिष्टम्, एवमिहापि बहिर्देशमात्रम् अपूर्वमनुमेयमस्तु । यदि तु तदधिकं प्रमेयमिह नेष्यते, तदा गृहाभावजीवनयोः स्वप्रमाणाभ्यामवधारणाद् आनर्थक्यमेव अर्थापत्तेः । तस्मात् प्रमेयान्तरसद्भावात् तस्य चाऽननुप्रवेशान्न कश्चिदोषः । अर्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः, तत्रापि अर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात् । तस्य तस्मात् प्रतीतिरिति यत्र व्यवहारः तत्रावश्यं तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशदोषोऽनुपपद्यते, स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यात् ।

ननु चाभावो निश्चितो लिङ्गं भविष्यति, सदसत्त्वग्राहिणोश्च प्रमाणयोः विरोधे कथं तन्निश्चयः ? अतो यावदागमस्य बहिर्भावविषयता न प्रतीयते तावन्न गृहैर्वाऽभावनिश्चय इति, तस्यै निश्चये प्रमेयानुप्रवेशदोषानुपपन्नः, अर्थापत्तिस्तु प्रमाणद्वयविरोधे सत्येव

(१) गृहाभावः—आ० टि० । (२) तुलना—“जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेः बहिर्भावः प्रतीतिः न तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः । न हि दहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिः, किन्तु धूमादन्य एव दहनः, इहापि गृहाभावजीवनाभ्यामन्य एव बहिर्भावः, पर्वततद्बह्वयोस्सिद्धत्वान्मत्त्वर्थमात्रं तत्रापूर्वमनुमेयम्, एवमिहापि बहिर्देशयोगमात्रमपूर्वमनुमेयम् ।” —न्यायसं० पृ० ४३ । स्या० २० पृ० ३०९ । (३) जीवतो गृहाभावबहिर्भावयोः—आ० टि० । (४) ‘पर्वतो बह्विमान्’ इति रूपम् । (५) भावस्य जीवनेनैव सिद्धत्वात्—आ० टि० । (६) गृहाभावग्राहकं हि अभावप्रमाणम्, जीवनग्राहकञ्च आगमप्रमाणमिति । (७) बहिःसद्भावः । (८) तुलना—“अर्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः, तत्राप्यर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात् । दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पनेत्येव ग्रन्थोपनिबन्धात् । तस्य तस्मात्प्रतीतिरिति तत्र व्यवहारस्तत्रावाच्यः (?) तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशो दोष एव । स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यादिति ।” —न्यायसं० पृ० ४४ । स्या० २० पृ० ३०९ । (९) तस्य साध्यस्य तस्मात् साधनात् प्रतीतिरिति व्यवहारश्च अनुमान इवापत्तावप्यस्ति—आ० टि० । (१०) यथा स्वभावहेतोर्निश्चयबुद्धयेव वृक्षबुद्धौ जातायां प्रमाणात्परेण न कार्यम्, तथात्रापि गृहाभावेनैव लिङ्गेन बहिर्भावस्यावगतत्वात्तार्थापत्त्या कार्यम्—आ० टि० । (११) अपि तु सर्वत्रैवाभावः—आ० टि० । (१२) य एव जीवनतो गृहाभावनिश्चयः स एव बहिर्भावनिश्चयः इति, अतो गृहाभावाख्यो हेतुः प्रमेयं बहिर्भावाख्यमनुप्रविष्ट इति भावः—आ० टि० ।

१—शिष्टश्चासौ व० । २ विशेषग्रह—श्र० । ३ बहनादिकारण—श्र० । ४ तेन तत्प्र—श्र० । ५ प्रतिपत्तिरिति श्र० । ६—सिद्धिः आ०, व० ।

प्रवर्तते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम् ; सँदसत्त्वज्ञानयोः असमान-
विषयतया विरोधाऽसिद्धेः । आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते
न गृहे बहिर्वा, प्रत्यक्षेण तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति । समानविषयत्वे तु तैयोरन-
न्यथासिद्धाऽध्यक्षबाध्यत्वेन औगमजज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव नाऽऽन्तरकल्पनाकारणत्वम् ।

- 5 अथ मत्तम्—अनुमाने गमकविशेषणम् अन्यथानुपपन्नत्वं 'बहिं विना धूमो नोप-
पद्यते' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते । गम्यो हि बहिर्भावः,
स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् बहिरस्तीत्येवं गम्यगमकयो-
रनुपपन्नमानत्वे विपर्ययात् प्रमाणान्तरमनुमानादर्थोपपत्तिरिति; तैदृष्यसङ्गतम्; 'साध्या-
विनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम् । तैश्चार्थापत्तौ
10 अस्त्येव । न हि तदुत्थापकार्यस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः; ततः तैस्तिद्धभाव-
प्रसङ्गात् । स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकवि-
शेषणं वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थोपपत्त्यनुमानयोः भेदः, अन्यथा 'सूर्यस्य गम-
नशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्षधर्मत्वसहिताया अर्थापत्तेः 'बह्वेर्दाह-

(१) तुलना—'तथाहि—सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते चैत्रस्य गृहाभावेन गेहसत्त्वं वैकत्रास्य । न तावद्यत्र
वचनं वस्तव्यास्ति विरोधः गेहेऽसत्तया समानविषयत्वाभावात्' 'गृहाभावावच्छिन्नज्ञानेन गृहसत्त्वं
विरुद्धत्वात्प्रतिविध्यते न तु सत्त्वमात्रम् तत्र तस्यैवासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सतो बहिर्भावाऽ-
नुमीयत इति युक्तम् । एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोरविरोधापादनं विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषयः
परास्तः; अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोरविरोधात् ।'—न्यायवा० ता० पृ० ४३९ । सांख्यतत्त्वकी० पृ०
४४ । 'अनियम्यस्य नायुक्तिः तानियन्तोपपादकः । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥'—
न्यायकुमु० ३।१९ । (२) नियतदेशविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्—आ० टि० । (३) अवलगागमजं
ज्ञानमनियतदेशविषयत्वात्—आ० टि० । (४) प्रभाकरस्य । 'यदि यद्येन विना नोपपद्यते तदेवाव-
गमकं स्यात्, इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते । किं चात्र नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात्
अन्यत्राभावो नोपपद्यते । ततः किम् ? नात्राभावस्य गम्यता । कस्य तर्हि ? भावस्य । न चासौ
गृहाभावदर्शनेनोपपद्यते । बाह्यं नोपपद्यते । न हि गृहाभावदर्शनेन विना बहिः भाव उपपद्यते ।'—शाबर-
भा० बृह० १।१।५ । 'विना कल्पनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमर्थं या साऽऽर्थापत्तिस्तु
कल्पना ॥ अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना । नयताऽनुपपन्नत्वं कल्प्यमाना बहिर्यथा ॥
गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना । मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम् ॥ देशेन हि विना
भावो न कदाचन दृश्यते । विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहमाच्छेति ॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या
प्रवर्तते । सन्देहापादाकार्यादर्थोपत्तिरसौ स्मृता ॥ गमकस्यानुमाने तु विपक्षासत्त्वलक्षणम् । गम्यतेऽ-
नुपपन्नत्वं विना गम्येन वस्तुना ॥ तस्मान्नाग्निभेदेन भित्ते एते परस्परम् । अर्थापत्त्यनुमानास्थे प्रमाणे
इति निश्चितम् ॥'—प्रक० पं० पृ० १२८ । तुलना—न्यायमं० पृ० ४४ । (५) तुलना—'एतदपि
ग्रन्थवैषम्योपपादनमात्रम् न तु नूतनविशेषतोऽपेक्षणम्; गम्ये तावद्गृहीते सति तद्गतमनुपपन्नमानत्वं
कमवधारयंत, गृहीते तु गम्ये किं तद्गतानुपपन्नमानत्वग्रहणेन साध्यस्य सिद्धत्वात्...'—न्यायमं० पृ०
४४ । (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्यात् । (७) साध्यम् ।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्तेः' इति तद्वहितार्थापत्तिः प्रमाणान्तरं स्यात्, तथा च प्रमाणसंख्याव्याघातः । नियमवतोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तथोरभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरेत्राप्यविशेषात् कथमनुमानादर्थपरोर्भेदः स्यात् ?

असिद्धञ्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम्; गृहे चैत्राभावे एव बहिस्तत्सद्भावगमके तस्य विशेषणत्वसम्भवात् । नहि तस्यैतद्विशेषणत्वे कश्चिद्दोषः सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत । न च सर्वस्यामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति; प्रत्यक्षादिप्रभवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादेः अविनाभावविशेषणत्वसंभवात् । न खलु तत्र गम्यायाः शक्तेः स्फोटं विनाऽनुपपत्तिः सम्भवति; तस्मिन्तरेणापि अस्यैः सद्भावाभ्युपगमात् ।

यथान्यदुक्तम्—'पक्षधर्मतानिश्चयसमये साध्यस्य नियतदेशतया अत्राऽप्रतीतेः अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; गृहाभावाख्यधर्म्यच्छेदेन बहिर्भावस्य प्रतीतेः, धर्मा एव हि देशशब्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्रास्त्येवेति न ततस्तद्वैलक्षण्यम् ।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्; तदपि न; यतः 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः' इत्युक्तम् । अतश्च 'देशान्तराणामानन्यान्न न तत्र नास्तित्वेन सम्बन्धग्रहः' इत्याद्युक्तम्, अनियतसाध्यसाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्वभावत्वात्तस्यैव । कथमन्यथा धूमस्य अनग्निरव्यतिरेकनिश्चयः तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात् ? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ युक्तः; अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात् । न च सत्तामात्रेणासौ तद्वेतुः; अन्यथैव व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाङ्गतोपपत्तेः ।

किञ्च, असैवगतद्रव्यस्य चैत्रादेः नियतदेशवृत्तेः तदन्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षतः,

(१) शक्तिर्वह्नौ स्फोटश्च करतलादौ इति न स्फोटस्य पक्षधर्मता-आ० टि० । (२) पक्षधर्मत्वसहिततद्वह्नियोरर्थापत्योश्चेदभेदः; तदाऽनुमानार्थापत्योरपि तथास्तु-आ० टि० । षडेव प्रमाणानीति प्रमाणसंख्याव्याघातः सप्तमस्य प्रसिद्धेः । (३) पक्षधर्मत्वसहित-तद्वहितार्थापत्योः । (४) अर्थापत्तावपि । (५) गमकस्य विशेषणमविनाभावः-आ० टि० । (६) अविनाभावस्य । (७) गमकविशेषणत्वे । (८) स्फोटादिकं विनापि । (९) शक्तेः । (१०) पृ० ५११ पं० ६ । (११) अर्थापत्तौ । (१२) पृ० ५१० पं० १५ । (१३) तर्कनिरूपणप्रसङ्गे, पृ० ४२६ । (१४) ऊहस्य । (१५) तुलना—'अतग्निरव्यतिरेकनिश्चये च धूमस्य भवतां का गतिः । या तत्र वार्ता संवेदापि नो भविष्यति । न च भूयोदर्शनावगम्यमानान्वयमात्रैकशरणतया यस्य वस्त्वन्तराभावो गम्यस्तस्यैव दुष्यति । मम त्वदृष्टिमात्रेण गमकाः सहचारिणः ॥' (मी० इलो० अर्था० इलो० ४०) इति कथयितुमुचितम्; अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाभावादिति ... पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकोऽपि नागृहीतोऽनुमानाङ्गम् ।"—न्यायमं पृ० ४५ । (१६) धूमो हेतुः । (१७) तुलना—'असर्वगतस्य द्रव्यस्य नियतदेशवृत्तेरक्लेशेन तदितरदेशानास्तित्वावधारणम् ।"—न्यायमं पृ० ४५ । न्यायवा० ता० पृ० ४३८ । सांख्यतत्त्वको० पृ० ४३ । 'दृष्टमेतत्—अव्यापकं द्रव्यमेकत्रास्ति तदन्यत्र नास्तीति यथा प्राचीप्रतीच्योरेकत्रोपलभ्यमानः सविताऽन्यत्र न भवतीतीदं दर्शनबलेनैवमवधार्यते ।"—प्रज्ञा० कन्द० पृ० २२३ । (१८) परिमितदेशवृत्तित्वादिति हेतोः ।

१ पूर्वस्यामर्थाप-ब० । २ प्रतीतिः आ० । ३ धर्मं बहिर्वेश-ब० । ४ तदव्ययमुक्तम् यतः अ०, ब० ।

५ सम्बन्धग्रहणमित्या-ब० । ६ सौ अनि-अ० । ७ तदन्यदेशे प्रतिनियते च अनु-ब० ।

अप्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुपपन्नः ? तच्चानुमानम्—देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत् । न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतदित्यभिधातव्यम्; तैत्प्रक्षस्य प्रत्यक्षादिधाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थान्तर-

5 त्वाऽसिद्धेः सिद्धः परेषां प्रमाणसंख्याव्याघातः ।

ननु भवेतामप्येवं प्रमाणसंख्यानियमविरोधस्तुल्यः 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाण-प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविशेषात्' इत्यारेकापनोदार्थमाह—'सर्वस्य' इत्यादि । सर्वस्य अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्रमाणप्रपञ्चस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् नाऽस्माकं कश्चिदोषः । कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत् ? तैल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षण-
10 लक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुखादिसंवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिसंवेदनस्य सुखादिसंवेदनस्य च विपर्ययेभेदान् सामिप्री-भेदाच्च अन्योन्यं वैलक्षण्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवैशद्यस्वभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

नन्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदैः परिगणितत्वात्
15 कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भावः, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्; उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधकत्वात् । दर्शनस्मरणकारणकं हि सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञानं दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यदि-

(१) तुलना—'देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति'—न्यायम्० पृ० ३८ । (२) 'ननु देशान्तरं शून्यं चैत्रेणैवं प्रतीयते । तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थित-देशवत् । विरुद्धाव्यभिचारित्वं तद्वदेव हि गम्यते । समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्तं भवति—न तावदेशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्संयुक्तदेशव्यतिरिक्तदेशत्वादिति हेतुः संभवति, सन्दिग्धत्वात्, देशान्तराण्यपि तत्संयुक्तानि न वेत्येतावदेव विचार्यते । कथं तेषां तत्संयुक्तदेशाद् व्यतिरेकसिद्धिः । यदि परमेवमुच्यते—यमेवाधुना चैत्रोऽधिष्ठितोऽपवरकदेशं तद्व्यतिरिक्तत्वादिति; एवं विधश्चाप्रयोजको हेतुः, इतरथा हि शक्यते—चैत्रयुक्तं देशान्तरं तत्समीपव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवदिति ।'—मी० श्लो० अर्था०, न्याय० पृ० ४६१-६२ । (३) 'प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वाद्धेवाभास एव ।'—न्यायम्० पृ० ४५ । (४) मीमांसकानाम् । (५) जैनामपि । (६) उपमानादयः परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात् । तुलना—'यदेकलक्षणलक्षितं तद्व्यतिरिक्तमेदं प्रमेयमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षितं चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितञ्च शब्दादीति ।'—प्रमेयक० पृ० १९२ । सम्मति० टी० पृ० ५९५ । स्था० २० पृ० २८३ । (७) रूपादि-सुखादिलक्षण । (८) चक्षुरादिमानसादिरूप । (९) लघीयस्त्रयस्य 'ज्ञानमार्थं स्मृति' (का० १०) इति कारिकायाम्, परीक्षा० ३।२ । प्रमाणनय० ३।२ । प्रमाणमी० १।२।२ । इत्यादिषु च । (१०) तुलना—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्था० २० पृ० २८३ ।

१ अतिनियते आ० । २—न्तरतासिद्धेः अ० । ३ प्रमाणपञ्चकस्य व० । ४ अन्योन्यवैल—आ०, व० । ५ संकल्पम् अ० ।

सङ्कलनस्वभावश्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तैत्कारणकं सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्चोपमानमिति ।

‘तद्’ इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह—यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावः तत् तस्मात् समञ्जसम् उपपन्नम् ‘प्रत्यक्षं परोक्षश्च इति एवं द्वे एव प्रमाणे’ इति । कुत 5 एतत् ? इत्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रकारेण तेषां प्रमाणानां सङ्ख्याया अनवस्थानादिति ॥ छ ॥

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्वाल्य निःशेषतः,

सम्यग्युक्तिर्महोद्युभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।

येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,

भास्वानेषं जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः ॥ छ ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघ्वीयस्त्रयालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ छ ॥



प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमखिलं व्याख्याय साभासताम्,

तस्यैव्यापयितुं कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रमः ।

मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धबुद्धेः स्फुटम्,

कः सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलः स्याद्वादभानोः परः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।

यद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥ २२ ॥

(१) उपमानं प्रत्यभिज्ञानात्मकमेव दर्शनस्मरणकारणकत्वे सति सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावत्वात् । (२) स एवायं जिनदत्त इत्येकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (३) मानस्य (४) ‘स्याद् भवेत् । किम् ? प्रत्यक्षाभं प्रत्यक्षप्रमाणभासमित्यर्थः । अक्षमिन्द्रियानिन्द्रियं प्रति नियतं प्रत्यक्षं ज्ञानमात्रम् तदिवाभातीति व्युत्पत्तेः । किं विशिष्टम् ? तैमिरादिकं तिमिरादागतं तैमिरं तदादिर्यस्य आशुभ्रमणादेः तथोक्तम् । तत् किं स्यात् ? प्रमाणं भवति । कथम् ? कथञ्चित् भावप्रमेयापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा, न सर्वथा प्रमाणाभासमेव, बहिरर्थाकारविषय एव ज्ञानस्य विसंवादात् स्वरूपापेक्षया तस्याविसंवादात् । अत्राविनाभावं दर्शयति यदित्यादि । यज्ज्ञानं यथैव यावद्विषयावबोधनप्रकारेण अविसंवादि, विसंवादी गृहीतार्थव्यभिचारः तद्वहितमविसंवादि, तज्ज्ञानं तथा तावद्विषयावबोधन-

१—कारण संकलन—आ०, श्र० । २ तत्कारणं साद्—व० । ३—महामुनिः पु—व० । ४—नेष जयत्यरोक्षमहि—व० । ५ श्रीमतप्रभा—व० । ६ परिच्छेदः समाप्तः ॥ व० । ७—त्वेन सिद्धविज्ञा—व० ।

विवृतिः—तिमिराद्युपसृवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्सङ्ख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्, प्रमाणेतत्पच्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र प्रमाणमेव समारोपच्यवच्छेदाकाङ्क्षणात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः ? कृतस्य करणायोगात्, तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणादिष्टेः । तदस्य विसंवादोऽपि अवस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसंवादकत्वात् ।

प्रकारेण प्रमाणं मतमिष्टं परीक्षकैरिति । तथाहि—सर्वं संशयादिकं प्रमाणाभासं स्वरूपापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा प्रमाणं भवति तत्राविसंवादित्वात्, यद्यत्राविसंवादि तत्तत्र प्रमाणं यथा रसे रसज्ञानम्, अविसंवादि च संशयादिकं स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा, ततस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति । विसंवाद एव खल्वप्रागप्यनिबन्धनम् अविसंवादश्च प्रागप्यनिबन्धनमिति न्यायस्य सकलवादिसम्मतत्वात् सर्वथा प्रमाणाभासस्य न्यायशून्यत्वात् । ‘बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निमित्तञ्च ते’ (आप्तमी० श्लो० ८३) इति वचनात् । न हि ज्ञानं स्वरूपे विसंवादि तस्याहम्प्रत्ययसिद्धत्वात् । प्रसिद्धे च विषये प्रवर्तमानं कथमप्रमाणं स्यादिति ।—लघी० ता० पृ० ४२ । अस्यां कारिकायां यद्विमानादिना तैमिरादिकं प्रत्यक्षाभासमुक्तम्, तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यक्षाभासतां दर्शयति । दिग्नागादेः प्रत्यक्षाभास-स्वरूपप्रदर्शका ग्रन्थास्त्वित्यम्—‘आन्तिस्संवृत्तिसञ्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मरणक्षामिलापश्चेत्य-क्षाभासं सतेमिरम् ॥ अथ मरीचिकादिषु जलादिकल्पनात् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम् । संवृत्तिसत्यं हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम् । अनुमानं तत्फलञ्च पूर्वानुभवकल्पनात् प्रत्यक्षम् ।’—प्रमाणममु०, वृ० ११८ । “त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् । अविकल्प-कमेकञ्च प्रत्यक्षाभासं चतुर्विधम् ॥ त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभासम्—मरीचिकायां जलादिकल्पनात् आन्ति-ज्ञानम् । संवृत्तौ विसंवादव्यवसायसंवृत्तज्ञानम्, पूर्वदृष्टकल्पकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम् । अविकल्पकञ्चैकं प्रत्यक्षाभासम्, कीदृशम् ? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपधातः तस्माद्भवो यस्य ततथा । एवञ्च चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासम् । नन्वविकल्पकं प्रत्यक्षम्, ततस्त्रयमपीदं सविकल्पकत्वादिकः प्रत्यक्षाभासः । तत्किम् ? आन्तिज्ञानं मृगतृणिकायां जलावसायि । संवृत्तमतो द्रव्यादेर्ज्ञानम् । अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, आनुमानिकं लिङ्गज्ञानम् । स्मार्तम् स्मृतिः । आभिलाषिक-ञ्चेति विकल्पप्रभेद आचार्यदिग्नागेनोक्तः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८८ । तुलना—“पीतसंज्ञादिषु विज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्येतरभावात्, संस्थानमाश्रयक्रियाप्रसिद्धावयवे ज्ञानं प्रमाण-मनुमानम्, ततोऽनुमानं संस्थाने संस्थायः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च ।”—प्रमाणवार्तिकाल० प्रथमपरि० । (५) तुलना—“यथा यत्र विशदं तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता ॥ (पृ० ६५ B.) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।”—सिद्धिर्वि० टी० पृ० ८६ A. । “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ।”—सर्वार्थश्लो० पृ० १७० । सिद्धिर्वि० टी० पृ० ६९ B. । “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात् ।”—अष्टसह० पृ० १६३ । “यद्यथैवासंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् । विसंवाद्यप्रमाणञ्च तदव्यक्षपरि-क्षयोः ॥”—सम्प्रति० टी० पृ० ५९५ ।

(१) तुलना—“यनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रागप्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयो-रपि प्रायशः सङ्कीर्णप्रागप्येतरस्थितिरुक्तव्या । प्रसिद्धानुपहृतदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्या-द्यभूताकारावभासनात् । तथोपहृताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । तत्प्रत्यक्षपेक्षया व्यपदेश्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् ।”—अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २७७ । “अनुपप्लुत-दृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम् । तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु ॥”—सर्वार्थश्लो० पृ० १७० । उद्धृतेयं समग्रा विवृतिः—सम्प्रति० टी० पृ० ५९५ ।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि यदेकान्तेन वादिनां लोकानां
 वा प्रसिद्धं तत्कथञ्चित् स्याद् भवेत् प्रमाणम् नैकात्नेन तदा-
 कारिकार्थः— भासम् इत्यभिप्रायः । किं तद् ? इत्यत्राह—तैमिरादिकमिति ।
 तिमिरादागतं तैमिरम् आदिर्यस्य आशुभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतद् ? इत्याह—
 ‘यद्यथा’ इत्यादि । यतो यद्विज्ञानं येनैव प्रकारेण अविसंवादि तद् विज्ञानं तेनैव 5
 प्रकारेण प्रमाणमभिप्रेतम् । तथा च “कल्पनापोढमभ्रान्तम्” [न्यायबि० १।४] इत्यत्र,
 “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि” [न्यायसू० १।४] इत्यत्र, “सत्सम्प्रयोगे”
 [जैमिनिसू० १।१।४] इत्यादौ च यद्भ्रान्तोदिग्रहणं भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं तद् यदि सर्वथा अप्रत्य-
 क्षत्वात् तेनोपसार्थते तदा प्रमाणविरोधः । अथ कथञ्चित् ; तदा एकान्तहानिरित्युक्तं भवति ।
 कारिकां व्याचष्टे “तिमिर” इत्यादिना । तिमिरादीनां कार्यभूतं यद् उपस- 10
 र्जज्ञानं द्विचन्द्रादिविषयं तत् चन्द्रादौ आदिशब्देन धावत्यवर्तुलत्वा-
 विवृतिव्याख्यानम्— दिपरिग्रहः तत्र प्रमाणम् । कुत एतत् ? अविसंवादकं यतः तत्राशे ।
 अत्र दृष्टान्तमाह—यथा इत्यादि । यथा तत् तिमिराद्युपप्लवज्ञानं संख्यादौ द्वित्वस्थि-
 रत्वादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम् । यदि नाम तत्तथाविधं किमेतावता प्रमाणेतर- 15
 रूपं भविष्यति इत्याशङ्क्य आह—‘प्रमाण’ इत्यादि । प्रमाणञ्च इतरञ्च अप्रमाणं तयोः
 व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् संवादविसंवादलक्षणत्वात् । ननु कथं तदेव प्रमाणमि-
 तरञ्च युक्तं विरोधादिति चेत् ? अत्राह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञानं
 भवत्कल्पितं निर्विकल्पकवेदनं यदपि इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थतः अर्था-
 कारताया ज्ञानेऽसंभवात्, तदसंभवश्च प्रपञ्चतः प्रागेवं तत्प्रतिषेधात् सिद्धः । अभ्यु-

(१) “तिमिरमक्ष्णोर्विल्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादेः, मन्दं हि
 भ्रम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुपपद्यते, तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्, एतच्च विषयगतं
 विभ्रमकारणम् । संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्, वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्ति-
 रूपद्यते, एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम् । सर्वैरेव च विभ्रमकारणैः इन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिका-
 श्रयगतैरिन्द्रियमेव विकतं व्यम् । अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियप्रान्त्ययोगात् । आदिग्रहणेन काचकामलादय
 इन्द्रियस्या गृह्यन्ते । आशुनयनानयनादयो विषयस्थाः । आशुनयनानयने हि कार्यमाणेऽलातादावनि-
 वर्णदण्डभासा भ्रान्तिर्भवति । हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्थाः गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था
 विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते ।”—न्यायबि० टी० पृ १६-१७ । (२) ‘प्रत्यक्षम्’ इति शेषः । (३) “इन्द्रि-
 यार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।”—न्यायसू० १।१।४ । (४)
 “सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्य तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।”—जैमिनिसू०
 १।१।४ । (५) आदिपदेन अव्यभिचारिसत्सम्प्रयोगजयोः परिग्रहः । (६) भ्रान्तम्—आ० टी० ।
 (७) अभात्तादिग्रहणेन । (८) अप्रत्यक्षत्वात्तेनापसार्थते इति सम्बन्धः । (९) संवादविसंवाद-
 लक्षणत्वात्—आ० टी० । (१०) पृ० १६७ ।

१ यदेकान्तवादिनां श्र० । २ यदि ज्ञानं आ० । ३-तज्ज्ञानं आ० । ४ एकांशतः हानिः श्र० ।
 ५ न तज्ज्ञानं ब० । ६-कसंवेदनम् श्र० । ७ सिद्धः अतोऽभ्युप-ब०, श्र० ।

- पगम्याप्युच्यते—यथोक्तं ज्ञानं यदपि वस्तुन करोति यदाकारं भवति तत्र वस्तुनि प्रमाणमेव, 'नहि' इत्यभिसम्बन्धः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः। कुत एतद् ? इत्याह—'समारोप' इत्यादि। क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानं समारोपः तस्य व्यवच्छेदो निरासः तस्य आकाङ्क्षाणात्। तदनभ्युपगमे दूषणमाह—'कथम्' इत्यादि। कथमन्यथा तदा-
 5 काङ्क्षाणाभावप्रकारेण हृष्टे दर्शनविषयीकृते क्षणभङ्गादौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य वृत्तिः ? न कथमपि इत्यर्थः। नहि समारोपव्यच्छेदात् अन्यत्तस्यै फलम्। अथ न समारोपनिषेधार्था तत्रास्य प्रवृत्तिः। किं तर्हि ? ग्रहणार्था, इत्याह—'कृत' इत्यादि। कृतस्य अनुभवेन अनुभूतस्य क्षणभङ्गादेः अनुमानेन करणस्य ग्रहणस्य अयोगात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेऽप्यस्मिन् अनुमानान्तरेण ग्रहणप्रसङ्गात्।
 10 अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह—'तद्' इत्यादि। तदेकान्तः कृतैकान्तः "एकस्यार्थस्वभावस्ये" [प्रमाणवा० ३।४२] इत्यादिवचनात्। यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य हानेः हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः ? तद्धानिः कुतः ? इत्याह—'कथञ्चिद्' इत्यादि। कथञ्चित् नीलादिरूपेण न क्षण-
 15 भङ्गादिरूपेण यत् करणं वस्तुनो ग्रहणं तस्याऽनिष्टेः, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात्। उपसंहारव्याजेन दूषणान्तरमाह—'तद्' इत्यादि। यत एव तत् तस्मात् अस्य अर्थाकारदर्शनस्य विसंवादेऽपि विप्रलम्भोपि न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव। कुत एतत् ? इत्याह—अवस्तुनिर्भासात्। अवस्तुनो भवन्मते बहिरन्तर्वासत एव स्थूला-
 कारस्य निर्भासाद् अनुकरणाद् दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः। व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौगतस्य इष्टतत्त्वसिद्धिः। अथ निरन्वयविनश्वरादिवस्तुस्वरूपानु-
 20 करणेऽपि नीलादिसत्त्वेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तत्प्रामाण्यम्, इत्याह—'चन्द्रादि' इत्यादि। चन्द्रादि च तद् वस्तु च तस्य निर्भासानाम् उपप्लवज्ञानसम्बन्धिप्रति-
 भासानां प्रामाण्यं स्यात् 'प्रमाणम्' इत्येतदनुवर्त्तमानं लब्धभावप्रत्ययमिह सम्बद्ध्यते। कुत एतद् ? इत्याह—अविसंवादकत्वात्। न खलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावत्यवर्त्तु-
 लत्वादौ विसंवदति इति। एवं तावत् यत् परेण प्रत्यक्षां तैमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं
 25 तदपि कथञ्चित् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम्।

(१) क्षणिकादेरग्रहणादप्रमाणं निविकल्पकम्, यदि हि क्षणभंगादि निविकल्पकप्रत्यक्षेणैव गृहीतं स्यात्तदा तत्साधनार्थमनुमानं किमर्थं प्रयुज्यत इति हृदयम्—आ० टि०। (२) अनुमानस्य। (३) निविकल्पकप्रत्यक्षेण। (४) यद्धि वस्तु तत्सर्वस्मिन्ना कृतं गृहीतं निविकल्पेन इत्येकान्तः कृतैकान्तः। (५) "एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽप्यो भागो न दृष्टः स्यात् यः प्रमाणः परीक्ष्यते॥"—प्रमाणवा०। उद्धृतस्वभावम्—न्यायसं० पृ० ९३। अभि० आलोको० पृ० १५२। सिद्धिबि० टी० पृ० ७१ A.। तत्त्वावश्लो० पृ० ४०५। प्रमेयको० पृ० २३६। सन्मतितो टी० पृ० ५०५। न्यायवि० वि० पृ० ४९६ B.। स्या० २० पृ० ५३४। शास्त्रवा० प्रश्नो० पृ० १५८ B.। (६) अग्रहणेऽपि—आ० टि०।

1 तथोक्तं—श०। 2 इत्यात्राह श०, व०। 3 करणस्यायोगात्—व०। 4 अणैकान्तः व०। 5 न च क्षण—श०। 6 'विप्रलम्भोऽपि' नास्ति व०। 7 तैमिरादीन्द्रि—श०, व०।

साम्प्रतं कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञानं तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह—

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।

संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृतिः—सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं 5 खलक्षणम्, प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवास्मरणात् । तस्मादविशदमेव अवि-
कल्पकं प्रत्यक्षाम् । न च विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरा-
र्थप्रत्यक्षानाम् एकार्थविषयतोपपत्तेः ।

स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केषाम् ? इत्याह—विकल्पानाम् । किं तद् ?

कारिकार्थः— इत्याह—**विशदार्थावभासनम् । कुत् एतत् ? इत्याह—‘संहृत’** 10

इत्यादि । **संहृता अशेषाश्चिन्ता** यस्यामवस्थायां तस्यामपि **सविकल्पकस्यैव**
ज्ञानस्य **अवभासनात्** । ततो यदुक्तं परेण—“न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभा-
सतो ।” [प्रमाणवा० २।२८३] इत्यादि, “प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।”
[प्रमाणवा० २।१२३] इत्यादि च; तन्निरस्तम्; प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ५२१ टि० ४।(२) “भवति । किम् ? स्वसंवेद्यम् स्वेन तत्त्वज्ञानात्मना संवेद्यं ग्राह्यम् स्वसंवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । वेद्यवेदकाकारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्त्यथा अवस्तुत्वापत्तेः । किं विशिष्टम् ? विशदार्थावभासनम् अर्थस्य परमार्थसतोऽवभासनमवबोधनमर्थवभासनम् विशदं स्पष्टं तच्च तदर्थवभासनं च तत्तथोक्तम् । केषाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं गायकोऽयमित्यादिनिश्चयज्ञानानाम् । कुतः ? सविकल्पावभासनात्, विकल्पो जात्याद्याकारावबोधः सह विकल्पेनेति सविकल्पकं तस्यावभासनादनुभवात् । कदा ? संहृताशेषचिन्तायाम्, संहृता नष्टा अशेषाः स्मृत्यादयश्चिन्ता विकल्पा यस्यामवस्थायां सा तथोक्ता तस्याम् । चक्षुरादिबुद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्य अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यर्थः ।”-लघी० ता० पृ० ४३ । (३) धर्मकीर्तिनोक्तं यत्—शान्तचेतस्कृतया चक्षुषा यद्रूपदर्शनं भवति तन्निविकल्पकम् । तस्मिंश्च रूपस्वरक्षणं क्षणिक-परमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि—“संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥”-(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्—यत्तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते । तुलना—“संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनातरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वञ्च स्पष्टं व्यवस्यति ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६ । (४) तुलना—“न हि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्, नानावयव-रूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ।”-सिद्धिचि०, टी० पृ० ३६ B. । (५) “न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता । न विकल्पेनानुबद्धस्य संस्तुतस्य ज्ञानस्य स्फुटार्थावभासिताऽस्ति ।”-प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिचि० टी० पृ० २८ B., ९५ A. । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२० । सन्मति० टी० पृ० ५०२ । न्यायचि० वि० पृ० ७७ A. । ‘न विकल्पानुबद्धस्य’—शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B. । ‘निविकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थः प्रतिभासते’—न्यायचि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) “प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।

- इदमपरं व्याख्यानम्—**स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनग्राह्यं यद्रूपम् । केषाम् ? **विकल्पाणाम्** अनुमानादिमानसज्ञानानाम् । तत्किम् ? **विशदार्थावभासनम्** निर्विकल्पकमभ्रान्तम् इत्यर्थः । कदा ? **संहृताशेषचिन्तायाम्** । केन रूपेण ? 'स्वसंवेद्येन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । किं कृत्वा ? **सविकल्पावभासनात्** तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः । ततस्ते विकल्पाः कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः । कारिकां विवृण्वन्नाह—'सर्वतः' इत्यादि । सर्वतः सजातीयाद् विजातीयाच्च संहृत्य त्यक्त्वा । काम् ? **चिन्ताम्** परामर्शबुद्धिम् । स्थितोऽपि प्रतीपत्ता । केन रूपेण ? इत्याह—'स्तिमितेन' इत्यादि । स्तिमितः स्थिरीभूतः अपरिस्पन्दः **अन्तरात्मा** मनः तेन । स किं करोतीत्याह—'**चक्षुषा**' इत्यादि । चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणं श्रोत्रादेः, तेन रूपं पश्यति, रूपग्रहणमपि रसादीनामुपलक्षणम् । कथम्भूतम् ? **संस्थानात्मकं** वर्तुलत्वादिधर्मस्वभावम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? **स्थूलात्मकं** स्थूलस्वभावमेकम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? **सूक्ष्मानेकस्वभावम्**, सूक्ष्मोऽनेकः स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम् । ननु संस्थानादिकं गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात् ; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम् ; अनेकान्ते द्रव्यगुणयोरेवोद्गर्धणया रूपस्यापि द्रव्यधर्माऽविरोधात् । ननु चक्षुषा रूपं दृश्यमानम् अन्योन्यविलक्षणानेकान्शपरमाणुस्वैभावस्वलक्षणरूपमेव दृश्यते ननु स्थूलादिवस्वरूपम्, इत्यत्राह—'**न पुनः**' इत्यादि । पुनरिति भावनायाम्, न स्वलक्षणं पश्यति, कथम्भूतम् ? **असाधारणम्**, असाधारणः सजातीयविजातीयव्यावृत्तः **एकोऽसहायः** अन्तो धर्मो यस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतत् ? इत्याह—'**प्रतिसंहारः**' इत्यादि । संहारः अशेषविकल्पाभावः, **प्रतिसंहारः** पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः, तमाश्रित्य व्युत्थितं प्रतिबुद्धं चित्तं यस्य स तथोक्तः तस्य, तथैव असाधारणेकान्तप्रकारेण **अस्मरणात्** स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद् दर्शनम् स्थूलादिस्वभावंस्यैव तु स्मरणात् सदा दर्शनमिति ।

- '**तस्मात्**' इत्यादिना उपसंहारमाह—यस्मान्निर्विकल्पकं ज्ञानं परस्य प्रत्यक्षत्वेनाऽभिप्रेतं न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिभाति तस्माद् **अविशदमेव** **अविकल्पकं प्रत्यक्षाभम्** । ननु विशदेतरज्ञानानां विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वान्न 'स्थूलादि-
 25 प्रत्यक्षमेव' सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥ यत्तत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धं तत्कल्पनाया अपोद्धं द्रष्टव्यं कल्प-
 नार्थरहितमित्यर्थः । तच्चैतदीदृशं प्रत्यक्षेणैव स्वसंवेदनेनैव सिद्धञ्चित । कल्पनारहितस्यार्थस्य रूपस्य संवेदनस्यापरोक्षत्वात् । यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशेत विकल्पस्यापरोक्षत्वात् । तथाहि—
 —प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां प्राणिनां विकल्पो नामसंश्रयः शब्दसंसर्गावान् । स यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत् ।"
 —प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३ । उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तजय० पृ० २०७ । व्याघवा० ता० पृ० १५४ । सिद्धि० टी० पृ० १७ A., ३१ A. । प्रमेयक० पृ० ३२ । सम्मति० टी० पृ० ५०३ ।
 न्यायवि० वि० पृ० ४५ A., ८३ B., ४९५ A. । स्या० २० पृ० ८२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B.

- 1 तेन किं श्र० । 2-स्वभावलक्षणरूपमेव श्र० । 3 'असाधारणम्' नास्ति आ०, व० ।
 4-व्यावृत्तं य एको-व० । 5-वस्त्येवानुस-व० । 6-मिति यस्मा-व० । 7 अविकल्पं प्र-श्र० ।

स्वभावं रूपं पश्यति' इत्यादि युक्तम्, 'यथोर्विभिन्नप्रतिभासत्वं तथोर्विभिन्नविषयत्वं यथा रूपरसज्ञानयोः, विभिन्नप्रतिभासत्वञ्च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति । तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वं सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्याशङ्क्याह—'नच' इत्यादि । नच नैवं विशदेतरविकल्पयोः अवग्रहादिस्मरणाद्योः विषयभेदैकान्तः, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्पः प्रवर्तते, कल्पिते अविशदविकल्पः' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदविकल्पस्य विषयः । यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्; तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह—'प्रत्यासन्न' इत्यादि । प्रत्यासन्नश्च इतरश्च अप्रत्यासन्नः अर्थो येषां तानि च तानि प्रत्यक्षाणि तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसंभवेऽपि एकार्थविषयतोपपत्तेः । नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः । नापि विषयभेदः; पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात् ।

यदप्युच्यते—'प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धेः, यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा कचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधाः सत्यः कल्पना इति । न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तासामसिद्धम्; 'नैहि इमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः' इति; तद्दूषयन्नाह—

**प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥ २४ ॥**

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषये विभिन्नप्रतिभासत्वात् । (२) [अ] सिद्धः इत्यत्रापि योज्यम्—आ० टि० । (३) "यदाह—न चेमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकारसमारोपसंशयः शक्यते कल्पयितुम्....."—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १५० । (४) "न लक्ष्येरन् विविच्येरन् । काः ? कल्पना विकल्पाः । केषु ? प्रत्यक्षेषु स्वसंवेदनादिषु । किं विशिष्टा अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि । पुनः कथम्भूताः ? प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः, उत्पत्तिः स्वरूपलाभः व्ययोऽभावप्रत्ययः, प्रतिसंविदितौ प्रतिप्राणि समुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययौ यासां तास्तथोक्ताः । न खलु सत्त्वं विना उत्पादव्ययवत्त्वमनुभूयते, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।" ननु सतां विकल्पानां प्रत्यक्षबुद्धावनुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्; प्रतिपत्तुरक्षितरप्रणिधानञ्चेति ब्रूमः । अत्र निदर्शनमाह—तदित्यादि । तेषां विकल्पानां स्वलक्षणं स्वरूपं तस्य भेदः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिः स इव तद्वत् । अयमर्थः—यथा प्रतीतोत्पादव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्तिः कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धेः तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यन्ते इति । तर्हि कथमलक्षितानां तासां तत्रास्तित्वसिद्धिरिति चेत् ? न; पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेः । संहृतसकलविकल्पावस्था हि अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनावस्था, तत्रापि गोदर्शनं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्तेः ।"—लघी० ता० पू० ४४ । तुलना— "न हि संवितेः बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वयमसंविदिता एवोदयन्ते अत्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः कल्पनावत् ।"—सिद्धिचि०, टी० पू० ९८ A. ।

१ नैवं व० । २-विकल्पकस्य आ० । ३ 'प्रत्यासन्नेत्यादि' नास्ति आ०, श्र० । ४ प्रत्यक्षेण सन्ति श्र०, व० । ५ सतोऽप्यनु-आ० ।

विवृतिः—सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् अस-
मीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति
चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वाथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेन ?

प्रति प्राणि संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ यासां ताः तथोक्ताः ताः तथाविधाः

5 सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमसत्यः, प्रत्यक्षेषु, बहुवचनं
कारिकार्थः—
चतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम् । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

न च सतः प्रतिसंविदिताविर्भावविनाशवतोऽनुपलक्षणं विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थ-
नार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह—‘तत्स्वलक्षणभेदवत्’ इति । तासां कल्प-
नानां स्वलक्षणं स्वरूपं तस्य भेदः संजातीयाद्विजातीयाच्च व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति ।
10 एतदुक्तं भवति—यथा प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो न लक्ष्यते,
अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्ते इति ।

तद्भेदानुपलक्षणे परकीयां युक्तिं सदूषणां ‘सदृश’ इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं
‘प्रतिसंहारैकान्त’ इत्यादिना दर्शयति—सदृशस्य समानस्य अपर-
विवृतिव्याख्यानम्—
स्यापरस्य उत्पत्तिः तैवा विप्रलम्भः अलातचक्रवत् चक्षुषो भ्रमः

15 तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः तं प्रकृतं संजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषैर्म् अलातचक्रवन्त
पश्यतीत्येवंशीलस्य सौगतस्य अनवधारणं यद् भेदानुपलक्षणम्; तदसमीक्षिता-
भिधानम्; कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वथा भेदाभेदोभयानुभय-
प्रकारेण तासां कल्पनानां सादृश्यस्य अनिष्टेः ततः तद्भेदोपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्रायः ।
नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेदः सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना
20 इति । ततः प्रतिसंहारैकान्तः प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहैकान्तः ‘संभवति न वा’ इति
चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् ‘न संभवति’ इत्यर्थः । तत्स्वलक्षणभेदवत् तासां
तत्रानुपलक्षितानां संभवात् । ननु यद्यपि तासां तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाष-
संसर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अतः अस्याऽनुपलक्षणात्
अभर्वासिद्धेः सिद्धः प्रतिसंहारैकान्तः; इत्यत्राह—‘कथञ्च’ इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) “स्वहेतोरेव तथोत्पत्तेः क्षणस्थितिधर्मतां तत्त्वभावं पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः सत्तोपलम्भेन
सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा न व्यवस्यति ।”—प्रमाणवा० स्वब्०
१।३४ । ‘तां पुनरनित्यतां पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः नाध्यवस्यति सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशङ्काविप्र-
लम्भः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा ।”—प्रमाणवा० तिकालं० लि० पृ० २३७ । (२) इन्द्रियमनः
स्वसंवेदनयोगिलक्षणस्य । (३) क्षणभङ्गित्वम्, स्वरूपभेदवत् । (४) उवाड(?)—आ० टि० । (५)
भेदम् । (६) कल्पनानाम् । (७) कल्पनायाः लक्षणमिदम्; तथाहि—“अभिलाषसंसर्गयोग्यप्रतिभास-
प्रतीतिः कल्पना”—न्यायवि० पृ० १४ । (८) अभिलाषसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य ।

1 संजातीयाच्च व्या—आ० । 2 तदुक्तं ब० । 3 तथा आ० । 4 तद् ब्र० । 5 सर्वथेत्यादिं
नास्ति ब्र० । 6 सादृश्यानिष्टेः ब० । 7 ततस्तदभेदोप—आ० । 8 पर्यालोच्यमेतत् नास्ति आ० ।
9 ततः ब० । 10—सिद्धेः प्रति—ब्र० । 11 कथञ्चेदित्यादि ब० ।

प्रत्यक्षबुद्ध्यः, बहुवचनम् अशेषाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपवद् बहिरपि अविकल्पाः, पुनरिति वितर्के विकल्पेरन् बहिरविकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्त-प्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्ध्यः सर्वथाऽविकल्पाः सत्यः कथञ्च न पुनः पश्चाद् विकल्पेरन् विकल्पान् कुर्युः । न हि अविकल्पादनुभवाद् अर्थादिव विकल्पः संभवतीत्युक्तं सविकल्पसिद्धिप्रवृत्तेः । ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः—प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञान-तदाभासव्यवस्था ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता धीर्बुद्धिः अवग्रहाद्यात्मिका मतिः सा च 10

कारिकार्थः—

**स्मृतिश्च संज्ञा च तामिः, चिन्तया तर्केण, आभिनिबो-
धिकैः अनुमानैः व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम् तैः समस्तैर्व्यस्तैश्च व्यव-**

हाराविसंवादः, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, **अन्यथा** एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण **तदाभासः** प्रमाणाभासः । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काप्रामा-
ण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादि- 15
व्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानु-
मानादिभिः अविसंवादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषां प्रत्य-
क्षादीनां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण तदाभास-
व्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शाब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह—‘तथैव’ इत्यादि । 20
स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शाब्दं श्रुतं श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव
व्यवहारसंवाद-विसंवादप्रकारेणैव श्रुतज्ञानं तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् कचित्तद्व्यभिचारतः ॥ २६ ॥ 25

(१) यथाहि अभिलाप-अभिलप्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थात् न शब्दसंसर्गं विकल्पो जायते तथैव निर्विकल्पानुभवादिपि शब्दशून्यात् न शब्दात्मको विकल्पः समुत्पद्येत । (२) ४० ५१ । (३) “प्रमाणमित्यनुवर्तते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीनां प्रथमान्तत्वम् ‘अर्थवशाद्विभक्तिविपरि-
णामः’ इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते—अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाऽऽभिनिबोधकैश्च व्यवहारे हानो-
पादानरूपे अविसंवादादव्यभिचारः सकलव्यवहारिणां प्रतीतिसिद्धः ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः ।”
—लघो० ता० प० ४५ । (४) परोक्षस्य—आ० टि० । (५) परोक्षम्—आ० टि० । (६) “व्यवहाराविसंवाद

1 कथञ्च पुनः आ० । 2 विकल्पेनैव विक—अ० । 3-निबोधकैः ब० । 4 अभिनिबोधिकैः
ब०, अ० । 5 यथैव आ० । 6-संवादप्रकारे—अ० ।

विवृतिः—श्रुतज्ञानं वक्त्रमिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीप-
देशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति
निरारेकमविसंवादश्च ?

श्रुतं धर्मि, प्रमाणमिति साध्यो धर्मः 'अविसंवादसिद्धेः' इत्येतदनुवर्त्तमानं

5 कारिकायाः—

साधनं तेन 'अविसंवादकं श्रुतं प्रमाणं न सर्वम्' इत्युक्तं भवति ।

तदित्यभ्यूतं श्रुतं क प्रमाणमित्याह—अर्थेषु, न पुनः अभिप्रायमात्रे ।

किंविशिष्टेषु तेषु ? इत्याह—द्वीपान्तरादिषु सिद्धं शास्त्रान्तरे लोके वा प्रसिद्धम् ।

ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तैस्तत्र प्रमाणमित्याह—'अनाश्वासम्'

इत्यादि । अनाश्वासम् आश्वासाभावं न कुर्वीरन् कचिद् 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशत-

10 मास्ते' इत्यादौ तस्य श्रुतस्य व्यभिचारतो व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेपि अत

एव तद्वैवापत्तेरित्यभिप्रायः ।

ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेकाऽसिद्धितः तस्यामाप्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धेः

श्रुतज्ञानमनुमानाद-

तिरिक्तं प्रमाणमनस्य

15 गच्छतोर्वैशेषिकबो-
द्धयोः पूर्वपक्षः—

'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' इत्याद्युक्तम्; तथाहि—ईदृशोऽनुमानाच्च व्य-

तिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वाच्च, यद्

यत् तथाविधं तत्तदनुमानाच्च व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद्

अनुमानान्तरम्, तथाविधश्चायं शब्द इति । न चास्य तदभिन्न-

इत्यनुवर्तते । आप्तवचनादिनिबन्धनं मतिपूर्वमर्थज्ञानं श्रुतं तच्च प्रमाणं सिद्धमेव । केन सिद्धमिति
चेत् ? व्यवहाराविसंवादमित्युच्यते प्रत्यक्षादिवत् । केषु ? अर्थेषु प्रमेयेषु । कीदृशु ? द्वीपान्तरादिषु,
प्रकृतौ जम्बूद्वीपः तस्मादन्ये धातकीषण्डादयो द्वीपान्तराणि तान्यादिर्येषां कालस्वभावव्यवहितानां ते
तथोक्ताः तेषु देशकालाकारविविक्तपक्षेऽप्यर्थः । न हि श्रुतादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानो रसायनादि-
क्रियायां विसंवाद्यते ग्रहणादौ वा मलयादिप्राप्तौ वा । ततोऽनाश्वाससमविश्वसं न कुर्वीरन् परीक्षकाः ।
कुतः ? क्वचित्तद्व्यभिचारतः । क्वचिन्नदीतीरे मोदकादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसंवादः
तस्मात् । नहि क्वचिद्विसंवादावप्रमाणे ज्ञानस्य सर्वत्राप्रामाण्यं शङ्कनीयं प्रत्यक्षादिविषयं तथात्व-
प्रसङ्गात् सकलव्यवहारविलोपापत्तेः ।"—लघी० ता० पृ० ४६ ।

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके, नैयायिक-मीमांसकादिवन्त्ये वा । (२) श्रुतमर्थे । (३) तुलना-
"एतत्संख्यपक्षोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीहते । अदृष्टपूर्वमस्तीति तृणाग्रे करिणां शतम् ।"—प्रमाणवा०
१११६७ । प्रश्न० व्यो० पृ० ५८१ । "अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च"—परीक्षा० ६५३ । (४)
क्वचिद् द्विचन्द्राविज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एकचन्द्रविज्ञानेऽपि अविवशस्यप्रसङ्गात् ।
(५) अनाश्वासापत्तेः । (६) "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्य
असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्धचतुस्मरणभ्यामतीन्द्रियेष्वं भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति । श्रुतिस्मृति-
लक्षणोप्यानायो वक्तुप्रामाण्यापेक्षः"—प्रश्न० भा० पृ० ५७६ । "अन्तर्भावव्यवहारे च समानवि-
धित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतुपन्यासः"—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७७ । "प्रसिद्धः समयोऽविना-

1 'च' नास्ति ई० वि०, ज० वि० । 2-भूतं क्व आ० । 3 शास्त्रे लोके अ० । 4 इत्या-
धारस्य श्रुतस्य अ० । 5 तस्य व्यभि-ब० । 6-काप्रसि-अ०, ब० ।

विषयत्वमसिद्धम्; शब्दानुमानयोरविशेषतः सामान्यगोचरचारित्वात् । सम्बद्धान्तर-
तिपत्तिहेतुत्वाच्च; न हि शब्दः असम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बद्धश्च तं
प्रतिपादयन्नतौ तैल्लिङ्गतां नातिवर्त्तत । नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्;
धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात् । अन्वयैव्यतिरेकवत्त्वाच्च;
यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचकः यत्र तु न दृश्यते न तस्य वाचकः । 5
पक्षधर्मत्वोपेतत्वाच्च; तथाहि—विवक्षितः शब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवत्,
यथा अयं धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । यथा च प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वा
वह्निः प्रतीयते तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थोऽपि । दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयो-
रप्यनयोरविशिष्टम् ।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्ये व्यभिचारात् । न हि 'अङ्गुल्यग्रे 10
हस्तियुथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानां बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात् । तस्याञ्च
एतस्य लिङ्गत्वैवेति ॥६॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्धचनुस्मरणभ्यां लिङ्गदर्शनं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवमभूतायां
प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्यां यथाऽतीन्द्रियेऽर्थं भवत्यनुमानं तथा शब्दादिभ्योऽपीति । तावद्धि शब्दो नार्थं
प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्यर्थं नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्गं
स्यात्.....—प्रश्न० कन्व० पृ० २१४ । “अत्र हेतुमाह—समानविधित्वात् । समानप्रवृत्तिकारणत्वात्
विज्ञातीयलक्षणानाकान्तत्वादिति यावत् । अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमेव, साक्षात्प्रतिबन्धकत्वे प्रत्यक्षा-
न्तर्भावः, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भावः.....—प्रश्न० किर० पृ० ३०९ ।

(१) तुलना—“परोक्षविषयत्वं हि तुल्यं तावद् द्वयोरपि । सामान्यविषयत्वं च सम्बन्धा-
पेक्षणाद् द्वयोः ॥”—न्यायसं० पृ० १५२ । (२) “यद्यप्येते पदार्था भिन्नाः संसर्गवन्तो वाक्यत्वादिति
व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चानैकान्तिकम्, पदैः स्मारितार्थसंसर्गवन्ति तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्या-
भावः, तथापि आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात् ।”—प्रश्न० किर०
पृ० ३०९ । वैश्व० उप० पृ० ३३१ । “पदानि स्मारितार्थविज्ञप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति
संसृष्टार्थपरत्वात् गामभ्याजेति परत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानादेव साध्यसिद्धेः ।”—न्यायली०
पृ० ५५ । (३) तुलना—“अन्वयव्यतिरेकौ च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत् । यो यत्र दृश्यते सद्बः स तस्या-
र्थस्य वाचकः ॥”—न्यायसं० पृ० १५२ । (४) लिङ्गशब्दयोः । (५) “वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि
विवक्षेयानुमीयते । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्धेतुः सा हि निश्चिता ॥१५१॥ विवक्षायाम् च गम्यायां
विस्पष्टैव त्रिरूपता । पुंसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यतः ॥१५२॥ पादपार्थिवविवक्षान्
पुरुषोऽयं प्रतीयते । वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वविस्थास्वहं यथा ॥१५२॥”—तत्त्वसं० पृ० ४४१-४३ ।
“प्रथमं गोशब्दादुच्चरिताद्वक्तुः ककुदादिमदर्थविवक्षा गम्यते स्वसन्ताने गोशब्दोच्चारणस्य तदर्थविवक्षा-
पूर्वकत्वोपलम्भात्, तदर्थविवक्षया चाधर्तुमानम् । अयञ्चान्न प्रयोगः—पुरुषो धर्मा ककुदादिमदर्थ-
विवक्षान्न गोशब्दोच्चारणकर्तृत्वात् अहमिवेति ।”—प्रश्न० कन्व० पृ० २१५ । (६) विवक्षायाम् ।
“विवक्षाकाशाधिगमे लिङ्गत्वात् । यथाहि आकाशाधिगमे सर्वः शब्दोऽनुमानम्, विवक्षाकार्यस्तु
विवक्षाधिगमेऽपि इति ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५७८ ।

१-हेतुत्वाच्च हि ब० । २-तत्र लिङ्गतां आ०, श्र० । ३-व्यतिरेकत्वाच्च आ०, ब० ।
४-यत्र तत्र श्र० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते’ इत्यादि;
 तत्रतिविधानपुरस्सरं तदसमीचीनम्; अभिन्नविषयत्वस्य अनयोरसिद्धेः । अर्थमात्रं हि
 शब्दस्य विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मा इति । किञ्च,
 दिव्योऽतिरिक्तैण प्रामा- अर्नयोर्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया,
 ययसमर्थनम्— सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं सामान्यं
 नाम—सकलव्यक्त्यनुस्यूतं नित्यैकत्वादिधर्मोपेतम्, अन्यव्यावृत्तिरूपं वा ? पक्षद्वय-
 मप्येतदनुपपन्नम्; उभयैषस्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्, 5
 अन्यापोहमात्रविषयत्वस्य अर्नयोः प्रतिपेक्ष्यमानत्वाच्च । नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे
 चानयोः मीमांसकमतानुप्रवेशः सौगतस्य स्यात्, स चानुपपन्नः, तद्विषयत्वस्याप्यत्रे
 निराकरिष्यमाणत्वात् । अथ तद्वन्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेतः; नन्वेवं प्रत्यक्ष-
 10 स्यापि अनुमानत्वप्रसङ्गः तथा तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशे-
 पात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात् ।

एतेन सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्वं शब्दस्य प्रत्याख्यातम्; प्रत्यक्षस्यापि
 सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुषङ्गात् । तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत्
 तत्रतिपत्तिहेतुः नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ तत्र सम्बद्धस्यास्य प्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषेऽपि
 15 सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेदः; कथमेवं शब्दस्यापि अतो भेदो न स्यात् तद्विशेषात् ?
 तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वात्; शब्दे तदसंभवात् । पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय-
 रूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्दे न संभवति । तथाहि—न तावत् शब्दस्य

(१) पृ० ५३० पं० १३ । तुलना—“विषयोऽन्यादृशत्वावद् दृश्यते लिङ्गशब्दयोः । सामान्य-
 विषयत्वञ्च पदस्य स्थापयिष्यति । धर्मा धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् । न तावदनुमानं हि
 यावत्तद्विषयं न तत् ॥”—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६ । “अर्थमात्रं हि शब्दस्य गोचरोऽनु-
 मानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्माति ॥”—स्या० २० पृ० ६२० । “विषयस्तावद्विषय एव पदलि-
 ङ्गयोः । तद्वन्मात्रं पदस्यार्थ इति स्थापयिष्यते । अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निरग्निमात्रं पर्वत
 इति प्रतिपत्तेः ॥”—न्यायमं० पृ० १५३ । (३) अनुमानशब्दयोः । तुलना—“अपि चानयोर्गोचराभेदः
 सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवेत् ?”—स्या० २० पृ० ६२० । (४) पृ० २८५, पृ०
 २८६ । (५) शब्दानुमानयोः । (६) मीमांसकमतानुप्रवेशः । (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि ।
 (८) सामान्यवदर्थविषयतया । (९) सामान्यवदर्थविषयत्वेन विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषये । (११)
 प्रत्यक्षस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभेदस्य समानत्वात् । (१४) तुलना—“तस्मादनुमानत्वं
 शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत् । वैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥”—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ ।
 स्या० २० पृ० ६२० । (१५) तुलना—“अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मात् कल्प्यते । प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि
 हेतुस्तत्र प्रसज्यते । पक्षे वृम्विशेषे च सामान्यं हेतुरिष्यते । शब्दत्वं गमकमात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते ।
 व्यतिरेकं विरोध्याज्ज्ञाते हेतुश्चैका प्रसज्यते ॥”—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६४ । “ननुक्तं

पक्षधर्मत्वं संभवति; धर्मिण एवात्र कस्यचिदसंभवात् । अत्र हि धर्मो शब्दः, अर्थो वा स्यात् ? न तावत् शब्दः; तस्यैव धर्मित्वे तस्यैव च हेतुत्वे हेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेश-
त्वप्रसङ्गात् । अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्; न; शब्दत्वस्य सामान्य-
स्वभावस्य भवन्मते परमार्थसतोऽसंभवात् । कैस्पितस्य तु सत्त्वेऽपि न गमकत्वम्
“अर्थो ह्यर्थं गमयति” [] इति च भवद्विरेव अभ्युपगमात् ।

एतेन ‘शब्दोऽर्थवान्’ इत्याद्यनुमानं प्रत्याख्यातम् । अस्तु वा शब्दत्वं हेतुः;
तथापि अतः शब्दस्य धर्मिणः किम् अर्थविशिष्टत्वं साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वम्,
अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नाः; अचलैर्नलयोरिव शब्दार्थयोः
धर्मधर्मभावाऽसंभवात्, आश्रितो हि धर्मो भवति, न चार्थः शब्दाश्रितो विभिन्नदेश-
त्वात् । यद् यतो विभिन्नदेशं न तत्तत्राश्रितं यथा सङ्घे विन्ध्यः, शब्दाद् विभिन्न-
देशश्चार्थ इति । यत्र च आश्रयाश्रयिभावो नास्ति न तत्र धर्मधर्मिभावः यथा चित्रकूट-
कश्मीरयोः, आश्रयाश्रयिभावाभावश्च शब्दार्थयोरिति । न चार्थविशिष्टं शब्दं कश्चिद-
बालिशो मन्यते, शब्दात् पृथगेवार्थस्य आबालं सुप्रसिद्धत्वात् ।

अथ अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वमस्य साध्यते; तदप्यसत्; तदर्थतया शब्दप्रयोगाऽ-
संभवात् । न हि तच्छक्तिसिद्धये शब्दः प्रयुज्यते श्रूयते वा, किन्तु अर्थसिद्धये ।

अथ अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्; सिद्धाऽसिद्धविकल्पानुपपत्तेः ।
असिद्धया हि अर्थप्रतीत्या तद्वत्त्वं शब्दस्यायुक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । सिद्धायां त्वर्थं
किमन्यदनुमीयताम् ? स्वसंविदितस्वभावायामस्यां विसंवादाभावात् इत्यस्यानुमानस्य
वैकल्यम् । न च धूमाद्यनुमानेऽप्ययं दोषस्तुल्य इत्यभिधातव्यम्; तत्र कार्यकारणभावा-
यथानुमाने धर्मविशिष्टो धर्मो साध्य एवमिहार्थविशिष्टः शब्दः साध्यो भवतु; मैवम्; शब्दस्य हेतुत्वात् ।
न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति ।”-न्यायमं पृ० १५३ । स्या० २० पृ० ६२० ।

(१) सौगतमते । (२) अन्यापोहरूपस्य । (३) तुलना-“अर्थो ह्यर्थं गमयतीति भवद्विरेव
स्वीकरणात् ।”-स्या० २० पृ० ६२० । (४) सौगतेरेव । (५) तुलना-“शब्दस्य धर्मिणः किमर्थवि-
शिष्टत्वं वा साध्यते, प्रत्यायनशक्तिविशिष्टत्वं वा, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ?”-न्यायमं पृ० १५३ ।
स्या० २० पृ० ६२० । (६) तुलना-“सौलज्वलनयोरिव शब्दार्थयोः धर्मधर्मिभावाभावात् ।”-न्यायमं
पृ० १५३ । “पर्वतपावकयोरिव शब्दार्थयोः धर्मधर्मिभावासम्भवात् ।”-स्या० २० पृ० ६२१ । (७)
शब्दार्थयोः धर्मधर्मिभावो नास्ति आश्रयाश्रयिभावाभावात् । (८) अर्थप्रत्यायनशक्तिप्रतीत्यर्थम् ।
तुलना-“न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा । अर्थगत्यर्थमेवायं शृण्वन्ति च वदन्ति च ।”
-न्यायमं पृ० १५४ । स्या० २० पृ० ६२१ । (९) तुलना-“सिद्धचसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः । असिद्धधाऽ-
पि तद्वत्त्वं शब्दस्यार्थविधया कथम् । सिद्धायां तत्प्रतीतो वा किमन्यदनुमीयते ।”-न्यायमं पृ० १५४ ।
“नन्वर्थप्रतीतिः शब्दोत्थाज्ज्योत्था वा भवेत् ।”-स्या० २० पृ० ६२१ । (१०) अर्थप्रतीतो । (११) तुलना-
“न हि तत्र अग्निधर्मं जन्यते अपि तु गम्यते । इयं त्वर्थप्रतीतिर्जन्यते शब्देनेत्यस्यामेव सिद्धासिद्धत्व-
विकल्पावसरः ।”-न्यायमं पृ० १५४ ।

१ इति भव-अ०, ब० । २ अचलानिल-आ० । ३ शब्दार्थयोर्धर्मभा-ब० । ४ नैवार्थः ब० ।
५ बोध इत्य-आ० ।

भावात् । न खलु धूमेन अभिर्जन्यते किन्तु गम्यते, शब्देन तु अर्थप्रतीतिर्जन्यते अतः
अस्यामेव सिद्धासिद्धविकल्पावतारः । तत्र शब्दस्य धर्मित्वं घटते ।

नाप्यर्थस्य; तेन सह शब्दस्य भवेद्विः सम्बन्धानभ्युपगमात् । न हि शब्दार्थ-
योस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धः सौगतैरभ्युपगम्यते । “न ह्यर्थे शब्दाः

6 सन्ति तदात्मानो वै” [] इत्यादिचचनविरोधानुपपन्नात् । न च अर्थेना-
सम्बन्धोपि शब्दः तस्य धर्मः अतिप्रसङ्गात् । अथ अर्थप्रतीतिहेतुत्वात् तद्धर्मोऽसौ; न;
इतरेतराश्रयानुपपन्नात्—पक्षधर्मत्वसिद्धौ हि शब्दस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च
पक्षधर्मत्वसिद्धिरिति । तत्प्रतीतिहेतुत्वेन चार्थं तद्धर्मत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धेः
तैल्यभावापि प्रतीतिः आनुमानिक्येव स्यात् । तत्र पक्षधर्मत्वं शब्दे संभवति ।

10 नार्थव्यवयवतिरेकौ; देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात् । नहि यत्र देशे

(१) अर्थेन स्वलक्षणात्मकेन । (२) बोद्धेः । (३) “उक्तञ्च—न ह्यर्थे शब्दाः तदात्मानो
वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरभित्यादि ।”—न्यायप्र० वृ० पृ० ३५ । “यथाहि वह्नी
धूमो जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्ध उत्तरभावेन भवति एवं नार्थं जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्धाः शब्दा उत्तर-
भावेन सन्ति । एतेन तदुत्पत्तिसम्बन्धः समर्थ (शब्दार्थ) योनास्ति इत्याचष्टे । स एवार्थ आत्मा
येषां शब्दानां ते तदात्मानः, अनेन तादात्म्यसम्बन्धोऽपि नास्तीत्याह तस्मिन्निति । अर्थे प्रतिभासमाने
परिच्छिद्यमाने प्रतिभासेरन् प्रदीप्येरन् शब्दा इति । अयमभिप्रायः—द्विविधो हि सम्बन्धः
सोपातानां तादात्म्यलक्षणस्तुत्पत्तिलक्षणश्च । तत्र तादात्म्यलक्षणो बुक्षत्वशिखापातव्योपि च तदुत्पत्ति-
लक्षणस्त्वग्निधूमयोपि च । शब्दार्थयोर्द्विविधोऽपि सम्बन्धोऽपि न घटते । तथाहि—न तावत्तादात्म्य-
लक्षणः । तादात्म्ये हि शब्दार्थयोः शब्दो वा स्यादर्थो वा न द्वयम् । तथा शब्दार्थयोस्तादात्म्ये
क्षुरिकामोदकादिशब्दोच्चारणे मुखपाटनपूरणादिप्रसङ्गः, न च दृश्यते । तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न घटते ।
यतः केयं तदुत्पत्तिर्नाम ? किं शब्दादर्थात्पत्तिरर्थाद्वा शब्दोत्पत्तिः ? यदि शब्दादर्थात्पत्तिः स्यात्तदा
विद्वन्मददिर्ज्ञेयं स्यात् हिरण्यादिशब्दोच्चारणादेव तदुत्पत्तेः । नाप्यर्थाच्छब्दोत्पत्तिः; तात्त्वाधिकारण-
कलापात्तदुत्पत्तिर्दशनात् ।”—न्यायप्र० वृ० पृ० ७६ । “उक्तञ्च धर्मकीतिना—न ह्यर्थे शब्दाः
सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासेरन् ।”—अनेकागतजय० पृ० ११९ । उद्धतमिदम्—अष्टसह०
पृ० ११८ । सिद्धिचि० टी० पृ० ७५ B. । स्या० २० पृ० ६२१ । षड्व० बृह० पृ० १६ । “न ह्यर्थे
शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहारः स्यादित्युक्तम् ।”—न्यायवा०
ता० पृ० १३३ । (४) अर्थधर्मोऽसौ शब्दः । (५) तुलना—“गमकत्वाच्च धर्मत्वं धर्मत्वाद् गमको यदि ।
स्यादस्योन्याश्रयत्वं हि तस्मात्त्रैषापि कल्पना ॥”—मी०-इल्लो० शब्दपरि० इल्लो० ७७ । “प्रतीतिजनकत्वेन
तद्धर्मतायामुच्यमानानां पूर्ववदितरेतराश्रयत्वम् । पक्षधर्मादिवलेन प्रतीतिः, प्रतीती च सत्यां पक्षधर्मा-
दिरूपलाभ इति ।”—न्यायम० पृ० १५४ । स्या० २० पृ० ६२१ । (६) शब्दस्य । (७) चक्षुरा-
दिजगत्या । (८) तुलना—“अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते । व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं
प्रतीयते । यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्निरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः । न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः ।
न तावत्तत्र देशेऽसौ तत्काले वाऽगम्यते ।”—मी० इल्लो० शब्दपरि० इल्लो० ८५-८६ । “अन्वयव्यतिरे-
कावपि तस्य दुरुपपादौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात् । नहि यत्र देशे शब्दः तत्रार्थः । यथोक्तं
श्रीविषे—मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्धमिति ।”—न्यायम० पृ० १५५ । स्या० २० पृ० ६१२ ।

शब्दः तत्रार्थः “मुखे हि शब्द उपलभ्यते भूमावर्थः” [शाबरभा० १११।५] इति भवद्विरेवा-
भ्युपगमात् । नापि व्यवहारिणां तदन्वयाध्यवसायोऽस्ति ; न खलु यत्र यत्र पिण्डखर्जू-
रादिशब्दं शृण्वन्ति तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थास्तित्वं व्यवहारिणः प्रतिपद्यन्ते । यत्र हि धूमः
तत्रावश्यं वह्निरस्ति त्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति^१ धूमस्य, नत्वेवं देशकृतः शब्दस्य अर्थेना-
ऽन्वयोऽस्ति । नापि कालकृतः; न हि यत्र काले शब्दः तत्र तदर्थोऽवश्यं संभवति, 5
रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्तमानाः तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्चेति कुतोऽर्थानां
शब्दान्वेतृत्वम् ? अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभावः तत्पूर्वकत्वात्तस्य ।

यदप्युक्तम्—‘यो हि शब्दो यत्रार्थे दृष्टः’ इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; एवंविधाऽन्वय-
व्यतिरेकाभ्यां तद्वाचकत्वस्य अस्माभिरभीष्टत्वात् । न चैवंविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण
अस्यानुमानत्वं वाच्यम्; प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गात् तन्मात्रस्य तत्रार्थविशेषात् । यत्र हि 10
षट्सद्भावोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्षं भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति ।

यदपि—‘सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्’ इत्युक्तम्; तदप्यनुपपन्नम्; अननुमानेऽपि
संशयोपमानादौ अस्य सद्भावेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वश्च उपमानादेः प्रागेवं
प्रसाधितम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमोषिल- 15
सितम्; तत्र तत्प्रामाण्यस्य ‘वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाच्छितान्’
[लघी० का० ६४] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिषेत्स्यमानत्वात् ।

ततः शब्दो नानुमानं तद्विभिन्नविषयत्वात् तद्विभिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वाच्च
प्रत्यक्षवत् । इतोऽप्यननुमानमसौ पुरुषैर्यथेष्टं नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पु-
नरनुमानं न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्दः, तस्मान्नानुमानमिति । न च 20
साधनाऽव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्तः इत्यभिधातव्यम्; तथा तैर्नियुज्यमानस्यास्यै साध्य-
प्रतीत्यजनकत्वात् । न हि कृतकत्वं नित्यत्वसाध्येच्छया धूमत्वादिकं वा जलादिसाध्ये-
च्छया नियुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतुः, अन्यथा न कश्चिद् विरुद्धो हेतुः स्यात् । तथा,

(१) बोद्धादिभिः । (२) व्यतिरेकस्य । (३) पृ० ५३१ पं० ५ । (४) जैनैः । (५) शब्दस्य ।
(६) प्रत्यक्षेऽपि । तुलना—“अव्यव्यतिरेकोपपत्तिः प्रत्यक्षेऽपि, यथा यत्र षटस्तत्र षटज्ञानम्, यत्र नास्ति
तत्र तदभाव इति ।”—न्यायवा० पृ० २६१ । (७) पृ० ५३१ पं० ४ । (८) तुलना—“यत्तावत्स्मृ-
त्यपेक्षत्वादनुमानं शब्द इति; तन्न; अनेकान्तात् । अनु (अननु) मानेऽपि स्मृत्यपेक्षित्वमस्ति, यथा संशये
यथा तर्कं यथोपमान इति ।”—न्यायवा० पृ० २६० । (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वस्य । (१०) पृ० ४९५ ।
(११) पृ० ५३२ पं० १० । (१२) विवक्षायाम् । (१३) तुलना—“एवंविधविषयभेदात् सामग्री-
भेदाच्च प्रत्यक्षवदनुमानादन्यः शब्दः इति सिद्धम् ।”—न्यायमं० पृ० १५५ । (१४) तुलना—“सामयिक-
त्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य । जातिविशेषे चानियमात् । ऋष्यार्यम्लेच्छानां यथाकामं शब्दप्रयोगोऽयं प्रत्या-
यनाम प्रवर्ततेः” —न्यायभा० २।१।५५-५६ । “यथेष्टविनियोगेन प्रतीतिर्यापि शब्दतः । न धूमादे-
रिति” —मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १९ । (१५) कृतकत्वादेहेतुः ।

१ यत्र पिण्ड-ब० । २-ति नापिरे-ब० । ३-नावे व्यति-ब० । ४ शब्दो दृष्टार्थे शब्द इत्यादि अ० ।

शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्, यत् पुनरनुमानं न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, तथा तज्जनकश्च शब्द इति । कृतकत्वादिसाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्तं नैप्तोक्तत्वमनाप्तोक्तत्वं वा शब्दस्य तु आप्तोक्तत्वमेवेति ।

5 सत्यम्, अननुमानस्वभाव एवायं शब्दः अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनुमानेऽन्तर्भावप्रयासः फलवान् । न चास्यैतदस्ति; वस्तुनि सम्बन्धाऽसंभवात् । सम्बन्धो हि शब्दार्थयोर्भवन् तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वभावो वा भवेत् ? न तावत् तादात्म्यलक्षणः; विभिन्नदेशतया तयोः प्रतीयमानत्वात्, सुखे हि शब्दः प्रतीयते भूमावर्थ इति । तैत्तादात्म्ये च क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणप्रसङ्गः ।

10 नापि तदुत्पत्तिस्वभावः; 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम् अर्थाभावेऽप्युत्पत्तिप्रतीतिः, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च । अतोऽर्थाऽसंसर्गिनः शब्दानां बाह्यार्थे प्रतीतिं जनयितुमलं तत्कथं प्रामाण्यभाजो भवेयुः ? ते हि विकल्पमात्राधीनजन्मानः स्वमहिम्ना तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति ।

(१) तुलना—“आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थं सम्प्रत्ययः । २।१।५२ । स्वर्गं अप्सरस उत्तराः कुरवः सप्त द्वीपाः समुद्रो लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्ययः । किं हि ? आप्तैरयमुक्त शब्द इत्यतः सम्प्रत्ययः, विपर्ययेण सम्प्रत्ययाभावात् नत्वेवमनुमानमिति ।”—न्यायवा०, न्यायवा०, २।१।५२ । (२) “नान्तरीयकताभावाच्छब्दानां वस्तुभिस्सह । नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः ॥ अधुना नैव बाह्येऽर्थेऽस्य प्रामाण्यमित्याह—अपि चेत्यादि । वस्तुभिः स्वलक्षणैः सह शब्दान्तरीयकताया अत्रिनाभावस्याभावात् तेभ्यः शब्देभ्यो नार्थसिद्धिर्न बाह्यवस्तुनिश्चयः, यस्मात्ते वक्त्रभिप्रायसूचकाः ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२।१२ । “वचसां प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु । प्रतिपादयतां तानि येनेषां स्यात्प्रमाणता ॥ भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भवः । व्यभिचारान्न चान्यस्य युज्यते व्यभिचारिता ॥ न हि बाह्यैः वस्तुभिः सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणे वा प्रतिबन्धो वचसामस्ति येन तानि वस्तूनि प्रतिपादयतामेषां वचसां प्रामाण्यं स्यात् । तत्र तावन्न तादात्म्यलक्षणप्रतिबन्धोऽस्ति भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो हेतुभ्यः । तत्र भिन्नाक्षग्रहणं भिन्नेन्द्रियेण ग्रहणम् । तथाहि—श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते अर्थस्तु चक्षुरादिना । आदिशब्देन कालदेशप्रतिभासकारणभेदो गृह्यते—“तत्स्वतः” ८४० । न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ७६ । तुलना—“मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति ।”—शाबरभा० १।१।५ । (३) तुलना—“पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ।”—न्यायसू० २।१।५३ । “स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम् ।”—शाबरभा० १।१।५ । शास्त्रवा० श्लो० ६४५ । अनेकान्तजय० पृ० ४२ A. । न्यायकु० पृ० १४४ टि० ३ । (४) “विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचराः । जायन्ते बुद्धयस्तत्र केवलं नार्थगोचराः । अनादिः समानजातीयो यो विकल्पस्तेन आहिता या वासनाशक्तिस्तत उद्भूता उत्पन्ना यथायमं समारोपिता य आकाशाद्याकाराः तद्गोचराः तत्प्रतिभासिन्य एव केवलं गताः तत्र बाह्यत्वेन कल्पितेषु आकाशादिविषु जायन्ते । न तु ता बुद्धयोऽर्थगोचरा नाकाशादिस्वलक्षणविषयाः ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२।८८ ।

पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानाम्; इत्यप्ययुक्तम्; दोषवतोऽपि मूकादेः पुरुषस्य अनुच्चारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसंभवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि तानुत्पादयन्त्येव । अतः शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । नैवाप्ता नैदृशि वाक्यानि प्रयुज्यन्ते, प्रयुज्जाना वा नाप्ताः स्युः; इत्यप्यसत्; एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः । यदि हि वक्तृदोषाभावे अमून्यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्तृदोषजत्वं शब्दज्ञानस्य स्यात् । आप्तेस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विदोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चितः-सत्त्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः । न चाप्तत्वम् ईदृशवाक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते; तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात् । तथाहि—आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति । अतः शब्द-स्यैवैष महिमा न वक्तृदोषाणाम् ।

किञ्च, बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानं जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसंस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मानः सिद्धाः । तदुक्तम्—

“विकैल्यथोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।

तेषामन्योन्यसम्बन्धो नाथान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥” [] इति ।

(१) तुलना—“इहापि पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानामिति चेत्; सैवम्; दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविप्लवोत्पादनपाठवाभावात् । असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विप्लवमावहन्त्येवेति शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् ।” —न्यायमं० पृ० १५७ । स्या० २० पृ० ७०० । (२) बाह्यार्थशून्यान् मिथ्याप्रत्ययान् । (३) तुलना—“न चाप्ता नेदृशानि वाक्यानि प्रयुज्यन्ते प्रयुज्जाना वा नाप्ताः स्युरिति चेत्; एतदप्यसुन्दरम्; एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः...” —स्या० २० पृ० ७०१ । (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादीनि । (५) तुलना—“उक्तञ्चैतदुम्बकेन—यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुट इति ।” —चित्सु० पृ० २६५ । (६) तुलना—“अपि च न चक्षुरादि बाधकज्ञानोदये सति न विरमति, विपरीतवेदनजन्मनः शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदर्शनात् । शब्दस्तु शतकृत्वोऽपि बाध्यमानो यथैवोच्चरितः करशाखादिशिखरे करेणुशतमास्त इति तदैव तथाभूतं भूयोऽपि विकल्पमय-थार्थमुत्पादयत्येवेति विकल्पाधीनजन्मत्वाच्छब्दानामेवेदं रूपं यदर्थसंस्पर्शित्वं नामिति ।” —न्यायमं० पृ० १५८ । (७) 'तेषामन्योन्यसम्बन्धे'—न्यायमं० पृ० १५८ । 'तेषामन्योन्यसम्बन्धो'—नयचक्रम्० लि० पृ० १६७ A. । 'तेषामन्योन्यसम्बन्धात्'—सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B. । 'कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि'—न्यायावता० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० मं० पृ० १७५ । प्रकृतपाठः—स्या० २० पृ० ७०१ । पूर्वार्द्धम्—अनेकान्तजय० पृ० ३७ । अनेकान्तवाद० पृ० ४७ । सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B. । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४०२ A. ।

१ इत्ययु-आ० १ प्रतारकादेः आ०, अ० १ ३ नेदृशवा-अ० १ ४ चक्षुदोष-व० १ ५ चासत्त्वम् अ० १

- अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘वस्तुनि सम्बन्धासंभवात्’ इत्यादि; तदसमी-
 क्षिताभिधानम्; तत्रैव शब्दस्य तदभावाऽसंभवात् । तथाहि—शब्दः
 तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शब्दस्य परमार्थस-
 दर्थवाचकत्वस्य
 ५ प्रथक् प्रामाण्यस्य च समर्थनम्—
 अर्थेन सम्बद्ध एव तं प्रकाशयति प्रतिनियततत्त्वत्यहेतुत्वात् चक्षुर्वत् ।
 शब्दप्रत्ययो वा सम्बद्धाभ्यां शब्दार्थाभ्यां जन्यते प्रतिनियतप्रत्ययत्वात्
 दण्डीत्यादिप्रत्ययवत् । ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरक्षणसम्ब-
 न्धस्याऽपास्तत्वात् कथं सम्बद्धत्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; तदभावेऽ-
 प्यनयोः योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवात् । तदभावे सौऽपि कथम् ? इत्यप्यवाच्यम्;
 चक्षुरूपयोस्तदभावेऽपि तद्दर्शनात् । न खलु चक्षुषो घटादिरूपेण सह तादात्म्यं तदुत्प-
 त्तिः संयोगो वा सौगतैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्, अप्राप्यकारित्वक्षतिप्रसङ्गाच्च ।
 १० नाप्यस्य तदभावे रूपप्रकाशनयोग्यतास्वभावसम्बन्धस्याप्यसंभवः; श्रोत्रादिवत् तस्यापि
 तदप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् ।

- ननु योग्यतातः शब्दस्य अर्थवाचकत्वे अर्थस्यापि शब्दवाचकत्वं किन्न स्यात् ?
 इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रतिनियतशक्तित्वाद् भावानाम् । योर्थता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्य-
 प्रतिपादकशक्तिः, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । नच ज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणभा-
 १५ वात् तैत्तिप्रतिनियमो न योग्यतात इत्यभिधातव्यम्; तैत्तिकार्यकारणभावस्य ‘अन्वयव्य-
 तिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं चिदः’ [लघी० का० ५४] इत्यत्र विस्तरतो निरा-
 करिष्यमाणत्वात् । कथञ्चैव चक्षुरूपयोः घटप्रदीपयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकभावप्रतिनियमः
 स्यात् ? योग्यतातऽन्यस्य कार्यकारणभावादिप्रतिबन्धस्यै तैत्तिप्रतिनियमहेतोरसंभवात् ।

ननु योग्यतावशात् शब्दो धैचर्थं प्रतिपादयति तदा भूषणवद्विस्तोत्थितस्यापि

- (१) घृ० ५३६ पं० ६ । (२) वस्तुनि । (३) सम्बन्धाभावः । (४) अर्थः । (५) तादात्म्यतदुत्प-
 तिसम्बन्धाभावे—आ० टि० । तुलना—“सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ।”—न्यायसू० २।१।५५ । ‘स
 च वाच्यवाचकावलम्बनं सङ्केतज्ञानमेव ।”—प्रज्ञा० व्यो० पृ० ५८५ । “तादृशो वाचकः शब्दः संकेतो
 यत्र वर्तते ।”—न्यायवि० का० ४३२ । “अन्ये त्वभिदधत्येवं वाच्यवाचकलक्षणः । अस्ति शब्दार्थ-
 योग्यं तत्प्रतीत्यादितस्ततः ।”—शास्त्रवा० श्लो० ६५२ । “सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्च शब्दादयो
 वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।”—परीक्षासू० ३।१०० । “स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्द
 इति ।”—प्रमाणनय० ४।११ । (६) शब्दार्थयोः । (७) योग्यतालक्षणोऽपि । (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्य-
 भावेऽपि । तुलना—“नयनरूपयोः क्वचित्तदभावेऽपि तदुत्पत्तिर्भावात् ।”—स्या० २० पृ० ७०२ । (९)
 चक्षुरूपयोः संयोगाभ्युपगमे । (१०) चक्षुषः—आ० टि० । (११) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावे—आ० टि० ।
 (१२) चक्षुषः—आ० टि० । (१३) रूपस्य—आ० टि० । (१४) तुलना—“सहजा स्वाभाविकी योग्यता
 शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् ।”—प्रमेयक० पृ० ४२८ ।
 स्या० २० पृ० ७०२ । (१५) ज्ञाप्यज्ञापकप्रतिनियमः । (१६) ज्ञानार्थयोः कार्यकारणभावस्य । (१७)
 चक्षुरूपयोः घटप्रदीपयोश्च । तुलना—“इतरथा ज्ञानमेव प्रकाशकं ज्ञेयमेव च प्रकाश्यं नपुनज्ञानमिति
 नियमस्याघटतात् ।”—स्या० २० पृ० ७०२ । (१८) प्रकाश्यप्रकाशकप्रतिनियमः ।

प्रतिपादयेत् विशेषाभावात्; इत्यप्यपेशलम्; सङ्केतसचिवयोग्यतावशात्स्य तत्प्रतिपाद-
कत्वाभ्युपगमात्, भूभवनवद्वितीत्यतः प्रति चास्य तथाविधत्वाभावात् तत्प्रतिपादकत्व-
प्रसङ्गः । सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इदं वाचकम्' इत्येवंविधौ वाच्यवाचकयोर्वि-
नियोगः, स यस्यास्ति तस्यैव शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसा-
धनमप्यस्यै अग्न्यादिसाध्यं गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगम-
कत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्यास्ति । येनैव साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीतः
तं प्रत्येव साधनं साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनैव शब्दार्थयोः सङ्केतो गृहीतः तं प्रत्येव
शब्दोऽर्थस्य वाचकः इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात् ।

ननु सङ्केतः पुरुषेच्छाकृतः, न च तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्,
अतोऽर्थोपि वाचकः शब्दस्तु वाच्यः किन्न स्यात् तदिच्छाया निरङ्कुशत्वात् ? इत्यप्य-
सुन्दरम्; तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिबन्धनत्वाद् धूमाग्निवत् । यथैव हि धूमाग्न्योनै-
सर्गिक एवाविनाभावः सम्बन्धः, तद्बुधुत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा
शब्दार्थयोः स्वभाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्बुधुत्पत्तये तु सङ्केतः
समाश्रीयते । सांसिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षुरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशकशक्ते-
र्व्यतिक्रमः स्यात् । तथा च चक्षुःप्रदीपादीनां प्रकाश्यत्वं घटादीनां तु प्रकाशकत्वं
स्यात् । प्रतीतिविरोधोऽन्यत्रापि न काकैर्मक्षितः ।

ननु शब्दस्य स्वामाविकी शक्तिः किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा ?
यथेकार्थप्रत्यायने, तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽयान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादन्निप्रतीतिवत् ।

(१) शब्दस्य । (२) अर्थवाचकत्वस्वीकारात् । (३) तुलना—“कः पुनरयं समयः ? अस्य
शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोगः, तस्मिन्पुन्युक्ते शब्दार्थसंप्रत्ययो भवति ।”
—न्यायभा० २ । १ । ५५ । “अभिधानाभिधेयनियमनियोगः समय उच्यते ।” —न्यायमं० पृ० २४१ ।
“अस्यार्थस्यायं वाचक इत्यर्थकथनं समयः” —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १ । २३० । “इदं पदममुष्यं बोध-
यतु इति अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा ।” —तत्त्वचि० शब्दपरि० । स्या० २० पृ० ७०२ ।
(४) पुरुषस्य । (५) भूभवनसंबद्धितोत्थितस्य । (६) पुरुषेण । (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति ।
(८) तुलना—“स हि पुरुषकृतः सङ्केतः न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्पते, तदिच्छया अव्याहृत-
प्रसरत्वात् । अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति । न चैवमस्ति, न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो
धूमात् तत्प्रत्येति जलं वा तत इच्छन्नपि प्रतिपद्यते । तत्र यथा धूमाग्न्योः नैसर्गिक एवाविनाभावो
नाम सम्बन्धः ज्ञातये तु भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एवं शब्दार्थयोः सांसिद्धिक एव शक्त्यात्मा
सम्बन्धः तद्बुधुत्पत्तये तु बुद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाश्रयणम् ।” —न्यायमं० पृ० २४१ । “सङ्केतस्य सहजयो-
ग्यतानिबन्धनत्वात् । यथैव हि धूमावकयोः स्वाभाविक एवाविनाभावः” —स्या० २० पृ० ७०३ ।
(९) अविनाभावग्रहणात् । (१०) आदिपदेन तर्को ग्राह्यः । (११) शब्दार्थयोरपि वाच्यवाचकचोदने ।
(१२) तुलना—“गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गतिः । अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसंभवः ॥”
—प्रमाणवा० ३ । २२८ ।

१ प्रतिपादयत् व० । २-विषयावाच्यवाच-आ० । ३ साध्यसाधनं साध्यस्य व० । ४-स्पष्टये
स-आ०; व० । ५-क्रमे चक्षु-ध० । ६-प्रदीपानां आ० । ७ तथा व० ।

- अथ अनेकार्थप्रत्यायने; तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्; इत्यप्यचर्चित्ताभिधानम्; सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु प्रत्यायनशक्तिसंभवात् । कथमन्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सन्देहः स्यात्—‘कस्यर्थं प्रतिपादयितुमेनेन शब्दः प्रयुक्तः’ इति । नचैवं सकृत्सर्वाथप्रतिपत्तिप्रसक्तेः प्रतिनियतेऽर्थे तवैः प्रवृत्तिर्न स्यादित्य-
5. मिधातव्यम्; प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते, यथा मौलवकादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे, गुर्जरादौ तु योन्यामिति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, विशिष्टाङ्गनादिवशात् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च विवक्षित-
10. रूपाभावेऽपीति । तयो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्वं तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमविरुद्धम् ।

अथ मतम्—चक्षुरादिवत् शब्दस्य अर्थे योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवे तद्वदेव अतः सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीतिः स्यात्; तदप्यसङ्गतम्; तस्य ज्ञापकतया तत्संज्ञापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुलना—‘सर्वाकारपरिच्छेद्यशक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा । सर्वाकारार्थविज्ञानसमर्थं नियमः कृतः ॥’—मौ० श्लो० ५० २०२ । ‘सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहारः । अत एव चातविगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहो भवति कस्यर्थं प्रत्याययितुमेनेन शब्दः प्रयुक्तः स्यादिति ।’—न्यायमं० ५० २४२ । ‘समयापेक्षणं चेह तत्संयोपशमं विना । तत्कर्तृत्वेन सफलं योगिनां तु न विद्यते ॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तितः । वाच्यस्य च तथाऽप्यत्र नागोऽस्य समयेऽपि हि ॥’—शास्त्रवा० श्लो० ६६३-६४ । ‘तथा च सर्वे शब्दाः प्रायः सर्वाथवाचकशक्तिमन्तः सर्वे वार्थाः सर्वशब्दावाच्यशक्तियुक्ताः इति विचित्रज्ञयोपशमादिसहकारियोगतः तथा तथा प्रवर्तन्ते इति न काचिद्वाधा’—अनेकान्तजय० ५० ३६ A. । ‘सर्वस्य शब्दस्य सर्वाथप्रतिपादनशक्तिर्वैचित्र्यसिद्धेः । पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दावाच्यत्वशक्तिनानात्वात् ।’—अष्टसह० ५० १४३ । ‘शब्दस्यानेकार्थप्रतिपादने नैसर्गिकशक्तिसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः ।’—स्या० १० ५० ७०३ । (२) शब्दात् । (३) शब्दानाम् । (४) तुलना—‘तथाहि—यवशब्द आर्यदीर्घशूके पदार्थं प्रयुज्यते, ते हि यवशब्दात् दीर्घशूकं पदार्थं प्रतिपद्यन्ते स्लेच्छास्तु प्रियङ्गं प्रतिपद्यन्ते । एवं विवृत-शब्दमुषयः स्तोत्रीयानवके प्रयुज्यते, आर्यास्तु लताविशेषे ।’—न्यायमं० ता० ५० ४२० । ‘एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते, यथा गुर्जरादौ चोरशब्दस्य तत्करे द्राविडादौ पुनरोदनेन इति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरसामर्थ्यत्वेन सन्निहिते रूपे विशिष्टाङ्गनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवृषणबलाच्च विवक्षितरूपाभावेऽपीति ।’—स्या० १० ५० ७०३ । (५) ‘एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिववाचका ज्ञेयाः ।’—स्या० मं० ५० १७८ । (६) पीतरूपाभावेऽपि शब्दे पीतज्ञानजनकत्वम् । (७) चक्षुर्वेदेन । (८) शब्दात् । (९) शब्दस्य । तुलना—‘वाच्यवाचकलक्षणे हि शब्दार्थयोः प्रतिबन्धः, तथाहि वाच्यत्वभावा अर्थाः वाचकत्वभावाच्च शब्दा इति तज्ज्ञप्तिवादः । यदेवं

प्रतीयज्ञतोपपत्तेः । यज्ज्ञापकं तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीनां तु कारकत्वात् युक्तं स्वार्थसम्बन्धग्रहणान-
पेक्षणां तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते ।
तद्वृत्ता च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादेः, अतः स एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धं स्वार्थं गमयति ।
शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादेः तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यद्वैयुक्तम्—‘अतोऽर्थासंस्पृशिनः शब्दाः’ इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्;
यतः किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासंस्पृशित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ?
तत्रापक्षे प्रत्यक्षबाधो, आप्तप्रणीतात् ‘नद्यास्तीरे फलानि सन्ति’ इति वाक्यादतिरस्कृत-
बाह्यार्थप्रत्ययप्रतीतेः ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य; तर्हि तस्यैव अर्था-
ऽसंस्पृशित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्यैव अर्थासंस्प-
शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्यापि तस्यात् ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः; आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्र-
स्याऽसंभवात् । नन्वाप्तप्रणीताद् अङ्गुल्यादिवाक्याद् विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः शब्द-
स्यैव हि हिमा न वक्तृदोषाणाम्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; अस्मिन्नेवंविधवाक्याऽप्रयोगात् ।

यत्तु—‘आप्तोऽपि कस्मैचित्तुपदिशति’ इत्याहुर्मुक्तम्; तत्र निषेधपरत्वेनार्थे यथार्थ-
कथनं सङ्केतमन्तरेणैव तत्तत्तदवगतिः ? उच्यते—तथाविधक्षयोपशमाभावात् । न हि रूपप्रकाशनस्व-
भावोऽपि दीपोऽस्ति चक्षुषि तत्प्रकाशयति, चक्षुःकल्पश्च क्षयोपशमः, स च सङ्केतपदचरणभावनादि-
जन्तस्तथोपलब्धेः । ‘अनेकान्तजय० पृ० ३६ A. । ‘शब्दस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादेरेतद्रूपं
यत्सम्बन्धग्रहणपेक्षं स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तर्गतत्वाच्च व्युत्पत्त्यपेक्षा
भवन्ति । शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्यार्थप्रतिपादने ।’—न्यायसं० पृ०
२४१ । (१०) सङ्केतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकरूपता । (२) शब्दादिः । (३) पृ० ५३६ पं० १२ । (४) तुलना—‘यतः
किमाप्तनिगदितशब्दस्यार्थासंस्पृशित्वं’—स्या० २० पृ० ७०३ । (५) तुलना—‘भवेदेतदेवं यदि न
कदाचिदपि यथार्थं शब्दः प्रत्ययमुपजनयेत् । अर्थसंश्लिप्तत्वमेवास्व स्वभाव इत्यवगम्यते । भवति तु
गुणवत्पुरुषाभिषिन्नाद्यस्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थो यथार्थप्रत्ययः ततः प्रवृत्तस्य
तदर्थप्राप्तेः ।’—न्यायसं० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्ले शङ्खे पीताकारावभा-
सिनः । (८) शुक्ले शङ्खे शुक्लत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासंस्पृशित्वमन्तर्गतत्वाच्च मिथ्यात्वं स्यादिति
भावः । (१०) अङ्गुल्यग्रे हस्तियुथशतमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत्तिरस्कृतबाह्यार्थप्रत्य-
योत्पादकत्वम् । (१२) तुलना—‘गुणवतामेवंविधवाक्योच्चारणज्ञापलाभावात् ।’—न्यायसं० पृ०
१५८ । ‘आप्तरेवंविधवाक्यस्याप्रयुक्तेः’—स्या० २० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ पं० ११ ।
(१४) तुलना—‘यत् आप्तोऽपि कंचिदनुशास्ति मा भवानभूतार्थं वाक्यं वादीः अङ्गुलीकोटो करिषटा-
शतमास्ते’ इति; तत्र इतिकरणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया
यथार्थत्वमेव । अर्थपरत्वे तु निषेधैकवाक्यतैव न स्यादिति । तस्मादाप्तवाक्यानामयथार्थत्वाभावाच्च
स्वतोऽर्थासंस्पृशिनः शब्दाः पुरुषदोषानुषङ्गकत एवायं विस्त्वः ।—न्यायसं० पृ० १५८ । स्या० २० पृ०
७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यप्रयोगनिषेधकस्य आप्तोपदेशस्य ।

१ अतस्त्वैव श्र०, ब० । २-यंप्रतीतेः प्रवृत्तस्य आ० । ३-प्रयुक्ताद् ब०, श्र० ।

तैव, वार्क्यैकदेशस्यापि उदाहरणविषक्षायाम् इतिकरणावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थतैव । अर्थपरत्वे तु निषेधेनैकवाक्यतैव न स्यात् । तस्माद् आप्तप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावाच्च स्वतोऽर्थसंस्पर्शिनः शब्दाः, किन्तु पुरुषदोषवशात् ।

- नन्वाप्तैरेवंविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेकः 'किं शब्दाभावादयथा-
 ६ ज्ञानातुल्यतिः, वक्तृदोषाभावाद्वा'; इत्यप्यविचरितरमणीयम्; अतुच्छाचरितशब्दस्यापि दोषवतः पुरुषस्य हस्तसंज्ञादिना प्रतारकत्वप्रतीतिः । न च हस्तसंज्ञादिना शब्दानुमानं ततो वितथप्रत्यय इत्यभिधातव्यम्; तथाप्रतीत्यभावात् । नद्यादिवाक्यादुत्पन्ने च क्वचिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफलः पुरुषः पुरुषमेवाधिपतिपति 'दुरात्मनाऽनेन विप्रलब्धोऽस्मि' इति, न शब्दम् । ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा
 10 शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापारः, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति तद्विपर्यये शब्दस्यैव व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्; इत्यप्ययुक्तम् यतो गुणवद्वक्तृप्रणीतात् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येवं शब्दस्यैव व्यापारः स्यात् तद्वक्तुः तदुच्चारणमात्रे चरितार्थत्वात् । अतः कथमेकान्ततः शब्दस्याऽर्थसंस्पर्शित्वमेव स्वरूपं स्यात् ?
 किञ्च, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्विः सह तदभावभावित्वमवगम्यते तावतां तत्र
 15 व्यापारः, सां चात्र शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तयोगितां विना न दृष्टेति शब्दवृत्तदा-
 शयस्यापि तत्र व्यापारः ।

किञ्च, चतुरादिवदर्थप्रकाशकत्वमात्रं शब्दस्य स्वरूपं न पुनः यथार्थप्रकाशक-

(१) अङ्गल्यग्रे हस्तियूयशतमास्ते इति वाक्यस्य एकदेशः 'अङ्गल्यग्रे' इत्यादिरूपः । (२) तुलना-
 "अनुचरितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भकः । हस्तसंज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ॥" -न्यायसं० पृ०
 १५८ । स्या० २० पृ० ७०४ । (३) तुलना-"इत्यमप्रतीतिः । उत्पन्ने च क्वचिन्नद्यादिवाक्याद्विज्ञाने
 तरङ्गिणीतीरमनुसरत्नासादितफलः प्रवृत्तबाधकप्रत्ययः पुरुषमेवाधिपतिपति 'विप्र हा तेन दुरात्मना
 विप्रलब्धोऽस्मि' इति न शब्दम्, प्राप्तफलश्च पुंसामेव श्लाघते साधु साधूना तेनोपदिष्टमित्यतः
 पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तदभावकृत एव आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु विभ्रमानुत्पाद इति न सन्दिग्धो
 व्यतिरेकः । पुरुषदोषकृत एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपनिवन्धनः ।" -न्यायसं० पृ० १५८ । स्या० २०
 पृ० ७०४ । (४) अर्थप्रतीतिविपर्यये । (५) तुलना-"हन्त तर्हि वक्तरी गुणवति सति सतिरिस्तीरे
 फलानि सन्तीति सम्यक्प्रत्ययेऽपि शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्रे चरितार्थत्वान्नैकान्ततः
 शब्दस्यार्थसंस्पर्शित्वमेव स्वभावः ।" -न्यायसं० पृ० १५९ । (६) कार्यकारणभावः । (७) विपर्यय-
 ज्ञानोत्पत्तिः । (८) अनात्ताभिप्रायस्य । (९) विपर्ययज्ञानोत्पत्ती व्यापारः । तुलना-स्या० २० पृ०
 ४०७ । (१०) तुलना-"युक्तञ्चैव यत् दीपवत् प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूपं न यथार्थत्वमय-
 व्यतिरेकं वा, विपरीतेऽप्यर्थं दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्तेः । अयं तु विशेषः-प्रदीपे व्युत्पत्तिरित्येवमेव
 प्रकाशकत्वं शब्दे तु व्युत्पत्त्यपेक्षमिति । प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीने यथार्थतरत्वे । अत
 एव अङ्गलिखलाधिकरणकरणशतवचसि बाधितेऽपि पुनः पुनरुच्यमाणो भवति विभ्रमः प्रकाशकत्व-
 तद्रूपनापायात्, न त्वेष शब्दस्य दोषः । पदार्थानां तु संसर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पतः । वक्तुरेव प्रमादोऽयं न
 शब्दोच्चारणप्राप्यति ।" -न्यायसं० पृ० १५९ । स्या० २० पृ० ७०४ ।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्वं वा, तस्यै गुणदोषनिबन्धनत्वात् । सति हि नैर्मलयादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथावत्, एवं शब्दोऽपि वक्तृगुण-
दोषापेक्षः सत्येतररूपं वस्तु प्रकाशयति । अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवैचसि
वाध्यमानेऽपि पुनः पुनरुच्यार्थमाणे भवति भ्रान्तिः प्रकाशकत्वस्य तैस्वरूपस्य बाधक-
शतोपनिपातेऽप्यनपायात् ।

5

यच्चान्यदुक्तम्—‘नेन्द्रियवदुदास्ते’ इति ; तदप्युक्तिमात्रम् ; बाधकप्रत्ययप्रवृत्ता-
वपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिन्द्रियाज्ञानजनकत्वप्रतीतेः । न च तैस्त्वष्ट्रसौ तैर् तद्विषयं
विज्ञानं नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम् ; प्रतीतिविरोधात् ।

यदप्युक्तम्—‘विकल्पयोनयः शब्दाः’ इत्यादि ; तत् सविकल्पकसिद्धौ कृतोत्तर-
त्वापेक्षेते । ततः प्रमाणं शब्दः अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिवत्, स्वपरपक्ष-
साधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्, तथा सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात्
योगिज्ञानवत् । न खलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽखिलार्थानां शब्दादन्यतो विप्रति-
पत्तिनिवृत्तिः संभवति तदुपायान्तराऽसंभवात् । लिङ्गं तदुपायान्तरं संभवतीति चेत् ;
न ; तत्प्रतिबद्धलिङ्गस्य कस्यचिदप्यप्रतिपत्तेः । ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव
तत्रै प्रमाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

15

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्धः, स तु अनित्यः, नित्यो वा स्यात् ? तत्रापक्षोऽ-
‘शब्दार्थयोर्नित्यसम्ब-
न्धसंभवान्नास्ति पुरुष-
कृतः सङ्केतः’ इति
मीमांसकस्य पूर्वपक्षः—
नुपपन्नः ; अनित्यस्य सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात् । समयो हि क्रिय-
माणः प्रतिपुरुषम्, प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते
प्रकारान्तरासंभवात् । उक्तञ्च—

“समयः प्रतिमर्थ्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।

20

क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित् ॥”

[नी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १३]

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुषं सम्बन्धः क्रियमाणः किमेकः क्रियते, अनेको वा ?

(१) यथायथियथार्थप्रकाशकत्वस्य । (२) अङ्गुल्यग्रे हस्तिशतमास्ते इतिवचने । (३) शब्द-
स्वरूपस्य । (४) पृ० ५३७ पं० १४ । (५) बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ । (६) इन्द्रियम्—आ० टि० । (७)
चन्द्रविषयम्—आ० टि० । (८) पृ० ५३७ पं० १६ । (९) पृ० ४७ । (१०) मेरुवैतरामरावणा-
दिपरमाणादीनाम् । (११) विप्रकृष्टार्थप्रतिपत्तिसाधनम् । (१२) देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थ—आ०
टि० । (१३) विप्रकृष्टार्थं । (१४) एतावताऽत्र भग्या क्रम उक्तः—आ० टि० । (१५) व्याख्या—
“इयमस्य संज्ञेति समयः, स प्रत्यर्थं प्रतिपुरुषं वा क्रियेत, प्रतिपुरुषमेव प्रत्युच्चारणं प्रतिप्रयोगं वा ।
अथवा जगदादौ जगतः सृष्टिकाले केनचित् ईश्वरादिना धात्रा सकृत् एकैव हेतुया क्रियतेति त्रयो
विकल्पाः ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ६२२ । उद्धृतोपम्—प्रमाणवा० स्वरूप० टी० ११२३० । तत्त्वसं० पृ०
६२२ । जैनतर्कवा० पृ० ३१ ।

यथेकः; कथं कृतकैः ? पूर्वमप्यस्यै सदभावतोऽकृतकत्वप्रसिद्धेः । नहि सतो वस्तुनः पुरुषावज्जन्म युक्तम्, अभिन्यक्तेरेवातस्तस्योपपत्तेः । अथानेकः; कथमेकार्थसङ्गतिः ? यथा गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थः कैसरादिमानवशब्दस्येति ।

किञ्च, प्रैतिपुरुषं सम्बन्धकरणे किमेकस्तत्कर्त्ता, बहवो वा ? यथेकः; तदासौ देश-
 5 न्तरव्यवस्थितानां कथं समयं विदध्यात् ? तत्र तत्र गत्वाऽसौ करोति चेत्; तर्हि पुरुषायुषे-
 णापि तत्करणानुपपत्तिः तेषामनन्तत्वात् । अथैकः सन्निहितेषु बहुषु समयं करोति, ते च कृत-
 समया अन्येषां तं करिष्यन्ति, तेऽप्यन्येषाम्, इत्येवं सर्वत्र व्यवहारः उपपत्स्यते; तन्न; तेषां
 प्रयोजनाभावात् सर्वत्र गमनानुपपत्तेः, अतो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यवहारो न प्राप्नोति ।
 अथ बहवः समयस्य कर्त्तारः; तर्हि सकलदेशकालेषु एकरूपता समयस्य न प्राप्नोति,
 10 तैस्यां निमित्ताभावात् । न च ते सर्वे संभूय पर्यालोच्य वा एकमेव समयं कुर्वन्ती लभि-
 धातव्यम्; परस्परानपेक्षाणां स्वातन्त्र्येण समयं कुर्वन्तां तथैवा तत्करणानुपपत्तेः ।

प्रतिशब्दमपि उच्चार्य समयः क्रियेत, अनुच्चार्य वा ? न तावदनुच्चार्य;
 अस्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च निराश्रयः सम्बन्धो युक्तः अतिप्रसङ्गात् । नापि
 उच्चार्य; पुरुषायुषेणापि तस्यै सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

15 किञ्च, प्रैतिशब्दमुच्चार्य अभिनवः सम्बन्धो विश्रीयते, प्राक्तन एव वा ?
 अभिनवस्य विधाने कथंभूय अर्थप्रत्याख्यानसामर्थ्यावगतिः ? तद्विनवगतौ च सम्बन्ध-
 करणानुपपत्तिः । प्राक्तनस्य तु पूर्वमपि सत्त्वात् करणानुपपत्तिः । एकस्य हि वस्तुनो
 द्विप्रेव असंक्रुदावर्तते न तत्पत्तिः ।

नापि प्रत्यर्थ सम्बन्धः कर्तुं शक्यः; अर्थानामानन्याद् विदूर्त्वाच्च । सर्गादा-

(१) “प्रत्येकं वाऽपि सम्बन्धो भिद्येतैकोऽयं भवेत् । एकत्वे कृतको न स्यात् भिन्नत्वेदमे-
 दधीर्भवेत् ॥ एकत्वे तावत्कृततैव न स्यात्, न हि एकस्य बहुभिः क्रिया संभवतीत्याह एकत्व इति ।”
 —मी० श्लो० न्याय० २० सम्बन्धा० श्लो० १४ । “एकत्वपक्षे जातिवद्देशकालभेदानुपायित्वाकृतको न
 स्यात्, नित्य एव स्यादिति यावत् ।” —तत्त्वसं० पं० पृ० ६२२ । (२) गगनैकपरमाव्यादीनामेकत्वस्य
 नित्यत्वाविनाभूतत्वात्, एकत्वं ह्येकरूपत्वम्, तच्च क्रियमाणत्वे विनश्यति—आ० डि० । (३) सम्बन्धस्य ।
 (४) पुरुषव्यापारात् । (५) “यथाऽस्मिन्देशे सास्नादिमित गोशब्दः एवं सर्वेषु दुर्गमेवपि । बहवः
 सम्बन्धारः कथं संग्रह्यन्ते ? एको न शक्नुयात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ता ।” —शाबरभा० १।१।५ ।
 (६) सङ्केतकरणानुपपत्तिः । (७) देशान्तराणाम् । (८) समयम् । (९) अन्यपुरुषाणाम् । (१०)
 सङ्कृतस्य एकरूपतायाम् । “बहुभिः कृतसम्बन्धे न चैको गमको भवेत् ।” —मी० श्लो० पृ० ६४४ । ११)
 “समुच्चयोऽपि तैतेषां व्यवहारेऽवगम्यते ।” —मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १७ । (१२) पुरुषाणाम् ।
 (१३) मिलित्वा सङ्केतकरणे प्रयोजनाभावात् । (१४) सङ्केतस्य । (१५) प्रतिशब्दमुच्चार्य उच्चार्यं ।
 (१६) तुलना—“प्रत्युच्चारणं प्राक्तन एव क्रियते, नूतनो वा ? नवस्य तावत्क्रियमाणस्य कथमर्थ-
 प्रत्याख्यानसामर्थ्यमवगम्यते तदवगती वा किं तत्करणेन ? पूर्वकृतस्य तदकृतत्वादेव पुनः करणमनुपपन्नम् ।
 एकस्य वस्तुनो जतिरसंक्रुदावर्तते नोत्पत्तिः ।” —न्यायसं० पृ० २४२ । “प्रत्युच्चारणानिवृत्तिर्न युक्ता
 व्यवहारतः ।” —तत्त्वसं० भा० २२७४ । (१७) नूतनसङ्केतस्य । (१८) अभिनवसङ्केतस्य अर्थप्रत्या-
 ख्याननिरपेक्षाभावात् । (१९) सङ्केतस्य । (२०) पुनः पुनः । (२१) विप्रकृष्टदेशवतित्वात् ।

१ कृतः श्र० २ कैशरा—आ० । ३ करोतीति ते च आ० । ४-उच्चार्य निरा—श्र० । ५ कारणानुप—आ० ।

वैपि सकृत्सम्बन्धकरणमयुक्तम्; तत्राखिलवाच्यवाकानां संकृत्संभवाभावात् । शब्दार्थ-
व्यवहारविकल्पस्य कालस्य चाऽसंभवात् । अतो नित्यं एव शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽ-
भ्युपगन्तव्यः ।

तत्प्रतीतिश्च प्रमौणत्रयसम्पाद्या; तथाहि—यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपाद-
यति 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केतः 5
शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भादनुमानतो गवादि-
विषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च शब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं
परिकल्पयतीति । उक्तञ्च—

“शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपत्तमनुमानेन चेष्टया ॥

अन्यथानुपपत्त्या तु वेति शक्तिं द्रव्याश्रिताम् ।” [सी० श्लो० सम्बन्धा० १४०-४१] इति ।

(१) “न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन् कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन सम्बद्ध
आसीत् ।”-शाबरभा० १।१।५। “सर्गादौ हि क्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते ।”-सी० श्लो० सम्ब-
न्धा० श्लो० ४२ । शास्त्रदी० पृ० ४१८ । तत्त्वसं० पृ० ६२७ । न्यायसं० पृ० २४२ । (२) “ओत्प-
त्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः”-जैमिनिसू० १।१।५। “ओत्पत्तिक इति नित्यं भ्रमः । उत्पत्तिर्हि भाव
उच्यते लक्षणया । अविद्युतः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः ।”-शाबरभा० १।१।५। “अपीरुषेयः शब्दस्यार्थेन
सम्बन्धः”-शाबरभा० १।१।५। पृ० ४१ । “अपीरुषेयं सम्बन्धे शब्दः प्रामाण्यमुच्छति ।”-प्रक० पं०
पृ० १११ । “नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः”-वाक्यप० १।२३ । (३) प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपं प्रमाण-
त्रयम् । (४) शब्दं श्रावणप्रत्यक्षेण अर्थञ्च चाक्षुषाध्यक्षेण प्रतिपद्यते । (५) गवादिविषय । (६)
देवदत्तस्य श्रोतुः देवदत्त गामभ्याजेति वाक्यात् गोक्षेपणविषयिणी प्रतीतिर्जाता तद्वाक्यश्रवणानन्तरमेव
गोक्षेपणचेष्टाजन्यानुपपत्तेः । (७) देवदत्त गामभ्याजेति वाक्ये गवादिविषयकक्षेपणार्थवाचिका शक्ति-
रस्ति तत्तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेः । (८) गोविषयकक्षेपणार्थे । (९) ‘शब्दवृद्धाभिधेयान्’-सी० श्लो०,
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८ । न्यायसं० पृ० २४५ । ‘प्रत्यक्षेणैव’-स्या० र० पृ० ६७७ । (१०)
‘अन्यथानुपपत्त्या च बुद्धचेच्छक्तिं द्रव्याश्रिताम् । अर्थापत्त्याऽवबुद्धयन्ते सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥”-सी०
श्लो० पृ० ६८० । प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८ । ‘वेति शक्तिं द्रव्याश्रिताम्’-न्यायसं० पृ० २४५ ।
व्याख्या-“शब्दवृद्धाभिधेयानि”-सम्बन्धप्रतिपत्तेरर्थं न्यायः कुमारिलेन वणितः-यस्मात् प्रथमं तावत्
प्रत्यक्षेण शब्दं वृद्धं च शब्दस्याख्यातारम् अभिधेयञ्च वाच्यं वस्तु पश्यति, ततः पश्चादनुमानेन चेष्टा-
लक्षणेन लिङ्गैश्च श्रोतुः प्रतिपत्तत्वं पश्यति अवधारयतीत्यर्थः । करणं कारकं कृत्वा चेष्टाया अनुमानत्व-
मुक्तम् । तत्तत्तत् पश्चादर्थार्थापत्त्या द्रव्याश्रितां शब्दार्थाश्रितां शक्तिं वेति । अर्थापत्त्या तु साक्षादवबुद्धयन्त
इत्यतोऽर्थापत्त्यावबुद्धयन्त इत्युक्तम् ।”-तत्त्वसं० पं० पृ० ७०६ । “वृद्धानां स्वार्थे संव्यवहरमाणाना-
मुपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते ।”-शाबरभा० १।१।५ । पृ० ५६ । “किञ्चा-
स्त्युपायो बालानाम्, नावश्यं सम्बन्धकथनवाक्येनैव वृद्धेभ्यो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते किन्तु यदा वृद्धाः
प्रसिद्धसम्बन्धाः स्वकार्यार्थेन व्यवहरन्ति तदा तेषामुपशृण्वन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते । यदा हि
केनचित् ‘गामानय’ इत्युक्तः कश्चित् सास्नादिमन्तमानयति तदा समीपस्थो बालोऽवगच्छति-यस्मादय-

1 सकृत्संभवाभावाभावात् आ०, सकृत्संभवात् व० । 2-विकल्पस्य च का-आ० । 3 तद्विषय-
पक्षेणा-श्र० । 4 प्रतिपत्त्युत्पद्यते व० । 5 नु आ०, व० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अनित्यो नित्यो वा’ इत्यादि ; तदसमीक्षिता-

तलिरसरनपुरस्सरम्
पुरस्कृतानित्यसङ्के-
तवशादेव शब्दानाम्
५ अर्थप्रतीपादकत्वस-
मर्थनम्—

मिधानम् ; तैत्सम्बन्धस्य नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपत्तिरित्येव
नित्यत्वानुपपत्तेः । यैद् यद्रूपतया विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत्
तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगदद्वैतरूपतया, नित्यरूपतया विचा-
र्यमाणो नोपपद्यते च शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति । न चास्य तद्वर्ततया
विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वमसिद्धम् ; तथाहि—तत्सम्बन्धस्य नित्यत्वं

स्वभावतः, सम्बन्धिनित्यत्वाद्वा स्यात् ? यदि स्वभावतः ; तर्हि सर्वदा सर्वस्य अर्थमसौ
प्रकाशयतु स्वरूपतस्तस्यै प्रकाशकत्वात् । नहि प्रदीपैः स्वरूपतो रूपप्रकाशकः सन्
कञ्चित्चित् तत् प्रकाशयति कञ्चिन्नेति नियमो दृष्टः । अथ सङ्केतव्यक्तौऽसौ तैत्प्रकाशकः
10 तेनायमदोषः ; कथमेवमस्य नित्यैकरूपता, व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गात् ? नित्यैक-

मेतस्माद्वाक्यादयमर्थः प्रत्यायित इत्येवं सम्मुखरूपेणावगतं प्रत्यायकत्वं पश्चाद्बहुषु प्रयोगेषु अन्यव्यति-
रेकाभ्यां वाक्यभागानां पदानां पदभागानाञ्च प्रकृतिप्रत्ययानां वाक्यार्थभागेषु पदार्थेषु विविच्यते तस्मान्न
पौरुषेयः सम्बन्धः..”-शास्त्रवरी० पृ० ४६३ । ‘तु बुद्धेः शक्तिः’-स्या० २० पृ० ६७७ ।

(१) पृ० ५४२ पं० १६ । (२) शब्दार्थसम्बन्धस्य । तुलना—‘शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य तस्य-
प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात् ।”-न्यायसं० पृ० २४३ । (३) न शब्दार्थसम्बन्धो नित्यः
नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वात् । (४) नित्यरूपतया । (५) सम्बन्धिनोः शब्दार्थयोः
नित्यत्वाद्वा । तुलना—‘असौ नित्यः सन् स्वभावतोऽर्थं प्रकाशयेत्, सङ्केताभिव्यक्तेर्वान्”-स्या० २० पृ०
७०१ । (६) तुलना—“सम्बन्धापौरुषेयत्वे स्यात्प्रतीतिरसंविदः । सम्बन्धापौरुषेयत्वेऽपि ध्यमाणे स्याद-
र्थानां प्रतीतिरसंविदोऽविद्यमानसङ्केतप्रतीतेः पुंसः । न चेच्छब्दार्थयोः साङ्केतिको वाच्यवाचकता
सम्बन्धः किन्तु स्वाभाविकः, तदाऽगृहीतसङ्केतोऽपि श्रुताच्छब्दादर्थं प्रतिपद्येतेति ।”-प्रमाणवा० मनोरथ०
३।२२७ । “यद्यर्थप्रतीपादने शब्दस्य स्वभावेन शक्तिः स्यात् ; एवमर्थाः सन्वेहलक्षणमस्याप्रामाण्यं
स्यात् इष्टेऽनित्ये चार्थं प्रकाशनशक्तिसंभवात् । यदि चास्य स्वभावतः एव सा शक्तिः किं सङ्केतेन ?”
-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२९ । “अर्थद्योतनशक्तेरच सर्वदैव व्यवस्थितः । तद्वेतुरर्थबोधोऽपि सर्वेषां
सर्वदा भवेत् ।”-तत्त्वसं० पृ० ७१० । “सांसिद्धिके हि तथात्वे भ्रमित्वादिप्रयुक्तादित्यतो वा यतः
कुतश्चिदभिनवादिप दीपादिव शब्दादर्थप्रतीपातः स्यात् ।”-न्यायसं० पृ० २४३ । (७) शब्दार्थसम्ब-
न्धस्य । (८) रूपम् । (९) सम्बन्धः । (१०) शब्दार्थप्रकाशकः । तुलना—“सङ्केतात्तदभिव्यक्तावसदर्थान्य-
न्यकल्पना । न वै सम्बन्धो विद्यमानोऽन्यनभिव्यक्तोऽर्थप्रतीतिहेतुः । सङ्केतः खल्वेनमभिव्यक्तिमे (ति)
तर्हि सिद्धोपस्थायी किमकारणं पोष्यते ?”-प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२९ । “यथा दीपस्थार्थप्रकाशने
शक्तस्येन्द्रियापेक्षा तथा शब्दस्येन्द्रियापेक्षा तथा शब्दस्यापि सङ्केतापेक्षेति चेत् ; न ; प्रदीपेन्द्रिययोः
प्रत्येकमभावेऽप्यर्थप्रकाशकत्वाभावात् तन्नान्योन्यापेक्षत्वं युक्तं नैवं शब्दशक्तित्सङ्केतयोः, सङ्केतमात्रेणैवा-
र्थप्रतीतिरुत्पत्तेः तस्मान्न स्वभावतः शब्दोऽर्थप्रतीपादनसमर्थ इत्युत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यम् ।”-प्रमाणवा०
स्ववृ० टी० १।२२९ । प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७ । “तस्मिन् सङ्केतसापेक्षा शक्तिश्चेत्परिकल्प्यते ।
ननुपकार्येष्वेत नोपकार्या च साऽवच्छा ।”-तत्त्वसं० पृ० ७१० । “अथ सङ्केताभिव्यक्तेः ; कथमस्य नित्यै-
करूपत्वमुपपन्नं व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गेः”-स्या० २० पृ० ७०९ । (११) शब्दार्थसम्बन्धस्य ।

१ स्वभावात् व० । संभवस्वभावतः श्र० । २ प्रकाशयेत् श्र० । ३-पस्तत्स्वरूपतोत्तत्प्रकाशकः
व० । ४ प्रकाशकं क-व० ।

रूपं हि वस्तु यदि व्यक्तं तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य ।

किञ्च, सङ्केतः पुरुषाश्रयः, स च अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केते कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्यैवाऽप्रामाण्यं स्यात् ।

किञ्च, नित्यसम्बन्धवशात् शब्दः एकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतश्चेत्, किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, तैत्तिरीयस्यैवानलक्षणमप्रामाण्यम् । चौरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढः कथं दाक्षिण्यैः औदने प्रयुक्तः तमभिदध्यात् । अथैकदेशेनासौ तन्नियतः; स किमेकदेशः अभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याऽप्रामाण्यं स्यात् । अथाऽभिमतैकार्थनियतः; किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अस्यपौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः । पुरुषो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यैकरूपस्य सम्बन्धस्य । (२) तुलना—“अर्थज्ञापनहेतुर्हि सङ्केतः पुरुषाश्रयः । गिराम-पौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसंभवः ॥ किं ह्यस्यापौरुषेयतया ? यतो हि समयादर्शप्रतिपत्तिः, स पौरुषेयः वितथोऽपि स्यात्, शीलं साधनं स्वर्गवचनम्, अन्यथा समयेन विपर्यसयेत् तेनायथार्थमपि प्रकाशनसंभवात्” —प्रमाणवा० स्वबृ० १।२२८ । “सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यादर्शप्रतीतेरभावात् । अर्थज्ञापनहेतुरिह सङ्केतः स्वीकर्तव्यः, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रयः । अतः सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिराम-पौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भवः । सङ्केतवशेन वाचोऽर्थं ब्रूते । स च दोषाश्रयेण पुरुषेण कृतिरिति तासां न विसंवादशङ्कानिरासः पौरुषेयवाक्यवदिति व्यर्थमपौरुषेयत्वकल्पनम् ।” —प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२६ । “अर्थद्योतनहेतोश्च सङ्केतस्य नराश्रयात् । शक्तवितरजन्यायामपि मिथ्यात्वसंभवः ॥” —तत्त्वसं० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (३) पुरुषः । (४) वेदस्य । (५) तुलना—“किञ्च वाचं किमेकेनार्थेन सह वाच्यवाचकसम्बन्धः, अथानेकैः ? गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गतिः । अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसंभवः ॥ गिरामेकस्मिन्नर्थे वाचकतया नियमे सति संकेतवशादन्यत्रार्थं न स्याद् गतिः, दृश्यते च विवक्षातोऽनेकार्थाभिधानम् । अनेकैरर्थैर्वाचकत्वाभिसम्बन्धे विरुद्धस्यार्थस्य व्यक्तेः प्रतीतेः संभवः स्यात् । अग्निष्टोमः स्वर्गस्य साधनमिति विपर्ययोप्यवसीयेत । ततश्चाप्रवृत्तिरेव स्यात् स्वर्गाश्रितः ।” —प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२८ । “सा शक्तिरेकार्थनियता वा भवेन्नानार्थनियता वा ।” —तत्त्वसं० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । “यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्वं को दोषो येन सङ्केतस्तत्राप्येतेषु ? इति चेदुच्यते—तत्सर्वविषयं नियतविषयं वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थ-प्रतीतिप्रसङ्गात् तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविकलोः । तत आह—न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतास्त्रियमो यदि । द्वितीयविकल्पे दोषमाह —सम्बन्धनियमेऽप्यत्र सङ्केतेऽपि न वर्तताम् ॥” —न्यायवि० का० ४३१ । (६) वेदस्य । (७) “चौरशब्दो (यथा) लोके भक्ष्यार्थं प्रतिपादयेत् । केषाञ्चिच्चोरमेवाहुः तन्नेप्येवं पदास्तथा ॥” —ज्ञानसि० पृ० ७५ । “यथा चौरशब्दस्तस्करवचनं ओदने दाक्षिणात्यैः प्रयुज्यते ।” —न्यायमं० पृ० २४२ । प्रश्न० कन्व० पृ० २१५ । (८) एकदेशार्थनियतः । तुलना—“य एवार्था वस्तुस्थित्या स्वर्गसाधनः किन्तु नैव समयकारेणग्निहोत्रादिशब्दोऽभिव्यक्तः किम्वाऽन्यस्मिन्नेव स्वर्गसाधनविरुद्धे बुद्धिमान्वावदिति सन्वेह एव ।” —प्रमाणवा० स्वबृ० टी० १।२३० । (१०) वेदस्य । तुलना—“स इति शब्दः सर्वस्मिन् वाचकत्वेनानियतः नियमं क्वचिदर्थं पुरुषात् पुरुषसङ्केतात् प्रतिपद्यते । स च पुरुषो विरुद्धेऽप्यर्थे सङ्केतं कुर्यात् । तथा च न केवलं विरुद्धव्यक्तिसंभवः । यापीयमपौरुषेयता वेदमेष्टा तस्या व्यर्थं स्यात् परिकल्पना ।” —प्रमाणवा० स्वबृ० टी० १।२३० । “अथानेका-

त्वात् प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्येत किमपौरुषेयत्वेन ?
स्वभावादभिमतैकार्थनियमे तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्तिः । अनेकार्थनियतत्वे तु वेदस्य
सकलार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात् ?

“तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामे इति श्रुतौ ।

5 खादेत् श्रमांतमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥” [प्रमाणवा० ३।३१८]

तत्र स्वरूपतः सम्बन्धो नित्यः ।

नैपि सम्बन्धिनित्यत्वात्; यतः कोऽत्र नित्यः सम्बन्धी-शब्दः; अर्थः; द्वयं वा ?
न तावच्छब्दः; तस्याग्रेऽनित्यत्वप्रसाधनात् । नाप्यर्थः; घटादेस्तदर्थस्य अनित्यतया
प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः । अथ सामान्यं तदर्थः; तच्च नित्यम्, अतस्तद्विश्रितः सम्बन्धोऽ-
10 पि नित्य इत्युच्यते; तदसत्; सामान्यस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः; तद्वानेव शब्दार्थः
इत्येव समर्थयिष्यमाणत्वात्, परंपरिक्लिप्तसामान्यस्य निर्भिद्वत्वाच्च । उभयपक्षोऽपि
उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुपपन्नदुःखः ।

यथैभिधाप्यपि शब्दः पुरुषेण सङ्केतादभिमतार्थभिधायित्वेन नियम्यते तदा-अपौरुषेयतायाञ्च व्यर्थं
स्यात्परिकल्पना । वाच्यश्च हेतुभिन्नानां सम्बन्धस्य व्यवस्थितेः ॥”-प्रमाणवा० मनोरथ ३।२२९ ।

(१) तुलना-“असंस्कार्यतया पुमिः सर्वथा स्यान्निरर्थता । संस्कारोपगमे मुख्यं गजस्तानमिदं
भवेत् ॥”-प्रमाणवा० ३।२३० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (२) तुलना-“प्रकृत्यैव स्वभावेनैव वैदिकाः
शब्दा निग्रता अभिमतेऽर्थं ततो न पुरुषसंस्कारकृतो दोष इति चेत्; एवं सत्यर्थप्रकाशने नोपदेशमपेक्षेरत्,
अपेक्षन्ते च, स्वतस्तेऽप्योऽर्थप्रतीतेरभावात् । यदि च ते स्वभावात् एव प्रतिनियताः स्युः तदा यत्र न्वचिदर्थे
एकदाः समिताः पुनः कथञ्चित् ततोऽप्यथा सङ्केतेनार्थान्तरं न प्रकाशयेयुः, प्रकाशयन्ति च ततो न
प्रकृत्यैकार्थनियताः इति । स्वभावतश्चैकार्थनियमे योऽयं वैदिकेषु वाक्येषु व्याख्यातृणां व्याख्याविकल्पश्च
अपरापरव्याख्याभेदश्च न स्यात् एकार्थप्रतिनियमात्, भवति च, तस्मात् पौरुषेयवाक्यवन्नैकार्थनियता
वैदिकाः शब्दा इति ।”-प्रमाणवा० स्वबु० टी० १।२३० । (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाट्टवेदा-
न्तिप्राभाकाराणां वेदार्थविषये व्याख्याभेदो न स्यादिति भावः । (४) तुलना-“सर्वत्र योग्यस्यैकार्थ-
द्योतने नियमः कुतः ॥”-प्रमाणवा० ३।३२६ । “तानार्थद्योतने शक्तिर्भवेत्येकस्य हि ध्वनेः । नाग्निहो-
त्रादयस्त्वयः सर्वे सर्वेऽप्योगिनः । तदिष्टविपरितार्थद्योतनस्यापि संभवात् । नित्यशब्दार्थसम्बन्धकल्पना
वो निरर्थिका ॥”-तत्त्वसं० पृ० ७११ । (५) “अग्निहोत्रं जुहुयात्”-मैत्रु० ६।३६ । (६) व्याख्या
“तेनेति अपरिश्रुतार्थत्वेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ वेदवाक्ये खादेच्छ्वर्गमासमित्येष नार्थः
किन्त्वप्योऽभिमतोऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ? नैव किञ्चित्प्रमाणम् ।”-प्रमाणवा० स्वबु० टी० १।३२० ।
“अग्निं हृत्तीति अग्निहः श्वा तस्योत्रं मांसं जुहुयात् खादेत् । अथवा अग्निं गच्छतीत्यग्निः श्वा हृत्येऽ-
द्यते यत्तत् होत्रं मांसम् अग्निहोत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमांसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विजः ॥”
-प्रमेयपरत्वा० टि० पृ० १३४ । उद्धृतोऽयम्-शास्त्रवा० इल्लो० ६०५ । न्यायसं० पृ० ४०५ ।
नन्विमलय० पृ० १९ । (७) तुलना-“सम्बन्धिनमित्यत्वाच्च सम्बन्धेऽस्ति नित्यता ।”-प्रमाणवा०
३।२३१ । (८) शब्दस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अर्थस्य । (१०) शब्दार्थः-आ० टि० । (११)
सामान्याश्रितः । (१२) सामान्यदानेव । (१३) मीमांसकनैयायादि । (१४) पु० २८५ ।

अस्तु वा कुतश्चिन्नित्यः सम्बन्धः; तर्थाप्यसौ किमैन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात् ? नतावदैन्द्रियः; नित्यस्वभावस्यै कचिदपीन्द्रियेऽप्रतिभा-
समानत्वात् । अर्थातीन्द्रियः; कथमर्थप्रतिपत्त्यङ्गम् अज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात् ?
“नाज्ञातं ज्ञापकं नामै” [] इत्यभिधानात् । सन्निधिसाधने ज्ञापकत्वेऽति-
प्रसङ्गात् । नाप्यनुमानगम्यः; सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वे तत्पूर्वकत्वेनात्राऽनुमानस्याऽप्रवृत्तेः । 5
न ह्यगृहीतप्रतिबन्धं किञ्चिद्विज्ञमनुमानमाविर्भावयत्यतिप्रसङ्गात् । अधास्याप्रत्यक्ष-
त्वेऽपि अनुमानात् प्रतिबन्धग्रहो भविष्यति; ननु किमत एवाऽनुमानात्, तदन्तराद्वा
तद्ग्रहः स्यात् ? यद्यत एव; अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि अनुमाने तद्ग्रहसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चा-
नुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात्तत्सिद्धौ अनवस्था, तत्रापि तद्ग्रहस्य अनुमानान्त-
रात् प्रसिद्धेः । न चात्र किञ्चिद्विज्ञमस्ति ।

10

नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम्—अर्थज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा ? न तावदर्थज्ञानम्;
सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात् । नार्थार्थः; तस्य तेन सम्बन्धासिद्धेः;
नहि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्यं संभवति घटार्थवत् सम्बन्धस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि
तदुत्पत्तिः संयोगादिर्वा; अनभ्युपगमात् । नापि शब्दो लिङ्गम्; अर्थपक्षोपक्षितदोषानु-

(१) तुलना—“किञ्चासी सम्बन्धः ऐन्द्रियः अतीन्द्रियः अनुमानगम्यो वा स्यात् ।”—प्रमेयक०
पृ० ४३० । (२) तुलना—“न च नित्यः सम्बन्धः शब्दार्थयोः प्रमाणनावसीयते; प्रत्यक्षेण तस्याननुभ-
वात्, तदभावे नानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात् ।”—सन्ति० टी० पृ० ४२६ । (३) शब्दार्थ-
सम्बन्धस्य । (४) तुलना—“नातीन्द्रियः सम्बन्धः; ततोऽतीन्द्रियात् सम्बन्धात् अर्थस्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।
किं कारणम् ? अप्रसिद्धस्य स्वेन रूपेण अनिश्चितस्य अज्ञापकत्वात् । न हि येन सह यस्य सम्बन्धो न
गृह्यते तद्द्वारेण तस्य प्रतीतिर्युक्ता । अथाज्ञात एव सम्बन्धोऽर्थं ज्ञापयतीन्द्रियवदित्याह—सन्निधिसाधने-
णेत्यादि । सम्बन्धस्य सन्निधिसाधने सत्तामात्रेणार्थज्ञापनेऽभ्युपगम्यमाने शब्दार्थसम्बन्धं प्रत्यव्युत्पत्ता-
नामपि अर्थस्यायं वाचक इति प्रतिपत्तिः स्यात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० १।२३८ । तत्त्वसं० पृ० ७१२ ।
प्रमेयक० पृ० ४३० । (५) उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० १२४, २०६ । (६) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन । (७)
शब्दार्थसम्बन्धे । (८) प्रतिबन्धोऽविनाभावसम्बन्धः । (९) शब्दार्थसम्बन्धस्य । (१०) अनुमाना-
न्तरात् । (११) अविनाभावग्रहः । (१२) अविनाभावग्रहणे । (१३) अनुमानान्तरेऽपि । (१४)
शब्दार्थसम्बन्धाधिगमे । तुलना—“नानुमानात् प्रतिपत्तिः सम्बन्धस्य । कुतः ? लिङ्गाभावात् । नहि
सम्बन्धसाधनं किञ्चिच्छलमस्ति । अर्थप्रतीतिरपि न लिङ्गं दृष्टान्तासिद्धेः । न हि क्वचिद् दृष्टान्ते
सम्बन्धकार्या अर्थप्रतीतिः प्रतिपत्ता । किङ्कारणम् ? तत्रापि दृष्टान्तत्वेनोपनीते सम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वेन
कारणेन साधनापेक्षणात् । न चास्ति साधनं तत्रापि दृष्टान्तासिद्धेः ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८ ।
(१५) “तस्य हि लिङ्गं ज्ञानमर्थः शब्दो वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४३० । (१६) प्रतिपत्ते हि सम्बन्धे तस्य
कार्यमर्थज्ञानं निश्चीयते, स चाद्यापि न सिद्धः—आ० टि० । (१७) तुलना—“शब्दार्थो लिङ्गमिति चेदाह-
नहीत्यादि । न हि तत्र सम्बन्धविशेषे शब्दरूपमर्थो वा लिङ्गम् । किङ्कारणम् ? तयोः शब्दार्थयोः सर्वत्र
योग्यत्वात् । सर्वस्य शब्दस्य सर्वस्मिन् सर्वे वाचकत्वेन योग्यत्वात् सर्वस्य चार्थस्य सर्वस्मिन् शब्दे वाच्यत्वेन
योग्यत्वात् । अर्थविशेषप्रतीतिश्च कारणं सम्बन्धविशेषः, तस्य च अर्थविशेषप्रतीतिसमाश्रयस्य सम्बन्धस्य
अनियताभ्यां शब्दार्थाभ्यामप्रत्यायनात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८ । (१८) सम्बन्धस्य ।
(१९) अर्थेन ।

पङ्गात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।
यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरुषम्' इत्यादि दूषणमुक्तम्; तदप्यसमीक्षिताभिधान-
नम्; अनादित्वात् शाब्दव्यवहारस्य । नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशलक्षणो
महाप्रलयः असतदचालमलमलक्षणा सृष्टिः अस्माकं भैरवैतां वा प्रसिद्धा येन अपूर्व-
सृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन 'समयः प्रतिमर्त्यं वा' इत्याद्युक्तं शोभेत । नित्यत्वेऽपि च तत्सम्ब-
न्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्रापीदं दूषणं तुल्यम् । कथञ्चैवं वादिनोऽ-
ग्निधूमयोरपि सम्बन्धः सिद्धेत् तत्राप्युक्तविकल्पानां समानत्वात् । अथाग्निधूमत्व-
सामान्ययोरनित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्सम्बन्धनित्यत्वसंभवात् नोक्तविकल्पानां
तत्रावकाशः; तदप्यपेक्षलम्; केवलसामान्ययोः सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके
प्रतिषिद्धत्वात् । नित्यत्वञ्च सामान्यस्य प्रागेवं प्रतिषिद्धम् । अतो यथा सादृश्यप्रधान-
तया सादृश्योपलक्षितानां साध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनन्तानामपि व्याप्तिज्ञानेन
कोडीकरणं तथा वाच्यवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि । अतः "सम्बन्धस्त्रिप्रामाणकः"
[मी० श्लो० ५० १८०] यस्मैवोच्यते, तत्र 'शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इति
युक्तम् । 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इत्यप्युपपन्नम्, 'अन्यथातुपपत्त्या तु वेति
शक्तिं द्रव्याश्रिताम्' इत्येतत्त्वनुपपन्नम्; नित्यशक्तौ सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात् ।
वह्निधूमैर्दिशक्तिवत् शब्दार्थाश्रितायाः शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुरर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

एतेनेदमपि निरस्तम्—

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः तत्राभ्याता महर्षिभिः ।

सूत्राणां सौनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रयोतृभिः" ॥" [वाक्यप० १।२३] इति;

(१) ५४३ पं० १३। (२) जैनानाम् । (३) मीमांसकानाम्—आ० टि० । "तस्मादशब्देवात्र
सर्गप्रलयकल्पना । समस्तकथजन्मभ्यां न सिद्धघल्यप्रमाणिका ।"—मी० श्लो० सम्बन्धोऽश्लो० ११३ ।
(४) अभिव्यक्तवति । (५) शब्दार्थयोः नित्यसम्बन्धवादिनः । (६) अग्निधूमसम्बन्ध । (७)
नानित्यधूमत्वयोरविनाभावो गृह्यते किन्तु अनित्यविशिष्टाग्निना सह धूमत्वविशिष्टधूमस्याविनाभावः
गृह्यते इति भावः । (८) ५० ४२३ । (९) ५० २८५ । (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्येऽपि
सादृश्याद् व्याप्तिज्ञानेन कोडीकृतिः एवं वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तेन कोडीकरणम्,
अस्ति ह्यत्रापि सादृश्यम्, घटशब्दवाच्योऽयं पुषुबुधोदराद्याकास्त्वात् पूर्वोपलब्धघटान्तरवत् । —आ०
टि० । (११) तुलना—“अतएव च सम्बन्धस्त्रिप्रामाणक इति यत्त्वोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते । शब्द-
वृद्धाभिधेयानि च प्रत्यक्षेणात्र पश्यतीति सत्यं श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयेत्येतदपि सत्यम् । अन्य-
थातुपपत्त्या तु वेति शक्तिं द्रव्याश्रितामित्येतत् न सत्यम्; अन्यथाप्युपपत्तेरित्युक्तत्वात् ।"—न्यायसं०
५० २४५ । (१२) मीमांसकेन कुमारिलभट्टेन । (१३) ज्ञाप्यज्ञापकशक्ति—आ० टि० । (१४)
यथाहि वह्निधूमयोः ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिरनित्याऽपि अनुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शब्दार्थयोः वाच्य-
वाचकशक्तिरपि । (१५) सवृत्तिकाणां (ना) म्—आ० टि० । "अनुतत्त्वं वाक्तिकम्"—वाक्यप० पु० ६।० ।
(१६) "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे । सिद्धे शब्दार्थे सम्बन्धे चेति ।"—पा० महाभा० पु० ५५ । "नित्यः

१ भवतो वा श्र० । २—वादिनो धूमाग्नयोरपि श्र० । ३—विद्धं यथा श्र० ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनान्त्, शब्दस्य तदर्थस्य चापि अनित्यतया समर्थयिष्य-
माणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावप्रतिपाद-
नाच्च । कथञ्चैवंवादिनः कैर्येथे चोदनायाः प्रामाण्यं स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात् ?
ततः सिद्धं कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम् । अतः
सूक्तम्—‘संवादकं श्रुतं प्रमाणम्’ इति ॥ छ ॥

5

ननु श्रुतस्याविसंवादित्वमसिद्धम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात् । य एव
‘शब्दस्यान्यापोहमा- हि शब्दाः सत्यर्थे दृष्टाः ते तदभावेऽपि दृश्यन्ते, अतः शब्दानां
त्राभिप्रायकत्वम्’ इति विधिद्वारेणाऽर्थाभिधायकत्वानुपपत्तेः अन्यापोहमात्राभिधायकत्वमेवो-
चोदस्य पूर्वपक्षः— पपन्नम् । उक्तञ्च—“अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनीध्यते”

शब्दः नित्योऽर्थः नित्यः सम्बन्ध इत्येषा शास्त्रव्यवस्था । तत्राम्नाता महर्षिभिः सूत्रादीनां प्रणेतृभिः ।
व्याकरण एव ये सूत्रादीनां प्रणेतारस्ते व्यपदिश्यन्ते । तत्र सूत्राणामारम्भादेव शब्दानां नित्यत्वमभि-
मतम् । न ह्यनित्यत्वे शब्दादीनां शास्त्रारम्भे किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति । व्यवहारमात्रं ह्येतदनर्थकं न
महत्तः शिष्टाः समनुगन्तुमर्हन्तीति तस्मात् व्यवस्थितसाधुत्वेषु शब्देषु स्मृतिशास्त्रं प्रवृत्तमिति ।—
वाक्यप० हरि० १।२३ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिभि० टी० पृ० ५०५ । प्रमेयक० पृ० ४२९ ।

(१) पृ० ३७२ । (२) नित्यस्यसम्बन्धवादिनः—आ०टि० । (३) अम्नायस्य क्रियार्यत्वात्...—
जैमिनिस्मृ० १।२। १। “चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः ।”—शब्दरत्ना० १।१। २। (४) अग्नि-
ष्टोमादिग्रन्थकर्मणः । (५) “अतीताज्ञातयोर्वपि न च स्यादनुतार्थता । वाचः कस्याश्चिदित्येषा
बोद्धार्थविषया मता ।”—प्रमाणवा० ३।२०७ । (६) “विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते । ततोऽ-
न्यापोहनिष्ठत्वादुक्तज्ञान्यापोहकृच्छ्रः । विकल्पानां प्रतिबिम्बेष्वकारेषु तन्निष्ठेषु तद्व्यावृत्तिवस्तुत्वेन
व्यवस्थाविषयतया तद्व्यवहारव्यवस्थितिषु सङ्केतकाले निबध्यते ततो विकल्पप्रतिबिम्बानां बाह्यव्या-
वृत्तात्मत्वेन व्यवहारविषयत्वात् अन्यापोहनिष्ठत्वात् कारणात् उक्ता श्रुतिरन्यापोहकृत् । अन्यव्यावृ-
त्ताकारविकल्पजननात् अन्यव्यावृत्तेषु प्रवर्तनाच्च शब्दोऽन्यापोहकृदुक्तः । ननु शब्दे ज्ञाने ग्राह्यं बाह्य-
तयैव प्रतीयते न ज्ञानाकारतया इत्याह—व्यतिरेकीव यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम् । शब्दात्तदपि नाथो-
त्सा भ्रान्तिः सा वासनोदभवः ॥...यथा तैमिरिकदृष्टेषु केषुचिद् बाह्यभ्रमः एवं विकल्पाकारेऽपि बाह्य-
व्यवहारोऽविद्यावशादित्यर्थः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।१६४-६५ । “तत्र यत्तदोरोपितं विकल्पधिया
अर्थेष्वभिन्नं रूपं तदव्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलायातत्वात् स्वयञ्च अन्यव्यावृत्ततया प्रख्यानाद् भ्रान्तिरचा-
न्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाव्यवसितत्वात् अन्यापोहपदार्थाधिगतिकलत्वाच्चाप्यपोह इत्युच्यते । तेनापोहः
शब्दार्थ इति प्रसिद्धम् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० २७४ । “अपोहो बाह्यतया आरोपित आकारोऽपोहोऽ-
नेनेति कृत्वा... यदा अपोह्यतेऽस्मिन्नत्यपोहः स्वलक्षणम्...तस्मान्न विकल्पानां स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योऽपि
तु स्वाकारेण सहैकीकृत एव बाह्यो विषयः, स चास्त्योऽपोह्यतेऽन्यदनेनेति अपोह उच्यते ।”—प्रमाणवा०
स्वद्वं० टी० १।४८ । “ननु कोऽयमपोहो नाम ? यथाव्यवसायं बाह्य एव षटादिरर्थोऽपोह इत्यभिधीयते
अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा । यथाप्रतिभासं बुद्ध्याकारोऽपोहः अपोह्यते पृथक्क्रियतेऽस्मिन्
बुद्ध्याकारे विजातीयमिति कृत्वा । यथातत्त्वं निवृत्तिमात्रं प्रसङ्गरूपोऽपोहः अपोहनमपोहः इति
कृत्वा ।”—तत्त्वसं० मी० पृ० २६ । (७) उद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० १४० । स्थामं० पृ० १८० ।
तुलना—“कथं स एव व्यवच्छेदः शब्दलिङ्गाभ्यां विधिना प्रतिपाद्यते न वस्तुरूपमिति गम्यते ?”—

- [क्षणभङ्गाध्यायः (?)] इति । प्रयोगः—यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषयः यथा अक्षजे संवेदने परिस्फुटप्रतिभासमानवपुरथात्मा नीलादिस्तद्विषयः, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये बहिरर्थतत्त्वरहितं स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च तत्प्रभवप्रत्यये बहिरर्थोऽसंस्पर्शस्वरूपमात्रावभासित्वमसिद्धम्; शब्दलिङ्गयोर्बहिरर्थ-
 5 विषयत्वायोगतस्तत्सिद्धेः । तथाहि—शब्दस्य बहिरर्थो विषयो भवन् स्वरक्षणस्वभावो भवेत्, सामान्यस्वरूपो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नाः; तत्रै सङ्केताभावतः शब्दानां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सङ्केतो हि सङ्केतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे विधीयते, न च स्वरक्षणस्य तथाविधं स्वरूपं संभवति देशकालाकारसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । यैः सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दः सङ्केत्यते यथा उत्पन्नामात्र-
 10 प्रध्वंसिनि कचिदर्थे, नान्वेति च विवक्षितदेशादिभ्यः शाबलेयादिर्देशान्तरादाविति ।
 किञ्च, 'अस्येदमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने प्रैतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वरक्षणयोः प्रतिभासः । न च तत्राप्रतिभासनयोः

प्रमाणवा० स्व० १।४४ । "अन्यापोहविषया आचार्येण प्रोक्ताः 'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यते' इति ब्रुता ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१३३ ।

(१) शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्यययोः बहिरर्थरहितं स्वरूपमात्रमेव विषयः तत्र स्वरूपमात्रस्यैव प्रतिभातत्वात् । "उच्यते विषयोऽमीषां धीध्वनीनां न कश्चन । अन्तर्मानिविष्टं तु बीजमेवां निबन्ध-
 नम् । तथाहि—अस्माभिरिष्यत एवैषामन्तर्जलवासनाप्रबोधो निमित्तम्, न तु विषयभूतं भ्रान्तत्वेन पूर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निविषयत्वात् । अन्तर्मानिविष्टमिति विज्ञानसन्निविष्टं वासनेति यावत् । एतदेवागमेन संस्वदयन्नाह यस्य यस्येत्यादि—यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स संविद्यते नैव वस्तूनां सा हि धर्मता ॥"—तत्त्वसं०, पं० पृ० २७५ । (२) "यतः स्वरक्षणं जातिस्तद्विषयो जातिमांस्तथा । बुद्ध्याकारो न शब्दार्थे घटामञ्चित तत्त्वतः ।"—तत्त्वसं० पृ० २७६ । (३) "शब्दाः सङ्केतितं प्राहु-
 र्व्यवहाराय स स्मृतः । तदा स्वरक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न ॥"—प्रमाणवा० ३।९१ । "तदा व्यव-
 हारकाले तत्स्वरक्षणं नास्ति यत्र सङ्केतः कुतः । एकस्यापि स्वरक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे तेनैव
 क्षणानुगमो नास्ति, अक्षणिकत्वे वा सङ्केतज्ञानाभावादेव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत
 देशकालभित्रेषु स्वरक्षणेषु, तेन कारणेन तत्र स्वरक्षणेषु संकतो न क्रियते ।"—प्रमाणवा० स्व० टी० ।
 "तत्र स्वरक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते । सङ्केतव्यवहारात्कालव्याप्तियोगतः ॥ एतदुक्तं भवति—
 समयो हि व्यवहारार्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यस्यैव सङ्केतव्यवहारात्कालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव
 समयो व्यहृतृणां युक्तो नान्यत्र । न च स्वरक्षणस्य सङ्केतव्यवहारात्कालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न
 तत्र समयः इति । व्यक्त्यात्मानोऽनुगम्यते न परस्पररूपतः । देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः ॥
 तस्मात्सङ्केतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते । नचागृहीतसङ्केतो बोद्धव्येताम् इव ध्वनः ॥"—तत्त्वसं०, पं०
 पृ० २०७ । (४) एकप्रमाणवाकारतया एकक्षणस्थायितया निरंशतया च न देशकालाकारान्तरव्याप्तिः
 स्वरक्षणस्यास्येति भावः । "तस्य देशकालभेदेध्वनास्त्वनानात्, तस्येति सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारावस्था-
 नाविषु देशकालभेदेषु अनास्त्वनानात् अननुगमात् । न हि एकत्र दृष्टो भेदोऽन्यत्र संभवति ।"—प्रमाणवा०
 स्व० टी० १।९४ । (५) स्वरक्षणे नास्ति सङ्केतः सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वात् । (६) यो हि
 विवक्षितदेशो सोऽन्यः यश्च देशान्तरं याति सोऽन्यः क्षणिकत्वात्—आ० टि० । (७) श्रोत्रचक्षुषी ।

स्तयोस्तेनै सम्बन्धकरणं युक्तमतिप्रसङ्गात् । यौ अस्वेदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने न प्रतिभासेते न तयोस्तेन ज्ञानेन सम्बन्धकरणं यथा गोशब्दतदर्थयोः सम्बन्धज्ञानेऽप्रतिभासमानयोः अद्वयशब्दतदर्थयोः न तेनै ज्ञानेन सम्बन्धकरणम्, न प्रतिभासेते च स्वेन्द्रियज्ञानप्रतिभासिनौ शब्दार्थस्वभावौ अस्वेदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने इति । न चैतेनाऽकृतसम्बन्धः शब्दस्तं प्रत्याययितुमीशः अतिप्रसङ्गादेव । यौ येन सहाऽकृत- 8 सम्बन्धो न स तमर्थं प्रत्याययति यथा अद्वेन सहाकृतसम्बन्धो गोशब्दः, अकृतसम्बन्धश्च स्वलक्षणेन सर्वः शब्द इति । स्वलक्षणविषयत्वे च शब्दप्रत्ययस्य इन्द्रियप्रभवप्रत्ययवत् स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम्, प्रतीतिविरोधात् । तदुक्तम्—

“अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यञ्चब्दस्य गोचरः ।

शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते” ॥” []

10

“अन्यथैवाग्निस्त्वन्वाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥” [वाक्यप० २।४२५] इति ।

(१) शब्दार्थस्वलक्षणयोः—आ० टि० । (२) ज्ञानेन—आ० टि० । (३) शब्दार्थो—आ० टि० । सम्बन्धग्राहिज्ञाने न शब्दार्थस्वलक्षणयोः सम्बन्धग्रहणम् सम्बन्धग्राहिज्ञानेऽप्रतिभासमानत्वात् । (४) गोशब्दार्थसम्बन्धग्राहिणा । (५) चक्षुर्ज्ञानेऽर्थस्वलक्षणं श्रोत्रज्ञाने शब्दः प्रतिभाति—आ० टि० । (६) “एतदुक्तं भवति—यद्यगृहीतसङ्केतमर्थं शब्दः प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यवयं प्रतिपादयेत्, सङ्केतकरणार्थक्यञ्च स्यात्, तस्मादतिप्रसङ्गापत्तिः बाधकम् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० २७७ । (७) शब्दः न स्वलक्षणं प्रतिपादयति तस्मिन्नकृतसङ्केतत्वात् । “प्रयोगः—ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽवशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धेः कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० २७६ । (८) व्याख्या—“अन्यदेव रूपादिस्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम्, तस्मादन्यः शब्दस्य गोचरो विषय इति गृह्यताम् । शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षः प्रध्वस्तनयनः, न तु प्रत्यक्षं यथा भवति तथेक्षते । समानविषयत्वे वाऽन्यस्यैवान्वस्यापि शब्दादपरोक्षेव प्रतिपत्तिः स्यात् । तथात्वे इन्द्रियाग्निस्त्वन्वादिद्वद् दाहशब्दादपि दाहार्थप्रतिपत्तिः स्यादित्याह—अन्यथैव—”-प्रश० व्यो० पृ० ५८४ । “अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यं स्वलक्षणम्, अन्यच्छब्दस्य गोचरः सामान्यलक्षणम्, कुतः ? शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षः अन्धोऽपि घटादि, न तु प्रत्यक्षमीक्षते चक्षुष्मानिव । एतदेव भावयति—अन्यथा स्पष्टानुभवेन दाहसम्बन्धात् इन्द्रियार्थयोगेन दाहं स्वगतं दग्धोऽभिमन्यते, एवं पुमान् जानाति, अन्यथा स्वस्पष्टानुभवतः दाहशब्देन तेन दाहार्थः संप्रतीयते श्रोत्रा ।”—शास्त्रवा० टी० श्लो० ६६६-६७ । (९) स्फाटितनेत्रः—आ० टि० । (१०) उद्धृतोऽयम्—अन्यः शब्दस्य—प्रश० व्यो० पृ० ३८४ । न्यायसं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६६ । अनेकान्तजय० पृ० ४५ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । सम्मति० टी० पृ० २६० । धर्मसं० वृ० पृ० १४९ । स्या० २० पृ० ७१० । (११) व्याख्या—“दाहाद्यर्थः प्रतीयते—यदि शब्देन यथावद्वाहोऽर्थः प्रत्याग्यते तदा शब्दसन्निधापितोऽसौ तामार्थक्रियां कथञ्च कुर्यात्, यतश्चाग्निस्त्वन्वाद्दाहोऽर्थः यथाऽनुभूतिः दाहशब्देन च दाहमन्यथाऽवगच्छतीति शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद्वास्तवः समन्वय इति बोद्धव्यम् ।”—वाक्यप० पु० टी० । उद्धृतोऽयम्—प्रश० व्यो० पृ० ५८४ । न्यायसं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६७ । अनेकान्तजय० पु० ४५ । नयचक्रवृ० लि० पृ० ४४ B. । ‘संप्रकाशयते’-तत्त्वसं०

1 स्वेन्द्रियविज्ञान-अ० । 2 उक्तञ्च व० । ३-क्षते ॥ इति । ब० ।

नैचैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दप्रत्यये प्रतिभासेत; एकस्य द्वित्वविरोधात् । प्रयोगः—यत्कृते प्रत्यये यन्न प्रतिभासते न तत्तस्य विषयः यथा रूपप्रभवप्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शब्दप्रत्यये स्वरक्षणमिति । वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः । उक्तञ्च—

“परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु सम्यगन्तरभेदिषु ॥” [प्रमाणवा० ३।२०६] इति ।

तन्न स्वरक्षणस्वभावः शब्दस्य विषयो घटते ।

नापि सामान्यरूपः; बौस्तवस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात्, तदसंभवश्च अत्र-
विषाणवदनर्थक्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्धः । न खलु नित्यैकस्वभावस्यैव क्रमयोगपद्याभ्या-

पं० पृ० २८० । प्रमेयकं पृ० ४४७ । सम्मति० टी० पृ० १७७, २६० । स्या० २० पृ० ७१० । तुलना—“(उष्णादिप्रतिपत्तिर्या) नामादिध्वनिभाविनी । विस्पष्टा (भासते नैवा) तदर्थेन्द्रियबुद्धिबत् ॥ यथा द्युष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धिः स्फुटप्रतिभासा वेद्यते न तथोष्णादिशब्दभाविनी । न द्युष्णपहतनयन-
रसनघ्राणादयो मानुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्वत्प्राप्तानुभाविनी भवन्ति यथाऽनुपहतनयनादय इन्द्रियधि-
याऽनुभवन्तः ।”—तत्त्वसं०, पं० पृ० २८० ।

(१) “न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम् । येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दरभि-
धीयते इति स्यात्, एकस्य द्वित्वविरोधात् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० २८१ । “न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेत अन्येन विकल्पे । तथा सति वस्तुन एव भेदप्राप्तेः ।”—अपोहसि० पृ० ७ । (२) स्वरक्षणं न शब्दप्रत्ययविषयः शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमा-
नत्वात् । “न स तस्य च शब्दस्य युक्तो योगो न तत्कृते । प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे यथा रसः ॥ प्रयोगः—यो हि तत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शब्दे प्रत्यये स्वरक्षणमिति व्यापकानुपलब्धिः ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० २८० । (३) व्याख्या—“परमार्थः स्वरक्षणम् तस्मिन् एकस्थानः (एकस्तानः) प्रवृत्तिर्येषां तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन् सति शब्दानामनिब-
न्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात् दर्शनास्तरभिज्ञेष्वर्थेषु सिद्धान्तभेदभिन्नेषु ।”—प्रमाणवा०
स्ववृ० टी० १।२०९ । “परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दर्शानान्तरभेदिषु प्रतिदर्शनं

भिन्नाभ्युपगमेन नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणमयत्वादिकल्पितभेदेषु अनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता
प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि परस्परविरुद्धा बहवो धर्मा एकत्र सन्ति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६ ।

(४) ‘दर्शानान्तरभेदिषु’—प्रमाणवा० । शास्त्रवा० श्लो० ६४७ । अनेकान्तजय० पृ० ३५ A. ।
प्रकृतपाठः—अष्टसह० पृ० १६८ । सिद्धिर्वि० टी० पृ० २६८ A. । ‘तस्मात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयात्तर-

भेदिषु’—स्या० २० पृ० ७१० । (५) “अपि प्रवर्तते पुमान् विज्ञायार्थक्रियाक्षमाम् । तत्साधनायेत्यर्थेषु
संयोज्यन्तेऽभिधायकाः ॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जातिः । न खलु लोकोऽसंकेतयन् शब्दानप्रयुज्जानो वा

दुःखितः स्यात् । व्यसनापन्नः अथ किमिति चेत् ; सर्व एवाधेय आरम्भः फलार्थः । निष्कलारम्भस्य
उपेक्षणीयत्वात् । तदयं क्वचिच्छब्दं नियुज्जानः किञ्चित्फलमेवेदितुं युक्तः । न तच्चेत् सर्वम् इष्टानि-

ष्टाप्तित्यागलक्षणम् । तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधनं कृत्वा तत्र प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कुर्यात् कार्ययं वेति
नियोग आद्रियेत शब्दान् वा नियुज्जानेति अन्यथोपेक्षणीयत्वात् । तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या । नहि जाति-

र्वाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः ।”—प्रमाण-
वा० स्ववृ० १।१५५ । (६) सामान्यस्य ।

मर्थक्रियाकारित्वं संभवतीत्युक्तं सामान्यनिषेधावसरे^१ । तन्नार्थगोचराः शब्दाः किन्तु अन्यापोहगोचराः ।

स चार्धपञ्चमाकारः; तथाहि—न जातिव्यक्तयोस्तद्गोचरत्वं पूर्वोक्तिदोषात् । नापि ज्ञानतदाकारयोः; तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्यै च संज्ञेताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्तोः, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य बहीरूपतया- 5
ऽध्यस्तोऽर्धपञ्चमाकारः अन्यापोहः । बाह्यत्वं हि तस्य अर्धाकारः ।

अपोहश्च निषेधः । सै च द्विविधः—पर्युदासः, प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविधः—बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थैर्वैध्य-
वसितः । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्रै बुद्ध्यात्मनो

(१) पृ० २८५ । (२) जातिव्यक्तिज्ञानतदाकारा एते सत्याः, अर्धपञ्चमाकारः अर्धत्वं तु दृश्यस्य सत्यत्वात् विकल्पस्यासत्यत्वात्—आ० टि० । (३) शब्दविषयत्वम् । (४) ज्ञानरूपेण । (५) ज्ञानस्वलक्षणस्य । (६) “व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति न हि व्यवहर्तारः । ते तु स्वात्मन्वनमेव अर्थक्रियायोग्यं मन्यमानाः दृश्यविकल्पार्थविकीकृत्य प्रवर्तन्ते । ते हि यथावस्थितं वस्तु व्यवस्थापयन्तः एवं विवेचयन्ति । अन्यो विकल्पबुद्धिप्रतिभासः अन्यत्स्वलक्षणमिति, न व्यवहर्तार एवं विवेचयन्ति । ते तु व्यवहर्तारः स्वात्मन्वनमेवेति विकल्पप्रतिभासमेवार्थक्रियायोग्यं बाह्यस्वलक्षणरूपं मन्यमानाः । एतदेव स्पष्टमिति—दृश्योऽर्थः स्वलक्षणम् विकल्पोऽर्थः सामान्यप्रतिभासः तावेकीकृत्य स्वलक्षणमेवेदं विकल्पबुद्ध्या विषयीकृत्यते शब्देन चोद्यते इत्येवमधिमुच्यार्थक्रियाकारिण्यर्थं प्रवर्तन्ते, तदभिप्रायवशाद् व्यवहर्तृणामभिप्रायवशादेवमुच्यते विवेकिषु भावेषु विकल्पबुद्धिर्भवतीति । दृश्यविकल्पार्थविकीकृत्य प्रवृत्तेरिति वदता न स्वाकारे बाह्यारोप इत्युक्तं भवति अन्यथा स्वाकार एव प्रवृत्तिप्रसंगात् मरीचिकायां जलारोपादिव । नापि बाह्ये स्वाकारारोपः; आरोप्यमाणफलाधित्वेनैव प्रवृत्तिप्रसंगात् जलाशिन इव जलभ्रान्तौ । “अर्थात्तुमेवे सति तत्संस्कारप्रबोधेन तदाकार उत्पद्यमानो विकल्पः स्वाकारं बाह्याभिन्नमध्यवस्यति न त्वभिन्नं करोति । तेन विकल्पविषयस्य दृश्यात्मतयाध्यवसायाद् दृश्यविकल्पयोरेकीकरणमुच्यते ।”—प्रमाणवा० स्वबु०, टी० १।७२ । (७) “तथाहि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः । द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्माऽर्थोऽत्मभेदतः ॥ तत्र बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभासः, अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्यर्थः ॥”—तत्त्वसं०, पं० पृ० ३१६ । तुलना—“त्रिविधो हि वोपोहः—एकस्तावद् व्यावृत्तं स्वलक्षणमेव अन्योऽपोहोऽस्मिन्निति कृत्वा, यदधिककृत्वाहि—स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः इति... व्यवच्छेदमात्रं द्वितीयः अन्यापोहनमन्यापोह इति कृत्वा, “विकल्पबुद्धिप्रतिभासस्तु तृतीयः अपोहोऽनेनेति कृत्वा, अयञ्च शब्दस्य निबन्धनतयाऽन्युपगम्यते ।”—अनेकान्तजय० पृ० ३७A. । (८) “तत्र बुद्ध्यात्मनः स्वरूपं दर्शयन्नाह—एकेत्यादि । एकप्रत्ययवमर्शस्य य उक्ता हेतवः पुरा । अभयादिसमा अर्थाः प्रकृत्यैवाव्ययमेवेति । तानुपाश्रित्य यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम् । कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेऽप्यर्था इत्येव निश्चितम् ॥ ... यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यमेकं उच्यते इति तद्वत्तया शालबेलादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे प्रकृत्या एकाकारप्रत्ययवमर्शस्य हेतवो भविष्यन्तीत्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यमिति । अभयादिसमा इति—हरीतक्यादितुल्याः एकार्थकारितया साम्यम् । तानुपाश्रित्य इति—तानभयादिसमानार्थानाश्रित्य हेतुकृत्य तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पकं ज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थप्रतिबिम्बकमर्था-

विशेषलक्षणम्—स्वभावतः परस्परविलक्षणानर्थोनेकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रतिबिम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्नं तस्य 'अपोह' इति संज्ञा । वस्तु-
भागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमान्यमानो विकल्पाकारः स्वाकार-
विपरीताकारोन्मूलकोऽपोहः 'अपोह्यते अनेन' इति, विकल्पान्तरवर्त्याकाराद् भेदेन स्वयं
प्रतिभासमानत्वात् । 'अपोह्यते अन्यस्मात्' इत्यन्यापोहः, अयं हि मुख्यतयैव अन्योपोह-
शब्दाभिधेयः । त्रिभिस्तु कारणैः औपचारिकः—कारणे कार्यधर्मोपात्तः, कार्ये कारण-
धर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तास्वलक्षणेन सहैकत्वाध्यवसायाद्वा ? कार्यं हि यथो-
क्तान्यापोहस्य अन्यव्यावृत्तावस्तुप्राप्तिः, अतस्तत्कारणतया कार्यधर्मोऽन्यव्यावृत्तिः तत्रो-
पचाराप्यते । कार्ये कारणधर्मो वा; कारणं हि एकप्रत्यवमर्शात्मनोऽन्योपोहस्य अन्यासं-
सृष्टं स्वलक्षणं तदनुभवेन तस्यैव जनितत्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्या-
वृत्तिः अतस्तस्याः कार्यभूते प्रत्यवमर्शे उपचारः । विजातीयव्यावृत्तं यत्स्वलक्षणं तेन
सह प्रत्यवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वेनाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहेतेति प्ररूपितः
पर्युदासरूपोऽपोहः ।

प्रसज्यरूपस्तु 'गौरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्ववसित इति ।
15 प्ररूपितप्रकारस्य अन्यापोहस्यैव वाचकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः । वाच्यवाचकभावश्च

भासो भाति तादात्म्येन तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञा उक्तेति सम्बन्धः । कल्पक इति—विकल्पके सविकल्प इति यावत् । एतच्च ज्ञान इत्यनेन समानाधिकरणम् । अर्थात्मताभावेऽपि इति । बाह्यार्थात्मताया अभावेऽपि । निश्चितमिति अध्यवसितम् ।"—तत्त्वसं०, पं०.पृ० ३१७ ।

(१) अश्वादिविकल्पादन्यो गवादिविकल्पः—आ० टि० । (२) "अथ कथं तस्यापोह इत्येष व्यपदेश इत्याह—प्रतिभासान्तरादित्यादि । प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तावस्तुनः । प्राप्तिहेतुतयाऽ-
दिलष्टवस्तुद्वारा गतेरपि ॥ विजातीयपरावृत्तं तत्फलं यत्स्वलक्षणम् । तस्मिन्ध्यवसायाद्वा तादात्म्ये-
नास्य विप्लुतैः । तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञोक्ता सनिबन्धना । चतुर्भिर्निमित्तैरपोह इति तस्याख्या ।
विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यतः अपोह्यत इत्यपोहः, अन्यस्माद-
पोहोऽन्यापोह इति व्युत्पत्तेः । उपचारात् त्रिभिः । १—कारणे कार्यधर्मोपात्ता, यदाह अन्यव्यावृत्त-
वस्तुनः प्राप्तिहेतुतयेति । २—कार्ये वा कारणधर्मोपचारात्, तद्दर्शयति—अश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपीति ।
अश्लिष्टम् अन्यासम्बद्धम् अन्यतो व्यावृत्तमिति यावत्, तदेव वस्तु द्वारमुपायः, तदनुभवबलेन तथावि-
धविकल्पोत्पत्तेः । ३—विजातीयपोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तेः प्रतिपत्तुर्भिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थं
कारणम् । तद्दर्शयति—विजातीयेत्यादि । अस्येति । विकल्पबुद्ध्याख्यस्य अर्थप्रतिबिम्बस्य सनिबन्धनेति ।
सह निबन्धनेन प्रतिभासनात् भेदादिनोक्तेन चतुर्विधेन वर्तत इति सनिबन्धना ।"—तत्त्वसं०, पं०
पृ० ३१७ । (३) अन्यापोहः कारणम् अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः कार्यम्—आ० टि० । (४) अपोहे
कारणे—आ० टि० । (५) एतत्कार्यम् । (६) एतत्कारणम्—आ० टि० । (७) अन्यापोहस्य—आ०
टि० । (८) अन्यापोहस्वरूपे—आ० टि० । (९) "प्रसज्यप्रतिषेधक गौरगौर्न भवत्ययम् । अति-
विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥"—तत्त्वसं० पृ० ३१८ । (१०) "तदेवं त्रिविधमपोहं प्रतिपाद्य
प्रकृते शब्दार्थत्वे योजयन्माह—तत्रायमित्यादि । तत्रायं प्रथमः शब्देरपोहः प्रतिपद्यते । बाह्यार्थाध्यवसा-
यिन्या बुद्धेः शब्दात्समुद्भवत्वात् ॥ प्रथम इति यथोक्तार्थप्रतिबिम्बात्मा । तत्र कारणमाह—बाह्यार्थाध्य-

कार्यकारणभावान्नान्यः; बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तैद्वाच्यत्वं तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्’ इत्यादि; तदसमी-

अपोहवादनिरसन-
पुरस्सरं शब्दस्य
परमार्थसत्तामान्य-
विशेषात्मकार्यवाच-
कत्वसमर्थनम्—

चीनम्; यतः प्रमाणतः कुतश्चित्सिद्धौ तस्य तद्विषयत्वं युक्तम्,
न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्सिद्धः; तथाहि—अपोहः प्रत्यक्षतः सिद्धेत,
अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षतः; स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनु-
मानतः; तद्विनाभावलिङ्गाभावात् । नहि असन्निवृत्त्या अगोनि-
वृत्त्या चाविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

वसायिन्या इत्यादि । यदेव हि शब्दे ज्ञाने प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्तः । न चात्र प्रसज्यप्रतिषे-
धाध्यवसायोऽस्ति, न चापीन्द्रियज्ञानवत् स्वलक्षणप्रतिभासः । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलं
शाब्दी बुद्धिरुपजायते । तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शब्दे ज्ञाने साक्षात्तादात्मतया प्रतिभासनाच्छदार्थो
युक्तो नान्य इति भावः । ‘एवं तावत्प्रतिबिम्बलक्षणापोहः साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वात्मानुसूयः शब्दार्थं
इति दर्शितम् । शेषयोरप्यपोहयोः गौणं शब्दार्थत्वमुपवर्ण्यमानमविरुद्धमेवेति दर्शयन्नाह—साक्षादाकार
एतस्मिन्नेवञ्च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥ न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे
सति वस्तुभिः ॥ व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यथदिव भवत्यतः ॥ तेनायमपि शब्दस्य स्वायं इत्युपचर्यते ।
न तु साक्षादयं शाब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते ॥ एवञ्चेति । जन्यत्वेन । कस्मात्पुनः सामर्थ्येन प्रसज्य-
प्रतिषेधः प्रतीयत इति दर्शयन्नाह—न तदात्मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा यः परस्य अश्वादि-
प्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एवं प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतेर्गौणं
शब्दार्थत्वं प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयन्नाह—सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्धः शब्दस्य वस्तुनि
पारम्पर्येण कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः । प्रथमं यथावस्थितवस्त्वनुभवः ततो विवक्षा ततः तात्वा-
दिपरिस्पन्दः ततः शब्द इत्येवं परम्परया शब्दस्य वस्तुभिः बाह्यैरन्यादिभिः सम्बन्धः स्यात्तदा तस्मिन्
सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्य-
प्रतिषेधः अन्यव्यावृत्तवस्त्वात्मा चापोहः शब्दार्थं इत्युपचर्यते । अयमिति स्वलक्षणात्मा, अपिशब्दात्
प्रसज्यात्मा च ।”—तत्त्वसं०, पं० पृ० ३१८-१९ ।

(१) ननु सौगतैस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध इष्यते तत्किमत्र वाच्यवाचकभावोऽपी-
ष्यते इत्याह—आ० टि० । “यश्चापि शब्दस्यार्थेन स वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः प्रसिद्धः नासौ
कार्यकारणभावादन्वोऽवतिष्ठते, अपि तु कार्यकारणभावात्मक एवेति दर्शयति—तद्रूपप्रतिबिम्बस्येत्यादि ।
तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धियः शब्दाच्च जन्मनि । वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलत्माकः ॥ ... शब्दः प्रतिबि-
म्बस्य जनकत्वाद्वाचक उच्यते, तच्च प्रतिबिम्बं शब्देन जन्यमानत्वाद्वाच्यम् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ३१८-
१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्—आ० टि० । (३) पृ० ५५१ पं० ९ । (४) अपोह-
स्य । (५) शब्दलिङ्गगोचरत्वम् । (६) तुलना—“इन्द्रियैर्नाप्यपोहोः प्रथमं व्यवसीयते । नाप्यत्र
शब्दवृत्तिश्च किं दृष्ट्वा स प्रयुज्यताम् ॥७८॥ पूर्ववृत्तेन प्रबन्धेन नानुमाप्यत्र विद्यते । सम्बन्धानुभवोऽ-
प्यस्य तेन नैवोपपद्यते ॥७९॥ नागृहीतश्च गमकः शब्दापोहः कथञ्चन । प्रत्यक्षं न च तच्छक्तं न च स्तो
लिङ्गवाचको ॥१०६॥ यतः स्याद् ग्रहणं तस्य, लिङ्गादीनाञ्च कल्पने । न व्यवस्येति वाच्येवं विना
प्रत्यक्षमूलतः ॥१०७॥”—मी० श्लो० अपोहो ७८-७९, १०६-७ । प्रमेयक० पृ० ४३५ । प्रमेय०
३।१०। (७) अपोहाविनाभावः ।

प्रकारेण हि भवन्मते अविनाभावो व्यवस्थितः । नचान्यव्यावृत्तोः केनचित्सह तादात्म्य-
तदुत्पत्ती घटते । तथाहि—अकृतकत्वव्यावृत्तिः कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्य-
व्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकं वा स्यात् ? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्; अवस्तरूपत्वात्, यद-
वस्तरूपं न तत् स्वलक्षणात्मकं यथा खरविषाणम्, अवस्तरूपञ्च अकृतकत्वव्यावृत्ति-
रूपतया कृतकत्वमिति । नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्; उभयो नीरूपतया
तादात्म्यसम्बन्धमावात् । यथैव नीरूपत्वं न तयोस्तादात्म्यसम्बन्धः यथा खपुष्पवन्ध्या-
सुतयोः, नीरूपत्वञ्च अन्यव्यावृत्तिस्वभावयोः कृतकत्वानित्यत्वयोरिति । तन्नानयोस्ता-
दात्म्यं घटते । नापि तदुत्पत्तिः; नीरूपत्वादेव । तथाहि—यन्नीरूपं तन्न कस्यचिज्जन्यं
जनकं वा यथा खरविषाणम्, नीरूपञ्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेतं प्रकृतं मन्यापोहद्वयमिति ।
नैव चार्थभावेऽपि अर्थाकारं यत् प्रतिबिम्बमुत्पन्नं तदेवान्यापोहः, स च स्वसंवे-
दनप्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, इत्यनर्थकं तत्रानुमानम्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; ज्ञानेऽ-
र्थकारधारित्वस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ प्रतिषिद्धत्वात् ।

अस्तु वा तैत्; तथापि—अत्र कस्य प्रतिबिम्बनम्—स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा ?
न तावत्स्वलक्षणस्य; तस्य व्यावृत्ताकारत्वात् । अनुगतैकरूपञ्च प्रतिबिम्बम् अन्यापो-
होऽभिप्रेतः, अतः स्वलक्षणेनापि त्थाविधेनैव भवितव्यम् । तथाहि—यस्य हि यदाकारं
प्रतिबिम्बं तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुखचन्द्रादि, अनुगतैकाकारञ्च स्वलक्षणस्य
ज्ञाने प्रतिबिम्बमिति । अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बनमिष्यते; तदप्यसत्; तस्यैव-
ऽसतः प्रतिबिम्बनानुपपत्तेः । यदसन्नं तत् क्वचित् प्रतिबिम्बति यथा खपुष्पम्, असच्च
भवन्मते सामान्यमिति । तत्रैतत्प्रतिबिम्बाभ्युपगमे वा प्रतिबिम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि-
विक्षतद्रूपद्वयोपलम्भप्रसङ्गः । यत्र यत् प्रतिबिम्बति तद्द्वयं प्रतिबिम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि-
विक्षमुपलभ्यते यथा मुखादर्शादि, प्रतिबिम्बैति च ज्ञाने सामान्याकार इति ।

अथ बाह्योद्देश्यकार्यक्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकारं सत् सामान्यम्,
अतो नोक्तोद्देश्यकारणः; तदयुक्तम्; एकार्थक्रियामकुर्वन्तस्त्वारिवाभावतः प्रतिबिम्बो-

(१) सौगतसिद्धान्ते । (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपं कृतकत्वं न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तरूप-
त्वात् । (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्व-नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोश्च । (४) अन्यव्यावृत्ति-
रूपयोः कृतकत्वानित्यत्वयोः तादात्म्यं न भवति नीरूपत्वात् । (५) कृतकत्वमनित्यत्वञ्च—आ० टि० ।
(६) वृ० १६७ । (७) प्रतिबिम्बम् । (८) अनुगतैकरूपेण । (९) स्वलक्षणमनुगतैकाकारम् अनुग-
तैकाकाररूपेण प्रतिबिम्बितत्वात् । (१०) सामान्यस्य अन्यापोहात्मकत्वेन अर्थक्रियाकारिवाभावेन
चासतः । (११) न सामान्यं ज्ञाने प्रतिबिम्बति असत्त्वात् । (१२) बौद्धमते । (१३) ज्ञाने । (१४)
सामान्यम् । (१५) प्रतिबिम्बाधारस्य ज्ञानस्य प्रतिबिम्ब्यस्य च सामान्यस्य विविक्षतं स्वरूपद्वयं प्रति-
भासेत इति भावः । (१६) ज्ञानं सामान्यञ्च विभिन्नतया उपलभ्येताम् तत्र प्रतिबिम्बमानत्वात् ।
(१७) प्रतिबिम्बाभावलक्षणो दोषः । (१८) सामान्यस्य ।

१-कं तयोः श्र० । २-ननु चार्थकारं आ० । ३-इत्यसमी-श्र० । ४-तस्य' नास्ति आ० । ५-तस्य
यस्य यस्य हि आ०, श्र० । ६-विविक्षतस्तद्रूप-व० । ७-बिम्बते श्र० । ८-बिम्बते च श्र० ।

दयाभावानुषङ्गात् । अर्थक्रियायाश्च कादाचित्कत्वात् तदुदयोऽपि कदाचिदेव स्यात् ।

किञ्च, एकार्यक्रियाकारित्वं स्वलक्षणे यद्येकमभ्युपगम्यते तदा बाह्यावभासि-
तयोपलभ्यमानप्रतिभासवत्यात् तदेव प्रतिभास्यमस्तु किं प्रतिबिम्बाग्रहणं ?

किञ्च, यदि स्वप्रतिबिम्बमात्राध्यवसायित्वं शाब्दविकल्पस्य स्यात् तर्हि अतः
कुतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? स्वप्रतिभासेऽनर्थे अर्थाध्यवसायाच्चेत् ; ननु कोऽयमर्थोऽध्य- 5
वसायो नाम—बाह्यस्यार्थस्य ग्रहणम्, कैरणम्, योजनम्, समारोपो वा ? प्रथमपक्षे पर-
मतसिद्धिः ; शक्यैः शाब्दप्रत्ययानां बहिरर्थग्रहणानभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षेऽप्यनुपपन्नः ;
नहि बाह्यार्थकरणे ज्ञानानां सामर्थ्यम्, स्वसामग्रीतस्तेषामाविर्भावात्, अन्यथा अप्रति-
हता सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात् ।

अथ स्वाकारं विकल्पो बाह्येनार्थेन योजयति ; तदसत् ; तथाप्रतीतेरसंभवात् । नह्येव 10
कस्यचित् प्रतीतिः 'योऽयमाकारो मदीयः स बाह्यार्थविशिष्टः' इति, बाह्यार्थेन सह स्वाकारस्य
सम्बन्धाभावतो विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः । न च परम्परया तदुत्पत्तिसम्बन्धोऽ-
स्यास्तीत्यभिधातव्यम् ; व्योवृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिबिम्बनेहेतुत्वप्रतिषेधात् ।

अथ बाह्यमर्थं विकल्पः स्वाकारे समारोपयति ; तदप्यसाम्प्रतम् ; समारोपो हि 15
उभयग्रहणे सति स्यात्, असति वा ? न तावदसति ; उभयग्रहणपुरस्सरत्वात्तर्कः । यैः
समारोपः स उभयग्रहणपुरस्सरः यथा गोर्वाहीके समारोपः, समारोपश्च विकल्पाकारे
बाह्यार्थस्येति । न चेदं निदर्शनं साध्यविकल्पम् ; येनैव हि गौरनुभूतः वाहीकश्च, स

(१) "तथापि विकल्पाद्बाह्याभिमुखप्रवृत्तिस्तदर्थिनां न स्यात् ।"—न्यायवा० पृ० ४८५ ।
"इत्थमपि ततो वस्तुनि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।"—अनेकान्तजय० पृ० ३५ B. । "अन्यापोहे प्रतीते च कथ-
मर्थे प्रवर्तनम् । शब्दात्सिद्धयेज्जनस्यास्य सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०१ । प्रमेयक०
पृ० ४३१ । रत्नाकराव० ४।११ । (२) तुलना—“न ; तदेकीकरणासिद्धेः, दृश्यविकल्पयोरत्यन्तभि-
न्नत्वात्, साधर्म्ययोगात्, एकस्थोभयानुभवितुरभावात् तदा द्वयदर्शनादर्शनविकल्पानुपपत्तेः ।”—अने-
कान्तजय० पृ० ३५ B. । "स्वाकारमबाह्यं बाह्यमध्यवस्यन् विकल्पः स्वाकारबाह्याविषय इति चेत् ;
यथाह—स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तिरिति । अथ कोऽयमध्यवसायः—किं ग्रहणमाहोस्वित्
करणम् उत योजना अथ समारोपः ? तत्र स्वप्रतिभासमनर्थमर्थं कथं गृह्णीयात् कुर्वाद्वा विकल्पः ।
न हि पीतं नीलं शक्यं ग्रहीतुं वा शिल्पिषतेनापि । नप्यगृहीतेन स्वलक्षणेन स्वाकारं योजयितुमर्हति
विकल्पः । न च स्वलक्षणं विकल्पोचर इति चोपपादितम् ।"—न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (३)
जैनमतः । (४) अर्थानाम्—आ० टि० । (५) ज्ञानमात्रेणैव यद्यर्थस्य समुत्पत्तिः स्यात्तदा असङ्ख्यरू-
प्यकपरिज्ञानादेव असंख्यरूप्यकोत्पत्तौ विद्वन्मदिरत्रं स्यात् । (६) विकल्पाकारस्य—आ० टि० । (७)
स्वाकार-बाह्यार्थयोः । (८) स्वलक्षणरूपो बाह्योर्थः ततो निर्विकल्पकमिति (ततो निर्विकल्पकं
तस्माच्च सविकल्पकमिति) पारम्पर्येण विकल्पार्थयोस्तदुत्पत्तिसम्बन्धः—आ० टि० । (९) न हि
व्यावृत्ताकारादनुवृत्ताकारं जायते—आ० टि० । (१०) एकस्य अन्यत्र समारोपस्य । (११) विकल्पाकारे
बाह्यार्थसमारोपः उभयग्रहणपूर्वकः समारोपत्वात् ।

- तद्वर्मान् बहुभारोद्वहनादीन् वाहीके निश्चित्य गोत्वमारोपयति 'गौर्वाहीकः' इति । अथोभयग्रहणे सति आरोपः स्यात्; नतु उभयोर्ग्रहणं विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा स्यात् । न तावन्निर्विकल्पेन; अस्य स्वलक्षणगोचरतया अन्यापोदस्वरूपविकल्पाकारे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि विकल्पेन; अस्य बाह्यार्थैर्परामर्शपराङ्मुखत्वात्, अतः कथमसौ
- ५ स्वाकारे बाह्यं तर्जं वा स्वाकारमारोपयेत् ?

- अस्तु वाऽस्याभयग्रहणम्; तथापि—पूर्वं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चादर्थ-मारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासञ्चानुभवति अर्थञ्च समारोपयति, किं वा यावदेवोक्तं भवति—स्वाकारमनुभवतीति तावदेवोक्तं भवति अर्थमध्यवस्यतीति ? न तावत्स्वरूपानुभवः पूर्वं पश्चादर्थसमारोपः; क्षणद्वयावस्थानविकलत्वाञ्चानानाम्,
- १० अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः । अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थञ्च समारो-पयति; तर्हि ग्राह्यग्राह्यकारात्मके विकल्पस्वरूपे संवेद्यमाने स्वानुभवसमानकाल एवार्थः समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् वैहिरेवाऽवतिष्ठते तत्कथमात्मानमनर्थम् अर्थ-मारोपयेदसौ ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोपः; तदप्यनुन्दरम्; अनुभवितव्य-विकल्पयितव्ययोर्भिदात् । शब्दसंस्पृष्टं हि स्वरूपं विकल्पयितव्यम्, अशब्दसंस्पृष्टं तु
- १५ स्वसंवेदनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम् ?

एतेन 'दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्तः' इत्यादि प्रत्युक्तम्; तदेकी-

(१) "जित्किं नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिव्वितम् ।"—महाभार० कर्णपर्व अ० २०० । 'जाट' इति भाषायाम् । "यथा गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीकः ।"—महाभा० प्र० १।१। १५ । (२) तुलना—"कः खलु विकल्पमेव दृश्यमित्यध्यवस्यति । विकल्प एवेति चेत्; न; तत्र सामान्यावभासात् अन्यथा विकल्पत्वायोगात् । अन्य इति चेत्; न; आत्मवादापत्तेः तत्तथाध्यवसायनिमित्ताभावाच्च ।"—अनेकान्तवय० पृ० ३५ B. । "नैकत्वाध्यवसायोऽपि दृश्यं स्पृशति जातुचित् । विकल्पस्यान्यथा सिद्धयेत् दृश्यस्पर्शित्वमञ्जसा ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०९ । "तदेकत्वं हि दर्शनमध्यवस्यति तत्पृष्ठजो व्यवसायो ज्ञानान्तरं वा ।"—प्रमाणप० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० ३१ । सप्तमि० टी० पृ० ५०० । स्या० २० पृ० ८२ । (३) निर्विकल्पस्य । (४) अवस्तुविषयत्वात्—आ० टि० । (५) विकल्पः । (६) बाह्योऽर्थः । (७) तुलना—"न च स्वाकारमनर्थमर्थं आरोपयति । न तावदगृहीतः स्वाकारः शक्य आरोपयितुमिति तदग्रहमेवितव्यम् । तत्किं गृहीत्वा आरोपयति, अथ यदैव गृह्णाति तदैवारोपयति । न तावत्पूर्वः पक्षः, न हि विकल्पज्ञानं क्षणिकं क्रमवन्ती ग्रहणसमारोपौ कर्तुमर्हति । उत्तरस्मिन्स्तु पक्षे विकल्पस्वसंवेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकारादेहङ्कारास्पदाद् अनहङ्कारास्पदं समारोप्यमाणो विकल्पो नास्त्वगोचरो न शक्योऽभिन्नः प्रतिपत्तुम् । नापि बाह्यस्वलक्षणकत्वेन शक्यः प्रतिपत्तुं विकल्पज्ञानेन स्वलक्षणस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात् ।"—न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (८) स्वाकारानुभवनमेव अर्थाध्यवसायः इति भावः । (९) यदि यदैव विकल्पाकारः स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तदैवायं समारोपयति; तदा विकल्पस्य स्वानुभवव्यापृतत्वादर्थोऽवकाशमलभमानः तत्स्वरूपाद् बहिरेवास्ते विकल्पे न सङ्क्रामति, तत्कथमात्मनि अनर्थभूते अर्थे विकल्पाकार आरोपयतीति तात्पर्यम् ।—आ० टि० । (१०) आत्मनि अनर्थं इत्यर्थः । (११) पृ० ५५५ पं० ५ ।

१—परामर्शग्राह्यमुखत्वात् अ० । २—पूर्वं प्रतिभासमानार्थमनर्थम्—अ० । ३—भासं वानुभवं—अ० । ४—भेदभेदताप्रसंगः अ० ।

करणञ्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञानान्तरेण वा ? न तावत्तेनैव स्वाकारं दृश्यञ्च पृथक् प्रति-
पद्यैक्यं प्रतीयते ; तथा प्रतीयभावात्, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरेण ; तद्वि एकम्,
अनेकं वा ? यद्यनेकम् ; कथमैक्यं प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनेन हि ज्ञानस्वरूपं प्रतीयते दर्शनेन
तु दृश्यम् । एकं तु यदि द्वयं प्रत्येति ; कथमैक्यम् ? अथैक्यं प्रत्येति ; कथं द्वयं विरोधात् ?

किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केवलो वा ? प्रथमपक्षे भावयोः ५
प्रतीतिः किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव ; अस्य अपोहादन्यत्र
प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । अयमुपगमे वा किं भावौ प्रतीय अतोऽपोहः प्रतीयते, अपोहं वा
प्रतीय भावाविति ? तत्राद्यविकल्पे नान्यापोहः शब्दार्थः, मुख्यतो भावयोरेव तद्वत्त्वात्,
प्रतीयुत्तरकालं सामर्थ्यादेव वा अन्यव्यावृत्तेः प्रतीतेः । नीलञ्च प्रतीय अनीलव्यावृत्ति-
प्रतीयभ्युपगमे स्वीकृन्ती तत्प्रतीतिः स्यात् । अतो नीलस्य अनीलव्यावृत्त्यात्मकस्यैव १०
प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या । द्वितीयविकल्पे तु प्रतीतिविरोधः, न खलु केव-
लोऽपोहः प्रथमं शब्दात् प्रतीयते पश्चाद् भावाविति कस्यचित्स्वप्नेऽपि प्रतीतिरस्तीति ।
एतेन प्रमाणान्तरादपि तत्प्रतीतिः प्रत्याख्याता ; ततोऽपि भावयोः प्रतीतौ उक्तदोषानुषङ्गा-
विशेषात् । अस्तु वा कुतश्चिदस्य प्रतीतिः ; तथापि—भावाभ्यां भिन्नस्यापोहस्य प्रतीतौ
कथमस्यैव भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभावयोस्तादाल्पतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् ? १५

‘केवलोऽपोहः प्रतीयते’ इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिव्यूढः ; यदि च केवलोऽपोहः
शब्दाङ्गिज्ञाद्वा प्रतीयेत ; तर्हि सर्वशब्दानां पर्यायता स्याद् अपोहमात्रस्याऽविशिष्टस्या-
शेषशब्दैः प्रतिपादनात् । एवञ्च विशेषणविशेष्यभेदः अतीतादिकालभेदः १६ श्रीपुनपुनक-

(१) तुलना—‘नैतद् दृश्यविकल्पार्थकीकरणेन भेदतः । एकप्रमात्रभावाच्च तयोस्तत्त्वाप्रसि-
द्धितः ।’—शास्त्रवा० १११० । ‘अतीते तदात्मकतया अभावसमारोपानुपपत्तेः ।’—प्रश्न० कन्व० ५०
३२० । (२) तुलना—‘यश्चायमन्यापोहः अग्रीनं भवतीति गोशब्दस्यार्थः स किं भावोऽयं अभाव
इति ?’—न्यायवा० ५० ३२९ । इति प्रसज्य—आ० टि० । (३) शब्दस्य अपोहादतिरिक्ते भावे
प्रवृत्तौ । (४) शब्दार्थत्वात्—आ० टि० । (५) भावस्य प्रतिनियतमसाधारणं स्वरूपं हि अन्यव्यावृत्त्या-
त्मकं भवत्येव । (६) सापेक्षत्वात्—आ० टि० । (७) अनीलव्यावृत्तिप्रतीतिः । (८) व्यवहारिणः
पुरुषस्य । (९) भावयोः प्रतीतिः । (१०) अपोहस्य । (११) अपोहस्य । (१२) तुलना—‘भिन्न-
सामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये । सर्वे भवेयुः पर्याया यद्यपोहस्य वाच्यता ॥’—मी० श्लो० अपोह०
श्लो० ४२ । न्यायसं० पृ० ३०४ । ‘अपि च ये विभिन्नसामान्यशब्दा गवादयो ये च विशेषशब्दाः शाबलेया-
दयस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्ति अर्थभेदाभावात् वृक्षपादपादिशब्दवत् ।’—प्रमेयक० पृ० ४३३ ।
प्रमेय० ३।१०१ । (१३) तुलना—‘अपोहमात्रवाच्यत्वं यदि चाभ्युपगम्यते । नीलोत्पलादिशब्देषु शबला-
र्थाभिधायिषु ॥ विशेषणविशेष्यत्वसामानाधिकरण्ययोः । न सिद्धिर्न ह्यनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलच्यति ॥’
—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११५—१६ । प्रमेयक० पृ० ४३६ । (१४) तुलना—‘लिङ्गसंख्यादिमन्बन्धो
न वाऽपोहस्य विद्यते । व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात्तद्वारेणापि नास्त्यसि ॥’—मी० श्लो० अपोह० श्लो० १३५ ।
१ प्रमित्यभा—ब० । २ ‘क्षणिकत्वाच्च’ नास्ति ब० । ३ मुख्यतया भा—अ० । ४ अन्यव्यावृत्तिप्रती-
ति—आ० । ५ प्रतीतिरिति ब०, प्रतीतिरस्ति अ० । ६—तिः किं प्रत्या—ब० । ७—नुषङ्गाविरोधात् ब० ।
८ एवं विशेष—ब०, अ० ।

लिङ्गभेदः एकद्विवहुवचनादिभेदश्च दुर्लभः । लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात् ; यदेव हि लिङ्गशब्दवाच्यमपोहमात्रं तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि ।

- अथापोहस्य भेदाभ्युपगमाच्चार्थ दोषः ; तदयुक्तम् ; तस्य भेदाऽसिद्धेः । तस्य हि भेदः अपोहभेदाद्, वासनाभेदात्, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, विभिन्नकार्यकारिवात्,
- ५ आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात् ? न तौवदपोहभेदात् ; सर्व-प्रमेयादिशब्दानाम-
पोहभेदाभावतः पर्यायताप्रसङ्गात् । न हि असर्वं सर्वरारोन्वैतिरिक्तम्, अप्रमेयं वा
किञ्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिकं सिद्ध्येत् । कथं वा सत्त्वं-कृतकत्वादिहेतोः सिद्धिः ?
न हि असदकृतकं वा जगति किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वादिसाधनं सिद्ध्येत् । अपो-
हभेदादपोहभेदे चान्योन्याश्रयः—सिद्धे ह्यपोहभेदे अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ चापोहभेद-
१० सिद्धिरिति । तन्नापोहभेदादपोहस्य भेदः । नापि वासनाभेदात् ; तद्भेदस्याप्यनुपपत्तेः ।
अनुभवभेदनिबन्धनो हि वासनाभेदः, अपोहस्य चैक्यरूपत्वे अनुभवभेदो दुर्घटः । नापि
विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वादपोहभेदः ; अस्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषतः प्रादुर्भावस्यै-
वाऽनुपपत्तेः । यत् कल्पितरूपं तन्न कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्,
कल्पितरूपश्च भवन्मते अपोह इति । तैस्तदुत्पत्तौ वा कल्पितरूपत्वव्याघातः । यत्तु
१५ कुतश्चिदुत्पद्यते तन्न कल्पितरूपं यथा स्वलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति ।

(१) तुलना—“ननु भेदादपोहानां प्रसङ्गोऽयं न युज्यते । सामान्यापोहकलुप्या चेद्वस्तुमाने समं तव ॥ भिद्यते मम वस्तुत्वात्सामान्यानि परस्परम् । असङ्कोर्णस्वभावानि न चैकत्वं वितन्वते । संसृष्टकस्वनात्त्वविकल्परहितात्मनाम् । अवस्तुत्वादपोहानां तव स्याद् भिन्नता कथम् ॥”—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४३-४५ । (२) अपोहस्य । (३) तुलना—“अन्यापोहश्च शब्दार्थ इत्ययुक्तम् ; अव्यापकत्वात् । यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रैतरप्रतिषेधादितरः प्रतीयते यथा गौरिति पदे गौः प्रतीयमानः अगोः प्रतिविध्यमानः । न पुनः सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्सर्वपदेन निवर्त्येत ।”—न्यायवा० पृ० ३२९ । “ननु चापोहभेदेन भेदोऽपोहस्य सेत्स्यति । न विशेषः स्वतस्तस्य परतरश्चौ-
पचारिकः ॥ ४७ ॥ प्रमेयज्ञेयशब्दादेरपोहां कुत एव तु ॥”—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७, १४४ । प्रमेयक० पृ० ४३४ । प्रमेयर० ३।१०१ । (४) तुलना—“यद्यन्येषु शब्देषु वस्तुनः स्यादपोहता । सच्छब्दस्य त्वभावात्प्राज्ञाऽपोहां भिन्नमिष्यते ॥”—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८ । (५) तुलना—“अपोहभेदकृतित्वच नाभावाऽभेदतो भवेत् । तद्वदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसंबन्धम् । गोसा-
मान्यस्य भिन्नत्वादगीरित्येष भिद्यते । अगीरित्यस्य च भेदेन गोसामान्यं च भिद्यते ॥”—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५-६६ । व्यास० पृ० ३०४ । (६) तुलना—“नचापि वासनाभेदाद् भेदः सद्रूप-
तापि वा । अपोहानां प्रकल्प्येत न ह्यवस्तुनि वासना ॥ स्मृतिं मुक्त्वा नचास्त्यस्याः शक्तियोगः
क्रियान्तरे । तस्मान्नान्यादृशे साऽर्थं करोत्यन्यादृशीं मतिम् ॥ भवद्भिः शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न
लभ्यते ।”—मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००-२ । प्रमेयक० पृ० ४३९ । (७) वासनाभेदस्य ।
(८) अभावरूपतया तुच्छैकस्वभावत्वे । (९) अपोहस्य । (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति
कल्पितरूपत्वात् । (११) सीगतमते । (१२) कारणसामग्रीतः अपोहोत्पत्तौ । (१३) अपोहो न
कल्पितः कारणादुत्पद्यमानत्वात् ।

१ विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् नास्ति श्र० । २ भेदे वाग्यो-ब०, श्र० । ३ तद्भेदस्याप्यनुभव-
-आ० । ४ त्वादपोहभेदस्य कल्पि-ब० । ५ प्रादुर्भावानुप-श्र० ।

एतेन विभिन्नकार्यकारित्वात्तद्भेदः प्रत्याख्यातः; अपरमार्थसतो विभिन्नकार्य-
कारित्वानुपपत्तेः खुष्पवत् । तत्कारित्वे वाऽपरमार्थसत्त्वाऽसंभवात् स्वलक्षणवत् ।
कुतश्च कार्यकारणयोर्भेदः सिद्धो यतः तद्भेदादपोहस्य भेदः सिद्ध्येत्—अपोहभेदान्,
स्वरूपतो वा ? अपोहभेदाच्चेदः, अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च
तत्त्वभवतया तत्कारितया च अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धिः 5
रिति । स्वरूपतस्तद्भेदसिद्धौ च अपोहकल्पनाऽनर्थक्यम् ।

अथाश्रयभेदादपोहभेदः; तन्न; अवस्तरूपस्यास्य कचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः ।
यदवस्तरूपं न तत् क्वचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तरूपद्रुचापोह इति ।
आश्रितत्वे वा किमसौ प्रतिव्यक्ति भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्नः; तदा
द्रव्यगुणकर्मणां मध्ये अन्यतरूपतैवास्त्याभ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्त्यन्यस्य आश्रि- 10
तत्वानुपपत्तेः । अथाभिन्नः; तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभ-
यथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्तिः ।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेदः; तन्न; अपरमार्थसत्त्वेऽस्य स्वरूपभेदानुपपत्तेः ।
यदपरमार्थसन्न तस्य स्वरूपभेदः यथा खुष्पस्वरविषाणादेः, अपरमार्थसंज्ञापोह
इति । स्वरूपभेदे वाऽस्य स्वलक्षणवत् परमार्थसत्त्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, पयुदासंरूपः, प्रसज्यरूपो वाऽपोहः स्वरूपतो भिन्नः शब्दैरभिधीयेत ?
यदि पयुदासरूपः, तदास्य भवान्तररूपताभ्युपगन्तव्या । भावान्तरश्च विशेषः, सामान्यम्,
तदुपलक्षितो वा विशेषः, तत्समुदायो वा स्यात् इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थः
स्यात् नाऽपोहः । अथ प्रसज्यरूपः; तदा 15 निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तच्चायुक्तं

(१) अपोहभेदः । (२) अर्थक्रियाकारित्वे । (३) कार्यभेदात् । (४) भिन्नकारणप्रभवतया ।
(५) भिन्नकार्यकारितया । (६) कार्यकारणयोः भेदसिद्धौ । (७) तुलना—“तेनैवाधारभेदेनाप्यस्य
भेदो न युज्यते । न हि सम्बन्धिभेदेन भेदो वस्तुन्यपीष्यते । किमुतावस्त्वसंयुष्टमन्यतश्चानिर्वातितम् ।
अनवान्तविशेषां यत्किमप्यनिरूपितम् ॥”—मी० श्लो० अपोहो० श्लो० ४८-४९ । (८) अपोहो न
क्वचिदाश्रितः अवस्तरूपत्वात् । (९) अपोहः । (१०) अपोहरूपस्य सामान्यस्य आश्रयभूतानि
द्रव्यगुणकर्मण्येव भवितुमर्हन्ति, सामान्यस्य द्रव्यादित्रयवृत्तित्वात् । (११) अपोहस्य । (१२)
अपोहस्य । (१३) नापोहस्य स्वरूपभेदः अपरमार्थसत्त्वात् । (१४) अपोहस्य । तुलना—“यद्वा
भिद्यमानत्वाद्दस्त्वसाधारणं भवत् । अवस्तुत्वे त्वनानत्वात्”—मी० श्लो० अपोहो० श्लो० ४६ ।
न्यायसं० पृ० ३०४ । (१५) “किञ्चापोहस्य सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं पयुदासलक्षणञ्चा-
भिधीयेत्, प्रसज्यलक्षणं वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४३२ । प्रमेयर० ३।१०१ । (१६) यथा घटः पटात्
स्वरूपतो भिन्नः सन् भावान्तरः—आ० टि० । तुलना—“अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।
गोत्वं वस्त्वेव तैस्त्वमागोपोहगिरा स्फुटम् ॥”—मी० श्लो० अपोहो० श्लो० १ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।
(१७) तुलना—“नवन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षेऽनुवर्णितः । निषेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेऽङ्गमन्यते ॥
किन्तु गौर्भवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः । विधिरूपावसायेन मतिः शब्दी प्रवर्तते ॥” (पूर्वपक्षे)
—तत्त्वसं० का० ९१०-९११ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।

१ चापर-ब० । २ तत्कार्यतया ब० । ३ वा श्र० । ४ चास्य ब० । ५-भिधीयते ब०, श्र० ।

तथाप्रतीत्यभावात् । परप्रतिपादनार्थो हि शब्दप्रयोगः, परञ्च नीलार्थी न अनीलनिषेधमात्रं जिज्ञासते, अजिज्ञासितञ्च प्रतिपादयतः प्रतिपादकस्याऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः ।

निषेधमात्राभिधायित्वे च नीलोत्पलशब्दयोः सामानाधिकरण्यञ्च प्राप्नोति; नीलशब्दो ह्यनीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थः, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे ।
 5 न चेतौ व्यवच्छेदौ एकस्मिन् धर्मिणि सम्बद्धौ; भावाभावाव्योस्तादात्म्यादिसम्बन्धा-
 संभवात् । नपि तौ शैब्दौ एकधर्मिविषयौ; घटपटशब्दयोरिवाऽनयोः एकधर्मिविषय-
 त्वानभ्युपगमात् ।

किञ्च, नचेव पर्युदासवृत्तिः प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नायं नच्, अतः
 कथमगोपर्युदासेन गोशब्दवृत्तिः ? गौरयमिति विधिरूपेणैवास्य प्रवर्तमानत्वात् । ततः
 10 सामान्यविशेषवानर्थः शब्दस्य विषयोऽभ्युपगन्तव्यः अलं प्रतीत्यपलापेन । तस्यै च
 सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धेः नैतन्मभूते स्वलक्षणे सङ्केतकरणवैफल्यम् । भवैक-
 ल्पितस्य तु स्वलक्षणस्य सुगतमतपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात् तत्रै तत्करणं विफल-
 मेव । अतो यः 'सङ्केतव्यवहारकालानुयायी' इत्यादि^३ सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम् ।

सम्बन्धश्च वाच्यवाचकयोः ऊहाख्यप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बन्धप्रतीते-
 15 स्तदधीनत्वात् । अतः 'अस्येदमभिधानमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियवि-
 षयोः शब्दार्थयोर्न प्रतिभासः' इत्याद्यर्थैर्युक्तमुक्तम्; सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयोः
 प्रतिनियतेन्द्रियविषयतोपपत्तेः, अतः कथं तयोः तत्कारिणि ज्ञाने प्रतिभासाभावः ?

ननु चातीतानागतार्थशब्दानां 'नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति' इत्यादिशब्दानाञ्च
 अर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिप्रतीतेः कथमर्थे प्रतिबन्धसिद्धिस्तेषाम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्;

(१) "भिन्ननिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नधिकरणे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्"—प्रमाणवा० ब० ब०
 टी० १६४ । तुलना—'यस्य चान्यापोहः शब्दार्थस्तेनानीलानुत्पलव्युदासौ कथं समानाधिकरणाविति
 वक्तव्यम् । यस्य पुनर्विधीयमानः शब्दार्थस्तस्य जातिगुणविशिष्टं नीलोत्पलशब्दाभ्यां ब्रव्यमभिधीयते,
 जातिगुणौ ब्रव्ये वर्तते न पुनरनीलानुत्पलव्युदासौ, तस्मात् समानाधिकरणार्था नास्तीति ।"—न्यायवा०
 पृ० ३३१ । न्यायसं० पृ० ३०५ । "सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वादपोहयोः । अथैतद्वैतदिष्यत
 कीदृश्याधेयता तयोः ॥ न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते । अगम्यमानमेकार्थं शब्दयोः
 ववोपयुज्यते ॥"—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११८-१९ । अनेकालजय० पृ० ४० । प्रमेयक० पृ०
 ४३६ । (२) धर्मी भावात्मकः, अभावात्मको च अनीलानुत्पलव्यवच्छेदौ । (३) नीलमुत्पलमिति
 शब्दौ । (४) सामानाधिकरण्यं हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोः एकत्रार्थं वृत्तिः—आ० टी० । (५)
 सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य । (६) सामान्यविशेषात्मके । (७) सीगतकल्पितस्य । (८) पृ० ३७९ ।
 (९) क्षणिकस्वलक्षणे । (१०) सङ्केतकरणम् । (११) पृ० ५५२ पं० ९ । (१२) ऊहाख्यप्र-
 माणायसत्वात् । (१३) पृ० ५५३ पं० ४ । (१४) सङ्केतकारिणि । (१५) शब्दानाम् ।

1 जिज्ञासति व० । 2-विषयो घट-आ० । 3-शब्दप्रवृत्तिः व०, ध० । 4-वाच्य वर्त-आ० ।
 5 संकेतवैक-ध० । 6 प्रतिबन्धस्तेषा-ध० ।

यतो न वयं सर्वशब्दानामर्थान्तररीयकत्वं प्रतिपन्नाः । किं तर्हि ? सुनिश्चितान्तरप्रणेतृकाणामेव । न च केषाञ्चिच्छब्दानामर्थव्यभिचारित्वदर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्वं युक्तम् ; मरीचिकादौ जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभासिनोऽप्यस्यैव अप्रामाण्यप्रसङ्गात् । मरीचिकादौ जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्यं बाधकसद्भावान्तेतरस्य इत्यन्यत्रापि समानम् । तन्न प्रत्यक्षशब्दयोः परमार्थविषयत्वे कश्चिद्विशेषः ।

अतो निराकृतमेतत्—‘अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्’ इत्यादि । नहि प्रतिभासभेदो विषयभेदं प्रसाधयति, अभिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषाच्चैदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्नार्थोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत् । यथैव हि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभिन्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्वं तथा शब्द-प्रत्यक्षप्रत्यययोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते । अतः अन्धस्य चक्षुष्मतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्तेः अयुक्तमुक्तम्—‘शब्दात्प्रत्ययेति भिन्नाच्चो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ।’ इति ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्यः’ इत्यादि; तदप्यचारः ; यतः सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिविम्बे अस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वर्त्यत्वं स्यात् शब्दस्य च तज्जनकत्वाद् वाचकत्वम्, न च तदस्ति, प्रागेवास्य प्रपञ्चतः प्रतिषेधात् । यदि च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्; तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि शब्दः

(१) जैनाः । तुलना—‘न हि वयं सर्वशब्दानां प्रामाण्यं प्रतिपद्येमहि किं तर्हि सुनिश्चितान्तरप्रणेतृकाणामेव । तन्न प्रामाण्यं प्रति प्रत्यक्षशब्दयोर्विशेषमुपलभामहे ।’—न्यायावता० टी० पृ० ६ । (२) अर्थाविनाभावित्वम् । (३) अनाप्तप्रणेतृकाणाम् । (४) जलज्ञानस्य । (५) तुलना—‘न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदात् विषयस्वभावाभेदाभावः, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नैतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादौ उपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोजनान्तर्या विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् स्वभावभेदः पादपस्य तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोः भेदेऽपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदः स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वान्मुपगमात् ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १२४ । ‘करणभेदेन प्रतिपत्त्योर्भेदात् । अन्धस्य हि शब्दादूपविषयं विज्ञानमुत्पद्यते न तु चाक्षुषमिति । यस्य चापरीक्षं चाक्षुषं विज्ञानमस्ति असावनन्धः ।’—प्रश्न० श्रौ० पृ० ५८६ । ‘स्पष्टास्पष्टाकारतयाऽर्थप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदाच्च विरुद्धयते दूरासन्नार्थोपनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत् ।’—प्रमेयक० पृ० ४४६ । सम्मति० टी० पृ० २५९ । स्या० २० पृ० ७१५ । (६) प्रतिभासभेदस्य । (७) पृ० ५५३ पं० १० । (८) पृ० ५५६ पं० १५ । (९) बुद्धिगतप्रतिविम्बस्य । (१०) इयता कार्यं वाच्यं कारणं वाचकमिति सिद्धम्—आ० टि० । (११) बुद्धौ प्रतिविम्बम् । (१२) शब्दः निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य कारणम्, ‘नाकारणं विषयः’ इत्यभ्युपगमात् । तुलना—‘यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्; तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् एवं परम्परया स्वलक्षणमपि अतस्तदपि वाचकं स्यात् ।’—रत्नाकराव० ४।११ ।

स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणम् अतस्तस्याप्यसौ वाचकैः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् एवं पौरस्पर्येण स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं स्यात् । अतः प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थाविलोपः स्यात् । ततो यद्यत्र यथा निर्बाधबोधे प्रतिभासते तत्तत्र तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा अन्तःसुखमाह्लादनाकारतया, प्रतिभासते च अवाधे शब्दे प्रत्यये सामान्यविशेषात्मकतया बहिर्धटादिकं वस्त्विति ॥ छ ॥

ननु सामान्यविशेषात्मकतया शब्दप्रत्यये बहिर्धटादिवस्तुनः प्रतिभासमानत्व-
शब्दस्य सामान्य- मसिद्धम्, शब्दानां सामान्यमात्रगोचरचारितया तत्प्रभवप्रत्ययस्य
मात्रवाचकत्वमिति तस्मात्प्रविषयतया एवोपपत्तेः । सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां
मीमांसकस्य पूर्वपक्षः- गोचरः; तस्यैव क्वचित् प्रतिपन्नस्य एकरूपतया सर्वत्र सङ्केतविषयै-

(१) स्वप्रतिभासस्य-आ० टि० । (२) कारणं यतो भवन्मतेन वाचकम् । (३) शब्दस्वलक्षणाच्छब्दप्रातिविक्लपकं तस्माच्च सविकल्पकम्, अथवा स्वलक्षणप्रातिविकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकमिति । (४) स्वलक्षणमपि कारणत्वाद्वाचकं स्यात् । (५) स्वलक्षणस्यावाचकत्वे प्रसक्ते । (६) शब्दे बोधे सामान्यविशेषात्मकतयैव अर्थः प्रतिभाति तत्र तथैव निर्बाधबोधप्रती-
तिविषयत्वात् । (७) तुलना-“अनेकमेकञ्च पदस्य वाच्यम्”-बृहत्सं० श्लो० ४४ । “अनेकमे-
कात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्”-अन्यथो० श्लो० १४ । (८) “आकृतिस्तु क्रिया-
र्थत्वात्”-जैमिनिः ॥ १।३।३३ । “तु शब्दः पक्षान्तरं व्यावर्तयति । आकृतिः शब्दार्थः”-शाबरभा०
१।३।३३ । आकृतिशब्देन जातिरेवाभिप्रेता मीमांसकैः, तथाहि-“जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराकियते
यथा । सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥ ३ ॥ तन्निमित्तञ्च व्यक्त्वित्त्वसामान्यं शब्द-
गोचरम् ॥ ४ ॥ सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा सोऽभिधीयताम् ॥ १८ ॥ यद्येकमेव वस्तुनैकाकारं
तत्तद्दि तादृगेव शब्दोऽभिदधत् सामान्यमात्राभिधायी न स्यादत आह-न चेति । न च तत्तादृशं
कश्चिच्छब्दः शक्तोति भाषितुम् ॥ ६३ ॥ सामान्यांशानपोद्भूत्य पदं सर्वं प्रवर्तते ।”-मी० श्लो०
आकृति० श्लो० ३-४, १८, ६३ । “पूर्वं सामान्यविज्ञानात् चित्रबुद्धेरनुद्भवत्वात् । गामानयेति
वाक्याच्च यथारुचि परिग्रहात् ॥ गोशब्दोच्चारणे हि पूर्वमेवागृहीतासु व्यक्तिषु सामान्यं प्रतीयते, तदा-
कारज्ञानोत्पत्तेः पश्चात् व्यक्तयः प्रतीयन्ते, अतश्चाकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावाद् व्यक्तिप्रत्यये च
पूर्वप्रतीतसामान्यनिमित्तत्वात् आकृतिः शब्दार्थ इति विज्ञायते । यदि च व्यक्तयोऽभिधेया भवेयुस्त-
तस्तासां चित्रखण्डमुण्डादिविशेषस्वरूपग्रहणाद्विचित्रा शब्दोच्चारणे बुद्धिः स्यात् । एकाकारा तु
उत्पद्यन्ते । तेनाप्याकृतिः शब्दार्थ इति निश्चीयते । गामानयेति चोदिते अर्थप्रकरणाभावे यां काञ्चित्
सामान्ययुक्तां व्यक्तिमानयति न सर्वां न विशिष्टां । यदि च व्यक्तेरभिधेयत्वं ततः सर्वासां युगपद-
भिहितत्वादलक्षणयनं स्यात् । या वाऽभिधेया सैवैका आनीयेत, यतस्त्वविशेषण जातिमात्रयुक्ता
आनीयते तेनापि सामान्यस्य पदार्थत्वं विज्ञायते ।”-तत्त्वदा० १।३।३३ । “आनन्त्यव्यभिचारार्थां
शक्त्यनेकत्वोपशतः । सन्देहाच्चरमज्ञानाच्चित्रबुद्धेरभावतः ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतिः ।
आकृतेः प्रथमज्ञानात्तस्या एवाभिधेयता ॥ व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता । लिङ्गसंख्या-
दिसम्बन्धः सामानाधिकरण्याधीः ॥ सर्वं समञ्जसं ह्येतद्वस्तुनैकात्म्यवादिनः ।”-शास्त्रदी० १।३।३५ ।
“सम्बन्धभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥”-
वाक्यप० ३।३३ । (९) शब्दप्रभव-आ० टि० । (१०) सामान्यस्य-आ० टि० । (११) व्यक्ति-
विशेषे । (१२) यावदनन्तास्वपि व्यक्तियुतः ।

तोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः तेषामानन्त्यतः कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषय-
तानुपपत्तेः । अथ यावतामुपलम्भः तावत्त्वेव सङ्केतक्रियोपगम्यते; तर्हि विशेषा-
न्तरेषु सङ्केताऽसंभवात् शब्दव्यवहारानुपपत्तिः । न चाऽयोगिनः प्रतिपत्तुः प्रत्येक-
मशेषविशेषोपलम्भः संकृत क्रमेण वा संभवति; अयोगित्वविरोधानुपपत्त्या । योगिनस्तु
विबोधापन्नत्वात् तर्हुपलम्भो दूरोत्सारित एव । न चानुपलब्धेषु तेषु 'इदमस्य
वाचकम्, इदञ्च वाच्यम्' इत्यभिधानामिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणः सङ्केतः संभवति,
तदसंभवे च शब्दश्रवणार्थप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः सिद्धः शब्दव्यवहारोच्छेदः । ततस्तद्व्य-
वहारमिच्छता सामान्यमात्रे सङ्केतोऽभ्युपगन्तव्यः अतस्तदेव शब्दार्थः सिद्धः ।

किञ्च, जातिमद्विशेषशब्दार्थवादिनां किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधत्ते,
अनभिधाय वा ? न तावदभिधाय; जातिलैक्षणविशेषणविशेषप्रतिपत्तावेव उपक्षीण-
शक्तिकत्वेनास्य विशेष्याप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात् । उक्तञ्च—

“विशेष्यं नाभिधायं गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।” [] इति ।

नाप्यनभिधाय; विशेषमात्रप्रतिपादकत्वेन जातिमद्वाचकत्वाभावानुपपत्त्या । न
च सामान्यमात्रस्य अभिधानैरभिधाने विशेषाणामनभिधानात् प्रयोजनार्थिनः शब्दाव्य-
वृत्तिर्न प्राप्नोति, प्रतिपन्नस्यापि ततः तन्मात्रस्य प्रयोजनाप्रसाधकत्वादित्यभिधातव्यम्;
तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या विशेषाणामपि प्रतिपत्तिसंभवात् । प्रथमतो हि शब्दात्सा-

(१) शब्दविषयाः इति सम्बन्धः । (२) “न ह्यनन्तासु व्यक्तिषु संज्ञित्वं शक्यतेऽवगन्तुम् ।”—
शास्त्रदी० १।३।३५ । (३) सङ्केत-आ० टि० । (४) अशेषव्यक्त्युपलम्भे हि सर्वज्ञत्वमेव स्यादिति
भावः । (५) मीमांसको हि सर्वज्ञं न मनुते-आ० टि० । (६) तस्य व्यक्तीनामुपलम्भः । (७)
विशेषेषु-आ० टि० । (८) अभिधानामिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणसङ्केताभावे-आ० टि० । (९)
शब्दव्यवहार-आ० टि० । (१०) सामान्यमेव-आ० टि० । (११) उद्धृतोऽयम्-प्रश्न० व्यो० पृ०
१९१ । काव्यप्र० पृ० ४४ । मुक्ताव० दिन० पृ० ३७३ । काव्यानु० पृ० २५ । “अभिधा पदशक्तिः,
विशेष्यं न गच्छेत् न प्राप्नोति । कुत इत्याशङ्क्यामाह-क्षीणेति । क्षीणशक्तिविशेषण इत्यनन्तरं
सदिति पूरणीयम् । तथा च यतो विशेषणं प्राप्य पदशक्तिः क्षीणशक्तिः क्षीणसामर्थ्या भवत्यतो
विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् न प्राप्नुयादिति पर्यवसितार्थः ।”—रामर० पृ० ३७३ । (१२) ‘स मुख्योऽ-
र्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।’—काव्यप्र० पृ० ३९ । (१३) शब्दात्-आ० टि० । (१४)
सामान्यमात्रस्य-आ० टि० । (१५) सामान्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या । “न ह्यनभिधाय गोत्वमुपलक्षणं
गोव्यक्तावेव प्रयोगव्यवस्था लभ्यते । तच्चेदभिहितं सिद्धमाकृतिशब्दार्थत्वमिति ।”—तन्त्रवा० १।३।३३ ।
“न ह्यनभिधाय जातिं तज्जातीयत्वेन रूपेण व्यक्तरभिधातुं शक्यते । ततश्च विशिष्टाभिधानमेव
वाच्योक्त्यन्तरेणापन्नं न शुद्धाभिधानम् । विशिष्टाभिधाने च पूर्वतरं विशेषणमभिधातव्यम् । तदभिधाने
च तत एव अत्यन्ताविनाभूतव्यक्तिप्रतिपत्तिसिद्धेः न तत्र अभिधानशक्तिकल्पनावसरः ।”—शास्त्रदी०
१।३।३५ ।

१ सह क्रमेण व० । २-च्यमभिधा-श्र० । ३ शब्दार्थः प्रसिद्धः श्र० । ४-लक्षणप्रतिप-व० ।
—लक्षणविशेषण-श्र० । ५-रभिधानं वि-व० ।

मान्यमात्रं प्रतीयते, पश्चात्तद्व्यथानुपपत्त्या पिण्डविशेषो लक्षणार्थं प्रतीयते निराधारस्य सामान्यस्य अश्वविषाणवदसंभवात् । उक्तञ्च—

“अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।” [तन्त्रवा० १।४।२३] इति ।

तैलक्षितगोपिण्डादिविशेषप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या तु बाहदोहादिप्रयोजनविशेष-

६ प्रतीतिः लक्षितैलक्षणेति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां गोचर इत्यादि;

तस्मिन्सन्तुष्टं

तदसमीक्षिताभिधानम् ; सङ्केतानुसारेण शब्दस्य वाचकत्वोपपत्तेः ।

शब्दस्य वस्तुभूतसा-

सङ्केतश्चास्य तद्वैत्येव प्रैतिपन्नो न पुनः सामान्यमात्रे, प्रवृत्त्याद्यगो-

मान्यविशेषात्मकार्थ-

चरतया बाहदोहाद्यर्थक्रियाकारित्वविकलतया च केवलऽस्मिन् शब्द-

१०

वाचकत्वसमर्थनम्—

व्यवहारासंभवतः सङ्केतप्रतिपत्तेर्निष्फलत्वात् । ‘एवंविधाद्धि शब्दा-

देवंविधोऽर्थः त्वया प्रतिपत्तव्यः, एवञ्जातीय के चार्थे शब्दोऽप्येवञ्जातीयकः प्रयोक्तव्यः’

इति सदृशपरिणामापन्नयोरेव वाच्यवाचकयोः सङ्केतयित्रा सङ्केतं प्रतिपाद्यो ग्राहितः ।

यदपि ‘विशेषाणामभिधेयत्वे आनन्त्यतः कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया’ इत्या-

द्युक्तम् ; तदप्यसाम्प्रतम् ; साध्यसाधनव्यक्तिवत् सदृशपरिणामापन्नानां वाच्यवाचक-

१५

व्यक्तीनामानन्त्येऽपि ऊह्यमानेन कात्स्न्यतः प्रतिपत्तुं शक्यत्वात् । एतच्च शब्दार्थयो-

(१) ‘आह च—तेन तल्लक्षितव्यक्तेः क्रियासम्बन्धचोदना । जातिव्यक्त्योरभेदो वा वाक्या-
र्थेषु विवक्षितः ।’—शास्त्रवा० १।३।३५ । “लक्षणायाः स्वरूपम्—“मुख्यार्थबाधे तद्योगे लुहितोऽथ
प्रयोजनात् । अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥”—काव्यप्र० पृ० ४० । सा० ६० । १।९ ।

“वाक्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः । तत्सम्बन्धवशात्प्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥”—प्रक०

वाक्यार्थो पृ० १३ । (२) ‘अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिलक्षणेऽप्येते’—तन्त्रवा० १।४।२३ । उद्धृतोऽयम्—

‘अभिधेयाविना’—काव्यप्र० पृ० ५० । ‘प्रवृत्तिलक्षणेऽप्येते’—तौता० पृ० २०४ । पदार्थदी० पृ०

३१ । (३) सामान्यलक्षित । (४) ‘यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितल-

क्षणेऽप्युच्यते । यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे

ज्ञायते तत्र लक्षितलक्षणा ।’—मुक्ता० पृ० ३८९ । (५) पृ० ५६६ पं० ७ । (६) सामान्यवति विशेषे—

आ० टि० । (७) “जातिमात्रे हि सङ्केताद् व्यक्तेर्भाति सुदुष्करम् ।”—शब्दश० का० १९ । (८)

तुलना—“तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या । नहि जातिर्बाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृ-

शप्रकरणभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः । न जातिर्बाहदोहादिकं कर्तुं समर्था । ततश्च बाहदोहा-

द्यर्थिनो जातिचोदना निष्कलेति न तदर्थः शब्दप्रयोगः । यापि स्वप्रतिपत्तिलक्षणाऽर्थक्रिया जातेरुप-

वर्ण्यते; न तदर्थस्वरूपः प्रवर्तते शब्दप्रयोगादेव तस्याः सिद्धत्वात् । जातिमात्रप्रतिपत्त्यर्थं शब्दप्रयोगो

भविष्यतीति चेदत आह—नवेत्यादि । तादृशमिति बाहदोहादिप्रकरणं निष्कलस्य शब्दप्रयोगस्योपेक्षणी-

यत्वादित्युक्तत्वात् । जातो च वाक्यानां सत्यां गामान्येत्यत्र वाक्ये न वाक्यार्थप्रतीतिः स्यात् गोत्वस्य

क्रियात्वेऽन्यथाभावात् ।’—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।९५ । “न ह्यल्ल सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं तत्प्र-

तिपत्तेः अर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात् । न हि गोत्वं बाहदोहादानुपयुज्यते ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ०

१३९ । तत्त्वार्थद्वयो० पृ० १०२ । (९) पृ० ५६७ पं० १ ।

नित्यसम्बन्धनिषेधे^१ अपोहप्रतिषेधे च प्रपञ्चितमित्युपरम्यते । तथा च 'न चायोगिनः प्रतिपत्तुः प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भः सकृत् क्रमेण वा संभवति' इत्यादि^२ प्रत्युक्तम् ; अयोगिनोऽपि अशेषविशेषाणामुक्तविधिनोपलम्भसंभवप्रतिपादनात् ।

यदप्युक्तम्—'किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिसमिधत्ते' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम् ; जातितद्वैतार्थगुणदेव एकत्र ज्ञाने प्रतिभाससम्भवात् । नचैकज्ञानविषयत्वे विशेषणविशेष-
५
ष्यभावप्रतिनियमो न स्याद्, विपर्ययो वा स्यात्-विशेषणस्यापि विशेष्यरूपतानुषङ्गादि-
त्यभिधातव्यम् ; दण्डपुरुषयोर्युगपदेकत्रापि ज्ञाने प्रतिभासमानयोः विशेषणविशेष्यभाव-
प्रतिनियमप्रतीतिः । तत्प्रतिभासाविशेषेऽपि हि येन विशिष्टं यत् प्रतीयते तद्विशेषणम्
इतरद् विशेष्यम् । न खलु दण्डादेः पुरुषे विशिष्टप्रतीतिजननादन्यद् विशेषणत्वं
संभवति । यथा च चाक्षुषे ज्ञाने दण्डपुरुषयोः विशेषणविशेष्यभावापन्नयोर्युगपत्प्रति-
१०
भासमानत्वात् तत्प्रतिनियमाविरोधः तथा दण्डीतिशब्देऽपि । नह्यत्र दण्डमात्रं पुरुष-
मात्रं वा प्रतिभासते, विशेषणविशेष्यभावापन्नस्य युगपदभ्युपगमस्य प्रतिपादनात् । अतो
दण्डिशब्दात् दण्डविशिष्टः पुरुषो यथा प्रतिभासते तथा गोशब्दात् गोत्वविशिष्टः पिण्डः
इति प्रतिपत्तव्यम् । अथ गोशब्दश्रवणात् शाबलेयादिविशेषाऽप्रतीतेर्न विशेषः शब्दार्थः ;
तन्न ; तद्विशेषाप्रतीतावपि सामान्ययुक्तः ककुदादिमान् विशेषो गोशब्दात् प्रतीयत एव
१५
शाबलेयादिविशेषास्तु तद्वैकताः शाबलेयादिशब्देभ्यः प्रतीयन्ते । नचैतावता सामान्यमेव
शब्दार्थो युक्तः ; प्रधानोपसर्जनभावेन उभयोः प्रतिभासनात् । 'गामानय' इत्यादि-

(१) पृ० ५५० पं० ११ । (२) पृ० ५६४ पं० १४ (३) पृ० ५६७ पं० ३ । (४) उक्तविधिना उक्तप्रमाणेन (ऊहाख्येन) —आ० टि० । (५) पृ० ५६७ पं० ९ । (६) तुलना—'प्रत्यक्षे तावद् द्वयोरपि विशेषणविशेष्ययोरिन्द्रियविषयत्वं सामान्ये हि संयुक्तसमवायादिन्द्रियं प्रवर्तमानं विशेषणवद्विशेष्यमपि विषयीकरोति । न हि सामान्यं प्रत्यक्षं विशेषोऽनुमेय इति व्यवहारः । एवं गुणत्वग्राहिणीन्द्रिये गुणिनोऽनुमेयत्वं स्यात्, नचैवमस्ति । तस्माद् विशेषपर्यन्तं प्रत्यक्षं तथा पदमपि तत्तुल्यविषयं न तु सामान्यमात्रनिष्ठमिति युक्तम्.....यथा विध्यन्तपर्यन्तो वाक्यव्यापार इष्यते । तथैव व्यक्तिपर्यन्तः पदव्यापार इष्यताम् ।'—न्यायमं० पृ० ३२४-२५ । (७) दण्ड एव विशेषणं पुरुष एव च विशेष्यमिति । (८) एकत्र ज्ञाने प्रतिभासमानेऽपि । (९) दण्डयुक्तोऽयमिति । (१०) शाब्दे ज्ञाने । (११) तुलना—'अथ गोशब्दश्रवणाच्छाबलेयादिविशेषाप्रतिपत्तेर्न विशेषः शब्दार्थः ; सत्यम् ; किं तर्हि ? सामान्ययुक्तोऽर्थः प्रतीयते न शाबलेयादिविशेषः, स च शाबलेयादिशब्देभ्यः एव प्रतीयत इति, नचैतावता सामान्यमेव शब्दार्थः, प्रधानोपसर्जनभावेनोभयोः प्रतिभासनात् । तथा गामानयेत्यादिप्रयोगेषु सामान्यवतोऽर्थस्य आनयनादिकृत्या सम्बन्धात् ।'—प्रज्ञा० व्यो० पृ० ११२ । (१२) शाबलेयादिरूपस्य विशेषस्य अप्रतिभासनेऽपि । (१३) गोत्वविशिष्टः । (१४) तुलना—'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः । तुलनाद्विशेषणार्थः किं विशिष्यते । प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति । यदा हि भेदविवक्षा विशेषावगतिरुच्यते तदा व्यतिः प्रधानम् अङ्गं तु जात्याकृती, यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिरुच्यते तदा जातिः प्रधानम् अङ्गं तु व्यक्त्याकृती । तदेतद् बहुलं प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षितव्यः ।'—न्यायभा० २।२ ६७ । न्यायवा० पृ० ३२९ । न्यायमं० पृ० ३२५ ।

१-मित्युच्यते व० । २ युगपत्तदभ्यस्य व०, श्र० । ३ अशाबले-श्र० ।

प्रयोगेषु सामान्यवतोऽर्थस्य आनयनादिक्रियाभिसम्बन्धप्रतीतिश्च तद्वानेव शब्दार्थः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘विशेष्यं नामिधा गच्छेत्’ इत्यादि; तदप्यपेक्षलम्; ‘विशेषणं प्राक् प्रतिपाद्य पुनर्विशेष्यं शब्दः प्रतिपादयति’ इति विरस्य व्यापारान्भ्युपगमात्, युगपदेवार्थं विशेषणविशेष्यप्रतिपादनव्यापारप्रदर्शनात् । क्षीणशक्तिवञ्चार्थाऽनुपपन्नम्; शक्तेः कार्यानुमेयत्वात्, विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणं हि कार्यमुपलभ्यमानं तत्रार्थं शक्तिमनुमापयति । भिन्नज्ञानालम्बनयोश्च विशेषणविशेष्यत्वे इदं चोद्यं स्यात्, न त्वेकज्ञानालम्बनयोः । भवतोऽपि चैतच्छब्दोऽपि समानम्—उपलब्धस्य हि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वं स्यात्, अतः स्वात्मप्रतिपत्तावेवार्थं क्षीणशक्तित्वात् सामान्यलक्षणाऽर्थप्रतिपादकमपि न स्यादिति लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् ।

अथ सामान्यप्रतिपत्तेर्दृष्टत्वाच्च तत्रैव शक्तेः प्रक्षयः; तर्हि विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तेरप्यतो^{१२} दृष्टत्वात् कथं तत्राप्यर्थं तत्प्रक्षयः स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—‘तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतो यदि शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते तर्हि व्यक्तेः किमायातं येन तैसां लक्षयति ? अथ

(१) तुलना—‘अन्येषु तु प्रयोगेषु गां देहीत्येवमादिषु । तद्वतोऽर्थक्रियायोगात्तत्स्यैवार्थः पदान्धत्ताम् ॥’—न्यायम् पृ० ३२३ । (२) सामान्यविशेषवान्—आ० टि० । (३) पृ० ५६७ पं० १२ । (४) तुलना—‘प्रथमं जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तरं विशेषमवबोधयति, किं वाऽनभिहितविशेषामेव जातिम् ? नाद्यः; पदबुद्धयोः विरम्य व्यापाराभावात् ।’—चित्सु० पृ० २६३ । ‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः इति वादिभिरेव ।’—सा० द० परि० ५ । (५) शब्दस्य । (६) शब्दस्य । तुलना—‘ननूक्तं क्षीणशक्तिविशेषणेति विशेष्यं नामिदध्यात् इति; तावच्छब्दः कार्यविषयत्वात् । कार्यञ्च विशेषणप्रतिपत्तिवत् विशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणमुपलभ्यमानं शक्तेर्व्यवस्थापकम् । अथ कार्यस्यैवामात्रं भूयात्; स चैवं भूवाणः स्वसंवेदनमपि बाधते, विशेष्यप्रतिपत्तेः संवेदनात् ।’—प्रश० व्यो० पृ० १९२ । (७) विशेषणविशेष्योभयप्रतिपत्तौ । (८) शब्दस्य । (९) मीमांसकस्यापि । तुलना—‘समानञ्चैतद् उपलभ्यमानस्य शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, स्वात्मप्रतिपत्तौ च क्षीणत्वात् सामान्यप्रतिपादकत्वं न स्यात् ।’—प्रश० व्यो० पृ० १९२ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यप्रतिपत्तौ शब्दस्य । (१२) शब्दात् । (१३) शब्दस्य । (१४) शक्तिप्रक्षयः । (१५) पृ० ५६७ पं० १६ । (१६) तुलना—‘व्यक्तेरशक्यचोदनत्वात् लक्षितलक्षणया जातिरुच्यते इति चेत्; लक्षितलक्षणेत्यादि परः । सत्यं कथं प्रवर्तते ? न हि कश्चित् दण्डं छिन्धीत्युक्ते दण्डनं छिनत्ति । लक्षितलक्षणेत्यादि परः । सत्यं न सामान्यमर्थक्रियाकारि किन्तु व्यक्तिरेव, केवलं व्यक्तेरशक्यचोदनत्वात् कारणात् सामान्ये नियुक्तः शब्दः सामान्यं लक्षयति । तेन सामान्येन शब्दलक्षितेन सम्बन्धाद् व्यक्तिरपि लक्षयति इति; न हि शोशब्दादुच्चरिताद् गोत्वं प्रतीयते अपि तु गौरैवावसीयते । न नामैवं तथायुच्यते । अशब्दचोदितेत्यादि । यदि नाम जातितद्वतोऽसम्बन्धः तथापि अशब्दचोदिते व्यक्तिविशेषे कथं प्रवर्तते ? नैव । दण्डदण्डिनोऽसत्यपि सम्बन्धे न हि कश्चित्प्रेक्षापूर्वकारी दण्डं छिन्धि इत्युक्ते दण्डनं छिनत्ति अशब्दचोदितत्वात् । तथा जातौ चोदितयां व्यक्तौ प्रवृत्तिर्न युक्तेत्यर्थः ।’—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० ११५ । ‘लक्षितलक्षणया वृत्तिरतादात्म्ये न भवेत् सम्बन्धात्तरासिद्धेः कार्मुकादिवत् ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १३९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०२ । ‘किञ्च यदि नाम शब्दाज्जातिः प्रतिपन्ना व्यक्तेः किमायातं येनासौ तां गमयति ।’—प्रमेयक० पृ० ४१२ । (१७) सामान्यं तां व्यक्तित्वम् ।

व्यक्त्या सह तस्यै सम्बन्धसद्भावात् ततैस्तत्प्रतीयमानं तां लक्षयति; कः पुनस्तस्यै-
स्तेन सम्बन्धो नाम-संयोगः, समवायः, तदुत्पत्तिः, तादात्म्यं वा ? न तावत्संयोगः,
अद्रव्यत्वात् । नापि समवायः; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तदुत्पत्तिरपि अतै एवानुपपन्ना ।
तादात्म्याभ्युपगमे तु सामान्यविशेषयोः तादात्म्यापन्नयोः एकस्मादेव गवादिशब्दात्
विशेषणविशेष्यरूपतया प्रतीयमानयोः कथमेकस्यैव शब्दार्थत्वं वक्तुं युक्तम्, अप्रामा- 5
णिकत्वप्रसङ्गात् ?

किञ्च, अनयोस्तल्लक्षणः सम्बन्धः शब्दप्रयोगकाल एव प्रतिपन्नः, पूर्वं वा ? न
तावत्तत्काल एव; व्यक्तेः शब्दोक्तचारणकालेऽप्रतीतेः, प्रतीतौ वा किं लक्षणया ? तर्काले
तत्प्रतीतिश्च किं प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, शब्दादेव वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षतः; देशकाल-
स्वभावविप्रकृष्टायाः व्यक्तेः इन्द्रियसम्बन्धाभावतस्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यत्वात् । 10
नाप्यनुमानतः; तद्व्यतिवद्धलिङ्गाऽदर्शनात् । शब्दादेव तत्प्रतीतौ तु सिद्धं व्यक्तेरपि
शब्दार्थत्वम् । अथ पूर्वं जातिव्यक्त्योस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः प्रतिपन्नः; यदि नाम
तदा तयोरसौ दृष्टो नैतावता सर्वत्र सर्वदा तयोस्तेनैव भाव्यम्, अन्यथा पटस्य शुक्लरू-
पेण कैचित् कदाचित्तादात्म्यदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तथैवाभावः स्यात् ।

अथ जातेरिदमेव स्वरूपं यद् व्यक्तिनिष्ठता; ननु किं सर्वसर्वगतायास्तस्यास्तद्वत् 15
स्यात्, व्यक्तिसर्वगताया वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; व्यक्त्यन्तराले तदभार्षितप्रसङ्गात्
तत्र तद्वत्पर्यायसंभवात् । व्यक्तिसर्वगतायास्तु तस्याः तद्वत्प्रोपगमे व्यक्तियज्जातेरत्यन्तक-
त्वप्रसिद्धेः उभयोरविशेषतः शब्दार्थत्वं स्यात्, न वा कस्यचित् । अस्तु वा अविचारित-
स्वरूपायास्तस्यास्तन्निष्ठस्वभावता; तथाप्यसौ 'सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठा' इति प्रत्यक्षतः
प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? प्रत्यक्षतश्चेत् ; किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; 20

(१) सामान्यस्य । (२) शब्दात् । (३) व्यक्तेः । (४) द्रव्ययोरेव संयोगात्, संयोगस्य
गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । (५) न हि मीमांसकाः समवायं स्वीकुर्वन्ति । (६) अपसिद्धान्तप्रसङ्गादेव,
नहि शब्दार्थयोः परस्परमुत्पाद्योत्पादकभावः । (७) सामान्यव्यक्त्योः तुलना-“सम्बन्धस्तयोस्तदा
प्रतीयेत पूर्वं वा ?”-प्रमेयक० पृ० ४१२ । (८) शब्दोच्चारणसमये । (९) तादात्म्यलक्षण-
सम्बन्धप्रतीतिः । (१०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् । (११) सामान्यव्यक्त्योस्तादात्म्यस्य प्रतीतिः ।
(१२) न हि व्यक्त्यनधिगतावपि तन्निष्ठः सम्बन्धो ग्रहीतुं शक्य इति । (१३) पूर्वम् । (१४)
सम्बन्धेन । (१५) शुक्लतादात्म्यम् । (१६) जातेः यद् व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपमुक्तं तस्य अभाव-
प्रसङ्गात् । (१७) व्यक्त्यन्तराले । (१८) व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपस्य असंभाव्यमानत्वात् । व्यक्त्य-
भावे हि न व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपं सिद्धयति, अतश्च स्वरूपाभावात् स्वरूपवतः सामान्यस्याप्यभावः ।
(१९) जातेः । (२०) व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपस्वीकारे । (२१) जातेः । (२२) व्यक्तिनिष्ठ ।
(२३) जातिः-आ० दि० । तुलना-“किञ्च, सर्वदा जातिव्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयेत अनुमानेन
वा ?”-प्रमेयक० पृ० ४१२ ।

1-विषयोस्ता-आ० । 2 तादात्म्यापन्नविशेषयोः अ० । 3-तावता सर्वदा अ० । 4-वचि-
त्कतादा-आ० । 5 सर्वदा भावः व० । 6 तद्भावप्र-आ०, अ० । 7-स्य संभवात् अ० । 8-संभवत् आ० ।

निखिलव्यक्तीनां युगपदप्रतिपत्तौ जातेस्तन्निष्ठतया युगपत्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयपक्षे तु निरर्थधेर्व्यक्तिपरम्पराया युगसहस्रेणापि क्रमेण प्रतिपत्त्यभावतः तस्यास्तन्निष्ठतावसाय-
संभवोऽतीव दुर्घटः । तन्न प्रत्यक्षतः तस्यास्तन्निष्ठताधिगमो युक्तः । नान्यनुमानतः;
प्रत्यक्षपूर्वकत्वेनास्य भवताऽभ्युपगमतस्तदभावे तस्यापि तत्राऽप्रवृत्तेः, तस्यास्तन्निष्ठतयाऽ-
विनाभाविलङ्घासम्भवाच्च । ततः शब्दस्य सामान्यवाचकत्वे व्यक्तिवाचकत्वानुपपत्तिरेव ।

किञ्च, सामान्ये सङ्केतितः शब्दः तदभिधत्ते, असङ्केतितो वा ? न तावद्-
सङ्केतितः; अतिप्रसङ्गात् । अथ सङ्केतितः; किं प्रतिपन्ने सामान्ये तत्सङ्केतः स्यात्,
अप्रतिपन्ने वा ? यद्यप्रतिपन्ने; अतिप्रसङ्गः । अथ प्रतिपन्ने; कुतस्तत्प्रतिपत्तिः ? न
तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्; नित्यादिस्वभावसामान्यग्राहकत्वेन अनयोः सामान्यपरी-
क्षावसरे प्रैतिक्षितत्वात् । शब्दैकप्रमाणसमधिगम्यत्वे तु अनवस्थेतरेतराश्रयदोषानुपपन्नः ।
तथाहि—यदि य एव शब्दः सामान्ये सङ्केत्यते तत एव तत्प्रतिपत्तिः, तदा इतरेतराश्रयः—
प्रतिपन्ने हि सामान्ये तत्रार्थं सङ्केतसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ततः सामान्यप्रतिपत्तिरिति ।
शब्दान्तरात् तत्सिद्धौ अनवस्था, तस्यापि हि शब्दान्तरस्य प्रतिपन्ने सामान्ये सङ्केतो
भविष्यति, तद्यत्प्रतिपत्तिश्च अन्यस्माच्छब्दान्तरादिति । यदि च शब्दात्सामान्यमेव
प्रतीयते; तदा शब्दमप्रमाणमेव स्याद् गृहीतग्राहित्वात्, शब्दार्थयोः सम्बन्धग्राहिणैव
हि प्रमाणेन सामान्यं गृहीतमिति ।

किञ्च, शब्दान्निर्विशिष्ट सामान्यं प्रतीयमानं पुरुषं प्रवर्त्तयति, विशिष्टं वा ? न
तावान्निर्विशिष्टम्; अतिप्रसङ्गात् । अथ विशिष्टम्; किङ्कृतमस्य वैशिष्ट्यम्—विशिष्ट-
व्यक्तीतादात्म्यकृतम्, तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अस्येदमिति प्रतीतिकृतं वा ? तत्रा-
द्यपक्षोऽनुपपन्नः; तस्य स्वकीयसकलव्यक्तिभिः सह तादात्म्यसद्भावतो विशिष्टव्यक्तावेव
तादात्म्यानुपपत्तेः । अथ स्वकीयाखिलविशिष्टव्यक्तीतादात्म्यकृतमेव अस्य वैशिष्ट्यमुच्यते;
नन्वेवं सर्वत्र तद्व्यक्तौ पुरुषस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् प्रतिनियतद्व्यक्तौ प्रवृत्त्यभावः स्यात् । न च
गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ क्वापि व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते; तस्याः सर्वथाऽप्रतिपन्नत्वात् ।
यस्मिन् प्रतीयमाने यत् सर्वथा न प्रतीयते न तत्प्रतीतितस्तत्र प्रवृत्तिः यथा जलप्रती-
तितोऽनले, गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ न प्रतीयन्ते च खण्डादयो व्यक्तिविशेषा इति ।

(१) अनन्तायाः । (२) जातेः । (३) मीमांसकादिना । (४) प्रत्यक्षाभावे । (५)
अनुमानस्यापि । (६) जातेर्व्यक्तिनिष्ठत्वबोधने । (७) जातेः । (८) प्रत्यक्षानुमानयोः । (९)
पृ० २८५ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यसिद्धौ । (१२) भूयोदर्शनादिना । (१३) यदेव
हि शब्दार्थसम्बन्धप्रवृत्तकाले सामान्यं गृहीतं तदेव शब्दोच्चारणकालेऽपि—आ० टि० । (१४) सामा-
न्यस्य । (१५) विशिष्टव्यक्तावेव । (१६) सामान्यस्य । (१७) व्यक्तेः—आ० टि० । (१८)
गोत्वसामान्यमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्—आ० टि० । (१९) शब्दाद् गोत्वप्रतीतावपि न शावलेयादिषु
प्रवृत्तिः तत्प्रतीतावपि तेषां सर्वथाऽप्रतिपन्नत्वात् ।

अथ गोशब्दाद् गोत्वं प्रतीयमानं गोव्यक्तिसम्बद्धमेव प्रतीयते; कथमेवं सामान्य-
मेव शब्दार्थः स्यात् ? विशेषणविशेष्यभावापन्नयोः सामान्यविशेषयोः ततः प्रतीतिः ।
ननु गोशब्दात्साक्षाद् गोत्वमेव प्रतीयते, व्यक्तिस्तु तदन्यथानुपपत्त्यैव प्रतीयते इति;
तदप्यनुन्दरम्; एवं जातेरेव शब्दार्थत्वमायातं व्यक्तेस्तु प्रमाणान्तरगम्यता, तथा च
शब्दस्य लक्ष्णया विशेषप्रतिपादकत्वं दुर्घटम् । अथ शब्दस्यैव अयमान्तरो व्यापारः
यत् सामान्यं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपत्तिसहकारी व्यक्तिमपि गमयति लक्षणयेति; तदसाम्प्रतम्;
यतो यत्रैव सम्बन्धस्मरणसहकारी शब्दः प्रवर्तते स एव तस्यार्थो न पुनस्तदर्थविना-
भावित्वेन यद्यत्प्रमाणान्तरतः प्रतीयते तत्तत्सर्वं शब्दोदरे प्रक्षेप्यम्, अन्यथा प्रत्यक्ष-
सिद्धधूमान्यथानुपपत्त्या सिद्धो वह्निः प्रत्यक्षसिद्ध एव स्यात् । तन्न विशिष्टव्यक्ततादा-
त्म्यकृतमस्य वैशिष्ट्यं घटते ।

नापि तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्; अन्योन्याश्रयानुपपन्नात् । तथाहि—सामान्यस्य
विशिष्टत्वसिद्धौ सत्यां विशिष्टविशेषेष्वेव प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां सामान्यस्य
विशिष्टत्वसिद्धिरिति ।

तृतीयपक्षे तु चक्रकमासज्यते—सिद्धे हि सामान्यस्य वैशिष्ट्ये विशिष्टविशेषेषु प्रतीति-
हेतुत्वसिद्धिः, सत्यां सत्याम् 'अस्येदम्' इति प्रतीतिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तस्य वैशिष्ट्य-
सिद्धिरिति । ततः प्रमाणतो वस्तुव्यवस्थामिच्छता यद् यथा यतः प्रतिभासते तत् तस्य
सदृशेतरूपतया विषयोऽभ्युपगन्तव्यम् यथा चक्षुरादिप्रत्ययस्य नीलादिरूपतया प्रति-
भासमानं रूपादि, गवादिशब्दात् प्रतिभासते च गवादिकं वस्तु, तस्मात्तदेव तच्छब्दानां
विषयः, न पुनः सामान्यमात्रमिति ॥छ॥

एतेन विधिरेव वाक्यार्थः इति विधिवादिमैतमप्यपास्तम् । ते हि ब्रुवते—विधि-
रेव वाक्यार्थः अप्रवृत्ताप्रवर्तनस्वभावत्वात्तस्य । तदुक्तम्—“विधेर्ल-
विधिवादे विविधपूर्व-
पक्षाः—
ज्ञाणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।” [] इति । तल्लक्षणे च विधौ
वादिनां विप्रतिपत्तिः; तथाहि—वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्तकत्वाद्

(१) शब्दात् । (२) अर्थापत्ति—आ० टि० । (३) शब्देन हि सामान्यं गृहीतं विशेषस्वरथा-
पत्त्या, किं लक्षणया ?—आ० टि० । (४) सामान्यप्रतिपत्ति । (५) सङ्केतस्मरण । (६) अर्था-
पत्तेरनुमानाद्वा । (७) सामान्यस्य । (८) 'अस्येदमिति प्रतीतिकृतं वा' इति तृतीये विकल्पे । (९)
विधेः । (१०) 'अनुष्ठेये हि विषये विधिः पुंसां प्रवर्तकः ।'—मी० श्लो० वाक्या० श्लो० २७४ ।
“तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः ।”—अर्थसं० पृ० २९ । “प्रवर्तकविकीर्णया हेतुधीविषयो विधिः ।”
—शब्दश० का० १०१ । “यो हि विध्यर्थेन लिङ्ग लोटा कृत्वेवाऽपूर्वोपदेशः कियते स विधिः ।”—युक्ति-
दी० पृ० २० । (११) “ननु चाहुः विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् । अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं
विधिः ॥”—न्यायसं० पृ० ३४० ।

१ प्रतीयत एव व्य-अ० । २-सहकारि व्य-ब०, अ० । ३ तदप्यसा-अ०, ब० । ४ प्रतिक्षेपतव्यम्
ब०, अ० । ५ तत्रैव प्रवृ-ब०, अ० । ६ हेतुत्वसिद्धिरिति तृतीय-ब० । ७ तस्याञ्च सत्यां तत्रैव तस्य
प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिरिति आ० । ८-सतमपास्तम् ब० । ९ विधिलक्ष-ब० ।

- विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिरित्यन्ये । नियोगरित्यपरे । प्रैषाद्यः इत्येके । विरैस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रम् इत्यन्ये । प्रवर्त्तकत्वात् फलमेव इत्यपरे । फलामिलाप एव इत्येके । कर्मैव इत्यन्ये । आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धावगम इत्यपरे । श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मः इत्येके । उपदेशः इत्यन्ये । कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिरेव इत्यपरे ।
- 6 प्रतिभैव इत्येके । भक्तिरेव इत्यन्ये । इच्छैव इत्यपरे । प्रयत्न एव इत्येके इति ।

तत्र शब्दविधिवादिनो ब्रुवते—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवर्त्तकत्वमवधार्यते, तौ च अनन्यथासिद्धौ शब्दस्यैव प्रवर्त्तकत्वमवगमयतः, अतः स एव विधिः । अर्थस्य विधिवे “*क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्*” [शाबरभा० १।१।२] इति विरुध्यते । प्रवर्त्तकार्थ-
प्रतिपादनद्वारेण वचनस्य प्रवर्त्तकत्वे च औपचारिकं प्रवर्त्तकत्वमस्य स्यात्, मुख्यवच्च-
10 वृत्त्या तत्रैतद्व्यवस्थितम् इत्यर्थनिरपेक्षमेवास्मै तत्प्रतिपत्तव्यम् । व्यापारातिशयप्रवर्त्त-
कत्वपक्षेऽपि न शब्दस्य मुख्यप्रवर्त्तकत्वक्षतिः, व्यापारातिशयसमाश्रयेणैव सर्वस्य
साध्यवस्तुसम्पादकत्वात् । न खलु काष्ठादीनां ज्वालाद्यवान्तरव्यपारावलम्बनेऽपि पाके
मुख्यं कारकत्वाभिधानं विरुध्यते । प्रवर्त्तकत्वञ्च यद्यपि सामान्येन शब्दस्योच्यते
तथापि लिङ्गलोपे तद्व्यप्रत्ययान्तस्यैव तद् युक्तं शब्दान्तराणां प्रवृत्तिहेतुत्वाऽदृष्टेः ।

- 15 अत्रान्ये^१ शब्दस्य विधित्वमसहमानाः “प्रमाणत्वात्, अनियमात्प्रवृत्तेः, संविदा-
श्रयणीत्” इत्यादियुक्तिविरोधं दर्शयन्ति । तथाहि—प्रमाणत्वं तावत् प्रवर्त्तकाऽर्थाऽवबोध-
(१) भाट्टाः । (२) प्राभाकराः । (३) परित्यक्तपुरुषाद्विशेष-आ० टि० । (४)
शब्दस्य । (५) शब्दे । (६) प्रवर्त्तकत्वम् । (७) शब्दस्य । (८) प्रवर्त्तकत्वम् । (९) पंचमी
—आ० टि० । पञ्चमी लकार इत्यर्थः । (१०) लोट् सप्तमी—आ० टि० । सप्तमी लकार इत्यर्थः ।
(११) मण्डनमिश्रादयः । (१२) “प्रमाणत्वादनियमात्प्रवृत्तेः संविदाश्रयात् । समभिध्याहूतेः
शब्दो न विधिः कार्यकल्पात् ॥” —विधि० पृ० ५ । “तत्र शब्दः स्वरूपेण वायुवच्चेत्प्रवर्त्तकः ।
प्रमाणत्वं विहन्येत नियमाच्च प्रवर्त्तयेत् ॥” —न्यायसु० पृ० २६ । (१३) “प्रमाणं हि शब्दः प्रतिज्ञायते,
बोधकञ्च प्रमाणम्, तत्र प्रवृत्तिहेतुं कञ्चनार्थातिशयमवगमयन् शब्दश्चोदनात्वेन प्रमाणतामश्नुते,
स्वयमेव तु प्रवृत्तः कारकस्तां प्रमाणतामपजह्यात् । न हि कारको हेतुः प्रमाणमपि तु ज्ञापकः ।—प्रमाणं
हि शब्दः प्रतिज्ञायते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति । बोधकञ्च प्रमाणम् अवाधितानिधगतासिद्धिग्धा-
र्थप्रमाणजनकम् ।... स्वयमेव तु प्रवृत्तेरप्रमायाः कारकः तां प्रमाणतामपजह्यात् । नन्वप्रमाया अपि
प्रवृत्तेः कारकः कस्मात् प्रमाणमत आह—नहि कारको हेतुः प्रमाणम् । माभूद् बीजादीनामङ्कुरादिकार-
काणां प्रामाण्यम् । किं तर्हि प्रमाणमित्याह—अपि तु ज्ञापकः, इन्द्रियादौ तथा भावात् ।” —विधि०, टी०
पृ० ५ । “अत एव शब्दोपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तकः वाय्वादितुल्यत्वप्रसङ्गात् । यदि पवन इव पिशाच
इव कुपुष इव शब्दः प्रवर्त्तको भवेत् अनवगतशब्दार्थसम्बन्धोऽपि श्रवणपरवशः प्रवर्त्तत, न चैवमस्ति ।
तस्मादर्थप्रतीतिमुपजनयतः शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वम् । न च नाम लिङादिव शब्दः प्रवर्त्तकाभिधानद्वारेण
प्रवर्त्तको भवितुमर्हति । शब्दस्य च ज्ञापकत्वाच्चक्षुरादिकारकत्वलक्षणे सत्यपि प्रतीतिजन्मनि कारण-
त्वमपरिहर्ह्यम् । कारणं च कारकम्, कारकञ्च न निव्यापारं स्वकार्यनिवृत्तिक्षममिति व्यापारस्त-
स्यावश्यमासीत् ।...” —न्यायसु० पृ० ३४२ ।

१ प्रेषादायः अ० । २ इत्यपरे व० । ३ इत्येके तत्र अ०, व० । ४—बध्नापति तौ अ० ।
५ क्रिययोः प्र—व० । ६—पक्षोपि व० । ७ साधवस्तु—आ० । ८ लिङ्गलोपे तद्व्य—आ०, व० ।

कत्वं विना स्वतः प्रवृत्तिकारकत्वे अस्य दुर्घटं वाग्व्यादिवत्, कारकहेतोः प्रमाणत्वा-
नुपपत्तेः, बोधकस्यैव तत्संभवात् । अथोच्यते—वाग्व्यादिजनितभूतप्रवृत्तिलक्षणवैयम्
इच्छादिसमानरूपा चिद्रूपात्मप्रवृत्तिः विषयावबोधापेक्षिणी लिङादिभिः क्रियते; तन्न;
प्रवृत्तिकारकत्वांशे परिकारकाणामिव प्रामाण्यानुपपत्तेः । बोधकत्वमात्रेणापि प्रामाण्ये
वर्त्तमानाद्यपदेशकालप्रवर्त्तकलङ्कादियुक्तेष्वपि वाक्येषु तैत्थसङ्गात् “तेन प्रवर्त्तकं वाक्यं
शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते ।” [मी० श्लो० चोदनासु० श्लो० ३ ।] इत्यस्य विरोधः । तस्मात्
साध्यस्वभावयागादिव्यापारलक्षणविषयावबोधकत्वेनैव लिङाद्यन्तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वो-
पपत्तेः न शब्दस्य स्वरूपेणैव विधित्वम् ।

तथा, अनियमाप्रवृत्तेः शब्दस्य हि विषयावबोधनिरपेक्षस्य स्वरूपेणैव विधित्वे
चेतनात्मकस्यापि पुरुषस्य अभिप्रायतिरस्कारेण मन्त्रादिजन्यविक्षोभस्येव विवक्षस्य बला-
त्कारेण शब्दात्प्रवृत्तिरुद्भवन्ती न वाग्व्यादिजनितप्रवृत्तिवैलक्ष्यमनुवीत । तथा
चास्मीं हठादेव भवन्त्यां पुरुषस्वातन्त्र्याश्रितविहिताऽकरणापराधनिवन्धनप्रायश्चित्तप्रति-
पादनस्य निर्विषयत्वप्रसक्तेः अयुक्तमुक्तम्—

“अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन् ।

प्रसजंश्चेन्द्रियायेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥” [मनुस्मृ० ११।४४] इति । 15

(१) प्रवृत्तिकारकांशे प्रामाण्यम्, बोधकारकांशे प्रामाण्यमिति—आ० टि० । (२) किन्तु
विशिष्टबोधकत्वेनैव प्रामाण्यम्—आ० टि० । “विषयावबोधनान्न दोष इति चेन्न; तन्मात्रस्यान्यत्रापि
तुल्यत्वात्; चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानर्थक्यात् । निराकरोति, नेति । कुतः ? तन्मात्रस्य
अन्यत्रापि वर्तमानापदेशेऽपि चैव पचतीत्यादौ तुल्यत्वात् । न हितत्र भावना नावगम्यते । अस्तु तुल्यता,
का नो हानिरित्यत आह—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इत्यभ्युपगमानर्थक्यात् । प्रवर्त्तकत्वं चोदनात्वं प्रवृत्ति-
हेतुं कञ्चनार्थातिशयमवगमयन् अनेन रूपेण प्रामाण्यमनुते न भावनामात्रवचनत्वेन तस्य अन्यत्रापि
तुल्यत्वात् । तस्माद्येन रूपेण प्रामाण्यं न तेन चोदना, येन चोदना न तेन प्रामाण्यं तस्य प्रवृत्तिं प्रति
कारकत्वात् ।”—विधिबि०, टी० पृ० ६ । (३) वर्त्तमान—आ० टि० । (४) चैवः पचतीत्यादिषु ।
(५) प्रामाण्यप्राप्तेः । (६) अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादेः । (७) “शब्दस्वातन्त्र्ये च नियोगतोऽवश्यं
प्रवृत्तिः स्यात्, तथा च अकुर्वन् विहितं कर्माति निर्विषयं स्यात् । न हि तदानीं बलवदनिलसलिलौ-
घनुद्यमानस्येवेच्छापि तन्नं प्रवृत्तिं प्रति पुरुषस्य ।”—विधिबि० पृ० ६ । (८) शब्दवशादनिल्ला-
प्तिविकायां प्रवृत्ती । (९) पुरुषस्वातन्त्र्ये सत्येव विहितस्य सन्त्यादेः अकरणात् प्रायश्चित्तं भवेत्, यदा
तु पुरुषस्य प्रवृत्तौ स्वतन्त्र्यमेव नास्ति तदा कथं तदकरणेन प्रायश्चित्तभाक्त्वम् । (१०) व्याख्या—
“प्रसक्तश्चेन्द्रियायेषु... नित्यं यद्विहितं सन्ध्योपासनादि नैमित्तिकञ्च शवस्यशार्दो स्नानादि तदकु-
र्वन्, तथा प्रतिषिद्धं हिंसाद्यनुतिष्ठन् अविहितनिषिद्धेष्वत्यन्तासक्तिं कुर्वन्नरो मनुष्यजातिमात्रं प्रायश्चि-
त्तमर्हति ।”—मनुस्मृ० मन्वर्थ० ११।४४ ।

1 लिङादि—आ०, ब० । 2 परिकारणा—आ०, श्र० । 3 कलङ्कादि—ब० । 4 लिङाद्यन्त—आ०,
ब० । 5-विक्षोभस्येव ब०, श्र० । 6 हठादिव श्र० । 7 भवत्यां ब०, श्र० । 8-बन्धनं प्रा—ब० ।
9-नस्यानि—श्र० ।

तथा, ^१संविदाश्रयणान्न शब्दः प्रवृत्तेः कारकः । नहि बीजादीनां संवेदनसापेक्षानां स्वकार्यकर्तृत्वं दृष्टम्, ज्ञापकस्यैव धूमादेस्तदपेक्षाप्रतीतेः ।

किञ्च, अंशुतफलेषु विश्वजिदादिषु वाक्येषु फलस्य स्वर्गादेः अधिकारिणश्च स्वर्ग-
कामादेः अध्याहारः, अग्निष्टोमादिषु च स्वर्गकामादौ अन्यपदार्थोपसर्जनीभूतस्वर्गादि-
५ पदार्थानां फलत्वाध्यवसाय एवमाद्यर्थमिसम्बन्धो व्यर्थः, वैय्यादिवत् फलादिस-
म्बन्धानपेक्षस्यैव शब्दस्य प्रवृत्तिहेतुत्वप्रसङ्गात् । तत्र शब्दो विधिः । ॥४॥

शब्दव्यापारविधिवादिर्नस्तु ब्रुवते—लिङादि (लिङादि) शब्दश्रवणानन्तरं वृद्ध-
व्यवहारे प्रवृत्त्याख्यकार्यदर्शनात् तत्कारणत्वेन कल्पितस्य शब्दव्यापारस्य मैत्रपवैनादि-
वैलक्षणेन प्रवृत्तिहेतोः संभवान्न पूर्वोक्तदोषानुपपन्नः । तदुक्तम्—

१० “अभिधाभावनामाहुरस्यामेव लिङादयः ।” [तन्त्रवा० २।१।१]

(१) “ज्ञापकश्च स्वरूपकर्मसम्बन्धविषयज्ञानमपेक्षते लिङादिस्वरूपञ्च प्रवृत्तेः कारकमित्यनु-
पयुक्तस्वरूपतत्कर्मसम्बन्धविषयसंविदोऽपि पुंसः प्रवृत्तिप्रसङ्गः ।” —विधिवि० पू० ७ । (२) स्वसंवेदना-
पेक्षा । (३) विश्वजिदादियज्ञेषु स्वर्गादिफलं न श्रुतौ कण्ठोक्तमतः तत्र सामान्यत्वेण स्वर्गरूपस्य फलस्य
अध्याहारः त्रियते । तथा चोक्तं जैमिनिन्यायमालायाम्—(४।३५) “नैवास्ति विश्वजिदाग्रे फलमस्त्युत
नाश्रुते । भाव्यापेक्षाद्विधेः कल्प्यं फलं पुंसः प्रवृत्तये ।” द्रष्टव्यम्—शाबरभा० ४।३।१०—१७ ।
“अपि चाश्रुतफलेषु फलाध्याहारः क्वचित्कृतूपकारकल्पना, श्रुतानामपि स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसाय
इति सर्व एव महिमा विधेः । स शब्दस्य तद्भावेऽनुपपन्नः—अपि चाश्रुतफलेषु पिण्डपितृयज्ञादिषु
स्वर्गादिफलाध्याहारः क्वचित् कृतूपकारकल्पना समिदादौ, श्रुतानामपि पुरुषविशेषणतया स्वर्गादीनां
फलत्वाध्यवसाय इति सर्व एष महिमा विधेः । स शब्दस्य तद्भावे विधिभावेऽनुपपन्नः ।” —विधिवि०,
टी० पू० १४ । (४) अत्र हि श्रुतिवाक्यविषयः अधिकारी चोक्तो न तु फलम्, तच्च स्वर्गकामाख्याधि-
कारिलक्षणे पदार्थे स्वर्गकामोऽस्येति समासे पूर्वपदतया उपसर्जनीभूतः स्वर्गः फलतयाऽध्यवसीयते—आ०
टि० । (५) “प्रवर्तकस्येति चेन्नः तस्यापि पवनादिवर्तिन इवोपपत्तेः फलरूपं कारकं विना । तस्मान्न
विधिः शब्दस्तद्व्यापारो वा । शकते—प्रवर्तकस्येति चेत्; लिङादयः खलु पुंसां प्रवर्तकाः, न चेत्
निफले प्रवर्तयितुं पुरुषमीशते इति तदवस्थानुपपत्त्या फलकल्पनेत्यर्थः । निराकरोति, न । तस्यापि
प्रवर्तकत्वस्य पवनादिवर्तिन इवोपपत्तेः । नहि यो यः प्रवर्तयति स सर्वः फलमपेक्षते, पवनादीनां
प्रवर्तयतामपि तदनपेक्षत्वदर्शनादित्यर्थः ।” —विधिवि०, टी० पू० १४ । (६) भट्टकुमारिल्लदयः ।
“भावनैव च वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया । अनेकमुणजात्यादिकारकाथानुरञ्जिता । एकैव तु
बुद्ध्यासी गृह्यते चित्ररूपया ।” —मी० श्लो० पू० ९३९ । “तत्रार्थात्मिकायां भावनायां लिङादि-
शब्दानां यः पुरुषं प्रति प्रयोजकव्यापारः सा द्वितीया शब्दधर्मोऽभिधात्मिका भावना विधिरित्युच्यते ।”
—तन्त्रवा० २।१।१ । (७) यथा कश्चित्मन्त्रेण अभिचारिकादिना पारवश्यं नीतोऽनिच्छयापि प्रवर्तते
—आ० टि० । (८) व्याख्या—“कर्तृव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वा अभिधाशब्दस्य शब्दपरत्वमङ्गीकृत्य
अभिधायाः शब्दस्य आत्मनो भावनां व्यापारं प्रवर्तनासामान्यव्यञ्जितभूतं लिङादयः प्रवर्तनासामान्य-
मभिधानां निर्विशेषासामान्यायोगात् प्रेषादौ च लोकदृष्टस्य विशेषस्य पुरुषधर्मत्वेन अपौरुषेय-
वेदेऽस्मत्त्वात् प्रवर्तनासामान्यस्य च प्रेषादिप्रवर्तकव्यापारवर्तित्वदर्शनात् लिङादेरेव च वेदे प्रवर्तक-

१ बीजानां आ० । २—जिदादिषु फलस्य आ०, व० । ३ मंत्रपवचनादि—आ०, मंत्रपठनादि-
व० । ४—वास्तवपूर्वो—आ० ।

अभिधायः शब्दस्य लिङादेर्यासौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वकीयप्रयो-
जकव्यापारः तस्य अभिधायका लिङादयः । भौत्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना । शब्द-

त्वावधारणात् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थः ।”-न्यायसु० पृ० ५५९ । जैमिन्या० पृ० ७५ । तन्त्रह० पृ० ४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । व्याकरणभू० ब० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन० पृ० ५१५ । “अभिधीयत इति अभिधा प्रवर्तना कर्तव्यता वा, सैव च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति । अथवा अभिधायः शब्दस्य भावना अभिधाभावना सैव प्रवर्तना परस्मवेतापि शब्देन पुरुषं प्रवर्तयता तत्सिद्धये अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वेनोच्यते तामाहुरिति । अथवा इष्टसाधनताभिधानमभिधा सैव विधानं विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते । सैव च भूतिकर्तृत्वं प्रतिपद्यमानायाः पुरुषप्रवृत्तेः प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः ।”-न्यायरत्नमा० पृ० ५३ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । उद्धृतीयम्-“शब्दात्मभावनामाहुः”-अष्टसह० पृ० १९ । तत्त्वार्थद्वयो० पृ० २६२ । विधिबि० पृ० १५ । न्यायमं० पृ० ३४३ । बृहदा० मा० वा० टी० पृ० ५९० । “अभिधां भावना”-न्यायकु० प्र० ५१३ । मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । शास्त्रद्वी० २।१।१ । न्यायरत्नमा० पृ० ४७ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ ।

(१) “तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः । प्रयोजकक्रियामाहुः भावानां भावनाविदः ।”-तन्त्रवा० २।१।१ । “इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने गम्येते । शब्दात्मिका च अर्थात्मिका च । तत्र लिङादीनां प्रयोजककर्तृत्वं पुरुषः प्रयोज्यः, तेन किमित्यपेक्षायां पुरुषप्रवर्तनमिति सम्बध्यते । अथ तु योग्यतयैव लिङादिविषया क्रियोच्यते प्रवर्तयेदिति ततः किमित्यपेक्षिते पुरुषमित्येव सम्बध्यते । अथ केनेत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण विधिज्ञानेनेति सम्बध्यते । कथमिति प्राशस्त्यज्ञानानुगृही-तेनेति । कुत एतत् ? बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत् प्राशस्तोऽयमिति नावबध्यन्ते तावन् प्रवर्तन्ते, तत्र विधिविभक्तिरवसीदति तां प्राशस्त्यज्ञानमुत्तन्नाति । तच्च पुरुषार्थात्मिके फलोऽंशे सर्वस्य स्वयमे-वानुष्ठानं भवतीति प्रसिद्धत्वाच्च वेदानुत्पत्त्यज्ञानमुत्तन्नाति । साधनेनितकतव्यतयोस्तु अप्रवृत्तपुरुषनियो-गाच्छास्त्रमेव प्राशस्त्यप्रतिपादनायाकाङ्क्ष्यते ।”-तन्त्रवा० १।२।१ । न्यायसु० पृ० ३२-१ । “भाव्य-भावनसमर्थो हि व्यापारो भावना ।”-भावनवि० पृ० ६ । “भाव्योत्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भाव-नात्वप्रसिद्धेः ।”-न्यायसु० पृ० ३१ । “भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः ।”-अर्थसं० पृ० ११ । “भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः ।”-मीमांसान्याय० पृ० २ । “तत्र प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधा, फलानुकूलो व्यापारो भावनेति विवेकः ।”-मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । “भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना । भाव्यं हि स्वर्गादिफलं साध्यमानत्वात्...तन्निष्ठस्तदुत्पादकश्च पुरुषव्यापारो यस्य भावना प्यन्तेन भवतिनोच्यते । प्रकृत्यर्थस्य भवतेः कर्ता यः स्वर्गादिः स एव प्यन्तस्य कर्मतां प्रतिपद्यते । कर्ता त्वस्य प्रयोजकः पुरुषः, गृहचार्यः गिज्वाच्यः प्रयोजकव्यापारः, पुरुषो हि भवन्तं स्वर्गादिमर्थं स्वव्यापारेण भावयति सम्पादयति, स तत्संपादको व्यापारो भावनेत्युच्यते ।”-न्यायमं० पृ० ३३५ । “भावनात्वं नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारवत्त्वम् । तत्रार्थभावनायां भवितुर्जायमानस्य स्वर्गादिः प्रयोजकव्यापारत्वात् लक्षणसंगतिः, शब्दभावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः प्रयोजकव्या-पारत्वाल्लक्षणसङ्गतिः”-मी० परि० पृ० २० । (२) “तस्मादस्ति पुरुषप्रवृत्तिकर्मिका विधिज्ञान-करणिका अर्थादादेत्यादित्वविषयप्राशस्त्यज्ञानेति कर्तव्यतोपेता लिङादिव्यापारः प्रेरणात्मिका शब्दभावना अभिधानलक्षणोऽपि च देवदत्तादेरिव व्यापारः शब्दभावना ।”-भावनवि० टी० पृ० ९४ । “तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना । सा च लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति, मत्प्र-वृत्त्यनुकूलव्यापारवानिति नियमेन प्रतीतेः । यद्यस्माच्छब्दान्निग्रमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम् यथा

भावनायाश्च भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः, प्रवृत्तिर्मान् वा पुरुषः । प्राशस्त्याभिधानश्च बिना विधिश्चित्तनिमित्तत्वमुपगतापि प्रवर्त्तनायां न समर्था भवति । न हि 'इमां गां ऋणीष्व' इति शतकृत्वोप्युक्तः कश्चित् क्रेतुं प्रवर्त्तते यावत् 'धटोष्नी सम्पन्नक्षीरा' इत्यादि प्राशस्त्यज्ञानं न प्रवर्त्तते । अतः अर्थवादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानसचिवा शब्द-
5 भावना प्रवर्त्तनाङ्गम् । सा च त्र्यंशपरिपूर्णा भवति—'किम्, केन, कथम्' इति । किं भावयेत् ? स्वर्गम् । केन ? दैर्घ्यपौर्णमासाभ्याम् । कथम् इति ? इतिकर्त्तव्यतां दर्शयति प्रयोजादिव्यापाररूपम् । सेत्थं त्र्यंशपरिपूर्णा शब्दभावना फैलभावनायां पुरुषं

गामान्येत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पूर्वनिष्ठोऽभिप्राय-
विशेषः, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङ्गदिनिष्ठ एव । अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते ।"—अर्थ-
सं० पृ० ११-१३ । सीमांसाभ्याम् पृ० ३, १७८ । सीमांसार्षं पृ० ८ ।

(१) एतावता अर्थवादवाक्यानां माभूत्प्रामाण्यमिति—आ० टि० । (२) "प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवद-
न्ति प्रवर्तनम्"—विधि० पृ० २४३ । "प्रवृत्तिहेतुभूतः प्रवर्तयितुर्धर्मः प्रवर्तना ।"—सीमांसाबाल० पृ०
७५ । सीमांसाभ्याम् पृ० १८० । (३) तुलना—"लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाल्लकुर्वन्तु ।
तद्यथार्थं गौः श्वेतव्या देवदत्तीया । एषा हि बहुक्षीरा स्थ्यपत्स्या अनष्टप्रजा चेति ।"—शाबरभा० ११२ ।
२० । (४) "सा च भावनांशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्त्तव्यताञ्च, किं भावयेत् केन भावयेत्
कथं भावयेदिति । तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणान्शत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्य-
यगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः । संख्यादीनामिकप्रत्ययगम्यत्वेऽपि अयोग्यत्वाच्च साध्यत्वेनान्वयः ।
साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति, तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि
तस्याः शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा । इतिकर्त्तव्यताका-
ङ्क्षायाम् अर्थवादज्ञाप्याशस्त्यमितिकर्त्तव्यतात्वेन अन्वेति ।"—अर्थसं० पृ० १६-१८ । सीमांसा-
भ्याम् पृ० ३ । "करणंशो विधिज्ञानं किमंशः पूर्वप्रवर्तनम् । इतिकर्त्तव्यता चाव ह्यर्थवादप्रवर्तनम् ।"
—बृहदा० भा० वा० पृ० ५९० । "प्रवृत्तिफलिकायाञ्च अभिधायामपि साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यतारूप-
मंशत्रयमपेक्षितम्, अन्यथा तस्य स्वरूपतः फलतश्चाज्ञानादप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तत्र लिङादिविधिज्ञानं
करणत्वेनान्वेति याग इव अर्थभावनायाम् । प्रवृत्तिरेव च साध्यत्वेन स्वर्ग इव अर्थभावनायाम् । अर्थवा-
दादिजन्यं प्राशस्त्यज्ञानमितिकर्त्तव्यतात्वेन प्रयाजाद्यङ्गजातमिव अर्थभावनायाम् । तदुक्तम्—लिङाभिधा
सैव च शब्दभावना भाव्यं च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः । सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयो-
पयुज्यते ।"—सीमांसार्षं पृ० ९ । "प्ररोच्यतेऽनयेति प्ररोचना प्राशस्त्यज्ञानं तच्चाङ्गं फलोपकारप्रयाजा-
दिवत्"—सीमांसाबाल० पृ० ८१ । सीमांसापरि० पृ० १८ । "तत्र किं भावयेत् केन भावयेत्कथं भाव-
येदित्याकाङ्क्षायां स्वर्गं भावयेत् यागेन भावयेत् अन्यन्वाधानप्रयाजावधातादिभि र्भकारं सम्पाद्य भाव-
येदित्येवं भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतासमर्थनेन आकाङ्क्षापूर्णात् प्रकरणात्मातः सकलः शब्दसम्बन्धः भाव-
नावाचित्वाख्यातस्यैव प्रपञ्चः । भाव्यान्शत्रयवती सेयमर्थभावनेत्युच्यते । सा सर्वोपि शब्दभावना
या भाव्या विधायको लिङादिः करणम् अर्थवादसम्पादितः स्तुतिरितिकर्त्तव्यता । सेयं शब्दभावना
लिङादिभिरेव गम्यते । अर्थभावना सर्वैराख्यातप्रत्ययैर्गम्यत इत्युक्तम्"—जैमिनिशा० पृ० ७६ ।
(५) अमावस्यायां क्रियमाणो यज्ञविशेषो दर्शः, पूर्णिमास्याञ्च विशेषयमानं यज्ञानुष्ठानं पूर्णिमास
इति । (६) यज्ञे कर्त्तव्यताविशेषः—आ० टि० । "आरादुपकारकरुणा प्रयाजादिः"—न्यायखल-
ना० पृ० १२० । (७) आर्थीभावनायाम् ।

१-प्रवृत्तिमान्वा ब० । २-मान् पुष्ट-श्र० । ३-स्वम्पाप-आ० । ४-घटेध्वस्त-ब०, -घटादित
-श्र० । ५ प्रस्तवज्ञानं श्र० । ६ ततः श्र० । ७ कथमिति कथमिति यमुपपन्नकर्त्तव्यतां श्र० ।

प्रवर्तयति । यद्यपि चेच्छास्त्रस्थादयः पुरुषप्रवृत्तिहेतवः तथापि न तेषां मुख्यः प्रवर्तना-
व्यपदेशः, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्यैः । ‘शब्दभावना’
इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा ग्रामादिदाने राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो
मुख्यः लौकटिकादीनां तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिकः एवमत्रापि । तदुक्तम्—

“साध्यत्वे हेतुव्यापारः कथ्यते शब्दभावना ।

5

शब्दधर्मतयाख्यातः कैर्यसंसूचितस्थितिः ॥” [

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्नः; यथैव हि अर्थ-
प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको व्यापारः परिकल्प्य (कल्प्य) ते तथा प्रवृ-
त्त्यन्यथानुपपत्त्या लिङ्गदेः प्रवर्तनात्मकोऽपीति । तत्र ‘यजेत स्वर्गकामः’ इत्यत्र द्वे भावने
प्रतीयेते शब्दस्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लैकार-
सामान्यस्यार्थः अर्थभावेना । उक्तञ्च—

10

“ईयं त्वन्यैव सर्वार्थां सर्वाख्यातेषु विद्यते ।” [तन्त्रवा० २।१।१] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रार्थे विद्यमानत्वात् सर्वार्थां अर्थभावन, ‘यजते,

(१) लाकुटिकप्रायाः—आ० टि० । द्वारपालसदृशा इत्यर्थः । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् ।
(३) प्रवर्तनाव्यपदेशः । (४) लकुट-वण्डधारिणाम् द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपेण कार्येण तस्या-
स्तित्वं सूच्यते—आ० टि० । (६) आख्यातविभक्तिः—आ० टि० । (७) “प्रयोजनेच्छाजनितक्रिया-
विषयव्यापार आर्थाभावना । सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारब्राह्मिवात् । साध्यं-
शत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यताञ्च किं भावयेत्केन भावयेत्कथं भावयेदिति । तत्र साध्याका-
ङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनावेति, इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गाजानितमितिकर्तव्यतात्वे-
नावेति ।”—अर्थसं० पृ० १९-२३ । “प्रवृत्तिस्वार्थभावनैव”—मीमांसार्थ० पृ० ९ । “स्वर्गोच्छाजितो
यागविषयो यः प्रयत्नः स भावना । स एव चाख्यातांशेनोच्यते । यजत इत्याख्यातश्रवणे यागे यतेत
इति प्रतीतेर्जायमानत्वात् अतश्च प्रयत्न एवार्था भावना । यथाहुः—(स्यायमु० पृ० ५७९) प्रयत्न-
व्यतिरिक्तार्थाभावना तु न शक्यते । वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरम्यते ॥”—मीमांसान्या० पृ०
१८५-८७ । (८) आर्थाभावना । “अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥”—तन्त्रवा० २।१।१ ।
बृहदा० भा० टी० पृ० ५९० । शास्त्रदी० २।१।१ । व्यायकु० प्र० ५।१३ । जैमिनिन्या० पृ०
७५ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ । ‘सर्वाख्यातस्य गोचरा’—मीमांसार्थ० पृ० ८ । प्रकृत पाठः—अब्दसह० पृ०
१९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । ‘अर्थात्मा भावना त्वन्या सर्वत्राख्यातगोचरः ।”—तन्त्ररह० पृ०
४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । ‘सा चाख्यातस्य’—ब्रह्माकरणभू० द० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन०
पृ० ५९५ । व्याख्या—‘विधेयायाः भावनायाः पुरुषार्थरूपभाव्यनिष्ठत्वसूचनाय इच्छायोनित्वं सूच-
यितुम् इच्छार्थादर्थयतेः निजजन्तादर्थयत इति कर्तृविवक्षायामेरजित्युत्पत्त्ययोत्पादनं अधिनः पुरु-
षस्य अर्थशब्देन अभिधानाद् भावनायाश्च पुरुषधर्मत्वात् धर्मधर्मिणोद्भात्यन्तं भेदाभावात् तादात्म्यं
विवक्षित्वा अर्थात्मा चासौ भावना चेति विग्रहः कार्यः । अन्यामिति अर्थभावनापेक्षित्वं शब्दभावनायाः
सूचितम् ।”—न्यायमु० पृ० ५६० । (९) अतीतादौ—आ० टि० । “यदा हि सर्वत्राख्यातानुवर्तिनी
करोतिधातुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता भवति, तदा तद्विशेषाः सामान्याख्यातव्यतिरिक्त-
शब्दविशेषवाच्या विधिप्रतिषेधभूतबन्धित्वद्वर्तमानादयः प्रतीयन्ते । तथा च सर्वत्र सामान्यतः करो-

1-भावे श्र० । 2 साध्यत्वहेतुव्यापा-श्र० । 3-हेतुव्यापारः आ० । 4 अभिधानात्मको व० श्र० ।

अयजत, अयष्ट' इत्यादि सर्वाख्यातेषु च विद्यते । न हि तत्र पुरुषप्रेरणारूपा शब्द-
भावनाऽनुस्यूते सिद्धस्य आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात् । लिङादि-
विषये तु 'यजेते' इत्यादौ द्वयमनुभूयते-स्वार्थं लिप्समानो हि पुरुषः स्वव्यापारे याग-
विधानलक्षणे प्रवर्तते इति अर्थभावना, तमयं लिङ् प्रवर्तयतीति शब्दभावना चेति ॥४॥

५ तदेतद्भावंनावदिनो मतमयुक्तैः यतः शब्दस्य भावना, शब्द एव वा भावना
शब्दभावना स्यात् ? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रेरकत्वम्, तच्च प्रेषणाध्येषणरूपम्,
तस्य चैतनात्मकपुरुषधर्मत्वात् कथं शब्देऽनुपचरितस्य संभवः ? तद्वर्द्धमासितपुरुष-
प्रयुक्ताद् वाक्यादेव हि शब्दे तत्संभाव्यते न मुख्यतः ।

किञ्च, 'प्रेषप्रेरकयोर्निष्फला प्रवृत्तिः । किञ्चिद्धि स्वात्मनि परत्र वा अर्था-
१० नर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिसन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्धः । न चाचेतने
शब्दे तदभिसन्धानं संभवति तत्कथं तस्य प्रेरकत्वम् ? बलवत्प्रभञ्जनदेरिवास्त्य
अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शब्दविषयकानिष्ठाऽशेषदोषोर्निपातः स्यात् ।

त्यर्थोऽवगम्यते । किं करोति ? पचति । किमकार्षीदवाक्षीत् । किं करिष्यति पश्यति । किं कुर्यात्
पचेत् । किञ्च कुर्यान्न पचेदिति ।"—तन्त्रवा० २।१।१ ।

(१) आख्याते । (२) "सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति । सामानाधिकरण्येन करोत्य-
र्थोऽवगम्यते ॥ "तस्माल्लब्धात्मककर्तृव्यापारवचनानि करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि ।"—तन्त्रवा० २।२।१ ।

(३) "नैतत्सारम् ; न प्रयोगानिरूप्यत्वात् वैयर्थ्यात् पूर्वदोषतः । अप्रवृत्तेः फलायोगाद् रूपोक्तेर्यापृतिः
श्रुतेः ॥"—विधिवि० ५० १६ । "असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीवसी । बाधकस्य समानत्वात्
परिज्ञेयोऽपि दुर्लभः ॥"—न्यायकु० ५।१३ । (४) "संज्ञापुरस्सरा व्यापारणा प्रेषणम्, निरुद्ध-
विषयो नियोग इत्यर्थः । यत्पुनरभ्यहितं व्यापारयति तदध्येषणम्, अभ्यहितविषयं प्रबोधनमित्यर्थः ।"
—वाक्यप० प्र० तु० का० पु० २५७ । "प्रवर्त्यपुरुषापेक्षया ज्यायसा वक्त्रा प्रतिपाद्यमानं कार्यं प्रेष इति
व्यपदिश्यते । समेन आमन्त्रणम् । हीनेनाध्येषणमिति ।"—प्रक० पं० पु० १८० । (५) "न हि प्रेषणा-
भ्यनुज्ञालक्षणा शब्दस्य व्यापारो निरूप्यते तस्य पुरुषधर्मत्वात् । न हि प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणः
शब्दस्य प्रयोगो व्यापारो निरूप्यते । ननु शब्दोच्चारणानन्तरं तदवगमात्तैर्नोक्तमिति कथं प्रेषणादिलक्षणः
शब्दप्रयोगो न निरूप्यत इत्याह—तस्य पुरुषधर्मत्वात् । सर्वं शब्दविज्ञानानन्तरमप्युच्यते । न त्वसौ
शब्दस्य ; अभिप्रायभेदत्वात् । प्रेषणादेः अचेतनत्वेन शब्देऽसम्भवात् ।"—विधिवि०, टी० पु० १६ । (६)
शब्दस्य अचेतनत्वात् पुरुषाभिप्रायरूपाः प्रेषणादयः उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मुख्या इति ।

(७) प्रेषणाध्येषणादिधर्मात्मकपुरुष । (८) प्रेषणाध्येषणरूपम् । (९) "न प्रवर्तते पुरुषः, प्रवर्तयतीति
शब्दस्याननुरोध्यत्वात् । न हि सर्वस्मिन् प्रवर्तयितरि प्रवृत्तिः प्रेक्षावताम् अपि त्वनुरोधे । न चार्था-
नर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारणं स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति । फलात्प्रवृत्तौ तद्वैयर्थ्यम् ।"—विधिवि०
पृ० १८ । (१०) अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुसन्धानम् । (११) शब्दस्य । (१२) "स्यान्तं
पवनादिरिव लब्धादिः प्रेरयति पुरुषम् ; तदसत् ; अभिधानवैयर्थ्यात्, अप्रतीतव्यापारस्यापि बाध्यादेरिव
स्वभावतः प्रेरकत्वात्, पूर्वोक्तदोषापात्ताच्च । न हि प्रवृत्तिं प्रति कारकत्वे शब्दस्य सदपि तद्व्यापारा-
भिधानमङ्गम्, अनभिहितव्यापारस्यापि तस्य कारकत्वात्, कारकस्यानपेक्षितज्ञानत्वात् ।"—विधिवि०
पृ० १८ । (१३) शब्दस्य । (१४) प्रायश्चित्तावैयर्थ्यम्—आ० डि० ।

१ हि शब्दे न तत्सं-आ०, हि तच्छब्दे संभाव्यते व० । २ न चाचेतनशब्दे आ० १

किञ्च, अस्याः सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्तिः, लिङादि-
शब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्तिः; तस्यास्तन्निबन्धनत्वेन कचिदन्यत्रादृष्टत्वात् । यन्नि-
बन्धना हि प्रवृत्तिलोके दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वाऽनुमातुं युक्तम्, न पुनः अप्रतिपन्नपूर्वः
शब्दव्यापारविशेषः अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । नापि लिङादिशब्द एव तत्र प्रमा-
णम् ; अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात् । तदग्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य
सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्धः । नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधः संभवति;
अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, शब्दः स्वव्यापारं विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न
तावदनपेक्षः; विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणायां करणत्वाभ्युपगमात् । अथ शब्दो विधिज्ञानं
जनयित्वा तत्करणानुगृहीतस्तत्प्रेणारूपं स्वव्यापारमारभते; तदिदमलौकिकम्; न हि
कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानम् उत्पादहेतुः लोके प्रतीतम् । यदि च शब्दः स्वव्यापारं करोति
अभिधत्ते च; तदा उत्पाद्य पदचात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र
प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः; न खलु शब्दः स्वव्यापारमुत्पाद्य पदचात्तमभिधत्तातीति श्राद्धिका-
दन्यः प्रतिपद्यते । द्वितीयपक्षोऽप्युपपत्तीति; नहि 'सकृदुचरितः शब्दः स्वव्यापारस्य
कर्ता वक्ता च भवति' इति प्रामाणिकः प्रतिपद्यते । सिद्धे हि वस्तुनि प्रतिबन्धावगमपूर्विका
वचनस्य प्रवृत्तिः प्रतीयते ।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तरं प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रवर्त्तितोऽहमिति प्रतिपत्तितः
प्रतीतेः कथं तत्र तत्कर्तृत्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्; यतो द्विविधा प्रवृत्तिः प्रती-

(१) शब्दभावनायाः । (२) प्रवृत्तेः । "लिङादिशब्दानन्तरभाविनी प्रवृत्तिरेव प्रमाणमिति
चेन्न; तन्निबन्धनत्वेन प्रवृत्तेरन्यत्रादृष्टत्वात् । त (य) निबन्धना हि प्रवृत्तिर्दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वा
शक्यमनुमातुम्, न पुनरप्रतिपन्नपूर्वकरणभावं शब्दव्यापारविशेषः ।" - वाक्यार्थमा० पृ० २७ । (३)
शब्दभावना-आ० टि० । (४) शब्दभावनाख्यः-आ० टि० । (५) "लिङादिशब्द एव प्रमाणमिति
साहसम्; अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात् । अनवधारिते हि सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधवर्धयति ।"
-प्रक० पृ० १७२ । (६) सम्बन्धाग्रहणम् । (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम् । (८) "स्यान्मत्तं शब्दो
विधिज्ञानं जनयित्वा तत्करणानुगृहीतः प्रेरणारूपं स्वव्यापारमारभत इति न करणत्वाभावाः क्रियानि-
ष्पत्तावेव करणत्वात्; तदिदमलौकिकम्; न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानमुत्पादहेतुः प्रतीतम् ।" -प्रक०
पृ० ५० १७३ । (९) विधिज्ञानरूपकरण । (१०) पुरुषप्रेरणा । (११) तुलना-"यश्चासौ व्यापारः
क्रियते चाभिधीयते च; स किं पूर्वमभिधीयते ततः क्रियते, पूर्वं वा क्रियते पश्चादभिधीयते, युगपदेव
वा अस्य करणाभिधाने इति । न तावत्पूर्वमभिधीयते; अनुत्पन्नस्य अभिधानानुपपत्तेः, न ह्यजाते पुत्रे
नामधेयकरणम्, अथासंस्पर्शी च शब्दः स्यात् । तत एव न युगपदुभयम्; अनुत्पन्नत्वात्तथापायात् प्रयत्नगी-
रवप्रसङ्गाच्च । नापि कृत्वा अभिधानम्; विरम्य व्यापारसंवेदनात् ।" -न्यायम० पृ० ३४५ । (१२)
वाच्यवाचकसम्बन्धः । (१३) शब्दे । (१४) प्रवृत्ति-आ० टि० ।

१ अस्य सद्भा-ब० । २-नुमानं यु-ब० । ३ पुनः प्रतिप-अ० । ४-शब्दस्तत्र ब०, -शब्दास्तत्र
अ० । ५ शब्दो व्यापा-अ० । ६ कारणत्वा-ब० । ७ तत्कारणानु-ब० । ८-रणरूपं ब० । ९ न शब्दः
ब० । १०-स्वाप्रतीतिरि-अ० ।

- यते—एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिणः । तत्राद्यपक्षे हठाद् यागादिकर्मणि बौद्धादेरपि प्रवृत्तिः शब्देन क्रियतां पुरुषस्वातन्त्र्याभावात् । न खलु बलवज्जलप्रभञ्जन-
प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्न दृष्टा ‘अनिच्छन्नप्यहं प्रभञ्जनादिना प्रेरितः प्रवर्त्ते’
इति प्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु ‘येनाहं शब्देन प्रवर्त्तितः स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा’ इति
5 यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमुञ्चति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति । नहि ‘शब्देनाहं प्रवर्त्तितः’ इति
‘अवश्यं प्रवर्त्ते’ इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्रयिते तैत्कारित्वविरोधानुपपन्नात् । अतोऽपौरुषे-
यात् काकवासितप्रख्यात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य
प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः । तत्पणेतुः कुतश्चिदाप्रतामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिणः सदैवाद्युपदे-
शादिव निःशङ्कं प्रवृत्तिर्भवति । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वात्
10 ‘शब्दस्य भावना—प्रवर्त्तकत्वं शब्दभावना’ इति पक्षो घटते ।

- अथ शब्द एव भावना; तद्व्यसाम्प्रतम्; शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे
घटादिशब्देष्वपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात् । तथा च “लिङ्गलो-
दृतव्यप्रत्ययप्रत्याख्यो विधिः ।” [] इति वचो विरुध्यते । तदेवं शब्दभावना-
स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थितेः कथं तया अर्थभावना भाव्येत ? यतो ‘भाव्य-
15 निष्ठो भावकव्यापारो भावना’ इति सुव्यवस्थितं स्यात् । द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्याः
खपुष्पसौरभव्यावर्णनान्न विशिष्यते । तन्न भावनारूपोऽपि विधिर्घटते ॥ छ ॥

अपरे पुनः नियोगे एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । तत्र चानेकधा

- (१) प्रेक्षापूर्वकारी । (२) अन्यथा—शब्दमात्रे समाश्रिते प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात् । (३)
“अथ मतम्—अभिधैव भावना विधिलिङाद्यर्थे इति; अत्रोच्यते—प्रवृत्तेः सर्वतोऽर्थं वा प्रसङ्गात् कार्यतो
गतैः । अस्थानाश्रित्यतेर्हेतोरभावाच्चाभिधैव न ॥ विधिरित्यनुषज्यते । अभिधा चेद्विधिः सर्वशब्दानां
यथास्वमभिधेयेषु तदभाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविशेषात् ।” —विधिवि० १०
२१ । (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य । (५) “लिङ्गलोदृतव्यप्रत्ययमलकाराणां विधिविध्यः ।” —न्यायसु-
१० ५६० । “लिङ्गकुतलोदृतव्यप्रत्ययमात्रगता शब्दभावना” —जैमिनिन्या० १० ७५ । (६) शब्द-
भावनया । (७) तुलना—“यत्तावद्वक्तं शब्दव्यापारः शब्दभावनैति; तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽर्जयन्तिर-
भूतोऽतिरिक्तभूतो वा ?—अष्टसह० ५० ३१ । तत्त्वाव्यंशलो० ५० २६२ । “या तु शब्दभावनैव लिङाद्यर्थे
इति कौमारिलकुवृत्तिः सा तु प्रतीतिविसंवादादिप्रतिहृता । न हि विधिवान्यत्राविशेषो लिङादि-
स्वव्यापारमभिधैव अतो मया प्रवर्तितव्यमिति मन्यते—” —न्यायपरि० ५० ३९८ । तन्त्ररह० ५० ४८ ।
“तस्माल्लिङादिजन्यबोधविषयाऽभिधायो इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षायाः प्रवर्त्तकत्वं नियुक्तिरकमेव ।”
—वैयाकरणभू० व० ५० १५७ । (८) प्रभाकरमतानुयायिनः । (९) तुलना—“कोऽयं नियोगो नाम ?
निशब्दो निःशेषार्थः योगार्थो युक्तिः निरवशेषो योगः नियोगः । निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्य-
भावात् अवश्यकर्तव्यता हि नियोगः । नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रतः प्रवर्त्तते ।”
—प्रमाणवार्ताकालं० १४ । “नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगः नियोगः, तत्र मनागप्य-
योगांशकायाः संभावाभावात् ।” —तत्त्वाव्यंशलो० १४ । अष्टसह० ५० ५ । “यदपि दर्शनम्-
प्रमाणान्तरागोचरः शब्दमात्रालम्बनो नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीयः सुखादिवत् अपरामृष्टकालत्रयो

विप्रतिपत्तिः—केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोगः इत्यातिष्ठन्ते ।

“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते ।

कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥” [प्रमाणवार्तिकालं पृ० २९ ।]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोगः इति ब्रुवते ।

“प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।

नाप्रेरितो यतः कश्चिच्चयुक्तं स्वं प्रपद्यते ॥” [प्रमाणवार्तिकालं पृ० २९ ।]

प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः इति चापरे मन्यन्ते ।

“मैमदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् ।

स्वसिद्धौ प्रेरकं तत्स्यादन्यथा तत्र सिद्धयति ॥” [प्रमाणवार्तिकालं पृ० ३० ।]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

“प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणोह विना क्वचित् ।

ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥” [प्रमाणवार्तिकालं पृ० ३०]

लिङादीनामर्थो विधिरिति ।”-विधिवि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना—“केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थः शुद्धोऽन्यनिर्पेक्षः कार्यरूपो नियोगः ।”-अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (२) “शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पद्यन्ते यथैव हि । आवापोद्गा-पभेदेन तथा कार्यं लिङादयः ॥ लिङादियुक्तवाक्यश्रवणे तद्भावभाविन्या प्रवृत्त्या विशिष्टकार्यावग-तिमनुमाय वाक्यस्य तावदेतुतामध्यवस्यति । तत्रापि कोऽर्थभागः केन शब्दांशेनाभिहित इति विवेचने लिङाद्यावापेन कार्यावगतितदर्शनात् तदुद्गारे चादर्शनात् त एव कार्यावगतिं कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीनां कार्यावाक्यत्वव्युत्पत्तिसिद्धिः । कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम् । प्रवृत्त्यव्यभिचारि-त्वलिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ (पृ० १७९) कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्वं च युज्यते । वाक्यं तदेव हि प्राहुः नियोज्यविषयान्वितम् ॥”-प्रक० पं० पृ० १८८ । “अतः कृत्स्नो वेदः कार्यपरत एव प्रमाणम् । इदमेव कार्यं मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति, स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानो नियोग इति गीयते ।”-तन्त्र-रह० पृ० ६६ । “लिङादेरवगम्यमानः कार्यरूपः प्रेरणात्मा च वाक्यार्थो नियोगः ।”-न्यायमं० पृ० ३५५ । (३) नियोगः—आ० टि० । तुलना—“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥ विशेषणं तु यत्तस्य किञ्चिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं भावर्थः स्वर्गकामवत् ॥ प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता ॥”-अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । प्रमाणवार्तिकालं पृ० २९ । (४) “परेषां शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्याशयः ।”-अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । “तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्षे प्रेरणया नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वर्गकाम इत्येवमाद्यो बोधः । ततो नियोज्येन नियोजकाक्षेपात् यागविषयकं स्वर्गकामीयं नियोजकमित्योपादानिकोऽपूर्वविषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम् ।”-अष्टसह० पृ० ४९ । (५) “स्वं प्रवृद्धयते”-अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो० । (६) प्रयोक्तुः—आ० टि० । (७) “आस्तां तावत्क्रिया लोके गमनागमनादिका । अन्तः स्तनपानादिस्तुति-कार्येपि या क्रिया ॥ सा यावन्मम कार्येयमिति नैवावधार्यते । तावत् कदापि मे तत्र प्रवृत्तिरभवच्च हि ॥”-प्रक० पं० पृ० १७७ । (८) “ज्ञानं पूर्वं”-स्वसिद्धयै ।-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (९) तुलना—प्रमाणवार्तिकालं पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

कार्यस्यैव उपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोगः इत्यपरे ।

“प्रेरणाविषयः कार्यं नै च तत्प्रेरकं स्वतः ।

व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ॥” [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३०]

कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोगः इत्यन्ये ।

5 “प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।

कौर्यं वा प्रेरणायोगः नियोगैस्तेन सम्मतः ॥” [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३०]

तत्समुदायो नियोगः इत्येके ।

“परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत् प्रतीयते ।

नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणणयोर्मतः ॥” [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३०]

10 तदुभयस्वभाववैविर्निमुक्तः परमात्मस्वभावो नियोग इति केचित् ।

“सिद्धमेकं यतो ब्रह्मं गतेराम्नायतः सदा ।

सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥” [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३०]

यैत्र्यारूढो नियोग इत्यपरे ।

“कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः ।

15 विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते ॥” [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३०]

भोग्यरूपो नियोगः इत्यपरे ।

“समेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । समत्वेन च विज्ञानं भोक्तयैव व्यवस्थितम् ॥

स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं तैदेव स्वं निरूप्यते ॥

साध्यरूपतया येन समेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥

20 सिद्धरूपं हि यद् भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वाच्चियोगता ॥”

[प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३० ।]

पुरुष एव नियोग इति चापरे ।

“समेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा ।

पुंसः कार्यविशिष्टत्वं निर्धोगोऽस्य च वाच्यता ॥” [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३० ।] इति ।

(१) प्रवर्त्तकत्वम्-आ० टि० । (२) ‘कार्यप्रेरणयोः योगः’-तत्त्वार्थश्लो० । (३) विनियो
ज्यत्वम्-आ० टि० । (४) ज्ञानम्-आ० टि० । (५) ज्ञातम्-आ० टि० । (६) “यत्रारूढो दृष्टा-
न्ततया यत्र स यत्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्यर्थः ।” यजेत् स्वर्गकाम इत्यतो यागारू-
ढत्वाभिमानवान् स्वर्गकाम इति बोधः ।”-अष्टसह० पृ० ४६ B. । (७) स्वस्वामिभावो ज्ञापितः
-आ० टि० । “स्वं निरूप्यते”-प्रमाणवार्तिकालं० । (८) ‘नियोगः स्यादवाधितः’-तत्त्वार्थश्लो० ।
“कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्तः पुरुषः सदा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥”-प्रमा-
णवार्तिकालं० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ ।

1 न तावत्प्रे-ब०, नचैतत्प्रे-श्र० । 2-विनिर्मुक्तपरमा-आ० । 3 इत्यन्ये श्र०, ब० । 4 तवेवं
स्वं आ० । 5 निरूप्यते आ० ब० । 6-ता इति पुरुष श्र० । 7 नियोगस्य श्र० ।

तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य कार्यस्य नियोगरूप-
तोपगम्यते, तत्सापेक्षस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नैः; तन्निरपेक्षस्य कार्यमात्रस्य
अप्रवृत्तिहेतुतया नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्सापेक्षस्य तु नियोगत्वे कथं कार्यस्यैव नियोग-
रूपता ? त्रितयस्यापि प्रवृत्तिहेतुतया तैद्रूपताप्रसङ्गात् । 'प्रेरणा नियोगः' इत्यप्यनेनापा-
स्तम्; नियोज्यादिनिरपेक्ष्याः प्रेरणायाः प्रलयपमात्रतया नियोगरूपतानुपपत्तेः । 5
प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः; इत्यप्युक्तम्; नियोज्यैवाभावे नियोगस्यैवानुपपत्तेः । कार्य-
सहिता प्रेरणा नियोगः इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारात् प्रवर्तकत्वं नियोगः;
इत्यप्यसारम्; नियोज्यादिनिरपेक्षस्यास्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् । कार्यप्रेरणयोः
सम्बन्धोऽपि सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरभूतः सन्, अनर्थान्तरभूतो वा नियोगरूपतां प्रति-
पद्यते ? न तावदर्थान्तरभूतः; तथाभूतस्य सम्बन्धस्यैवाऽसंभवतो नियोगरूपतानुपपत्तेः । 10
सम्बन्ध्यात्मनोऽपि सम्बन्धस्य प्रेयमाणपुरुषनिरपेक्षस्य नियोगरूपतानुपपत्तिरेव । समु-
दायनियोगवादेऽप्यनेनैव प्रतिव्यूढः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो ब्रह्माद्वैतमव-
लम्बते, तच्च प्रागेवं कृतोत्तरम् । यत्पुनः 'स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे
सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते' इति यन्त्रारूढनियोगाभिधानम्;
तदप्यचारः; अपौरुषेयवाक्ये नियोकृत्वस्य निराकृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च । 15

(१) नियोज्यं प्रेरणाञ्चानपेक्षमाणस्य-आ० टि० । तुलना-“प्रेरणासहितं कार्यं नियोज्येन
निर्वाजितम् । नियोगो नैव कस्यापि नियोग इति कीर्त्यते ॥ वृत्तिनियोगशब्दस्य शुद्धे कार्यं यथा मता ।
संज्ञामात्राग्नियोगत्वं भवत्केन निवार्यते ॥ युक्तस्तु पुरुषः कार्यं यत्र नैव प्रतीयते ॥ नियोगः स कथ-
न्नाम सिद्धातीतादिबोधवत् ॥ नियोजकस्य धर्मोऽयं नियोगो लोकसम्मतः । तदेव कार्यमिते चेत्;
सिद्धत्वाच्चास्य साध्यता ॥ साध्यत्वेन नियोगोऽयमिति चेद्वचपदिश्यते । विषये तस्य तत्त्वेनोपचारात्
प्रकीर्तनम् । असिद्धस्य च तस्यास्तु कथं प्रेरकरूपता ॥ साध्यत्वेनावबोधोऽस्य प्रेरकत्वं यदीष्यते ।
अप्रसिद्धस्य साध्यत्वं बोधः सिद्धात्मकस्य च ॥ परस्परविरुद्धत्वमेकस्य कथमिष्यते । साध्यरूपतया तस्य
प्रतीतिः प्रेरिका यदि । नियोगत्वं प्रतीतिः स्यान्न नियोगस्य तत्त्वतः ॥”-प्रमाणवार्तिकालो० पृ० ३२-
३३ । “प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात् । तस्मिन्निियोगकरणे स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति
नामान्तरकरणमात्रं स्यात् ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० ९ । (२) नियोज्यप्रेरणकार्य-
रूपस्य-आ० टि० । (३) नियोगरूपता-आ० टि० । (४) “नियोज्यफलरहिततायाः प्रेरणायाः
प्रलयपमात्रत्वात् ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० १० । (५) “नियोज्यविरुद्धे नियोगवि-
रोधात् ।”-अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (६) अत्रापि नियोज्याभावात्-आ० टि० ।
(७) “नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित् ऋचिर्वात् परमार्थतस्तस्य तथा-
नुपलम्भात् ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । अष्टसह० पृ० १० । (८) “ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य
सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगत्वाघटनात् । सम्बन्ध्यात्मन सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्; प्रेय-
माणपुरुषनिरपेक्षयोः सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणानियोगत्वानुपपत्तेः ।”-अष्टसह० पृ० १० ।
तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (९) सम्बन्धिभ्यां भिन्नस्य । (१०) पृ० १५० । (११) तुलना-“यन्त्रा-
रूढतया भोग्यभोक्त्रोः सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मा रूढश्च न नरस्तदा ॥ प्रतीतिकाले

भोग्यरूपस्तु नियोगः फलस्वभावविधिनिरासेनैव निरस्तः । पुरुषस्वभावत्वे तु नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गः तस्य शाश्वतिकत्वात् ।

किञ्च, किमयं नियुक्ते इति नियोगः, किं वा नियुक्तिः, नियुज्यतेऽनेन इति वा ? तत्र प्रथमपक्षेऽनुपपन्नः; नियुक्तिक्रियायां कर्तृत्वस्य प्रेक्षावद्धर्मतया कार्यादिस्वभावे
 ५ नियोगे संभवाभावात् । नहि 'अमुष्मै प्रयोजनाय अमुमहं नियोक्ष्ये' इति यस्य नास्ति परामर्शः तस्य नियोक्तृतोपपन्ना, स्वाभ्यादौ तत्पराज्ञेवत्येव अस्याः प्रतीतेः । सैलिलसमीरणन्यायेन नियोक्तृत्वे च प्रागुक्तदोषानुषङ्गः । नहि नियोक्तृमात्रसद्भावतः कश्चित् प्रवर्त्तते, यावत् तदनुविधेयतामात्मनो न प्रतिषेधेत । 'नियुक्तिर्नियोगः नियु-
 ज्यतेऽनेनेति' वा' इत्यप्यनुपपन्नम् ; भावकरणयोः कर्तृकर्मपेक्षत्वात्, तयोश्चासंभवे भाव-
 १० करणयोरप्यसंभवात् । न ह्यत्र कश्चिन्नियोक्ता विद्यते । शब्दस्य च नियोक्तृत्वं प्रागेव प्रतिषिद्धम् ।

किञ्च, अयं नियोगः शब्दव्यापाररूपः, पुरुषव्यापाररूपः, उभयरूपः, अनु-
 भयरूपो वा ? प्रथमपक्षे शब्दभावनापक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गः, शब्दव्यापारस्य शब्दभाव-
 नारूपत्वात् । द्वितीयपक्षे तु अर्थभावनापक्षोक्तदूषणप्रसङ्गः पुरुषव्यापारस्य अर्थ-
 १५ भावनास्वभावत्वात् । उभयपक्षेऽपि उभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः ।

अनुभयपक्षेऽप्यसौ विषयस्वभावः, फलस्वभावः, निःस्वभावो वा स्यात् ? यदि विषयस्वभावः; तदाऽसौ यागादिविषयः "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" [] इत्यादि-
 नियोक्तृवाक्यकाले अस्ति, न वा ? यदि नास्ति; तदा तत्स्वभावो नियोगोऽपि नास्तीति कथमसौ खपुष्पवद् वाक्यार्थः स्यात् ? बुद्धारूढस्य भौविनस्तस्य वाक्यार्थत्वे
 सर्वस्य साध्यत्वेनास्वरूपता । तदेव तस्य रूपञ्चेत् साध्यत्वस्य हानिः । "—प्रमाणवार्तिकालं० पृ०
 ३४ । "तदपि न परमात्मवादप्रतिकूलम्; पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनात्तस्य च अविद्योदयनि-
 बन्धनत्वात् ।"—अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ ।

(१) नियोक्तृतायाः । (२) यथाहि समीरणः अभिप्रायसूक्त्योऽपि सलिलं समीरयति तथैव
 अभिप्रायरहितस्यापि नियोक्तृता स्यादित्युक्ते प्राह । (३) प्रायश्चित्तवैयर्थ्यादि—आ० टि० । (४)
 तुलना—"अपि च नियोक्तृव्यापारो नियोगो न नियोक्तृविनाऽवकल्पते । न चास्य संभवः; अपौरुषे-
 यत्वाभ्युपगमात् ।"—विधिवि० पृ० ६० । (५) तुलना—"सर्वत्र च वाक्यार्थे अष्टप्रकारो भेदः—प्रमाणं
 किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयव्यापार एव वा ।"—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३१ ।
 व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयव्यापार एव वा ।"—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३१ ।
 तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० १० । (६) तुलना—"नियुज्यमानविषयनियोक्तृणां यदीष्यते ।
 धर्मो नियोगः सर्वत्र न शब्दार्थोऽवतिष्ठते । नियोज्यधर्मभावे हि तस्यानुष्येयता कुतः । सिद्धोऽपि यद्यनु-
 ष्येयो नानुष्ठाविरतिर्भवेत् ।"—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १६ । "सोऽपि विषयस्वभावो वा स्यात्, फलस्व-
 भावो वा, निःस्वभावो वा ?"—अष्टसह० पृ० ८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । (७) तुलना—"विषय-
 धर्मतायामपि विषयस्यापपरिनिष्पत्तेः स्वरूपाभावात् कथं शब्दादसौ प्रत्येतुं शक्यः ?"—प्रमाणवार्तिकालं०
 पृ० १७ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) विषयस्वभावः । (९) भविष्यतो यागादेविषयस्य ।

१ नियोक्तृतानुपपन्ना श्र० । २-पक्षेत् आ० । ३-तिचेत्-श्र०, -ति इत्य-आ० । ४-दूषणगण
 प्र-व० । ५ उभयदोषानुषंगः व०, श्र० ।

सौगतमतानुसरणप्रसङ्गः । अथ तत्काले सोऽस्ति; एवमपि न नियोगो वाक्यार्थः, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात् । न चानैयोस्तादात्म्ये स्वात्मैव स्वात्मनो निष्पादको युक्तो विरोधात्, निष्पन्नस्य यागादेः पुरुषादिवनिष्पादनविरोधाच्च । अर्थ तस्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपमस्ति तन्निष्पादनार्थो नियोगः; तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमतानुप्रवेशः । फलस्वभावो 5 नियोगः; इत्यप्ययुक्तम्; नहि स्वर्गादिकलं नियोगो घटते फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यानुपपत्तेः । फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलकल्पने अनवस्थाप्रसङ्गः । फलस्य च वाक्यकालेऽसन्निहितत्वात् तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? बुद्ध्यारूढस्य वाक्यार्थत्वे परमैतत्प्रवेश- 10 प्रसङ्गः । 'निःस्वभावो नियोगः' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्; निःस्वभावस्यास्य अन्यापोह- 15 त्वानतिक्रमात् ।

किञ्च, अयं नियोगः प्रवर्तकस्वभावः, अप्रवर्तकस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे प्रभाकरवत् तांशगततादीनामपि प्रवर्तकः स्यात् तस्य सर्वथा प्रवर्तकस्वभावत्वात् । तेषां विपर्ययासादप्रवर्तकः इति चेत्; न; 'भवंतामपि विपर्ययासात् प्रवर्तकः' इत्यपि वक्तुं सुशक- 20 त्वात् । अथाप्रवर्तकस्वभावोऽसौ; तर्हि सिद्धस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावः, स च वाक्यार्थ- 25 त्वाभावं साधयति । न च अग्निष्टोमादिवाक्ये विषयादिपदार्थवाचकपदव्यतिरेकेण विषयफलयोः मध्यवर्तिनः तदस्थस्य वा नियोगस्य वाचकं किञ्चित्पदमस्ति, यतः सोपि विषयादिवत् पदार्थतां प्रतिपद्येत । न चार्पणार्थो वाक्यार्थो भवितुमर्हति; अन्यो-

(१) वाक्यप्रयोगकाले । तुलना—“अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ; तर्हि न नियोगो वाक्य- 30 स्याथै; तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात्, निष्पन्नस्य च यागादेः पुननिष्पादनायोगात् ।”—अष्टसह० पृ० ८ । (२) नियोगस्य । (३) विषयनियोगयोः—आ० टि० । (४) यागादेः । (५) तुलना—“द्वितीय- 35 पक्षेऽपि नासौ नियोगः, फलस्य भाव (भावि) त्वेन नियोगत्वापत्तत्वात्, तदा असन्निधानाच्च । तस्य वाक्य- 40 र्थत्वे निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ?”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० ८ । (६) सुगतमत । (७) “स हि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा ?”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) तुलना—“नियुक्तेन निवृत्तिश्चेत् (?) सर्वस्यातः प्रसज्यते । तत्स्वभावतया काशमनाकाशं न कस्यचित् ॥ स्वभावोऽपि विपर्ययासादन्यथा यदि गम्यते । विपर्यया- 45 विपर्ययासादन्यथा कः करिष्यति ॥”—प्रमाणवातिकाल० पृ० १५ । (९) नियोगस्य । (१०) सौगता- 50 दीनाम् । तुलना—“तेषां विपर्ययासादप्रवर्तक इति चेत्; परेषामपि विपर्ययासात् प्रवर्तकोऽस्तु । शक्यं हि वक्तुम्—प्राभाकरा विपर्यस्तत्वात् शब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते नेतरे, तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो विपर्यस्ताः तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् न पुनः प्राभाकराः इत्यपि पक्षपातमात्रम्; तन्मतस्यापि 55 प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् ।”—अष्टसह० पृ० ९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४ । (११) प्राभाकराणामपि । (१२) तुलना—“पदार्थ एव वाक्यार्थो न च सोऽन्यगोचरः । तत्र पदार्थस्यैव पदार्थान्तरपक्षेऽपि- 60 विशेषस्य वाक्यार्थत्वादपदार्थत्वे तदनुपपत्तिः ।”—विधिबि० पृ० ४९ ।

१—तानुसारेण प्र—आ०, व० । २ अथ कि—अ० । ३ इत्यप्येतेन व०, अ० । ४ तथागता—अ० । 5—स्वभावात् आ० । ६ इति वक्तुं आ०, अ० ।

षस्य सामान्यस्यैवासंभवात् । यथैव हि खण्डादिविशेषशून्यं गोत्वादि न संभवति, एवं परित्यक्तप्रेषादिविशेषं प्रवर्तनामात्रमपि । वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमे पुरुषगताशयविशेषस्वभावानां प्रेषादिविशेषाणामसंभवात् का प्रवर्तनामात्रस्य संभावनापि ?

यच्चोक्तम्—‘प्रेषादीनां व्यभिचारात्’ इत्यादि; तदर्थुक्तम्; यथासंभवं यथास्वरूपञ्च प्रवर्तकत्वाभ्युपगमात् । यदा हि प्रेषणातः प्रवर्तते तदा तस्याः प्रवर्तकत्वम्, यदा तु अध्येषणातस्तदा तस्या इति । नहि ‘कदाचिदीर्घाः शुक्लादिस्वरूपास्तन्तवः पटस्य जनकाः कदाचित्तु ह्रस्वा रक्तादिस्वभावा वा’ इत्येतावता तन्तुव्यतिरिक्तस्यान्यस्यैव कस्यचित्पटोत्पत्तिं प्रति उपादानकारणत्वं युक्तं प्रतीतिविरोधात् ॥ छ ॥

अन्ये त्वाहुः—फलं प्रवर्तकम्, तद्व्यापारः प्रवर्तना । सर्वोऽपि हि प्रेक्षापूर्वकारी फलोद्देशेन प्रवर्तते, अतः फलस्य प्रवर्तकत्वम् । प्रीत्यात्मकता तस्य प्रवृत्तौ व्यापारः 10 स एव च प्रवर्तना विधिरिति; तदप्यसङ्गतम्; फलस्य प्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । नहि अवगतमपि फलम् अर्थितां विना प्रवृत्तिहेतुः । सर्वस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अर्थिता च न फलस्य व्यापारः, किन्तु प्रैतिपत्तुरिच्छारूपतया तद्धर्मत्वात् । अथ फलस्य प्रीत्यात्मकत्वमन्तरेण इच्छाया एवानुत्पत्तेः तर्दुत्पादनद्वारेण फलधर्मस्य प्रीत्यात्मकत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वम्; नन्वेवमपि प्रीत्यात्मकत्वस्य फले एवाऽवस्थानात् तत्रैव 15 आत्मनः प्रवृत्तिः स्यात् न कर्मणि । अतोऽर्थान्तरत्वात्तस्य । नह्यन्यैदमिलिपितम् अन्यत्र

(१) पृ० ५८८ पं० १० । (२) प्रेषणायाः विधित्वे अध्येषणायां विधित्वं न स्यात् अध्येषणाया विधित्वे च प्रेषणायां विधित्वाभावः इति परस्परं व्यभिचारः । प्रेषणादिषु प्रत्येकं शक्तिरूपेण गौरवमिति भावः । (३) जयन्तभट्टप्रभृतयः । “फलस्यैवेष्ट्यमाणस्य पश्यन् प्रेरकता मतः । तस्मात्पुंसः प्रवृत्तौ प्रभवति न विधिर्नापि शब्दो लिङादिः । व्यापारोप्येतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया ॥ न श्रेयःसाधनत्वं विधिविषयगतं नापि रागादिरेवं । तेनास्त्यक्ताम्यमानं फलममलमतिः प्रेरकः सूत्रकारः ॥ ...क्वचित्साक्षात्पदोपात्तं कचित्प्रकरणगतम् । क्वचिदालोचनालभ्यं फलं सर्वत्र गम्यते ॥...तस्मात्फलस्य साध्यत्वात् सर्वत्र तदवर्जनात् । क्रियादीनाञ्च तादर्थ्यात् तस्य वाक्यार्थेत्येते ॥...प्राधान्ययोगादथवा फलस्य वाक्यार्थता तत्र सतां हि यतः । प्रयोजनं सूत्रकृता तदेव प्रवर्तकत्वेन किलोपदिष्टम् ॥”-न्यायसं० पृ० ३६२-६५ । (४) “यदि मन्येत फलं प्रवर्तकं तद्व्यापारः प्रवर्तना, फलाधिनः पुरुषस्य तत्साधने प्रवृत्तेः अन्यथाऽभावात् । न कश्चिद्व्यापारविशेषः प्रवर्तना अपि तु प्रवृत्तिसमर्थं व्यापारमात्रं च प्रयोजकव्यापारः, भिन्ना वासयति कारीषोऽग्निरध्यापयतीति दर्शनात्; तदसत्; अर्थात् व्यापृतिः पुंसो नियमः किन्निबन्धनः । फलसाधनता कर्मनिश्चेया साध्यता कदा ॥”-विधिवि० पृ० २६ । (५) आत्मनः-आ० टि० । (६) पुरुषधर्मत्वात् । “फलाधिता चेत् प्रवृत्तिहेतुः; सेच्छा तद्योगो वा इच्छासमवायो वा ‘कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं त्वतलभ्याम्’ इति वचनात् पुरुषधर्म इति न फलं व्यापृतिः ।”-विधिवि० पृ० २७ । (७) “अथ तद्विच्छेपहारमुखेन फलस्य प्रवृत्तिहेतुत्वमर्थः प्रीत्यात्मता फलव्यापारः प्रवर्तना; सापि तत्रैव न कर्मणि । फलव्यापाराच्च प्रवर्तमानः सर्वत्र प्रवर्तते नियमनिमित्ताभावात् ।”-विधिवि० पृ० २७ । (८) इच्छोत्पादनमुखेन । (९) सूत्रि-आ० टि० । (१०) फले एव । (११) फलात्-आ० टि० । (१२) कर्मणः-आ० टि० । (१३) फलम् । (१४) कर्मणि यागादौ ।

प्रवृत्तिः अतिप्रसङ्गात् । अथाऽभिप्रेतफलसाधनत्वात् कर्मण्येव प्रवृत्तेर्नातिप्रसङ्गः, न खलु प्रेक्षापूर्वकारिणः उपायं परित्यज्य अनुपायेऽसाधने वा साध्ये प्रवर्तन्ते; कथमेवं फलस्य प्रवर्तकता तैसाधनस्यैव तत्प्रसङ्गात् ।

नैनु निर्यतकर्मसाध्यतायाः फलसमवेतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् फलस्य प्रवर्त्तकत्वम्,
नियते च उपायभूते कर्मणि प्रवृत्तिरविरुद्धा; ननु केयं तत्साध्यता-फलस्य स्वरूपम्,
शक्तिभेदो वा ? यदि स्वरूपम्; तदा तस्य सर्वत्राविशेषात् निर्यतकर्मणीव अर्थान्तरेऽपि
प्रवृत्तिः स्यात् । नैहि वृत्तिः मुख्यपक्षेयैव वृत्तिर्भवति नाग्न्यपेक्षया इति, वृत्त्यर्थना
अप्रावपि प्रवर्त्तितव्यम् । शक्तिभेदोऽपि फलस्य स्वसत्त्वकाले, अभावकाले वा स्यात् ?
तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; यतः प्रतिनियतादेव कर्मणः प्रतिनियतस्य फलस्योत्पत्त्यर्थं तच्छक्ति-
भेदः परिकल्प्यते । न चोत्पन्नस्य सम्बन्धिनी शक्तिः उत्पादनियमे समुपयुज्यते । न खलु
उत्पन्नं शक्तिवशादुत्पद्यते विरोधात् । द्वितीयविकल्पोऽप्यसुन्दरः; नैहि फलमविद्यमानं
खपुष्पप्रख्यं साध्यताख्यशक्तिभेदाश्रयो भवितुमर्हति । तदीश्रयत्वे वा तस्याऽसत्त्व-
विरोधः; असतः सकलशक्तिविरहलक्षणत्वात् ।

किञ्च, इदं फलं विद्यमानं सत् पुरुषं प्रेरयति, अविद्यमानं वा ? यदि विद्य-

(१) 'तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते न सर्वत्र; तत एव तर्हि तत्साधनत्वं प्रवृत्तिहेतुः कर्मणि न फलरूपम् तच्च कर्मसमवायीति कर्म प्रवर्तकं स्यात् । चोदयति-तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते सर्वत्र सर्वेषां फलसाधनत्वाभावात् । परिहरति-तत एव तत्साधनत्वे सति प्रवृत्तिभावादेव । भवतु तर्हि तत्साधनत्वं प्रवृत्तिहेतुः कर्मणि, न फलरूपम् । भवतु को दोषः ? इत्यत आह-ततश्च कर्मसमवायि न फलसमवायीति कर्मैव प्रवर्तकं स्यात् ।"-विधिबिं०, टी० पृ० २७-२८ । (२) फलसाधनभावात् न फलसमवायीति कर्मैव प्रवर्तकं स्यात् । (३) "एवं भूतस्य साध्यैव प्रवर्तकत्वं स्यात्, यागस्य तत्साधनत्वे निश्चिते सत्येव प्रवृत्तिदर्शनात् । (३) "एवं तर्हि तत्साध्यता प्रवृत्तिहेतुः, सा च फलसमवायिनीति न दोषः ; तथाहि समभिलषितस्य तुल्यपादेः कर्म-विशेषेण साध्यत्वात्तत्रैव प्रवृत्तिः, का पुनरियं साध्यता ? यदि रूपं फलस्य ; सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गः । एतदुक्तं भवति-फलसमवायित्वेन साध्यता साधनाधीनरूपणतया साधनमपि गोचरस्यति न पुनरसाधनमपि तेनैव तस्माद्विशेषात् साधन एव प्रवर्तयति न तु सर्वत्रेति । तदेतद् दूषयति-का पुनरियं साध्यता ? यदि रूपं फलस्य ; ततस्तस्य साधनाधीनरूपणत्वाभावात् साधने प्रवर्तयते प्रवर्तयेद्वा सर्वत्रैव अत्यन्ताविशेषात् ।"-विधिबिं०, टी० पृ० २८ । (४) ज्योतिष्टोमादियागजगत्या हि स्वर्गादिफलसमवायिनी अतः वस्तुतः यागसाध्यतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वे फलस्यैव प्रवर्तकत्वं फलितमिति भावः । (५) नियतकर्मसाध्यता । (६) फलभूतस्वर्गैस्वरूपस्य । (७) ज्योतिष्टोमादिवत् (८) गोवधादौ-आ० टि० । (९) शक्तिविषयः । (१०) "कदा पुनरयं शक्तिभेदः साध्यताभिधानः ? फलस्य भाव-समये न तावत् ; वैयर्थ्यात्प्रवृत्तिहेतुत्वाच्च । न खलुत्यन्नस्योत्पादः यद्योगिनी शक्तिरर्थवती । नापि सिद्धे फले तत्साधने कश्चिदप्रवर्तते ।"-विधिबिं० पृ० २९ । (११) उत्पन्नस्य उत्पत्तिविरोधात्, अनुत्पन्नस्यैव हि समुत्पादो दृश्यते । (१२) "अभावकालेऽप्यसत् कथं शक्तिमतं खणुष्ववत्"-विधिबिं० पृ० २९ । (१३) साध्यतारूपशक्तिविशेषाधारत्वे । (१४) फलस्य । (१५) शक्त्याधारत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भावः ।

1-साध्यतया प्रवृत्ति-श्र० । 2 तच्छक्ति-श्र० । 3 नहि भु-श्र० । 4 स्वसत्ताकाले श्र०, ब० ।

5 साध्यताशक्ति-श्र०, ब० । 6 तदाश्रयसत्त्वे वा ब० । 7 तत् श्र० ।

मानम्; किमर्थं प्रेरयति ? फलार्थी हि पुरुषः प्रवर्त्तते, तैषेद् विद्यते; अलं प्रवृत्त्या । नहि लोके यस्य यदस्ति स तदर्थं पुनः प्रवर्त्तते इति प्रतीतम् प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात् । सतोऽपि फलस्य आत्मसम्बन्धितां कर्तुं प्रवर्त्तते; इत्यप्युक्तम्; यतः फलं सुखम्, दुःखाभावश्च, तदुभयमप्युपजायमानम् आत्मसम्बद्धमेवोपजायते । अथ स्वर्गकामः पुरुषः स्वर्गादेः फलस्य विद्यमानस्यैव आत्मसम्बद्धतां कर्तुं प्रवर्त्तते; नन्वेवं पुत्रैका-
मादौ का वार्त्ता ? नहि पुत्रादिफलस्य तदा विद्यमानता संभवति प्रतीतिविरोधात् ।

किञ्च, इदं फलं सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः, साध्यताविशिष्टं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धेऽपि फले पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात् । न च सिद्धस्य सिद्धये प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्युक्ता तदनुपरमप्रसङ्गात् । अथ साध्यतावच्छिन्नं फलं प्रवृत्ति-हेतुर्न केवलम्; तदप्यनुपपन्नम्; अनर्थिनोऽप्यर्थः प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । फलं हि साध्य-
तया विशिष्टं प्रतीयमानं यदि प्रतिपत्तारं प्रवर्त्तयति तदा अनर्थिनमपि प्रवर्त्तयेत्तद्-विशेषात् । तत्र विद्यमानस्यास्य प्रेरकत्वं युक्तम् । नाप्यविद्यमानस्य; अस्याऽसत्तः कारक-
त्वानुपपत्तेः, 'असञ्च प्रेरकञ्च' इति विं प्रतिषेधात् ॥ छ ॥

येऽपि 'फलाभिलाष एव' प्रेर्यगतः प्रेरकत्वाद् विधिः, अनर्थिनः प्रवृत्त्यप्रतीतिः, स हि शब्दमन्तरेणापि कचिदभिलषिते वस्तुनि अर्थिनं पुरुषं प्रवर्त्तयति इत्याचक्षते; 15
तेऽप्यसमीक्षितवाच्यः; अभिलाषस्य अव्यापकतया प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः । तदव्यापकता च बालकप्रवृत्तौ तदसंभवात्सुप्रसिद्धा । तथाहि—कश्चिदाचार्यप्रेरितो बालकः कार्यं किमपि कुर्वन् केनचित् प्रयोजनं पृष्ठः सन्नुत्तरमाह—'न वेद्मि करणे अस्य किमपि प्रयोजनम्, केवलमाचार्यप्रेरितः करोमि' इति । ततः फलाभिलाषमन्तरेणापि पुरुष-
प्रवृत्तिप्रतीतिः अव्यापकः सर्वप्रवर्त्तनानां फलाभिलाषः ॥ छ ॥

अन्ये तु 'कर्मैव अभिप्रेतार्थप्रसाधकत्वाद् विधिः' इति प्रतिपन्नाः; तन्मतमप्य-
सङ्गतम्; कर्मणो विधिविषयतया विधिस्वभावत्वानुपपत्तेः । 'विधेर्विषयो हि कर्म

(१) फलं स्वर्गादि । (२) निष्पन्नेऽपि फले प्रवृत्ती प्रवृत्त्यनुपरमः स्यात् । (३) पुत्रका-
मनया क्रियमाणे पुत्रेऽप्येते न हि पुत्रः स्वर्गादिवत् विद्यमानोऽस्ति । (४) प्रवर्त्त्यविरामप्रसङ्गात् ।
(५) अर्थितारहितम्—आ० टि० । (६) साध्यतावच्छिन्नात् फलात् । (७) अविद्यमानफलस्य ।
(८) असत्त्वात् । (९) प्रेरकत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भावः । (१०) पुरुषनिष्ठः । (११) "अस्तु
तर्हि कर्म प्रवर्त्तकम्, अभिमतसाधनता तस्य प्रवर्त्तना, प्रवृत्तिहेतुरूपत्वात्; न; विषयत्वात् । तदेतद्
दूषयति 'न' तस्य विषयत्वात्, प्रवृत्तिकर्तुः प्रयोजकः प्रवर्त्तकः । सिद्धश्च स भवति । तदिह सिद्धं चेत् कर्म
प्रवृत्तेः प्राक् प्रवृत्तेः भावनाया विषयो न भाव्यम् । न जातु गगनमस्या भाव्यं भवितुमर्हति । विषय-
ज्ञेत् कर्म; असिद्धत्वात् कथं प्रवर्त्तकमित्यर्थः ।"—विधिवि०, टी० पृ० ३५ । (१२) न हि घटस्य
ज्ञानविषयत्वे ज्ञानस्वभावता युक्ता—आ० टि० ।

१ अर्थिनोऽ—आ० । २ अर्थिनमपि आ० । ३—प्रेरकविशेष—अ०, ब० । ४—मानस्य प्रेर—आ० ।
५ विधिविषय—अ०, विधिविषय—ब० ।

लोके प्रसिद्धं न तत्त्वभावम्, अतोऽन्येनात्र प्रवर्त्तकेन हि भवितव्यम् । नहि स्वस्यैव स्वात्मसिद्ध्यर्थं प्रवर्त्तकत्वं युक्तं विरोधात् ।

- किञ्च, उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्ध्यर्थं पुरुषं प्रवर्त्तयति, अनुत्पन्नं वा ? तत्र उत्पन्नस्य स्वरूपसिद्धेर्जातत्वात् पुरुषप्रेरणा व्यर्थी । अनुत्पन्नस्य तु प्रेरकत्वानुपपत्तिः ।
- 5 सदेव हि किञ्चित् कस्यचित्प्रेरकं नासत् खरविषाणादिकम्, तथैवाविधस्य कारकत्वा-योगात् । असता चानेन सह अपौरुषेयवचसः सम्बन्धासंभवात् कथं तद् वेद-वाक्यैः प्रतिपाद्येत यतः पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वात् तद् वाक्यार्थः स्यात् । अथ सामान्योका-रेण सत् कर्म विशेषकारसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयति; तन्न; येनांशेन तत् सन्न तेषां-शेन पुरुषसाध्यम्, येन चांशेन साध्यं न तेन तदभिधेयं सम्बन्धासंभवात् । नहि
- 10 सम्बन्धाभिधेयाभिधानानां नित्यत्वाभ्युपगमे अनित्ये कर्मविशेषे नित्यस्य सम्बन्धस्य संभावनापि संभवति । लक्षणाया तत्प्रतिपत्तिः; इत्यप्ययुक्तम्; तस्मात्तद्वत् शब्दार्थनि-रूपणावसरे निरस्तत्वात् ॥ छ ॥

अथ आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः; 'तदेवं कर्म' इत्युक्ते हि क्रियासम्बन्धमात्मन्यवगम्य प्रवर्त्तमानाः प्रतीयन्ते लौकिका इति; तदप्य-युक्तम्; नहि क्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिलोके प्रतीयते, अपि तु तदनुरोधि-

15 र्त्तया, अन्यथा सर्वस्यैव 'तदेवं कर्म' इति कर्मसम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिः प्रसज्येत,

(१) विधिस्त्वभावम् । (२) कर्मणि यागादौ । (३) असतः प्रवृत्तिक्रियायाः कर्तृत्वरूपस्य प्रवर्त्तकत्वस्य असंभवात् । (४) कर्मणा । (५) याग इति—आ० टि० । (६) कारीषादिः—आ० टि० । (७) सामान्येन—आ० टि० । (८) विशेषरूपेण—आ० टि० । (९) वेदवाक्येनाभिधेयम् । (१०) सङ्केत-अर्थ-शब्दानाम् । (११) "ननु विश्वेन्द्रादिवाक्यताभ्युपगमात् तदुच्चारणात् प्रागसिद्धत्वे सति अगृहीतसम्बन्धत्वेन वाच्यत्वायोगाल्लिङ्गबुच्चारणात् प्रागेव सिद्धेः तत्परत्वं न युक्तमित्याशङ्क्य शब्दश्रव-णानन्तरमाविप्रवृत्तिहेतुप्रेषणाध्येषणादिव्यापारानुवृत्ताप्रवर्त्तनासामान्याभिधानेन तद्विशेषापेक्षायामपोरु-षेये वेदे पुरुषधर्मस्य प्रेषणादेरसंभवात् तद्वचनिरिक्तविध्याख्यस्य विशेषस्य परिशेषाल्लक्षणाया गम्यमा-नस्य सम्बन्धग्रहणानपेक्षत्वेन प्राक् सिद्धचनपेक्षणादविरुद्धा शब्दव्यापारतेति "न्यायसु० पृ० ५५९, तथा पृ० ३० । मीमांसान्याय० पृ० १८० । (१२) विधिः । (१३) लक्षणायाः । (१४) सम्बन्धवत् । (१५) पृ० ५७० । (१६) "यदपि समर्थनम्—अप्राप्तसम्बन्धया क्रियाया आत्मनः सम्बन्धस्य प्रतीत्या प्रवृत्तिः यथाऽद्य तदेवं कर्मति लोके । अतश्च अज्ञातज्ञापनमप्रवृत्तप्रवर्त्तनमभयविधप्राप्तिप्रतिषेधेन अप्रा-प्तक्रियाकर्तृसम्बन्धो विधिरिति विधिविदामुद्गाराः ।"—विधिबि० पृ० ४० । (१७) "नैतत्सारम्; यस्मात्—न प्रवृत्तिसिंघाधियो लोकेऽभिप्रायवेदनात्, तं च तथाभावे तथेति निश्चिनोतु विपर्यये नैतदेवमिति । प्रवर्त्तते तु कस्मात् ? लोके त्वद्य तदेवं कर्मति वचनादधिगतवक्त्रभिप्रायो यो यदभिप्रायानुरोधी स प्रवर्त्तितुमर्हति अन्यथा सर्वस्य प्रवृत्तेः ।"—विधिबि० पृ० ४१-४२ । (१८) वाक्यप्रयोक्तृपुरुषस्य अभिप्रायानुरोधात् प्रवृत्तिर्भवति अतः अभिप्रायानुरोध एव विध्यर्थः स्यादिति भावः ।

१-तत्केन भवि-श्र०, व० । २ सह पोरु-श्र० । ३ तदेवं कर्म श्र० । ४ तदविरोधितया व० । ५ तदेवं कर्म श्र० ।

अतस्तदनुरोधितापि प्रवर्तकत्वाद् विधिः प्रसज्येत । सापि वा न प्राप्नोति, स्वामि-
वाक्यवद् वेदवाक्ये तस्याः सत्त्वाऽसंभवात् । 'इदं कुरु' इति वाक्याद्धि स्वामिनोऽभि-
प्रायं विदित्वा तदिच्छानतिक्रमेण तदनुरोधितया प्रवर्तते । न चैतद् वेदवाक्ये संभ-
वति वक्तुरसत्त्वात् ॥ छ ॥

येऽपि स्वर्गादिफलसाधनत्वेन धात्वर्थं प्रतीत्य पुरुषार्थसाधनत्वादस्मिन् 5
प्रवर्त्तमाने इति श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मावगमः प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः' इत्याचक्षते;
तेऽप्यशब्दार्थविद्ः; श्रेयःसाधनतायाः विधित्वेन लोकेऽप्रसिद्धेः, प्रैषादीनामेव तत्रै-
तत्त्वेन प्रसिद्धेः । लिङादिशब्दवाच्यो हि विधिः । न च श्रेयःसाधनता तच्छब्द-
वाच्यतया लोके प्रसिद्धा, येनस्या विधित्वं स्यात्, लोकानुसारेण च पदार्थव्यवस्था ।
'य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः' [शाबरभा० १।३।३०] इत्यादिवचनात् । 10

किञ्च, कस्येयं श्रेयःसाधनता-भावनायाः, धात्वर्थस्य वा ? न तावद् भाव-
नायाः; तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण असिद्धस्वरूपत्वात् । नापि धात्वर्थस्य; यागादेः पशुव-
धप्रधानस्य श्रेयःसाधनत्वानुपपत्तेः । न खलु हिंसा श्रेयःसाधनम्; ब्राह्मणवधा-
देरपि तत्प्रसङ्गान् । 'विहितानुष्ठानत्वात्साधनत्वे 'सधनं ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादेरपि

(१) श्रयोक्तपुरुषाभावात् अभिप्रायानुरोधितायाः अभावात् । (२) मण्डनमिश्रादयः । मण्ड-
नमिश्रा हि 'इदं मच्छ्रेयःसाधनम्' इत्यवगमस्यैव प्रवृत्तिहेतुतां स्वीकुर्वन्ति; तथा चोक्तं तैः—'पुंसां नेष्टा-
भ्युपायत्वात् क्रियास्त्वयः प्रवर्तकः । प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥ प्रवृत्तिसमर्थो हि कश्चिद्
भावातिशयो व्यापाराभिधानः प्रवर्तना । सा च क्रियाणामपेक्षितोपायतैव । न हि तथ्यात्वमप्रतिपद्य तत्र
प्रवर्तते कश्चित् । याप्याज्ञादिभ्यः प्रवृत्तिः साऽपि कथंचिदपेक्षितनिबन्धनत्वमूपाश्रित्यैव अन्यथाऽभा-
वात् ।'—विधिवि० पृ० २४३ । 'तथा चोक्तम्—तया धात्वर्थकार्यत्वे पदं श्रुत्योपदर्शिते । भावनाया
विधिभ्रुत्या पुषार्थसिंसाध्यतेति ॥ श्रेयःसाधनता ह्येषा नित्यं वेदात् प्रतीयते (मी० श्लो० पृ० ४९ ।)
इति च । तस्मादिष्टसाधनतैव विधिः लिङाद्यभिधेयेति तद्युक्तायाः भावनायाः फलमेव भाव्यं धात्वर्थस्तु
करणमिति (पृ० ४६) तेनाभिधाव्यापारप्रवर्तनाभिधानवत् प्रवर्तनारूपेण इष्टसाधनतां शब्दोऽभिधत्ते
न स्वरूपेणेति न प्रतीतिविरोधः । इदमेव भगवतो मण्डनमिश्रस्यापि 'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वत् क्रियास्त्वयः
प्रवर्तकः । प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् । एवङ्कारञ्च प्रवर्तनाप्रत्यय इत्यादि वदतोऽभिमतम् ।
तदेवं शब्दकर्तृकं प्रवर्तनारूपेष्टसाधनत्वाभिधानमेव शब्दभावनेति गीयते ।'—न्यायपरत्नमा० पृ० ४७,
५३—५४ । "इष्टसाधनत्वमेव विधितत्त्वम्" तत्प्रहृ० पृ० ४५ । "तत्रा च प्रवर्तनत्वानुरोधात् विधेरपि
इष्टसाधनत्वादिकमेवार्थः"—मुक्ता० पृ० ५१६ । (३) ज्योतिष्टोमादियागे । (४) लोके । (५)
विधित्वेन । (६) श्रेयःसाधनतापरत्नान्याः इष्टसाधनतायाः । (७) उद्धतमिदम्—नौताति० पृ० १३४ ।
(८) तुलना—'किञ्च, भावनागतं श्रेयःसाधनत्वं प्रवर्तकमिष्यते तैः, तच्च न पृथगभिधानात् युक्तम् ।
भावनायाः त्र्यंशत्वेन तत्स्वरूपावगमसमये एतदंशयोः स्वर्गायागयोः साध्यसाधनभावावगतिः सिद्धेः ।'—
न्यायमं० पृ० ३६१ । (९) श्रेयःसाधनत्वप्रसङ्गान् । (१०) यज्ञो हि वेदे विहितोऽतः श्रेयःसाध-
नमित्युक्तं सत्याह । तुलना—'विधिपूर्वकस्य पश्वादिबधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात्
असिद्धो हेतुरिति चेत्; तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनबधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं
मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गा भवतीति वचनं प्रमाणमस्तुः'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२ ।

1 विहितानुष्ठानस्य तत्सा-ब० ।

सत्येव 'भैक्षं' चर, ध्यानाध्ययने कुरु, ज्वरिते औषधं पिबेत्, पथ्यमश्नीयात्' इत्या-
नुपदेशस्य प्रतीतेः । न च शब्द एव उपदेष्टा इत्यभिधातव्यम् ; अव्युपपन्नस्याप्यतोऽर्थ-
प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अथ शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसव्यपेक्ष एवासौ तत्त्वमुपदिशति ;
ननु कुतस्तद्व्युत्पत्तिः ? विशिष्टपुरुषाच्चेत् ; स एव उपदेष्टाऽस्तु किमनया परम्परया ?
प्रतिषेत्स्यते च अपौरुषेयत्वमस्य अग्रे इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ छ ॥

येपि विषयस्य यासौ कर्तव्यताप्रतीतिः सैव प्रवर्तकत्वाद्विधिः इति प्रतिजानते ;
नहि 'इदं मे कर्तव्यम्' इत्यप्रतिपद्यमानः कश्चित्प्रवर्तते इति ; तेऽप्यसमीक्षितवचसः ;
यतः किं कर्तव्यताप्रतिपत्तिः निर्विशिष्टा प्रवृत्तिहेतुः, श्रेयःसाधनताविशिष्टा वा ?
तत्राद्यैपक्षोऽनुक्तः ; सर्वस्य सर्वत्र कर्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तथा च
ब्राह्मणादिवधकर्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण भवतस्त्वेदधादावपि प्रवृत्तिः स्यात् । अथ श्रेयः-
साधनताविशिष्टा सा प्रवृत्तिहेतुः ; तर्हि श्रेयःसाधनतैव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः स्यान्न
कर्तव्यता तस्यास्तामन्तरेणाऽप्रवर्तकत्वात् । नचैतदप्युपपन्नम् ; श्रेयःसाधनतायां
विधित्वस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात् ॥ छ ॥

अपरेषां मतं प्रतिभैव प्रवर्तकत्वाद् विधिः । नहि प्रतिभाष्यतिरेकेण लिङा-

(१) "ननुक्तमुपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम् ; यथेवमव्युत्पन्नस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्गः ।
उच्यते-विशिष्टः पुरुषार्थस्य बुद्धस्योपायमाह यः । पुरुषार्थो यदा येन यो नरेणाभिकाङ्क्ष्यते । पुरुषा-
र्थस्योपायमनवगतमवगमयन्तुत्कर्षाद्विशिष्टः शब्द उक्तः, अन्यथा सर्व एव शब्दः शब्दान्तराद् भिन्न
इत्यविशेषणमेव स्यात् । अतो नाऽविदितार्थस्य प्रवृत्तिः ।"-विधिबि० पृ० २४० । (२) पुरुषार्थोपा-
यताम् । (३) वेदस्य । (४) तुलना-"ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्तेः प्रवृत्तिः । अत्र केचिदान्मात्रं प्रति
श्राद्धमानिनः प्राहुः-ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्तेः प्रवृत्तिः । इदमाकूतम्-कार्यदर्शनोन्नेयप्रवृत्तयः खल्वमी
लिङादयः । कार्यञ्च प्रवृत्तिलक्षणं वृद्धानां लिङादिश्रवणसमनन्तरमुपलभ्यते । तच्च बुद्धिपूर्वकं स्वत-
न्त्रप्रवृत्तित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिवत् । अनुमिता च बुद्धिः अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिगोचरचरारिणां प्रवृत्तिहेतुबु-
द्धित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिवत् । तस्याएव विषयं स्वयमेव चक्षुरन्मील्य पिण्डिकरोगं (डिण्डिकरोगं)
परित्यज्य पथालोचयन्तः शब्दव्यापारपुरुषाशयतत्समीहिततत्साधनताव्युवासेन कर्तव्यतामेव प्रतिपद्या-
महे । तथाहि-स्तनपानादावपि न जानु समीहितोपाय इत्येव प्रवृत्ताः स्मः, किन्तु कर्तव्यमेतदिति लिङा-
दिश्रवणानन्तरा प्रवृत्तिः कर्तव्यताभिधानमेव लिङादीनामापादयति । तथा च विदितसङ्गततया
लिङादयो वेदेशपि तामेवाभिदधते ।"-विधिबि० टी० पृ० २४४ । (५) तुलना-"वन्प्रेक्षितोपायताम-
न्तरेण कर्तव्यमिति शतशोऽप्यभिधीयमानं न प्रवृत्तये कथ्यत इत्यत आह-कथं हि तथा प्रतिपद्यमानो
न प्रवर्तते ? शब्दस्तावत्कर्तव्यतायां विदितसङ्गतिः तामवगमयति । तथा नैमित्तिकनिषेधाधिकारयो-
रसौ प्रतीयमाना न शक्या नेति वक्तुम् ।"-विधिबि० टी० पृ० २४५ । (६) ब्राह्मणवधादिनिषिद्धे
कर्मणि । (७) कर्तव्यताप्रतिपत्तिः । (८) कर्तव्यताप्रतीतिः । (९) श्रेयःसाधनताम् । (१०) श्रेयः-
साधनताविशिष्टकर्तव्यताप्रतीतिविधित्वम् । (११) वैयाकरणानाम् । "अभ्यासात्प्रतिभाहेतुः शब्दः
सर्वोपरैः स्मृतः । बालानां च तिरस्कां च यथार्थप्रतिपादने ॥१११॥ विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाष्येव
आयते । वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थरूपपादित्याम् ॥१४५॥ इदं तदिति साऽप्येवाभ्यासाद्व्येया कथञ्चन ।

१-त औषधं आ० । २-पदेशप्रतीतिः आ० । ३-छः प-ध्र०, व० । ४-वतः सर्वत्र आ० ।
५-ताया विधि-व०, श्र० ।

- दिव्यापारोऽपि बलवत्सलिलसमीरणन्यायेन पुरुषं प्रवर्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । नापि विषयप्रतिपत्तिमात्रम् ; अत एव । अतो या काचित् प्रवृत्तिः सा सर्वा प्रतिभा-समानाकारनिर्णयैरूपप्रतिभापूर्विकैव । नहि प्रतिभातेऽप्यर्थे यावत् सुखसाधनमिदमिति प्रतिभा नोत्पद्यते तावत् कश्चित् प्रवर्तते । अतः साधनविशेषे पुरस्कृते क्रिया-विशेषपरिस्फुरणं प्रतिभा । उक्तञ्च—“ विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्नक्रियाप्रतीत्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा ” [विधिवि० पृ० २४६] इति ; तदप्यसारम् ; यतः “सिद्धे प्रतिभास्वरूपे विधिरूपता स्यात् । न च भवत्प्रतिपादितं प्रतिभायाः स्वरूपं युक्तम् । इन्द्रियादि-बाह्यसामग्रीनिरेपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवम् अर्थतथाभावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति ग्रैसिद्धम्—‘श्रो मे भ्राता आगन्ता’ इत्यादिवत्, न पुनः प्रतिभासमानाकारनिर्णय-रूपतामात्रम्, निर्विकल्पकौषध्यक्षोत्तरकालभाविनः सविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि तद्रूपतया प्रतिभात्वानुपपन्नात्, तथा च सविकल्पकप्रत्यक्षवार्त्तोच्छेदः स्यात् ।

यद्यपि साधनविशेषे क्रियाविशेषपरिस्फुरणम् ; तर्हि पूर्वाहितसंस्कारवशात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारानुसारतः, चोदनातः, श्रो मे भ्रातेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा स्यात् ? तत्राऽन्यविकल्पोऽयुक्तः ; अश्रुतचोदनावाक्यस्य यागादिसाधने क्रियाविशे-

प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कत्रापि न निरूप्यते ॥१४६॥ उपश्लेषमिवाधानां सा करोत्यविचारिता । सर्व-रूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥१४७॥ साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा । इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ॥१४८॥ प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति । समारम्भाः प्रतीयन्ते तिर-श्चामपि तद्वशात् ॥१४९॥—वाक्यप० २।११९, १४५-४९ ।

(१) सर्वस्य श्रोतुः प्रवृत्तिप्रसङ्गादेव । (२) प्रतिभासमानाकारो यो निर्णयः तदूपा प्रतिभा-आ० टि० । (३) तुलना—“न हीदमित्यमनेन कर्तव्यमित्यनुपजातप्रतिभाभेदः प्रवर्तते प्रत्यक्षाद्यव-गतेऽप्यर्थे । तत्र हि प्रमाणकार्यसमाप्तिः । प्रतिभानेत्रो हि लोक इतिकर्तव्यतायु समीहते ।”—विधिवि० पृ० २४७-४८ । (४) यागादी-आ० टि० । (५) साधनविशेषमुद्दिश्य कर्तुमध्यवसिते-आ० टि० । (६) व्याख्या—“न हि ते प्रतिभाविदः ये संवेदनमनिश्चयात्मकं प्रतिभामाचक्षुः । संशयो हि सः । वयं तु साध्यसाधनेतिकर्तव्यतावच्छिन्नायाः क्रियायाः प्रतिपत्तावनुकूलां तत्प्रतिपत्त्या कार्येऽनुष्ठान-लक्षणे कर्तव्ये सहकारिणीं कर्तव्यमिति प्रज्ञां प्रतिभामध्यगीप्सहि ।”—विधिवि० टी० पृ० २४७ । “नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा”—तत्त्वसं० पं० पृ० २८६ । (७) तुलना—“आम्नायविधातृणां मूषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिनिबद्धेषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु च आत्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभिं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्पमित्याचक्षते । तत्तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । कदाचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति ।”—प्रश० भा० पृ० २५८ । “प्रमाणं प्रतिभिं श्वो मे भ्राताऽगन्तेति दृश्यते ।”—न्यायसं० पृ० १०६ । “प्रतिभा ऊहः तदभवं प्रातिभम्”—योग० तत्त्ववे० ३।३३ । “प्रातिभिं स्वप्रतिभोत्थमनोपदेशिकं ज्ञानम् ।”—योगबा० ३।३३ । “तत्र दृष्टकारणं विनैव अकस्माद् व्यवहितविप्रकृष्टतीतानागतसूक्ष्माद्यर्थ-स्फुरणे सामर्थ्यं प्रतिभा ।”—योगसं० पृ० ५५ । “इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थप्रतिभानं सा प्रतिभा”—प्रश० कन्ध० पृ० २५८ । “प्रज्ञा नवनबोल्लेखशालिनी प्रतिभाऽस्य धीः ।”—अलं० चि० पृ० २ । (८) आलोचना-ज्ञान-आ० टि० । (९) निर्णयरूपतया । (१०) अनिहोत्रं जुहुयात् इत्यादि प्रवर्तकं हि वाक्यं चोदना ।

स्य स्वप्नेऽप्यस्फुरणात् । प्राक्तनविकल्पत्रये तु प्रतिभात्वं विरुद्धेत, अन्यथा संस्कारादिभ्यः समुत्पन्नानां स्मृत्यादीनामपि प्रतिभात्वानुवङ्गात् तैदेवैकं प्रमाणं स्यात् ॥४॥

केचिद् भक्तिरेव प्रवर्तकत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । न खलु श्रद्धापरपर्यायां भक्तिं विना परमात्मश्रवणानुमननध्यानादौ यागादौ वा प्रवृत्तिः संभवति । तदुक्तम्—

“अनवच्छिन्नपूर्णत्वस्पर्शो नो भक्तितो विना ।” [] 5

भक्त्यंशानुप्रेवेशेनैव च शास्त्रस्यापि राजशासनाद्वेदः । तद्विद्वि अन्तर्भक्तिशून्यं राजभयादीनामेव अन्तःपरिस्फुरणात् । उक्तञ्च—

“तथा शून्यं भवेत् पुंसां शास्त्रं शासनमात्रकृत् ।

भक्त्यंशेन च तद्विभं लोके राजानुशासनात् ॥” [] इति ।

तदप्यसम्यक्; यस्मादुत्पन्ना सती भक्तिः प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात्, उत्पत्तिश्चास्याः 10 शब्दात्, निग्रहानुग्रहसमर्थपुरुषविशेषाद्वा ? न तावच्छब्दादेव; “द्रष्टव्योरेयमात्मौ” [बृह० ४।५।६] इत्यादिशब्दश्राविणोऽशेषस्यापि प्रतिपत्तुः आत्मादौ भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गान् तद्वैश्यानादौ प्रवृत्तिः स्यात् । तच्छब्दश्रवणाविशेषेऽपि अशेषस्य तदनुत्पत्तौ नैसौ तन्मात्रहेतुका । तद्विशेषेऽपि यन्नोत्पद्यते न तत् तन्मात्रहेतुकम् यथा अविशिष्टेऽपि बीजे अनुत्पद्यमानोऽङ्कुरः, नोत्पद्यते च अविशिष्टेऽपि शब्दे तच्छब्दश्राविणोऽशेषस्य आत्मादौ 15 भक्तिरिति । अथ निग्रहानुग्रहसमर्थान् पुरुषाविशेषादभिमतं फलं वाञ्छतां सोत्पद्यते; युक्तमेतत्; तस्यैव भक्तिशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेः । अपौरुषेयत्वं तु वेदस्याऽयुक्तम्, तस्यैव “पौरुषेयत्वप्रसिद्धेः । अनवच्छिन्नपूर्णत्वधर्मोपेतस्य चात्मनः ब्रह्माद्वैतप्रवर्तके प्रत्याख्यातत्वात्कथं कस्यचिर्ज्ञानं तथैवविधपुरुषादन्यतो वा खरविषाणादिव भक्तिः स्यात् ॥ छ ॥ 20

(१) आदिपदेन प्रत्यक्षव्यापार-शब्दो ग्राह्यौ । (२) यथा [क्रमं] स्मृत्यनुमानशब्दानाम्—आ० टि० । (३) प्रतिभाख्यम् । (४) “एवं च सति लिङ्गादेः कोऽयमर्थः परिगृहीत इति चेत्; यज् देवपूजायामिति देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्तुं व्यापारसाध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धौ लिङ्गादयोऽभिदधतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।” वेदार्थ० पृ० २२५ । (५) “भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतुष्यवञ्जानविशेष एव ।” सर्वव० पृ० ३४४ । वेदार्थ० पृ० १५२ । (६) राज्यशासनम् । (७) श्रद्धया । (८) शास्त्रम् । (९) “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ।” बृह० २।४।५, ४।५।६ । (१०) आत्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनेषु । (११) भक्तिः । (१२) शब्दश्रवणमात्रनिबन्धना । (१३) भक्तिः न शब्दश्रवणमात्रहेतुका शब्दश्रवणेऽपि अनुत्पद्यमानत्वात् । (१४) समर्थेश्वराराधनायाः । (१५) यदि । वेदः ईश्वराराधनरूपां भक्तिं विदधीत तदा धर्मोऽपि ईश्वरस्यैव प्रामाण्यं स्यात् तथा च वेदस्य अपौरुषेयत्वव्याघातः, ईश्वरस्य निग्रहानुग्रहकरणवत् वेदकर्तृत्वमपि स्यादिति भावः । (१६) निरुपाधिपूर्वत्वविशिष्टस्य ब्रह्मणः । (१७) पृ० १५०— । (१८) ब्रह्मणि । (१९) ईश्वरात् । (२०) वेदवाक्यादेर्वा ।

१-प्यप्रस्फुरणात् व० । २-केचित्तु भ-व० । ३-भक्तिं संव न त-व० । ४-प्रवृत्तेनिमि-अ० । ५-तत्तच्छब्द-अ० । ६-मतफलं अ० । ७-तस्यैव व० । ८-स्वप्रतिपत्तिः आ० । ९-गान्दिवधभक्तिः अ० ।

इच्छाप्रयत्नप्रभृतयोऽपि विधिप्रकाराः प्रागुक्तप्रकारेणैव प्रत्याख्येयाः; विषय-
कलादिनिरपेक्षणां तेषामपि पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वाभावात् विधिरूपतानुपपत्तेः। तैत्स्यपक्षाणां
तु प्रवृत्तिहेतुत्वे कथं तेषामेव विधित्वं स्यात् विषयादीनामपि तैत्स्यसङ्गात्? ततः पर-
परिकल्पितस्वरूपस्य विधेर्विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न तस्यापि शब्दार्थता घटते। अतः
5 तद्वानेव शब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः। इति सूक्तम्—‘प्रमाणं श्रुतमर्थेषु’ इत्यादि।

‘श्रुतज्ञानम्’ इत्यादिना कारिकां व्याचष्टे—श्रुतज्ञानं शब्दज्ञानं वक्त्रभिप्रायाद-
र्थान्तरेऽपि बहिरर्थेऽपि न केवलं तदभिप्राय एव प्रमाणम्। तद-
विवृतिव्याख्यानम्—
नभ्युपगमे दूषणमाह—‘कथम्’ इत्यादि। कथम्? न कथञ्चिद्
अन्यथा बहिरर्थं तत्प्रामाण्याभावप्रकारेण प्रतिपत्तुमर्हति सौगतोऽन्यो वा। किमित्याह—
10 द्वीपदेशनदीपर्वतादिकम्। कथम्भूतम्? अदृष्टस्वभावकार्यम्, अप्रत्यक्षाऽनुमेयस्वरूप-
मित्यर्थः। पुनरपि कथम्भूतम्? देशान्तरस्थम्। केन प्रकारेण? दिग्बिभागेन।
यथा दक्षिणदिग्बिभागे सिंहलद्वीप उत्तरदिग्बिभागे हिमवानिति। तमित्यम्भूतमर्थं
दिग्बिभागेन कथन्न प्रतिपत्तुमर्हति? इत्याह—निरारेकमविसंवादञ्च यथा भवति तथेति।
ननु चार्थाभावेऽपि श्रुतेः प्रायः प्रवृत्तिदर्शनाच्च कचिदप्यसौ^१ प्रमाणमित्याहङ्कयाह—

15 प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम्।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥ २७ ॥

विवृतिः—नहीन्द्रियज्ञानम् अत्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाण-
मतिप्रसङ्गात्। तैत्स्यविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः? यथा कृत्तिकादेः शकटादिज्ञानं

(१) “अतः सिद्धं न तार्किकरीत्या इष्टसाधनत्वे लिङ्गाद्यर्थत्वमपि तु पूर्वोक्तरीत्या प्रवर्तकेच्छया
एव।”—भाट्टरहं० पृ० ८। (२) तुलना—“अपरे पुनर्लिङ्गादिशब्दश्रवणे सति समुपजायमानमात्मस्य-
न्दविशेषमुद्योगं नाम वाक्यार्थमाचक्षते; तत्स्वरूपं तु न वयं जानीमः; कोऽयमात्मस्पर्शो नाम बुद्धिर्वा
स्यात् प्रत्यलो वा इच्छाद्वेषयोरन्यतरो वा।”—न्यायसं० पृ० ३६५। (३) विषयः अनिष्टोर्मादियागः।
(४) फलं स्वर्गादि। (५) इच्छाप्रयत्नादीनामपि। (६) विषयफलदिसापेक्षानाम्। (७) इच्छा-
प्रयत्नादीनामेव। (८) विधित्वप्रसङ्गात्, तच्च पूर्वं निराकृतमिति। (९) सामान्यविशेषात्मास्य
एव। (१०) श्रुतिः आगमज्ञानम्। (११) ‘चेदयदि भवेत्। कः? अनाश्वासः अविश्वासः। वयं?
सर्वत्र अविस्वादिश्रुतिप्रामाण्ये। केषाम्? प्रतिबन्धमपश्यतां शब्दार्थयोः सहजयोग्यतालक्षणं सम्बन्ध-
मनीक्षमाणानां सौगतानाम्। कस्मात्? विसंवादात्। कस्याः? श्रुतेः आगमस्य। कथम्? प्रायः
क्वचित्कदाचिदित्यर्थः। तदा सोऽनाश्वासः समः समानः। कासाम्? अक्षलिङ्गधियाम्, अक्षमिन्द्रियं
लिङ्गं हेतुः ताभ्यां जनिता धियो ज्ञानानि तासामपि प्रसक्तमित्यर्थः क्वचित्कदाचिद्विसंवाददर्शनात्।
—लघी० ता० पृ० ४७। (१२) इन्द्रियज्ञानस्य लक्षणे ‘अत्रान्तम्’ इति विशेषणं सौगतैः प्रयुज्यते—
“कल्पनापोढमत्रान्तं प्रत्यक्षम्।” [न्यायसि० १।४] इत्यभिधानात्। (१३) प्रत्यक्षलक्षणे ‘अव्यभिचारि’
इति विशेषणं नैयायिकापेक्षया ज्ञेयम्। “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं
ज्ञानं प्रत्यक्षम्।” [न्यायसू० १।१।४] इत्युक्तत्वात्। (१४) अत्रान्तादिविशेषणविशिष्टे।

१-तयो विधिप्रभृतयो वि-आ० १२ तुल्य-व०, थ०। ४-ज्ञानं वक्त्र-थ०। ४ दिग्भा-थ०।

स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैव अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । कचिद्व्यभिचारात् साकल्येनानाश्वासे वैवन्नभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न भ्यात् तत्रापि व्यभिचारसंभवात् ? तथानिच्छतः श्रुतिकल्पना-दुदादेः उच्चारणात् ।

प्रायो बाहुल्येन श्रुतेः शब्दस्य तज्ज्ञानस्य वा विसंवादात् सर्वत्र सत्य-
श्रुतावपि चेद् यदि अनाश्वासः । केषाम् ? अपश्यतां
कारिकाव्याख्यानम्— सौगतानाम् । किम् ? इत्याह—प्रतिबन्धम्, सम्बन्धं सन्तमपि
योग्यतारूपमविनाभावम्, [सः] सर्वत्रानाश्वासः अक्षलिङ्गधियां समः तासामपि
प्रायो विसंवाददर्शनादित्यभिप्रायः ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । नहि नैव इन्द्रियज्ञानं
मित्रुतिव्याख्यानम्— प्रमाणम् । केन विनेत्याह—अभ्रान्तमव्यभिचारीति' वा विशेषण-
मन्तरेण, तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणमिति । कुत एतदित्याह—अति-
प्रसङ्गात्, द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । नहि निर्विशेषणस्य ज्ञानमात्रस्य
प्रामाण्याभ्युपमे द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदः कर्तुं शक्यः । अथ तद्विशेषणे
सत्येव तत्प्रमाणं तेनायमदोषः ; अत्राह—'तथा' इत्यादि । तथा अभ्रान्ताऽव्यभिचारि-
प्रकारेण विशेषणे इन्द्रियज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? तस्यापि
तद्विशेषणविशिष्टस्यैव प्रामाण्यमस्तु । ननु इन्द्रियज्ञानस्य अर्थकार्यत्वात् युक्तम्
अभ्रान्तत्वमव्यभिचारित्वं वा न पुनः श्रुतज्ञानस्य विपर्ययात् ; इत्यत्राह—'यथा'
इत्यादि । यथा येन योग्यताप्रकारेण कृत्तिकादेः सकाशात् यत् शकटादिज्ञानं तत्
स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण, स्वभावप्रतिबन्धशब्देन तादात्म्यप्रतिबन्धस्तदुत्पत्तिसम्ब-
न्धश्च गृह्यते 'स्वो भावः कारणम्' इति व्युत्पत्तेः, तमन्तरेण अविसंवादकं तथैव तेनैव
प्रकारेण अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानज्ञानम् अदृष्टः तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यस्मिन् अर्था-

(१) तुलना—'स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ।'
—प्रमाणवातिकां० पृ० ६८ । 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नता ।'—ध्वला० टी० पृ० ३२० । (२) तुलना—
'विवक्षाप्रभवं वाक्यं स्वायं न प्रतिबध्यते । यतः कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थितिः । वक्त्रमि-
प्रायमात्रं वाक्यं सूचयन्तीत्यविशेषणाक्षिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्वं प्रतिपद्यते । न च वक्त्रमभिप्रायमेका-
न्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेरन्यत एव प्रसिद्धेः ।'—सिद्धिचि० पृ० २६४ । (३) अभ्रान्तादिविशेषण-
सहितत्वे । (४) इन्द्रियज्ञानादिकम् । (५) अभ्रान्तादिविशेषणयुक्तस्यैव । (६) अर्थमन्तरेणापि
अतीतानागतौ शब्दप्रयोगदर्शनात् । (७) तुलना—'स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यार्थोऽर्थं गमयेत् । तदप्र-
तिबन्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।'—न्यायचि० पृ० ४० ।

१-धर्मि-ज० वि० । २-धानमवि-ई० वि० । ३-श्रुतकल्प-ई० वि० । ४-स्य ज्ञानस्य श्र० ।
५-प्रतिसंबंधं आ० । ६-इवासः तासामपि श्र० । ७-रीतिविशे-आ० । ८-इन्द्रियस्य श्र० । ९-ज्ञा-
तक-आ० । १०-सिप्रतिबन्ध-व० । ११-वाचकत्वं त-श्र० ।

- भिधानज्ञाने तत्तथोक्तम्, तदित्थम्भूतं ज्ञानमविसंवादकम् । कुत एतदित्याह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न दृष्टे प्रहोपरागादौ श्रुताविसंवादकत्वे अनुपपन्नं नाम । इन्द्रिय-ज्ञानाविसंवादकत्वेऽपि अनुपपन्नत्वप्रसङ्गात् । बहिरर्थे अस्य प्रायो व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रानाश्रयासे च वक्त्रभिप्रायेऽपि प्रामाण्यञ्च स्यादिति दर्शयन्नाह—‘क्वचिद्’ इत्यादि ।
- ५ क्वचित् नियते विषये व्यभिचारात् साकल्येनाऽनाश्रयासे श्रुतेरङ्गीक्रियमाणे वक्त्रभिप्रायेऽपि न केवलं बहिरर्थे वाचः कथमनाश्रयासे साकल्येन न स्यात् ? अपि तु स्यादेव । कुत एतदित्याह—‘तत्रापि’ इत्यादि । तत्रापि वक्त्रभिप्रायेऽपि व्यभिचारसंभवात् । एतदेव दर्शयन्नाह—‘तथा’ इत्यादि । येन हि ‘या भवतः प्रिया’ इत्यादिप्रकारेण ‘परं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवान्’ इत्यादिप्रकारेण च श्रुतिदुष्टं कल्पनादुष्ट-
 १० श्रोत्रं तथा तेन प्रकारेण अनिच्छतः तथाभिप्रायरहितस्यापि श्रुतिकल्पनादुष्टादेः आदिशब्देन गोत्रस्खलनादिपरिग्रहः उच्चारणात् भाषणात् । किञ्च—

आप्तोक्तेहेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये ।

सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥ २८ ॥

- विवृतिः—नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वैरर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्य-
 १५ भिचारैकान्तसंभवात् । वाचोऽभिप्रायविसंवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयोः आप्ते-
 तरव्यवस्थां कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् ‘वक्तुरभिप्रेते तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण नार्थतत्त्वमपि’ [] इति कथमविक्रवः ?

(१) श्रुतम् । तुलना—“अपि चान्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनात् विवक्षायामपि क्वचिद्वचभि-
 चारात् सर्वत्रानाश्रयासात् कथं विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्युः ।” —सम्मतं० टी० पृ० २६६ ।
 (२) अन्यविवक्षायामन्यशब्दोच्चारणमपि प्रतीयते यथा देवदत्ताविवक्षायां यज्ञदत्तोच्चारणं गोत्रदत्तलने-
 ऽनुभूयते । (३) श्रुतिदुष्टं श्रुतिकटु । “श्रुतिकटु पक्षवर्णनरूपम् दुष्टम् ।” —काव्यप्र० पृ० २६७ । ‘या भवतः
 प्रिया’ इत्यत्र शुङ्गाररसवर्णनावसरे निषिद्धस्य रेफस्य प्रयोगादेव श्रुतिकटुत्वं शेषम् । ‘प्रिया’ इत्यत्र
 रेफसंयोगः स्पष्ट एव । (४) कल्पनादुष्टञ्च विरुद्धकल्पनायुक्तत्वात् अनुचितकल्पनाशालित्वान्न
 बोध्यम् । ‘परं प्रहृत्य’ इत्यत्र हि यदा वीर्यवान् पुरुषः परं प्रहृत्य प्रहारानन्तरं विश्रान्तः विशेषेण
 श्रान्तः क्लान्तः तदा तस्य वीर्यवत्त्वेन वर्णनमनुचितमेव । यदि हि प्रहारानन्तरं क्लान्तः कथं वीर्य-
 वान् ? क्लान्तत्ववीर्यवत्त्वयोर्विरोधात् । (५) ‘अयमर्थः—आप्तोक्तेर्बहिरर्थाविनिश्चये सुगतेतरवच-
 नयोः सत्येतरव्यवस्था का अर्थाविषयत्वाविशेषात् । हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये साधनेतरता कुतः
 बहिरर्थसूयत्वाविशेषादिति ।” —लघी० ता० पृ० ४८ । सत्येतरव्यवस्था हि बाह्यार्थप्राप्त्यप्राप्तिनिवन्धनैव,
 तथा चोक्तम्—आप्तमीमांसायाम् (का० ८७) “बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थं सति नासति । सत्या-
 नृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्यनापिषु ।” तुलना—“वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् । सत्यान्त-
 व्यवस्था न तत्त्वमिथ्यात्वदर्शनात् । मिथ्यादर्शनज्ञानात् मिथ्यार्थत्वं गिरां मतम् ।” —सिद्धिबि० पृ०
 ५०२ । (६) तुलना—“नान्तरिकताभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्राय-
 सूचकाः ।” ३।२।१२ । वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व-

१-तं तज्ज्ञान-ब०, अ० । २-प्राये प्रामा-आ०, अ० । ३-ब्राह्म येन हि आ० । ४ स्वभावतः
 ब० । ५-ण शु-ब० । ६ श्रुतविकल्पना-आ०, अ० । ७-विग्रहपरिग्रहः अ० । ८ सर्ववर्णं ज० वि० ।

यो यस्याऽवञ्चकः स तस्य आप्तः तदुक्तेः तद्वचनात् हेतुवादाच्च लिङ्गादि-
वचनाच्च बहिरर्थाविनिश्चये अङ्गीक्रियमाणे सत्यं सुगतवचनम्
कारिकाव्याख्यानम्—
इतरदसत्यं कपिलादिवचनम् तयोः व्यवस्था का ? न काचित्,
सर्वमसत्यमेव स्यात् । अतः सुगतवचनादपि न कचित्प्रवृत्तिः स्यात् । तथा साधनेतरता
कुतः ? पक्षादिवचनानि साधनम्, इतरत् तद्वैषणवचनं तयोर्भावस्तत्ता सापि कुतः ?
नैव स्यात् । तथा च 'यत् सत्तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादेरसाधनाङ्गतया निग्रहस्थानता
स्यादित्यभिप्रायः ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिकार्थमाह—'नहि' इत्यादिना । न खलु पुरुषाभिसन्धयः
पुरुषाभिप्रायाः सर्वे अर्थान् व्यभिचारन्ति । कुत एतदित्याह—'अन्यथा'
विनृतिव्याख्यानम्—
इत्यादि । अन्यथा तेषां तद्व्यभिचारप्रकारेण वागर्थव्यभिचारैका-
न्तसम्भवात्, वाचामर्थस्य बाह्यस्य अन्यस्य वा यो व्यभिचारैकान्तः तस्य संभवात् ।
वाचोऽभिप्रायविसंवादे सति कुतः न कुतश्चित् तस्य अभिप्रायस्य अनुमानम् । अथे-
दानीं परस्योन्मत्तचेष्टितं 'सुगत' इत्यादिना दर्शयन्नाह—सुगतस्य हि आप्तत्वव्यवस्थां

निबन्धनम् ॥ १४४ ॥ यद्यथा वाचकत्वेन वक्तुर्भिर्विनियम्यते । अनपेक्षितबाह्यार्थं तत्तथा वाचकं मतम्
॥ ११६७ ॥—प्रमाणवा० । "साक्षाच्छब्दा न बाह्यार्थप्रतिबन्धविवेकतः । गमयन्तीति च प्रोक्तं विवक्षासूच-
कास्त्वमी ॥"—तत्त्वसं० पृ० ७०२ । "यथोक्तम्—वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दाः ।"—तर्कभा० मो० पृ० ४ ।

(१) "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चित्वापिषया प्रमुक्त उपदेष्टा ।
साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्तते इत्याप्तः ।"—न्यायभा० १।७। "आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिः यथार्थो-
पलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थप्राप्त्या श्रुत्यार्थप्राप्ती । आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्ष-
याद्विदुः । क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेतुसंभवात् । स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवाजितः । पूजितस्त-
द्विर्धानित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ।"—सांख्यका० माठर० पृ० १३ । "यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः
परोऽनाप्तः तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः तदर्थज्ञानात् ।"—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६ । (२) "तत्र
पक्षादिवचनानि साधनम्"—न्यायप्र० पृ० १ । (३) "साधनदोषोद्भावनानि दूषणानि"—न्यायप्र० पृ०
८ । (४) "तद्वत् प्रमाणं भगवान् यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्याविसंवादानात्तस्यैव परैरज्ञातस्य प्रकाश-
नाच्च ।"—प्रमाणवा०, मनोरथ० १।९। "तायित्वाच्च भगवतः सुगतस्य प्रामाण्यं तथाहि—'तायः स्वदृष्ट-
मार्गाङ्कितः वैकल्याद्वक्ति नानृतम् । दयालुत्वात् परार्थञ्च सर्वारम्भाभियोगतः । तस्मात्प्रमाणं तायी वा
चतुःसत्यप्रकाशनम् ॥—दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वयं दृष्टस्य मार्गस्योक्तिर्देशना तायः करणे कार्योपचारात् ।
तथा हि सत्त्वान् तायते तद्योगात्तायित्वम् । स च वैकल्याद्वक्ति नानृतम् । आत्मसुखाद्यभिप्रायादिना कश्चि-
दसत्यं वदति अज्ञानाद्वा । प्रहीणात्मदर्शनस्य साक्षात्कृततत्त्वस्य तदुभयं नास्ति । विशेषतः सत्याभिधान-
हेतुरेव कृपास्तीत्याह—दयालुत्वाच्च परार्थञ्च सर्वस्य मार्गाभ्यासादेरारम्भेऽभियोगतः परार्थमेवोद्दिश्य भग-
वानभिसम्बुद्धः कथन्तस्य मिथ्याभिधानेन सत्त्ववञ्चनाशङ्काऽपि । तस्मात्तायित्वात् प्रमाणं भगवान् ।
यथादृष्टार्थप्रवक्तृत्वं हि संवादित्वमेवेति प्रथमप्रमाणलक्षणयोगात् प्रामाण्यमनेनोक्तम् । द्वितीयलक्षण-
योगमप्याह—तायो वा चतुःसत्यप्रकाशनम् । परैरज्ञातस्य सत्यचतुष्टयस्य प्रकाशनं वा तायः तद्योगात्
तायी प्रमाणं भगवानुक्तः ।"—प्रमाणवा०, मनोरथ० १।१४७-४८ । "ततः सुगतमेवाहुः सर्वज्ञं मतिशा-
लिनः । प्रधानपुरुषार्थज्ञं तं चैवाहुर्भिषगवम् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ८७८ ।

कुतश्चिद् अतुपदेशाऽलिङ्गाविसंवादिचतुरार्थसत्योपदेशात् कपिलादेस्तु अनाप्तत्वव्यवस्थां
विसंवादिप्रधानादितत्त्वोपदेशात् स्वयम् आत्मना उपजीवन्, साधनासाधनाङ्गव्य-
वस्थां वा, त्रिरूपहेतुवचनस्य हि स्वसाध्यसिद्धवङ्गव्यवस्था पक्षादिवचनस्य तु तद-
सिद्धवङ्गव्यवस्था तां वा उपजीवन् “वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण
नार्थतत्त्वमपि” [] इति एवं भुवाणो धर्मकीर्त्यादिः कथमविवक्ष्यः स्वस्थः ?

अत्राह सौगतः—वक्त्रभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यमस्ति, मा भूत्; किन्नष्टं प्रमाण-
द्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमादित्याशङ्क्याह—

“पुंसश्चित्राभिसन्वेषेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

कार्यं हृष्टं विजातीयान्छक्यं कारणभेदि किम् ? ॥२९॥

विवृतिः—श्रुतेर्वहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रा-
यानुविधायिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेदुक्तमत्र—‘तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां
विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः’ इति । अपि च वृक्षोऽयं शिक्षापात्वात् अग्निरत्र
धूमादिति वा कथमाश्वासः ? कचिल्लताचूतादेरुपलब्धेः शिक्षापायाः स्वयमवृक्षत्वेऽ-
प्यविरोधात्, काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अशनिजन्मनः तदर्थान्तर-
जन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः अग्निजन्मैव धूमः नार्थान्तरजन्मा
इति कुतोऽयं नियमः ? यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् ‘धूमादग्निरत्र’ इत्याश्वासः ।
कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः

(१) “चत्वार्यायसत्यानि, तद्यथा दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति ॥”—धर्मसं० पृ० ५ ।
“सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषां यथामिसमयं क्रमः ॥”—अभिध-
रंको० ६।२ । (२) “अथवा साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थ इति साधनं त्रिरूपहेतुवचनसमुदायः,
तस्याङ्गं पक्षधर्मादिवचनं” अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि” —वाचस्पत्य०
पृ० ६१ । (३) वक्त्रभिप्राये । (४) शब्दस्य । (५) तुलना—“विचित्राभिसन्धितया व्यापारव्याहारादि-
सांकेत्येण वचचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टिः ज्ञानवतोऽपि विसंवादात् क्व पुनराव्रतां लभे-
महि ॥”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७१ । “चेद्वदि, वागाप्तवचनम्, अर्थव्यभिचारिणी बाह्यार्थाविसं-
वादिनी स्यात् । कस्मात् ? चित्राभिसन्धेः चित्रः सत्यासत्यादिरूपो नानाभिसन्धिरभिप्रायो विवक्षा
तस्मात् । कस्य ? पुंसो वक्तुः ‘सरागा अपि वीतरागव्रत्चेष्टन्ते’ इति वचनात् । तर्हि विजातीयवादपि
कारणात् कार्यं दृष्टमविवक्ष्यं स्यात् । ततस्तत् कारणभेदि कारणं प्रतिनियतं स्वात्मलभनिबन्धनं
मिनति विजातीयद्विधिनष्टीत्येवं शीलं किं शक्यं स्यात् ? न स्यादेवेत्यर्थः । तस्य यतः कुतश्चिदुत्पत्ते-
रविरोधात् । न खल्वनियतकारणजन्यं कार्यं कारणभेदे गमयत्यशक्तेः ।”—लघी० ता० पृ० ४९ । (६)
तुलना—“न जैवं वादिनः किञ्चिदनुमानं नाम, निरभिसन्धीनामपि बहुलं कार्यस्वभावानिप्रमोप-
लम्भात् । सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे वचचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायशोऽनुपलब्धस्य मण्यादिकारण-
कलापेऽपि संभवात् । यज्जातीयो यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयतादात्म्यगति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वा-
दीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णयित वृक्षः शिक्षापात्वादिति लताचूतादेरपि वचचिदेव दर्शनात्
प्रेक्षावतां किमिव निःशंकं जेतः स्यात्” —अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७२ । सम्मति० टी० पृ० २६६ ।

१ अनुपदेशात् लिगावि-व० । २ च व० । ३-वस्थां वा श्र० । ४ कार्यदृष्टं ई० वि० ।

क्वचिदविसंवादस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ।

पुंसो यः चित्रोऽभिसन्धिः “सरागा अपि वीतरागवचेष्टन्ते” []

कारिकाव्याख्यानम्—

इत्यभिधानात्, तस्मात् वाक् चेद् यदि अर्थव्यभिचारिणी

कार्यं दृष्टं विजातीयाद् अभिमतकारणजातिपरिहारेण जात्य-

न्तरादपि । ततः किं जातमित्यत्राह—‘शक्यम्’ इत्यादि । शक्यं शक्तं कारण-
भेदि कारणविशेषं गमयितुं किम् ? नैव शक्तमित्यर्थः । कार्यग्रहणमुपलक्षणं स्वभा-
वस्य, अतोऽनुमानस्याप्यभावः इत्यभिप्रायः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘श्रुतेः’ इत्यादि । श्रुतेः शब्दस्य बहुलं प्राचुर्येण बहिरर्थवि-
संवादेऽपि न केवलं तदभावे, तदर्थेनैव बहिरर्थेन प्रतिबन्धस्य तादात्म्य-
विवृतिविवरणम्—

तदुत्पत्तिरूपस्य असिद्धेः कारणात् । कथंभूतायाः श्रुतेः इत्याह—

वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्याः । कै किमित्याह—सर्वत्र तदर्थानाश्वासः बहिरर्थाना-
श्वास इति एवं चेत् अत्राह—‘उक्तम्’ इत्यादि । अत्र पूर्वपक्षे उक्तमुत्तरम् । किं तदि-
त्याह—तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेः कारणात् अविसंवादः
श्रुतेः इति एतत् । ‘अपि च’ इत्यादिना परपक्षेपि तदुपपन्नं योजयति । अपि च किञ्च
‘अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः शिंशपात्वात्’, ‘अत्र पर्वते अग्निः धूमात्’ इति वा
यदनुमानं तत्र कथं नैव आश्वासः ? कुत एतदित्याह—‘क्वचिद्’ इत्यादि । क्वचिद्
देशविशेषे लताचूतादेः, आदिशब्देन लतावदर्थोदिपरिग्रहः तस्या उपलब्धेः कार-

(१) तुलना—‘चैतसेभ्यः सम्यक्मिथ्याप्रवृत्तयस्ते चातीन्द्रियस्वप्नभवकायवागव्यवहारानुमेयाः
स्युः व्यवहाराश्च प्रायशो बुद्धिपूर्वमन्यथापि कर्तुं शक्यते पुरुषेच्छावृत्तिवात्तेषां च चित्राभिसन्धित्वात् ।
तदयं लिङ्गसंकरात् कथमनिश्चित्वन् प्रतिपद्यते ? दुर्बोधत्वात् दुःप्राप्यत्वादन्यगुणदोषनिश्चायकानां
प्रमाणानाम् चैतसेभ्य इत्यादिना व्याचष्टे । चैतसि भवाः चैतसा गुणदोषाः । चैतसेभ्यः गुणेभ्यः
रूपावैराग्यबोधादिहेतुभ्यः सम्यक्प्रवृत्तयः यथार्थप्रवृत्तयः, चैतसेभ्यो दोषेभ्यः रागादिभ्यो मिथ्याप्रवृत्तयो
विपरीतप्रवृत्तयो भवन्ति । ते चेति परेषां चैतसा गुणदोषाः चेतोधर्मत्वेनातीन्द्रियाः ततो न प्रत्यक्षगम्याः ।
किन्तु स्वस्माद् गुणदोषरूपात् प्रभव उत्पादो यस्य कायवाक्कर्मणः तेन कार्यलिङ्गेनानुमेयाः । तच्च
नास्ति । यस्माद् व्यवहाराश्च कायवाक्कर्मलक्षणाः प्रायशो बाहुल्येन बुद्धिपूर्वमिति कृत्वा प्रतिस्थाने
अन्यथापि कर्तुं शक्यन्ते । तथाहि सरागा अपि वीतरागवत् आत्मानं दर्शयन्ति वीतरागाश्च सरागवत् ।
किं कारणम् ? पुरुषेच्छावृत्तित्वात् व्यवहाराणां तेषां चैति पुंसां चित्राभिसन्धित्वात् चित्रान्निधायत्वात्
ततो यथेष्टं व्यवहाराः प्रवतन्ते इति नास्ति गुणदोषप्रभवाणां व्यवहाराणां विवेकनिश्चयः । तदिति
तस्मादयमनुमाता पुमात् लिङ्गसंकरात् लिङ्गव्यभिचारादनिश्चित्वन् क्षीणदोषं कथमागमस्य कर्तारं
प्रतिपद्यते नैवेति निगमनीयम् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।२२२ । “यथा रक्तो वीति तथा विर-
क्तोऽपि । एवं न वचनमात्रात्, नापि विशेषात् प्रतिपत्तिः अभिप्रायस्य दुर्बोधत्वात् व्यवहारसंकरेण
सर्वेषां व्यभिचारात् । विरक्तो हि रक्तवच्चेष्टते रक्तोऽपि विरक्तवदित्यभिप्रायो दुर्बोधः” —प्रमा-
णवा० स्ववृ०, टी० १।१४ । “क्षीणावरणः समधिगतलक्षणोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिरन्यथा देशये-
दिति विप्रलम्भशंकी” —प्रमाणसं० पृ० ११६ । अष्टसह० पृ० ७१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९ । सूत्रकृ-
तांगटी० पृ० ३८४ । लघी० ता० पृ० ४९ । (२) पृ० ४३५ ।

१-भावे तेन बहि-आ०, व० । २-न प्रति-श्र० । ३-व्यचिन्तकमि-श्र० ।

- णात् । तथा च शिंशपायाः स्वयम् आत्मना अदृष्टत्वेऽप्यविरोधात् कथमाश्वासः ?
 काष्ठजन्मनः पावकस्य मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य तथाऽग्निजन्मनः तस्मादग्नि-
 भावात् काष्ठार्थः तदन्तरं तज्जन्मनश्च साकल्येन अनवयवेन अग्रिस्वभावविरोधे पुनः
 अङ्गीक्रियमाणे 'अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः यतो
 5 नियमात् कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्नित्र' इत्यादौ आश्वासः स्यात् । अथ
 "सुविवेचितं कार्यं कारणञ्च व्यभिचरति" [] इत्युच्यते । अत्राह—'कस्यचिद्'
 इत्यादि । कस्यचित् स्वभावकार्यविशेषस्य या अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनु-
 पपत्तिः तथा परोक्षार्थप्रतिपत्तौ अङ्गीक्रियमाणायां श्रुतस्य स्वयम् आत्मना अदृष्टता-
 दात्म्यतदुत्पत्तेः "भादौ वोक्तपुस्कं पुंवत्" [जनेन्द्रव्या० ५।१।५३] इत्यतो नपुंसकत्वा-
 10 भावः । क्वचिद् द्वीपादौ यः तस्य अविसेवादः तस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं
 प्रामाण्यमिति ॥ छ ॥

प्रमाणं साभासं विषयफलसंख्यादित इहै,

प्रसन्नैर्गम्भीरैः कतिपयपदैर्येनैर्न गदितम् ।

स जीयाद् दुस्तर्कः प्रतिमिररविः न्यायजलधिः,

15 जगज्जन्तुस्वान्तप्रवरकुँमुदेन्दुर्जिनपतिः ॥ छ ॥

इत्थं समस्तमतवादिकिन्द्दर्पमुमूल्यमलमानदृढप्रहारैः ।

स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः ॥ छ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।



एवमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयैः प्रमाणप्रवेशैः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

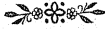
20 ग्रन्थप्रमाणं ११३० ॥ छ ॥

(१) आदिपदेन तुण-अरणिनिर्मथनादयो ग्राह्याः । (२) तुलना—“यत्नतः परीक्षितं कार्यं
 कारणं नातिवर्तते इति चेत् स्तुतम् प्रस्तुतम्”—अष्टश०, अष्टसह० ७० ७२ । प्रमेयरत्नमा० ३।१०१ ।
 लघी० ता० ५० ४९ । “अथ सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति न्यायाद्” —सन्मति० टी० ५०
 २६६ । (३) अदृष्टे तादात्म्यतदुत्पत्तौ यस्य तत् अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिस्तस्य अगृहीतस्वभावकार्यादिरूपस्य
 श्रुतज्ञानस्य इत्यर्थः । अत्र अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिशब्दः श्रुतस्य विशेषणत्वात् नपुंसकलिङ्गोऽपि भादौ
 इत्यादि सुत्रानुसारेण भादौ अजादौ सुपि उक्तपुंस्कमिगन्तं नप् (नपुंसकं) वा पुंवद् भवति इति पुल्लिङ्गे
 प्रयुक्तः, नपुंसकलिङ्गे तु नुमागमे सति 'अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिनः' इति प्रयोगः स्यात् इति भावः । (४)
 श्रुतस्य । (५) अस्मिन् ग्रन्थे । (६) प्रभाचन्द्रेण ग्रन्थकृता । (७) न्यायकुमुदचन्द्रः तत्कर्त्ता
 प्रभाचन्द्रश्च अनेन विशेषणेन सूचितः । (८) जिनः पतिर्यस्य ।

1 अध्यक्षत्वे-आ० । 2 भादौ वोक्त-व०, भादौ चोक्त-श्र० । 3 चतुर्थपरि-आ० । 4-यप्रमा
 -श्र० । 5-शः प्रथमः परिच्छेदः व० ।

द्वितीये नयप्रवेशे

पञ्चमः नयपरिच्छेदः ।



त्रैलोक्योदरवर्त्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयः,

दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्नोऽत्र पुण्योदयात् ।

स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सौऽनन्तवीर्योक्तितः,

भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसः तद्गोधसिद्धिप्रदः ॥ छ ॥

अथ प्रमाणं परीक्षयेदानीं नयपरीक्षार्थमुपक्रमते—

5

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥ ३० ॥

विवृतिः—द्रव्यपर्यायात्मकमुत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तु तत्त्वम्, तत्रैव

(१) अकलङ्कदेवसरणिः । (२) प्रभावान्नस्य । (३) उद्धृत्यम्—“तथा चाहाकलङ्कः—भेदा-
भेदा...यतोऽपेक्षानपे...”—आव० नि० मलय० पृ० ३७० B. । गुस्तत्त्ववि० पृ० १६ B. । “लक्ष्यन्ते
निश्चीयन्ते । के ? नयदुर्नयाः । नयाश्च दुर्नयाश्च नयाभासाश्च नयदुर्नयाः । काभ्याम् ? अपेक्षान-
पेक्षाभ्याम्, अपेक्षा प्रतिपक्षधर्माकाङ्क्षा अनपेक्षा ततोऽन्या सर्वैककान्तः ताभ्याम् । किंविशिष्टाः ?
ते ये भेदाभेदाभिसन्धयः भेदो विशेषः पर्यायः व्यतिरेकश्च, अभेदः सामान्यमेकत्वं सादृश्यञ्च, भेदा-
श्चाभेदश्च भेदाभेदो तयोः भेदाभेदयोरभिसन्धयोऽभिप्रायाः श्रुतज्ञानिनो विकल्पा इत्यर्थः । कस्मिन् ?
ज्ञेये प्रमेये जीवादी । किंविशिष्टे ? भेदाभेदात्मके, भेदाभेदावात्मानो स्वभावी यस्य तत्तथोक्तम्
तस्मिन् ।”—लघी० ता० पृ० ५० । (४) “निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा ।”
—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९० । (५) “तस्मा सत्त्वं वि णया मिच्छादिट्टी सपक्वपद्विद्धा । अणो-
णणिसिद्धा उण हवति सम्मतसम्भावा ।”—सन्तति० १।२१ । “निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु
तेऽर्जकृत् ।”—आत्मसौ० १०८ । “नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा लोकतोऽपि सिद्धाः”—सिद्धिबि०, टी०
पृ० ५३७ B. । “तथा चोक्तम्—अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षो दुर्णय-
स्तन्निराकृतिः ॥”—अष्टश० अष्टसह० पृ० २९० । “धर्मान्तरादानीपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदु-
र्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्त्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ।”—अष्ट-
श०, अष्टसह० पृ० २९० । “सदेव सत् स्यात्सविति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।”—अन्ययोगव्य०
श्लो० २८ । (६) तुलना—पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ३।१३ । न्यायकु० पृ० ४०१ टि० ६ ।
(७) तुलना—“उपमे वा विगए वा धुवे वा”—स्थानांग० स्था० १० । “सद्वत्त्वं वा”—व्या० प्र० हा० ८।
३०९, सत्यवद्धार । “दव्वं सल्लवखणियं उपादव्वयधुवत्तसंजुत्तं । गुणपञ्जयासयां वा जं तं भण्णति
सव्वण्हू ॥”—पञ्चा० गा० १० । “अपरिचितसहावित्पुपादव्वयधुवत्तसंजुत्तं । गुणवं च सपञ्जयं जं
तं दव्वं ति वुच्चति ॥”—प्रवचन० २।३ । “सद्ब्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत्”—तत्त्वार्थसू०

१ प्राप्ताऽत्र आ०, श्र० । २ एते मु० लघी० । ३ तेपक्षानपेक्षा—श्र० ।

कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । स द्रव्यार्थिकः पर्याया-

५। २९, ३० । “द्वयं पञ्जवविउयं दम्बविउता य पञ्जवा णत्थि । उप्पायद्विउभंगा हँदि दविय-
लक्खणं एयं ॥”-सम्मति० गा० १। १२ । “नीतादस्थितिभङ्गानामभावे स्यामन्तिप्रयम् ।”-मी०
श्लो० पु० ६१९ । “उत्पादस्थितिभङ्गानां स्वभावादनुबन्धिता । तदेतौनामसामर्थ्यादितस्तत्त्वं त्रया-
त्मकम् ॥”-सिद्धिचि० पु० १६७ ।

(१) तुलना-“नयाः प्रापकाः कारकाः साधका निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यञ्जका
इत्यनयान्तरम् । जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति
उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः ॥”-तत्त्वार्थाधि० भा० १। ३५ । “स्याद्वादप्रतिबन्धितार्थविशेष-
व्यञ्जको नयः ॥”-आप्तस्मी० का० १०६ । “वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य
याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः ॥”-सर्वार्थसि० १। ३३ । “ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयास्ते
द्रव्यपर्यायतः । . . . नयो ज्ञातुर्भूतं मतः ॥”-सिद्धिचि० टी० पु० ५१७ A, ५१८ A. । “प्रमाणप्रकाशि-
तार्थविशेषप्ररूपका नयाः ॥”-राजवा० १। ३३ । “एणेण वत्थुणोऽणेषधम्मणो जमवधारणेणव । नयणं धम्मणेण
तओ होई नओ सत्ताहा सो य ॥”-विशेषा० गा० २६७६ । “णयदि ति णओ भणितो बहुहि गुणपज्जए-
हि जं दम्बं । परिणामखेतकालन्तरेसु अविणट्ठसम्भावं ॥”-धवला टी० पु० ११ । “प्रमाणपरिगृही-
तार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः ॥”-धवला टी० पु० ८३ । “सारसंभेद्युक्तं पूज्यपादैः-अनन्तपर्यायात्तत्त्व-
कस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये ज्ञात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः । प्रभाचन्द्रभट्टारकैरन्य-
भाणि-प्रमाण यथाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधियः स नय इति ॥”-धवला
टी० वेदान्तखं० । “नयन्ते अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनोऽनेकात्मकस्य अन्यतमेका-
त्मैकान्तपरिग्रहात्मका नया इति ॥”-नयचक्रवृ० पु० ५२६ A. । “यथोक्तम्-द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यत-
मेकात्मावधारणम् एकदेशनयनाश्रयाः ॥”-नयचक्रवृ० पु० ६ B. । “नयन्तीति नयाः अनेकधर्मात्मकं
वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदमनित्यमेवेति वा निरूपयन्ति ॥”-तत्त्वार्थहिरि० १। ६ । तत्त्वार्थसिद्धि० १। ६ ।
“त्वार्थैकदेशनिर्णीतलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥” (पु० ११८) नीयते गम्यते येन श्रुतार्थो नयो हि सः ॥
-तत्त्वार्थश्लो० पु० २६८ । नयविव० श्लो० ४ । “अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वैवश्राही शत्रुतुरभिप्रायो नयः ॥”
-प्रमेयक० पु० ६७६ । “जं णाणीण वियय्यं सुयमेयं वत्थुयंससंगहणं । तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण
तेहि णाणेहिं ॥”-नयचक्र गा० २ । “श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः । नानास्वभावेभ्यो व्यावृ-
त्त्यैकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति, प्राप्नोतीति वा नयः ॥”-आलापप० । “तद्द्वारायातः पुनरेकधर्मनिष्ठा-
र्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारतिरस्कारपरिहाराद्वारेण वर्तमानो नयः ॥”-न्यायावता० टी०
पु० ८२ । “वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणं (ण) व्यञ्जितात्मनः । एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा
स्मृतः ॥”-तत्त्वार्थशास्त्र पु० १०६ । “नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः तदितरांशोदा-
सीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥”-प्रमाणनय० ७। १ । स्या० सं० पु० ३३० । “प्रमाणपरि-
च्छिन्नस्यानन्तधर्ममत्तमकस्य वस्तुनः एकदेशप्राप्तिः तदितरांशप्रतिक्षेपिणः अध्यवसायविशेषो नयः ॥”
-जैनतर्कभा० पु० २१ । “प्रकृतवस्त्वैवश्राही तदितरांशप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः ॥”
-नयवहस्य पु० ७९ । नयप्रवीण पु० ९७ B. । मलयगिर्याचार्यमतेन सर्वेऽपि नयाः मिथ्या एव;
तथाहि-“अनेकधर्मात्मकं वस्त्ववधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते
प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः ॥” इह हि यो नयो नयान्तरसाधिततया स्वास-
दलाच्छिन्नं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवा-
दान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रेति स नयः वस्त्वैकदेश-
परिग्राहकत्वात् ॥”-आश्र० नि० मलय० पु० ३६९ A. (२) “तच्च सच्चतुर्विधम्-तद्यथा द्रव्यास्तिकं
मातृकापदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकम् पर्यायास्तिकमिति ॥”-तत्त्वार्थाधि० भा० ५। ३३ । “इत्थं द्रव्या-

र्थिकश्च, द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम्, तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः
द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः ।

भेदो विशेषः, अभेदः सामान्यम्, तौ आत्मानौ यस्य तस्मिन् तदात्मके
कथञ्चित्तत्त्वभावे वस्तुनि, न नैयायिकादिपरिकल्पिते, तस्य प्राज्ञैवा-
कारिकान्याख्यानम्—
पास्तत्वात् । कथम्भूते तस्मिन्नित्याह—**ज्ञेये** प्रमाणपरिच्छेदे । एतच्च 5
विशेषणभूमि साधनं प्रत्येयम् । ततः 'सर्वं वस्तु भेदाभेदात्मकं ज्ञेयत्वात्' इति गम्यते,
यथा 'सदनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति । नचायमनैकान्तिको हेतुर्विरुद्धो वा; सर्वथा
भेदे अभेदे वा प्रमाणपरिच्छेद्यत्वस्य विषयपरिच्छेदे प्रतिक्षिप्तत्वात् । तत्र **भेदाभेदा-**
भिसन्धयः सामान्यविशेषविषयाः पुरुषाभिप्रायाः **ये ते लक्ष्यन्ते** निश्चयन्ते
नयाः दुर्नयाश्च । काभ्यामित्याह—**अपेक्षाऽनपेक्षाभ्याम्,** अपेक्षया नयाः 10
इतरया दुर्नया इति ।

स्तिकं मातृकापदास्तिकं च द्रव्यनयः । उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकं च पर्यायनयः । "तत्त्वार्थहरि० ५ ।
३१ । तत्त्वार्थसिद्धं ५।३१ । "द्ववृद्धिञो य पञ्जवणञो य सेसा वियप्पासि ।"—सम्मति० १।३ ।
"नयो द्विविधः द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च ।"—सर्वार्थसि० १।६ । "द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः
पर्यायास्तिक इति । अथवा द्रव्याधिकः पर्यायाधिकः ।"—राजवा० १३३ । "तत्र मूलनयो द्रव्यपर्याया-
र्थगोचरौ । मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वे सम्यक्त्वं तद्विपर्यये ॥"—सिद्धिबि० टी० पृ० ५२१ A. । "द्ववृद्धि-
यस्त दव्वं वत्थुं पञ्जवनयस्स पज्जाञो ।"—विशेषा० गा० ४३३ । "तिषां वा शेषशासनाराणां—द्रव्या-
र्थपर्यायार्थनयो द्वौ समासतो मूलभेदौ तत्प्रभेदा संग्राहादयः ।"—नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A. । धवला टी०
पृ० ८३ । प्रमाणनय० ७ । ५ ।

(१) "पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः ।"—सर्वार्थसि० १।६ । "परि भेदमेति
गच्छतीति पर्यायः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः ।"—धवलाटी० पृ० ८४ । (२)
तुलना—"अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् । किं गुणस्तत्त्वम् ?
तद्भावस्तत्त्वम् तद्यथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति आमलकं
वदरमित्येव भवति । अन्यर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्दावो द्रव्यमिति ।"—पात० महाभा० ५।१।११ ।
"दवियदि गच्छदिताई ताई सम्भावपज्जयाई जं । दवियं तं भण्णते अण्णभूदं तु सत्तावो ॥"—पञ्चकास्तिक०
गा० ९ । "यथास्वं पर्यायिद्रव्यन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि ।"—सर्वार्थसि० ५।२ । "अद्रवद् द्रवति द्रोष्य-
त्येकानेकं स्वपर्ययम् ।"—न्यायवि० का० १।१४ । "दविण् दुयए दोरवयवो विगारो गुणान् संदावो । दव्वं
भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोगं ॥"—विशेषा० गा० २८ । "द्रवति द्रोष्यति दुद्रवति (अदुद्रवत्) दुः
द्रोषिकारोऽवयवो वा द्रव्यम् ।"—नयचक्रवृ० पृ० ९९ B. । "द्रोषिकारो द्रव्यम्, दोरवयवो वा द्रव्यम्,
द्रव्यं च भव्यं भवतीति भव्यम् द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रव्यते वा, द्रवणात् गुणानां गुणसन्दावो द्रव्यम् ।"
—नयचक्रवृ० पृ० ४४१ B. । "द्रोष्यत्यदुद्रवतास्तान् पर्यायमिति द्रव्यम् ।"—धवलाटी० पृ० ८३ । "द्रवति
गच्छति तांस्तान् पर्यायान् द्रव्यते गम्यते वा तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम् ।"—जयध० अ० पृ० २६ ।
आलाप० । (३) "द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्याधिकः ।"—सर्वार्थसि० १।६ । "पञ्जवणिस्सामण-
वयणं दव्वद्वियस्स अत्थिति । अवसेसो वयणविही पञ्जवभयणा सपडिवक्खो ।"—सम्मति० गा० १।७ ।
धवलाटी० पृ० ८३ । "द्रव्येणार्थः द्रव्यार्थः, द्रव्यमर्थो यस्येति वा, अथवा द्रव्याधिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य
सोऽयं द्रव्यार्थः ।"—नयचक्रवृ० पृ० ४ B. । (४) द्वितीये विषयपरिच्छेदे ।

1 अद्रवत् ज० वि० । 2-द्वौ सर्व-अ० । 3 ते निदची-व० । 4-अच आभ्यावि-अ० ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘द्रव्य’ इत्यादि । अत्र वस्तुतत्त्वं धर्मि द्रव्यत्वादिविशेष-
विशिष्टमिति साध्यम् । तत्त्वग्रहणं किमर्थमिति चेत् ? आश्रयासिद्धि-
विवृतिविवरणम्—
निषेधार्थम् ; तथाहि—न जीवादि भ्रान्तं नापि शून्यं कल्पितं वा किन्तु
तत्त्वं परमार्थसत् । प्रसाधितञ्च जीवादिवस्तुनः परमार्थसत्त्वं प्रागेव इत्यलमतिप्रस-
5 ज्ञेन । अस्त्वेवम् ; तथापि एकान्तरूपं तद् भविष्यतीत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । वक्ष्यमाण-
लक्षणा द्रव्यपर्याया आत्मानो यस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतदित्याह—उत्पादव्यय-
ध्रौव्ययुक्तम् । उत्पादाद्यात्मकं यतः ततस्तथाविधं तत् । एवंविधमपि कुत इत्याह—
‘सत्’ इति । सद् अर्थक्रियाकारि यतः । तत्कारित्वं कथं तस्येत्याह—‘प्रमेयम्’ इति ।
प्रमेयं यतो जीवादिवस्तु ततोऽर्थक्रियाकारि । नहि सांख्यपरिकल्पितस्य आत्मनः कश्चि-
10 दर्शक्रियामकुर्वतः प्रमेयत्वं घटते इत्युक्तं प्रागेव । नन्वेकस्मिन् वस्तुतत्त्वे प्रतीयमाने
प्रतिभासभेदासंभवात् कथं प्रतिपन्नमिप्रायाणां नयरूपतोपपद्यते इत्याशङ्क्याह—‘तत्रैव’
इत्यादि । तत्रैव अनन्तरोक्तस्वरूपे चन्द्रादिवस्तुनि कथञ्चित् सत्त्वभावल्यादिप्रकारेण
यत् प्रमाणं यच्च कथञ्चिद् द्वित्वादिप्रकारेण तदाभासः तयोर्भेदात् भेदप्रतीतिः ।
एतच्च प्रागेव समर्थितत्वात् दृष्टान्ततयोपात्तम् । तस्मादेकस्मिन्नपि वस्तुनि प्रतिपत्ति-
15 भेदसंभवात् युक्तो विकलादेशविशेषमाश्रित्य ज्ञातुरभिप्रायो नयः । तस्य भेदमाह—
‘स’ इत्यादिना । स नयो द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च । तत्र प्रथमं व्याचष्टे—
‘द्रव्य’ इति । ‘द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्’ इति वा द्रव्यम्, तदेवार्थः सोऽस्ति
यस्य स द्रव्यार्थिकः । कुतः स इत्यभूत इत्याह—सोऽभेदाश्रयो यतः ।
ननु सकलभावानां देशकालाकारैरत्यन्तभेदान्न अभेदो नाम, अतः कथसौ अभे-
दाश्रयः स्यात् ? इत्यारेकापनोदार्थमाह—

20 जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत् ।
एकं यथा स्वनिर्भासिज्ञानम् जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

(१) विषयपरिच्छेदे । (२) परमार्थसत् । (३) पृ० १९१ । (४) “अस्ति विद्यते प्रतीयते ।
तत्किम् ? सत् सत्तासामान्यम् । किंविशिष्टम् ? यदित्यादि, यस्मिन्नन्तर्लीना अन्तर्भूताः । के ?
जीवाजीवप्रभेदाः, जीवश्चेतनालक्षणः अजीवः पुनस्तद्विपर्ययः पुद्गलादिः प्रभेदाश्च त्रसस्यावराण्यवान्त-
रविशेषाः, जीवाजीवौ च प्रभेदाश्च ते तथोक्ताः । न खलु द्रव्यं पर्यायो वा सत्त्वव्यतिरिक्तमस्तीति
किञ्चिद्व्यवहर्तुं शक्यं स्ववचनविरोधादतिप्रसङ्गाच्च । नन्वेकस्य कथमनेकजीवादिभेदव्यापकत्वमिति
चेदत्राह एकमित्यादि । यथा एकं ज्ञानं चित्रपटादिविषयं स्वनिर्भासि स्वे आत्मीया ज्ञानात्मानो निर्भासा
नीलाद्याकारा विद्यन्ते अस्म्येति स्वनिर्भासि । यथा चैको जीव आत्मा स्वपर्ययैः, स्वे विद्रूपाः पर्ययाः
रामादयः परिणामाः तैराक्रान्तः प्रतीतिपदारूढो न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनेकभेदाक्रान्तं न
विरुध्यते इत्यर्थः ।” —लघी० ता० पृ० ५२ ।

1 आत्मा यस्य आ०, व० । 2 तत्र श्र० । 3-ष्टे द्रवति आ०, व० । 4-भेदाश्रितो

यतः आ० ।

विवृतिः—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्याजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः तथैव सत्त्वस्य भेदाः जीवाजीवादयः । तदेवम्—

जीवश्च अजीवश्च तयोः प्रभेदा अवान्तरविशेषा यदन्तर्लीना यस्य अन्तः

प्रविष्टाः तदस्ति विद्यते । किं तदित्याह—‘सत्’ इति । सत्तासामान्यम् । केन प्रकारेण ‘एकम्’ इत्यादि । स्वे आत्मीया न ज्ञानान्त- 5

रगता निर्भासा नीलाद्याकाराः ते यस्य सन्ति तद् स्वनिर्भासिज्ञानम् एकं ‘चित्तैकज्ञानम्’ इत्यर्थः । यथा येन प्रतिभासादिप्रकारेण अस्ति तथा प्रकृतमपि, सौगतापेक्षया इदमुक्तम् । इतरापेक्षया तु ‘जीवः स्वपर्ययैः’ इत्याह । जीवग्रहणमुपलक्षणम् सकलाजीवतत्त्वस्य, तेन जीवादिः स्वपर्ययैर्युक्तो यथा एकोऽस्ति तथा सदेकमिति सिद्धम् । 10

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘यथैव’ इत्यादि । यथैव येनैव अर्थक्यविवेचनाऽभिन्नयोगक्षेमप्रकारेण ज्ञानस्य आत्मनः स्वरूपस्य ये निर्भासभेदा विवृतिविवरणम्—

ग्राह्यादिनीलाद्याकाराः ते नैकत्वं बाधन्ते, जीवस्य आत्मनः अजीवस्य वा घटादेः कस्यचित् सकलजनप्रसिद्धस्य न नैयायिकादिकल्पितस्य तस्य पूर्वं निरस्तत्वात् । स्वगुणपर्याया ‘यथैव नैकत्वं बाधन्ते’ इति सम्बन्धः । तथैव तेनैव प्रकारेण सत्त्वस्य सत्तासामान्यस्य भेदाः । के इत्याह—जीवाजीवादयः, नैकत्वं बाधन्ते । तस्मिन् सति किंजातमित्याह—‘तदेवम्’ इति । तस्मिन् सत्त्वे एवम् उक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति— 15

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः ।

भेदानां नासदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥ 20

(१) अवयवविवेचनं हि एकचित्रज्ञानस्य नीलाद्याकाराणां ज्ञानान्तरे नेतुमशक्यत्वम् । (२) ‘अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः । लब्धधर्मानुवृत्तिः क्षेमः ।’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १। २४ । ‘योग अप्राप्तवियस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः, क्षेमः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणं परिपालनम् ।’—हेतुबि० टी० पृ० ५५ । (३) ‘अभिप्रैति विषयीकरोति । कः ? संग्रहः संग्रहणः । किम् ? शुद्धं द्रव्यं सत्तासामान्यं तस्याव्योपाधिरहितत्वेन शुद्धिसंभवात्, तद्विषयो हि नयः संग्रहः । सजात्याविरोधेन पर्यायानाकांक्षभेदानैककथ्यमुपनीय समस्तग्रहणं संग्रह इति निर्वचनात् । कुतः ? तदभेदतः, तस्य सत्तासामान्यलक्षणस्य शुद्धद्रव्यस्य अभेदात् सर्वेषु जीवाजीवेषु अव्यतिरेकात् । ननु प्रागभावादेः सत्त्वव्यतिरेकात् कथं तदभेद इत्याशङ्क्याह—भेदानां जीवादीनां सद्विशेषाणां मध्ये एकोऽपि भेदो जीवस्तत्पर्यायोऽन्यो वाऽसदात्मा असत्त्वरूपो नास्ति न विद्यते । विरोधतः—यद्यसदात्मा, कथमस्ति ? यद्यस्ति, कथमसदात्मेति ? स्ववचनविरोधादस्य असिद्धेः । ततः प्रागभावादिरन्यो वा कथञ्चित्सदात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः प्रतीतिबलात् ।’—लघु० ता० पृ० ५२ । (४) तुलना—‘संग्रह्य पिडिअत्थं संग्रहवयणं समासजो विंति ।’—अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आ० नि० पा० ७५६ । विशेषा० पा० २६९९ । ‘अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः । आह च यत्संग्रहीतवचनं सामान्ये देशतोऽप्य च विशेषे । तत्संग्रहणनियतं ज्ञानं विशालयविश्रितः ॥’—तत्त्वार्था-

1 जीवावयवः ज० वि० 2-ज्ञानमित्यर्थः अ० 3 आस्ते ब०, अ० 4-या जीवः आ० 5 अनेन अ० ।

विवृतिः—सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहः । सताञ्च स्वभावानां भावैकत्वाऽ-
बाधनात् । नहि कश्चिद् असदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं
सद्रूपं द्रव्यमनवबुद्ध्य भेदं गृह्णाति नाम ।

शुद्धं द्रव्यं सत्तालक्षणम् अभिप्रेति विषयीकरोति न सतोऽपि आत्मादि-
विशेषात् । कोऽसौ इत्याह—संग्रहः संग्रहनयः । कुत एतदित्याह—
कारिकाव्याख्यानम्—

तदभेदतः तस्य सत्त्वस्य सर्वविशेषेषु अविशेषतः । एतदपि कुतः
इत्याह—‘भेदानाम्’ इत्यादि । भेदानां जीवादिविशेषाणां मध्ये असदात्मा
असत्स्वभावः एकोऽपि न केवलम् अनेको नास्ति भेदो विशेषः, किन्तु सदात्मैव
‘अस्ति’ इति सम्बन्धः । कुतो नास्तीत्याह—विरोधतः । तथाहि—‘यदि असन्
कैयमस्ति, अस्ति चेत् कथमसन्’ इति । एतेन अभावचतुष्टयं चर्चितम् ; तथाहि—
यदि तत् अस्तीतिप्रत्ययवेद्यम् कथसदात्मकम् ? स्वरूपेण तस्यापि सदात्मकत्वात् ।
अथाऽसदात्मकम् ; न तर्हि तैत्त्ययवेद्यमिति कथं तदस्त्वित्सिद्धिः ?

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘सर्वम्’ इत्यादि । सर्वं चेतनाचेतनस्वभावं वस्तु एकम्
अभिन्नं सदविशेषात् सत्ताऽविशेषमाश्रित्य इति एवं संग्रहः । सदवि-
वृत्तिविवरणम्—
शेषेऽपि सत्त्वात् तद्वत् भेदप्रसिद्धेः सर्वमेकम् इत्याद्युक्तमित्याशङ्क-
क्याह—‘सताञ्च’ इत्यादि । सताञ्च विद्यमानानां पुनः स्वभावानां भावधर्माणाम्
भावैकत्वाबाधनात् सत्त्वैकत्वानिराकरणात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह—‘नहि’
इत्यादि । हिषेस्मात् न असदात्मा असत्तास्वभावः कश्चित् द्रव्यादीनामन्यतमो
भेदः विशेषः अस्ति । कुत इत्याह—विप्रतिषेधात्, विरोधात् । इतद्वच असदात्मा भेदो
नास्तीति दशयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । किञ्चित् प्रत्यक्षमनुमानं वा ज्ञानं सद्रूपं सत्त्व-
स्वरूपम् अनवबुद्धय अगृहीत्वा भेदं विशेषं द्रव्यं द्रव्यरूपम्, द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं गुणादेः,
तत्किमित्याह—‘नहि गृह्णाति नाम’ इति । ततो निराकृतमेतत् ‘न द्रव्यादि स्वतः सत्

धि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्धं ० १।३५ । “स्वजात्यविरोधेनैकध्वमुपनीय पर्यायाना-
नान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः ।” —सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ । “निधिव्यतिरि-
क्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिवान्नमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात् संग्रहः । द्रव्यव्यतिरिक्त-
पर्यायानुपलम्भात् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः ।” —ध्वलाटी० पृ० ८४ । “शुद्धं द्रव्यमभिप्रेति
सम्प्राप्तं संग्रहः परः । स चाशेषविशेषेषु सद्बोदासीन्यभाविह ।” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७० । नयविब० श्लो० ६७ ।
प्रमेयक० पृ० ६७७ । “शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः” —सम्प्राप्ति० टी० पृ० २०२, ३११ । नयचक्र
गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । स्या० सं० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) तुलना—‘यथा सर्वमेकं सदविशेषात् ।’ —तत्त्वार्थभा० १।३५ । “अहम् महासामन्नं संग्रह्यं
पिडित्पथमियरं ति । सत्त्वविसेसानन्नं सामन्नं सत्त्वहा भणियं ।” —विशेषा० गा० २७०१ । “विष्वमेकं
सदविशेषात् इति यथा ।” —प्रमाणनय० ७।१६ । (२) अभावचतुष्टयस्यापि । (३) अस्तीतिप्रत्य-
यग्राहम् । (४) अभावचतुष्टयसद्भावसिद्धिः ।

१ तस्य सर्वं—आ० । २ कथमसास्ति चेत् आ०, अ० । ३ द्रव्यस्वरूपम् व०, अ० ।

नाप्यसत् सत्तासम्बन्धात्सत्' [] इति; सद्रूपरहितस्य हि द्रव्यादेः तत्त्व-
भावशून्यस्य च सद्रूपस्य ग्रहणे सति एतत् स्यात्, न च तद्ग्रहणमस्ति, सर्वदा उभयोः
उभयात्मनो वेदनादिति भावः । पूर्वैषणं परपक्षे विरोधोद्भावनम्, अनेन तु प्रतीतितो
भेदस्य सदात्मकत्वसाधनमिति विभागः ।

अत्राह सौगतः—'यदुक्तम्—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदाः नैकत्वं बाधन्ते' 5
इति; तदप्युक्तम्; निरंशैकज्ञानोपगमात्, सर्वोऽप्ययं विरुद्धधर्माध्यासी स्तम्भादिप्रति-
भासो विभ्रमो मरीचिकाचक्रे जलवदिति कथं तन्निदर्शनेन अभिमततत्त्वसिद्धिः स्यात् ?
पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह—निस्तरङ्गं पुरुषमात्रं तत्त्वम्, जीवाजीविप्रभेदः पुनः उपप्लवः,
ततो 'जीवस्य अजीवस्य वा' इत्याद्यप्युक्तम्; इत्याशङ्क्याह—

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।

10

द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात् सामान्यलक्षणात् ॥३३॥

विवृतिः—स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं
स्वलक्षणं विधातुं, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ।

प्रत्यक्षमुक्तलक्षणम्, कथम्भूतं तदित्याह—भेदाज्ञानम्, भेदस्य निरंशक्षणीक-

विभ्रमविविक्तविशेषस्य अज्ञानम् अग्रहणम् येन यस्मिन् वा तत्- 15
कारकाव्याख्यानम्—

थोक्तम् । क्वेत्याह—'बहिरन्तश्च' इति, बहिर्घटादौ अन्तः ज्ञान-

पुरुषस्वरूपे । नहि तत्तत्र निरंशक्षणीकादिरूपं परपरिकल्पितं विशेषं जातु प्रतिपद्यते

विभ्रमाभावानुपङ्गात् । यदि तत्तत्र भेदाज्ञानम्, केन तर्हि प्रकारेण प्रत्यक्षमित्याह—

'सदात्मना' इति । सद्रूपमुपलक्षणं तेन 'सत्त्वेतननीलाद्यात्मना' इति गृह्यते ।

तत्किं कुर्यादित्याह—'द्रव्यम्' इत्यादि । द्रव्यमनन्तरोक्तं स्वलक्षणं वस्तु शंसेत् 20

स्तुयात् न परपरिकल्पितं परमाण्वादि । एवमपि पुरुषादिद्रव्यं स्वलक्षणं शंसेदित्याह—

(१) द्रव्यादिस्वभावरहितस्य । (२) सत्त्व-द्रव्ययोः । (३) सत्त्वस्य द्रव्यादिविशेषा-
पेक्षतया, द्रव्यस्य च सत्त्वविशेषापेक्षतया । (४) 'नहि असदात्मा' इत्यादि विवृतिवाक्येन । (५)
'नहि किञ्चिज्ज्ञानम्' इत्याद्यंशेन । (६) चित्रज्ञानदृष्टान्तेन । (७) 'शंसेत् स्तुयात्' कथयेदित्यर्थः ।
किम् ? प्रत्यक्षं विशदयामिन्द्रियानिन्द्रियज्ञानम् । किंविशिष्टम् ? भेदाज्ञानम्, भेदान् परपरिकल्पितान्
निरंशक्षणान् जानाति न गृह्णातीति भेदाज्ञानम् । किं शंसेत् ? द्रव्यं शुद्धमशुद्धं वा स्वलक्षणं वस्तुभूतं
न कल्पितमित्यर्थः । क्व ? बहिरच्चेतने घटादौ, अन्तश्चेतने । केन ? सदात्मना सद्रूपेण, न खलु सद्रूपेण
भेदः पदार्थेषु प्रत्यक्षतो ज्ञायते येन प्रत्यक्षं द्रव्यं न शंसेत् । कस्मात् ? भेदात् भेदमाश्रित्य । किं
विशिष्टात् ? सामान्यलक्षणात्, सामान्यमन्वयो लक्षणं लिङ्गं यस्यासौ सामान्यलक्षणस्तस्मात् । न हि
भेदनिरपेक्षमभेदं प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं साधयति तस्यानुपलब्धेः । ततः प्रत्यक्षमपि द्रव्यसिद्धिनिवन्ध-
नमेवेति कुतः संग्रहणमो मिथ्या स्यात् ?"—लघी० ता० ७० ५३ । (८) प्रत्यक्षम् (९) बहिरन्तः ।
(१०) प्रत्यक्षम् । (११) बहिरन्तश्च ।

१-जीवभेदप्रभेदः श्र० । २-विभ्रमविशेष-श्र० । ३ ज्ञाने पुरु- व० । ४-त् ॥ छ ॥ यदि
श्र० । ५-ह द्रव्यमन-आ०, श्र० । ६-ह भेदात् विशेष-आ० ।

‘भेदात्’ इत्यादि । भेदात् विशेषात् सामान्यलक्षणं स्वरूपं यस्य, सामान्येन वा लक्ष्यते यः स तथोक्तः तस्मात् तमाश्रित्य इत्यर्थः । यथा च क्षणिकनिरंशपरमाणा-
विरूपं पुरुषाद्वैतरूपं वा तत्त्वं न व्यवतिष्ठते तथा प्रागेव प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् ।

‘भेदान् सामान्यलक्षणान्’ इति वा पाठः । तत्रैतौ तौ प्रत्यक्षं शंसेत् इत्यर्थः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । भ्रान्तं विच्छ्रुतं ज्ञानं सर्वं निरवशेषं
लौकिकं शास्त्रीयञ्च, यदि वा सौगतकल्पितं पुरुषाद्यद्वैतवादिकल्पि-
विवृतिविरणम्—
तञ्च । कथम्भूतं प्रत्यक्षं विशदमभ्रान्तम् । केन रूपेणेत्याह—

सद्रूपेण सदादिस्वभावेन । कस्मिन् सत्यपीत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वञ्च अर्थश्च
तयोर्भेदो विवेकः अर्थस्य परमाणुलक्षणस्य परस्परम् । स्वज्ञानस्य विस्रवाकारा[द]

भेदो नावबुध्यते सर्वं हि ज्ञानं नात्मानं विसृतं जानाति । स्वस्य विच्छ्रुताकारात् तस्य
अनवबोधेऽपि । तत्किं कुर्यादित्याह—द्रव्यं स्वलक्षणं विधीतम् । ननु स्यादेतत् यदि
तद्वेदानवबोधः स्यात् यावता स्वार्थयोः सद्रूपेणैव भेदरूपेणाप्यवबोधोऽस्तीत्याशङ्क-
क्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्

‘तैर्तैर्तैर्कुर्यात्’ इति सम्बन्धः । तथाहि—यथा तैत् प्रत्यक्षं सद्रूपेण तथा यदि स्वार्थभेद-
रूपेणापि; तर्हि स्थूलाकारौ भ्रान्तिः कुतः ? आद्यादिचेतनेतरादिभ्रान्तिर्वा ? नहि यथा-
वद्रूपेण वस्तुनः प्रतिभासे सा युक्ता ; कदाचिदपि तदनुपरतिप्रसङ्गात् । तैथा तद्वेदानव-
बोधवत् सद्रूपेणापि यदि तद्वैप्रत्यक्षम् ; तदा कस्यचिदपि प्रतिभासाभावात् कुतो भ्रान्तिः ?
नैतु प्रतिक्षेपविलक्षणज्ञानादिक्षेपव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासंभवात् कथं

‘द्रव्यं शंसेत्’ इत्युक्तं शोभेत इत्याशङ्क्याह—

सदसस्त्वार्थनिर्भासैः सहकमविवर्त्तिभिः ।

हृद्याहृद्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥ ३४ ॥

(१) पू० ३७५, १५० । (२) बहिरन्तः । (३) भेदान् । (४) ‘स्वज्ञानस्य’ इत्यादि ।
एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः ब०, श्र० प्रत्योः वृत्तितायां पू० प्रती च नास्ति । अथानुरोधात् ‘स्वस्य विल्लु-
ताकारात्’ इत्यंशस्य टिप्पण्यात्मक एव भाति । (५) स्वार्थभेदानवबोधः । (६) प्रत्यक्षम् । (७)
स्वलक्षणं द्रव्यं शंसेत् । (८) द्रव्यम् । (९) स्थूलाकारा प्रतीतिः कथं भ्रान्तिरूपा स्यात् ? (१०)
भ्रान्तिः । (११) यथावद्वस्तुप्रतिभास एव हि भ्रान्तिनिवृत्तिकारणम् । यदि च यथावद्वस्तुग्रहणेऽपि
भ्रान्तिः न निवर्तते तदा न कदापि तस्याः निवृत्तिः संभाव्येति भावः । (१२) स्वार्थभेदाज्ञानवत् ।
(१३) द्रव्यम् । (१४) कस्यचिदपि पुरुषस्य सामान्यतो विशेषतो वा प्रतिभासाभावात् न भ्रान्तिः स्यात्,
भ्रान्तेः सामान्यप्रतिभासनिबन्धनत्वादि भावः । (१५) सौगतः । (१६) ‘अयमर्थः—यथा सद्भिः
ज्ञानगताकारैः असद्विपर्ययाकारैः नीलादिभिः सहैकं ज्ञानं विभाति तव न विरुध्यते, तथा अर्थव्यञ्जन-
पर्यायैः सहकमविवर्त्तिभिः व्यञ्जनपर्यायैः सहैकं द्रव्यमपि विभाति न विरुध्यते इति । दृश्याः स्थूला
व्यञ्जनपर्यायाः अदृश्या सुक्ष्माः केवललग्नगम्या अर्थपर्यायाः ।’—लघी० ता० पू० ५५ ।

१ परमाण्वीति रूपं ब० । २ भेदात् ब० । ३ च श्र० । ४ विल्लवं ज्ञा-आ० । ५-ल्लिप्तं
कथं-श्र० । ६ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति ब०, श्र० । ६ द्रव्यस्वल-आ० । ७ विद्यादेतद्यदि आ०, श्र० ।
८ तत्कु-ब० । ९ यथा आ० । १०-क्षणात् आ० । ११-विलक्षण-श्र० ।

विवृतिः—यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथा एकं द्रव्यं सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्चानादिनिधनमव-
गन्तव्यम् । बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्क्रम-
व्यवस्थायाम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् ।

सन्तश्च असन्तश्च ते च ते स्वस्य अर्थनिर्भासाश्च नीलस्थूलादिप्रति- 5
भासास्तैः, कथम्भूतैः ? स्वयम् आत्मना अभेदकैः, यथा एकं ज्ञानं
कारिकान्याख्यातम्—
विशेषेण देशकालनरान्तराबाधितरूपेण भाति भासते । कदा ?
सह एकस्मिन् काले तथा क्रमविवर्तिभिः तैः एकं विभाति । कथम्भूतैः
इत्याह—दृश्यादृश्यैः । वर्तमानकालापेक्षया दृश्यैः अतीतकालापेक्षया चाऽदृश्यैः ।
यदि वा सद्भिः स्वनिर्भासैः^१ सदादिभिः असद्भिः अर्थनिर्भासैः एकं यथा, तथा क्रमवि- 10
वर्तिभिः सुखादिभिः एकं विभातीति ग्राह्यम् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—‘यथैकम्’ इत्यादि । यथा येन प्रकारेण एकं क्षणिकं
ज्ञानम्, उपलक्षणमेतत् तेन पुरुषस्यापि ग्रहणम् । सद्भिः विद्यमानैः
विवृतिव्याख्यानम्—
असद्भिर्वाऽविद्यमानैर्वा । कैः ? प्रतिभासभेदैः । कथम्भूतैः ?
स्वयमभेदकैः इष्टम् अङ्गीकृतम्, तथा एकं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् । कैः ? भेदैः 15
विशेषैः । कथम्भूतैः ? सहक्रमभाविभिः सहभाविभिः गुणैः क्रमभाविभिः पर्यायैः ।
पुनरपि किंविशिष्टैः ? दृश्यैरदृश्यैश्च । अनेन एकत्वे प्रमाणान्तरवृत्तिं दर्शयति ।
कथम्भूतं तद्रव्यमित्याह—अनादिनिधनम् । प्रसाधितञ्च अनादिनिधनत्वं प्रागेवास्त्य
इत्यलं पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । ननु ज्ञानमपि तैरेकं नेष्यते “किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां
न स्यात्तत्स्यां मतावैपि” [प्रमाणवा० २।२१०] इत्यभिधानात् । अत्राह—‘बहिरिव’ 20
इत्यादि । यथा बहिः परस्परासंस्पृष्टनिरंशक्षणिकपरमाणुसञ्चयः तथा तद्वाहिणा-
मन्येषां वा ज्ञानपरमाणूनां सञ्चये अङ्गीक्रियमाणैः, ‘पुनः’ इति पक्षान्तरसूचकः ।

(१) योगाचारैः । (२) द्रष्टव्यम्—न्यायकुमु० पृ० १३० टि० ६ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४९ ।
व्याख्या—“ननु यदि सा चित्रता बुद्धौ एकस्यां स्यात्, तया च चित्रमेकं द्रव्यं व्यवस्थाप्येत तदा किं
दूषणं स्यात् ? आह—न स्यात्तस्यां मतावपि । न केवलं द्रव्यं तस्यां मतावपि एकस्यां न स्याच्चित्रता
आकारनानास्वलक्षणत्वाद् भेदस्य, नानात्वेऽपि चित्रता कथमनेकपुरुषप्रतीतिवत् । कथन्तर्हि प्रतीतिरि-
त्याह—यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् । यदीदम् अताद्व्येऽपि ताद्व्यप्रथनम् अर्थांन् भासमानानां
नीलादीनां स्वयम् अपरप्रेरणया रोचते, तत्र तथाप्रतिभासे के वयमसहमाना अपि निषेद्धम्, अवस्तु च
प्रतिभासे चेति व्यक्तमालोक्यम् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२१० । (३) सौगतैः । “तस्मान्नायैषु
न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः । एकत्र प्रतिषिद्धत्वात् बह्वृष्वपि न सम्भवः । तस्मान्नायैषु वाह्येषु
न ज्ञाने तद्ग्राहके स्थूलाभासः स्थूल आकारः सङ्गच्छते । तदात्मनः स्थूलस्वरूपस्यैकत्रावयवे परमाणी
वा प्रतिषिद्धत्वात् । बह्वृष्वपि तेषु संभवो नास्ति मिलिता अपि हि त एव । ते च प्रत्येकं स्थौल्यविकला

१ भाति प्रतिभासते व०, श्र० । २ वावु-व० । ३-सैः एक-श्र० । ४ क्षणिकं क्षणिकं
ज्ञानम् आ० । ५ एकत्वप्रमा-श्र० । ६ पुनस्तत्प्रतिपादन-श्र० ।

अन्योन्यं परस्परम् अनात्मकत्वम् अस्वरूपत्वं तस्मिन् सति, सर्वथा सर्वेण साक्षा-
त्करणप्रकारेण स्वरूपमिश्रणप्रकारेण वा असङ्क्रमेण असङ्करेण या व्यवस्था अव-
स्थितिः तस्यां सत्याम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् कारणात् एकं द्रव्यसम्भुपगतत्वम् ।
एतदुक्तं भवति—स्थूलैकप्रतिभासविरुद्धा ज्ञानेतरपरमाणवः, तत्प्रतिभासोपगमे तद्वि-
रोधः नीले पीतविरोधवत् । तैद्याभ्युपगच्छतश्च अव्यक्षविरोधः निरंशादिरूपतया
शैतथा तत्त्वं विचारयतोऽपि स्थूलदिप्रतिभासानिवृत्तेः ।

एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधौ अभिधाय साम्प्रतम् अर्थक्रिया-
कारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह—

लक्ष्णं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति ।

10

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

विवृतिः—सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित्
क्षणिके अर्थक्रियां साधयेत् अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्त्तत । न च क्षणिका-
नामनिश्चयात्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्धयेत्
विप्रकृष्टाऽर्थान्तरवत् । ‘यस्मिन् सत्येव यद्भावं तत् तस्य कार्यम्’ इति लक्ष्णं
क्षणभङ्गे न संभवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् ।

15

लक्षणम् अर्थस्य परमार्थसतो वस्तुनः नार्थक्रिया अर्थस्य कार्यस्य क्रिया

कारिकाव्याख्यानम्—

करणम् । क ? क्षणिकैकान्ते । कुत इत्याह—‘सति’ इत्यादि ।

सति विद्यमाने कारणे हेतौ कार्यभावः कार्योत्पत्तिः चेद् यदि

20

न कार्यकारणलक्षणं कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधाथित्वं यत्लक्षणम् कारण-
स्य च तज्जनकत्वं यत्लक्षणं तन्न । पूर्वाङ्गीरतेन ‘न’ इत्यनेन सम्बन्धः । क्षणिकैकान्त-
वादिना कारणभाव एव कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । इदमपरं व्याख्यानम्—स्वोत्पत्तिकालवत्

इति समुदिता अपि तथैव स्युः । तथा नीलवाकारेषु प्रत्येकं चित्रस्य स्थौल्यस्याभावात् समुदायेऽप्य-
भावः—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२११ ।

(१) स्थूलैकप्रतिभासविरोधः । (२) स्थूलैकप्रतिभासस्य असत्त्वं भ्रातृत्वं वा स्वीकुर्वत । (३)
स्वमतविधिपरमतप्रतिषेधौ । (४) तुलना—‘कार्यकारणता नास्ति बहिरन्तः सन्ततिः कुतः । निरन्वयात्
कुतस्तेषां सारूप्यमिनरार्थवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् क्षणिकमक्रमं जगत्त्रिःसन्तानि
स्यात् । तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः कारणागतोत्पत्तिनियमः ? सदेव कारणं स्वसत्ताकालमेव
कार्यं प्रसङ्गं जनयेत् । स्वरसत एव कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् ? तैरन्तर्गमाभा-
त्प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविशेषे कुतः प्रभवनियमः ? द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते ।’
—सिद्धिचि० पृ० ३६३-६४ । (५) ‘किं पुनरसौ कार्यकारणभावः अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धनः ?
इत्याह—तद्भावे भावः तदभावेऽभावश्चेति ?’—हेतुचि० टी० पृ० ६९ । (६) कार्यजनकत्वम् ।

१ व्यवस्थितिः श्र० । २ तदुक्तं श्र०, व० । ३ शतधात्वं आ० । ४ कारिकेयं मुद्रितलघीयस्त्रये
नास्ति । ५ लक्षणभगे न ज० वि० । ६ कारणम् आ० । ७ स्य तज्ज-आ० । ८ कारणभाव आ० ।

कार्योत्पत्तिकालेऽपि सति कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणयोः यल्लक्षणं स्वरूपं ग्रहणं वा अत्र प्रमाणभावात् 'घटते' इत्यध्याहारः, किन्तु क्षणभङ्गाय दत्तो जलाञ्जलिः^१ स्यात् ।

येस्त्वाह—'नार्थक्रिया अर्थलक्षणं विचारतस्तदयोगात् । सा हि सती, असती वा तल्लक्षणम् ? न तावदसती; खरविषाणवत् तथाविधायास्तस्याः तल्लक्षणत्वा-
योगात् । अथ सती; किं स्वतः, परतो वा ? यदि स्वतः; अर्थेन किमपराद्धं येनास्य^२
स्वतः सत्त्वं नेष्यते ? अथ परतः; तदा अतवस्था' इति ।

तं 'सह' इत्यादिना नित्यवादिना समानं व्यवस्थाप्य 'यस्मिन्' इत्यादिना
कारिकार्थं प्रकटयति—सह युगपत् क्रमेण वा परिपाट्या वा अर्थ-
विवृतिविवरणम्—

क्रिया अक्षणिकस्य नित्यस्य सम्बन्धिनी या तां निराचिकीर्षुः
सौगतः कथञ्चित् योगपद्यप्रकारेण क्रमप्रकारेण वा प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण वा क्षणि-
केऽर्थे अर्थक्रियां साधयेत्, अन्यथा तदसाधनप्रकारेण तल्लक्षणम् अर्थक्रियालक्षणं
सत्त्वं ततः क्षणिकात् नित्यादिव वैयाचरेण । साध्यत एव तत्र सौ इति चेत्; अत्राह—
'नच' इत्यादि । नच नैव भावानां कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् । कथम्भूतानाम् ?
क्षणिकानाम् । पुनरपि कथम्भूतानाम् ? अनिश्चयात्मनाम् न विद्यते निश्चयो निर्णयो
यस्य स तथाविध आत्मा स्वभावो येषाम् । तद्भावः कथम्भूतः ईत्याह—'प्रत्यक्ष'
इत्यादि । प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं यस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वादेव च अनिश्च-
यात्मनां^३ तेषां तद्भावो न युक्तः । अत्र परप्रसिद्धं निदर्शनमाह—'विप्रकृष्ट' इत्यादि ।
पूर्वोक्तकोटिविच्छिन्नादर्थाद^४ अन्यः त्रिकालानुयायी अर्थः तदन्तरम् तत्रैव च ग्रहणो-
पायाभावाद् विप्रकृष्टत्वम्, विप्रकृष्टञ्च तद् अर्थान्तरञ्च तस्मैव तद्वत् । एतदुक्तं भवति-
यथैकस्य कालत्रयानुयायिनः कुतश्चित्पत्तिपत्तुमशक्तेः न तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः
कार्यकारणभावः सिद्धयति तथा प्रतिपरमाणुनियतेन ज्ञानेन क्षणिकभावानामप्रतिपत्तेः
न तस्मादतस्तद्भावः सिद्ध्येत् ।

(१) कार्योत्पत्तिकालेऽपि कारणसद्भावे तस्य द्विक्षणावस्थायित्वं स्यादिति भावः । (२)
योगः । तुलना—'अर्थक्रियाकारित्वेन सत्ताभ्युपगमे समानञ्चैतद् दूषणम्—किं सतामर्थक्रियाका-
रित्वमथासतामिति ? सतामर्थक्रियाकारित्वे सत्ताभ्युपगमे तथा दुस्तरमितरेतराश्रयत्वम् । तथा हि
अर्थक्रियाजनकत्वे सत्त्वम्, सत्त्वसाधनक्रियाजनकत्वमित्येकाप्रसिद्धावितराप्रसिद्धिः । अथ अर्थक्रिया-
मन्तरेण सतोऽर्थक्रियाजनकत्वम्; तत्राप्ययं विकल्प इत्यनवस्था । असत् एवार्थक्रियाजनकत्वे खरविषा-
णादिषु तथाभावः स्यात् । अर्थक्रियायाश्चाथक्रियान्तरेण सत्त्वेऽनवस्था । अथ स्वरूपेणेति चेत्; पदार्थेषु
तथाभावप्रसङ्गः ।''—प्रश्न० ६०० पृ० १२७ । प्रश्न० कन्द० पृ० १२ । (३) असद्भूतायाः । (४)
अर्थक्रियायाः । (५) अर्थलक्षणत्वविरोधात् । (६) अर्थस्य । (७) प्रकृतार्थक्रियायाः सत्त्वव्यव-
स्थापिका अपराऽर्थक्रिया तस्या अप्यपरा इत्यनवस्था । (८) क्षणिकेऽर्थे । (९) अर्थक्रिया । (१०)
कार्यकारणभावः । (११) क्षणिकार्थानाम् । (१२) कार्यकारणभावः । (१३) त्रिकालानुयायिनोऽर्थस्य ।
(१४) नित्यार्थे । (१५) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः । (१६) कार्यकारणभावः ।

१—योर्लक्ष-ब०, श्र० । २ अनवस्थितिरिति श्र० । ३ व्यावर्तते श्र० । ४ इत्यादि आ० ।

५—धनसद्भावः श्र० ।

साम्प्रतं तेषां तत्सौधनं तद्भैवमभ्युपगम्य तत्र दूषणमाह—‘यस्मिन्’ इत्यादि ।
 यस्मिन् वस्तुनि सत्येव विद्यमान एव यद्भावावो यस्य वस्तुनः भाव आत्मलाभः
 तद्वस्तु तस्य पूर्वस्य कार्यम् । ‘यस्मिन् सत्येव’ इत्यनेन यन्निर्विष्टम् तद्, इतरत्
 कारणम् इति एवं लक्षणं कार्यकारणयोः क्षणभङ्गे न संभवत्येव । कुत एतत् ? इत्यत्राह—
 5 ‘कार्य’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—कारणसत्ताकाल एव कार्यस्य भावे ‘यस्मिन् सत्येव’
 इति घटते, परन्तु कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः सन्तानोच्छेदः स्यादिति । ननु स्यादयं
 दोषः यदि यदैव कारणमुत्पद्यते तदैव स्वकार्यं कुर्यात्, यावता पूर्वमुत्पद्य पुनः कार्यकाले
 सत् कार्यमुत्पादयति; इत्यत्राह— ‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकारादन्वयेन प्रकारेण
 क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । क्षणभङ्गे कार्यकारणयोः ‘लक्षणं न संभवत्येव’ इति सम्बन्धः ।
 10 ननु ‘यस्मिन्’ इति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव
 स्वैस्तत्क्षणं कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोषु दुह्यमानानां गतः
 दुग्धासु आगतः इति । समसमयभावित्वे चार्थयोः कार्यकारणभावविरोधात् सन्ध्येतर-
 गोविषाणवत् इत्यरेकापनोदार्थमाह—

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसंभवसाधनम् ॥ ३६ ॥

विवृतिः—नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते यतः तदर्थक्रिया अक्षणिके
 विरुद्धेत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र
 सर्वदा सर्वथैव भावानुपपन्नात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्ष्येत्
 सर्वथा भावस्यैव वा । स्वलक्षणस्य कचिन् प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः कुतः कार्यन्य-
 20 तिरेकोपलक्षणं कारणशक्तेः ?

(१) क्षणिकानाम् । (२) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनम् । (३) कार्यकारणभावम् । (४) तुलना—
 “क्षणस्थायि कारणं स्वसत्तायां कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपस्थाद्वि सकलजगदेकक्षणवृत्तित्वप्रस-
 ङ्गात्”—अष्टश०अष्टसह०पृ०९१। ‘सत्येव कारणे यदि कार्यं नैलोक्यमेकक्षणवति स्यात्, कारणक्षणकाल
 एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततः सन्तानाभावात्”—अष्टश०अष्टसह०पृ०१८७। (५)
 न हि गोदोहनकालः गमनकालश्चैकः संभवति । (६) कारणकार्ययोः । (७) चेद् यदि विरुद्धा विप्रति-
 विद्धा स्यात्, का ? कार्योत्पत्तिः, कार्यस्योत्तरपरिणामस्योत्पत्तिः स्वरूपलाभः । कया ? स्वयं कारण-
 सत्तया, स्वयं कारणं विवक्षितकार्यजनकं द्रव्यस्वरूपमुपादानं तस्य सत्तया भावेन । तर्हि युज्येत,
 युक्तं स्यात् । किम् ? अर्थक्रियासंभवसाधनम्, अर्थस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिः तत्संभव-
 साधनम् नित्ये क्रमयोगपञ्चविरहादित्यनुमानम् । क्व ? अर्थे । किंविशिष्टे ? क्षणिके निरन्वयक्षणनश्वरे ।
 ह्रदमतिप्रसिध्दचनम् । न च सा विरुद्धा कार्यकाले सत एव कारणत्वात्, अन्यथा कार्यस्य आकस्मिकत्व-
 प्रसङ्गात्—“लघी० ता० पृ० ५६ । तुलना—‘कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया । यस्मिन्
 सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यमितरत्कारणमिति क्षणिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्तिप्रसङ्गात् कुतः
 सन्तानवृत्तिः ।”—सिद्धिचि० पृ० १६०, ३२६ ।

1 सहभावावो आ० 2 इत्येवलक्षणं आ० 3 संभावनोच्छेदः व० 4-गलक्षण-श्र० 5-स्येनेति
 आ० 6 स्वतो सत्ता-श्र० 7-क्षणकार्य-आ० 8 कार्यस्योत्प-ई० वि० 9 कारणसिद्धेः ई० वि० ।

कार्यस्य उत्पत्तिः आत्मलाभः विरुद्धा चेत् यदि स्वयम् आत्मना, कया ? **कारणसत्तया** । एतदुक्तं भवति—यदि कारणसत्तया कारिकाव्याख्यानम्— कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते तदा युक्तमेतत् पूर्वमेव तदभावे तद्भाव इति । तथा चेदत्र दूषणमाह—‘युज्येत’ इत्यादि । युज्येत उपपद्येत अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम् । क ? अर्थे । कथम्भूते ? क्षणिके ‘विनष्टे कारणे तदसंभवात्’ इति मन्यते । यदि वा, तया तदुत्पत्तिर्विरुद्धा यदि तदा युज्येत अर्थे क्षणिके अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम्, न च तर्था सा विरुद्धेति प्रतिपादयिष्यते ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न कार्यस्य उत्पत्तिः कारणस्य अभावं प्रतीक्षते यावत् कारणं निर्मूलज नश्यति विवृतिव्याख्यानम्— तावत् स्वयं नोपपद्यते इति । यतः तदपेक्षणात् तदर्थक्रिया क्रमयौ- 10 गपस्यार्थक्रिया अक्षणीकृत्वे अपि विरुध्यते । ‘यतः’ इति च आक्षेपे, नैव विरुध्यते । कुत एतदित्याह—‘निष्कारणस्य’ इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—विनष्टे कारणे यदा कार्य जायते तदा तन्निष्कारणं भवति, तस्य च अन्यस्य देशादेः अनपेक्षा अपेक्षाऽभावः तथा देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुपजात् कारणात् ‘नहि तदभावं सा प्रतीक्षते’ इति सम्बन्धः । तथा तस्यास्तदपेक्षणे दूषणान्तर- 15 माह—‘तदयम्’ इत्यादि । तत् तस्मात् तदपेक्षणात् अयं सौगतः कार्यस्य यो भावः आत्मलाभः यश्च कारणस्य अभावः तयोः यथासंख्येन कार्यकारणतां लक्षयेत् । यद्वि कार्यम् आत्मलाभे अपेक्षते तत् कारणम्, अपेक्षयते च तेन तद्भावे तदभावः इति मन्यते ।

इदमपरं व्याख्यानम्—यदा कारणान्न कार्यं किन्तु कारणात् तदभावः ततश्च 20 कार्यं तत्राह—‘तत्’ इत्यादि । तत् तस्माद्व्यायात् अयं भावाभावयोः कारणतन्निवृत्त्योः कार्यकारणतां भावस्य कारणताम् अभावस्य कार्यतां लक्षयेत् । कार्यशब्दस्य पर-प्रयोगप्रसङ्गेऽपि अल्पाचतरत्वात् पूर्वनिपातः । अथ सतम्—त अभावः प्रत्ययोपाख्या-विहीनत्वात् कस्यचित् कारणं कार्यश्च, इत्यत्राह—सर्वथा भावस्यैव वा सत एव वा

(१) कारणसद्भावे । (२) कार्यसद्भावे । (३) अर्थक्रियाऽभावात् । (४) कार्योत्पत्तिकाले उपादानकारणसत्तया । (५) कार्योत्पत्तेः । (६) कारणाभावापेक्षणे । (७) कर्म । (८) कर्तुं । (९) कार्येण । (१०) आत्मलाभे । (११) कारणाभावः । (१२) कार्येण आत्मलाभे अपेक्षमा-णत्वात् कारणाभाव एव कारणं स्यादिति भावः । (१३) कारणाभावः (१४) “अल्पाचतरम्”—जैनेन्द्र-व्या० १।३।१००।—“द्वन्द्वे ते (समासे) अल्पाचतरमेकं पूर्वं प्रयुज्यते ।”—शब्दार्णव० १।३।११४। (१५) प्रख्यायते इति प्रख्या विकल्पः, उपाख्यायते इति उपाख्या श्रुतिः ताभ्यां विकल्पशब्दाभ्यां रहित्वात् ।

1-सत्ताया श्र० । 2-यिष्यति आ० । 3-कृत्वे विरुद्धयते आ० । 4-अन्यदेशादेः ब०, श्र० । 5-यदि का-श्र० । 6-अल्पाचतरत्वात् आ०, अल्पस्वरत्वात् ब० । 7-एव कार्य-आ० ।

‘कार्यकारणतां लक्षयेत्’ इति सम्बन्धः । कारणवत् कार्यस्याप्यसत्त्वाऽसंभवात् अतः
 सांख्यमतप्रसङ्गः सौगतस्य इत्यभिप्रायः । ननु मा भूत् क्षणिके प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः
 कार्यकारणभावः, कार्यव्यतिरेकसाधनस्तु इन्द्रियशक्तिवत्त्वात्, इत्यत्रैह—‘स्वलक्षणस्य’
 इत्यादि । स्वलक्षणस्य परपरिकल्पितपरमाणुलक्षणस्य क्वचिद् अन्तर्बहिर्वा प्रत्यक्षा-
 5 नुपलम्भासिद्धेः, प्रत्यक्षपूर्वकोऽनुपलम्भः प्रत्यक्षानुपलम्भः तस्य असिद्धेः कारणात्
 कुतः कार्यस्य व्यतिरेकैणोपलक्षणं कारणशक्तेः ? न कुतश्चित् । एतदुक्तं भवति—यदा
 तस्य तद्रूपं कार्यं कुतश्चित् प्रत्यक्षं सत् पुनः इतरकारणसद्भावेऽपि नोपलभ्यते तदा
 युक्तं तेनोपलक्षणं तच्छक्तेः, न चैवमस्तीति ।

नर्तुं यदुक्तम्—‘बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चय’ इत्यादि, ‘नहि कार्योत्पत्तिः’
 10 इत्यादि च; तैदयुक्तम्; यथाप्रतिभासं चित्रैकज्ञानोपगमात् । “चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः”
 [प्रमाणवार्तिकालं० लि० पृ० ३९५ ।] इत्यादिवचनात् । तैर्वा कार्यस्य देशवत् कालेऽपि
 असत् एव कारणादेव उदयोपगमात् कथमन्यथा जौप्रद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा
 अरिष्टादिकम् इत्याशङ्क्य आह—

यैथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।

15 तैथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३॥

(१) कार्यव्यतिरेकेण कारणव्यतिरेको ज्ञायते, क्षणिके च न कार्यव्यतिरेकः अतः क्षणिकेऽर्थे
 कार्यकारणभावः साधनीयः, यथा हि—रूपज्ञानोत्पत्त्यभावेन रूपज्ञानजननशक्त्यभावः व्याप्तः, चक्षुषि
 अधिकले सति न रूपज्ञानोत्पत्त्यभावः अतस्तत्र रूपज्ञानजननशक्तिः व्यवस्थाप्यते । नहि चक्षुषि
 रूपज्ञानजननशक्तिव्यवस्थापने प्रत्यक्षानुपलम्भौ प्रभवतः, शक्तेरतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षानुपलम्भाङ्गोच-
 रत्वात् । तथैव क्षणिकेऽर्थे प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावो मासेत्स्यत् कार्यव्यतिरेकेणानुमीय-
 मानस्तु सिद्धयत्येव इत्यभिप्रायः । (२) क्षणिकस्य । (३) कार्यव्यतिरेकेण । (४) अनुमानम् । (५)
 कार्योत्पादनशक्तेः । (६) प्रज्ञाकरगुणः । (७) पृ० ६१३, ६१६ । (८) “चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरेकैव
 बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनार्थं चित्रमनेकम्, अशक्यविवेचनादिव बुद्धेर्नीलादयः” —प्रमाणवा-
 त्तिकालं० पृ० ३९५ । उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० १३० । सम्मति० टी० पृ० २४१ ।
 न्यायवि० वि० पृ० १०१ A. । ‘प्रज्ञाकरगुणेनाप्युक्तम्—चित्रप्रतिभासा’—सिद्धवि० टी० पृ० ५५ A. ।
 (९) यथाहि कार्यस्य देशोऽविद्यमानमपि कारणं कार्योत्पादकम्, तथा कार्यकालेऽविद्यमानमपि कार्यो-
 20 त्पादकं भवतु । (१०) यदि कार्यकालेऽविद्यमानादपि कारणात् कार्योत्पत्तिः न स्वीक्रियते तदा । (११)
 प्रज्ञाकरगुणो हि प्रमाणवार्तिकालङ्कारकारः, स च भाविनं भूतञ्चार्थं कारणमाचक्षते; तथाहि—
 “अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयोपेक्षयापि
 समानम् । यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । न चानन्तर्यमेव निबन्धनम्; व्यवहितस्यापि
 कारणत्वात् । गाढमुत्पत्त्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
 तस्मादन्त्यव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥ मृत्युनं
 भविष्यन्न भवेदेवभूतमरिष्टमिति ।”—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १७६ । (१२) “यथा येनाविरोध-

1-धनवस्तु श्र० । 2-त्राह स्वलक्षणस्य पर-आ० । 3-रेकोपोप-आ० । 4 तदुक्तम् आ० ।

5 प्रबोधोदयो भा-व० । 6 तथैव आ० ।

विवृतिः—यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिदेशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्कर-
व्यतिकरव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि
तत्कारणस्वभावभेदः, तथैकमक्षणिकं यद्यदा उत्पितु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणै-
कस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव
इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अवयवान् 6
व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात्, तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेदकर्त्तात्तैषां
स्वभावानामिति । एवम्—

यथा येन योग्यताप्रकारेण एकं निरञ्जं क्षणिकं वस्तु भिन्नो देशो येषाम-
र्थानाम्, देशग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रज्ञाकरगुणापेक्षया भिन्नकाल-
कारिकान्याह्वानम्—
प्रहणम्, तान् कुर्यात् सकृद् एकदैव । तथाहि—प्रदीपक्षणः प्रमा- 10
तरि स्वज्ञानं स्थौल्यां तैलशोषं दशाननदाहश्च उपरि कज्जलम् इत्यादि भिन्नदेशं सकृदेवाऽ-
नेकं कार्यं कुर्याद् एवमन्यदपि चिन्त्यम् । तथा यदैव जाग्रद्विज्ञानं स्वापानन्तरं व्यापा-
रादिकार्यं कुर्यात् तदैव कालान्तरभाविस्वकालनियतं प्रबोधम्, यदैव च भाविराज्यादिकं
स्वकालनिर्यतं दर्शनं कुर्यात् तदैव चिरातीतकालं हस्तरेखादिकम्, तथैकं नित्यं
भिन्नकालार्थान् । कुतः ? क्रमात्, क्रममाश्रित्य । एकदैकं कृत्वा पुनरन्यं 15
कुर्यात् तत्कालेऽपि तद्भावात् । तथा चेदमयुक्तम्—“नोऽऽक्रमात् क्रमिणो भावाः”

प्रकरणेकं सीगताभिमतं क्षणिकस्वलक्षणं सकृदेकक्षणे भिन्नदेशार्थान् भिन्नो विप्रकृष्टो देशो येषां ते
भिन्नदेशाः ते च तेषांश्च कार्याणि तान्, स्वसन्तानवर्तिनमूपादानत्वेन सन्तानान्तरवर्तिनञ्च निमित्त-
त्वेन जनयेदित्यर्थः । यथा वा एकं ज्ञानं भिन्नदेशार्थान् विप्रकृष्टनीलाद्याकारान् व्याप्नोति न विरुध्यते
तथा एकमभिन्नद्रव्यं क्रमात् कालभेदेन भिन्नकालार्थान् भिन्नः पूर्वापरभूतः कालो येषां ते च तेषांश्च
कार्याणि तान् कुर्यात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमत इत्यर्थः । तानेव व्याप्नोति
वा तादात्म्यमनुभवति वा, न विरुध्यते ।—लघो० ता० पृ० ५६ । “तथैवोक्तं भट्टकलङ्कदेवैः—
यथैकं भिन्नदेशाः” ।—सत्यशासनप० पृ० १५ B. ।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः । (२) परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । (३) प्रदीप-
विषयकं ज्ञानम् । (४) तैलपात्रे । (५) दशा वृत्तिः कालात् तस्या आननं मुखम् अग्रभागः तस्य दाहम् ।
(६) न हि स्वापानन्तरभाविष्यापारादीनां प्रबोधस्य च जाग्रद्विज्ञानं विभिन्नकालवर्ति सत् समुत्पादकं
घटते तस्य एकक्षणमात्रवृत्तित्वादित्याशयेनाह—यदैवेति । (७) स्वविषयकं दर्शनं प्रत्यक्षम् । (८)
अन्यपदार्थोत्पादकालेऽपि । (९) नित्यस्य सद्भावात् । (१०) “नाऽक्रमात्क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षा-
विशेषिणः । क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमं तस्यापि शंसति ॥ नाऽक्रमात् क्रमिणः कार्यस्य भावः,
क्रमरहितत्वात् कारणस्य तन्निष्पाद्यानि कार्याणि सकृज्जायेरन् । क्रमवतः सहकारिणोऽपेक्ष्य क्रमाज्जनि-
ष्यतीति चेत्; नाप्यविशेषिणः स्थिरैकस्वस्य परैरनाधेयविशेषस्य परेषां सहकारिणामपेक्षाऽस्ति । तस्मात्
क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमन्तस्तस्यापि कायस्य शंसति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० १४५ । उद्धृती-
ज्यम्—“नाक्रमात् क्रमिणो भावाः” धीश्चेयं क्रमं—सिद्धिचि० टी० पृ० १६१ A., १९७A. ।
‘धीर्ज्ञेयात्’—सम्मति० टी० पृ० ३३६ । प्रकृतपाठः—प्रमेयक० पृ० ३२५ ।

1 कारण-ज०वि० । 2-त्वात् स्वभा-ई०वि० । 3-एवं आ० । 4-यथा अ० । 5-नियतदर्शनं अ० ।

[प्रमाणवा० १।४५] इत्यादि । यथा चैकं ज्ञानं क्षणिकं भिन्नदेशार्थान् नानादेश-
नीलाद्याकारान् व्याप्नोति तदात्मकं भवति । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः, सकृद्
एकदा तथा एकमात्मतत्त्वं भिन्नकालार्थान् सुखादीन् व्याप्नोति चाक्रमत् ।

- कारिकां विवृण्वन्नाह—‘यथा’ इत्यादि । यथा येन प्रकारेण स्वलक्षणम्,
कथम्भूतम् ? क्षणिकम्, करोति कार्याणि । कथम्भूतानि ? नाना-
विवृतिविवरणम्—
दिग्देशभावीनि, दिग्ग्रहणमुपलक्षणं तेन नानाकालभावीन्यपि गृह्यन्ते ।
कथं करोति ? स्थानसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभा-
वत्वात् । तदेव समर्थयते ‘नहि’ इत्यादिना । हिर्यस्मात् न सामग्रीभेदात् कार्य-
भेदेऽपि कारणस्वभावभेदः, तथा एकमक्षणिकं कारणं यद् यदा उत्पित्सु कार्यं तत्
तदैव करोति । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभावत्वात् । ननु क्रमभावीन्यनेक-
कार्याणि कुर्वत् कथं तदेकम् तावद्वा भेदप्रसङ्गात् ? इति चेदन्नाह—‘सर्वदा’ इत्यादि ।
सर्वदा सर्वकालं कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् कारणात् तदात्मकं तत्करण-
सामर्थ्यात्मिकम् एकमेवेत्यविरुद्धम् । अस्यैव समर्थनार्थमाह—‘यथा’ इत्यादि । यथा
सौगतस्य विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् आत्मनीलाद्याकारविशेषान् नैयायिकस्य गुणी
गुणान्, अवयवी अवयवान् व्याप्नोति कथञ्चित्वात्मको भवति । कदा ? सकृदपि,
न केवलमसकृत् । ननु ज्ञानतन्निर्भासयोः गुणगुणिनोः अवयवावयवितोश्च अत्यन्तभेदान्न
युक्तमेतदित्यत्राह—तदात्मकत्वात्, ज्ञानौदेः स्वनिर्भासभेद-गुण-अवयवात्मकत्वात् ।
अन्यथा घटपटवत् तज्ज्ञानवच्च गुणगुण्यादिभावः चित्रज्ञानरूपता च न स्यादित्युक्तं
विस्तरतः प्रागेव । तथैव द्रव्यं जीवादि स्वपर्यायभेदान् व्याप्नोति । स्वग्रहणात्—
‘सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

20

चोदितो दधि स्वादेति किमुष्टं नामिधावति ? ॥” [प्रमाणवा० ३।१८१]

(१) प्रतिनियतदेशस्यमेव । (२) चित्रज्ञानम् । (३) आदिपदेन गुणी अवयवी च ग्राह्यौ ।
(४) घटपटज्ञानवत् । (५) व्याख्या—“सर्वस्योभयरूपत्वम्—उभयग्रहणमनेकत्वोपलक्षणार्थम् तस्मिन्
सति, तद्विशेषस्य ‘उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि, दधि दध्यैव नोष्ट्रः’ इत्येवं लक्षणस्य निराकृतेः, ‘दधि
खाद’ इति चोदितः पुरुषः किमुष्टं खादितुं नामिधावति ? उष्ट्रोऽपि दध्यभिन्नात् द्रव्यत्वादव्यतिरेकात्
स्यादधि, नापि स एवेति ‘उष्ट्र उष्ट्र एव’ इत्येकान्तवादः, येनान्योऽपि दध्यादिकः (तः) स्यादुष्ट्रः ।
तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रः उष्ट्राभिन्नेन द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्येनाभिसम्बन्धात् । नापि तदेवेति दध्यैव
दधि, येनान्यदपि उष्ट्रादिकं (तः) स्यादधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्वं व्याख्यातम् ॥” —प्रमाणवा०
स्वप्न० टी० १।१८३ । मनोरथ० १।१८३ । उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तजय० पृ० १८ । ‘नोदितो...’
—अनेका० प्र० पृ० ७ । अष्टसह० पृ० ९२ । सम्मति० टी० पृ० २४२ । न्यायवि० वि० पृ० ९२
A. 1. ‘निराकृतः । प्रेरितो दधि...’—स्या० २० पृ० ८३७ ।

१ ज्ञानक्षणिकं आ० । २-संकरव्यतिरेकेण श्र० । ३ तावद्वा आ० । ४ कार्यकार-आ० ।

५-स्मकमेवेत्य-आ०, व० ।

इत्येतन्निरस्तम्; दध्यादेः उद्गादिस्वरूपभूतपर्यायत्वासंभवात् । कुतस्तत्
तान् व्याप्नोतीति चेदत्राह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयं स्वरूपेण अभेदकत्वात्तेषाम् ।
इतिशब्दः द्रव्यसिद्धिप्रघट्टकपरिसमाप्तौ । तदेवं सिद्धे परापरद्रव्ये परापरसंग्रहः
प्रवर्तते । तत्र परसंग्रहं प्रदर्शयितुमाह—

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

5

ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

विवृतिः—नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद् यदात्मकं तत्
तदेव, यथा स्वनिरासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात् सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव
नान्यदिति संग्रहः । तत्प्राधान्यात् न तु भेदप्रतिषेधात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया
तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ।

10

संग्रहः संग्रहनयः सर्वेषां भेदानां जीवादिविशेषाणाम् ऐक्यमभिप्रैति

केन रूपेण ? इत्याह—**सदात्मना ।** ब्रह्मवादेऽपि सदात्मना तेषां
कारिकाव्याख्यानम्—
संग्रहः संभवति इति सोऽपि संग्रहनयः स्यादित्याशंकापनोदार्थमाह—

ब्रह्मवादस्तदाभासः इति । कुत एतत् ? इत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वार्थः
सन्मात्रं तस्य **भेदो** जीवादिः तस्य **निराकृतेः** असौ तदाभासः संग्रहाभासः,
तन्निराकृतौ सन्मात्रस्यापि निराकृतिसिद्धेः । न खलु निराश्रयं सामान्यं नाम अश्ववि-
षाणादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् ।

15

व्यतिरेकद्वारेण कारिकां विवृण्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिंर्यस्मात् न कश्चित्
चेतनः इतरो वा भेदो विशेषः असदात्मा अस्ति, कुत एतत् इत्याह—
विवृतिविवरणम्—
विरोधात् । असदात्मनोऽस्तित्वविरोधश्च प्रागेव समर्थितः । ननु-

20

(१) तुलना—“सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः । तथापि सुगतो बन्धो मृगः
खाद्यो यथेष्ट्यते ॥ तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितः । चोदितो वधि खादेति किमुष्टमभिधावति ॥”
—न्यायवि० का० ३७३-७४ । अनेकान्तजय० पृ० २८१ । “न ह्यस्माभिर्दध्युष्टयोरेकं तिर्यक्सामान्यं
वस्तुत्वादिकं व्यक्त्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते । यादृग्भूतं तु प्रतिव्यक्ति
भिन्नं ‘समानाः’ इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यन्यत्र प्रेरितो-
ऽन्यत्र खादनाय धावेत् यद्युन्यतो न स्यात् ।”—सम्मति० टी० पृ० २४२ । (२) पर्यायाणाम् । (३)
तुलना—“निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः । तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ॥”—
तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७० A । नयवि० श्लो० ६८ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । न्यायवार्ता० टी० पृ० ८५ ।
प्रमाणनय० ७।१५, २१ । जनतर्कभा० पृ० २४ । (४) “स्वस्य ब्रह्मवादस्य अर्थो विषयः सन्मात्रं तस्य
भेदा जीवादिविशेषाः तेषां निराकृतेः प्रतिषेधात् । न खलु सर्वथा सत्त्वे भेदानामवकाशोऽस्ति ।
भेदरहितं च तत्त्वं सामान्यं नाम निराश्रयत्वात् अर्थक्रियाविरहाच्च ।”—लघी० ता० पृ० ५८ । (५)
सत्त्वप्राधान्यात् । (६) संग्रहाभासत्वम् । (७) सामान्यत्वप्रसङ्गात् ।

च आत्मा । तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवा-
वयविनाम् क्रियाकारकाणां जातितद्वतां च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथ । वृत्तिविरो-
धात् । एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् तद् एकमित्येवं न
स्यात् । यदि पुनः एकदेशेन वर्तेत तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसंगात् क किं वर्तेत ?

नैगमः नैगमनयः इत्युच्यते । कुतः इत्याह—‘अन्योन्य’ इत्यादि । प्रमाण- 5

कारिकाव्याख्यानम्—

तो हि द्रव्यपर्यायाणां कथञ्चिद्वेदे अभेदे च व्यवस्थिते सति अन्योन्य
परस्परं गुणभूत अप्रधानभूतः भेदस्य अभेदः, तस्य च भेदः

एकः प्रधानभूतो भेदस्य अभेदः तस्य च भेदः तयोः प्ररूपणात् । अर्था-
न्तरत्वोक्तौ भेदाभेदयोः एकान्तेन नानात्वोक्तौ सत्यां नैगमाभास इत्युच्यते ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘स्वलक्षण’ इत्यादि । स्वलक्षणं पर्यायात्मकं द्रव्यं 10

विवृतिविवरणम्—

तदात्मकाः पर्यायाश्च, तस्य यौ भेदाभेदौ तयोर्मध्ये अन्यतरस्य
भेदस्य अभेदस्य वा प्ररूपणायां क्रियमाणायाम् इतरः भेदप्ररूपणा-

याम् अभेदः तत्प्ररूपणायां वा भेदः गुणः स्यात् इति एवंविधो नैगमो नयः ।

अत्रार्थे सुस्पष्टप्रतीत्यर्थं ‘यथा’ इत्याद्युदाहरणमाह—यथा येन अनादिनिधनचैतन्य- 15

प्रकारेण जीवस्य यत् स्वरूपं गुणपर्यायव्यापकत्वं तस्य निरूपणायां क्रियमाणायां

गुणा अप्रधानभूताः, के ? सुखदुःखादयः । ननु ‘सुखादयः’ इत्येवास्तु किं दुःखग्र-

हणेन ? इति चेत्, न; अन्योन्यं जीवाच्च भेदप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तदुभयग्रहणस्य ।

तत्प्ररूपणायाश्च सुखदुःखादिप्ररूपणायाश्च आत्मा जीवस्वभावो ‘गुणः’ इति सम्ब-

न्धः । नन्वेवं व्याख्यानं कस्मान्न भवति—जीवस्वरूपस्य जीवसत्ताया निरूपणायां गुणाः

सुखदुःखादयः, तेषां सत्तैव गुण इति, तत्प्ररूपणायाश्च सुखादिसत्ताप्ररूपणायाश्च 20

आत्मा जीवो गुणः इति चेत् ? संग्रहऋजुसूत्राभ्यामस्यैव भेदाभासप्रसङ्गादिति ब्रूमः ।

जीवसुखादीनामन्योन्यमत्यन्तभेदप्ररूपणायां तु तदाभास इत्याह—‘तत्’ इत्यादि ।

तेषां जीवसुखादीनां प्रक्रमाद् एकान्तेन अर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । ‘कथम्’

(१) तुलना—‘वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न . . १’—युक्त्यनुशा० श्लो० ५५१ “एकस्यानेकवृत्तिर्न
भागाभावाद्बहूनि वा । भागित्वाद्वास्त्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥”—आप्तमी० का० ६२ । अष्टश०,
अष्टसह० पृ० २१४१ “तस्य तेषु सर्वात्मनाऽन्यथा वा वृत्त्ययोगो बाधकं प्रमाणम् . . १”—वादन्यायटी०
पृ० ३० । “यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः ॥”
—तत्त्वसं० पृ० २०३ । “यदि सर्वेषु कायोऽप्येकदेशेन वर्तते । अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं
स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु । कायास्तावन्त एव स्युर्वास्तस्ते करादयः ॥”
—बोधिचर्याव० पृ० ४९५ । (२) अभेदस्य । (३) अभेदस्य (४) अभेदनिरूपणे । (५) अप्रधानभूतः ।
(६) सुखदुःखोभय । (७) नैगमस्य । (८) सत्ताप्राधान्यपक्षे संग्रहेऽन्तर्भावप्रसङ्गः, सुखादिपर्यायप्राधान्ये
तु ऋजुसूत्रेऽन्तर्भावप्रसङ्ग इति ।

१—यव्यवयवकि—ई० वि० । २—भूतो भेदस्य आ० । ३—पाद्यामितरः आ० । ४ जीवस्य
स्वभावो व०, श्र० । ५ जीवतो गुण श्र० । ६—रूपणात्तदा—श्र०, व० । ७—षां जीवानां प्र—आ० ।

- इति प्रश्ने उत्तरमाह—गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्व-
ताञ्च मिथः परस्परमर्थान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे, किम् इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वेण
वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वथा वृत्तेः गुणादीनां गुण्यादौ वर्त्तनस्य विरोधात् ‘नैगमाभासः’
इति सम्बन्धः । तद्विरोधं दर्शयितुमाह—‘एकम्’ इत्यादि । एकम् अवयव्यादिकम् ।
- ५ अनेकत्र देशकालाकारभिन्ने अवयवादौ वर्त्तमानं एकमेकं प्रति प्रत्येकं सर्वात्मना
साकल्येन यदि स्याद् भवेत् वर्त्तमानं तदवयव्यादिकम् ‘एकम्’ इत्येवं न स्यात्,
अपि तु यावन्तोऽवयवादयः तावन्त एव अवयव्यादयः स्युः । नहि एकस्य निरङ्गस्य
क्रियातो भिन्नस्य परमाणुवद् युगपद् देशादिभिन्नेष्वाधारेषु वर्त्तनं युक्तम् । परस्य
पश्चान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह—‘यदि पुनः’ इत्यादि । पुनरिति पश्चान्तरसूचकः,
- १० एकमनेकत्र प्रत्येकं यद्येकदेशेन वर्त्तते तर्हि तस्य अनेकदेशाः कल्पनीयाः तेषु चारस्य
वृत्तिः कल्पनीया, अन्यथा कैथं ते ‘तस्य’ इति व्यपदिश्यन्ते ? तत्कल्पने च दूषणमाह—
‘तद्’ इत्यादि । ‘ते च ते एकदेशाश्च तेष्वपि तथैव सर्वात्मनैकदेशप्रकारेणैव प्रसङ्गात्
दोषादनवस्था स्यात् इत्यभिप्रायः । तथाच क अवयवादौ किम् अवयव्यादि वर्त्तते ?
निराकृता च अवयवादौ अवयव्यादेर्वृत्तिः विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चत ईदृशमतिविस्तरेण ।
- १५ एवं गुणगुण्यादीनां भेदैकान्तं निराकृत्य सत्तातद्वतां तं निराकुर्वमाह—

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।
असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथातिप्रसङ्गतः ॥ ४० ॥

विवृतिः—यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येव सन्तु किं
तत्र सत्तासमवायेन ? स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात् असतां चाऽतिप्रसङ्गात् । तदेवम् अवा-

(१) अवयविनिष्ठा क्रिया एका निरङ्गापि सती भिन्नदेशेषु अवयवेषु वर्त्ततेऽपि, न तु क्रियातो
भिन्नोऽन्यः कश्चिन्निरङ्गोऽर्थः भिन्नदेशाधारेषु वर्त्तते इति भावः । (२) अनेकदेशेषु । (३) अनेकदेशाः ।
(४) अवयविनः । (५) पृ० २२४। (६) भेदैकान्तम् । (७) ‘योगमते भावानां स्वतः सदात्मनां सत्ता-
समवायः, असदात्मनां वेति विकल्पद्वयं मनसिकृत्य प्रथमपक्षे दूषणमाह—स्वतः स्वरूपेण अर्थाः पदार्थाः
सन्तु । किंवत् ? सत्तावत्, यथा सत्तान्तराद्विनाऽपि सत्ता परसामान्यं स्वत एवास्ति तथा द्रव्या-
दीन्यपि स्वत एव सन्तु विद्यन्ताम् । तथा च स्वतः सदात्मनां सत्तया किं साध्यं न किमपीत्यर्थः । विनापि
तथा तेषां सत्तावत् । द्वितीयविकल्पे दूषयति—सर्वथाऽसदात्मसु द्रव्यादिषु परा सत्ता न स्यात् न वर्त्तते
अतिप्रसङ्गात् खरविषाणादावपि सर्वथाऽस्ति सत्तासमवायप्रसङ्गात् ।’—लघी० ता० पृ० ५९ । तुलना—
‘सत्ताजोगादसो सजो व सत्तं हवेज्ज दव्वस्स । असजो न खपुप्फस्स व सजो व किं सत्तया कज्जं ॥’
—विशेषा० भा० २६९४। ‘स्वरूपेणासतः सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे । स स्यात्किञ्च विशेषस्याभावात्तस्य
ततोऽज्जसा ॥ स्वरूपेण सतः सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा । सामान्यादौ भवेत्तत्त्वसमवायोऽविशेषतः ॥’—
आप्तप० का० ६९-७० । उद्धृत्यं कारिका—सूत्रकृतां शो० पृ० २२७ A.

१ गुणादीनां गुणादौ आ०, ब० । २ ‘यदि पुनरित्यादि’ इति पाठः आदर्शं लिखित्वापि निष्का-
सितः । ३ कथं तस्य श्र० । ४ ते च ते तदेकदेशे—श्र०, ब० । ५ इत्यलमिति—ब० । ६ निराकुर्वन्नाह—श्र० ।

न्तरजातिष्वपि योज्यम् । गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्ख्य्यम्, अन्यथा निष्क्रि-
यस्य अर्थोत्पित्सुदेशमव्यामुवतः अनंशस्य अनेकत्र कादाचित्कवर्त्तनमयुक्तम् ।
गुणगुण्यादीनाम् अन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमित्यलं प्रसङ्गेन । 'गुणानां वृत्तं
चलं सत्त्वरजस्तमसां सुखदुःख (खा) ज्ञानादिकं चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमचलम्'
इत्येतदपि तादृगेव, तदर्थान्तरताऽसिद्धेः । अतिप्रसङ्गश्चैवं तदभेदे विरोधाभावात् ।
गुणानां दृश्यादृश्यात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया ।

स्वतः आत्मनैव अर्था द्रव्यादयः सन्तु विद्यमाना भवन्तु सत्तावत् सत्ता
परं सामान्यं सेव तद्वत् । सत्ताग्रहणमुपलक्षणं तेन अवान्तरसामान्य-
कारिकाविवरणम्—
समवाय-विशेषवत् इति च द्रष्टव्यम् । कुत एतदित्याह—सत्तया
इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—स्वतः सन्तोऽर्थाः सत्तासमवायात् तद्वन्तः, अन्यथाभूता
वा स्युः ? प्रथमपक्षे सत् सत्त्वम् आत्मा 'येषां तेषां सदात्मनामर्थानां किम् ?
न किञ्चित् सत्तया 'क्रियते' इत्यध्याहारः । नहि तेषां तया स्वरूपसत्त्वं क्रियते;
स्वत एवार्थं संभवात्, सतश्च कारणायोगात्, अन्यथा अनर्थं स्यात् । नापि
सदभिधानादि; स्वरूपसत्त्वादेव अस्यापि संभवात् । अथ स्वतोऽसन्तः तत्समवायात्
तद्वन्तः अत्राह—'असद्' इत्यादि । असन् अविद्यमान आत्मा येषां तेषु नैषा
परपरिकल्पिता सत्ता स्यात् । कुतः ? अतिप्रसङ्गतः खरविषाणादावपि अस्याः
प्रसङ्गात् । प्रतिव्यूढश्च प्रपञ्चतः सत्तातः सत्त्वमर्थानां षट्पदाथपरीक्षावसरे इति
कृतमतिविस्तरेण ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'यथा' इत्यादि । यथा येन अैनवस्थादिदोषभय-
प्रकारेण सन्ति च तानि अर्थान्तराणि च सामान्यादीनि स्वतः
विवृतिव्याख्यानम्—
आत्मनैव न सत्तासमवायात् सन्ति सत्तावन्ति तथैव तेनैव

(१) "चलञ्च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्—प्रदीपावयवानामिव बुद्धयवयवानां
गुणानां वृत्तं क्रिया चञ्चला प्रतिक्षणमन्याऽन्या च भवति, न तु निर्व्यापारा गुणास्तिष्ठन्ति..."—योग-
भा०, योगवा० २।१५ । "सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलञ्च गुणवृत्तमिति"—योगभा० ४।१५ ।
"गुणवृत्तं चलं नित्यम्..."—योगका० ३।९ । (२) "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्"—योगभा० पु० ३७ ।
(३) अवान्तरसामान्यं द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकम् । (४) सदात्मनाम् । (५) सत्तया । (६) स्वरूपस-
त्त्वस्य । (७) सतोऽपि करणे कारणव्यापारानुरूपमरूपज्ञवस्था । (८) स्वतः सतामपि पदार्थानां
सत्तया सदिति शब्दप्रयोगः सदिति ज्ञानं वा क्रियेत; अत आह नापीत्यादि । (९) सदिति शब्दप्रयो-
गस्य सदिति प्रत्ययस्य वा । (१०) सत्तासमवायात् । (११) सत्तायाः । (१२) पु० २८५— । (१३)
"सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं—सम्प्रति सामान्यादीनां साधर्म्यमाह सामान्यादीनामिति । स्वात्मैव
सत्त्वं स्वरूपं यत्सामान्यादीनां तदेव तेषां सत्त्वं न सत्तायोगः सत्त्वम् । एतेन सामान्यादीनां त्रयाणां
सामान्यरहितत्वं साधर्म्यमुक्तमित्यर्थः । कथमेतद् ? बाधकसद्भावात् । सामान्ये सत्ता नास्ति अनिष्ट-

१ येषां सत्ता—आ०, अ० । २ तदात्मना—अ० । ३—नां न अ० । ४—ब्राह्मसवि असन् आ० ।
५ अतिप्रसंगः अ० । ६—न सत्ता—अ० ।

- प्रकारेण द्रव्यगुणकर्माण्येव न खरविषाणादीनि स्वतः सन्तु किं तत्र तेषु द्रव्यादिषु सत्तासमवायेन ? कुत एतदित्याह—‘स्वतः’ इत्यादि । स्वतो हि सतां द्रव्यादीनां सत्तासमवायात् सत्त्वं स्यात्, असतां वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात् सत्तासमवायवैयर्थ्यात् । स्वतोऽसताश्च अतिप्रसङ्गात् खपुष्पादौ तत्समवायात्सत्त्वप्रसङ्गात् । एतदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—‘तदेवम्’ इत्यादि । तद् अनन्तरोक्तं दूषणम् एवम् उक्तविधिना योज्यम् । क ? अवान्तरजातिष्वपि द्रव्यत्वादिसामान्येष्वपि । तथाहि—यथा सद्रव्यं सन् गुणः सन् कर्म स्वतः तथा स्वतो द्रव्यं द्रव्यं गुणो गुणः कर्म कर्म खण्डादिगौः कर्कादिरश्मः, किं तत्र द्रव्यत्वादिसमवायेन ? स्वतो द्रव्यगुणकर्मणां तद्वैयर्थ्यात्, अद्रव्यगुणकर्मणाश्चातिप्रसङ्गात् । नहि तैथाऽ-
- परिणतमन्यसम्बन्धात् तथा भवति आकाशकुशेशयस्यापि तैथात्वप्रसङ्गात् । अत्र दूषणान्तरं दर्शयन्नाह—‘गोत्वादेः’ इत्यादि । अत्र आदिशब्देन अश्वत्वादिपरिग्रहः, सर्वगतत्वे अङ्गीक्रियमाणे तत्प्रत्ययसाङ्ख्यर्म्यं गोत्वादिप्रत्ययसाङ्ख्यर्म्यं खण्डादिवत् कर्कादावपि गोप्रत्ययः स्यात् । उपलक्षणमेतत् तेन अभिधौनव्यवहारसाङ्ख्यर्म्यं गृह्यते । तत्साङ्ख्ये च अवान्तरजातित्वं तस्यै अतिदुर्लभ्यम् । निराकृता च विशेषतो नित्या
- सर्वगता जातिः सामान्यपरीक्षावसरं इत्यलमिह विस्तरेण । अथ असर्वगतत्वपक्षे जातेर्दूषणमुपदर्शयन्नाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन असर्वगतत्वप्रकारेण निश्चिन्त्यस्य गोत्वादेः, अर्थः उत्पित्सुः यस्मिन् देशे तमव्याप्तुवतः ‘इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः’ इति अर्थस्य विशेषणत्वमिति न उत्पित्सुशब्दस्य पूर्वनिपातः । अनंशस्य निरवयवस्य अनेकत्र स्वाधारे कादाचित्कं वर्चनमयुक्तम् । स्वमते दोषाभावं दर्शयितुमाह—गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमिति । एतच्च अनेकान्तसिद्धिप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् इत्यलमितिप्रसङ्गेन ।

प्रसङ्गात् । विशेषेष्वपि सामान्यसद्भावे संशयस्यापि सम्भवात् निर्णयार्थं विशेषानुसरणेऽप्यनवश्येव । समवायेऽपि सत्ताभ्युपगमे तद्द्रव्यस्य समवायाभ्युपगमादनिष्टापत्तिरेव दूषणम् । “—प्रश० भा०, कद० पृ० १९ । “मुख्ये हि अनवस्थादिबाधकोपपत्तेः”—प्रश० व्यो० पृ० १४२ । व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽपानवस्थितिः । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ॥”—प्रश० किर० पृ० ३३ ।

(१) सत्तासमवायात् । (२) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसमवायवैयर्थ्यात् । (३) “न हि स्वतोऽजात-भूतस्तथात्वसमवायमाक ।”—आप्तप० का० ७२ । (४) सत्तासमवायात्सत्त्वप्रसङ्गात् । (५) कर्कादावपि गोर्गौरिति शब्दप्रयोगः गौरिति ज्ञानं वा स्यात् । (६) गोत्वस्य । (७) दुर्लभ्यम्, यतो हि गोत्वं गोवत् सर्वत्र अस्वादी स्यात् तथा च तत् महासामान्यमेव स्यात् त्ववान्तरसामान्यमिति भावः । (८) पृ० २५८—(९) तुलना—“तत्र देशात्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथन्तु ते । दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्मिति न गम्यते ॥ न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वान्नाप्यवस्थिताः । तत्र प्रागविभूत्वेन नवायात्यन्यतोऽक्रियाः ॥”—तत्त्वसं का० ८०६—७ ।

१—ह स्वतो हि आ० । २—जातिवि—आ०, श्र० । ३ द्रव्यादि—व० । ४—णाञ्जातिप्र—श्र० । ५ गोत्वप्रत्ययः श्र० । ६—ण असर्व—व०, श्र० । ७ निःक्रियस्य व०, आ० । ८—धस्यभावः श्र० । ९—चित्त्ववर्त्तन—व० ।

अपरमपि नैगमाभासं दर्शयितुमाह—‘गुणानाम्’ इत्यादि । गुणानां सत्त्वरज-
स्तमसां वृत्तं वर्त्तनं चलम् अविर्भावतिरोभाववत् । एतदेव ‘मुख’ इत्यादिना व्याचष्टे-
सत्त्वस्य हि सुखादिलक्षणं वृत्तम्, रजसो दुःखादिलक्षणम्, तमसोऽज्ञानादिकमिति ।
पुरुषस्य किं स्वरूपमित्याह—‘चैतन्यम्’ इत्यादि । चैतन्यं दर्शनं पुरुषस्य स्वम् आत्मी-
यमसाधारणं रूपम् । “न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः” [सांख्यका० ३] इत्यभिधानात् । 5
कथम्भूतम् ? अचलम्, अविर्भावतिरोभावविकलम् । इतिशब्दः परपक्षसमाप्त्यर्थः ।
अत्र दूषणमाह—‘एतदपि’ इत्यादि । एतदपि सांख्यमतमपि न केवलं वैशेषिकमतं
तादृगेव नैगमाभास एव । कुत एतदित्याह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः सुखादिवृत्त-
पुरुषयोः अर्थान्तरताम् व (ताव) स्वन्तरत्वं तस्य असिद्धेः अनिश्चयात् । अत्रैव
दोषान्तरमाह—अतिप्रसङ्गश्चैवमिति । सुखादिवृत्तपुरुषयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि प्रतीय- 10
माने एवं परैः स्वमतदुराग्रहामिनिवेशप्रकारेण भेदे अभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्गः स्यात्
‘एकमेव न किञ्चित् स्यात्’ इति भावः । च शब्दः पूर्वदोषसमुच्चये । ननु तदैर्भेदवि-
रोधात् सिद्धैव तदर्थान्तरता इत्याह—‘तदभेद’ इत्यादि । तयोः पुरुषवृत्तयोरभेदे
एकत्वे सति विरोधाभावात् सद्भावनवस्थानलक्षणस्य परस्परपरिहारस्थितिस्वरूपस्य
प्रमाणबाधारूपस्य वा विरोधस्याभावात् इति भावः । अथ मतम् अचलपुरुषस्वरूपे 15
चलवृत्तानुपवेशे द्वयोश्चलत्वमचलत्वं वा रूपं स्यात् अतो विरोधः इत्यत्रैह—‘गुणानाम्’
इत्यादि । गुणानां सत्त्वरजस्तमोलक्षणानां दृश्यादृश्यात्मकत्वे व्यक्तापेक्षया
दृश्यात्मकत्वे प्रधानापेक्षया अदृश्यात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे पुंसामेव तदात्मकत्वं
दृश्यादृश्यात्मकत्वं युक्तम् उपपन्नम् । प्रसाधितं च सुखादिविवर्त्तनत्वमस्मान्नः प्रागेव
प्रबन्धेन इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘कृतम्’ इत्यादि । कृतं 20

(१) “प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, अत्रायं समासः प्रीतिश्चाप्रीतिश्च विषादश्च ते आत्मा स्वरूपं
येषां गुणानां ते भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः । तेषां लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वम् । आत्म-
शब्दः स्वभावे वर्तते । कस्मात् ? सुखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जव-
मादवसत्यशोचह्रीर्बुद्धिमानुक्मन्नाज्ञानादि च, तत्सत्त्वं प्रत्येतव्यम् । अप्रीत्यात्मकं रजः । कस्मात् ?
दुःखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् वद्विदप्रीतिमुपलभते तत्र द्वेषत्रोहमत्सरनिन्दास्त्वभोक्तृणा-
मिहृतिवञ्चनाबाधश्छेदनानि च, तद्रजः प्रत्येतव्यम् । विषादात्मकं तमः । कस्मात् ? मोहलक्षणत्वात् ।
यो हि कश्चित् कदाचित्त्वचिन्मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयवैयर्थ्यानां स्तिक्त्वविषादस्व-
प्नादि च, तत्तमः प्रत्येतव्यम् ।”—सांख्यका० माठर०, जयम०, का० १२। सांख्यसूत्रवि० पृ० १०६ । (२)
कापिलैः । (३) सुखादि-पुरुषयोः । (४) सुखादि । (५) “द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः, अविकलकार-
णस्य भवतोऽप्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् ।”
—न्यायवि० पृ० ९७-९८ । (६) पृ० १९१ ।

1—चष्ट सत्त्वस्य दर्शनं पुरुषस्य आ० । 2—वि वृत्तापुरुषयोः पर-आ० । 3—तमवलस्त्वन्त-व० ।
4 तदभेदेविरो-थ०, व० । 5—प्रवेशद्वयो-आ० । 6—ब्राह्म दृश्यादृ-थ० । 7—कत्वव्यक्ता-आ० ।
8—त्मकं युक्तं आ० ।

पर्याप्तं गुणकल्पनया प्रधानकल्पनया, तस्य तदात्मकत्वादित्यभिप्रायः । निरस्तश्च प्रधानं प्रपञ्चतः प्रकृतिपरीक्षाप्रघटके^३ इत्युपरस्यते ।

अधुना प्रमाणभावात् तदाभासितां तैयोर्दिशेयितुमाह—

प्रामाण्यं व्यवहाराद्वि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः ।

मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥ ४१ ॥

5

विवृतिः—शुद्धमशुद्धं वा द्वैव्यं पर्यायं समस्तं व्यस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यश्च व्यवहारेणैव । स च संग्रहे भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सःप्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम् ; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात् ;
10 अन्यथा स्वप्नान्तरवत् तद्विसेवादात्र किञ्चित् प्रमाणम् । नैगमेऽपि 'चैलं गुणप्रवृत्तं नित्यं चैतन्यम्' इति व्यवहारासिद्धः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमुच्छति ।

यतु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव (येव) सुतुच्छकम् ॥" [१]

(१) पुरुषस्य । (२) सुखाद्यात्मकत्वात् । (३) पू० ३५४ । (४) संग्रहाभासनैगमाभासयोः ।
(५) व्याख्या—'प्रमाणं स्वेष्टानिष्टसाधनद्वयणनिबन्धनं प्रत्यक्षमन्यद्वा सर्वैरभ्युपगन्तव्यमन्यथाऽति-
प्रसङ्गात् । तच्च व्यवहारात् । विविपूर्वकमवहरणं विभजनं भेदकल्पनं व्यवहारस्तस्मात् तमाश्रित्येत्यर्थः ।
स च तत्त्वतः परमायैतौ न स्यात् । क्व ? तयोः संग्रहाभासनैगमाभासयोः । न खलु निरपेक्षे भावैकान्ते
प्रमाणादिभेदव्यवहारोस्ति निराकृतत्वात् भेदैकान्ते वा प्रमाणफलव्यवहारोऽस्ति सम्बन्धाभावात् ।
औपचारिकः प्रमाणफलव्यवहारस्तथास्तीति चेदत्राह—मिथ्येत्यादि । मिथ्यैकान्ते प्रमाणफलव्यवहारस्या-
वास्तवैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विशेषः भेदोऽपि कः ? न कोपीत्यर्थः । कयोः ? स्वपक्षविपक्षयोः, स्वपक्षो
वास्तवैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विशेषः भेदोऽपि कः ? न कोपीत्यर्थः । कयोः ? स्वपक्षविपक्षयोः, स्वपक्षो
ब्रह्मवादी भेदवादी वा, विपक्षः क्षणिकवादोऽद्वैतवादी वा तयोः संकरप्रसंगादित्यर्थः । ततः कथञ्चि-
द्व्यवहारोपि वास्तवोऽङ्गीकर्तव्यः ।"—लघी० ता० पू० ६० । तुलना—'प्रामाण्यं व्यवहारेण...'
—प्रमाणवा० १।७ । (६) 'उक्तार्थे शास्त्रं प्रमाणयति—तथा चेति । परमं पारमार्थिकं नित्यमिति
मायेव लौकिकमायावत् क्षणभङ्गरम्, अतः सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छमल्पसारं स्थिरांशाभावा-
विति । अत्र सुशब्देन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्वं सूचितं गुणा एव परिणामितया कूटस्थनित्या-
पेक्षया तुच्छाः, गुणकार्यं तु दृश्यमानं गुणपेक्षयापि तुच्छम्, अतः सुतुच्छमिति...—योगवा०
पू० ४१४ । "परमं रूपं मूलरूपमव्यक्तावस्थां न दृष्टिपथमुच्छति गच्छति, अतः दृष्टिपथं प्राप्तं यद्
गुणरूपं तद् मायेव सुतुच्छकं मायया प्रदक्षितं प्रपञ्चं यथा तुच्छं तथेति ॥"—योगसू० भास्व० पू०
४१४ । कारिकेयं निम्नस्थेषु समुद्धृतास्ति—'तथा च शास्त्रानुशासनमगुणानां...—योगभा०
४।१३ । 'वच्छिन्नशास्त्रस्यानुशिष्टिः—गुणानां...—योगभा० तत्त्वव० ४।१३ । योग० भास्वती,
पात० रह० ४।१३ । 'भगवान् वार्षगण्यः—गुणानां...—शां० भा० भासती पू० ३५२ । नयकवृ०
पू० ४३ A. । तत्त्वोपलब्ध० पू० ८० । सांख्यतत्त्वा० पू० ६ । 'गुणानां सुमहद्गुणम्' । —प्रमाणवा-
तिकालं परि० ४, पू० ३३ । सिद्धिर्वि० टी० पू० ७४ B. । अष्टसह० पू० १४४ । "...दृष्टिपथं
प्राप्तं तन्मायावस्तु तुच्छकम्—जयसं० पू० ६३ ।

१ गुणपरिक—अ० । २ भासयतां अ० । ३ प्रमाणं व० । ४ व्यं व्य—ई० वि० । ५ स्तं व्य—ज०
वि० । ६ बलं ई० वि० ।

इति प्रमाणमस्ति समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तत । 'शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति लोकव्यवहारमतिवर्त्तत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति वर्त्तत वा समवायान्तराभावात् तदनवस्थानुपपन्नात् ।

प्रामाण्यं व्यवहारात् व्यवहारमाश्रित्य, हिः अवधारणार्थः । व्यवहारादेव न ज्ञानाद्यद्वैताद्याश्रित्येत्यर्थः । तत एव तदस्तु को दोषः इति कारिकाव्याख्यानम्—
चेदत्राह—'स' इत्यादि । स व्यवहारो न स्यात् तत्त्वतः परमार्थतः **तयोः** संग्रहनैगमाभासयोः । ननु यदि तयोर्व्यवहारो वास्तवो नास्ति, मा भूत् अवास्तवस्तु भविष्यति इत्यत्राह—'मिथ्यैकान्त' इत्यादि । अयमभिप्रायः—यत्र व्यवहारो मिथ्या तत्र तदाश्रितं प्रमाणमप्येकान्तेन मिथ्या, तस्मिन् **मिथ्यैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **विशेषो** भेदः कः न कश्चित् । कयोः ? **स्वपक्षविपक्षयोः** । ततः उभयोः सिद्धिरसिद्धिर्वा स्यादिति भावः । वाशब्द अपिशब्दार्थे ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'शुद्धम्' इत्यादि । शुद्धं द्रव्यं पर्यायरहितं ब्रह्मादि, शुद्धं पर्यायं द्रव्यरहितं क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपम् । अशुद्धं द्रव्यं सपर्य-
विवृतिव्याख्यानम्—
यम् । अशुद्धं पर्यायं सद्रव्यम् । अस्यानन्तरस्य विशेषणमाह—
'व्यस्तम्' इत्यादि । व्यस्तम् अन्योन्यनिरपेक्षम्, अनेन नैयायिकमतं दर्शितम् । समस्तम् अन्योन्यात्मकम्, अनेनापि सांख्यदर्शनं प्रकाशितम्, विकारविकारिणोः सांख्यैस्तादात्म्याभ्युपगमत् । 'व्यवस्थापयता' इत्येतत् प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तत्साधनं तयोः शुद्धाशुद्धव्यस्तसमस्तद्रव्यपर्याययोः साधनं मृग्यम् अन्वेष्ट्यम् । तच्च नय-
त्किञ्चिद् भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवस्तुव्यवस्थायामन्यस्याऽनधिकारात् । अन्यथा प्रमाणान्वेषणाभावप्रकारेण तद्व्यवस्थापने अतिप्रसङ्गात् सर्वतः सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु संग्रहनैगमाभासप्ररूपणप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतं 'शुद्धं पर्यायम्' इत्येतत् प्रस्तूयते इति च न वाच्यम् ; दृष्टान्तार्थत्वात् । यथैव शुद्धं पर्यायं व्यवस्थापयता सौगतेन प्रमाणं मृग्यम् तथा अन्येदपि अन्येन व्यवस्थापयता तन्मृग्यमिति ।
यदिवा, उत्तरत्र ऋजुपूत्राभासे इदमवश्यं वक्तव्यम्, तदिहैवोक्तम् । मृग्यत एव तर्हि

(१) तुलना—'पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दास्त्रेभे स्वयं कृताः । शुङ्गं गवीति लोके स्यात् शुङ्गे गौरित्यलौकिकम् । प्रमाणवा० ३।१५० । 'वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः । शिलाख्यपरिशिष्टाङ्गनैरन्तर्योपलम्भनात् । तौ पुनस्तास्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते ।'—तत्त्वसं० ५० २६७ । (२) शुद्धद्रव्यादि । (३) ब्रह्माद्वैतादिवादिना । (४) प्रमाणम् ।

१-ततः वर्त्तत ई० वि० । २ प्रमाणं व०, श्र० । ३-वेवज्ञाना-आ० । ४ ज्ञानाद्वैता-व० । ५ ततः श्र० । ६ यथा तयोः व० । ७ अथासवस्तु आ०, अवास्तुस्तु श्र० । ८ प्रमाणमित्येका-आ० । ९ द्रव्यपर्याय-श्र० । १० अनेन आ० । ११ तदिह चोक्तम् व० ।

प्रमाणमिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य तद्व्यवस्थापकस्य प्रामाण्यञ्च व्यवहार-
 रेणैव न परपरिकल्पितपरमार्थप्रकारेण तत्र तदसिद्धेः । स च व्यवहारः संग्रहे मिथ्यैव
 लेज्ञतोऽपि सत्यो न भवति इति एवकारार्थः । कुत एतदित्याह—भेदाश्रयो यतः ।
 भवत्वैवम्, को दोषः ? इति चेदत्राह—‘ततः’ इत्यादि । तस्मात् मिथ्यारूपात् प्रमाणादि-
 5 व्यवहारात् संग्रहः प्रतिपक्षं भेदैकान्तं कथमतिशयीत ? न कथञ्चित् । तत्रापि-
 मिथ्याप्रमाणादिव्यवहारभावात् ‘प्रामाण्यं व्यवहारेण’ [प्रमाणवा० १।७] इत्यादि-
 वचनात् । ननु अभेदात्मकः संग्रहः भेदात्मकश्च प्रतिपक्षः, तत्कथं स तं नातिशेते ?
 इत्यत्राह—‘सत्यं’ इत्यादि । सत्यम् अवितथम् इतरं वितथम् ते च ते स्वरूपे च
 ते यस्य स्तः तत् तद्वत् । क्रियाविशेषणमेतत्—सत्यरूपवद् यथा भवति तथा संग्रहोऽ-
 10 तिशयीत, इतरस्वरूपवत् यथा भवति तथा प्रतिपक्षमिति, प्रतिपक्षवत् संग्रहोऽपि
 मिथ्यैव स्यात् इत्यर्थः । ततः को दोषः इत्यत्राह—‘मिथ्या’ इत्यादि । मिथ्यैकान्तस्य
 संग्रहप्रतिपक्षयोः योऽविशेषः तस्मिन्नपि न केवलं विशेषे तस्य संग्रहस्य व्यवस्था-
 पनमयुक्तम् । उपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् उभयोपलब्धेः
 संग्रहेतरयोः उपलब्धेः अवितथात्मकत्वात् सत्यस्वभावत्वात् ‘स कथं प्रतिपक्षमति-
 15 शयीत’ इति सम्बन्धः । तस्यावितथात्मकत्वे दूषणमाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा
 अवितथात्मकत्वाभावाप्रकारेण स्वमान्तरवत् स्वप्रभेदवत् तस्याः विसंवादाच्च
 किञ्चित् प्रमाणम् ।

एवं संग्रहाभासे प्रमाणाभावं प्रदर्श्य इदानीं नैगमाभासे तं दर्शयन्नाह—‘नैगमेऽपि’
 इत्यादि । न केवलं संग्रहे अपि तु नैगमेऽपि न किञ्चित् प्रमाणम् । एतदेवाह—
 20 ‘चलम्’ इत्यादि । चलम् आविर्भावतिरोभाववत् । किं तदित्याह—‘गुण’ इत्यादि ।
 गुणानां सत्त्वादीनां वृत्तं महदादिरूपेण परिणमनं निरर्थं चैतन्यम् इति एवं स्वरूचि-
 विरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । कुतः ? व्यवहारासिद्धेः । एतदेव दर्शयन्नाह—‘नहि’
 इत्यादि । हिर्थस्मात् न गुणानां सत्त्वरजस्तमसां परमं प्रधानलक्षणं रूपं न दृष्टिप-
 थमृच्छति, यत्तु रूपं महदादि दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् इति एवं प्रमाणमस्ति
 25 प्रत्यक्षादेराऽनवतारदिति ।

सांख्यनैगमाभासे प्रमाणाभावं प्रदर्श्य अधुना नैयायिकतैदाभासे तं दर्शयन्नाह—

(१) व्यवहारो हि भेदमाश्रित्य प्रवर्तते अतः अभेदग्राहिसंग्रहयदृष्ट्या मिथ्यैव । (२) उद्धृतो-
 ज्यम्—तत्त्वार्थद्वयोः पृ० १७३ । सिद्धिर्वि० टी० पृ० १८ A., २३२ B., २९४ B., ३०५ B., ३२४
 ५२० B. । प्रमेयकं पृ० २१७, ३८३ । सन्मति० टी० पृ० १११, ४९७ । न्यायवि० वि० पृ० ३८
 B. । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५८ B. । (३) नैगमाभासे । (४) प्रमाणाभावम् ।

१-माण्यं व्यव-आ० । २-रद् तद्विषय-अ० । ३ यो वि-ब०, आ० । ४ तस्य व्यव-आ० ।
 ५ संग्रहेतरोपल-ब०, अ० । ६ सत्त्वस्व-अ० । ७ नित्यचैतन्यं अ०, नित्यचेतना-ब० । ८ तन्मायेव
 ब० । ९ इत्यलं प्र-ब० ।

‘समवायेन’ इत्यादि । समवायेन सम्बन्धेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तते [ति]
 ‘नहि प्रमाणमस्ति’ इति सम्बन्धः । ननु ‘शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः’ इति प्रतीतिः तत्र
 प्रमाणमस्तीति चेदत्राह—‘शृङ्गे’ इत्यादि । शृङ्गे गौः शाखायां वृक्ष इति एवं यत् प्रमाणं
 तत् लोकव्यवहारमतिवर्त्तते तत्र तथाप्रतीतेरभावात् । कुत एतदित्याह—विपर्ययात्,
 ‘गवि शृङ्गं वृक्षे शाखा’ इति लोकव्यवहारे प्रतीतिसद्भावात् । अत्रैव दूषणान्तरमाह—
 ‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मना अज्ञस्वभावः अचेतनः सन् आत्मा ज्ञान-
 समवाये सति कथमिव ज्ञः स्यात् चेतनो भवेत् ? नहि तथा ज्ञत्वप्रकारेण अपरि-
 णतस्य तत्त्वं ज्ञत्वं युक्तम् । कुत एतत् ? समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । ‘नवै’
 इत्यादिना परमतमाशङ्कते—नैव नैव ज्ञानेन समवायस्य समवायोऽस्ति तत्कथमस्यै
 ज्ञत्वप्रसङ्गः इति चेत् तत्राह—‘कथम्’ इत्यादि । कथं केन प्रकारेण समवायोऽस्ति ?
 न केनचिद्, व्यवस्थापकप्रमाणानां समवायपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात् । इतश्च
 नास्त्यसौ स्वभावभावराहितो यतः । तस्यै हि स्वभावोऽयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, तच्च तत्रैवै
 विस्तरतो निषिद्धम् । कथं च समवायिष्ववर्त्तमानस्य अश्वविषाणस्येव अर्थं अयुतसिद्ध-
 सम्बन्धत्वं युक्तम् ? अथ वर्त्तते एवासौ तत्रैः अत्राह—‘वर्त्तते वा’ इत्यादि । अत्रार्थं
 ज्ञत्वलक्षणं दूषणमुक्तमिति मत्वा दूषणान्तरमाह—वर्त्तते वा कथं समवायान्तराभावात्
 एकत्वात्तस्य । विशेषणीभावाद् वर्त्तते इति चेदत्राह ‘तद्’ इत्यादि । समवायस्य
 तदन्तरकल्पने या अनवस्था तस्य अनुषङ्गात् कथमसौ कापि वर्त्तते ? अयमभिप्रायः—
 अनवस्थाभयात् समवायस्य समवायान्तरं परेण न कल्प्यते, सा च विशेषणीभावक-
 ल्पनेऽप्यविशिष्टा सम्बन्धान्तरकल्पनस्य अत्राप्यविशेषात् । नहि असम्बद्धो
 विशेषणीभावः समवायस्य समवायिषु वृत्तिहेतुः इत्युक्तं समवायनिषेधप्रघटके ।

इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह—

व्यवहारीविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥४२॥

(१) लोकव्यवहारे । (२) समवायस्य । (३) पृ० २९७ । (४) “अयुतसिद्धानामाध्याया-
 रभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः ।” (प्रश्न० भा० पृ० १४) इत्यभिधानात् । (५)
 समवायपरीक्षायाम् (पृ० २९७) । (६) समवायस्य । (७) समवायिषु । (८) समवायस्य । (९)
 “तत्त्वं भावेन”—वैश्वे० सू० ७ । २ । २८ । “तस्माद् भाववत्सर्वत्रैकः समवायः”—प्रश्न० भा० पृ०
 ३२६ । (१०) पृ० ३०३ । (११) व्याख्या—‘स्याद् भवेत् । कः ? नयः संग्रहादिः । किंविशिष्टः ;
 बहिरर्थोऽस्तीतीदृशः । इतिशब्दात् प्रमाणमस्ति साध्यसाधनभावोऽस्तीत्यादि । कथम्भूतः सन् ? व्यवहा-
 राविसंवादी, हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहारः तस्याविसंवादोऽप्यभिचारः सोऽस्यास्तीति तथोक्तः ।

१ वर्त्तते नहि ब०, वर्त्तते नहि अ० । २-हारप्रतीति-ब०, अ० । ३ न चेतावतैव ज्ञानेन ब० ।
 ४ चेदत्राह अ० । ५-न्यवर्त्तं तत्रैव आ० । ६-वासी युक्तं तत्र ब० । ७ दूषणमाह ब० । ८ वा
 समवायान्तरात् एकत्वाभावात् एकत्वात्तस्य अ० । ९ असम्बन्धो आ० । १०-हारीविसं-मु० लघी० ।
 ११-सात्रशून्य-मु० लघी० ।

विज्ञप्तिः—प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः । कथम् ? उत्पादविगमश्रौच्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इति । श्रुतेः प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वापराविरोधश्च अविसंवादः । तदपेक्षोऽयं नयः, ततोऽन्यथा दुर्नयः । कथम् ? बहिरपि स्वैलक्षणमर्थक्रियासमर्थं सद् अंगीकृत्य तत्प्रतिज्ञेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वम् इति प्रत्यवस्थाप्य तदपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपन्न कचिद् व्यवतिष्ठेत् स्वपरिवसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिविरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरैलं शेषप्रलापेन ।

हेतुकलभावादिव्यवस्था व्यवहारः तदविसंवादी नयः स्यात् ।

10 अन्यथा तद्विसंवादप्रकारेण दुर्नयः न्याभासः स्यात् । अत्रो-
कारिकाख्याख्यानम्—
दाहरणमाह—‘बहिः’ इत्यादि । ‘बहिरर्थोऽस्ति’ इति नयस्य उदाहरणम्, शेषं दुर्नयस्य । बहिरर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रमाणमस्ति कार्यकारणभा-

व्यवहारस्य हि सुनयत्वे तदाश्रया हेतुकलभावादिसिद्धिः स्यात् अन्यथा व्यवहारविसंवादी दुर्नयः स्यात् । कीदृशः ? विज्ञप्तिमात्रम्, विज्ञप्तिविज्ञानमेव तत्त्वं नान्यत् । शून्यम्, समस्तज्ञानज्ञेयोपप्लव एव तत्त्वमितीदृशः । इतिशब्दः प्रकारवाची, सन्मात्रमेव तत्त्वं विभ्रम एव तत्त्वमित्यादिप्रकारात् सूचयति । “—लघी० ता० पृ० ६१ । तुलना—“वच्चइ विणिच्छिअत्थं व्यवहारो सव्वदब्बेसु ।”—अनुगोष्ठार० ४ ङा० । भाव० नि० गा० ७५६ । विशेष० गा० २७०८ । “लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृताथो व्यवहारः । “आह च—लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विधात् ।”—तत्त्वार्थशिखि० भा० ११३५ । तत्त्वार्थो हिरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० ११३५ । “संग्रहतयाक्षिलानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ।”—सर्वार्थसि० ११३३ । राजवा० ११३३ । “व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः ।”—ध्वलाढी० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविव० ७६ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । सम्मति० टी० पृ० ३१० । नयचक्र गा० ३५ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२३ । स्या० सं० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ । (१२) “कल्पानारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागमाह । प्रमाणवाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविव० ७६ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । न्यायावता० टी० पृ० ८६ । प्रमाणनय० ७।२५, २६ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

(१) तुलना—“त्रयः पदार्थाः अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्”—राजवा० पृ० १७ । (२) द्रष्टव्यम्—पृ० ६०५ टि० ७ । (३) तुलना—“गुणानामासथो दब्बं एकदब्बस्सिया गुणा । लक्षणां पज्जवार्णं तु उभयो अस्सिया भवे ॥”—उत्तरा० २८।६ । “दब्बं सल्लक्षणीयं उपादब्बमधुवत्तसंजुत् । गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णति सव्ववृत्तं ।”—पञ्चास्ति० गा० १० । “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्”—तत्त्वार्थसू० ५।३८ । “तं परियाणहुं दब्बु वुत्तुं जं गुणपज्जयजुत् । सहभुव जाणहि तांहु गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु ।”—परमात्म० गा० ५७ । न्यायवि० श्लो० १११ । (४) तुलना—“उवओगलक्षणे जीवे ।”—भगवत्सू० २।१० । उत्तरा० २८।१० । “उपयोगो लक्षणम्”—तत्त्वार्थसू० २।८ । (५) “अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमात्मतत्त्वं ।”—प्रमाणवा० २।३ । (६) “विज्ञातिमात्रमेवेदमसदर्थविभासनम् । यथा तैमिरिकस्यासत्के-
शचन्द्रादिवशं नम् ।”—विशतिकाविज्ञप्ति० श्लो० १ । (७) तुलना—“अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवा-
दत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रष्टव्ये वा प्रजासु विरुद्धार्थ-
प्रतिपत्त्या विमूह्युरिमाः प्रजा इति ।”—शां० भा० २।२।३२ ।

१ पूर्वापराविरोधश्च विसंवादः ई० वि० । २ तदातिष्ठ—ज० वि० । ३—रलं प्र—ई० वि० ।

वादिरस्ति इत्यादिः सर्वो नयः संगृहीतः । 'विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वम्, शून्यं तत्त्वम्' इतीदृशो दुर्नयः स्यात् ।

कारिकां विवृणुवन्नाह—'प्रत्यक्षस्यापि' इत्यादि । न केवलमनुमानादेः अपि तु प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । अतः "प्रमाणम्-विवृतिव्याख्यानम्-विसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण, आज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्येतत् 5 परमार्थेन प्रमाणम्" [] इत्युक्तम्; व्यवहारव्यतिरिक्तस्य परमार्थ-स्याऽसंभवात् । कुत एतदित्याह—'स' इत्यादि । योऽसौ प्रामाण्येन अपेक्ष्यते स पुनः व्यवहारः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः, तद्व्यतिरिक्तस्तु अन्यो न कश्चित्संभवति यः परमार्थः स्यादित्यभिप्रायः । अर्थाभिधानयोरर्थत्वेऽपि अत्र अर्थ-शब्देन विवक्षातः तद्विषयो गृह्यते तदन्यतमापाये व्यवहारानुपपत्तेः । स्वप्नेऽपि-शेषचोदनायां कृतो नानाविज्ञानसन्तानव्यवस्था विभ्रमव्यवस्था अन्या वा स्यात् इत्युक्तं बाह्यार्थसिद्धिप्रस्तावे । 'कथम्' इति परप्रश्नः । कथं केन प्रकारेण अर्थात्मनो व्यवहारस्य स्वरूपं स्थितमिति ? उत्तरमाह—'उत्पाद' इत्यादि । उत्पादवि-गमप्रौढ्याणि लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तदित्याह—'सद्' विद्यमानं घटादि प्रमेयम् । प्रसाधितञ्च उत्पादविनाशात्मकत्वमर्थानां सांख्यं प्रति प्रकृतिपरीक्षा-याम् । कथं बौद्धं प्रति धौव्यं सिद्धमित्याह—'गुण' इत्यादि । संहर्तुवो गुणाः सुखज्ञानवीर्यादयः, क्रमभुवः पर्यायाः सुखदुःखादयः, तद्वद्द्रव्यम् । इन्द्र प्रसङ्ग-साधनं सौगतं प्रत्येवं व्याख्येयम्—सहभाविनानाधर्मात्मकं चित्तमन्यद्वा चेदङ्गीकृत्यते, क्रमभाव्यनेकधर्मात्मकमप्यङ्गीकर्तव्यम् । नो चेत्; युगपदपि तर्त्था नाङ्गीकर्तव्यम-विशेषात् । नैयायिकं प्रति पुनरेवम्—इच्छादिगुणसमवायित्वं चेत् कस्यचिद्व्यतिरेकेऽपि 20

(१) तुलना—'ततो यदुक्तं प्रमाणमविसंवादिज्ञानमित्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम्, आज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेण ज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासार्यस्य आत्मवेदनस्य एवमभिधानात् ।'—सिद्धिचि० टी० पृ० ९ B. । 'सांख्यव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं प्रमाणमविसंवादिज्ञानमिति ।'—तत्त्वसं० पं० पृ० ७७४ । (२) प्रमाणविषयः, अभिधानप्रत्ययविषयो वा । (३) अर्थाभिधानप्रत्ययेषु एकस्याप्यभावे । (४) योगाचाराः माध्यमिकाश्च अर्थं स्वप्नवत् मिथ्यारूपं वासना-कल्पितं मन्यन्ते तथा चोक्तम्—'फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा । मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः । मायोपमञ्च विज्ञानमुक्तमादित्यवन्धुता ।'—सा० वृ० पृ० ४१ । 'मायास्वनेन्द्रजालसदृशा द्रष्टव्याः'—नैरात्म्यप० पृ० १८ । न्यायकुस० पृ० १३२ टि० ४ । तान् प्रत्याह—स्वप्नेनाविशेषेत्यादि । (५) पृ० ११९ । (६) पृ० ३५४ । (७) तुलना—'अन्वयिनो गुणाः, व्यतिरेकिणः पर्यायाः'—सर्वार्थसि० ५।३८ । गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ।'—न्यायवि० श्लो० १११, टि० पृ० १६१ । 'सहभुवो हि गुणाः'—घबलाटी० पृ० १७४ । (८) चित्तं नानाधर्मात्मकम् । (९) आत्मनः ।

१-धि सर्वो आ०, अ० । २ स हि इ-अ० । ३-हारावर्षि-आ० । ४ तद्विशेषयोः-अ० । ५ स्वप्नेनाविशेषचोद-अ०, स्वप्नेनाविशेषनोद-आ० । ६ कुतो ज्ञानाविज्ञा-आ० । ७-वस्थामव्यवस्था अन्या अ० । ८ सहमुखो गु-ब० । ९ प्रसाधनं अ० । १०-व्यतिरेका-ब० ।

- रापरपर्यायात्मकत्वमेष्टव्यम् । नो चेत् ; तत्सामवायित्वञ्च स्यात् । ततो यत् एव गुण-
पर्यायवद्भव्यं तैत् एव उत्पादविगमप्रौढ्यलक्षणं सदिति । कैस्तत्प्रतिपद्यते ? इति
चेदब्राह्म-“जीव” इति । जीव आत्मा उत्पादादिरूपं सैत् घटादिप्रमेयं ‘प्रतिपद्यते’
इत्यध्याहारः । तस्य अनादिनिधनस्वभावतया तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यसंभवात् । प्रसा-
धिञ्चात्मा तत्त्वान्तरम् अनादिनिधनस्वभावश्च चार्वाकमतपरीक्षायां सन्ताननिषेधाव-
सरे च । ननु यदि सैत्तामात्रेण असौ तैत्प्रतिपद्यते तदाऽतिप्रसङ्गः । अथ प्रत्य-
क्षादिना; तैदाऽशक्तिरिति चेदब्राह्म-“^{१०}चैतन्यस्वभाव” इति^{११} । चैतन्यस्वभावः स्वपर-
ग्रहणस्वरूपः इति हेतोः प्रत्यक्षादिपर्यायरिणतः^{१२} सैत् तैत्प्रतिपद्यते । तथा च उत्पा-
दाद्यात्मकार्यलक्षणोऽर्थात्मको व्यवहारः सिद्धः, तत्प्रतिपत्तिलक्षणः प्रत्ययात्मकः, तत्प्र-
रूपकशब्दलक्षणः शब्दात्मक इति ।

- अथ शब्दात्मके व्यवहारे को विसंवादः ? इत्याह-“श्रुतेः” इत्यादि । श्रुतेः
अभिधानस्य प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षादिनाऽबाधनम् अविसंवादः । कथमत्यन्तपरोक्षेऽर्थे
तदविसंवादः प्रमाणान्तराबाधनस्य अन्यस्य वा ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यब्राह्म-“पूर्व”
इत्यादि । पूर्वैर्द्वाक्यं यच्च अपरं तयोरेतयोर्ध्वश्च अविसंवादः, न केवलं प्रमाणान्त-
राबाधनमेव, अस्ति चायं स्याद्वादलञ्छितागमस्य । अतो “न हिंस्यात् सर्वं (सर्वा) भूतानि”
[^{१३}यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयमुच्यते^{१४}] [मनुस्म० ५।३९] इत्यागमस्य
“गंगाद्वारे कुशावतै विल्वे के नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे सम्भवेच पुनर्भवे ॥” [^{१५}चित्तं तीर्थस्नानाच्च शुद्धयति ।
“दुष्टमन्तर्गतं^{१६} चित्तं तीर्थस्नानाच्च शुद्धयति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुरामायडमिवाशुचि^{१७} ॥” [जाबाल० ४।५४ ।]

इत्यागमस्य च नाविसंवादः पूर्वापरविरोधैः सद्भावात् इत्युक्तं भवति ।

एवं व्यवहारं प्रदर्श्य तदाश्रयं नयं प्रदर्शयन्नाह-“तदपेक्ष” इत्यादि । तस्मिन्

(१) पृ० ३४३ । (२) पृ० ९ । (३) आत्मा । (४) उत्पादादिस्वरूपं प्रमेयम् । (५)
सुपुलाखवस्थास्वपि प्रमेयबोधप्रसङ्गः । (६) यदि प्रत्यक्षादिद्वारेण जानाति तदा स्वयमात्मनः प्रमेय-
बोधेऽशक्तिः प्राप्ता अत आह चैतन्यस्वभाव इति । वृत्तितायां पृ० प्रतावपि ‘तदाऽशक्तिः’ इत्येव पाठः ।
(७) आत्मा । (८) प्रमेयम् । (९) श्रुतेरविसंवादः । (१०) अर्थक्रियास्थितिरूपस्य वाऽविसंवा-
दस्य । (११) यज्ञस्य (स्व) भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे बधोऽवचः । इत्युत्तरार्धम् । उद्धृतोऽयम्-
यश० उ० पृ० ९१, ३५७ । (१२) उद्धृताविमी-प्रमाणवात्तिकाल० परि० ४ पृ० १४० । ‘चित्तमन्तर्गतं
दुष्टं तीर्थस्नानेन’-जाबाल० । (१३) ‘न हिंस्यात्’ इत्यहिंसाविधानं यज्ञे पशुबधेन विरुध्यते गंगाद्वा-
रादितीर्थस्नानविधानञ्च ‘तीर्थस्नानाच्च शुद्धयति’ इति तीर्थस्नानस्य निरर्थकत्वप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

१-वायिष्वं स्यात् श्र०-वायिष्वं तत्स्यात् व० । २-पर्यय-व० । ३ अत एव श्र०, व० । ४ कस्त-
त्र-आ० । ५ स घटा-आ० । ६-पछन्ते आ० । ७-भावश्चार्वा-आ० । ८ ननु च यदि श्र० । ९ सन्तान-
मात्रेण श्र० । १० ‘चैतन्य स्वभाव इति’ नास्ति आ० । ११-ति चैतन्यस्य स्वभावः इति चैतन्यस्वभावः स्वपर-
-श्र० । १२ सस्तत्र-आ०, श्र० । १३ यद्वाच्यं आ० । १४ वित्तं श्र० । १५ प्रवर्षयितुमाह व०, श्र० ।

व्यवहारे अपेक्षा यस्यासौ तदपेक्षोऽयं लोकसिद्धो व्यवहाराख्यो नयः । ततोऽन्यथा तदपेक्षाभावप्रकारेण दुर्नयः । ननु तदपेक्षं एव दुर्नयः अप्रमाणमूलस्य व्यवहारस्यावलम्बनात्, न ततोऽन्यो निरक्षणिकपरमार्थाश्रयणात् । एतदेवाह—‘कथम्’ इति । न कथञ्चित् ‘ततोऽन्यथा दुर्नयः’ इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरमाह—‘बहिरपि’ इत्यादि । न केवलमन्तः किन्तु बहिरपि स्वलक्षणं क्षणिकनिरक्षपरमाणुलक्षणम् अर्थक्रियासमर्थं यतः ततः सद् विद्यमानम् अङ्गीकृत्य पुनः तस्य स्वलक्षणस्य प्रतिक्षेपेण निरासेन ‘विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वं नात्मादिकम्’ इति एवं प्रत्यवस्थाप्य पुनरवस्थाप्य तदपि विज्ञप्तिमात्रमपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं पर्यालोच्यमानं नित्यादिवन्न परीक्षां क्षमते इति एवं स्वभावनैरात्म्यं निःस्वभावत्वम्, कथम्भूतम् ? असाध्यसाधनं साध्यसाधनविकलम् आकुलं यथा भवति तथा प्रलपन् सौगतो न क्वचिद् अन्तर्बहिः सकलशून्यतायां वा व्यवतिष्ठेत् यतः ‘तदपेक्ष एव दुर्नयः’ इत्युक्तं शोभेत । ननु किमुच्यते स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनम् यावत्तत्र साधनं विचार एव इति चेदत्राह—‘स्वपर’ इत्यादि । स्वः सौगतः परो नैयायिकादिः तयोः विसंवादः तत्त्वाप्रतिपत्तिः व्यसनं संसारसंस्काराणां तैः तैः अधिकृत्य कृतेन पुनः पश्चाद् अलं पर्याप्तं शेषप्रलापेन असम्बद्धाभिधानेन । कुत एतदित्यत्राह प्रत्यक्षादिविरोधात्, प्रत्यक्षमादिर्धैर्यस्य अनुमान-लोकप्रसिद्धादिः तत्त्वोक्तं तेन तस्य वा विरोधात् । अथ प्रत्यक्षादेरनभ्युपगमात् दोषोऽयमत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तेषां प्रत्यक्षादीनां मध्ये अन्यतमस्य अभिमतत्वाद् अङ्गीकृतत्वात् सौगतैः, कुतोऽन्यथा तेषां स्वपराभिमतसाधनदूषणमित्यभिप्रायः ?

एवं व्यवहारनयं साभासं प्रतिपाद्य इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह—

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।

चेतनाणुसमुहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥ ४३ ॥

(१)सौगतः । (२)प्रमाणाप्रसिद्धकल्पितलोकव्यवहारापेक्षी । (३)अस्मदभिमतः प्रमाणसिद्धक्षणाकाशपेक्षी । (४) विसंवादव्यसने । (५)प्रत्यक्षादस्वीकारे । (६)सौगतानाम् । (७) व्याख्या—‘ऋजुं वर्तमानपर्यायलक्षणं प्रयुज्यते सूत्रयति निरूपयतीति ऋजुसूत्रस्य प्रधानं विषयः स्याद् भवेत् । कः ? पर्यायः वर्तमानविवर्तः । अतीतस्य विनष्टत्वेन भविष्यत्तत्त्वासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात् व्यवहाराविसंवादी नय इति वचनात् । ननु चित्रज्ञानमेकमनेकाकारं व्यवहारोपयोगि स्यादिति चेदत्राह—चित्रेत्यादि, चित्रा संवित् ज्ञानं तस्याः चेतनाणुसमूहत्वात्, चेतना ज्ञानं तस्याणवः अंशाः अविभागप्रतिच्छेदास्तेषां समूहः समुदायः तत्त्वात्, न चित्रसंविद् ऋजुसूत्रनयस्य विषयः । न खलु समुदायः नीलपीतादिनानारूपः प्रतिनियतव्यवहारोपयोगीति । नन्वेवं तत्र भेदः किमिति नोपलक्ष्यत इति चेदत्राह—भेदानुपलक्षणादिति । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादित्यध्याहारः । ततो भेदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमदर्शनं सदृशापराप-

१ यस्य तदपे-श्र० । २ तदपेक्षणं च दु-ब०, तदपेक्ष एव दु-आ० । ३-मर्थयतः श्र० । ४ स चि-आ० । ५-आयां क्षम-ब० । ६-प्रसिद्धसाधनं ब० । ७ यावतातत्र ब०, श्र० । ८-तात्ति ते आ० । ९ तस्य चाविरो-ब०, तस्य विरो-आ० । १० प्रतिपाद्येतां ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभि-आ०, ब० ।

विवृतिः—यथा बहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव संवित्परमाणवोऽपि । तच्चैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमम्, यत् सूक्ष्मं साधयेत् भेदस्य अभेदविरोधात् । क्वचिद्वानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो नयः । निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिजुमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतराभावे अर्थस्यानुपलब्धेः ।

ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभिप्रायवतो वा पर्यायः प्रभेदः प्रधानम्, प्रधान-शब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । ननु तस्यापि चित्रैका संविदस्ति तत्कथं पर्यायः प्रधानमित्याह—चित्रसंसिद्धिः

चेतनाणुसमूहत्वात् 'नैका चित्रा संविदस्ति' इति भावः । अथ मतम्—पर्यायत्वे-
10 उच्यते तथैवोपलक्षणं स्यादतः प्रतिसमर्थं भेदानुमानमनर्थकमित्यत्राह—'स्यात्' इत्यादि । स्याद् भवेद् भेदस्य नानात्वस्य अनुपलक्षणम् अनिश्चयनं सदृशापरापरो-
त्यत्तिविप्रलम्भात् मायागोलैकवदिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'यथा' इत्यादि । यथा येन दूरस्थितविरलकेशे निदर्शनप्रद-
र्शनप्रकारेण बहिः परमाणवः जडपरमाणवः सन्निविष्टाः रचनाविशेषेण

विवृतित्वाल्ल्यालम्—
15 व्यववस्थिताः स्थवीयांसमेव न सूक्ष्मम्, एकमेव नानेकम् आकारम्

रोत्सया विप्रलब्धबुद्धिः स्यादिति व्याख्यायते । अयमर्थः—यथाऽगोलकादौ पर्यायभेदो विद्यमानोऽपि विप्रलब्धबुद्धिना न निश्चीयते तथा चित्रसंविद्यपि तदंशभेदो वसन्नपि नोपलक्ष्यत इति । अथवा स्यात् कश्चित्च द्रव्याविनामाविपर्यायः ऋजुसूत्रस्य प्रधानम्, सर्वथा द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुत्वात् । निरवयवश्च क्षणिकैकान्तं ऋजुसूत्राभास इति व्याख्येयम् । "लघी० ता० पृ० ६२। तुलना—'पञ्चपुण्य-
गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेंअव्वो ।"—अनुभोगद्वार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५७ । विशेषा०
गा० २७१८ । "सतो साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमूजुसूत्रः—आहूच—साम्प्रतविषयग्राहकमूजु-
सूत्रनयं समासतो विद्यात् ।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहृदि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ ।
"ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्मयत इति ऋजुसूत्रः ।"—सर्वार्थसि० १।३३ । धवला टी० पृ० ८६ ।
"सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः"—राजवा० १।३३ । ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः । सूत्रपातवद्
ऋजुसूत्र इति ।"—नयचक्रवृ० पृ० ३५४ B. । "ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तुसत्सूत्रयेदुजु । प्राधात्येन
गुणीभावाद् द्रव्यस्थानपर्यायात् सतः ।"—तत्त्वार्थहलो० पृ० २७१ । नयवि० ७७ । प्रमेयक० पृ० ६७८ ।
सम्पत्ति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रगा० ८ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८ । स्या० सं०
पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः ।—धवलाटी० पृ० ८४ । (२) चित्रसंसिद्धिः । (३) भेदरूपेणैव । (४) तुलना—'समानज्वालासंभूतेर्यथा दीपेन विभ्रमः । नैरन्तर्यस्थितानेकसूक्ष्मवित्तो तथैकवा । यथा हि दीपादौ नैरन्तर्येण सदृशापरापरज्वालापदावर्धसंभवात् सत्यपि भेदे एकत्वविभ्रमो भवति तथा नैरन्तर्येणानेकसूक्ष्मतत्पदावर्धसंवेदनतोऽयमेकत्वविभ्रमः ।"—तत्त्वसं० पं० पृ० १९७ । यत्पुनर्योक्तं प्रज्ञाकरगुप्तेन—अतथाविधोस्तथाविधविषयसिद्धिः दूरस्थितविरलकेशोऽतदात्मसु तथाविधायास्तस्या दर्शनात् ।"—सिद्धिबि० टी० पृ० १०० B. ।

1—मित्यत्राह ब०, अ० । 2—संवेदनः अ० । 3—गोलच-आ०, गोलक्षणव-अ० । 4—निदर्शन-
प्रकारे दर्शनपरमाणवः आ० । 5—स्वकीयांसमेव ब०, अ० ।

अभूतम् असन्तं दर्शयन्ति, तथैव तैर्नैव प्रकारेण संवित्परमाणवोऽपि, बहिःपरमाणुवत्
 संवित्परमाणूनामपि स्वरूपेणाप्रतिभासनादिति भावः । उपसंहारमाह--'तद्' इत्यादि । यत्
 एवं तत् तस्मात् नैकम् अभिन्नं तत्त्वम् अनेकरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? अक्रमम्
 अक्षणिकम् 'युक्तम्' इत्यध्याहारः । यत् तथाविधं तत्त्वं सक्रमं साधयेत् जैनः । कुत
 एतदित्याह--'भेदस्य' इत्यादि । भेदस्य अनेकत्वस्य अनेकविरोधात् एकत्वविरोधात् । 5
 कचिद् अन्तर्बहिर्वा नानात्वमेव अनेकत्वमेव, अन्यथा भेदस्य अनेकविरोधाभावा-
 प्रकारेण न स्यात् । एवं ऋजुसूत्रस्य सामान्येन स्वरूपं प्रदर्शयन् अथुना तद्वेदं प्रदर्श-
 यन्नाह--'सापेक्ष' इत्यादि । स्वविषयादन्यत्र या अपेक्षा तथा सह वृत्तमानः ऋजुसूत्र-
 नयः, निरपेक्षो दुर्नयः । कुत एतदित्यत्राह--'प्रतिभासभेद' इत्यादि । प्रतिभास-
 भेदात् स्वभावभेदं वस्तुस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापयन् नयो वादी वा तदभेदाद् तस्य 10
 प्रतिभासस्य अभेदात् अभेदं भावैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हत्येव । ननु तत्रप्रतिभासयोः सत्ये-
 तत्त्वकृतो विशेषोऽस्ति ततो न भेदप्रतिभासादिव अभेदप्रतिभासादपि तत्त्वसिद्धिरि-
 त्यत्राह--'विशेषाभावात्' इति । द्वयोरपि प्रतिभासयोः सत्येतरलक्षणविशेषस्य भेदस्य
 अभावात्, 'उभयोरपि सत्यत्वात्' इत्यर्थः । तदन्यतरप्रतिभासप्रतीत्यपह्नवे दूषणमाह-
 'तद्' इत्यादि । तयोः भेदाभेदप्रतिभासयोर्मध्ये अन्यतरस्य अपाये अङ्गीक्रियमाणे* 15
 अर्थस्य वस्तुनोऽन्यतरप्रतिभासविकलस्य अनुपलब्धेः उपलम्भाभावात् सर्वदा उभया-
 त्मकस्य बोधलब्धेः तं प्रतिपत्तुमर्हत्येव ।

अथुना शब्दसमभिरुद्धेत्यभूतान्नयान् कथयन्नाह--

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।

अभिरूढस्तु पर्यायैः इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

20

(१) भेदाभेदप्रतिभासयोः । (२) 'शब्दो नाम नयः स्यात् । किं विशिष्टः ? अर्थभेदकृत् अर्थस्य
 प्रमेयस्य भेदं नानात्वं करोत्यभिप्रेतीत्यर्थभेदकृत् । कस्माद् ? भेदाद् विशेषात् । केयाम् ? कालकारकलि-
 ङ्गानाम्... उपलक्षणमेतत् ; तेन संख्यासाधनोपग्रहादपीत्यर्थः ।... तु पुनः अभिरूढो नाम नयः पर्यायैः
 पर्यायशब्दः । अर्थभेदकृत् यथा इन्दनादिन्द्रः शकनात् शकः पूर्वरीणात् पुरन्दर इति । न हि इन्दनादि-
 धर्मभेदाभावे इन्द्रादिशब्दः प्रयोक्तुं शक्य अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अभि स्वार्थीभिमुख्येन रूढः प्रसिद्धोऽभि-
 रूढ इति निवृत्तेः । पुनरित्यम्भूतो नाम नयः क्रियाश्रयः विवक्षितक्रियाप्रधानः सत्यर्थभेदकृत् यथा
 यदैवेन्दति तदैवेन्द्रः नाभिषेचको न पूजक इति, अन्यथापि तदभावे क्रियाशब्दप्रयोगनियमो न स्यात् । 1-
 -लघी० ता० पु० ६३ । तुलना--'शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशन् । अभिरूढस्तु पर्यायैरित्य-
 म्भूतः क्रियाश्रयः ॥'--प्रमाणसं० पु० १२६ । (३) तुलना--'इच्छ इहिसिपतरं पञ्चुपण्णं णओ
 सद्दो ।'-अनुयोगद्वारा० ४ द्वा० । आच० वि० गा० ७५७ । विओषा० गा० २७१८ । 'यथार्था-
 भिधानं शब्दः । आहृत्-विचाद्यर्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ।'--तत्त्वार्थाधि० भा० १ । ३५ ।
 तत्त्वार्थहृत्, तत्त्वार्थसिद्ध० १ । ३५ । 'लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः ।'-

१ 'एकत्वविरोधात्' नास्ति आ० । २ नानात्वमेव अन्यथा श्र० । ३-यन् यो वादी वा व० ।

४-णे अन्यतरस्य अर्थस्य श्र० । ५-नोनन्तरप्रतिभासविकल्पस्य आ० । ६-रूढः स्वप्-मु० लघी० ।

विवृतिः—कालभेदात्तावद् अभूत भवति भविष्यति इति । कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि । लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति । तथा पर्यायभेदात् इन्द्र शकः पुरन्दर इति । तथैतौ शब्दसमभिखण्डौ । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात्, 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढं विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ।

सर्वार्थसि० १।३३। 'शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्दः ।'—राजवा० १।३३। 'शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहण-प्रवणः शब्दनयः, लिङ्गसंख्यकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् ।'—धवलाटी० पृ० ८६। 'कालादिभेदोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत् । सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वाद्बुदाहृतः ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७२। नयविव० ८४। प्रमेयक० पृ० ६७८। सम्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। 'कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुषेक्षित्यादिः ।'—प्रमाणनय० ७।३२, ३३। स्या० मं० पृ० ३१३। जनतर्कभा० पृ० २२।

(१) तुलना—'बधूतो संक्रमणं होइ अवत्पूतए समभिखण्डे ।'—अनुयोगाद्गा० ४। ६। आव० नि० गा० ७५८। 'सत्त्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिखण्डः ।'—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। 'जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरुहए जम्हा । सण्णतत्त्वविमुहो तओ तओ समभिखण्डोति ।'—विशेषा० गा० २७२७। 'नानार्थसमभिरुहात् समभिखण्डः । अथवा यो यत्राभिखण्डः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिखण्डः ।'—राजवा० १।३३। धवलाटी० पृ० ८९। 'समभिखण्डः एवं मत्त्वैकीभावेन आभिमुख्ये एक एव रूपादिरर्थ एवेति या ज्ञानानां (?) समभिखण्डः ।' नयचक्रवृ० पृ० ४८३। B. 'पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरुहणात् । नयः समभिखण्डः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३। नयविव० ९२। प्रमेयक० पृ० ६८०। सम्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्रगा० ४१। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० मं० पृ० ३१४। जनतर्कभा० पृ० २२। (२) तुलना—'वज्रण अत्यतदुभयं एवंभूओ विसेसेइ ।'—अनुयोगाद्गा० ४। ६। आव० नि० गा० ७५८। 'व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः ।'—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। 'येनात्मनो भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः । अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतः तेनैवाध्यवसाययति ।'—सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। 'वज्रणमत्येणत्यं च वज्रणेणोभयं विसेसेइ । जह घटसहं चेड्ढावया तहा तं पि तेणेव ।'—विशेषा० गा० २७४३। 'एवं भेदे भवनादेवम्भूतः । न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनाञ्चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाव्यति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षायोगात् ततो न नाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः पदमेकमेकार्थस्य दाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः ।'—धवलाटी० पृ० ९०। 'एवं भवनादेवम्भूतः अस्मिन्नये न पदानां समासोऽस्ति स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात् । न पदानामेककालवृत्तिः समासः क्रमोत्पन्नानां क्षणक्षणानां तदनुपपत्तेः । नैकार्थं वृत्तिः समासः भिन्नपदानामेकार्थं वृत्त्यनुपपत्तेः । न वर्णसमासोऽप्यस्ति तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसङ्गात् । तत एक एव वर्णः एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थः एकार्थ इत्येवंभूताभिप्रायवान् एवम्भूतनयः ।'—जयव० पृ० २९। 'तत्क्रियापरिणामोऽस्त्यर्थेति विनिरुचयात् । एवम्भूतेन नीयेत क्रियात्तरपरानुक्रमः ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४। नयविव० ९४। प्रमेयक० पृ० ६८०। सम्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० मं० पृ० ३१५। जनतर्कभा० पृ० २३।

कालादीनां भेदात् शब्दः शब्दनयः अर्थस्य जीवादेः भेदं करोति प्रतिपादयति इति तद्भेदकृत् । अभिरूढनयः पुनः पर्यायैः पर्यायशब्दैः अर्थभेदकृत् । इत्थम्भूतः क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत् इति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह 'काल' इत्यादि । तावच्छब्दः क्रमवाची, कालभेदात् कालविशेषाद् अर्थभेदस्तावदुदाह्रियते—अभूत् अतीतकालसम्बन्धयु- 5
विवृतिव्याख्यानम्—
भवादिपर्यायात्मना जीवौदः, भवति वर्तमानकालसम्बन्धस्मरणादि-
पर्यायरूपेण जायते । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र द्रष्टव्यः—यस्माद् भवति तस्माद् अभूत्, परि-
णाम्युपादानकारणमन्तरेण 'भवति' इत्यस्यायोगात् । भविष्यति अनागतपर्यायस्वभा-
वेन उपलस्यते, अत्रापि यस्माद् भवति तस्माद् भविष्यति अन्यथाभवतोऽभावः कार्य-
भावादिति मन्यते । इतिशब्दः कालभेदाद् भावभेदपक्षसंसाप्त्यर्थः । कारकभेदादर्थ- 10
मुदाहर्तुमाह—'कारक' इत्यादि । कारकाणां कर्त्रादीनां भेदात् 'शब्दोऽर्थभेदकृत्' इति
सम्बन्धः । अब्रोदाहरणम् 'करोति' इत्यादि । यदा हि देवदत्तः स्वतन्त्रो विवक्षितो
घटादिकार्ये तदा 'करोति घटं देवदत्तः' इति भवति । यदा तु स एव अन्योपकार्य-
त्वेन विवक्ष्यते तदा 'क्रियते देवदत्तः' इति । आदिशब्दात् 'देवदत्ते निवेहि, देवद-
त्तादपरः' इत्यादि षट्कारकीपरिग्रहः । तथा लिङ्गभेदात् शब्दोऽर्थभेदकृत् यथा 15
'देवदत्तो देवदत्ता' इति ।

यथा शब्दः कालादिभेदाद् अर्थभेदकृत् तथा अभिरूढः पर्यायभेदात् 'इन्द्रः,
शक्रः, पुरन्दरः' इति । तथा प्रागुक्तप्रकारेणैव एतौ अनन्तरोक्तौ शब्दसमभिरूढौ कथितौ ।

इत्थम्भूतः कीदृशः ? इत्याह क्रियाश्रयः एवम्भूत इति । ननु च इत्थम्भूत-
स्वरूपप्ररूपेण प्रस्तुते एवम्भूताभिधाने किं केन सङ्गतम् ? इत्यसत् ; यस्मात् इत्थम्भू- 20
तस्यैव इदम् 'एवम्भूतः' इति नामान्तरम् । कस्मादसौ क्रियाश्रय इत्याह कुर्वत एव कार-
कत्वं यतः इति । एतदपि कुत इत्याह 'यदा' इत्यादि । यदा यस्मिन् काले न करोति
कार्यम् इन्द्रनादि शचीपतिः तदा कर्तृत्वायोगात् न इन्द्रादिव्यपदेशः स्यात् । अत्राह
सौगतः—त्रयोऽप्येते नयाः शब्दतोऽर्थं प्रतिपद्यन्ते अतः कालादिभेदादर्थभेदं प्रतिपद्य-
मानं तत् शब्दज्ञानम् कथं पुनर्विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु स्वलक्षणं प्रत्येति ? तमाचार्यः 25
पृच्छति, कथञ्च न 'प्रत्येति' इति सम्बन्धः । स उत्तरमाह तदप्रतिबन्धात् तेन
वस्तुनाऽप्रतिबन्धात्, तदात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात् शब्दज्ञानस्य इति सम्बन्धः ।
तदभावेऽपि¹¹ तत् तत्प्रत्येति इति चेदत्राह—'नहि' इत्यादि । नहि नैव बुद्धेः शब्दज-

(१) सौगतः । (२) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावेऽपि । (३) शब्दज्ञानम् ।

१ क्रमभावी का-व० । २-सम्बन्धानुस-आ० । ३-दि भव-आ० । ४-वतो भावः व०, अ० ।
५ इति यथा च आदिशब्दात् आ०, व० । ६-जोवानन्तरो-अ० । ७-अय इत्येवम्भू-आ० । ८-पणप्रस्तु-
अ० । ९-माह तेन वस्तुना आ० । १० तच्छब्द-अ० । ११-पि तत्प्र-आ० ।

नितायाः यदकारणं स्वलक्षणरूपं वस्तु तत्तस्यै विषयः 'नाननुकृतान्यव्यतिरेकं कौर-
याम्, नाकारणं विषयः' [] इत्यभिधानात् । इति शब्दः पूर्वपक्षपरि-
समाप्तौ । अत्र दूषणमाह- 'एतद्' इत्यादि । एतत् परेणोक्तं प्रतिव्यूढम् निरस्तम् ।
केन इत्याह- विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन, प्रतिपादितश्चास्य अनागतविषय-
त्वनिर्णयः 'भविष्यत् प्रतिपद्येत' [लघी० का० १४] इत्यादिना ।

ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुः नान्यम् अतिप्रसङ्गात् । सङ्केतश्च न अवि-
षयीकृतानां शब्दार्थानां युक्तः; तन्निर्विषयताप्राप्तेः । तद्विषयीकरणञ्च ताध्यक्षेण; सैवदा-
ध्यक्षस्य अभिधेये तदध्यक्षस्य वाऽभिधाने अप्रवृत्तेः । नापि स्मृत्या; तस्याः निर्विष-
यत्वात् इत्याशङ्क्याह-

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।

प्रतिभासभिदैकार्यं दूरासन्नाक्षबुद्धिचत् ॥ ४५ ॥

विधृतिः-क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षम् तत्का-
रणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात् । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाश-
योश्च अभावाऽविशेषात्, तदुत्पत्तिसारूप्ययोः असंभवात् व्यभिचाराच्च किं कस्य
ज्ञानमित्युक्तम् । यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथंचिद्वेत्ति; स्मृतिः कथं न
संविद्यात् ? साक्षादतदुत्पत्तेरादृष्याच्च इति वैयात्यम्; व्यवहितोत्पत्तावपि तदूपा-
नुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत् । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् नैकार्थत्वमनैका-
न्तिकम्; दूरासन्नैकार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् ।

(१) बुद्धेः । (२) उद्धृतमिदम्-आप्तप० पृ० ४२ । सिद्धिबि० टी० पृ० ३०६ A. ।
सन्मति० टी० पृ० ५१० । स्या० २० पृ० १०८८ । षड्व० बृह० पृ० ३७ । प्रमाणमी० पृ० ३४ ।
शास्त्रवा० यशो० पृ० १५१ A. । 'नाकारणं विषयः'-अनेकास्तजय० पृ० २०७ । घसंस० पृ० १७६
B. । नोविचर्य० पृ० ३९८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९ । प्रमेयक० पृ० ३५५, ५०२ । स्या० २०
पृ० ७६९ । न्यायवि० वि० पृ० १९ B. । स्या० मं० पृ० २०६ । (३) श्रावणप्रत्यक्षस्य । (४)
अभिधेयार्थग्राहिचक्षुषाविप्रत्यक्षस्य । (५) 'अक्षैर्जनिता बुद्धिर्ज्ञानमतीतार्थं स्वकारणभूतं शब्दं
वाच्यञ्च, चेद्यदि वेत्ति जानाति । सीगते मते हि विषयस्य ज्ञानकारणत्वात्, कारणञ्च कार्यक्षणात्
पूर्वक्षणवर्तीत्युच्यते । तदा कुतः कारणात् स्मृतिरपि अतीतार्थं न वेत्ति अपि तु वेत्त्येवेत्यर्थः । नन्वेवं
स्मृतेः कथं प्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वादित्याशङ्क्याह-प्रतीत्यादि । एकोऽभिज्ञोऽतीतत्वाविशेषात् साधारणोऽर्थो
विषयः शब्दार्थलक्षणस्तस्मिन्नपि स्मृतिः प्रमाणमिति शेषः । कुतः ? प्रतिभासमिदा प्रतिभासस्य
अतीताकारपरामर्शस्य भिदं भेदस्तया । प्रत्यक्षेण हि हृदमिति यदनुभूयते तदेव कालान्तरे पुनस्तदित्य-
तीताकारतया स्मृत्या विषयीक्रियत इति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-दूरेत्यादि । दूरेस्वावासासन्नश्च
दूरासन्नस्तस्मिन्नर्थे पादपादौ असंबुद्धिवत् । यथा प्रत्यक्षज्ञानानां स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् प्रामाण्यं
तथा स्मृतेरपीत्यर्थः ।'-लघी० ता० पृ० ६५ । (६) तुलनां-बागलसंविदामेकार्थगोचरत्वेऽपि युज्यते ।
प्रतिभासमिदा दूरासन्नैकार्थोपलम्भवत्'-सिद्धिबि०, टी० पृ० ४७० A. ।

दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षम्; प्रमाणान्तरं स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात् । तदयं शब्दार्थो स्मृत्या सङ्कलय्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादरेषि परमार्थ-विषयत्वात् । तदर्थभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसंभवात् ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता बुद्धिः अतीतार्थं वेत्ति विषयीकरोति 5

चेद् यदि न कुतः कारणात् स्मृतिः अतीतार्थं वेत्ति ? किन्तु कारिकाख्यात्यानम्—
वेत्ति एव । अथैवं सति अक्षबुद्धिस्मृत्योरभिन्नः प्रतिभासः स्यात् अभिन्नविषयत्वात् 'नीलाक्षबुद्धिद्वयवद् इत्युच्यते; तत्राह—'प्रतिभास' इत्यादि । अक्षबुद्धिस्मृत्योः एकार्थे एकार्थत्वे सत्यपि भावप्रधानोऽयं निर्देशः । स्मृतिः प्रतिभासमिदा अस्पष्टप्रतिभासात् ईतरप्रतिभासविशेष (ये) गार्थं 'वेत्ति' इति सम्बन्धः । अत्र दृष्टान्तमाह—'दूरासन्न' इत्यादि । सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नाक्षबुद्धीनां विषयाभेदेऽपि स्पष्टेतररूपः प्रतिभासभेदः पादपैर्यैकस्यैव तथार्थप्रतिभासनात् । 10

कारिकां व्याख्यातुमाह—'क्षणिक' इत्यादि । क्षणिकौ च तौ अक्षज्ञानज्ञेयौ च तयोर्थेयाक्रमं कार्यकारणत्वनियमे अभ्युपगम्यमाने निर्विषय निरालम्बनं प्रत्यक्षं स्यात् । कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य प्रत्यक्षस्य कारणं यद्वस्तु तस्य । कथम्भूतस्य ? अतीतस्य, तदनात्मकत्वात् । स प्रत्यक्ष-विषयोऽनात्मस्व (त्माऽस्व) भावो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावात् । प्रत्यक्षकाले हि सर्वात्मना अर्थं विनष्टस्य स्वरूपाभावतो न तद्विषयत्वं घटते । स्वकाले सत्त्वात् तद्विषयत्वम् ; कुतः स्मृतेर्निर्विषयत्वम् ? तदर्थस्यापि स्वकाले सत्त्वाविशेषात् । एतत्तु अक्षज्ञानं प्रीति अतीतस्य कारणत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् । इदानीं तदनभ्युपगम्य तदर्थस्यज्ञाह— 20
'प्रागभाव' इत्यादि । तस्माद् विषयाभिमतान् उत्पत्तिसारूप्ये तदुत्पत्तिसारूप्ये, 'का मीर्तिः (मीमिः)' [जैनेन्द्रव्या० १।३।३२] इत्यत्र 'का' इति योगैविभागात् सैविधिः । अथवा, तदिति निपातः 'तस्माद्' इत्यस्यार्थे वर्तते । तयोरसंभवात्

(१) प्रत्यक्षबुद्धितो भिन्नरूपेण । (२) पादपलक्षणविषयस्य एकत्वेऽपि । (३) स्पष्टास्पष्टरूपेण । (४) अर्थस्य । (५) प्रत्यक्षविषयत्वम् । (६) प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्वम् । (७) स्मृतिविषयभूतस्य अतीतार्थस्यापि । (८) वृष्टितायां पू० प्रती 'मीमिः' इति पाठः प्रतिभाति । 'का मीमिः ॥ १।३।३२॥ कान्तस्य (पञ्चम्यन्तस्य) सुब्रन्तस्य मीवाचिभिः सुबन्तैः सह षसः (तत्पुरुषसमासः) भवति । वृकेभ्यो मीः वृकमीः, वृकभयम्, वृकमीतः । केति विभागेन परेभ्यस्त्रायन्ते परत्रा इत्यपि ।'—जैनेन्द्रप्र० ।

(९) योगविभागे सति 'का मीमिः' इति सूत्रस्य अयमर्थः स्यात्—यथा कान्तस्य भयवाचिभिः शब्दैः समासो भवति, तथा कान्तस्य अन्यैरपि शब्दैः समासः स्यात् । (१०) तत्पुरुषसमासः । 'स' इति समासस्य संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे ।

1 विसंवाद्यते सवप्र-ज० वि० । 2 संकल्प्य ई० वि० । 3-प्रवृत्तौ ई० वि० । 4 नीलाक्षबु-
आ० । 5-स्थोरेकार्थस्ये श्र० । 6-पस्पैव श्र० । 7-यो नात्मा श्र०, ब० । 8 एतज्ज्ञात-श्र० ।
9 प्रतीतस्य श्र० ।

कारणात्, किं प्रत्यक्षमन्यद्वा कस्य प्रत्यक्षाभिमतस्य अन्यस्य वा विषयस्य ज्ञानं 'प्राह-
कम्' इत्याद्याहारः, 'सम्बन्धिर्वा' । कुत एतदित्यत्राह—'प्राग्' इत्यादि । उत्पत्तेः पूर्वम-
भावः प्रागभावः, लब्धात्मलाभस्य स्वरूपप्रच्युतिः प्रध्वंसाभावः, तयोरभावाविशेषो-
पात् अभावत्वाऽभेदात् । अयमभिप्रायः—यदा सति कारणे कार्यं न भवति असति च
5 भवति तदा तदौत्पत्तिः कारणभिमतस्याऽभावं कौरणं सूचयति । तथा चाऽनादि-
भूततत्प्रागभावकालेऽपि तदभावस्याविशेषात् कार्योत्पत्तिः स्यात् । अथ कारणप्रध्वंसा-
भाव एव कार्योत्पादको न तत्प्रागभावः, अत्राह—'समनन्तर' इत्यादि । कार्योत्पत्तेः
प्रागनन्तरं जातः कारणप्रध्वंसः समनन्तरः, इतरः अनाद्यतीतकाले चिरंजातः तयोः
विनाशयोर्ध्वविशेषात् । अयमभिप्रायः—यदि अभावत्वाविशेषेऽपि प्रध्वंसाभाव एव
10 कार्योत्पादको न प्रागभावः तर्हि अनाद्यनन्तातीतानागताः प्रध्वंसाभावाः कार्योत्पादकाः
स्युः तथा च कार्यस्य अनाद्यनन्तताप्रसक्तिः । अथ कारणप्रध्वंस एव कार्योत्पादको
नेतारः, न प्रध्वंसस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे अस्य परिहारस्याऽनुपपत्तेः । न च प्रागनन्तर
एव प्रध्वंसः तर्जनीको नान्य इत्यभिधातव्यम्; देशकालयोरनभ्युपगमे अस्यापि परिहा-
रस्य दुर्घटत्वात् । आनन्तर्यं हि देशकालकृता प्रत्यासत्तिरिति । इतश्च किं कस्य ज्ञान-
15 मिति दर्शयन्नाह—'व्यभिचाराच्च कारणात् किं कस्य ज्ञानमिति ? एतच्च ज्ञानस्य
निराकारत्वसिद्धौ^{१३} प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते ।

ननु नैव प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा अतीतोऽन्यो वा भवितो विषयोऽस्ति भिन्नो यस्तु-
च्यते स व्यवहारेण इत्याशङ्क्याह—'यदि पुनः' इत्यादि । यदि पुनः अतीतमर्थं
प्रत्यक्षं कथञ्चिद् व्यवहारेण अन्येन वा प्रकारेण वेत्ति विषयीकरोति तदा स्मृतिः
20 कथं न संविद्यात् 'अतीतमर्थम्' इति सम्बन्धः । परैः प्राह—'साक्षात्' इत्यादि ।
साक्षात् अव्यवधानेन अतदुत्पत्तेः अतीतार्थोदुत्पत्तरेभावात् स्मृतेः आत्माद्रूपत्वाच्च
अतीतार्थेन सारूप्यासंभवाच्च नासौ^{१६}, ^{१०} ^{१०} 'संविद्यात्' इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरम्
'इति' आदि । इति एवं वैयात्यं विद्यातस्य दुर्विदग्धस्य भावो वैयात्यं परस्य । कुत

(१) इत्याद्याहारः इति योग्यम् । (२) कार्यम् । (३) स्वस्य । (४) कारणरूपेण । (५)
कारणप्रागभावकाले, कारणसन्निधानावस्थायामित्यर्थः । (६) कारणभावस्य । (७) कारणप्रा-
गभावः । (८) अव्यवहितपूर्वक्षणे जातः । (९) अभावरूपेण भेदाभावात् । (१०) अनाद्यनन्ताती-
तानागतप्रध्वंसः । (११) कार्योत्पादकः । (१२) बौद्धमते हि कारणकार्याभिमतक्षणयोः एकदेशा-
भावात् एककालाभावाच्च न देशकालकृतमानन्तर्यं संभवति । तन्मते हि कारणाभिमतस्य अन्यो देशः
कालश्च कार्याभिमतस्य चान्यः, देशकालयोरपि क्षणिकत्वात् । न च तैः आकाशः कालो वा वस्तुभूतः
स्वीक्रियते; छिद्रस्य आकाशत्वात्, पूर्वापरादिबुद्धेरिव च कालव्यपदेशार्हत्वात् । (१३) पृ० १६९ ।
(१४) परमार्थतः । (१५) बौद्धः । (१६) स्मृतिः । (१७) अतीतार्थम् । (१८) बौद्धस्य ।

१-प्रत्यक्षस्याभि-श्र० । २-सम्बन्धि श्र० । ३-भावलब्धा-श्र० । ४-अभावत्वाविशेषात्
श्र० । ५-तथावाताविभूत-श्र० । ६-चिरंजातः श्र० । ७-अनाद्यनन्तानामसा-श्र० । ८-सक्तैः ।
९-भवतो श्र० । १०-तत्संवि-च० ।

एतदित्याह—‘व्यवहित’ इत्यादि । व्यवहितोऽन्तरितो योऽर्थोऽनुभवेन तस्मात् परस्पर-
रयोत्पत्तिः स्मृतेः तस्यामपि तस्य व्यवहितस्य यद्गुणं तस्य अनुकृतेर्दर्शनात् । अत्र दृष्टान्त-
माह—‘दृष्टार्थ’ इत्यादि । जाग्रद्दशायां यो दृष्टोऽर्थः स दृष्टः, तस्य स्वप्नः तत्रैव तद्वदिति ।

स्यान्मतम्—प्रत्यक्षस्मरणे नैकार्थे भिन्नप्रतिभासत्वात् रूपादिज्ञानवदित्यत्राह—
‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षशब्दस्य अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रति- 5
भासमेदात् हेतोः एकार्थत्वञ्च इति यत् परंस्याभिमतं तदनैकान्तिकम्—अनैकान्तिक-
हेतुविषयत्वादुपचारेण अनैकान्तिकम् । एतदेव ‘दूरासन्न’ इत्यादिना समर्थयते—
दूरासन्ने च ते एकार्थप्रत्यक्षे च तयोः । कथम्भूतयोः ? भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेका-
र्थविषयत्वात् दूरासन्नैकार्थविषयत्वात् । ननु दूराणामक्षाणाम् अर्थज्ञानमप्रत्यक्षं
प्रत्यक्षञ्च भवति । कुतः ? भ्रान्तेः अस्पष्टस्य दर्शने स्पष्टस्य भ्रान्तेः इति परैः । अत्रोत्त- 10
रमाह—‘प्रमाण’ इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अन्यत् प्रमाणं तैज्ज्ञानं स्यात् अस्पष्ट-
त्वाऽलिङ्गजत्वाभ्यां प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात् । ननु विसंवादात्तत् प्रमाणमेव न भवति
तत्कथं तदन्तरम् ? इति चेदत्राह—‘नहि’ इत्यादि । नहि नैव तेन दूराक्षार्थज्ञानेन अर्थं
वृक्षादि परिच्छिद्य प्रवृत्तौ क्रियमाणानां विसंवादैकान्तः, अस्पष्टाकारतया विसंवादेऽपि
वृक्षाद्याकारतया तदभावात् तदप्रमाणं तद्वृत्तार्थज्ञानम् एकान्तेनाप्रमाणं यतः स्यात् । 15

प्रकृतार्थोपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यस्माद् उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षवत् स्मृतेर्व-
स्तुविषयत्वं सिद्धम् तत् तस्माद् अयं सौगतो व्यवहारी वै शब्दार्थौ पूर्वदर्शनेन विषयी-
कृतौ स्मृत्या करणभूतया सङ्कलस्य प्रत्यभिज्ञाय सङ्केते ‘एवंविधोऽर्थः एवविधशब्द-
वाच्यः’ इति समये सति पुनः पश्चाद् व्यवहारकाले शब्दप्रतिपत्तौ सत्याम् अर्थं सम्प्र-
त्येति विषयीकरोति । ‘स्मृत्या सङ्कलय’ इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । ननु स्मृत्या- 20
देवस्तुविषयत्वाद् अवस्तुनि सङ्केतः तत्प्रतिपत्तिश्च; इत्यत्राह—‘स्मृति’ इत्यादि । आदि-
शब्देन तर्कादिपरिग्रहः, तस्यापि न केवलं प्रत्यक्षस्य परमार्थविषयत्वात् । ननु परमा-
र्थविषयत्वे शब्दानां न क्वचित् तदभावे तैज्ज्ञानं स्यादित्यत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य
शब्दस्य अर्थः तदर्थः तस्य अभावेऽपि न केवलं भाव एव शब्दार्थज्ञानं शब्दस्य
कार्यभूतमर्थज्ञानं ‘जगत्प्रपञ्चस्य प्रकृतिः कारणम्, ईश्वरः कारणं, ब्रह्म कारणम्’ इत्यादि । 25
अत्र दृष्टान्तमाह—‘प्रत्यक्षवत्’ इति । यथा प्रत्यक्षं द्विचन्द्राद्यर्थोभावेऽपि भवति तथा
तदपीति । कुत एतदिति चेदत्राह—‘वस्तुन्यपि’ इत्यादि । अपि शब्दाद् अवस्तुन्यपि
सङ्केतसम्भवात् ।

(१) बौद्धस्य । (२) बौद्धः । (३) दूराक्षार्थज्ञानम् । (४) प्रत्यक्षानुमानलक्षण । (५)
प्रमाणान्तरम् । (६) विसंवादाभावात् । (७) अर्थाभावे, अतीतानागततादिकालवतिन्यर्थः । (८)
शब्दज्ञानम् । (९) शब्दज्ञानमपि ।

1 प्राप्तिरिति श्र० । 2 च व० । 3 अर्थं प्रत्येति श्र० । 4-वित्याह व० । 5 तवपि कुत श्र० ।

ननु यदि अर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात् तर्हि सर्वमेव शाब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात् ।
प्रयोगः—विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तच्चात् प्रकृतज्ञानवत् इत्याशङ्क्याह—

अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादनः समम् ।

अस्पष्टं शाब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥ ४६ ॥

विवृतिः—तदुत्पत्तिसारूप्यदिलक्षणव्यभिचारेपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं
ज्ञानं तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् ।
विवक्षाव्यतिरेकेण वागर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानवत् सम्बन्धनि-
यमाभावात् । वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ।

अक्षाणि च शब्दाश्च तेषाम् अर्थज्ञानं समम् । केन इत्याह **अविसं-**

वादतः, अविसंवादेन यथा अक्षज्ञानमविसंवादकं तथा शब्दार्थज्ञान-
मपि । अयमभिप्रायः—यथा अक्षज्ञानस्य कस्यचिद्विसंवादिनो दर्शने-
ऽपि न 'सर्वमक्षज्ञानमप्रमाणं तच्चात् द्विचन्द्रादिज्ञानवत्' इत्यभिधातुं शक्यम्, तथा
शब्दार्थज्ञानमपि । तर्हि प्रत्यक्षात् कोऽस्य विशेषः ? इति चेदत्राह—**अस्पष्टमवि-**
शब्दं शाब्दविज्ञानम्, अक्षज्ञानं तु स्पष्टम् इत्यनयोर्विशेषः । तर्हि तत्प्रमाणं किमि-
वेति चेदत्राह—**प्रमाणं** शब्दज्ञानम् **अनुमानवत्** । अत्रापि '**अविसंवादतः**' इति
सम्बन्धनीयम् ।

ननु चाक्षज्ञानस्य अर्थोत्पत्तिसारूप्यसंभवात् युक्तमविसंवादकत्वं न शब्दज्ञा-
नस्य तद्विपर्ययात् अतः '**अक्ष**' इत्याद्ययुक्तम् ; इत्यारेकादूषणपुरः-
विवृतिव्याख्यानम्—
सरं कारिकां विवृण्वन्नाह—'**तदुत्पत्ति**' इत्यादि । तस्माद् अर्थाद्

उत्पत्तिश्च सारूप्यश्च आदिर्नस्य तदध्यवसायस्य स तथोक्तः, स एव लक्षणं प्रामा-
ण्यस्य अविसंवादस्य वा तस्य व्यभिचारेऽपि तदुत्पत्तेः चक्षुरादिना, सारूप्यस्य

(१) शब्दज्ञानम् । (२) शब्दज्ञानत्वात् । (३) खरविषाणादिशब्दज्ञानवत् । (४)
"समं समानं प्रमाणं भवति । किम् ? अक्षशब्दार्थविज्ञानम्, अक्षमिन्द्रियं शब्दो वर्णपदवाक्यात्मको
ध्वनिः ताभ्यां जनितमर्थस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुनो विशिष्टं संशयादिविकलं ज्ञानमवबोधनम् ।
कुतः ? अविसंवादतः अर्थक्रियायामव्यभिचारात् । यथाऽक्षजनितमर्थज्ञानमविसंवादात् प्रमाणं तथा
शब्दजनितमपि । नन्वक्षज्ञानं प्रमाणं स्पष्टत्वात् न शाब्दमस्पष्टत्वादित्याशङ्क्याह—अस्पष्टमिति ।
अस्पष्टमविशदमपि शब्दजनितं ज्ञानं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यमविसंवादादेव । न हि स्पाष्टचमस्पष्टत्वं वा
प्रामाण्येतरनिबन्धनं तयोः संवादेतरनिबन्धनत्वात् । किंवत् ? अनुमानवत्"—**लघी० ता० पृ० ६६ ।**
(५) तुलना—'**तत्सारूप्यतदुत्पत्ति यदि संवेद्यलक्षणम् । संवेद्यं स्यात्समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥**'—
प्रमाणवा० ३।३२३। अष्टसह० पृ० २४० । प्रमाणनय० ४।४७ । (६) चक्षुरादिभ्यः घटज्ञानमुत्पद्यते
न च तत् चक्षुरादिग्राहकं भवति ।

१—ज्ञानं न प्र-आ० । २ प्रकृततज्ज्ञानवत् ब० । ३ अक्षात् शब्दा-ई०, वि० । ४—णं व्य-
ई०, वि० । ५ तत्तथेति ज०, वि० । ६—पुरस्तरां का-ब०, पुरस्तर का-आ० । § एतदन्तर्गतः
पाठो नास्ति आ० ।

समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तदर्थव्यवसायस्य मरीचिकाचके जलदर्शनेन तत्र जलाव्यवसाय-
हेतुना, तत्रितयस्यै शुद्धे शङ्खे पीतज्ञानप्रभवोत्तरपीतज्ञानेन, न केवलमव्यभिचारे । किं
जातमित्याह—‘यदर्थ’ इत्यादि । उत्तरत्र तच्छब्दद्वयप्रयोगाद् अत्रापि द्वितीयो यच्छब्दो
द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थो जातः—यज्ज्ञानं यदर्थपरिच्छेदलक्षणं यदर्थग्रहणस्वरूपं तत्
ज्ञानं तस्य अर्थस्य । एतदुक्तं भवति—तत्र यथा प्रत्यासत्त्या सत्त्वाविशेषेऽपि ↑ किञ्चित् 5
कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्य, कारणत्वाविशेषेऽपि च कस्यचित् किञ्चिदाकारमा-
त्मसात्करोति, तदविशेषेऽपि च ↑ किञ्चिद्व्यवस्यति तथा तदुत्पत्त्यादिरहितमपि तत्परि-
च्छेदवत् इति । एवं तद्व्यभिचारेऽपि ज्ञानार्थयोः सम्बन्धात् वागर्थज्ञानस्यापि न
केवलमन्यस्य स्ययम् आत्मना अविसेवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् प्रत्यक्षवत् । ननु
भवतु तत्प्रमाणं किन्तु विवक्षायामेव, इत्यत्राह—‘विवक्षा’ इत्यादि । विवक्षाव्यतिरेकेण
यद्वाचं वस्तुतत्त्वम् अर्थस्वरूपं तत् प्रत्याययति गमयति । किं तदित्याह—वागर्थज्ञानम्,
वचः कार्यभूतमर्थज्ञानम् । किमिव ? इत्याह—अनुमानवत् । यथा अनुमानं विवक्षा-
व्यतिरिक्तमर्थं गमयति तथा वागर्थज्ञानमपि । कुत एतत् ? इत्याह—सम्बन्धनियमा-
भावात् । विवक्षायामेव न बहिरर्थे तस्य सम्बन्धः इति यो नियमः तस्याऽसंभवात् ।
अथवा, तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्धः नापरः इति यः सम्बन्धनियमः तस्या- 15
ऽभावात् । कुत एतदित्यत्राह—‘वाच्य’ इत्यादि । न केवलमन्यस्य अपि तु वाच्यवा-
चकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्यै बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोऽपलब्धेः । अयमभिप्रायः—अन्योऽपि
सम्बन्धस्तत्प्रतीतिं कुर्वन् उपलभ्यमान एव ‘अस्ति’ इत्युच्यते नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्, तथा
प्रकृतस्याप्युपलभ्यमानत्वे अस्तित्वमस्तु इति । समर्थितश्चास्तित्वं ‘प्रमाणं श्रुत-
मर्थेषु’ [लघी० का० १६] इत्यत्र प्रपञ्चतः इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । 20

ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात्, सतामप्यभेदात् । अन्यतः कालभे-
दात्तद्भेदे अनवस्था स्यात् । अर्थभेदात्तद्भेदे अन्योन्याश्रयः । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘काल-
कारक’ इत्यादि; इत्याशङ्क्याह—

(१) समानार्थे एकस्मिन्नर्थे तिलादौ यत्प्रथमं ज्ञानं जातं तस्माज्जातं यदनन्तरं द्वितीयं तिल-
ज्ञानं तस्य प्रथमतिलज्ञानेन सह सारूप्यमस्ति, न च द्वितीयज्ञानं प्रथमं गृह्णाति, ज्ञानं ज्ञानस्य न निया-
मकमिति तत्सिद्धान्तात् । (२) अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरध्यवसायः । मरीचिकके जायमानं जलदर्शनम-
नुकूलं जलमिवमित्याकारकं विकल्पमुत्पादयति न च तत्प्रमाणम् । (३) तदुत्पत्तिसारूप्यतदवध्यवसाय-
त्रयम् । शुक्ले शङ्खे जायमानपीतज्ञानात् उत्पन्नस्य अनन्तरपीतज्ञानस्य शङ्खज्ञानादुत्पन्नस्य तदाकारानु-
कारिणः तदनुकूलशङ्खोऽप्यमित्याकारकविकल्पोत्पादकस्य पूर्वज्ञाने प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतदस्ति ज्ञानं
ज्ञानस्य न नियामकमिति नियमभङ्गप्रसङ्गात् । (४) अकारानुकारणाविशेषेऽपि । (५) तदुत्पत्त्यादिः ।
(६) वाच्यवाचकसम्बन्धस्य । (७) वाच्यवाचकभावस्य । (८) भेदाभावात् । (९) सिद्धे हि अर्थेण-
तीतादिभेदे तस्मात् कालस्य अतीतादित्वम्, तस्माच्चाधार्मानामतीतादितेति ।

१ यत्र आ० । २ सत्ताविशे—श्र० । ↑ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ३ इत्यात्राह ब०,
श्र० । ४ तस्यासंभवात् ब०, श्र० । ५ स्यात्प्रति—आ० । ६ हेतुत्वोप—ब०, श्र० । ७ मत्स्तीति श्र० ।

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्माधर्निष्ठितम् ॥४७॥

- विवृतिः—नहेकान्ते वैर्चनालक्षणं कालस्य संभवति, भूतभविष्यद्वर्तमान-
प्रभेदो यतः स्यात्, तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वेति
5 कालकलक्षणं शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धासिद्धिः अनवस्थानुपपत्तात् ।
तदव्यतिरेकैकान्ते 'शक्तिःशक्तिमत' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तन्नैकान्ते षट्पा-
रकी व्यवतिष्ठते । कुतः पुनः स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान्
इति पुमान् तदुभयात्यये नपुंसकम्' इति शब्दार्थप्रत्ययानामन्यतमस्यापि लिङ्ग-
व्यवस्था ? तथा एकस्यार्थस्य 'इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शकः, पुरंदारयतीति
10 पुरन्दरः' इति पर्यायभेदाद् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न संभवत्येव व्यति-
रेकेरैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोः तत्रासंभवो विज्ञेयः ।
तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाम्नां तदर्थाभिधानात् । नाभावैकान्तः, कुतः
तदभिधानलिङ्गाद्यसंभवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्त्तेत ?

- काल आदिर्द्येयस्य कारकादेः स तथोक्तः तस्य लक्षणं स्वरूपं प्रमाणं वा
16 अन्यत्र तत्त्वार्थभाष्यादौ परीक्षितं विचारितम् ईक्ष्यम् अन्वे-
कारिकाविवरणम्—
व्यम् न्यक्षेण आत्मना, निश्चितः पूर्वं प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽक्षो

(१) "ईक्ष्यमवलोकनीयम् । किम् ? कालादिलक्षणम्, काल आदिर्येषां कारकलिङ्गसंख्यासाधनो-
पग्रहादीनां ते कालादयः तेषां लक्षणमसाधारणं स्वरूपम् । किं विशिष्टम् ? परीक्षितं विचारितं स्वामिस-
मन्तभद्राद्यैः सूरिभिः । कथम् ? न्यक्षेण विस्तरेण । न च ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ । किं विशिष्टम् ?
द्रव्येत्यादि । द्रव्यं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्ध्वतासामान्यम्, पर्यायाः एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परि-
णामाः, सामान्यं सदृशपरिणामलक्षणं तिर्यक् सामान्यम्, विशेषोऽर्थान्तरगतो व्यतिरेकः, द्रव्यं च पर्याया-
श्च सामान्यञ्च विशेषश्च द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषाः ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तथोक्तः । स चासा-
वर्थश्च तस्मिन्निष्ठितं नियतं तदात्मकमिति यावत् । एवंविधस्यैव अर्थक्रियासंभवात् निरपेक्षैकान्ते
तद्विरोधात् ।"—लघी० ता० पृ० ६७ । (२) "वर्तनालक्षणो कालो..."—उत्तरा० २८।१० । "काल-
स्य वट्टणं सेः"—प्रवचनसा० २।४२ । "ववगदपणवणरसो ववगददोर्गवणदुकासो य । अगुल्लहुगो
अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोति ।"—पञ्चा० गा० २४ । द्रव्यसं० गा० २१ । "वर्तनापरिणामकि-
यापरत्वापरत्वे च कालस्य ।"—तत्त्वार्थसू० ५।२२ । (३) शक्तिकारकवादिनः भर्तृहृत्प्रभृतयः । तथाहि-
"स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥ क्रियानिवृत्तौ
द्रव्यस्य शक्तिः साधनं साध्यतेजनेन क्रियेति भाष्यकारप्रभृतयो विदुः ।"—वाक्यप० तृ० का० पृ० १७३ ।
(४) तुलना—"न च द्रव्यमात्रं कारकं न च क्रियामात्रम्, कारकशब्दो हि क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्ते
प्रवर्तते ।"—न्यायवा० पृ० ६ । "धात्वर्थानि प्रकारो यः सुबर्थः सोऽत्र कारकम्"—शब्दश० का० ६७ ।
(५) "संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्तः ।" संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्,
इति । कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति ।" —पाठ० महा० ४।१३ ।
उभयविवक्षायां नपुंसकमिति ।"—पाठ० महा० ४।१३ ।
1—निश्चितम् ज० वि० । 2—चेति ई० वि० । 3—शक्तिशक्ति—ई० वि० । 4—तदुभयाभावे
नपुं—ई० वि० । 5—कान्तारयोः ज० वि० । 6—अन्वेक्ष्यम् आ० ।

न्यक्षः' इति व्युत्पत्तेः । न्यक्षेण विस्तरेण इति वा । कथम्भूतं तत् तेनेक्ष्यम् इत्याह—
 'द्रव्य' इत्यादि । द्रव्यम् ऊर्ध्वतासामान्यं तस्य सहक्रममुपो विवर्त्ताः पर्यायाः,
 सहशपरिणामः सामान्यम्, विसदृशपरिणामो विशेषः ते एव आत्मा यस्या-
 र्थस्य तत्र निष्ठितम् तदात्मकमिति यावत् । ततो निराकृतमेतत्—“कालादेः स्वयम-
 भेदात् कथं तज्जेदात् कश्चिदर्थमदेकत्” [] इति । सहकार्युपादानसन्तानवद् अन्योन्ये ८
 कालादीनाम् अन्यथाभावविवर्त्ताविरोधात् । यदि चा (वा), अन्यार्थपरिणतिः कालापेक्षा
 कालपरिणतिस्तु स्वरूपपेक्षा, यथा घटादिप्रकाशः प्रदीपनिबन्धनः प्रदीपप्रकाशस्तु
 स्वनिबन्धन इति, अतः अनवस्थाऽन्योन्याश्रयासंभवः । अथवा, तदर्थेन लिङ्गभूतेन निष्ठा
 स्वरूपव्यवस्थितिर्जाता अस्वेति तन्निष्ठितं तल्लक्षणम् तत्प्रमाणकम् इत्यर्थः । तथाहि—अयं
 तदर्थः अस्मात् पूर्वं पश्चात् अनेन सह वा भवतीति प्रतीतिः तदर्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका, १०
 पूर्वापरादिप्रतीतित्वात्, अयं तदर्थोऽस्मात्पूर्वदेशः अयमपरो देश इत्यादिप्रतीतिवत् ।
 यश्चासौ तत्कारणं स काल इति । एवं कारकादावपि योज्यम् । तथाहि—“करोति क्रियते”
 इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नशक्तिकार्यनिबन्धना, विलक्षणप्रतीतित्वात्, जलानलप्रतीतिवत् ।
 तथा, ‘देवदत्तो देवदत्ता’ इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नस्वरूपार्थनिबन्धना, विशिष्टप्रतीतित्वात्,
 घटपटप्रतीतिवत् । १६

कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे—“नह्येकान्ते” इत्यादिना । हिर्यस्मात् न
 क्षणिकाद्येकान्ते वर्त्तनां स्वयं त्रिकालगोचरैः पर्यायैः वर्त्तमानान्
 विवृतिव्याख्यानम्—
 भावान् प्रति प्रयोजकत्वं लक्षणं कालस्य संभवति यतो लक्षणात्
 भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदः कालादेः स्यात् । ‘यतः’ इति आक्षेपे वा, यतः तत्प्रभेदः
 स्यात्, नैव स्यात् । कुत एतदित्याह—‘तदर्थ’ इत्यादि । या भूताद्यर्थस्य क्रिया २०
 निष्पत्तिः तस्या अनुपपत्तेः ‘एकान्ते’ इति सम्बन्धः । यथा च एकान्ते कालस्य
 अतीताद्यर्थक्रियानुपपत्तिः तथा कालपरीक्षावसरे^३ विशेषतश्चिन्तितम् ।

एवं कालस्य एकान्ते लक्षणं वर्त्तमानान् भावान् प्रति प्रयोजकत्वं निराकृत्य
 कारकस्य तन्निराकुर्वन्नाह—“नच” इत्यादि । नच नापि कारकलक्षणम् । कितदित्याह—
 ‘द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वा’ इत्येतत्, ‘एकान्ते तदर्थक्रियानुपपत्तेः’ इत्येतदत्रापि २६

(१) पूर्वापरादिप्रतीतिकारणम् । (२) “सर्वभावाणां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः । वर्तना उत्पत्तिः
 स्थितिरथ गतिः प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः ।” —तत्त्वार्थभा० ५।२२ । “वृत्तेर्गजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि
 स्वीलिङ्गे वर्तनेति । वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तनेति । । धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्म-
 नैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्त्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्यो-
 पकारः ।” —सर्वार्थसि० ५।२२ । “प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतिकसमया स्वसत्तानुभूतिवर्तना ।” —राजवा०
 ५।२२ । (३) पु० २२५ ।

१—य इति आ० । २—तिर्जाता आ०, व० । ३ भवतीति विभिन्नस्वरूपार्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका
 ४—कार्यनि—आ० । ५ इत्यादि न हि आ० । ६ लक्षणं निराकृत्य व०, श्र० । ७ च श्र० ।

सम्बन्धनीयम् । दूषणान्तरमाह—‘शक्ति’ इत्यादि । शक्तिशक्तिमतोः व्यतिरेकैकान्ते
 अङ्गीक्रियमाणे सम्बन्धोऽसिद्धिः सहविन्ध्यवत् । अथ तदेकान्तेऽपि राजपुरुषवद्
 उपकार्योपकारकभावात् सम्बन्धसिद्धिरिष्यते, अत्राह—अनवस्थानुपज्ञात् इति । अत्रा-
 यमभिप्रायः—यथा राजपुरुषयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावः तथा चेत् शक्तितद्वतो-
 5 स्तद्भावः तदा तत्र प्रत्येकम् अपरा शक्तिः कल्पनीया तत्राप्येवं चोद्यमित्यनवस्था । एतेन
 अनयोः समवायः विशेषणीभावः अन्यो वा भिन्नः सम्बन्धः चिन्तितः । तयोरभेदै-
 कान्तं दूषयन्नाह—‘तद्व्यतिरेकैकान्ते’ इत्यादि । तयोः शक्तिशक्तिमतोः अव्यतिरेकै-
 कान्ते अभेदैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे ‘शक्तिः शक्तिमत्’ इति एवं या परस्य वाचोयुक्तिः
 वचनोपपत्तिः सा रिक्ता निरर्थिका । तस्मिन् सति शक्तिरेव स्यात्, न च सौ परस्य
 10 निराधारा युक्ता द्रव्यादिकल्पनावैकल्यप्रसङ्गात् । शक्तिमदेव वा स्यात्, तदपि शक्य-
 भावेऽनुपपन्नम् । न च द्रव्यादिकमेव शक्तिरित्यभिधातव्यम्; शक्तिपरीक्षार्थां तस्याः
 ततो व्यतिरिक्तायाः प्रसाधितत्वात् ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह—‘तद्’ इत्यादि । यतो भेदाभेदैकान्ते शक्तिशक्तिमद्भावो नोपप-
 द्यते ‘तत्’ तस्मात् नैकान्ते पैटारक्षी कर्त्रादीनां षण्णां कारकाणां समाहारो व्यवतिष्ठत,
 15 कारकाभावे तत्समाहाराभावात् इत्यभिप्रायः । तथा अन्यच्च यत्प्राप्तं तद्वाह—‘कुतः’ इत्या-
 दिना । कुतः ? न कुतश्चित् । पुनः इति दूषणान्तरसूचनार्थः । लिङ्गव्यवस्था लिङ्गानां
 स्त्रीत्वादीनां स्थितिः । कस्य सा न ? इत्यत्राह—अन्यतमस्यापि । केवाग्रन्यतमस्य ?
 इत्याह—शब्दार्थप्रत्ययानाम् । व्याकरणैर्यथासंभवं तेषामेव त्रयाणां लिङ्गव्यवस्थोप-
 गमात् । ननु यदि कारकव्यवस्था नास्ति किमायातं लिङ्गाव्यवस्थाया येन सापि
 20 न स्यात् ? इत्याह—‘स्त्यायति’ इत्यादि । स्त्यायति सङ्घातीभवति अस्यां गर्भं
 इति स्त्री । प्रतूते जनयति खान् आत्मीयान् पर्यायान् इति पुमान् । तदुभया-
 त्यये स्त्यानप्रसवनोभयाभावे नपुंसकमिति । एवं या व्यवस्था, सा कुतः ?
 लिङ्गव्यवस्थायाः कारकनिबन्धनत्वेन तदभावेऽभावादिति मन्यते । अत्रैव एकान्ते

(१) उपकार्योपकारकभावः । (२) शक्तितद्वतोः । (३) शक्तिः । (४) मीमांसकादेः । (५)
 शक्तिमदपि । (६) पु० १६० । (७) शक्तेः । (८) द्रव्यादेः । (९) “नित्याः षट्शक्तयोऽन्येषां भेदाभे-
 दसमन्विताः । क्रियासंसिद्धयेऽर्थेषु जातिवत्समवस्थिताः ॥” —वाक्यप० साधनसमु० श्लो० ३५ । (१०)
 तुलना—“संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ इति परिभाषितं भाष्ये लिङ्गमुक्तं तथा चाह—संस्त्याने स्त्याय-
 तेर्द्ध स्त्री, सूतेस्तप्रसवे पुमानिति । स्त्यानं संहननं प्रसव उपचयो रूपादीनां सत्त्वाविगुणानाम् ।
 स्त्यायति संहननमापद्यतेऽस्यां गर्भं इत्यधिकरणं स्त्री । सूतेर्वतोर्भावे प्रसव उपचये दुष्मुन् प्रत्यये
 परतस्सकारस्य पकारादेशे कृते पुमानिति । यदाह—संविति सकारस्य पकारादेश इत्यर्थः । अनेन च
 प्रकारेण विषये सूत्यर्थे वृत्ति सूचयति । “उभयधर्मसाम्यरूपा स्थितिर्नपुंसकमर्थदुक्तं भवति ।” —वाक्यप०
 लिङ्गसमु० पु० ४३६ ।

१-सिद्धेः आ० १-सिद्धिरिति इष्य-व० । २-एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ३ कारणानां अ० ।

दूषणान्तरमाह—‘तथा’ इत्यादिना । तथा तेन कारकाभावप्रकारेण एकस्य अभिन्नस्य
अर्थस्य सुरपतिलक्षणस्य ‘इन्दनाद् इन्द्रः’ ‘शकनात् शक्रः’ ‘पुरन्दारयति इति पुर-
न्दरः’ इत्येवं पर्यायभेदात् इन्दनादिपरिणामभेदात् । अथवा, इन्द्रादिशब्दपर्यायभेदान्
सकाशात् तद्भेदश्चाश्रित्य यासौ परेणाभ्युपगता । का ? इत्याह—भिन्नार्थता नानार्थता ।
केषाम् ? इत्याह—तद्वाचिनाम् एकार्थवाचिनां शब्दानाम् इन्द्राद्यभिधानानाम् । सा 5
किम् ? इत्याह—न संभवत्येव, मनागपि तत्संभवो नास्ति इत्येवकारार्थः । कुत एतदि-
त्यत्राह—‘व्यतिरेक’ इत्यादि । यः सुरपतिलक्षण एकार्थः यश्च शकनादिः तयोः पर-
स्परं व्यतिरेकैकान्तः भेदैकान्तः यश्च इतरैकान्तः अभेदैकान्तः तयोः तत्रैकान्ते
विरोधात् । व्यतिरेकैकान्ते हि सम्बन्धासिद्धेरनवस्थानुपज्ञाच्च विरोधः सिद्धः । ईत-
रैकान्ते च इन्दनादेः एकत्वसिद्धेः सै सिद्ध इति । ननु न द्रव्यं नापि शक्तिस्तदुभयं वा 10
कारकलक्षणम्, किन्तु ‘क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्; इति चेदत्राह—‘तत् एव’ इत्यादि ।
‘तत् एव’ अनन्तरोक्तविरोधादेव क्रियाकारकयोः क्रिया अधिश्रयणादिलक्षणा, कारकं
कर्त्रादि, तयोः तत्र मिथ्यैकान्ते असंभवो विज्ञेयः ।

उपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यस्माद् एकोनन्ते कालकारकलक्षणं नोपपद्यते
तत् तस्माद् अनेकान्तसिद्धिः तत्रैव अस्योपपत्तेः । काभ्यां तत्सिद्धिः ? इत्याह—विधि- 15
प्रतिषेधाभ्याम्, स्वररूपादिचतुष्टयापेक्षसदसत्त्वाभ्याम् । समर्थितञ्चैतद् अनेकान्त-
सिद्ध्यवसरे^१ इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ननु एकान्तव्यतिरिक्तस्य शब्दार्थस्यासंभवात् सर्वत्र
लिङ्गाद्यसंभवो भवतः स्यादिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्यैव अनेकान्तरूपस्य अर्थस्य
अभिधानात् प्रतिपादनात् । अत्रापि ‘विधिप्रतिषेधाभ्याम्’ इति सम्बन्धनीयम् ।
कुतः ? न कुतश्चित् तदभिधानलिङ्गाद्यसंभवोपा^२लम्भः, तस्य अनेकान्तार्थस्य अभि- 20
धानं प्रतिपादकं वचनं तस्य लिङ्गादिः, आदिशब्दात् वचनादिपरिग्रहः तस्याऽसंभवः,
स एव उपा^३लम्भः कुतः न कुतश्चित् स्याद्वादम् अनेकान्तवादम् अनुवृत्तैतं यायात् ।
ननु सर्वथा भावानामभावात् तदर्थोभिधानमसिद्धम् इत्यत्राह—नाभावैकान्तः शून्यतै-
कान्तः । यथा चासौ नास्ति तथा विषयपरिच्छेदे^४ व्यासतश्चिन्तितम् ।

यतश्चा अनेकोनन्ते तदुपालम्भाभावः अतः—

25

(१) अभेदैकान्ते । (२) विरोधः । (३) ‘क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकमिति प्रसिद्धेः’—युक्त्यनु-
टी० पृ० २८ । (४) पृ० ३६६ । (५) पृ० ११९ ।

- 1 तद्भेदं चाश्रित्य श्र०, व० । 2-गता केषाम् आ०, -गता केषाह भिन्नार्थता केषाम् व० ।
3 संभव मनाग-आ० । 4-दित्याह श्र० । 5-स्वर व्यति-श्र० । 6 विरोधसिद्धिः आ०, विरोधसिद्धिः
श्र० । 7-द्वेः सि-श्र० । 8 क्रियाविशिष्टं श्र० । 9-श्रवणा-व० । 10 एकान्ते कारक-आ० ।
11-रिक्तशब्दा-आ० । 12 तस्याकान्त-आ० । 13 तत्रापि आ० । 14 विधिनियेधा-आ० ।
15-लम्भस्यानैका-श्र० । 16-कान्ते न तदु-आ० । 17 ‘अतः’ नास्ति श्र० ।

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

षट्कारकी प्रकल्पेत तथा कालादिभेदतः ॥ ४८ ॥

विवृतिः—प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्कारकीसंभवेऽपि
यथैकं स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि ।
५ तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः तदपेक्षो नयः, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्सार्थ-
ज्ञानं प्रमाणम् ।

एकस्य वस्तुनः, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः ततोऽनेकस्यापि प्रकल्पेत । का ?

इत्याह—षट्कारकी । कुत इत्याह—अनेकसामग्रीसन्निपातात्

कारिकाख्यानम्—

अनेका नाना या सामग्री अनेककार्योत्पादकारणसमप्रता तस्याः

१० सन्निपातात् । कथं प्रकल्पेत इत्याह—प्रतिक्षणं, क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणं यथा-
भवति तथा प्रकल्पेत । तथाहि—यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य करणाद् देवदत्तः

(१) “प्रकल्पेत घटेत । का ? षट्कारकी, षण्णां कारकाणां समाहारः षट्कारकी । कस्य ?
एकस्यापि जीवादिबस्तुनः अपिशब्दस्याध्याहारत् । कथम् ? प्रतिक्षणम्, क्षणः समयः क्षणं क्षणं प्रति
प्रतिक्षणम् । कस्यात् ? अनेकसामग्रीसन्निपातात्, अनेका बहिरङ्गान्तरङ्गा सामग्री कारणकलापः
तस्याः सन्निपातः सन्निविस्तस्मात् । तथाहि—यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य कर्ता देवदत्तः तदैव
स्वप्रेक्षकजनसन्निधानात् स एव दृश्यते इति कर्म, प्रयोजनापेक्षया देवदत्तेन कार्यतीति करणम्, दीध-
मानब्रह्मपेक्षया देवदत्ताय ददातीति सम्प्रदानम्, अपायापेक्षया देवदत्तादपेतीति अपादानम्, तव स्थप्र-
व्यापेक्षया देवदत्ते कुण्डलमित्यधिकरणमित्यविरोधावथाप्रतीतिः । न हि प्रतीयमाने विरोधो नाम । तथा
युगपदिव कालादिभेदतः कालदेशाकाराणां भेदः क्रमः तेनापि षट्कारकी प्रकल्पेत । तथाहि अकोदेवदत्तः
करोति करिष्यतीति प्रतीतिबलायातत्वात् । अथवा तथा एकस्य षट्कारकीप्रकल्पनवत् कालाद्यापि
प्रकल्पेत । कुतः ? भेदतः कथञ्चिदर्थस्य भेदात् । सर्वथाऽभिन्ने सकलकारकादिभेदानुपपत्तेः ।”-लघी०
ता० पृ० ६८ । (२) तुलना—“एवमेते शब्दसमभिरुद्वम्भूता नयाः परस्परपेक्षाः सम्यक् अन्योन्यमन-
पेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपत्तव्यम् ।”-प्रमेयक० पृ० ६८० । “अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वकान्तस्तदा-
भासः ।”-प्रमेयर० ६।७।४ । “एवं शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाव्यतिरेकमर्थं समर्थयन्तो दुर्नयाः ।”-
न्यायावता० टी० पृ० ९० । “तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति
सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिधत्ति भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक् सिद्धान्तशब्दवदित्या-
दिरिति ।”-प्रमाणनय० ७।३४, ३५ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । “पर्यायानात्त्वमन्तरेणापि इन्द्रादिभेद-
कथनं तदाभासः ।”-प्रमेयर० ६ । ७।४ । “पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः
इति । यथेन्द्रः शकः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गपुरङ्गमशब्द-
वदित्यादिरिति ।”-प्रमाणनय० ७।३८, ३९ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । “क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु
कालानिको व्यवहारस्तदाभास इति ।”-प्रमेयर० ६।७।४ । “क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दाव्यक्त्यथा प्रतिक्षि-
पन्तु तदाभासः । यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रि-
याशून्यत्वात् पटादिवदित्यादिरिति ।”-प्रमाणनय० ७।४२, ४३ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

१ प्रकल्पेत श्र०, व० । २ यथैकस्व-ज० वि० । ३-र्थं ज्ञानं ज० वि० । ४ प्रकल्पेत श्र०,
व० । ५ प्रकल्पेत व०, श्र० । ६ प्रतिक्षणं क्षणं प्रति आ०, व० । ७ ‘प्रतिक्षणं’ नास्ति आ० ।
८ प्रकल्पेत श्र० व० ।

कर्ता तदैव प्रत्यक्षदेशादिसामग्रीसन्निधानात् स एव कर्म, अन्यकर्मपेक्षया करणम्, तस्मै दीयमानद्रव्याद्यपेक्षया सम्प्रदानम्, तस्माद् आकृष्यमाणभावापेक्षया अपादानम्, तत्र स्थाप्यमानार्थापेक्षया अधिकरणमिति । तथा तेन प्रकारेण कालादिभेदतः काल आदि-
र्यस्य देशादेः स तथोक्तः तद्भेदतः 'एकस्य षट्कारकी प्रकल्पेत' इति सम्बन्धः ।
तद्यथा आसीद् देवदत्तः कर्त्रादिस्वभावो भवति भविष्यति वा । एवमन्यत्रापि योज्यम् । 5

कारिकार्थं दर्शयन् अत्र सुनयदुर्नयभेदं दर्शयति—'प्रतिक्षणम्' इत्यादिना ।
क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणम्, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थञ्च नानासामग्री-
विवृतिव्याख्यानम्—
सन्निपातात् षट्कारकीसंभवेऽपि तत्प्रतिक्षेपः तस्याः षट्कारक्याः
प्रतिक्षेपो निरासः दुर्नयः । कथं तत्संभवः ? इत्यत्राह—यथैकं स्वलक्षणम्, यथा
एकं स्वलक्षणं व्यवस्थितं तैर्था यैथा भवति तथा तैत्संभवेऽपि इति । नन्वेकस्य 10
स्वलक्षणस्य अनेकस्य स्वभावस्य कार्यस्य च संभवे तद्वदन्यत्रापि तैत्संभवः स्यात्, नचा-
सावस्ति, तैत्संभवे तस्यावश्यं भेदात् इत्यत्राह—'स्वभाव' इत्यादि । स्वभावभेदानां
कार्यभेदानाञ्च तदभेदकत्वात् स्वलक्षणाभेदकत्वात् । न खलु सजातीयेतरकार्यभेदे
तैत्कारणस्वभावभेदे वा स्वलक्षणस्य भेदोऽस्ति । एवं कालादिभेदे षट्कारकी-
संभवेऽपि तन्निरासो दुर्नयः इति दर्शयन्नाह—'तैथा' इत्यादि । यथा सामग्रीभेदे 15
एकस्य षट्कारकीसम्भवेऽपि तन्निरासो दुर्नयः, तथा कालादिभेदेऽपि 'षट्कारकी-
संभवेऽपि' इति सम्बन्धः । अत्रापि 'स्वभाव' इत्यादि अपेक्ष्यम् । कस्तर्हि नयः ?
इत्यत्राह—'तदपेक्षो नयः' इति । तस्यां षट्कारक्याम् अपेक्षा यस्य असौ नयः ।
कुतः स नयः ? इत्यत्राह—'स्वार्थ' इत्यादि । स्वः विषयीक्रियमाणो योऽर्थः तस्य
प्राधान्येऽपि तद्गुणत्वाद् अविवक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात् । यदि एवं-
विधो नयो भवति, प्रमाणं तर्हि कीदृशम् ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । तद् अगुणीभूतं
विवक्षितविवक्षितधर्मोभयम् आत्मा यस्य अर्थस्य तस्य ज्ञानं प्रमाणम् । अनेन
“प्रमाणनवैरधिगमः” [तत्त्वार्थसू० १।६] इत्येतत् सङ्गृहीतम् ।

नैतु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः, विकल्पश्च निर्विषय एव तैत्वात् प्रधान-
दिविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगमः स्यात् ? इत्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' 25
इत्यस्य हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह—

(१) शब्दादिषु । (२) एकम् । (३) येन प्रकारेण । (४) कालादिभेदसंभवेत्येकमेवे-
त्यर्थः । (५) अनेकस्वभावकार्यसम्भवः । (६) अनेकस्वभावकार्यसंभवे । (७) अर्थस्य । (८)
षट्कारकीप्रतिक्षेपः । (९) विकल्पत्वात् । (१०) नयेन ।

1-व्यापेक्षया श्र० । 2 तदभेदतः आ० । 3 प्रकल्प्येत व०, श्र० । 4 क्षणं प्रतिक्षणम् व० ।
5 तस्याः निरा-श्र० । 6 यथा तथा भवति श्र० । 7 अनेक स्वभाव-आ०, व० । 8 तत्करण-आ० ।
9 तद्व्यादि श्र० । 10 तद्गुणी-श्र० । 11 अर्थस्य ज्ञानं श्र० । 12 ननु नयः श्र० ।

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
सकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।
प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थविस्वादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधार्यैर्नयोधैः ॥४९॥

- 5 व्याप्तिम् अविनाभावं हेतोः लिङ्गस्य साध्येन लिङ्गिना सह स्फुटयति
प्रकाशयति न, काऽसौ ? दृष्टिः दर्शनम् एकत्र एकस्मिन् देशे,
कारिकाख्याख्यानम्— उपलक्षणमेतत् तेन 'एकदा च या दृष्टिः' इति गृह्यते । सकलदृष्टिरेव
स्फुटयति, तत्र च अनुमानमनर्थकमित्यभिप्रायः । केन विना इत्याह—विना चिन्तया,
तथा सहिता तु स्फुटयति । अतः सौ प्रमाणान्तरं स्यादिति भावः । कथं तथा विना सौ
10 तां न स्फुटयति इत्याह—साकल्येन सामर्थ्येन । देशतस्तु यदि स्फुटयति तदा
स्फुटयतु, किन्तु तस्याऽनुमानानुदयः । कस्तर्हि साकल्येन तां स्फुटयति ? इत्याह—'एषः'
इत्यादि । एषः प्रतिप्राणिस्वसंवेदन-प्रत्यक्षप्रसिद्धः तर्कः मानसोऽस्पष्टविकल्पः । कथ-
म्भूतः ? इत्याह—अनधिगतविषयः अनधिगतः प्रमाणान्तरेणाऽपरिच्छिन्नः विषयो
यस्य स तथोक्तः । स किम् ? इत्याह—संज्ञानमेव, च शब्दः एवकारार्थः, अत
15 एव प्रमाणम् । यथा चासौ^१ साकल्येन व्याप्तिप्रकाशकः अनधिगतविषयः संज्ञानञ्च

(१) "न स्फुटयति न प्रकाशयति । का ? एकत्र दृष्टिः एकस्मिन् महानसादी साध्यसाधनयोः
दृष्टिर्दर्शनं प्रत्यक्षमित्यर्थः । काम् ? व्याप्तिमविनाभावम् । कस्य ? हेतोः साधनस्य धूमादेः । केन
सह ? साध्येन अग्न्यादिना सह । केन ? साकल्येन सकलानां देशकालान्तरितसाध्यसाधनव्यवृत्तीनां
भावः साकल्यं तेन । कथम् ? चिन्तया विना ऊहप्रमाणाभाव इत्यर्थः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि साध्य-
साधनसम्बन्धदर्शनं साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थमनुमानानर्थक्यप्रसङ्गात् तद्दृष्ट्ुरुभिज्ञत्वापत्तेश्च ।
तर्हि किं प्रमाणं तां स्फुटयतीति चेदुच्यते ? एष तर्कः यः साकल्येन साध्यसाधनयोः व्याप्तिं स्फुटयति
ज्ञानं स एव च सकलानुमानिकप्रसिद्धस्तर्क इत्युच्यते । ननु गृहीतग्राहित्वादस्याप्रामाण्यमित्याशङ्क्याह—
अनधिगतविषयः । किंविशिष्टः ? संज्ञानं सम्यक्संज्ञानमर्थं प्रमाणं भवतीति । तथा स्मरणं स्मृतिश्च
प्रमाणम् । किं विशिष्टम् ? अधिगतार्थविस्वादि, अधिगतः प्रत्यक्षेणानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्र अविस्वादि
विस्वादादरहितमिति । एतच्च संज्ञानमिति । कस्मिन् सति ? प्रामाण्ये प्रमाणत्वे सति । कस्याः ?
अनुमायाः अनुमानस्य । क्व ? तत्कृतार्थैकदेशे, तेन तर्केण कृतो निश्चितः अर्थोऽविनाभावस्तस्यैकदेशः
सामर्थ्यं तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतितर्कप्रामाण्याविनाभावित्वादित्यर्थः । अथवा सङ्क्रान्तञ्च प्रत्यभिज्ञा-
नञ्च प्रमाणमविस्वादाविशेषात् । न केवलमेतत् परोक्षमेव विकल्पात्मकं प्रमाणमपि तु सर्वं प्रत्यक्षमपि
विकल्पात्मकं प्रमाणं तस्यैव व्यवहारोपयोगित्वात्, निर्विकल्पकस्य क्वचिदप्यनुपयोगात् । अतः कारणा-
त्कर्त्तव्यत्वं विकल्पात्मकैरेव नयोधैः समधिगतः सम्यग्अधिगमो जीवादितत्त्वनिरणयो भवति । किं भूतः ?
सप्तधाख्यैः सप्तधा नैगमादिसप्तप्रकारा आख्या येषां तैरिति ।—लघी० ता० पृ० ७० । (२)
सकलदृष्टौ सर्वज्ञतायाम् । (३) दृष्टिः । (४) चिन्तया । (५) दृष्टिः । (६) व्याप्तिम् । (७)
एकदेशेन व्याप्तिग्रहणे सति । (८) व्याप्तिम् । (९) तर्कः ।

1-वानुमा-ज० वि० । 2-व्याप्ति-मु० लघी० । 3-यो यैः आ० । 4-च दृष्टिः आ० ।

5-विना तासां न आ० ।

भवति तथा व्यतिज्ञानपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः सिद्धम्—
नयस्य निर्विषयत्वे साध्ये 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्केण अनैकान्तिकत्वम् । तथा
स्मरणेन च, इत्याह—'स्मरणम्' इत्यादि । स्मरणं सर्वं संज्ञानं 'प्रमाणम्'
इति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह—अधिगतार्थाविसंवादि, स्वयं स्मरणेन
अधिगतो योऽर्थः तदविसंवादि, यदि वा, प्रमाणान्तरेण अधिगतार्थाविसंवादि । 5
कस्मिन् सति ? इत्याह—प्रामाण्ये सति । कस्याः ? अनुमायाः । क ? इत्याह—
'तत्कृत' इत्यादि । तेन तर्केण कृतो निश्चितोऽर्थः अविनाभावलक्षणः तस्य आधार-
भूते एकदेशेऽपि साध्यस्वरूपे, च शब्दो भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दार्थः । ततः किं जातम् ?
इत्याह—'समधिगतिः' इत्यादि । अतः अस्मात् नयानां निर्विषयत्वप्रसाधकहेतोः
तर्कस्यूतनुमानज्ञानैः व्यभिचारित्वलक्षणात् न्यायात् समधिगतिः जीवाद्यर्थानां 10
सप्तधाख्यैः नयोधैः ।

तैश्च तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जातं तद्दर्शयति—

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नमः—

स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।

तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविज्ञैकान्तवादी ततः,

प्रेक्षावानंकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जितम् ॥ ५० ॥

(१) पृ० ४२३ । (२) अनैकान्तिकत्वम् । (३) नयैः । (४) जीवाद्यर्थानाम् । (५) 'न स्यात्
सकलवित् त्रिकालगोचराशेषव्यपरीयवेदी न भवेत् । कः ? एकातवादी...सुगतादिः । किं कुर्वन् ?
अलक्षयन् अजानन् । किम् ? तत्त्वम् किं विशिष्टम् ? अनेकान्तभाक् अनेकान्तं द्रव्यपर्यायतमतां
भजत्यात्मसात्करोति इत्यनेकान्तभाक् । पुनः कथम्भूतम् ? शक्यं परीक्षणं शक्यपरीक्षणं संशयादिव्य-
वच्छेदेन विवेचनं यस्य तथोक्तं लौकिकगोचरमपीत्यर्थः । कथम् ? प्रत्यक्षम्, किं कृत्वा ? अभ्यस्य भाव-
यित्वा । किम् ? स्वमतम् सर्वैकान्तदर्शनं निरन्वयविनाशादिभावनावहितचेतसोऽनेकान्ततत्त्वमधिगन्तु-
मनलमिति कथं सर्ववेदित्वं तेषामित्यर्थः । ततः कारणात्, भो अकलंकं ज्ञानावरणादिकलङ्करहित,
नमस्करवाणि । कस्मै ? तुभ्यम् । कथम्भूताय ? सर्वज्ञाय...पुनः किं विशिष्टाय ? निरस्तमनेका-
न्ततत्त्वभावनाबलाद्विश्लेषितं बाधकं दोषावरणद्वयं यस्याः सा निरस्तबाधका तादृशी धीर्यस्य
तथोक्तस्तस्मै । भूयः किम्भूताय ? स्याद्वादिने । न केवलमहमेव ते नमस्कारोमि किन्तु प्रेक्षायान्
परीक्षकः सर्वोपि त्वामेव शरणं याति प्रतिपद्यते, नित्यप्रवृत्तमानविवक्षया एवं वचनात् । किन्ना-
मानम् ? वीरं पश्चिमतीर्थकरं वर्धमानम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जितम् बहुविधविषयमगहनभ्र-
मणकारणं दुष्कृतं जयतीति जिनस्तम्...—लघी० ता० पृ० ७२ । (६) पालीभाषायां तु जिनातेर्धातोः
'जिनातीति जिनः' इति सिद्धयति । (७) एतच्छ्लोकानन्तरं परिच्छेदसमाप्तिं विधाय ज० वि०
प्रती निम्नश्लोकः समुल्लिखितः, परञ्च सः तात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण न्यायकुमुदकृता चाऽन्या-
ख्यातत्वात् अर्थप्रकरणदृष्ट्याऽसङ्गतत्वाच्च प्रक्षिप्त एव भाति—'मोहेनैव (ताहं नैव) परोऽपि कर्मभिरिह
प्रेत्याभिवन्धः पुनः । भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रपञ्चवृष्टिर्जनः । कस्माच्चिन्वतपोभिरुद्यतम-
नाश्चैत्यादिकं वन्दते । किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तजडा वञ्चिताः ॥' (अर्थ श्लोकः यशस्तिल-
कचम्पू२भागोऽपि पृ० २५७) प्रभृतिरूपेण निष्टिङ्कितः ।

१—मिप्रस—आ० २ भिन्नक्रमः अ० ३—तिरिति इत्यादि अ० ४—कलङ्कुमेति शरणं ज० वि० ।

- ततः तस्याः समधिगतेः सकाशात् एकान्तवादी सुगतादिः सकलचित्
 सर्वज्ञो नेति 'ज्ञायते' इत्यध्याहारः । किं कुर्वन् ? अलक्षयन्,
 कारिकायाः— अनिश्विनन् । किम् इत्याह—तत्त्वं जीवादि । कथम्भूतम् ? इत्याह—
 अनेकान्तभाक् अनेकान्तात्मकम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—शक्यपरी-
 ५ क्षणम्, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । शक्यं परीक्षणं संशयादिव्यवच्छेदेन स्वरूप-
 विवेचनं यस्य तत् तथोक्तम् । तदपि पृथग्जनलक्ष्यमपि इत्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम् ?
 प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षग्राह्यमपि, अत्रापि अपिशब्दो द्रष्टव्यः । किं कृत्वाऽलक्षयन् ? इत्याह—
 अभ्यस्य, किम् इत्याह—स्वमतम्, एकान्तम्, अथवा सुष्ठु अमतमज्ञानं क्षणिक-
 निरंशतत्त्वम् । अनेन जीवादितत्त्वालक्षणे कारणमुक्तम् । ननु तत्त्वक्षणे किं प्रयोजनम् ?
 10 इति चेदत्राह—प्रेक्षावान् इत्यादि । अत्रापि 'ततः' इत्येतदपेक्ष्यम्, ततोऽयमर्थः
 सिद्धः—ततः तज्ज्ञानात् प्रेक्षावान् परीक्षको लोकः अकलङ्कः निर्दोषः अतत्त्वा-
 भ्यासरहितः । त्वामेव याति शरणम् । किंविशिष्टं त्वाम् ? वीरम्, वीरनामानम्
 अनिर्ममं तीर्थकरदेवम् । यदि वा, विशिष्टाम् अन्यजनासाधारणाम् ईम् अन्तरङ्गबहि-
 रङ्गलक्षणां श्रियं रातीति वीरः तीर्थकरसमुदयः तम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम्,
 15 संसारसमुद्रावर्त्तपरिभ्रामककर्मचक्रान्मूलकम् । न केवलं त्वामुक्तविशेषणं शरणमेव
 यात्ययं प्रेक्षावान् जनः, किन्तु नमस्करोति च । केन विशेषणेन ? इत्याह—सर्वज्ञाय
 सकलविदे । कथम्भूताय ? इत्याह—निरस्ताबाधकधिये, निरस्ता बाधकानाम्
 एकान्तवादिनां धीर्येन । यदि वा, निरस्तं बाधकं यस्याः सा तथाविधा धीर्यस्य,
 निरस्ता वा बाधिका धीर्यस्य तस्मै । पुनरपि कथम्भूताय ? स्याद्वादिनै ते
 20 तुभ्यं नमः स्तात् नमस्कारोऽस्तु इति । 'अकलङ्काय वीराय जिनाय' इति विभक्ति-
 परिणामेन उत्तरं पदत्रयं योज्यमिति ।

स्याद्वादोऽग्रवैशेषविषयप्रद्योतिनो देशतः,

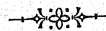
तद्रूपप्रतिरूपणाय गदिताः सप्तैव ते सन्नयाः ।

किं भास्वान्निखिलप्रकाशनपटुर्बालाग्रमप्युच्चकैः,

शक्तो द्योतयितुं विनोन्नतकरैर्निर्मूल्य बाढं तमः ? ॥ छ ॥

25

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः ॥ छ ॥



एवं प्रैकान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः ।



- 1-च्छेदे स्व-आ० । 2-पेक्षम् आ० । 3-ततोऽयमर्थः आ० । 4-ततः ज्ञानात् आ० । 5-कोऽकल-
 श्र० । 6-त्वां वीरनामानं आ० । 7-मतीर्थ-श्र०, व० । 8-मुदायः श्र० । 9-विने तुभ्यं आ० ।
 10-उत्तरपदत्रयं आ० । 11-इति श्रीमत्प्रभाचन्द्रदेववि-व० । 12-वः समाप्तः व० । 13-एकान्त-व० ।

तृतीये प्रवचनप्रवेशे

षष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः ।



सत्यस्वच्छजलः सुरत्ननिचयः सज्ज्ञानवीचीचयः,

युक्तावर्त्तहतस्वरूपकुमतप्रौढोपनैकक्रमः ।

स्फारागाधगभीरमूर्तिरसमध्वानो जनानन्दनः,

स्याद्वादोदधिरेष वाञ्छितफलं दद्यात् सैमासेवितः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणनयस्वरूपं निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं पृथक् 5
निरूपयितुमुपक्रमते, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्य-
मङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादक्षेणसप्तकम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ५१ ॥

प्रणिपत्य नत्वा । कैम् ? **वीरम्** अन्तिमतीर्थकरं तीर्थकरसमुदायं वा । 10

कारिकार्थः—

किंविशिष्टम् ? स्याद्वादक्षेणसप्तकं । स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्गमयो

वादः **स्याद्वादः ईक्षेणसप्तकं** यस्य स तथोक्तः तम् । ननु

स्याद्वादस्य ईक्षेणव्यपदेशः मुख्यतः, उपचारतो वा स्यात् ? न तावत् प्रथमः पक्षः;

चक्षुष्येव मुख्यतः तैद्व्यपदेशप्रसिद्धेः । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; यतो रूपादिप्रतिपत्तेः

हेतुभूतं चक्षुः ईक्षेणं लोके प्रसिद्धम् । न च भगवतः तैत्प्रतिपत्तौ स्याद्वादो हेतुभूतः, 15

तत्कथमस्य उपचारतोऽपि ईक्षेणव्यपदेशः ? अथ अपरमनेनैसौ^१ बोधयतीति तत्प्रति-

पत्तेर्हेतुभूतत्वात् तैद्व्यपदेशः; तर्हि परस्यैव तदीक्षेणसप्तकं न भगवतः, अन्यदीयात्ततो

अन्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात्; तदसमीचीनम्; अन्यथा व्याख्यानात् । **स्याद्वाद** एव

ईक्षेणसप्तकं यस्माद् भव्यानां स तथोक्तस्तम् । यदि वा, ईक्षेणसप्तकमिव **ईक्षेण-**

(१) स्यादस्तीत्यादिसप्तभंगमयो वादः स्याद्वादः ईक्षेणानां सप्तकम् ईक्षेणसप्तकम् स्याद्वाद-
एवेक्षेणसप्तकं यस्माद्विनेयानां भवत्यसौ तथोक्तस्तम् । न खलु निरूपकारः प्रेक्षावतां प्रणामार्होऽनिप्र-
सङ्गात् ।—लघी० ता० पृ० ७४ । (२) ईक्षेणव्यपदेशः । (३) रूपादिप्रतीती । (४) स्याद्वादस्य ।
(५) स्याद्वादेन । (६) भगवान् । (७) ईक्षेणव्यपदेशः । (८) स्याद्वादः ।

१—वक्रक्रमः श्र० । २ तदा सेवितः व०, श्र० । ३ कं वीरं आ० । ४ अन्तिमतीर्थकरसमुदायं
वा आ० । ५—अथ रमनेना—आ०, अथ परमतेना—व० ।

सप्तकं स्याद्वादः तत् सप्तकं यस्यासौ स तथोक्तः तमिति । किं पुनः तैत्सप्रकेनै
स्याद्वादस्य साधर्म्यं येनैवमुच्यते इति चेत्; उपदेशाद्यनपेक्षाऽर्थज्ञानजनकत्वम् । यथैव
हि ईक्षणात् परोपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षं रूपादिज्ञानं जायते तथा स्याद्वादो
भगवतः केवलज्ञानमिति । तमित्यस्मभूतम् इष्टदेवताविशेषं प्रणिपत्य वक्ष्यमाणलक्षण-
लक्षितान् प्रमाणनयनिक्षेपान् अभिधास्ये । कथम् ? यथागमम्, आगमा-
नतिक्रमेण । अनेन तत्र आत्मनः स्वातन्त्र्यं परिहृतम् ।

तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः उपायो न्यास इष्टयते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥

विवृतिः—ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टे-
न्द्रियार्थवत् । विषमोऽयमुपन्यासः असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम् ;
अर्थस्य तदकारणत्वात् तस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात् । न हि
तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।

ज्ञानमेव प्रमाणमेव इत्याद्यवधारणं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । कस्य तत् ।

इत्याह—आत्मादेः । आदिशब्देन पुद्गलादिपरिग्रहः । ननु ज्ञाना-
कारिकाः—
र्थयोः तादात्म्यादिसम्बन्धासंभवात् कथं तैत्तस्य इत्युच्यते इति
चेत्; न; तदभावेऽपि विषयविषयिभावलक्षणसम्बन्धसंभवात् । तदभावे 'सोऽपि

(१) ईक्षणसप्तकेन । (२) ग्रन्थकर्तुः । (३) 'इष्यते अभ्युपगम्यते सकलविप्रतिपत्तीनां
प्रागेव निरस्तत्वात् । किम् ? प्रमाणम् । किंविशिष्टम् ? ज्ञानं जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं
वा ज्ञानमित्युच्यते, द्रव्यपर्याययोः भेदाभेदविवक्षायां कर्त्रादिसाधनोपपत्तेः । कस्य ? आत्मादेः
आत्मा स्वरूपमादिर्यस्य बाह्यार्थस्य स आत्मादिः तस्य स्वार्थस्य ग्राहकमित्यर्थः । अथवा आत्मा
चिद्द्रव्यमादिशब्देन आवरणानां क्षयोपशमः क्षयस्वात्तरङ्गं बहिरङ्गं पुनरिन्द्रियानिन्द्रियं गृह्यते,
तस्मादुपजायमानमित्यध्याहारः । तथा इष्यते । कः ? नयः । किं रूपः ? अभिप्रायः विवक्षा । कस्य ?
ज्ञातुः श्रुतजानिनः । तथा इष्यते । कः ? न्यासो निक्षेपः । किंविशिष्टः ? उपायः अधिगमहेतुः नामा-
दिरूपः । अर्थस्य स्वतः सिद्धत्वात् किमेतैः प्रमाणादिभिरित्याशङ्क्याह—युक्तीत्यादि । युक्तितः प्रमाणन-
यनिक्षेपैरेवार्थस्य जीवादेः परिग्रहः प्रमितितं स्वतः इति ।"—लघो० ता० पृ० ७५ । तुलना—'ज्ञानं प्रमा-
णमित्याहुर्नयो ज्ञातुर्मतः ।"—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१८ A. । प्रमाणसं० पृ० १२७ । उद्धृतोयम्—
'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः'—ध्वलाटी० पृ० १७ । (४) तुलना—'ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्य-
पर्यायतः, तत्र द्रव्यमनस्तपर्ययपदं भेदात्मकाः पर्यायाः ।"—सिद्धिवि०, टी० ५१७ A. । (५) तुलना—
'ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि'—प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३ । लघो० टी० पृ० १३२ ।
'ज्ञानमेवेत्यवधारणात् सन्निकर्षदिरसंवितात्मनो व्युदासः ।"—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१८ A. । (६)
तुलना—'नार्थालोको कारणं परिच्छद्यत्वात्तमोवत् ।"—परीक्षा० २।६ । प्रमाणमी० १।१।२५ । (७)
ज्ञानम् । (८) अर्थस्य । (९) तादात्म्यादिसम्बन्धाभावे । (१०) विषयविषयिभावोऽपि ।

१—ज्ञानमिति व० । २—केन स्याता—आ० । ३—अनेन आत्म—अ० । ४—उच्यते ज० वि० ।

५—च्येतेति व० ।

कथम् ? इत्यपि वार्तम् ; तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावोऽपि प्रदीपार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशक-
भाववत् ज्ञानार्थयोः विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात् । ननु च आत्मादेरभावान्न
किञ्चित्स्य ज्ञानम् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम् ; तस्य विषयपरिच्छेदे^१ प्रबन्धेन प्रसाधि-
तत्वात् । यदि वा, आत्मा स्वरूपम्, आदिशब्देन अर्थपरिग्रहः, तेन स्वार्थयोः
इत्ययमर्थः सिद्धो भवति । प्रसाधितञ्च स्वपरव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्य प्रपञ्चतः स्वसं-
वेदनसिद्धौ^२ इत्यलं पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । अथ को निक्षेपः ? इत्याह—“उपाय”
इत्यादि । उपायः कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादि न्यासो निक्षेपः इष्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायः, प्रमाणविषयीकृतोऽर्थे एकांशविषयो ज्ञातुः प्रमातुरभि-
प्रायः । किं फलमेतेषां स्वरूपव्यावर्णने ? इत्याह—युक्तिः प्रमाणादिलक्षणायाः
अर्थस्य परिग्रहः स्वीकारः । उपलक्षणमेतत् तेन अनर्थपरिहारोऽपि गृह्यते ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘ज्ञानं प्रमाणम्’ इत्यादि । प्रमाणं धर्मिज्ञानमिति साध्यम्,
“प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः” इति हेतुत्र द्रष्टव्यः । ननु सन्निकर्षादिना अयं
विवृतिव्याख्यानम्—
हेतुर्व्यभिचारी, तस्याऽज्ञानरूपस्यापि अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसा-
यात्मकज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वसंभवात् इत्यत्राह—‘कारणस्यापि’ इत्यादि । कारण-
स्यापि यथोक्तज्ञानजनकस्यापि सन्निकर्षादेरचेतनस्य सतः प्रामाण्यमनुपपन्नम् । अत्र
दृष्टान्तामाह—असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । सन्निकर्षः सन्निकृष्टं तच्च इन्द्रियञ्च अर्थञ्च
सन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः, विवक्षितेभ्यस्तेभ्यः अन्ये असन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः तेषामिव तद्वत् ।
यद्वा, असन्निकृष्टौ च तौ इन्द्रियार्थौ च तयोरिव तद्वत् । यद्वा, प्रयोगः—विवादगोचरा-
पन्नं सन्निकर्षादि अप्रमाणम् अचेतनत्वात् अविवक्षितसन्निकर्षादिवत् । यथा च अचेत-
नस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यन्नोपपद्यते तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे^३ प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् ।

अत्राह परः—‘विषयः’ इत्यादि । विषयः दार्ष्टान्तिकेन समानो न भवति
उपन्यासो दृष्टान्तरूपः । तदेव वैषम्यं दर्शयति—‘असन्निकृष्टस्य’ इत्यादिना ।
असन्निकृष्टस्य इन्द्रियार्थलक्षणस्य वस्तुनः तदकारणत्वात् विवक्षितज्ञानाहेतुत्वात् ।
एतदुक्तं भवति—यदि नैयायिकादिः चेतनत्वेन क्वचित् प्रामाण्यमभ्युपगच्छति तर्हि दृष्टान्ते
चेतन्याभावे यथा प्रामाण्याभावः तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि स्यात्, यावता ज्ञानकारणत्वेन
तदभ्युपगतम् । तत्कारणत्वञ्च दृष्टान्ते यद्यपि नास्ति तथापि दार्ष्टान्तिके अस्ति इति

(१) आत्मादेः । (२) पृ० ३४३ । (३) पृ० १७६ । (४) तुलना—“एष किमटं गव्यरूपवग-
मिदि ? प्रमाणनयनिकोपेयैर्योऽर्थो नामिसमीक्ष्यते । युक्तञ्चायुक्तवद् भाति तस्यायुक्तञ्च युक्तवत् ॥”—
धवलाटो० पृ० १६ । (५) तुलना—“सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः ।”—प्रमाणप० पृ० ५१ ।
प्रमेयक० पृ० ७ । स्मा० र० पृ० ४१ । प्रमेयर० १।१ । प्रमाणमी० पृ० २ । (६) तुलना—“न ह्यचेत-
नोऽर्थः स्वप्रमिती करणं घटादिवत् ।”—प्रमाणप० पृ० ५१ । (७) पृ० २९ । (८) प्रामाण्यं स्वीकृतं
न चेतनत्वेन नाप्यचेतनत्वेनेति भावः ।

१—जीनामयं व० । २—ज्ञानकस्यापि आ० ।

सिद्धमस्य प्रामाण्यमिति । अत्र दूषणमाह—‘नैतत्सारम्’ इत्यादि । एतत् ज्ञानकारणत्वेन प्रमाणत्वं न सारम् । कुत एतदित्याह—‘अर्थस्य’ इत्यादि । अर्थस्य ज्ञानविषयस्य घटादेः तदकारणत्वात् स्वग्राहिज्ञानाजनकत्वात् । एतदपि कुतः इत्याह—‘तस्य’ इत्यादि । तस्य घटादिज्ञानस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । अर्थनिमित्तत्वं कुतो नेति चेदत्राह—अर्थस्य विषयत्वात् परिच्छेद्यत्वात् । ननु ‘विषयश्च स्यात् कारणञ्च’ इति कोऽनयोर्विरोधः ? इत्याह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न तस्य ज्ञानस्य परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतां ज्ञानहेतुताम् आत्मसात्कुर्यात् । अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—
 5 प्रदीपस्येव घटादिरिति । अत्रायमभिप्रायः—यथा प्रदीपप्रकाशयो घटादिः नै प्रदीपकारण-
 तामात्मसात्करोति तथापि प्रदीपेन प्रकाश्यते तथा ज्ञानप्रकाशयोऽप्यसौ तत्कारणतामनात्म-
 10 सात्कुर्वन्नापि तैयकाशय इति । अनेन परंपरिकल्पितः “नाकारणं विषयः” []
 इति नियमो निरस्तः; प्रदीपं प्रत्यकारणस्यापि घटादेः तत्प्रकाशनविषयतोपलब्धेः ।

किञ्च, ‘नाकारणं विषयः’ इत्यभ्युपगच्छता किं कारणमेव विषय इत्यभिप्रेतम्, कारणं विषय एव इति वा ? प्रथमपक्षे विज्ञानस्वरूपसंवेदनानुपपत्तिः । नहि स्वरूपं स्वस्यैव कारणम् ; स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु चक्षुरादेरपि विषयत्व-
 15 प्रसक्तिः कारणत्वाविशेषात् । किञ्च, अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे वा ? न तावदसिद्धे; अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे; कुतस्तत्सिद्धिः—
 तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा ? न तावत् तत एव; यतः—

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥ ५३ ॥

(१) सन्निकर्षस्य । (२) घटाद्यर्थः । (३) ज्ञानं प्रति हेतुताम् । (४) ज्ञानेन प्रकाश्यो भवतु । (५) सोगत । (६) “कारणीभावी हि विषयीभाव उच्यतेऽस्माभिर्न सम्बन्धः । तथाहि—रूपादिविषयश्चक्षुषो विज्ञानोत्पत्तौ सहकारितां प्रतिपद्यमानो विषयीभवतीत्युच्यते । द्विविधश्च सहकारार्थः परस्परकारको वा यथा ‘एकार्यक्रिया वा यथोन्मिषितमात्रेण रूपं गृह्यतः । उभयथापि विज्ञानस्य कारणविशेष एव विषय उच्यते ।’—तत्त्वसं पं० पृ० ६८३ । (७) तुलना—“तथाहि—किं कारणं विषय एव, उत कारणमेव विषयः ? प्रथमपक्षे रूपादिसंविदां चक्षुरादपि विषयो भवेत्” द्वितीयपक्षे-
 पि भविष्यति रोहिण्यदयः कृत्तिकोदयावतीलक्षणायामिव इत्यस्यानुमानस्य भावी रोहिण्युदयोऽकारण-
 त्वाद्विषयो न स्यात्”—सम्मति० टी० पृ० ५१० । (८) विज्ञानस्वरूपसंवेदनं हि तदा स्याद् यदा
 विज्ञानस्य स्वरूपं स्वसंवेदनं प्रति कारणं स्यात् । न चैतदस्ति । (९) “विद्यात् जानीयात् । किम् ? ज्ञानम् । कथम् ? अयमर्थ इति । पुनर्न विद्यात्, काम् ? उत्पत्तिम् अहमस्मादुत्पन्नमिति स्वजन्म । कस्मात् ? अर्थतः घटादेः सकाशात् । इदञ्च प्रमेयं प्रतीतिसिद्धमेव, अन्यथा यद्यर्थतः स्वोत्पत्तिं ज्ञानं विद्यात् तदा वादिप्रतिवादिनोविवादो ज्ञानमर्थदुत्पन्नं न वेति विप्रतिपत्तिः; किन्तु ? कुलालादिघटा-
 दिवत्, यथा कुलालादेः सकाशाद् घटादेर्जन्मनि प्रतीतिसिद्धे कस्यापि न विवादासिद्धे तथाऽप्यतः ज्ञानज-
 न्मन्यपि विवादो मा भूत्, अस्ति चायं विवादः स्याद्वादिनां ज्ञानजन्मनीति ।”—लघो० ता० पृ० ७६ ।

विवृतिः-अर्थं परिच्छिन्दद्विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव । नहि ततः स्वभावत्वात् प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छित्तिः अनुत्पन्नात्वात् । उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्त्यात् न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ।

घटाद्यर्थग्राहकं हि ज्ञानं 'देशकालाकारविशिष्टो घटाद्यर्थोऽयम्' इत्यनेनोल्लेखेन 5

कारिकार्थः- अर्थमेव विद्यात्, न उत्पत्तिम् आत्मलभ्यमर्थतो विद्यात् । अथ तत्तत्तैः तौ वेत्ति इत्युच्यते; अत्राह-**‘अन्यथा’** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन तत्परिज्ञानप्रकारेण न विवादः स्यात् । यस्य यस्मादुत्पत्तिः प्रत्यक्षतः प्रतीयते न तस्य तदुत्पत्तौ कस्यचिद् विवादः यथा कुलात् घटस्य, विवादश्च ज्ञानस्य अर्थादुत्पत्तौ, तस्मात् सां तस्यै प्रत्यक्षतो न प्रतीयते इति । 10

अर्थं प्रमाणान्तरात्तस्य अर्थकार्यता प्रतीयते-ननु तत्किं प्रत्यक्षरूपम्, अनुमानरूपं वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षरूपम् ; तत्किं ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषयं वा स्यात् ? तत्राद्यविकल्पद्वये तैयोः कार्यकारणभावप्रतीतिरनुपपन्ना, एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वात्, ययोः एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वं न तयोः कार्यकारणभावप्रतीतिः यथा रूपरसयोः धूमपौवकयोर्वा, एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वं अर्थज्ञानयोरीति । अथ उभय- 15 विषयप्रत्यक्षात् तत्प्रतीतिः; तन्न; तथाविधप्रत्यक्षस्य अस्मादृशमैसम्भवात् ।

किञ्च, तदुभयविषयं प्रत्यक्षं ताभ्यामुत्पन्नं सत् तयोः कार्यकारणभावं प्रत्येति, अनुत्पन्नं वा ? न तावदनुत्पन्नम् ; आद्यज्ञानस्यापि अर्थादनुत्पन्नस्य अर्थग्राहकत्वप्रसङ्गात् । अथ उत्पन्नम् ; तर्हि तस्यापि तदुत्पत्तिः अपरस्मात् तैव उत्पन्नाज्ज्ञानात् प्रत्येतद्वया तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्था । आद्यात् द्वितीयस्य, द्वितीयाच्चाद्यस्य तत्प्रतीतौ अन्योन्या- 20 श्रयः । तन्न प्रत्यक्षरूपाद्यमाणान्तरात् ज्ञानस्य अर्थकार्यतासिद्धिः । नापि अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधाधित्वलक्षणानुमानरूपात् ; तस्य अनन्तरकारिकायां निराकरिष्यमाणत्वात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**‘अर्थम्’** इत्यादि । अर्थं घटादिकं परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः स्वस्य कारणान्तरमपरं परपरिकल्पितादर्शलक्षणकारणाद् 25 अपरमेव चक्षुरादिलक्षणं कारणान्तरं सूचयति । कुत एतदित्याह-

(१) ज्ञानम् । (२) अर्थात् । (३) उत्पत्तिम् । (४) उत्पत्तिः । (५) ज्ञानस्य । (६) तुलना-“किञ्चार्थकार्यतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः प्रतीयते प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं तत एव प्रत्यक्षान्तराद्वा ? ... अथ प्रमाणान्तरात्तस्यार्थकार्यता प्रतीयते ; तत्किं ज्ञानविषयमर्थविषयमुभयविषयं वा स्यात् ?”-प्रमेयक० पृ० २३२ । (७) ज्ञानार्थयोः । (८) ज्ञानार्थोभयग्राहि । (९) उभयार्थानां ज्ञानार्थोभयम् । (१०) ताभ्यामर्थज्ञानाभ्यामुत्पत्तिः । (११) उभयात् । (१२) तदुत्पत्तिप्रतीतिः ।

1 विन्द्यात् अथ श्र० । 2-स्मात्तस्य श्र० । 3-पाचकयोर्वा श्र० । 4-मभावात् श्र० । 5-वात्तदुभय-श्र० । 6-ज्ञातस्यापि श्र० ।

‘नहि’ इत्यादि । न हि र्थस्मात् ततोऽर्थात् स्वभावलाभं प्रति व्याप्तिप्रमाणस्य स्वरूप-
लाभमर्थयमानस्य तत्परिच्छित्तिः । अर्थपरिच्छित्तिः । कुत इत्याह—अनुत्पन्नत्वात् ।
यदनुत्पन्नं सद् यदा धैत आत्मलाभं लभते न तत्तदौ तस्य परिच्छेदकम् यथा अलब्धा-
त्मलाभावस्थायां पितुः पुत्रः, अनुत्पन्नं सदर्थादात्मलाभं लभते च उत्पत्तिक्षणे
5 ज्ञानमिति । अथ उत्पन्नस्य सतो ज्ञानस्य अर्थग्रहणे व्यापारो भविष्यति इत्युच्यते;
अत्राह—‘उत्पन्नस्यापि’ इत्यादि । न केवलमनुत्पन्नस्य अपि तु उत्पन्नस्यापि
ज्ञानस्य कारणे स्वजनके न व्यापारः तद्वहणलक्षणः । अत्र दृष्टान्तमाह—
करणादिवत् । करणं चक्षुरादि आदिर्यस्य अदृष्टादेः तत्रैव तद्वदिति । प्रयोगः—अर्थो
न ज्ञानकारणम्, तेन परिच्छिद्यमानत्वात्, यत्तु तत्कारणं न तत्तेन परिच्छिद्यते यथा
10 चक्षुरादि, परिच्छिद्यते च ज्ञानेनार्थः, अतस्तत्कारणञ्च भवतीति । न च आलोकेन
अनेकान्तः; तत्र ज्ञानकारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । तर्हि पुत्रेण अनेकान्तः,
पितुरुत्पन्नस्याप्यस्यै तत्परिच्छेदकत्वात्; इत्यप्यसत्; पुत्रशरीरस्यैव तैत उत्पत्तेः, न च
तैत् तत्परिच्छेदकं किन्तु ज्ञानम्, तर्च्च तैतो नोत्पद्यते चक्षुरादित एवास्योत्पत्तेः । कथ-
मेवं पूर्यप्रयोगे तस्यै दृष्टान्ततोपपद्यते ? इत्यप्यचोद्यम्; शरीरतैः तद्विशिष्टज्ञानतो वाऽ-
15 लब्धात्मलाभस्य परिच्छेदकत्वाभावमात्रापेक्षया तस्यै तदुपपत्तेः संभवात् ।

ननु च अर्थकार्यतया ज्ञानं स्वयमेव आत्मानं प्रतिपद्यते, अतः तद्विधितकर्म-
निर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः ‘परिच्छिद्यमानत्वात्’ इति हेतुः; इत्याह—
‘यदि’ इत्यादि । यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोः, आत्मनः कार्यभावम् अर्थस्य
कारणभावं विज्ञानं कर्तृ परिच्छिन्ध्यात्, तदा न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति । क ? इत्याह—
20 कर्तृकरणकर्मसु । अर्थः कर्ता, चक्षुरादि करणम्, ज्ञानं कर्म, तेषु इति । यत्र कारण-
कार्यभावो निर्बाधायां संविदि प्रतिभासते न तत्र कर्त्रादित्रये कश्चिद् विप्रतिपद्यते यथा
कुलालघटयोः, विप्रतिपद्यते च अर्थज्ञानयोः कर्त्रादौ जैनादिरिति ।

‘ननु सर्वत्र अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावः, तौ चात्रापि विद्येते—अर्थे

(१) ज्ञानं नार्थस्य परिच्छेदकम् अनुत्पन्नं सदर्थात्लब्धात्मलाभत्वात् । (२) उत्पत्तिक्षणे ।
(३) पुत्रस्य । (४) पितृपरिच्छेदकत्वात् । (५) पितुः । (६) पुत्रशरीरम् । (७) पितृपरिच्छेदकम् ।
(८) ज्ञानम् । (९) पितुः । (१०) ज्ञानस्य । (११) यदनुत्पन्नं सदित्यादिप्रयोगे । (१२) पुत्रस्य ।
(१३) शरीररूपेण । (१४) शरीरविशिष्टज्ञानरूपेण वाऽनुत्पन्नस्य । (१५) पुत्रस्य । (१६) दृष्टा-
न्ततोपपत्तेः, यथा हि शरीररूपेण विशिष्टज्ञानात्मकतया वाऽभिपन्नः पुत्रः न पितृपरिच्छेदकः तथैव
ज्ञानमनुत्पन्नं सन्नार्थस्य परिच्छेदकम् । (१७) स्वसंवेदनप्रत्यक्षबाधितसाध्यप्रयोगानन्तरम् । (१८)
स्वस्य—ज्ञानस्य । (१९) ज्ञानस्योत्पादकत्वादर्थः कर्ता । (२०) अर्थाज्जायमानत्वाज्ज्ञानं कर्म ।

1 न हि यस्मात् आ०, ब० । 2 स्वरूपला—ब० । 3 यत् ब० । 4 सदर्थात्मलाभं आ०,
श्र० । 5—लिलक्षणे श्र० । 6 परिज्ञानस्य ब० । 7—केवलनव्यापा—श्र० । 8 च तत्परि—श्र०, ब० ।
9 अतस्तत्तत्तत्तत्—आ० । 10—नन्तरप्रभु—आ०, ब० । 11 परिच्छेद्य—ब० ।

सत्येव ज्ञानस्योत्पत्तेः तदभावे चाऽनुत्पत्तेः । प्रयोगः—यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुरोति तत्तस्य कार्यम् यथा अग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुरोति च ज्ञानमर्थस्य' इत्याशङ्क्याह—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।

संशयादिर्विदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥

विवृतिः—बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वय- 5
व्यतिरेकावनुकुर्वती व्यभिचरेन्नाम ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमि-
राशुभ्रमणनौयानसंशोभादिहेतुत्वे कैमर्थमर्थः पुष्पाति इति मृग्यम् । सत्यज्ञानेऽपि
तिमिराद्यभावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात् । ततः सुभाषितम्—'इन्द्रियमनसी
कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः' इति ।

अर्थसद्भावे भावोऽन्वयः तदभावेऽभावो व्यतिरेकः ताभ्यामर्थश्चेद् यदि 10

कारिकार्थः—**कारणं विदो ज्ञानस्य । अत्र दूषणमाह—'संशय' इत्यादि । संशयः**
आदिर्द्यस्याः सा चासौ विदुः च तस्य उत्पाद आत्मलाभः कौत-
स्कुत इत्येवमीक्ष्यतां पर्यालोच्यताम् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'बुद्धेः' इत्यादि । बुद्धेरेव व्यभिचारः अन्यदेशादि-
विशिष्टस्यार्थस्य अन्यदेशादिना ग्रहणलक्षणो नार्थस्य, 'व्यभिचारः' 15
विवृतिव्याख्यानम्—
इति सम्बन्धः । स हि यथार्थमयथार्था वा अन्वयव्यतिरेकावनु-

(१) ज्ञानमर्थकार्यम् अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधासित्वात् । (२) 'चेद्यदि कारणं कथ्यते । कः ?
अर्थो विषयः । कस्याः ? विदो ज्ञानस्य । काभ्याम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्, सति भवनमन्वयः
असत्यमवनं व्यतिरेकः ताभ्याम् । तथाहि—ज्ञानमर्थकारणकं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति । तदा
कौतस्कुतः स्यात्, कुतस्कुत आगतः कौतस्कुतः । कः ? संशयादिविदुत्पादः संशयविषयसिज्ञानोत्पत्तिः ।
इत्येवमीक्ष्यतां तद्वादिभिः स्वमनसि पर्यालोच्यताम् अर्थाभावेऽपि संशयाद्युत्पत्तेः । न हि स्थानुपुष्पात्मकः
केशोण्डुकस्वभावो वार्थस्तज्ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियते, ततो भागासिद्धमर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्येति ।'
—लघी० ता० पू० ७६ । (३) अत्रायं पूर्वपक्षः—'अर्थस्य च ज्ञानजनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभावावग-
म्यते । यदा हि देवदत्तार्थी कश्चिद् ब्रजति तद्गृहम् । तत्रासिद्धिर्हितं चैनं गत्वापि न स पश्यति ॥
क्षणान्तरे स आयातं देवदत्तं निरीक्षते । तत्र तत्सदसत्त्वेन तथात्वं वेत्ति तद्विषयः ॥ अनागते देवदत्ते न
देवदत्तज्ञानमुदपाति तस्मिन्नागते तदुत्पन्नमिति तदभावभावितात्वात्तज्जन्यत्वं तदवसीयते ।'—न्यायसं० पू०
५४४ । (४) 'तिमिरमण्णोर्विल्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादेः, मन्वं हि
भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं
विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्भाविभ्रान्तिरुत्पद्यते इति
यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संशोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि
क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम् ।'—न्यायसं० टी०
पू० १६ । (५) उद्धृतमिदम्—'इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।'—न्यायसं० वि० पू० ३२
A. । 'तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलं कैरपि...'—तत्त्वार्थस्तो० पू० ३३० ।

1—विचिद्वृत्त्या—आ० । 2 किमर्थमर्थः ज० वि० । 3 चित् आ० । 4—शिष्टस्यान्यदे—ब० ।

कार्यं च बुद्धिं जनयत्येव । “सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्” [] इत्यभ्युपगमात् ।
 केशोण्डुकादिज्ञानस्यापि अक्षिपक्षमादिनिबन्धनत्वादिति । पूर्वार्द्धं व्याख्यातम् । उत्तर-
 मुत्तरार्द्धं व्याचक्षाणः प्राह—“कथम्” इत्यादि । कथं केन प्रकारेण अव्यभिचारिणोऽर्थस्य
 5 अव्यव्यतिरेकावमुकुर्वती बुद्धिः अर्थं व्यभिचरेन्नाम ? नैव व्यभिचरेत् । यथैव हि
 व्यवस्थितोऽर्थः तथैव गृह्णीयात्, तत आत्मलाभलक्षणत्वादव्यभिचारस्य । व्यभिचरति
 च । अतो यथा अन्यदेशादिसम्बद्धस्य धर्मस्यासत एव ग्रहणं तथा धर्मिणोऽप्यसत एव
 ग्रहणसम्भवाच्च विपरीतस्यात्यै(त्ये)कान्तः श्रेयान्, असत्ख्यातेरपि प्रसङ्गात् इत्यभिप्रायः ।
 एतदेव दर्शयन्नाह—“ततः” इत्यादि । ततः तस्माद् बुद्धेरर्थविचारात् संशयादिज्ञानमहे-
 10 तुकम्, अर्थलक्षणकारणशून्यं स्यात् धर्मवत् धर्मिणोऽपि असत एव प्रतिभाससंभवात् ।
 दृश्यते हि तावद् अक्षिपक्षमाद्यपायेऽपि तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिज्ञानम् ।

ननु केशोण्डुकादिज्ञानं भ्रान्तत्वाद् अर्थापायेऽपि उत्पद्यते, नान्यद् विपर्ययात् ।
 नचान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारः अतिप्रसङ्गात् ; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम् ;
 परं निरपेक्षतया हि स्वपरप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य स्वरूपं न पुनः सत्यत्वमसत्यत्वं वा ।
 तत्र च यथा सत्याभिमतं ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतावांस्तु
 15 विशेषः—किञ्चित् सत्परं प्रकाशयति संवादसंभवात्, “किञ्चित् असद्” विसंवादात् ।
 न चैतावता ज्ञानान्तरत्वेन अनर्थोरन्यत्वं व्यभिचाराभावो वा, अन्यथा “प्रयत्नानन्तरी-
 यकः शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत्” इत्यादेरपि अप्रयत्नानन्तरीयकैः विशुद्धनकुसुमा-

(१) “यथा चिरकालीनाभ्ययनादिखिन्नस्थोऽस्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्डुकाख्यः
 कश्चिन्नयनाभे परिस्पृष्टति, अथवा करसंमृदितलोचनरदिमुप येयं केवापिण्डावस्था स केशोण्डुकः ।”—
 शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९ । “केशोण्डुका नाम पक्षिणः ये केशमूलान्युत्पादयन्ति”—शिक्षासमु० पृ० ७० ।
 “तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभासं विनाप्यर्थसत्त्वादिति ।”—मध्यान्तवि० पृ० १५ । “केशोण्डुकं यथा
 मिथ्या गृह्णन्ते तैमिरैर्जनैः ।”—लङ्कावतार० पृ० २७४ । (२) तुलना—“कामलादृष्टतचक्षुषो हि न
 केशोण्डुकज्ञानेऽर्थः कारणत्वेन व्याप्रियते—तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारो नयनपक्षमादेर्वा कामलादेर्वा
 गत्यन्तराभावात् ? न तावदावविकल्पः ; न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणेऽर्थं सत्येव भवति भ्रमाभाव-
 प्रसङ्गात् । नयनपक्षमादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात् गगनतलावलम्बितया पुरःस्थतया केशो-
 ण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात् । न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्येतुं शक्यम् । अथ नयनकेशा एव तत्र
 तथाऽसत्तोऽपि प्रतिभासन्ते तर्हि तद्वहितस्य कामलिनीऽपि तत्प्रतिभासाभावाः ।”—प्रमेयक० पृ० २३३ ।
 (३) “स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम्, तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञानं स्वपरग्राहकं तथा केशोण्डुकादि-
 ज्ञानमपि । एतावांस्तु विशेषः किञ्चित्सत्परं गृह्णाति संवादसंभवात्, किञ्चिदसत्प्रसंवादात् ।”—
 प्रमेयक० पृ० २३५ । (४) सत्यज्ञानम् । (५) असत्यज्ञानम् । (६) सत्परत्व-असत्परत्वग्रहणमात्रेण ।
 (७) सत्याज्यज्ञानयोः ।

१-यत् व० । २-ज्ञानम् नास्ति श्र० । ३-इत्युप-व० । ४-पक्षादि-श्र० । ५-सम्बन्धस्य श्र० ।
 ६-दृश्यते हि लोचनपक्षमाद्यपायेऽपि व० । ७-नचाप्यस्यस्य व्यभिचारोऽति-व० । ८-स्वरूपपरप्रका-
 शश्र० । ९-विसंवादसंभवात् श्र० ।

दिभिर्व्यभिचारो न स्यात्, ताल्वादिदण्डादिजनितानां शब्दघटादेः तद्विपरीतस्य विद्युदादे-
रन्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । तथाप्यत्र व्यभिचारे
प्रकृतेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

‘तिमिर’ इत्यादिना परमतमाशङ्कते-तिमिरादीनां द्वन्द्वः, पुनः आदिशब्देन
बहुव्रीहिः । आदिशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेन एकैत्र आदिशब्देन कामलादि- 5
सकलेन्द्रियदोषपरिग्रहः, अन्यत्र दृढप्रहारादिस्वीकारः, इतरेत्र अश्वयानाद्युपादानम्,
अपरेत्र कोद्रवाद्युपयोगग्रहणम् । तद्धेतुत्वे अङ्गीक्रियमाणे कर्मर्थं किं प्रयोजनम् अर्थः
पुष्पाति इति एवं मृग्यं न कश्चिदित्यर्थः । कुत एतदित्यत्राह- ‘सत्यज्ञानेऽपि’ इत्यादि ।
न केवलमसत्यज्ञाने अपि तु सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य, कथम्भूतस्य ? इन्द्रिय-
मनोगतस्य । इन्द्रियगतस्य तिमिराद्यभावस्य, मनोगतस्य सङ्क्षोभाद्यभावस्य, इन्द्रि- 10
यमनोगतस्य आशुभ्रमणाद्यभावस्य कारणत्वात् इन्द्रियादिकमेव च तद्विविक्तं तद्विभाव
इति मन्यते, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य । यथा च अन्यैत एवोत्पन्नं संशयादिज्ञानम्
असतोऽकारणस्य अर्थस्य ग्राहकं तथा सतः सत्यज्ञानमिति सूरेरभिप्रायः । उपसंहार-
माह-‘तत्’ इत्यादि । यस्मादुक्तप्रकारेण अर्थस्य विज्ञानं प्रति कारणत्वं नोपपद्यते ततः
सुभाषितम्-इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो घटादिर्विषयः परिच्छेद्य इति । 15

ननु च इन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्तेः तस्मिन्
सत्येव उत्पत्तेः तस्यैव तत्र साधकतमत्वोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् इत्याशङ्का-
पनोदार्थमाह-

संज्ञिधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।

कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥ ५५ ॥

20

विवृतिः-सन्निकर्षादियः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसायीयते न च तैर्बुद्धिः
प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेषणम् ? आत्ममनइन्द्रियार्थानां

(१) तिमिरे । (२) आशुभ्रमणे । (३) नीयाने । (४) संक्षोभे । (५) तिमिरादिरहितम् ।
(६) तिमिराद्यभावः । (७) इन्द्रियादिदोषात् । (८) तुलना-“अनेन (किञ्चिदुक्तज्ञानेन) व्यभिचा-
रात् संशयज्ञानेन च । न हि तदर्थं सत्येव भवति अत्रान्तत्वात्पुष्पात्, तद्विषयभूतस्य स्वापुसृषलक्ष-
णार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावाऽसंभवाच्च ।”-प्रमेयक० पृ० २३४ । (९) अकलङ्कदेवस्य । (१०) सन्निक-
र्षस्यैव । (११) बुद्धौ । (१२) “अध्यवसायिनी निष्वायिका । का ? बुद्धिर्ज्ञानमेव । कस्य ? सन्निधेरपि
सन्निकर्षस्यापि न केवलमर्थस्येत्यपि साध्याः । केषाम् ? इन्द्रियार्थानाम्, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि
अर्थाश्च रूपादेयः तेषाम् । न केवलं सन्निधेरपि तु अन्वयव्यतिरेकयोश्च सन्निकर्षस्य भावाभावयोश्च ।
तथा कार्यकारणयोश्च । कार्यं सन्निकर्षः कारणमिन्द्रियादिः तयोश्च बुद्धिरवाध्यवसायिनी । ततः
सैव प्रमाणं न सन्निकर्षादि तस्य प्रमेयत्वात् ।”-लघी० ता० पृ० ७७ ।

1 न किञ्चिद-आ०, अ० । 2 सङ्क्षोपाद्यभा-अ० । 3 अर्थग्राह-अ० । 4-यया बुद्धे-ज० वि० ।
5 आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणाम् ई० वि० ।

कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुरवबोधः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

- 5 **कार्यकारणयोश्चापि** इत्यपिशब्दः **सन्निधेः** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थो जायते—न केवलमर्थस्य किन्तु सन्निधेरपि सन्निकर्षस्यापि बुद्धिरैकारिकार्थः—**ध्यवसायिनी** । केषां तस्य इत्याह—**इन्द्रियार्थानाम्** । तथा **अन्वयव्यतिरेकयोः सन्निधेर्भावाभावयोः बुद्धिः** अध्यवसायिनी । न केवलमनयोः अपितु **कार्यकारणयोश्च, कार्यं सन्निकर्षः कारणम्** इन्द्रियादि । यदि वा, **कार्यज्ञानम्, कारणं सन्निकर्षः तयोश्च बुद्धिरध्यवसायिनी** । एतदुक्तं भवति—सन्निकर्षादिसद्भावेऽपि यावद् बुद्धिर्नोत्पद्यते तावत्तस्य तदन्वयव्यतिरेकयोः तत्कार्यकारणभावस्य अन्यस्य वा न व्यवस्था, बुद्धिकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात् । उत्पन्नायां तु तस्यैव अन्यापेक्षामन्तरेणैव तत्त्वव्यवस्थेति, अतः सैव साधकतमत्वात् प्रमाणं न सन्निकर्षादि ।

- कारिकां विवृण्वन्नाह—**‘सन्निकर्ष’ इत्यादि । सन्निकर्ष आदिर्येषाम् अन्वयव्यतिरेकादीनां ते तथोक्ताः, कारणान्तरात् इन्द्रियमनोलक्षणाद् उत्पन्नविवृतिव्याख्यानम्—**
 15 **या बुद्ध्या अध्यवसीयन्ते । न च नैव तैः सन्निकर्षादिभिर्बुद्धिः अध्यवसीयते । कुत एतदित्याह—‘प्राग्’ इत्यादि । प्राक् बुद्ध्युत्पादात् पूर्वम् अनध्यवसायात् सन्निकर्षादीनां बुद्धिविषयव्यवसायरहितत्वात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह—**‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रागध्यवसायप्रकारेण कैर्मर्थक्याद् बुद्धेः अन्वेषणम् । बुद्धेरिव अन्यस्यापि सन्निकर्षादिभ्यः एव सिद्धेः । न चैवम्, अतो बुद्धेरेव सर्वत्र साधकतमत्वात्प्रामाण्यमित्यभिप्रायः । यत्पुनरेतैत्—‘आत्मा मनसा युज्यते,****

(१) तुलना—‘आलोकेनापि जन्यत्वे नालम्बनतया भिदः (विदः) । किन्तिवन्द्रियबलाधानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥’—तत्त्वावर्णश्लो० पृ० २१८। ‘नाथालोको कारणं परिच्छेद्यत्वात्साधकवत् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।’—परीक्षा० २।६, ७ । ‘नाथालोको कारणमव्यतिरेकात् ।’—प्रमाणमी० १।१२५ । (२) सन्निकर्षस्य । (३) सन्निकर्षस्य । (४) सन्निकर्षबुद्धयोरन्वयव्यतिरेकयोः । (५) इन्द्रियसन्निकर्षयोः सन्निकर्षज्ञानयोर्वा कार्यकारणभावस्य । (६) बुद्धौ । (७) बुद्धिः । (८) यदि बुद्धयुत्पादमन्तरेणापि सन्निकर्षादि अर्थपरिच्छेदकं स्यात्तदा । (९) ‘तच्चेदं प्रत्यक्षं चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षातिप्रवर्तते । तत्र बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति । मुखादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्र चक्षुरादित्यापाराम्भात् । आत्मनि तु योगिनो द्वयोरात्ममनसोरेव संयोगाज्ज्ञानमुपजायते तृतीयस्य ग्राह्यस्य ग्राहकस्य तत्राभावात् ।’—न्यायमं पृ० ७४ । उद्धृतमिदम्—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १४० ।

1 **दुरवबोधः** प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति वित्यासाधिज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं ज० वि० । 2 तत्कारणतया ई० वि० । 3—रव्यवसा—अ० । 4 अव्यव—अ० । 5 कार्यः आ०, अ० । तावन्न तस्य अ० । 7 अन्यपि आ० ।

मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन” [न्यायसं० पृ० ७४] इति तत्राह—‘आत्मन’ (तमन) इत्यादि । आत्मनो मनसा मनस इन्द्रियैः इन्द्रियाणामर्थेन । कथम्भूतानाम् ? अतीन्द्रियाणाम् इन्द्रियातिक्रान्तानां यः सन्निकर्षः स दुरवबोधः ज्ञातुमशक्यः । अतः कथं केन प्रकारेण तस्य सन्निकर्षस्य विज्ञानोत्पत्तौ अङ्गीकरणम् ? इति एवं चिन्त्यम् । यत्कुतश्चिज्ज्ञातुं शक्यते न तत् ज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वेन प्रेक्षावता अङ्गीकर्तव्यम् यथा खर- 5 विषाणम्, कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुं शक्यते च सन्निकर्षादिरिति । यथा चासौ कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुमशक्यः तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे^१ प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् । भैवत्कल्पितश्च आत्मा मन इन्द्रियमर्थश्च निरंशादिरूपो यथा नोपपद्यते तथा विषय- परिच्छेदे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अतः कस्य केन सन्निकर्षः स्यात् ?

एवम् ‘संशयादिविदुत्पादः’ इत्यादिना अर्थव्यतिरेके ज्ञानव्यतिरेकाभावं 10 प्रतिपाद्य साम्प्रतम् अर्थान्वयग्रहणाभावं दर्शयितुमाह—‘प्राग्’ इत्यादि । प्राक् पूर्वं विज्ञानो- त्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमाना नैयायिकादयः कारणमकारणमेव वार्थं विज्ञानोत्पत्तेः कथम् न कथञ्चिद् ब्रूयुः । एतदुक्तं भवति—यथा अग्निदर्शनानन्तरं धूमदर्शनं तथा यदि अर्थदर्श- नानन्तरं ज्ञानदर्शनं स्यात् तदा स्यादर्थकार्यं तत्, न चैवमस्ति । ननु तदुत्पत्तेः पूर्वं ग्राहका- भावान्न तत्रै कारणकारणविभागप्रतिपत्तिः तदुत्पत्तौ तु भविष्यति ; इत्यत्राह—‘उत्पन्नम्’ 15 इत्यादि । उत्पन्नं लब्धात्मलाभं हि स्फुटं विज्ञानम् अर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारण- तायाः । अधुना आलोकस्य ज्ञानकारणतां निराकुर्वन्नाह—‘आलोकोऽपि’ इत्यादि । न केव- लम् अर्थादिः, किन्तु आलोकोऽपि न कारणम् ‘विज्ञानोत्पत्तेः’ इति सम्बन्धः । कुत एत- दित्याह—परिच्छेद्यत्वात् । प्राक् प्रसाधितं दृष्टान्तमाह—‘अर्थवत्’ इति । अर्थ इव अर्थवत् । नूनं यद्यालोकः तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः 20 कृतो न स्यादित्याशङ्क्याह—

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।

कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

(१) सन्निकर्षादि न ज्ञानोत्पत्तिकारणं कुतश्चिदपि प्रमाणाज्ज्ञातुमशक्यत्वात् । (२) पृ० २० । (३) नैयायिककल्पितः । (४) ज्ञानम् । (५) अर्थे । (६) ग्राहकभूतज्ञानस्योत्पत्तौ । (७) आलोकका- रणतावादी बौद्धः, तथा च तद्वन्धः—“यथा इन्द्रियालोकमनस्काराः आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपज्ञानमेकं जनयन्ति”—प्रमाणवा० स्ववृ० १।७५ । (८) आलोकाभावेऽपि । (९) ‘वीक्षन्ते विशेषेण नीलादिरूपतया पश्यन्ति । के ? ईक्षका चक्षुष्मन्तो जनाः । किम् ? तमोज्ज्वलकारं पुद्गलपर्यायम् । किंविशिष्टम् ? निरोधि प्रमेयान्तरतिरोधायकम् । पुनर्न वीक्षन्ते । किम् ? परं घटादिकम् । कथम्भूतम् ? वृत्तम् आच्छादितम् । केन ? तमसा । ततः कथमालोको ज्ञानकारणं तदभावेऽपि तदुत्पत्तेरिति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—इव यथा कुड्यादिकमीक्षन्ते ईक्षकाः कुड्यादितिरोहितं पुनर्घटादिकं नेक्षन्ते तथा तमो वीक्षन्ते तदवृतं तु परं नेक्षन्ते इति ।”—लघी० ता० पृ० ७७ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिबि० टी० पृ० १८७ B. । ‘तमोनिरोधे-घटादिकं....’—सम्मति० टी० पृ० ५४४ ।

1 एतस्य व० । 2 यः कुत-व० । 3-चिदुत्पा-श्र०, व० । 4 प्राक्साधि-आ० । 5 वीक्षन्ते आ० ।

विवृतिः—नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात् । अर्वागभागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्तमोवत् । प्रत्यर्थावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं

5 तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

तमः अन्धकारं वीक्षन्ते विशेषेण अवाध्यमानतया प्रसूटरूपतया वा वीक्षन्ते पश्यन्ति जनाः । कथम्भूतं तत् ? इत्याह—निरोधि कारिकायः—

प्रच्छादकम् । तथा च आलोकाभावेऽप्युपजायमानं तज्ज्ञानं कथं तत्कार्यं स्यात् ? यैवभावेऽपि यदुपजायते न तत् तत्कार्यम् यथा चक्षुषोऽभावेऽप्युपजा-
20 यमानं रसज्ञानं न तत्कार्यम्, आलोकाभावेऽप्युपजायते च अन्धकाररूपादिज्ञानमिति ।
अथ मतम्—आलोकस्य तज्ज्ञानाहेतुत्वे तमसि स्थितानां घटादीनां ग्रहणं स्यात्; तदयु-
क्तम्; तस्य तन्निरोधित्वात् । एतदेवाह—‘तमसा’ इत्यादि । तमसा अन्धकारेण
आवृतं प्रच्छादितं परं घटादिकं न वीक्षन्ते । अत्र दृष्टान्तमाह—‘कुड्यादिकम्’
इत्यादि । इव शब्दः यथाऽर्थे । यथा कुड्यादिकं नेक्षन्ते ईक्षकाः । कथम्भूतम् ?
15 कुड्यादिनिरोहितं परेण कुड्यादिना व्यवहितं तथा प्रकृतमिति ।

नैनु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽसंभवात् कस्य तन्निरोधित्वं
ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरे- स्यात् ? नहि असत् कस्यचिन्निरोधकज्ञान अश्वविषाणादेरपि तत्प्रस-
केण नास्ति तमोऽर्थ- ज्ञात् ? न च तदनुत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्यास्य असंभवेऽसिद्धः;
न्तरमिति शालिक- सालोकेऽपि गर्भगृहादिप्रदेशे बहिर्देशादागतस्य प्रतिपत्तुः असत्य-
नाथस्य, तेजोऽभाव- प्यन्धकारे ज्ञानानुत्पत्तौ तमःप्रतीत्युपलब्धेः । द्रव्यान्तरत्वे त्वस्य
20 रूप एव तमः इति चक्षुषः तत्प्रकाशने आलोकानपेक्षा न स्यात् । आलोकमेव हि
योगस्य च पूर्वपक्षः—

(१) तमोज्ञानम् । (२) आलोककार्यम् । (३) तमोज्ञानं नालोककार्यम् आलोकाभावे-
प्युपजायमानत्वात् । (४) तमसः । (५) शालिकनाथः । (६) “यः पुनर्निशि नीलिमेवाव-
लोकयते नासौ नभसः । कस्य तर्हि ? न कस्यचित् । कथं पुनर्गुणो न कस्यचित् ? सत्यम्; गुण
एवायमप्रसिद्धः । ननु प्रतीतिबलेन सिद्ध एव । सिद्धयेद्यदि प्रसिद्धिरेव सिद्धयेत्, सा तु कारणाभा-
वान्न सिद्धा । ननु चक्षुरेव कारणम्; न; आलोकोपकारानपेक्षस्य चक्षुषोऽप्रकाशकत्वात्, तेन
अप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमो मन्दानाम् । अत एव दिवानुपलम्भः, अन्यथा सीरीभिः भाभिरनुगृहीतं
चक्षुःस्फुटतरं व्योम्नि नीलिमानं प्रकाशयेत् ।” तमसो निष्पत्त्यनवकल्पेन, रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्यं
स्यात्, तच्चानेकद्रव्यारब्धं सच्चाक्षुषं भवेत् । न च द्रव्याणि सन्ति, सन्ति चेद्विवाप्यारभेरन ।
अन्धानामिव नीलिमाभिमानो नभस एवेत्युक्तम् ।—प्रक० पं० पृ० १४३ । ‘तमो नाम द्रव्यान्तरं न
भवति, अन्धानामिव केवलं नीलिमाभिमानः ।’—तन्त्ररह० पृ० २१ । (७) घटादिनिरोधायकत्वम् ।
(८) ज्ञानानुत्पत्तिः । (९) तमसः । (१०) तमसः । (११) तमःप्रकाशने ।

1-ज्ञाने प्रति-ज० वि० । 2-ज्ञानविरो-ई० वि० । 3-विशेषावाध्य-अ० । 4-न तत्का-व० ।
5-न्ते कुड्यादि-अ० । 6-तिपरेण व० ।

चक्षुः आलोकनिरोधेऽपि प्रकाशयति न द्रव्यान्तरम् । ननु तमसो [S]द्रव्यान्तरत्वे छायायाश्छत्रादेरर्थान्तरभूतायाः प्रतीतिर्न स्यात् । अस्ति चार्थाः तथैभूतायाः प्रतीतिः ततो बीजादङ्कुरवत् ततोऽसौ^१ द्रव्यान्तरं सिद्धा । तथाभूता चासौ^२ सिद्ध्यन्ती तमसो द्रव्यान्तरत्वं साधयतीति; तदसमीचीनम्; आलोकाभावरूपतया अस्या द्रव्यान्तरत्वासंभवेऽपि विभ्रमवशात् तत्र तत्प्रतीतिरूपपत्तेः । तथाहि^३—येन येन प्रदेशान्तरेण छात्राद्यावारकद्रव्यप्रतिबद्धं तेजो न संयुज्यते तत्र तत्र छाया प्रतीयते, प्रतिबन्धकस्य आतपत्रादेरपाये तु स्वरूपेण आलोकः प्रतीयते, इत्यालोकाभाव एव छाया^४ । द्रव्यान्तरत्वे तु तस्यास्तदपायेऽपि आलोकेन सहावस्थितायाः प्रतीतिः स्यात् । न हि जातु किञ्चिद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण सहानवस्थायि प्रतीतम् ।

एतेन 'छाया द्रव्यान्तरं देशदेशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन क्रियावत्त्वात्' इत्येतत् प्रत्याख्यातम् ; तथाहि—यत्र यत्र आतपत्राद्यावारकद्रव्येण तेजसः सन्निकर्षः प्रीतिविध्यते

(१) वृष्टितायां पू० प्रती 'तमसोऽद्रव्या' अयमेव पाठो माति । (२) छायायाः । (३) छात्राद् भिन्नायाः । (४) छात्रात् । (५) छाया । (६) छाया । (७) 'यच्चेदमुच्यते छायायै तमः सा चलत्वाच्चलत्वमहत्त्वमहत्त्वदूतत्वासत्त्वादिगुणयोगिनी वस्तुभूतेति; तदिदमप्यसारम्; अनवबलृतेरेव । यच्चालाचलत्वादिकमुपन्यस्तं तदपि स्थूलदर्शितया । तथाहि—आलोकेऽप्यारिते छायाप्यपेयते । ततोऽप्यारितालोकभूभागादिभावव्यतिरेकिणी न रूपावन्तरवच्छाया दृश्यते । तेन मन्यामहे व्यपवारितालोकभूभागादिकमेव छायेति ।"—प्रक० पं० पू० १४४ । "अप्यारितालोकं केवलं भूभागादिकमेव छाया ।"—तन्त्र० पू० २१ । "आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरैकदेशिनः ।"—सर्वद० पू० २२९ । (८) छायायाम् । (९) छात्रादर्थान्तरत्वप्रतीतिः । (१०) "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादिभावस्तमः ।"—वैशे० सू० ५।२।१९ । "उद्भूतरूपवद्भावतेजःसंसर्गभावस्तमः ।"—वैशे० उप० ५।२।२० । (११) छात्राद्यपायेऽपि । (१२) "तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणञ्च ।"—वैशे० सू० ५।२।२० । "द्रव्यं छाया गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः...साध्यं तावदेतत्—किं पुरुषवच्छायापि गच्छति, आहोस्वित् आवारकद्रव्ये संसर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यते इति ? सर्पता खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधरेवावच्छिन्नो गृह्यते इति ।"—न्यायभा० १।२।८ । "आवारके द्रव्ये प्रसर्पति तेजसोऽसन्निधिविशिष्टं द्रव्यं यदुपलभ्यते तत् छायेत्युच्यते ।"—न्यायवा० १।२।८ । "भासामभावरूपत्वाच्छायायाः ।"—प्रश्न० व्यो० पू० ४६ । "न तावच्छाया सामान्यविशेषसमवायान्तर्भूता; अनित्यत्वात्तस्याः । नापि कर्म; संयोगविभागासमवायिकारणत्वाभावात् । न गुणो द्रव्यासमवायात् । न मनोदिवकालगुणः; तद्गुणानामप्रत्यक्षत्वात् । नाप्यत्मगुणः, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । नापि नभोनभस्वतोः; तद्गुणानामाक्षुषत्वात् । नापि तेजसः; तद्विरोधित्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपलब्धेश्च । अत एव न पृथिवीपाथसोरपि । अपि च तद्गुणश्चाक्षुषो नालोकमन्तरेण शक्यग्रहः, छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिंस्तु सति न गृह्यत इति दुर्घटम् । नापि द्रव्यम्; तद्वि पृथिव्यादीनामन्यतममेव भवेदन्यद्वा दशमम् । न तावदन्यतमम्; तद्गुणानामनुपलब्धेः । नाप्यन्यद्रूपवदिति युज्यते । तस्याद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः, अस्पर्शवत्त्वादनारम्भकत्वेनानेकद्रव्यत्वाभावात् । तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम् ।"—न्यायवा० ता० पू० ३४५ । प्रश्न० किर० पू० १९ । श्रीधरस्तु आरोपितरूपविशेषात्मकं तमः स्वीकरोति । "तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्तं तेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितस्तमः इति प्रतीयते । दिवा चोर्ध्वं नयनगोलकस्य नीलिमावभास इति

तत्र तत्र अन्याऽन्या छायोपलभ्यते, न पुनः पूर्वदेशोपलब्ध्या अन्यत्र देशे, इति आवारकद्रव्यगतं कर्म तत्राभ्यारोप्य प्रतिपत्ता 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते, यथा अन्वाद्यारूढः स्वगतं कर्म वृक्षेऽभ्यारोप्य 'वृक्षः आगच्छति' इति^१ । देशान्तरप्राप्ति-
 5 आस्थैः देशान्तरेण संयोगः, समवायो वा ? यँदि संयोगः; अन्योन्याश्रयः—तद्रव्य-
 त्वसिद्धौ हि संयोगसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्रव्यत्वसिद्धिरिति । अथ समवायः; तद-
 प्यनुपपन्नम् ; एकत्र समवेतस्य द्रव्यस्य अन्यत्र समवायाऽसंभवादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नापरं तमः' इत्यादि;
 तदसमीक्षिताभिधानम् ; प्रतीतिविरोधात् । सुमसिद्धा हि आलोक-
 तमश्छापयोः पुद्गल-
 द्रव्यत्वसिद्धिः—
 तमसोः स्वस्वरूपेण अन्योन्यविलक्षणयोः प्रतिप्राणि प्रत्यक्षतो विल-
 क्षणा प्रतीतिः । न च विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण प्रतीतिवैलक्षण्यं युक्तम् ;

10 पुरुषाद्यद्वैतसिद्धिप्रसङ्गतो भेदवादोच्छेदप्रसक्तेः । तमनिच्छता प्रतीतिवैलक्षण्यं विषय-
 वैलक्षण्यपूर्वकं प्रतिपत्तव्यम् । प्रयोगः—तत्प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकं तत्त्वात्
 घटपटादिप्रतीतिवैलक्षण्यवत् । भावाभावरूपविषयवैलक्षण्यपूर्वकत्वेन आलोकतमः—
 प्रतीतेरिष्टत्वात् लिङ्गसाध्यता; इत्यप्यविचारितरमणीयम् ; तमसो रूपादिमत्त्वेन आलो-
 15 क्यद् अभावरूपत्वानुपपत्तेः । तद्भूतत्वे वा रूपादिमत्त्वविरोधात् । योऽभावो नासौ
 रूपादिमान् यथा घटाद्यभावः, आलोकाभावरूपतयेष्टञ्च तम इति । न चास्य रूपादि-
 मत्त्वमसिद्धम् ; आलोककत्वं तत्रापि तत्सद्भावप्रतीतिः । यथैव हि आलोके भासुरं रूपम्
 वक्ष्यामः । यदा तु नियतदेशाधिकरणो भासामभावस्तदा तद्देशसमारोपिते नीलिम्नि छायेत्यवगमः । अत
 एव दीर्घा ह्रस्वा महती अल्पीयसी छायेत्यभिमानः तद्देशव्यापिनः नीलिम्नः प्रतीतिः ।"—प्रश्न० कन्द्० पृ०
 ९ । "तथाहि—यत्र वारकद्रव्येण तेजसः सन्निधिनविष्यते तत्र तत्र छायेति व्यवहारः । वारकद्रव्यग-
 ताञ्च क्रियाम् आतपाभावे समारोप्य प्रतिपद्यते छाया गच्छतीति, अन्यथा वारकद्रव्यगतं क्रियापेक्षित्वं
 न स्यात् ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ । "यत् तेजःप्रतिरोधि द्रव्यं तद्यथा यथा सञ्चरति तथा तथाऽलोकः
 प्रतिमुच्यते प्रतिरुध्यते चेति चलतीव छाया प्रतिभाति, अन्यथा शरीरेऽपि चलति किमिति छायाऽपि
 चलेत् हेत्वभावात् ।"—प्रश्न० पं० पृ० १४४ ।

(१) तेजोऽभावे । (२) प्रतिपद्यते इति शेषः । (३) छायायाः । (४) "यच्चैवं देशान्तरप्रा-
 प्तिमत्त्वं तत्किं देशान्तरेण संयोगः; तस्यापि साध्यत्वात् । तथाहि—द्रव्यत्वसिद्धौ संयोगः सिद्धयति,
 संयोगात् द्रव्यत्वमिति इतरैतराश्रयत्वं स्यात् ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ । (५) "अथ देशान्तरप्राप्तिः
 समवायः; सोऽयसिद्धः । न ह्येकत्र समवेतः अन्यत्र समवेति । छाया त्वेकत्र सम्बद्धोपलब्धा पुनर्वैशान्त-
 रेप्युपलभ्यते । न च क्रियावत्त्वं देशान्तरसमवायात् सिद्धयति तस्याप्ययुतसिद्धेष्वेव भावादिति ।"—
 प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ । (६) पृ० ६६६ पं० १६ । (७) तुलना—"अत एव नालोकज्ञानाभावः; अभावस्य
 प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात् ।"—सर्वदं पृ० २३० । "न चाप्रतीतावेव प्रती-
 तिभ्रमः; तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः ।"—चित्सु० पृ० २९ । (८) आलोकतमसोः
 प्रतिभासभेदः । (९) नैयायिकवैशेषिकादयः । (१०) कृष्णरूपशीतस्पर्शचलनादिक्रियाशालित्वेन ।
 (११) अभावरूपत्वे वा । (१२) तमो न रूपादिमत्त्व अभावरूपत्वात् । (१३) तमस्यपि ।

उष्णस्पर्शश्च लोके प्रसिद्धः तथा छायादितमसि कृष्णं रूपं शीतस्पर्श इति । ततो द्रव्यं तमः गुणवत्त्वात्, यद् यद् गुणवत् तत्तद् द्रव्यम् यथा आलोकादि, गुणवच्च तम इति । न केवलं छायादेर्लोक एव गुणवत्त्वं प्रसिद्धम्, अपि तु वैद्यकशास्त्रेऽपि । तदुक्तम्—

“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः ॥” [राजनि०]

5

(१) जैना हि तमः पुद्गलद्रव्यात्मकं स्वीकुर्वन्ति; तथाहि—“गोयमा दिया सुमा पोगला सुभे पोगलपरिणामे, रातिं असुमा पोगला असुभे पोगलपरिणामे ।”-भगवतीसू० ५।९।२२४। “सद्वध-यारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा । वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणम् ॥”-उत्तरा० २८।१२। नवतत्त्व० गा० ९। “शब्दबन्धोक्षीक्ष्मस्थीत्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवत्तत्त्वञ्च ।”-तत्त्वार्थसू० ५।२४। “सद्वो बन्धो सुद्वमो थूलो संठाण भेद तम छाया । उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।”-द्रव्यसं० गा० १६। वैयाकरणास्तमः अणुरूपं स्वीकुर्वन्ति—“अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः । छायातपतमः-शब्दभावेन परिणामिनः ।”-वाक्यप० १।१११। अत्रान्यपि तमसो द्रव्यरूपतामुरीकुर्वन्ति मत्तान्तराणि—“तमोदर्शनं तु भूच्छायादर्शनम् । कतमत्पुनर्द्रव्यादीनां तमः ? ननु द्रव्यमेव कालिमगुणशालित्वात् स्पन्दवत्त्वाच्च । तथाहि—कालिमैवास्य रूपमुपलभ्यते अप्तेजसोरिव श्वेतिमा । एवं संख्याप्येकत्वादिका, परिमाणं तच्चतुर्विधं पृथिव्याद्यणूनामिव तमोऽणूनामप्यनुमानात्, पृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराश्च । पञ्चविधमपि कर्म अध्यक्षमीक्षते । यथाहात्र भवान्वातिकारः—ननु नाभावमात्रस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम् । छायायाः काष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः ॥ भूगुणस्य काष्ण्यस्य छायायां द्रव्यान्तरश्रुतेरित्यर्थः । दूरासन्नप्रदीपादिदेहेहचेष्टानुसारिणी । आसन्नदूरदीपादिमहदल्पचलाऽञ्चला । देहानुवर्तिनी छाया न वस्तुवाद्भिना भवेत् ॥ इति । न च पृथिव्यादीमनान्यतमम् । तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धमसति बाधके द्रव्यान्तरमेकादशं तमो नवगुणः चेति सिद्धम् । नादृष्टी दर्शनं छाया नचाऽभावोऽस्मृती गतेः । रूपादुपायसद्भावात् द्रव्यं द्रव्यान्तरानुगम् ।”-विधिवि० टी० पृ० ७६-७९। “किमिदं तमो नाम ? द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तम इति काश्यपीयाः; तथा तु नीलबुद्धिर्निमित्ता स्यात् अभावस्य नीलिमाभावात् । न चासतो नीलिमन्तः किञ्चिद् ग्राहकं स्मारकं वाऽस्ति । आलोकादर्शनमात्रेण तु तद्धर्मो भवंस्तच्छून्यभागेऽपि स्यात्, अतो द्रव्यान्तरमिदं वायुवस्त्रीलिमगुणम्, वायुस्वरूपः स्पर्शवान् इदञ्चाऽस्पर्शं रूपवदित्येतावान्विशेषः । अथवा, य एते पार्थिवास्त्रसरेणवो वातायनविबरेषु दृश्यमानाः सर्वतो भ्रमन्ति तेषां ये नीलगुणकाः तद्गतमिदं नीलरूपं गृह्यमाणं गुणान्तराणां द्रव्यान्तराणाञ्च तदन्तरालस्य च अग्रहणाद् व्याप्ताखिलग्रह्याण्डवच्चकारित । नीलरूपग्रहणे चालोकापेक्षा नास्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते ।”-मी० श्लो० न्याय० पृ० ७४०। “तमालश्यामलज्जाने निर्वर्षे जाग्रति स्फुटे । द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥”-चित्सू० पृ० २८। “अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत्तमः । तच्च नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रकाश्यं कृष्णरूपम् । कलायकोमलच्छायां दर्शनीयं भूषं दृशाम् । तमः कृष्णं विजानीयादागमप्रतिपादितम् ॥”-गुणकर्मदिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः । प्रतियोग्यस्मृतेस्त्वैव भावरूपं ध्रुवं तमः ।”-मानमेयो० पृ० १५९। (२) “आतपः कटुको रूक्षः स्वेदमच्छतिपावहः । दाहवैवर्ण्यजननी नेत्ररोगप्रकोपनः ॥ छाया दाहश्चमस्वेदहरा मधुरशीतला । ज्योत्स्ना कषायमधुरा दाहासृक्पित्तनाशिनी । तमो भयावहं तिवत् दृष्टितेजोविरोधनम् ।”-राजव० ५।२२। “आतपः...त्रिदोषशमनी ज्योत्स्ना सर्वव्याधिकरं तमः”-राजनिघ० । उद्धतोऽयम्—“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।”-प्रश०व्यो० पृ० ४६। स्या० २० पृ० ८५५। “छाया मधुरशीतला”—सम्मति० टी० पृ० ६७२।

अथ मतम्-औपचारिकतैत्र माधुर्यादिगुणो मुख्ये बाधकसद्भावात् । तथाहि-
 रसेनेन्द्रियव्यापाराद् यथा क्षीरादिषु माधुर्यप्रतिपत्तिः न तथा छायायाम् । तस्मात्
 'मधुरादिन्द्रियनिषेवणाद् यौ गुणदोषौ दृष्टौ छायानिषेवणादपि तावेव' इति वैद्यकशास्त्र-
 तात्पर्यम्, अतोऽसिद्धं गुणवत्त्वं छायादेः; इत्यप्यनल्पतमो विलसितम्; तैत्रास्य अबाध-
 5 बोधाधिरूढप्रतिभासतया औपचारिकत्वानुपपत्तेः । यद्यत्र अबाधबोधाधिरूढतया
 प्रतिभासते न तत्तत्रौपचारिकम् यथा तेजसि भासुरत्वादि, अबाधबोधाधिरूढतया
 प्रतिभासते च छायाद्यन्धकारे शीतलत्वादिगुणसद्भाव इति । तथैवाविधस्याप्यस्यै अत्रौ-
 पचारिकत्वे ज्योत्स्नाऽऽतपथोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्मा भूत्; कटुकत्वादिगुणानां
 तत्राप्यौपचारिकत्वप्रसङ्गात्, प्रागुक्तवैद्यकग्रन्थप्रक्रियायाः तत्रापि कल्पयितुं सुशकत्वात् ।
 10 ततः प्रतीतिं प्रमाणयता ज्योत्स्नादिवत् छायाद्यन्धकारेऽपि अनुपचरितगुणसद्भावसिद्धि-
 रभ्युपगन्तव्या, इति सिद्धमस्य गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम् ।

यदप्युक्तम्-‘असत्यपि अन्धकारे गर्भगृहादौ ज्ञानानुत्पत्तौ तमः प्रतीयते’
 इत्यादि; तत्रापि सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिस्तत्प्रतीतिहेतुः, तदन्तर्वर्त्तिपदार्थेषु वा ? प्रथमपक्षे
 स्वैवचनविरोधः ‘माता मे वन्द्या’ इत्यादिवत् । न खलु सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिं वदतः
 15 तमःप्रतीतिरविरूद्धा, तैत्रप्रतीतौ वा सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिरिति । द्वितीयपक्षे तु प्रचुरतरा-
 लोकोपहतदृष्टिः प्रतिपत्ता तत्रस्थैर्नार्थान् यथावत्प्रतिपत्नुमसमर्थः जलरूपतया मरीचिका-
 चक्रमिव आलोकमेव तमोरूपतया प्रतिपद्यते । न च मिथ्यातमःप्रतिभासेन अमि-
 थ्यातमःप्रतिभासस्य साम्प्रमादयितुं युक्तम्; सत्यजलादिप्रतिभासस्यापि अस-
 लजलादिप्रतिभासेन साम्प्रमादयितुं वस्तुव्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

(१) ‘यच्चेदमागमात् माधुर्यं शैत्यं वा छायायाः, तदप्युपचारात् । ये हि मधुरद्रव्यस्य शीत-
 द्रव्यस्य वा गुणाः ते छायासंसेवनाद् भवन्तीति तत्कार्यकर्तृत्वेन तथोक्तः ।’-प्रश्न० व्यो० पृ० ४७ ।
 (२) छायादौ । (३) छायादौ माधुर्यादि । तुलना-“छायापि शिशिरत्वादाप्यायकत्वाज्जलवातादिवत् ।”
 -तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६३ । “मुख्यार्थबाधाध्यामुपचारप्रवृत्तेः, न चेत्यमत्रास्ति ।”-स्या० पृ० ८५६ ।
 (४) छायादौ माधुर्यादि नौपचारिकम् अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात् । (५) अबाधितप्रतिभास-
 विषयत्वेऽपि । (६) माधुर्यादिः । (७) छायादौ । (८) तुलना-“तत्तेजस्यपि समानम् ।”-सम्मतं
 टी० पृ० ६७२ । स्या० १० पृ० ८५६ । (९) तुलना-“न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्;
 चाक्षुषत्वाज्ज्ययानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत् ।”-रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पर्शप्रत्ययज-
 नकत्वात् ।”-स्या० सं० का० ५ । “तमः स्पर्शवत् रूपवत्त्वात् पृथिवीवत् । न च रूपवत्त्वमसिद्धम्;
 अन्धकारः कृष्णोऽयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात् ।”-रत्नाकराव० पृ० ६९ । (१०) तमः प्रतीतिकार-
 णम् । (११) तुलना-“किं पुनरन्धकारावस्थायां ज्ञानं नास्ति ? तथा चेत्; कथमन्धकारप्रतीतिः
 तदन्तरेणापि प्रतीतौ अन्यत्रापि ज्ञानकल्पनानर्थक्यम् । प्रतीयते ज्ञानं नास्तीति च स्ववचनविरोधः
 प्रतीतिरेव ज्ञानत्वात् ।”-प्रमेयक० पृ० २३८ । (१२) तमःप्रतीतौ । (१३) अविरूद्धा इति शेषः ।
 (१४) अन्धकान्तर्वैतिपटाद्यर्थान् ।

किञ्च, ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽनभ्युपगमे विशदज्ञानोत्पत्ति-
व्यतिरेकेण अन्यस्य आलोकास्यापि अभ्युपगमो मा भूत् । असत्यपि हि आलोके बहला-
न्धकारनिशीथिनीसमये नक्तञ्चरणाम् अञ्जनैमिसंस्कृतचक्षुषाञ्च प्रस्फुटज्ञानोत्पत्तौ सप्र-
काशं सैकलं वस्तु प्रकाशते । लोकप्रतीतिबाधा उभयत्र तुल्या । यथैव हि 'मध्याह्ने अति-
तीव्रालोके बहिर्गन्तुमसमर्थाः' इति लौकिकी प्रतीतिः तथा 'बहलान्धकारायां रात्रौ बहिर्गन्तुं
त्रस्ताः' इत्यपि । ततो निर्बाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वेन आलोकद्रव्यस्य वास्तवत्वाभ्युपगमे
तमोद्रव्यस्यापि तद्रभ्युपगन्तव्यं विशेषामावात् ।

तथा, द्रव्यं छायाद्यन्धकारः घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । गतिमत्त्वा-
च्चासौ वाणादिवत् द्रव्यम् । न च गतिमत्त्वमसिद्धम् ; 'वेगेन छाया गच्छति' 'शनै-
श्छाया गच्छति' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रतीतितः तस्याः तत्प्रसिद्धेः । अनुमानाच्च ;
तथाहि—गतिमती छाया देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् वाणादिवत् ।

यदप्यभिहितम्—'देशान्तरप्राप्तिः देशान्तरेण संयोगः समवायो वा' इत्यादि; तत्र
देशान्तरेण अस्याः प्राप्तिः सम्बन्धोऽभिप्रेतः, सै च संयोग एव पर्यवस्यति । न चैवम-
न्योन्याश्रयत्वम् ; अतश्छायाया द्रव्यत्वाऽप्रसाधनात् । देशान्तरप्राप्तितो हि तस्या गति-
मत्त्वं प्रसाध्यते, तस्माच्च द्रव्यत्वमिति । न चैवं चक्रप्रसक्तिरित्यभिधातव्यम् ; तत्प्राप्तेः
प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धस्वरूपत्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या तत्प्राप्तिः प्रसाध्येत ततश्च
गतिमत्त्वं तदा स्याच्चक्रकम् । कथमन्यथा 'गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्'
इत्यादावपि इतरेतराश्रयादिदोषानुषङ्गो न स्यात् ?

(१) "यद्येवमालोकस्याप्यभावः स्यात् विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य अस्याप्यप्रतीतिः । तद्वच-
वहारस्तु लोके विशदज्ञानोत्पत्तिमात्रः ।"—प्रमेयक० पृ० २३८ । (२) पुरुषाणात् । (३) तुलना-
"तमस्तावत्पुद्गलपरिणामः दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत् ।"—तत्त्वार्थ-
भा० व्या० पृ० ३६३ । "तमो भावरूपं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । नचास्य घटाद्यावारकत्व-
मसिद्धम् ; विषयविमुखप्रवर्तमाननयनव्यापारनिरोधित्वात्तद्वदेवेत्यतस्तत्सिद्धेः ।"—स्या० २० पृ० ८५१ ।
(४) "छाया द्रव्यं क्रियावत्त्वात् कुम्भवत् ।"—स्या० २० पृ० ८५३ । (५) छायायाः । (६) गतिमत्त्व ।
(७) "अनुमानावसेयमपि ; तथाहि—गतिमती छाया देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वान्नैव दिति ।"—स्या०
२० पृ० ८५३ । (८) पृ० ६६८ पं० ३ । (९) "यतोऽत्र छायाया देशान्तरेण प्राप्तिः संयोगोऽभि-
धीयते । यत्र वास्येतेतराश्रयोद्भावर्ततदनुसन्धानशून्यतावशात् । न हि देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद् द्रव्यत्वं
प्रसाधयितुमुद्यताः स्मः, किन्तु गतिमत्त्वं तस्मात् द्रव्यत्वमिति ।"—स्या० २० पृ० ८५४ । (१०)
सम्बन्धः । (११) देशान्तरप्राप्तिरूपसंयोगात् । (१२) गतिमत्त्वाच्च । (१३) "नन्वेवमपि महत्तरे
चक्रकसंकेदे यूयं पतिताः । तथाहि—देशान्तरसंयोगात् क्रियावत्त्वम्, क्रियावत्त्वात् द्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वात्
देशान्तरसंयोगवत्त्वमिति ; उत्स्वनायितमेतत् ; देशान्तरप्राप्तेः प्रत्यक्ष एव छायायां प्रसिद्धस्वरूप-
त्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या देशान्तरप्राप्तिः प्रसाध्येत तदा स्यात्तद्दूषणम् । प्रत्यक्षेणेति सिद्धेन
देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन सिद्धात् क्रियावत्त्वात्सिद्धं छायाया द्रव्यत्वम् ।"—स्या० २० पृ० ८५५ ।
(१४) देशान्तरप्राप्तिः ।

१—नादिसंस्कृ-ब० । २ सकलवस्तु श्र० । ३ द्रव्यमिति ब० । ४ प्रसाध्यते आ० ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘आवारकद्रव्यगतं कर्म छायायामध्यारोप्य ‘छाया गच्छति’ इति प्रतिपद्यते’ इत्यादि; तदप्यपेशलम्; छायाया असत्त्वे तत्र आवारकद्रव्यगताया गतेरा-
 रोपानुपपत्तेः । सत्येव हि वृक्षादौ अन्वाद्यारूढः पुरुषैः स्वगतं कर्म तत्रैव अध्यारोपयति
 नासति इति, अतः तद्वध्यारोपान्यथानुपपत्तेः छायाया वास्तवं सत्त्वं सिद्धम् । प्रयोगः—
 5 छाया परमार्थसती अध्यारोप्यमाणगतित्वात्, यद् अध्यारोप्यमाणगति तत् परमार्थसत्
 यथा वृक्षादि, अध्यारोप्यमाणगतिश्च छाया इति । तन्न ज्ञानानुत्पत्तिमात्रं तमः ।

ननु सिद्धस्यापि द्रव्यान्तरभूतस्य तमसः चक्षुर्ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादयुक्तमुक्तम्—
 ‘तमो निरोधि वीक्षन्ते’ इत्यादि; तदसाप्रतमः; यतः तैस्मिन्
 विवृतिव्याख्यानम्—
 स्वात्मनि तत्प्रतिबन्धकम्, अन्यत्र वा ? तत्रापक्षे—‘नहि’ इत्यादिना
 10 दूषणमाह—‘नहि नैव तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं ‘स्वात्मनि’ इत्यध्याहारः । कुत एतदि-
 त्याह । तमोविज्ञानाभावाप्रसङ्गात्, अस्ति च तज्ज्ञानम्, अतो न तत् तत्प्रतिषेधकम् ।
 प्रयोगः—यद् यज्ज्ञानस्य विषयो न तत् स्वात्मनि तज्ज्ञानस्य प्रतिषेधकम् यथा काण्डप-
 टादि, चक्षुर्ज्ञानस्य विषयश्च तम इति । अथ अन्यत्र घटादौ न स्वात्मनि, तत्
 तद्विज्ञानाभावेहेतुरिति चेत्; तर्हि आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावेहेतुत्वात् तमो-
 15 व-
 दभावहेतुः स्यात् । चक्षुर्विज्ञानस्य अभावः अनुत्पत्तिः उत्पन्नस्य वा प्रध्वंसः, तस्य
 हेतुः कारणं स्याद् भवेत् । तर्था च ‘तैजसं चक्षू रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद्
 आलोकवत्’ इत्यत्र प्रयोगे साधनविकलो दृष्टान्तः । अथ आलोकः तमोविज्ञानाभावेहेतुः
 स्वरूप-घटादिविषयज्ञानहेतुश्चेत्यते; तर्हि तमोऽपि घटादिविषयज्ञानाऽहेतुः स्वविषय-
 विज्ञानहेतुश्चेत्यतामविशेषात् । अथ आलोके सत्येव केषांश्चिद् रूपज्ञानोत्पत्तेः तदभावे
 20 चानुत्पत्तेः असौ तद्विज्ञानः; तर्हि तमसोऽप्यभावे केषांश्चित् ज्ञानानुत्पत्तेः तैस्मिन् सत्येव

(१) पृ० ६६८ पं० २ । (२) छायायाम् । (३) वृक्षादौ । (४) आवारकद्रव्यगतत्वारोपा-
 न्यथानुपपत्तेः । (५) “भावरूपा छाया अध्यारोप्यमाणगतित्वात् वृक्षवत्” —स्या० २० पं० ८५४ ।
 (६) “तमो वृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधिः” —सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४ ।
 (७) तमः । (८) ज्ञानप्रतिबन्धकम् । (९) स्वात्मनि ज्ञानप्रतिषेधकम् । (१०) तमो न स्वचाक्षुष-
 ज्ञानप्रतिषेधकं चाक्षुषज्ञानविषयत्वात् । (११) तमः । (१२) तुलना—“प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधाय-
 कतमोऽपनेतृत्वे तैजसं चक्षू रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति साधनविकलत्वात्
 वृष्टान्तस्य निरस्तं द्रष्टव्यम् ।” —तन्मति० टी० पृ० ५४४ । (१३) न्यायकु० पृ० ७६ टि० २ ।
 (१४) आलोको हि न तमसो रूपस्य प्रकाशकः अतः सः ‘रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्’
 इति साधनशून्यः । (१५) स्वस्य आलोकस्य रूपम् भासुराख्यम् । (१६) तमोविषयक । (१७)
 अस्मदादीनाम् । (१८) आलोकः । (१९) रूपज्ञानहेतुः । (२०) तमोज्ञान । (२१) तमसि ।

१ असत्यत्वे व० । २-घः कर्म आ०, व० । ३-ज्ञानाप्रति-श्र० । ४ आलोकेऽपि श्र० ।
 ५ तमोज्ञाना-आ० । ६ घटाविज्ञानहेतुः आ०, व० । ७ केषाञ्चिज्ज्ञाना-आ०, व० ।

उत्पत्तेः तदपि तद्धेतुः स्यात् । तथा च 'रूपादीनां सध्ये रूपादीनां प्रकाशकत्वात्' इत्ययं हेतुः तमसाऽतैकान्तिकः, तस्याऽतैजसत्वेऽपि रूपप्रकाशकत्वात् ।

पुनरपि तमसैः तज्ज्ञानप्रतिषेधकत्वे दूषणमाह—'अर्वागभागदर्शिनः' इत्यादि । अर्वागभागं पश्यतीत्येवं शीलस्य तद्दर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि अर्वागभागस्यापि न केवलं तमस एव ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्, प्रक्रमात् 'चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्' इति मन्यते । अत्र दृष्टान्तमाह—तमोवत् । तमस इव तद्वदिति । तथा च तद्वद् अर्वागभागस्याप्यदृशनेप्रसङ्गाद् असर्वदर्शिनोऽन्धतैव स्यात् । यच्चक्षुर्ज्ञाननिरोधि न तत् तज्ज्ञानग्राह्यम् यथा तमः, चक्षुर्ज्ञाननिरोधी च अर्वागभाग इति ।

ननु मा भूत् तम आवरणं तिमिरादि तु भविष्यति इत्यग्राह—'प्रत्यर्थम्' इत्यादि । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्, आवरणस्य ज्ञानावरणीयकर्मणो यो विच्छेद-
अभावः तदपेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् अर्थग्राहकत्वात् कारणात् नावरणं
ज्ञानस्य प्रच्छादकम् । किम् ? इत्याह—तिमिरादि । आदिशब्देन कामलादिपरिग्रहः ।
ज्ञानावरणीयं कर्मैव हि नियमेन तैत्प्रच्छादकम्, तस्मिन् सति ज्ञानस्य अर्थपरिच्छेद-
कत्वाभावात्, न तिमिरादि तस्मिन् सत्यपि सत्यस्वप्ने रूपदर्शनसद्भावात् । इतश्च न
तदावरणमित्याह—परिच्छेद्यत्वात् । अत्र निदर्शनमाह—'अर्थवत्' इति । प्रयोगः—
यत्परिच्छेद्यं न तद् आवरणम् यथा अर्थः, परिच्छेद्यश्च तिमिरादि इति । ननु तिमि-
रादीनामनावरणत्वे "यद्विज्ञानं स्वविषये विपर्यस्तं तत्सावरणम् यथा चक्षुर्विज्ञानं द्विचन्द्रा-
दिगोचरम्, तथाविधश्च मिथ्यादृशां ज्ञानम्" [] इत्याचार्यीयं वचः स्वाभ्यु-
पगमविरुद्धं स्यादिति चेत् ; न; अन्यथाभिप्रायात् । तमस्तिमिरादि वा अहृष्टकारणनिर-
पेक्षमावरणं न भवति, तत्सापेक्षं तु भवत्येव इत्ययमाचार्यस्याभिप्रायः ।

ननु च आत्मनो ज्ञानस्वभावतया सवर्त्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

मूलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥ ५७ ॥

(१) तमोऽपि । (२) रूपज्ञानहेतुः । (३) स्वगतकृष्णरूप । (४) चक्षुर्ज्ञान । (५) परमा-
गवत्, तमोवद्वा । (६) अर्वागभागो न चक्षुरिन्द्रियग्राह्यः चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वात् । (७) ज्ञानप्रच्छा-
दकम् । (८) ज्ञानावरणकर्मोदये सत्येव । (९) तिमिरादि नावरणं परिच्छेद्यत्वात् । (१०) ज्ञाना-
वरणकर्मोदय अदृष्टपदेन ग्राह्यः । (११) "यथा स्यात् । का ? मूलविद्धमणिव्यक्तिः मलैः कालिम-
रेखादिभिः विद्धः स चासी मणिवत् पद्मरागादिः तस्य व्यक्तिः तेजःप्रादुर्भावः । कथम् ? अनेकप्रकारतः
अनेके बहवः प्रकारा विशदाविशददूरादूरप्रकाश्यप्रकाशनविशेषाः तानाश्रित्य । तथा स्यात् । का ?

1 तथा रूपा-श्र० । 2-सः स्वज्ञान-ब० । 3 अर्वागभाग-श्र० । 4 एव विज्ञान-ब० । 5-
नविरो-आ० । 6 तद्दर्शनग्राह्यं ब० । 7 चक्षुर्ज्ञानं ब०, श्र० । 8 सर्वदा सर्वार्थ-श्र० । 9 सर्वथा-
ग्रहणस्व-ब० ।

विवृतिः—यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । “नाननुकुतान्वयव्यतिरेके कारणं नाकारणं विषयः” [] इति बालिशगीतम् ; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरण-विच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात् । काचाद्युप-
हतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः । समूर्षणां यथासंभवम् अर्थे
सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्य इति स्थितम् ।

मलैर्विद्धः सम्बद्धो यो मणिः तस्य व्यक्तिः आविर्भावो यथा येन

कारिकाः—

विश्रसोपयोगप्रकारेण अनेकप्रकारतः विशेषतरप्रकारम् एकदेश-
साकल्यप्रकारं निकटदूरदेशवर्तिस्वप्रकाश्यप्रकाशनप्रकारम् । अन्यं

वा विषयापहारदिलक्षणमाश्रित्य, तथा तेन प्रकारेण कर्मभिः ज्ञानावरणीयादिभिः
विद्वत्स्य प्रच्छादितस्य आत्मनो जीवस्य विज्ञप्तिः अर्थप्रकाशकत्वलक्षणा अनेक-
प्रकारतः इन्द्रियाऽनिन्द्रियाऽतीन्द्रियप्रकारम् सकलविकलसन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थप्रकाशन-
प्रकारम् स्वरूपोद्योतनप्रकारम् प्रत्यक्षेतरत्वप्रकारं वा आश्रित्य भवति । ननु
पूर्वोत्तरज्ञानक्षणेतिरिक्तः, कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तो वा न कश्चिदात्मा-
ऽस्ति तत्कस्य अनेकप्रकारतो विज्ञप्तिः स्यादिति सौगत-चार्वाकौ; तौ च प्रतिपादित-
विस्मरणशीलौ; सन्ताननिषेधावसरे हि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणेतिरिक्तः अनादिनिधनः
प्रतिपादितः प्रमाता, चार्वाकमतपरीक्षायाञ्च कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तः
इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘यथास्वम्’ इत्यादि । यस्य ज्ञानस्य यद् आवारकं

विद्वत्तेव्याख्यानम्—

स्वम् आत्मीयं कर्म तस्यानतिक्रमेण यथास्वम् । कर्मक्षयोपशमा-
वपेक्षेते इत्येवं शीले तदपेक्षिणी करणमनसी इन्द्रियानिन्द्रिये
निमित्तं विज्ञानस्य, न बहिरर्थादयः, एतज्ज्ञानन्तरमेव प्रपञ्चितम् । दृष्टे च करण-
मनसी स्वावरणरजोनीहारादिक्षयोपशमापेक्षिणी पादपादिविज्ञानस्य निमित्तम् ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिः कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैराविद्धः सम्बद्धः स चासावात्मा च तस्य विज्ञप्ति-
रर्थोपलब्धिः । कथम् ? अनेकप्रकारतः अनेके नानारूपाः प्रत्यक्षेतरदूरासन्नार्थप्रतिभासनविशेषाः
क्षयोपशमविशेषाश्च तानाश्रित्येत्यर्थः । तदावरणविशेषनिरासे तु सकलार्थविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यते
एव ज्ञानस्वभावत्वात्तस्येति ।—लघी० ता० पृ० ७८ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिर्वि० टी० १९३ A ।
आव० ति० मलय० पृ० १७ । नलि० मलय० पृ० ६६ । इष्टोप० टी० पृ० ३० । कर्मप्र० टी०
पृ० ८ । तुलना—‘मलावृतमणेर्व्यवित्यर्थाऽनेकविधेक्ष्यते । कर्मावृतात्मनस्तद्व्योपयता विविधा न
किम् ।’—तत्त्वार्थद्वलो० पृ० १९१ ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ६४० टि० २ । (२) सौगतचार्वाको । (३) पृ० ९ । (४) पृ० ३४३ ।

१—स्वकर्म—ज० वि० । २ विषयोपयोग—ब०, विलेखोपयोग—अ० । ३ विरुद्धस्य आ० ।

४—निर्ग्रायप्रका—अ० । ५ यथावारकं आ० । ६—यः तत्त्वा—आ० ।

दृष्टेन च अदृष्टेऽसिद्धिः । 'नाननुकृत' इत्यादिना परमतमाशङ्कते—कार्येण अननुकृता-
 वन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत् तथाविधं न कारणम् अपि तु अनुकृतान्वयव्यतिरेकमेव
 कारणम् । यच्च अकारणं तत्र विषयो^१ ज्ञानस्य, इति शब्दः परमतपरिसमाप्तौ । अत्र
 दूषणमाह—'बालिशगीतम्' इत्यादि । बालिशस्य अविवेकिनो गीतं भाषितम् । कुत
 एतदित्याह—तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, नालोकात् 5
 इत्यभिप्रायः । तथा तदविच्छेदात् तस्य आवरणस्य विच्छेदाभावात् हेतोः आलोके
 सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात् । इतश्च नालोकात् तद्दर्शनम् इत्याह—'काच' इत्यादि ।
 काचः चक्षुषो व्याधिविशेषः आदिर्यस्य तिमिरादेः स तथोक्तः तेन उपहतानि इन्द्रियाणि
 येषां तेषां शृङ्गे शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः 'सत्यपि आलोके बालिशगीतम्'
 इति सम्बन्धः । तथा मुमुक्षूणां प्राणिनां यथासंभवं संभवानतिक्रमेण अर्थे सत्यपि विपरी- 10
 तप्रतिपत्तिसद्भावात् कारणात् न अर्थादयः आदिशब्देन आलोकादिपरिग्रहः, कारणं
 विज्ञानस्य इति स्थितम् । पूर्वं नैयायिकमपेक्ष्योक्तम्, इदं सौगतमिति प्रविभागः ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह—

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

15

(१) सौगतमतम् । (२) पृ० ६६३ । (३) इहज्ञाने । प्रामाण्यं प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य । हेतुतां
 निमित्तभावं न भजन्ति । किन्तु इत्याह—तज्जन्म तस्मादर्थज्जन्म उत्पत्तिः, तस्य करणश्रमेण व्यभिचा-
 रात् । न च ताद्रूप्यं तस्यार्थस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्तद्रूपं तस्य भावस्ताद्रूप्यम्, तस्य समानार्थ-
 समनन्तरज्ञानेन व्यभिचारात् । नापि तद्व्यवसितिः तत्रार्थे व्यवसितिव्यवसायो निश्चयः, तस्य द्विचन्द्रा-
 दिव्यवसायेन व्यभिचारात् । कथम् ? प्रत्येकम् एकमेकं प्रतिनियतमेकैकमित्यर्थः । सह मिलित्वा वा
 तानि प्रामाण्यहेतुतां न भजन्ति । तद्विषयस्यापि शुक्ले शङ्गे पीताकारज्ञानजनकेन समनन्तरप्रत्ययेन
 व्यभिचारात् ।—लघी० ता० पृ० ७९ । तज्जन्मादित्रयस्य प्रामाण्यहेतुतानिरूपका बौद्धग्रन्थाः—'विषया-
 कार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ।'—प्रमाणसमु० १।१० । 'तस्माच्चक्षुश्च रूपञ्च प्रतीत्येदेति नेत्रधीः ।
 ३।१९० । भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तादकारापेक्षणम् ॥
 कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ (३।२४७।४८ ।)
 अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ॥'—प्रमाणवा०
 ३।३०५ । 'तदाकरं हि संवेदनमर्थं व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्चेति ।'—प्रमाणवार्त्तिककालं० पृ०
 २ । 'किमर्थं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम् ? क्रियाकर्मव्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निरवन्धनम् । सारू-
 प्यतोऽन्यथा न भवति नीलस्य कर्मणः संवित्तिः पीतस्य वेति क्रियाकर्मप्रतिनियमार्थमिष्यते ।'—प्रमाण-
 वार्त्तिककालं० पृ० १११ । अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरेव अध्यवसायः, तथाहि—'अविकल्पमपि प्रत्यक्षं विक-
 लोत्पत्तिशक्तिमतम् । निःशेषव्यवहारार्हं तद्द्वारेण भवत्यतः ।'—तत्त्वसं० का० १३०६ ।

1-सिद्धेः श्र० । 2-यो विज्ञानस्य श्र०, व० । 3-सत्यालोके श्र० । 4-मुमुक्षूणां व० । 5-प्रति-
 भागः आ० ।

विवृतिः—नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीतमवत् । न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभूतं विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिति विम्बधारिणो दृष्टाः, नार्मूर्त्तं मूर्त्तप्रतिविम्बभूतं, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्त्तिधर्माभावात् । नहि ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो न स्यात् । कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रति उपकारकं स्यात् लक्षणत्वेन ?

तस्माद् अर्थात् जन्म तज्जन्म न ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रति हेतुतां भजन्ती(ती)ह लोके, न ताद्रूप्यं तस्य अर्थस्य रूपमिव रूपं यस्य तस्य भावः ताद्रूप्यं न तैल्यति तां 'भजति' इति सम्बन्धः । न तद्व्यवसितिः तस्य अर्थस्य व्यवसितिः निर्णीतिः न तल्यति तां भजतीति, सह युगपत् प्रत्येकं वा एकमेकं वा एकमेकं प्रति प्रत्येकम्, 'वा' इति समुच्चये । तत्र न तावत् प्रत्येकम् ;

(१) तुलना—“कार्यकालमप्राप्तवत्: कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८९ । (२) तुलना—“यथैवाक्षविषयेऽभिधानं नास्ति तथाऽक्षज्ञाने विषयोऽपि नैवास्ति तत्तत्प्रतिभासमानेऽपि न प्रतिभासेत ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८ । (३) दृ० पू० प्रती 'भजतीह' इत्येव पाठः । 'तज्जन्म' इति कर्त्तृनुरोधात् भजतीति पाठ एव समुचितः । (४) प्रामाण्यं प्रति । (५) हेतुताम् । (६) तज्जन्मादयः प्रत्येकं प्रामाण्यं प्रति हेतुतां न भजन्ति । तुलना—“तदर्थवेदनं केन ? ताद्रूप्यात्, व्यभिचारि तत् ।” तदर्थसारूप्यं व्यभिचारि, द्विचन्द्रकेशोष्ठुकुशानाद्याकारस्य अर्थमन्तरेणापि भावात् । “यच्चाव्यवसायस्य मनुभवनिवन्धनमुक्तं तदप्यसम्भव इति दर्शयन्नाह—सारूप्यमिति तत्केन स्थूलाभासञ्च तेऽणवः ॥३२१॥ तन्नाथरूपता तस्य सत्यार्थाव्यभिचारिणी । तत्संवेदनभावस्य न समर्था प्रसाधने ॥३२२॥ तस्मात्तुल्यज्ञानस्य नार्थरूपताऽस्ति । सत्यां वाऽर्थरूपतायां व्यभिचारिणी सा द्विचन्द्रज्ञानादिषु । ततश्च तत्संवेदनभावस्य अर्थसंवेदनत्वस्य प्रसाधनेषु साऽर्थरूपता न समर्था । न केवलदार्थसारूप्यादर्थसंवेदनत्वं येन व्यभिचारः स्यात् । किं तर्हि ? सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां ते च द्विचन्द्रज्ञानादीनां न स्तः चन्द्रद्वयस्याभावात् तदुत्पत्तरयोगात् । एतदेवाह—तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेदलक्षणम् । संवेदं स्यात् समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥३२३॥ तेन ग्राह्येण सारूप्यं तस्मादुत्पत्तिः स्वसंवेदस्य लक्षणं यदि सम्मतम् ; तदापि समनन्तरं ज्ञानमुत्तरज्ञानेन समानार्थं समानग्राह्यं संवेदं स्यात् तत्सरूपतदुत्पत्त्योः संभवात् ।”—प्रमाणवा०, मनोरथ० २।३२०-२३ । “किञ्च यदाकारं यतश्च संवेदनमुत्पद्यते यदि तदालम्बनं तर्हि धारावाहिकविज्ञानानां पूर्वपूर्वमालम्बनमुत्तरोत्तरस्य स्यात् उत्पादकत्वात् सरूपत्वाच्च ”—बृहतीपं० पृ० ७९ । “तत्तुनः तज्जन्मसारूप्यादिलक्षणं समानार्थनानैकसत्त्वानेषु संभवात् व्यभिचरति तदध्यवसायहेतुत्वञ्च ।”—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५६६ । “न केवलं विषयबलाद् दृष्टेरुत्पत्तिरपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणार्थनस्य तत्र विषयः प्रतिभासेत न पुनः करणम् तदाकारानुकरणादिति चेत्तर्हि तदर्थवत्करणमनुकर्तुमर्हति न चार्थं विशेषाभावात्, दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेऽपि तदध्यवसायानियमाद् बहिरर्थविषयत्वमित्यसारम् ; वर्णादाविव उपादानेऽप्यध्यवसायप्रसङ्गात् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८ । प्रमेयक० पृ० १०८ । स्मरति० टी० पृ० ५१० । प्रमेयर० २।९ । “अपि च व्यस्ते

१-कारिणो ई० वि० । २-मूर्त्तमूर्त्तप्र-ज० वि० । ३-अर्थस्य नास्ति आ० । ४ भजन्तीति श्र० । ५ भजन्तीति श्र० । ६-एकमेकं वा नास्ति ब०, श्र० ।

तज्जन्मनः करणप्राप्तेन व्यभिचारात्, तादृष्यस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तद्व्यवसितेः द्विचन्द्राध्यवसायेन । नापि सहै; शुक्ले शङ्खे पीतभ्रान्तिकारणेन पीतज्ञानेन अनेकान्तात् ।

एतत्त्रितयमसंभवदोषेण दूषयन् कारिकां व्याचष्टे 'नार्थः' इत्यादिना । सौगतस्य

नार्थः कारणं विज्ञानस्य । कुतः इत्याह—'कार्यकालम्' इत्यादि । विवृतिव्याख्यानम्—

कार्यस्य स्वज्ञानस्य कालमप्राप्य निवृत्तेः विनाशात् । अत्र दृष्टान्त-
माह—'अतीततमवत्' इति । प्रयोगः—अनन्तरातीतोऽर्थः न ज्ञानकारणम्, तत्काले सर्वथा-
ऽविद्यमानत्वात्, यस्य तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्वं नासौ तत्कारणम् यथा अतीतत-
मोऽर्थः, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानश्च अनन्तरातीतोऽर्थः इति । एतेन भाविनोऽप्यर्थस्य
तत्कारणत्वं प्रत्याख्यातम् । यथा च अर्थो न तज्ज्ञानकारणं तथा न तज्ज्ञानं तत्कार्यम् ।
कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य परपरिकल्पितस्य अर्थस्य अभावे एव भावात्
उत्पत्तेः तज्ज्ञानस्य तदभावे च अनुत्पत्तेः, अन्यथा सैन्तानोच्छेदः स्यात् ।
अत्र दृष्टान्तमाह—'भविष्यत्तमवत्' इति । निषिद्धा च अर्थकार्यता ज्ञानस्य प्रपञ्चतः
प्राग् इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन ।

सारूप्यनिषेधार्थमाह—'नार्थः' इत्यादि । विज्ञानं न अर्थसारूप्यभृत् । कुतः ?
अमूर्त्तत्वात् । ननु अमूर्त्तञ्च स्यात् तद्वृत्तं, को विरोधः ? इति चेदत्राह—'मूर्त्ता एव'
इत्यादि । मूर्त्ता एव हि र्थस्मात् दर्पणादयो मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः ।
अमूर्त्तमपि किञ्चित् दृष्टम् इति चेदत्राह—'नाऽमूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृद् दृष्टमिति ।
प्रयोगः—ज्ञानं नार्थप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तत्वात्, यत् पुनरर्थप्रतिबिम्बभृत् तन्नामूर्त्तम् यथा
दर्पणादि, अमूर्त्तञ्च ज्ञानमिति । कुतोऽस्य अमूर्त्तत्वं सिद्धमिति चेत् ? मूर्त्तिधर्मा-
भावात् । तद्वर्गे हि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वे सति अचेतनत्वम्, न च ज्ञाने तदस्ति ।
निराकृतञ्चास्य व्यासतः सारूप्यं तन्निराकारत्वसिद्धिप्रघट्टके^१ इति कृतं प्रयासेन ।

समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम् ? यदि व्यस्ते; तदा कपालाद्यक्षणो घटान्यक्षणस्य जलचन्द्रो वा नभ-
श्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च । अथ समस्ते; तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य
ग्राहकः प्रसजति । ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्; तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समन्तरपूर्व-
ज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत ।^२—प्रमाणमी० पृ० २० । प्रमाणनय० ४।४७ । रत्नाकरा० ४।४७ ।

(१) तज्जन्मादयः सह मिलित्वाऽपि प्रामाण्यं प्रति हेतुतां न भजन्ति । (२) तज्जन्मादित्रयम् ।
(३) यदि कारणभूतस्य अर्थस्य काले एव कार्यभूतं ज्ञानं समुत्पद्येत तदा कार्यकारणयोः समकालत्वापत्त्या
कारणभूतस्वार्थस्यापि स्वकारणकालता तस्यापि स्वकारणकालतेत्येवं सकलोत्तरक्षणानामाद्यक्षणवृत्तिता
द्वितीये च क्षणे नाश इति सकलसन्तानोच्छेदप्रसङ्गः इति भावः । तुलना—'सत्येव कारणे यदि कार्यं
त्रैलोक्यमेकक्षणवति स्यात्, कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततः सन्ताना-
भावात्'^३—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७ । (४) मूर्तिधर्मा हि । (५) पृ० १६७ ।

तद्व्यवसिति निराकुर्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञाने अधिकरणभूते
अर्थो घटादिः अस्ति, किन्तु बहिः सोऽस्ति, तदात्मको वा ज्ञानस्वभावो वा ‘अर्थः’
इति सम्बन्धः, सारूप्यनिषेधात्, अन्यत्र तत्प्रतिभासनात् इति मन्यते । येन तत्रै
सत्त्वेन तदात्मकत्वेन वा तस्मिन् विज्ञाने प्रतिभासमाने प्रतिभासेत, ‘अर्थः’ इति
घटना । क इव सँ तत्रै नास्ति तदात्मको वा न इति चेदत्राह—शब्दवत्, शब्द इव
तद्वदिति । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘तत्’ इत्यादि । यतो ज्ञानस्वरूपे प्रतिभास-
मानेऽपि तदावेय-तदात्मकतया शब्दार्थयोः प्रतिभासो नास्ति ततः तस्यार्थस्य अध्यव-
सायो न स्यात् । अध्यवसायो हि अभिलाषवती प्रतीतिः, न चासौ तैयोरननुभवे
घटते अतिप्रसङ्गात् । विस्तरतश्च अविकल्पकात् तदध्यवसायप्रतिषेधः सविकल्पक-
सिद्धौ प्ररूपित इत्युपरम्यते । अतः सिद्धं फलं ‘कथम्’ इत्यादिना दर्शयन्नाह—एतत्
परेणोक्तमविद्यमानं त्रितयं तदुत्पत्तिसारूप्याध्यवसायलक्षणं ज्ञानप्रामाण्यं प्रति-
कथ्यमुपकारकम् ? न कथञ्चित् । केन रूपेण उपकारकं नैतत् स्यात् ? इत्याह—
लक्षणत्वेन । असंभविलक्षणमेतत् इत्यभिप्रायः ।

ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासंभवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह—
स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

विवृतिः—अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छे-
दकभावः नाऽलङ्घ्यात्मनोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्य-
ग्राहकभावसिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

स्वेन आत्मीयेन हेतुना जनितोऽप्यर्थः घटार्थः परिच्छेद्यः स्वतः
स्वरूपेण तत्स्वभावतैवार्थं स्वहेतोरुत्पत्तेः । नहि ज्ञानेन अर्थस्त-
स्वभावो जन्मते; अन्योन्याश्रयानुपपन्नात्—सिद्धे हि ज्ञाने तथाविधार्थ-

(१) बहिर्देशे भूतलादी अर्थस्य प्रतिभासनात् । (२) ज्ञाने । (३) ज्ञानात्मकत्वेन वा हेतुना ।
(४) अर्थः । (५) ज्ञाने । (६) ज्ञानात्मकः । (७) विकल्पः । (८) तुलना—पृ० ४६ दि० २ ।
(९) शाब्दी प्रतीतिः । (१०) शब्दार्थयोः । (११) पृ० ४८ । (१२) “यथा स्यात् । कः ?
घटादिः । किं विशिष्टः स्यात् ? परिच्छेद्यो ज्ञेयः । कथम् ? स्वतः स्वभावादेव न ज्ञानादुत्पत्त्यादेः ।
किम्भूतोऽपि स्वहेतुजनितोऽपि स्वस्य हेतुमृदादिसामग्री तेन जनितोऽपि निष्पादितोऽपि । तथा ज्ञानं परि-
च्छेदात्मकमर्थग्रहणात्मकं स्यात् । कुतः ? स्वभावादेव नार्थादुत्पत्त्यादेः । किंविशिष्टमपि ? स्वहेतूत्थ-
मपि, स्वस्य हेतुरन्तरङ्गः आवरणक्षयोपशमलक्षणः बहिरङ्गः पुनरिन्द्रियानिन्द्रियरूपः तस्मादुत्था उत्प-
त्तियस्य तत्तथोक्तं तादृशमपीत्यर्थः ।”—लघी० ता० पृ० ८० । उद्धृत्यं कारिका निम्नग्रन्थेषु—सिद्धि
टी० पृ० १० B. । न्यायवि० वि० पृ० ३३ A. । (१३) परिच्छेद्यस्वभावेन । (१४) अर्थस्य ।

१—विनादर्शयतो ज्ञान—अ० । २—यो हि न आ० । ३ योपि अभिलाषवतीतिः न आ० । ४—लाप-
प्रतीतिः ब० । ५ अत्राति—अ० । ६ असंभवति लक्ष—अ० । ७—हेतुत्वं ज० वि० । ८—व्यात्माकर्त-
ई० वि० । ९ जनितोपि घटा—ब० । १० अर्थस्वभावो आ०, अर्थः स्वतः स्वभावो ब० ।

सिद्धिः, तत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरिति । यथा येन योग्यताप्रकारेण तथा ज्ञानं स्वहेतूत्वं करणमनोलक्षणस्वकारणप्रभवं परिच्छेदात्मकम् अर्थग्रहणस्वभावं स्वतो न अर्थोत्पत्त्यादेः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—‘अर्थज्ञानयोः’ इत्यादि । स्वकारणात् न परस्परतः आत्मलाभमासादयतोरेव यथासङ्ख्येन परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः, 5
विवृतिव्याख्यानम्—
न अलब्धात्मनोः सर्वथा नित्ययोः क्षणिकयोर्वा । अत्र दृष्टान्तमाह—
‘कर्तृकर्मस्वभाववत्’ इति । यथा स्वकारणाद् आत्मलाभमासादयतोरेव अन्योः कर्तृकर्मस्वभावः नैकान्तेन सतोः नाप्यसतोः, तथा प्रकृतोऽपि हैति । उपसंहारार्थमाह—
‘ततः’ इत्यादि । यतः स्वकारणादुत्पन्नयोः तैयोः तैवाभावः सिद्धः ततः तस्मात् अर्थाद् उत्पत्तिमन्तरेणापि अर्थज्ञानयोः ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्यात् । कुतः ? स्वभावतः 10
स्वयोग्यतायाः । अन्यथा अन्येन प्रकारेण व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तैद्वावे तत्फलं वक्तव्यम्, तच्च ‘अधिगतिमात्रम्’ इत्येके, ‘स्वरूपस्यैव अधिगतिः’ इत्यन्ये, ‘अर्थस्यैव’ इत्यपरे इत्याशङ्क्याह—

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६० ॥

15

विवृतिः—अनिर्णीतफलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अवि-
संवादकत्वञ्च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावाच्चद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणमिति व्यवस्थितम् । स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्ग-
त्वात् । तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा

(१) ज्ञानार्थयोः । ‘ज्ञानं घटं जानाति’ इत्यत्र ज्ञानस्य कर्तृता घटस्य च कर्मत्वमिति । (२) ग्राह्यग्राहकभावोऽपि । (३) ज्ञानार्थयोः । (४) कर्तृकर्मभावः । (५) ग्राह्यग्राहकभावे । (६) बोद्धाचार्याः । ‘उभयत्र तदेव ज्ञानं फलमधिगममरूपत्वात् ।’—न्यायप्र० पृ० ७ । ‘तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।’—न्यायवि० पृ० २५ । तत्त्वसं० का० १३४३ । (७) ‘स्वसंवि-
तः फलञ्चास्य ।’—प्रमाणसं० १११० । ‘फलं स्ववित् ।’—प्रमाणवा० ३१३६६ । (८) नैयायिकादयः । ‘प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् ।’—प्रज्ञ० भा० पृ० १८७ । (९) ‘गतमिष्टं ज्ञातञ्च । किम् ? ज्ञानम् । किं स्वरूपम् व्यवसायात्मकं विषयस्य ज्ञात्याद्याकारस्य अवसायो निश्चि-
यः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तत्त-
थोक्तम् । अनेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्येतन्निरस्तम् । पुनः किंविशिष्टम् ? आत्मार्थग्राहकम्, आत्मस्व-
रूपमर्थो बाह्यो घटादिस्तौ गृह्णाति निर्णयतीत्यात्मार्थग्राहकम् अनेन ज्ञानमर्थग्राहकमेव न स्वरूपग्राहकम् स्वग्राहकमेव नार्थग्राहकमित्येकास्तद्वयं निराकृतम् । तेन कारणेन अस्तुते भजति किम् ? ग्रहणं ज्ञानं कर्तुं । किं रूपम् ? निर्णयः स्वाव्यवसायस्तद्रूपमित्यर्थः । किं कर्मतापवम् ? प्रामाण्यम् प्रमाणभावम् । किंविशि-
ष्टम् ? मुख्यमनुमचरितम् ज्ञानकारणत्वादुपचारेणैव इन्द्रियलङ्कादेः प्रमाणत्वात् ।’—लघोः ता० पृ० ८१ ।

१ स्वरूपं हेतूत्वं श्र० । २ ‘इति’ नास्ति श्र० । ३ मुख्यप्रामा-ज० वि० । ४ फलस्याधिग-
इ० वि० । ५ स्वतोऽव्यवसाय-इ० वि० ।

विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहार-
नियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं भुवाणः स्वस्थः ?

व्यवसायः स्वार्थनिश्चय आत्मा स्वभावो यस्य तत् तदात्मकम् व्यवसा-
यफलात्मकमित्यर्थः । अनेन 'निर्विकल्पकं विभिन्नाऽधिगतिमात्रफै-

कारिकाः—

- 5 तत्प्रसाधकं प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम् । तथाविधफलात्मकञ्च प्रमाणं
किम् ? इत्याह—**ज्ञानम्** । अनेनापि 'चक्षुरादिकमज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रतिव्यूढम् ;
तस्यैव तदात्मकैवविरोधात् । प्रसाधितञ्च प्रपञ्चतः प्रमाणात् स्वपरव्यवसायात्मकं फलं
कथञ्चिदभिन्नम् 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' [लघी० का० ७]
इत्यत्र । पुनरपि कथम्भूतं तत् ? इत्याह—**आत्मा**र्थग्राहकम्, स्वरूपरूपवेदकम् ।
10 **मतम्** स्वसंवेदनाध्यक्षेण ज्ञातम् । समर्थितञ्च व्यासतो ज्ञानस्य आत्मग्राहकत्वं स्वसंवे-
दनसिद्धौ, अर्थग्राहकत्वञ्च बाह्यार्थसिद्धौ इत्यलमतिविस्तरेण । ततः किं सिद्धम् ?
इत्याह—**ग्रहणम्** इत्यादि । येन कारणेन व्यवसायात्मकं ज्ञानम् आत्मा-
र्थग्राहकं तेन कारणेन ग्रहणं स्वार्थाधिगतिः निर्णयो मुख्यमनुपचरितं प्रामा-
ण्यमश्नुते, न निर्विकल्पकं चक्षुरादि वा ।

- 15 कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातुमाह—'अनिर्णीतफलस्य' इत्यादि । अनि-
र्णीतफलस्य निश्चयफलरहितस्य अविकल्पकस्य इत्यर्थः । नाधि-
गमोऽस्ति नानुभवोस्ति, कुत एतदित्याह—विचार्यमाणयोगात्,
यस्य विचार्यमाणस्यायोगो न तस्यानुभवो यथा अद्वैतशून्यादितत्त्वस्य, विचार्यमाण-
स्यायोगश्च निर्विकल्पकदर्शनस्य इति । यथा चास्य विचार्यमाणस्याऽयोगः तथा सवि-
20 कल्पकसिद्धौ प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् । अथ अविकल्पकस्य अविस्वादादकत्वात् प्रामाण्यं
प्राप्यते, अत्राह—'अविसंवाद' इत्यादि । अविस्वादादकत्वं गृहीतार्थतथाभावः तदायत्तं
निर्णयायकम् । कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य निर्णयस्य अभावे क्षणक्षया-
दिदर्शने मरीचिकादिदर्शने वा संशयकारिणि अभावाद् अविस्वादादकत्वस्य, तद्भावे
च निर्णयसद्भावे च भावाद् अविस्वादादकत्वस्य इति । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं
25 प्रमाणम् इति एवं व्यवस्थितमित्युपसंहारः ।

माभून्निर्विकल्पकं स्वयमव्यवसायात्मकत्वात् तैत्फलं तैज्जनकत्वानु स्यात् इति

- (१) चक्षुरादेः । (२) व्यवसायफलात्मकत्व । (३) पृ० २०९ । (४) पृ० १७६- । (५) पृ०
११९- । (६) पृ० ४७ । (७) प्रमाणफलम् । (८) व्यवसायात्मकविकल्पोत्पादकत्वात् । पूर्वपक्षः—
"तस्मादध्यवसायं कुर्वन्नेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति, अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापितं भवति
विज्ञानम् ।"—न्यायबि० टी० पृ० २७ । तत्त्वसं० का० १३०६ । तुलना—'अदोषोऽयं प्रत्यक्षस्याध्यव-
सायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधानं सीगतस्य; तत्राभिलाषाभावात् ।"—अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ ।
1-निर्णय ब० । 2-फलसाध-ब०, अ० । 3-कत्वावि-ब० । 4-जेन यद्ग्रहणं ब० ।
5-क्षयाविदर्शने वा संशय-ब० । 6-निर्णयसद्भावे च' नास्ति ब० ।

चेदत्राह—‘स्वतः’ इत्यादि । स्वतोऽव्यवसायस्य स्वयं निर्विकल्पकस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात् । एतच्च सविकल्पकसिद्धौ सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । तदङ्गत्वे वा दूषणमाह—‘तत्’ इत्यादि । तस्य विकल्पस्य उत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे स्वतोऽव्यवसायस्य अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या । अभिलप्यतेऽनेन अभिलप्यत इति वा अभिलापः शब्दजात्यादी तयोः संसर्गो वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः 5 तस्मै योग्यः तस्य भावस्तत्ता न प्रतिषेध्या । यथैवं हि विकल्पस्य अर्थाकारलेशदर्शनाद् दर्शनस्य तद्वाकारताऽनुमीयते तथा तस्य अभिलापसंसर्गयोग्यतादर्शनात् दर्शनस्यापि साऽनुमीयतामविशेषात् । दर्शनेऽसंभविनी तस्य तद्योग्यता भवति नाथार्थैरिति किंकृतोऽयं विमर्शः ? तन्निषेधे ‘अन्यथा’ इत्यादिना दूषणमाह । अन्यथा तद्योग्यतानिषेधप्रकारेण विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्, सा ‘न निषेध्या’ इति सम्बन्धः 10 ननु विकल्पवासानात एव विकल्पोत्पत्तिः, दर्शनं तु केवलं तत्प्रबोधकम् ततोऽयमदोषः; इत्यत्राह—‘सति’ इत्यादि । सति विद्यमाने मुख्ये स्वरूपवस्थायाम् अन्यनिरपेक्षे निर्णयात्मके ज्ञाने । पुनरपि कथम्भूते इत्याह—‘सकल’ इत्यादि । अर्थानुभवसंस्कारतत्प्रबोधरमणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानप्रवृत्तिलक्षणः सकलो व्यवहारः तन्नियामके ब्रुवाणः सौगतः कथं स्वस्थः ? किं ब्रुवाण इत्याह—ज्ञानम् । कथम्भूतम् ? अकिञ्चित्करं निर्विकल्पकं असंवेद्य ‘न संवेद्यते’ इत्यसंवेद्यम्, न विद्यते वा संवेद्यं ग्राह्यस्य, अत एव अनुपायमनुपेयमिति । 15

(१) पृ० ४७ । (२) बौद्धा हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकात्मकमुरीकुरीकुर्वन्ति अतस्तेः शब्दसंसर्गयोग्यता प्रत्यक्षस्य निषिध्यते । तथा चोक्तम्—‘अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तथा रहितम् ।’—न्यायबि० पृ० १३ । (३) नीलमिदमित्याकारकविकल्पस्य । (४) नीलाकारतादर्शनात् । (५) निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । (६) नीलाकारता । (७) निर्विकल्पकं नीलाकारं तत् उत्पन्ने विकल्पे नीलाकारत्वाऽन्यथानुपपत्तेः । (८) विकल्पस्य । (९) अभिलापसंसर्गयोग्यता । निर्विकल्पके अभिलापसंसर्गयोग्यताऽस्ति तत् उत्पन्ने विकल्पे अभिलापसंसर्गयोग्यताऽन्यथानुपपत्तेः । (१०) विकल्पस्य । (११) अभिलापसंसर्गयोग्यता । (१२) यदि दर्शनेऽसंभविनी अभिलापसंसर्गयोग्यता विकल्पे घटेत तर्हि दर्शनेऽसंभवत्रपि नीलाकारः विकल्पे स्यात् तथा च नीलविकल्पस्य साक्षात्नीलस्वलक्षणविषयताप्राप्तेः ‘विकल्पोऽस्तु निर्भासः’ इति सिद्धान्तविरोधः इति भावः । (१३) तुलना—‘यथैवं हि वर्णादावभिलापाभावः तथा प्रत्यक्षेऽपि तस्य अभिलापकल्पनात्ताऽपोढत्वात् अतभिलापात्मकार्यसामर्थ्येनोत्पत्तेः । प्रत्यक्षस्य तदभावेऽप्यव्यवसायकल्पनायां प्रत्यक्षं किंनाश्वयस्येत् स्वलक्षणं स्वयमभिलापशून्यमपि । प्रत्यक्षमप्यव्यवसायस्य हेतुर्न पुना ह्वादिदिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽव्यवसायस्योत्पत्तिः प्रदीपादेः कज्जलादिवत् विजातीयदपि कारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्; तदा तादृशोऽर्थोद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत् एव तद्वदिति । जातिद्वयगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितदार्ष्ट्यं कथं ज्ञात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्; प्रत्यक्षात्तद्विज्ञातविकल्पः कथं ज्ञात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समः पर्यनुयोगः ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८ । (१४) विकल्पवासाना ।

1 तच्च श्र० । 2-स्यादि तयोः श्र० । 3-व विक-श्र० । 4-नादर्शनस्य श्र० । 5 तथा सत्यभि-श्र० । 6 विकलोत्प-श्र० । 7 अनुमेयमिति ब० ।

एवं सामान्येन व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य, अधुना तद्वेदं दर्शयन्नाह—

तत्प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।

अन्तर्भावाच्च युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

- विवृतिः—इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हितोहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्
 5 अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिवोधात्मकम् ।
 अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटतरमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोचर-
 मात्मार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं
 परोक्षं सकलप्रमाणप्रमेयेयत्तास्वरूपाभिधापि बाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थाप-
 न्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रो-
 10 क्तमिति नेहोच्यते ।

यद्व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं प्रतिपादितं तत् 'द्विधैव', नैकविधं नापि त्र्यादि-

विधम् इत्येवकारार्थः । कथं तद्द्विधैव ? इत्याह—प्रत्यक्षं परोक्षञ्च ।

कारिकाः—

इतिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, इति एवम्, न प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । ननु

- अनुमानोपमानादेः ततोऽर्थान्तरत्वात् कथं 'द्विधैव' इति नियमः स्यात् ? इत्याह—
 15 'अत्र' इत्यादि । अत्र प्रत्यक्षपरोक्षयोः अन्यासां समीचीनसंविदाम् अन्त-
 र्भावात् द्विधैव इति । अन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे चिन्तितः । अतश्च न युज्य-
 न्ते नियमाः परैः सौगतादिभिः कल्पिताः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'इन्द्रिय' इत्यादि । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां कार्यभूतम्
 विवृतिव्याख्यानम्— अर्थस्य घटादेः ग्राहकं न मरीचिकातोयादेः, ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

(१) यत्सम्यग्ज्ञानात्मकं प्रमाणं तत् द्विधैव द्विप्रकारमेव । तावेव प्रकारावह—प्रत्यक्षं परोक्षं चेति ।
 तन्वनुमानादिप्रमाणभेदसंख्यापि संभाव्यत इत्याह—अत्रेत्यादि । न युज्यन्ते न संभवन्ति । के ? नियमाः
 द्वित्र्यादिसंख्याप्रतिज्ञाः । किंविशिष्टाः ? परपरिकल्पिताः परैः सौगतादिभिः कल्पिता रचिताः ।
 कुतो न युज्यन्ते ? अन्तर्भावात् संग्रहात् । कासाम् ? अन्यसंविदाम् अनुमानादिज्ञानानाम् । क्व ?
 अवैव प्रत्यक्षपरोक्षसंग्रह एव—'लघो० ता० पृ० ८१ । (२) तुलना—'ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धि-
 रनुष्ठानम्, हेतुस्य हानमनुष्ठानमुपादेयस्य चोपादानम् । ततो हेतोपादेययोः हानोपादानलक्षणा नु सिद्धि-
 रित्युच्येत ।'—न्यायवि० टी० पृ० ८ । "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।"—
 परोक्षाम् ११२ । प्रमाणनय० ११३ । (३) सांख्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । तुलना—लघो० टि० पृ० १३२
 पं० १० । (४) "लक्षणं सममेतावान् विशेषोज्ज्वलचरम् । अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ।"
 —न्यायवि० का० १६८ । प्रमाणसं० का० ९ । तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० २५ । न्याय-
 कुमु० पृ० २५ टि० २० । (५) तुलना—'अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।'
 सिद्धिवि०, टी० पृ० ४२१ B । अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तपं० पृ० ५६ । तरवार्थलो०
 पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । प्रमाणमी० पृ० १४ । बह्व० बृह० पृ० ५३ ।

१-ननु यु-ज० वि० । २ द्विविधैव व० । ३-चीनविदाम् व० । ४ ज्ञानं कर्तुं प्रत्यक्षम् व० ।

किंविशिष्टम् ? स्पष्टम् विशदम् । निर्विकल्पकं परोक्षं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षं वा तथैव
स्यात् इत्याह—‘हित’ इत्यादि । हितं सुखं तत्साधनञ्च अहितं दुःखं तत्कारणञ्च
तयोः प्राप्तिपरिहारौ तत्र समर्थं योग्यम् । नच निर्विकल्पकादेः तत्रैव सामर्थ्यम्
अर्थमात्रग्रहणेऽप्यर्थं सामर्थ्यासंभवात् इत्युक्तम् सविकल्पकादिसिद्धिप्रघट्टके । ननु
सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना अर्थस्य गृहीतत्वात् तत्र प्रमाणान्तराप्रवृत्तिः स्यात् इत्य- 5
त्राह—प्रादेशिकम् । सर्वमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेश एव नियतम् । द्विचन्द्रादिदर्शनेऽपि
तैमिरिकज्ञानेन एकत्वाद्यदर्शनवत्, नीलादिदर्शनेऽपि क्षणपरिणामादर्शनवद्वा । साम्प्र-
तमिन्द्रियज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षं दर्शयन्नाह—‘इन्द्रिय’ इत्यादि । इन्द्रियाणां कार्यम्
आत्मनः संविदां स्वरूपस्य ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्य- 10
क्षम् इति । तदुभयमपि किं भेदम् ? इत्याह—अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । व्याख्याता
अवग्रहादयः प्रत्यक्षपरिच्छेदे, ते आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् ।

इदानीम् ‘अनिन्द्रिय’ इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्शयति—अनिन्द्रियस्य मनसः
कार्यं ज्ञानम् अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । ननु च इन्द्रियज्ञानमपि अनिन्द्रियस्य भवत्येव
कार्यं तत्कथमयं प्रविभागः इति चेत् ? प्रधानेतरभावात् । इन्द्रियज्ञाने हि इन्द्रियाणां
प्रधानभावः, अत्र तु अनिन्द्रियस्य इति युक्तः प्रविभागः । किं रूपं तद् ? इत्याह— 15
स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् । ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्व प्रतिपादित-
त्वात् कथमत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसङ्गात् ; इत्यप्यचर्चिताभिधा-
नम् ; यत्रांशे तेषां स्पष्टत्वं तत्रैव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । स्वरूपे एव हि ‘तेषां स्पष्ट-
त्वम् अतस्तैवैव प्रत्यक्षत्वम् ‘आत्मज्ञानम्’ इत्यभिसम्बन्धात् । बहिरर्थे त्वस्यैव अस्प-
ष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चिदोपः । अत्रापि ‘हित’ इत्यादि, ‘प्रादेशिकम्’ इति च 20
सम्बध्यते । स्मृत्यादिग्रहणमुपलक्षणं तेन ‘सुखाद्यात्मकम्’ इत्यपि गृह्यते ।

अधुना अतीन्द्रियप्रत्यक्षप्ररूपणार्थम् ‘अतीन्द्रिय’ इत्याद्याह । इन्द्रियेभ्योऽति-
क्रान्तम् अतीन्द्रियं प्रत्यक्षम्, कथम्भूतम् ? व्यवसायात्मकम्, अनेन सांख्यसौत्रा-
न्तिककल्पितं निर्विकल्पकं तन्निरस्तम् । स्फुटतरम्, अस्मदादिप्रत्यक्षात् समस्ते
स्वगोचरे अतिशयेन विशदम् । अवितथम्, अभ्रान्तम् । अनेन “भिन्नोऽहमपि मायो- 25

- (१) सौगताभिमतम् । (२) भीमांसाकाशभिमतम् । (३) नैयायिकाभिमतम् । (४)
प्रत्यक्षम्, अर्थग्राहकं वा । (५) हितप्राप्तौ अहितपरिहारे वा । (६) निर्विकल्पादेः । (७) पृ० ४७ ।
(८) अर्थे । (९) पृ० ११६ । (१०) तुलना—इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रिय-
प्रत्यक्षम् अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।—प्रमेयर० २४ । प्रमाणमी०
पृ० १६ । (११) अनिन्द्रियप्रत्यक्षे । (१२) अनिन्द्रियस्यैव इत्यवधारणं द्रष्टव्यम् । (१३) पृ० ४०३ ।
(१४) स्मृत्यादीनाम् । (१५) स्वरूप एव । (१६) स्मृत्यादेः ।

१-त्वासात्प्रमा-अ० । २-ज्ञानं स्व-आ० । ३-अवग्रहेहादयः ब० । ४-इदानीमनिन्द्रियप्रत्यक्षं
वर्ण-ब० । ५-प्रतिभागः अ० । ६-प्राधान्येतर-अ० । ७-प्रत्यक्षप्रति-आ० । ८-परोक्षत्वमिति अ० ।

बुद्ध्यास्ति” [प्रमाणवा० २।३२७] इत्येतन्निरस्तम् । तद्विषयत्वे बुद्धेः बुद्धिरूपत्वस्यै-
वानुपपत्तेः स्वपरव्यवसायस्वभावत्वात्तस्यैः । प्रसाधितश्च बाह्योऽर्थः प्रपञ्चतो बाह्यार्थ-
सिद्धवत्सरे^३ । ननु वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यमेतत् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भाव-
वेदकप्रमाणाभावतः खपुष्पवदसत्त्वात् इत्याशङ्क्याह—‘तदस्ति’ इत्यादि । तद्
अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्ति सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् इति । 5
समर्थितश्चास्य सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वं प्रवन्धेन सर्वज्ञसिद्धिप्रवट्टके^४ इत्यलं
पुनस्तत्समर्थनप्रयासेन ।

परोक्षमिदानीं व्याचष्टे ‘श्रुतम्’ इत्यादिना । श्रुतम् अविस्पष्टतर्कणम् तत्प्रमा-
णम् । किं सर्वम् ? न, बाधारहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—‘सकल’
इत्यादि । सकलं यत् प्रमाणं यच्च प्रमेयं तयोः इयत्तास्वरूपाभिधायि, अनेन च 10
प्रत्यक्षाऽनुमेयाऽन्यन्तपरोक्षलक्षणे स्थानत्रयेऽप्यस्यै प्रामाण्यं दर्शयति । तथा च निरा-
कृतमेतत्—“तृतीयैस्थानसङ्क्रान्तौ न्यय्यः (न्याय्यः) शास्त्रपरिग्रहः ।” [प्रमाणवा० ४।५१]
इति । नहि प्रमाणानां सौपत्यन्यायोऽस्ति येन एकविषये द्वितीयस्याप्रवृत्तिः स्यात् ।
अथ मतम्—अर्थापत्त्यादेः प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया प्रमाणद्वित्व-
सिद्धिः, यतो ‘द्विषैव’ इति नियमः सुघटः स्यात् ? इत्यत्राह—‘अत्र’ इत्यादि । 15
अत्र परोक्षे अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीनि, आदिशब्देन अविशदमन्यदपि प्रमाणं
गृह्यते, अन्तर्भवन्ति । तत्र तदन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चितः । नन्वेवं सौगता-
दीनामपि स्वोपकल्पितप्रमाणसंख्यायाम् इतरप्रमाणानामन्तर्भावो भविष्यति, इत्यत्राह—
‘पर’ इत्यादि । परैः सौगतादिभिः परिकल्पितस्य प्रमाणान्तर्भावस्य निराकरणम्
अन्यत्र परोक्षपरिच्छेदे उक्तमिति नेह प्रवट्टके पुनरुच्यते । 20

सनोरथ० २।३२७ । उद्धृतोऽयम्—प्रश्न० व्यो० पृ० ५२५ । अष्टसह० पृ० ११० । सिद्धिवि० टी० पृ०
१६६ A. । शास्त्रदी० पृ० १९५ । स्या० र० पृ० १५० । शास्त्रवा० यशो० प० १७४ B. , २१५
B. । न्यायकुमु० पृ० १३३ टि० ४ ।

(१) अर्थाविषयत्वे । (२) बुद्धेः । (३) पृ० ११९ । (४) पृ० ८९ । (५) श्रुतस्य ।
तुलना—‘स्थानत्रयाऽविस्वादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ १२ ॥’
—तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० १३ । (६) ‘तद्विरोधेन चिन्तायाः तत्सिद्धार्थेष्वयोगतः । तृतीयस्थानस-
ङ्क्रान्तौ न्याय्यः शास्त्रपरिग्रहः ॥ तस्य शास्त्रस्य विरोधेन तत्सिद्धेष्वर्थेषु लिङ्गादिष्वसिद्धकल्पेषु
गमकचिन्ताया अयोगतः । यस्मात् प्रत्यक्षपरोक्षार्थयोर्नागमाधिकारः तस्मात् तृतीयस्थाने अतीन्द्रिये
विषये विचारसङ्क्रान्तेः शास्त्रपरिग्रहो न्याय्यः प्रकारान्तरासंभवात् ।” —प्रमाणवा० सनोरथ० ४।५१ ।
(७) यथा यदैका सपत्नी पतिसमीपे समुपतिष्ठति तदा द्वितीया ईर्ष्यावलिप्ता अनवकाशतया पत्युपकण्ठं
नोपसर्पति न तथा प्रमाणानां सापत्यभावाद् इष्यवलिप्तता अनवकाशता वा समस्ति इति भावः ।
(८) संभवैति ह्यादिकम् । (९) परोक्षे ।

श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥६२॥

विवृतिः—अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्मः
 ५ आकाशं काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यमुखैः असाधारणैः अमूर्त्तत्वाऽ-
 संख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणि-
 त्वादिभिः साधारणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथा
 इतरे परमागमतो योज्याः । ज्ञो जीवः सुखदुखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो
 नयः । साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यम् एकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः ।

(१) “भवतः । को ? उपयोगो व्यापारौ । कस्य ? श्रुतस्य, श्रूयते इति श्रुतमाप्तवचनं
 वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यरूपं तस्य, भावश्रुतस्य वा श्रवणं श्रुतमिति निरुक्तेः । कति ? द्वौ । किन्नामानौ
 ? स्याद्वादनयसंज्ञितौ, स्यात्कथञ्चित् प्रतिपक्षापेक्षया वचनं स्याद्वादः, नयनं वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापणं
 नयः, स्याद्वादश्च नयश्च स्याद्वादनयो, इत्थं संज्ञे व्यपदेशौ ययोस्तौ तथोक्तौ । तौ लक्षणतो निश्चि-
 त्स्याद्वाद उच्यते । कः ? सकलादेशः सकलस्य अनेकधर्मणो वस्तुनः आदेशः कथनम्, यथा जीवपुद्गल-
 धर्माधर्माकाशकालाः षडर्थाः । “पुनर्नयो भवति । का ? विकलसंकथा, विकलस्य विवक्षितैकधर्मस्य
 सम्यक् प्रतिपक्षापेक्षया कथा प्रतिपादनं यथा जीवो ज्ञातैव द्रष्टव्य इत्यादि ।”-लघी० ता० पृ० ८३ ।
 तुलना—“तदुक्तम्—उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः ।”-सिद्धिबि० टी० पृ० ४ A. । (२)
 “निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्तताऽशेषधर्मात्तरसंसूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचनं स्याद्वादः ।”
 —न्यायवा० ता० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ३ टि० १० । (३) तुलना—“स्यात्पदप्रयोगात्तु ये
 ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा ये चामूर्त्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्माधर्माधर्मगगनास्ति-
 कायपुद्गलैः साधारणाः येषां च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादयः सर्वपदार्थैः साधारणास्तेऽपि च
 प्रतीयन्ते ।”-आव० नि० मलय० पृ० १७० A. । (४) सकलादेशविकलादेशयोः स्वरूपे प्रायः
 सर्वेषामेकमतेऽपि केचिदकलङ्काचार्याः सप्तसु भंगेषु सर्वापि भङ्गान् एकधर्ममुखेन अशेषधर्मात्मकव-
 स्तुप्रतिपादनकाले सकलादेशरूपान् एकधर्म प्रधानतया अन्यधर्माश्च गौणतयाऽभिधानसमये विकलादेशा-
 त्मकान् स्वीकुर्वन्ति । केचिच्च सिद्धसेनगणिप्रभृतयः सदसदवक्तव्यरूपं भङ्गत्रयं सकलादेशत्वेन
 शिष्टांश्च चतुरो भंगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । अकलङ्कादीनां ग्रन्थाः—“तथा चोक्तम्—सकलादेशः
 प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति ।”-सर्वार्थसि० ११६ । “यत्र यदा योगपक्षं तदा “सकलादेशः ।”
 एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।”-तत्रादेशवशात् सप्तभंगी प्रतिपदम् । यदा तु क्रमं
 तदा विकलादेशः (पृ० १८०) “निरंशस्यापि गुणभेदादांशकल्पना विकलादेशः ।”-तत्रापि तथा
 सप्तभंगी ।”-राजवा० पृ० १८१ । नयचक्र० पृ० ३४८ B. । “सकलादेशो हि योगपक्षेनाशेषधर्मात्मकं
 सप्तभंगी ।”-कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु
 क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा ।”-तत्त्वार्थद्वले० पृ० १३६ । प्रमेयक० पृ० ६८२ । सत्त्वभंगित०
 पृ० ३२ । प्रमाणनय० ४।४४, ४५ । जैनतर्कभा० पृ० २०१ । “इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा
 विकलादेशस्वभावा च ।”-प्रमाणनय० ४।४३ । गुस्तत्त्ववि० पृ० १५ A. । शास्त्रवा० टी० पृ० २५४
 A. । “यदा मध्यस्थभावेनाथित्ववशात् किञ्चिद्धर्म प्रतिपादायिष्यतः शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखया
 धिया वाचं प्रयुज्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुखकारतयाचक्षते—यदुत जीवोऽस्ति

तत्र जीव इत्युक्ते जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसंकेतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थ-
प्रतिपादनः न्यक्षेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् ततः स्यात्पदप्रयो-
गात् सर्वथैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति

कर्ता प्रभाता भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन संभव-
द्धर्माणं दर्शनमात्रमित्यर्थः । यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामर्श्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृ-
तगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूषितया सावधारणया वाचा दर्शयन्ति 'स्या-
दस्त्वैव जीवः' इत्यादिकया, अतोऽयं स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीव-
शब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृततामभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसंभवस्य वस्तुनः संदर्शकत्वात् सकलादेश
इत्युच्यते । प्रमाणप्रतिपक्षसम्पूर्णार्थिकथनमिति यावत् । तदुक्तम्—सा ज्ञेयविशेषगतिनयप्रमाणात्मिका
भवेत्तत्र । सकलग्राहि तु मानं विकलग्राही नयो ज्ञेयः ।”—स्यावावता० टी० पृ० ९२ । सिद्धसेनगणिप्र-
भूतीनां ग्रन्थाः—एवेमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येणैव विभाविताः संग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये ।
सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—देशादेशेन
विकल्पयितव्यमिति । ‘विवक्षायत्ता च वचसः सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या । द्व्यार्थजात्यभेदात्
सर्वैद्रव्यार्थभेदानेवैकं द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदास्वैकं पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते,
तदा त्वविवक्षितस्वजातिभेदत्वात् सकलं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायार्थाभेदोपचरितं तद्विशेषैका-
भेदोपचरितं वा तन्मात्रमेकमद्वितीयांशं ब्रुवन् सकलादेशः स्यान्नित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्य-
त्वयुगपद्भावैकत्वरूपैकार्थमिधायी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्यां तद्विशेषाभ्यां वा वस्तुनः एकत्वं
ततत्पदार्थकं समुच्चयाश्रयं चतुर्थविकल्पे, स्वांशयुगपद्वृत्तं क्रमवृत्तञ्च पञ्चमषष्ठसप्तमेषुच्यते तथावि-
वक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेशः ।”—तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४१५ । ‘तत्र विवक्षाकृत-
प्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्योपेक्षितापराशेषधर्मक्रीडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात्
प्रतीतेः स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति घटः स्यादवक्तव्यो घट इत्येते त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः विवक्षाविर-
चितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धमिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः
चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः—स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति
चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्त-
व्यश्च घट इति चतुर्थः ।”—सम्मति० टी० पृ० ४४६ । उ० यशोविजयः यद्यपि शास्त्रवा० टी०—जैन-
तर्कभा०—गुरुतत्त्वविनिश्चयादौ सप्तानामपि भङ्गानां अकलङ्कोपज्ञाता सकलविकलादेशोभयरूपता
सिद्धान्तीकृता तथापि तैः अष्टसहस्रीविवरणे आद्यास्त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः शिष्टाश्च चत्वारो विक-
लादेशाः’ इत्यपि तत्त्वार्थभाष्यसंसूचितं सिद्धसेनगणिव्यावर्णितं कृतान्तीकृतम् । तथाहि—“किन्तु आद्यभ-
ङ्गद्वयघटकनिजरूपयोः शृङ्गाहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वा युज्यते तृतीयभङ्गस्तु अव-
क्तव्यलक्षणः ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्भेदादनेकभेदः, इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकला-
देशरूपाः, सदसत्त्व-सदवक्तव्यादयश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं
विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वाज्ञेयते इति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेषामि-
त्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम् ।”—अष्टसह० विव० पृ० २०८ B. । अयमेव सिद्धान्तः
शास्त्रवातां समुच्चयटीकायाम् ‘केचित्’ इति कृत्वा निदिष्टः । तथाहि—“केचित् अनन्तधर्मात्मकवस्तु-
प्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आद्यास्त्रय एव भङ्गा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः अग्निमास्तु चत्वारः
सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः, इति प्रतिपन्नवन्तः ।”—शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B. ।

स्वेष्टसिद्धिः । नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्त-
विषयः स्याच्छब्दः, 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ।

उपयोगौ व्यापारौ, कतिसंख्यौ ? द्वौ । कस्य ? श्रुतस्य श्रुताख्य-

प्रमाणस्य । किमाख्यौ ? स्याद्वादनयसंज्ञितौ, स्याद्वादसंज्ञितः

कारिकायाः—

5

नयसंज्ञितश्च । कोऽसौ स्याद्वादः कश्च नयः इत्याह—'स्याद्वादः'

इत्यादि । स्याद्वादो भवति, कोऽसौ ? सकलादेशः सकलस्य सम्पूर्णस्य वस्तुनः

आदेशः कथनम् । नयस्तु विकलसंकथा वस्त्वेकदेशकथनम् ।

(१) मलयगिरिचार्याः स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणवाक्ये एव उररीकुर्वन्ति । एतन्मातानुसारेण सर्वेषां नयनां मिथ्यारूपत्वात् । अतस्तैः 'स्यात्पदलाञ्छितो नयः सम्यग्' इत्यकलङ्कमतस्य समालोचना कृता । प्रत्यालोचिता च सा उ० यथोविजयैरिति । तदेवं समन्तभद्रसिद्धसेनदिवाकरादिभिरुपशतम् अकलङ्कदेवैः विवृतमेतं मतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । मलयगिरिकृता समालोचना इत्यम्—'नयवि-
न्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एव प्राह—'नयोऽपि तथैव सम्यगेका-
न्तविषयः स्यात्' इति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता—नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति । स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति । तदेतदयुक्तम्; प्रमाण-
नयविभागाभावरूपसत्तेः, तथाहि—'स्याज्जीव एव' इति किल प्रमाणवाक्यम् 'स्यादस्त्येव जीवः' इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रयालङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविशेषः; तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिवन्धना जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनो-
द्भूताकारशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्दप्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेपः । 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वाव-
गतिः, एवकारप्रयोगात् यदाशङ्कितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्वचवच्छेदः, स्यात्प्रयोगात् साधारणसाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव ।—आव० नि० मलय० पृ० ३७१ A. । उ० यथोविजयैः एतन्मलयगिरिकृतम् आकलङ्कमतालोचनं पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्—'अत्रेदमवधेयम्—
यो नाम नयो नयान्तरापेक्षः तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात् तस्य तःसंयमप्रवचन-
प्राहकत्वेन संयमप्राहिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । शब्दनयानाञ्च निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तॄणां भावाभ्युपगन्तृशब्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणावस्थापितः । नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च प्राप्ते स्यात्पदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव लाभात् तेनाऽनन्तधर्मात्मिकत्वापराधः । न चेदेवं तदाऽनेकान्ते सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः अवच्छेदकभेदं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्व-
चत्वात्, इष्यते चायम् । 'स्यात्पदमवच्छेदकभेदप्रदर्शकतयैव विवृतम् । अत एव स्यादित्यव्ययमनेका-
न्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते । सम्यगनेकान्तसाधकस्य अनेकान्ताक्षेपकत्वात् न त्वनन्तधर्मपराधमर्शकम्, अतो न स्यात्पदप्रयोगमात्राधीनमावेशाकाल्यं येन प्रमाणनयवाक्ययोर्भेदो न स्यात्, किन्तु स्वाधोपस्थि-
त्यनन्तरमक्षेपधर्माभेदोपस्थापकविधेयपदवृत्त्यधीनम् । सा च विवक्षाधीनेत्यादेशासकाल्यमपि तथेति नयप्रमाणवाक्ययोरित्यर्थः भेद एव । मलयगिरिपादवचनं तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थले अवच्छेदकभेदा-
भिधानानुपयुक्तेन स्यात्पदेन साक्षादनन्तधर्मात्मिकत्वाभिधानात्, तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तुं विदग्ध-
दिगम्बरनिराकरणमिप्रायेण योजनीयम् ।—युस्तत्त्ववि० पृ० १७ B. ।

तत्र स्याद्वादपदं व्याचष्टे 'अनेकान्त' इत्यादिना । अनेकान्तात्मकस्य अने-
 कधर्मस्वभावस्य अर्थस्य जीवादेः कथनं स्याद्वादः । अत्रोदाहरणमाह—
 विवृतिव्याख्यानम्—
 'यथा' इत्यादि । यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने, जीवः पुद्गलः धर्मोऽ-
 धर्म आकाशं काल इति षट्द्रव्यरूपोऽर्थः, तस्य अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वादः ।
 तत्र जीवे तावदनेकान्तात्मकत्वं 'तत्र' इत्यादिना निरूपयति । तत्र तेषु जीवादिषट्प- 5
 दार्थेषु मध्ये जीव आत्मा 'अनेकान्तः' इति सम्बन्धः । कैर्धर्मैः इत्याह—ज्ञानदर्शन-
 वीर्यमुखैः । ननु दर्शनमेव पुरुषस्य स्वरूपं न ज्ञानादयः, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात् तत्कथं
 तैरसौ अनेकान्तः ? इत्यप्ययुक्तम् ; प्रकृतिधर्मतां निराकृत्य तेषां तद्वर्मेतायाः प्रत्यक्षप-
 रिच्छेदे^१ प्रतिपादितत्वात् । ततः सूक्तम्—'ज्ञानादिभिः जीवोऽनेकान्तः' इति ।
 कथम्भूतैस्तैः इत्याह—असाधारणैः पुद्गलाद्यसंभविभिः । ननु बुद्ध्यादयो नव आत्म- 10
 नोऽसाधारणा गुणाः सन्ति तत्किमर्थमेते चत्वार एव दर्शिताः इति चेत् ? तेषामेव
 सहस्रानां तद्गुणत्वप्रतिपादनार्थम् । इच्छादयो हि क्रमभाविनः पर्यायाः न गुणाः,
 अन्यथा भयहर्षशोकक्रुषणामर्षौदासीन्यादीनामपि तद्गुणत्वप्रसक्तेः 'नवैव' इति संख्या-
 नियमो दुर्घटः स्यात् । परैरपि तदनेकान्तं दर्शयितुमाह—'अमूर्तत्वं' इत्यादि । रूपा-
 दिरहितत्वम् अमूर्तत्वम्, न पुनः असर्वगतद्रव्यपरिमाणाभावः, जीवस्य मूर्तत्वप्रसङ्गात् । 15
 तस्यैव असर्वगतत्वेन विषयपरिच्छेदे प्रसाधितत्वात् । असङ्ख्यातप्रदेशत्वम् असंख्याता-
 वयवोपेतत्वम्, सूक्ष्मत्वं शुद्धस्य तस्यैव केवलज्ञानादन्यतोऽसाक्षात्करणम्, तैः अनेकान्तो
 'जीवः' इति सम्बन्धः । किं विशिष्टैः साधारणासाधारणैः, साधारणैः गगनादावपि^२
 भावान्, असाधारणैः पुद्गलेष्वभावात् । पुनरन्यैस्तदनेकान्तं दर्शयन्नाह—'सत्त्वं'
 इत्यादि । सुप्रसिद्धाः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादयो धर्माः तैः । कथ- 20
 म्भूतैः ? साधारणैः षट्स्वपि द्रव्येषु भावात् । तस्य एवंविधस्य जीवस्य आदेशात्
 कथनात् प्रमाणं स्याद्वादः तत्र तदविसंवादान् इति भावः । तथा तेन असाधारणोभय-

(१) सांख्यः । "दृष्ट्या दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपपन्नः ।"—योगसू० २।२०। (२) "प्रकृते-
 म्हातुत्पद्यते । महान् बुद्धिर्धृतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विस्तर इति पर्यायाः । बाह—उक्तं प्रधाना-
 द्बुद्धिरुपपद्यते इति ? तत्र वक्तव्यं किं लक्षणा पुनर्बुद्धिरित्युच्यते—अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग
 ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥"—सांख्यका० युक्तिबी० पृ० १०८। (३) जीवः ।
 (४) अनेकधर्मात्मकः । (५) ज्ञानादीनाम् । (६) जीवधर्मतायाः । (७) पृ० १११। (८) वैशेषिकाः ।
 "नवानामात्मगुणानां बुद्धिमुखदुःखेच्छाप्रयत्नधर्मधर्मसंस्काराणाम्"—न्यायसं० पृ० ५०८। (९)
 ज्ञानदर्शनवीर्यमुखख्याः । (१०) आत्मगुणत्व । (११) जीवस्य अनेकधर्मात्मकत्वम् । (१२) "इयत्ता-
 वच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्तत्वं तदभावोऽमूर्तत्वम् ।"—सत्सप० पृ० ७२ । "असर्वगतद्रव्यपरिमाणं
 मूर्तिरिति हि पदार्थविदः ।"—तत्त्ववि० पृ० १५८। (१३) जीवस्य । (१४) पृ० २६१। (१५) आत्मनः ।

१ इत्याद्युदा—ब०, श्र० । २-धारणगुणाः ब० । ३-ज्ञानं गुणा ब० । ४-तदेव—श्र० । ५-पि भवान्
 ब० । ६ पुनरप्यन्यैः श्र० । ७-ह सुप्रसि—श्र० । ८ खट्वपि द्रव्येषु आ० । ९ तथा तथा तेन श्र० ।

साधारणधर्माधिकरणत्वेन अनेकान्तप्रकारेण इतरे पुद्गलादयः पदार्थाः परमागमतः परमागममाश्रित्य योज्याः ।

- इदानीं नयं दर्शयन्नाह—‘ज्ञः’ इत्यादि । जीव इति धर्मिणो निर्देशः, ज्ञः चेतना-
स्वभावः इति साध्यस्य, सुखदुःखादिवेदनादिति हेतोः, इति एवं प्रयोगः आदिर्थस्य
5 अनित्यशब्दादेः स तथोक्तः, स चासौ विकलस्य धर्मान्तरनिरपेक्षस्य धर्मस्य आदेशश्च
नयः । ननु किमिदं साकल्यं वैकल्यञ्च आदेशस्य यतः ‘स्याद्वादः सकलादेशो
नयो विकलसंक्था’ इति स्यात् ? इत्यत्राह—‘साकल्यम्’ इत्यादि । सकलस्य
अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो भावः साकल्यम् अनन्तधर्मात्मिकता । तत्प्रतिपादकं
वचनम् एवमुक्तम्, विषयस्य विषयिण्युपचारात् । विकलस्य एकदेशस्य भावो वैक-
10 ल्यम्—एकान्तः, तदादेशः तथोक्तः । कुतः ? इत्याह—‘धर्मान्तर’ इत्यादि । विवक्षित-
धर्माद् अन्यो धर्मः तदन्तरं तस्य अविवक्षातः, नान्यथा दुर्नयत्वप्रसङ्गात् । नैनु
शब्दस्य अर्थे सम्बन्धाभावतः प्रवृत्तेरेवाऽसंभवात् न सकलविकलादेशप्ररूपणं युक्तम्,
इत्यत्राह—‘तत्र’ इत्यादि । तत्र अनन्तात्मके तत्त्वे स्थिते सति, यदि वा तत्र एवं
स्याद्वादनयस्वरूपे निरूपिते सति ‘जीव’ इत्युक्ते जीवशब्दः अवान्तरविशेषरहितं
15 जीवमात्रमेव अभिदध्यात् । कथम्भूतम् ? इत्याह—‘योग्यता’ इत्यादि । योग्यतायाम्
अपेक्षा यस्य योग्यतां वा अपेक्षते इति योग्यतापेक्षः, अनादिः सङ्केतो यस्य स
तथोक्तः । ‘योग्यता’ इत्यनेन तादात्म्यतदुत्पत्तिर्लक्षणसम्बन्धविरहे नित्यैकरूपसम्ब-
न्धाऽसत्त्वेऽपि च शब्दार्थयोः वाच्यवाचकभावं दर्शयति, योग्यतास्वभावसम्बन्धसंभ-
वात् । एतच्च सप्रपञ्चं प्राक् प्रपञ्चितम् ।

- 20 ननु योग्यतातोऽपि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वे एकस्माच्छब्दात् युगपदनेकार्थ-
प्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वस्य शब्दस्य सर्वत्रार्थे प्रतिपादनयोग्यतासंभवात्; तदनुपपन्नमिति
‘सङ्केत’ इत्यनेन दर्शयति—सत्यामपि अनेकार्थप्रतिपादनयोग्यतायां विनियतसङ्केत-
वशाद् विनियतार्थप्रतीत्युपपत्तेः । एतच्च ‘प्रमाणं श्रुतम्’ [लघो० का० २६]
इत्यत्र प्ररूपितम् । ननु यदा जीवशब्दोऽर्थमभिधत्ते न तदा पूर्वसङ्केतोऽस्ति तत्कथं
25 तदपेक्षस्यास्य नियतार्थप्रतीतिहेतुत्वमिति चेत्; न, ‘अस्येदं वाच्यम् इदं वाचकम्’ इति
चिन्तस्य सङ्केतत्वात्, तस्य च तदापि भावात् । न चेदमवान्तरकल्पितम् इति अनादि-
पदेन दर्शयति । ननु जीवमात्रमभिदध्यात् इत्युक्तम्; अन्योपोहस्यैव जातेरेव

(१) साकल्यशब्देन । (२) अनन्तधर्मात्मिकत्वरूपसाकल्यस्य वाच्यस्य । (३) वाचके स्या-
द्वादे सकलादेशे । (४) न तु धर्मान्तरस्य प्रतिषेधः । (५) सीगतः । (६) सर्वशब्दस्य सर्वार्थ-
प्रतिपादनमनुपपन्नम् । (७) अनाविसङ्केतापेक्षस्य जीवशब्दस्य । (८) चित्तस्य । (९) बोद्धाः ।
(१०) मीमांसकाः ।

1—कान्तेन प्रका-ब० । 2 इतरेषु पु-अ० । 3—कल्यं वादेश-अ० । 4 अनन्तात्मकत्वे तत्त्वे
ब० । 5—यां नियत-अ० । 6 पूर्वः संकेतो-ब०, अ० । 7 चेत्तास्य संकेतस्यात् ब० ।

अन्योन्यविभिन्नतद्द्वयस्यैव वा शब्दार्थत्वात्; इत्यत्राह—‘स्वभाव’ इत्यादि। स्वभावभूतः अन्यतः सर्वतोऽपोहः पररूपेण असत्त्वं यस्य स तैथोक्त स चासौ स्वार्थश्च स्वाभिधेयः तस्य प्रतिपादनः जीवशब्दः तन्मात्रमभिदध्यात्। किं कृत्वा? निरस्य। कम्? प्रतिपक्षम्, प्रत्यनीकं मतम् अपोहादिमात्राभिधायित्वलक्षणम्। कथम्? न्यक्षेण सामस्येन। यथा च अपोहादेः शब्दार्थता न घटते तथा ‘प्रमाणं श्रुतमर्थेषु’ 5 [लघी० का० २६] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्। ततः तस्मात् न्यायात् स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तस्य ‘सन्नेव जीवः, असन्नेव, द्रव्यरूप एव, पर्यायरूप एव वा’ इत्येवं-रूपस्य त्यागात् निरासात्, स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टः स्वद्रव्यक्षेत्रादिविशेषण-विशिष्टः जीवः जीवशब्देन अभिधीयते इति स्वेष्टस्य अनेकान्तात्मनो जीवस्य सिद्धिः।

एवं प्रमाणवाक्यमुपदर्श्य साम्प्रतं नयवाक्यं दर्शयन्नाह—‘नयोऽपि’ इत्यादि। 10 नयोऽपि नयवाक्यमपि न केवलं प्रमाणवाक्यम्, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तः सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, अन्यथा मिथ्यैकान्तगोचरः स्यादिति। अधुना एवकारप्रयोगोपयोगं दर्शयन्नाह—‘स्यात्’ इत्यादि। ‘अनेकान्तः’ इत्येतदनुवर्त्तमानमिह सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः सिद्धः—स्यात् कथञ्चित् जीव एव ज्ञानदर्शनसुखवीर्यैः धर्मैः अनेकान्तः नान्यः इति एवकारार्थः। इत्येवमुक्ते एवं वाक्ये प्रयुक्ते सति नैकान्त- 15 विषयः किन्तु अनेकान्तविषयः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्याजीव एव’ इतिवाक्यम् अनेकान्तरूपस्य तस्यै अभिधानात्। ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्युक्ते सति एकान्त-विषयः सम्यगेकान्तगोचरः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्यादस्त्येव’ इति वाक्यम्, प्रधानतः तदस्तित्वैकान्तप्रतिपादनात्। एवमुत्तरभङ्गेऽपि वक्तव्यम्।

ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारश्च प्रयुज्यते, अन्यथैव तत्प्रयोग- 20 दर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह—

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।

विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ ६३ ॥

(१) यौगाः। (२) स्यात्पदप्रयोगाभावे। (३) जीवस्य। (४) स्यान्नास्त्येवेत्यादिषु। (५) स्यात्पदप्रयोगनियमः। (६) “प्रतीयतेऽधिगम्यते। कः? स्यात्कारः स्यादिति पदमव्ययम्, क्व? सर्वत्र शास्त्रे लोके वा। कस्मिन् विषये? विधौ सत्त्वादी साध्ये। न केवलं विधौ किन्तु निषेधेऽपि असत्त्वादावपि साध्ये। अन्यत्रापि अन्यस्मिन् अनुवादातिदेशादावपि। किंविशिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि स्यादस्ति जीव इत्यनुक्तोऽपि। तर्हि कुतः प्रतीयते इति चेदत्राह—अर्थात् सामर्थ्यात्। “चेद्यदि कुशलः स्यात् व्यवहारे प्रबुद्धः स्यात्। कः? प्रयोजकः प्रतिपादकः।……”-लघी० ता० पृ० ८६। उद्धृतोऽयम्—“विधौ निषेधेन्यत्रापि……-आब० नि० मलय पृ० ३६९ B.। गुह्यतत्त्ववि० पृ० १६ A.। तुलना—“विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि सर्वोऽर्थोऽयं प्रतीयते ॥ व्यवच्छेदफलं वाक्यं यथा चैवो धनुर्वरः। पार्थो धनुर्वरो

1-सद्वय-आ०, श्र०। 2 तयो स आ०। 3 नयोऽपि नास्ति ब०। 4 नयवाक्यमपि नास्ति आ०। 5 पदयोग-श्र०। 6 प्रयुज्यते आ०। 7-युक्तेऽपि मु० लघी०।

विवृतिः—कचित्स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात् । अवधारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वात् अन्यथा प्रमाणनययोर्भेदप्रसङ्गः । किं बहुना विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु कारकेषु कर्त्तादिषु स्वार्थादिषु प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽ-
 5 प्रसिद्धिः इत्यावालप्रसिद्धम् ।

अप्रयुक्तोऽपि न केवलं प्रयुक्तः सर्वत्र वाको स्यात्कारः, उपलक्षणमेतत्
 तेन एवकारोऽपि प्रतीयते । कुत इत्याह—अर्थात् सामर्थ्यात् ।
 कारिका—
 तथाहि—“पानीयमानय” इत्युक्ते यदि पानीयस्य अन्यस्य चानयनं
 लौकिकानामभिप्रेतं स्यात्तदा पानीयपदोपादानमनर्थकं स्यात् । अथाप्यनानयनमभिप्रेतम् ;
 10 आनयनग्रहणं व्यर्थम् । अस्ति च तदुभयग्रहणम्, अतः एवकारप्रतीतिः इति । क ?
 विधौ निषेधेऽपि, भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दः “अन्यत्र” इत्यस्यान्तरं द्रष्टव्यः ।
 अन्यत्रापि अनुवाद-अतिदेशादावपि । अथ यदि सर्वत्र सः प्रतीयते “बहुगुल्यग्रे हस्ति-
 यूथशतमास्ते” [] इत्यादावपि प्रतीयेत । तथा च “सर्वस्थोमयरूपत्वे”
 [प्रमाणवा० ३।१८१] इत्यादिदोषानुपपन्नः स्यात् इत्यत्राह—“कुशलः” इत्यादि । यथा
 15 योऽर्थः प्रमाणतः प्रतिपन्नः तथैव तस्य प्रतिपादकः प्रयोजकः कुशलो भवेत्
 नान्यथा, स चेत् यदि प्रयोजकः शब्दानामिति ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह—“क्वचिद्” इत्यादि । क्वचिद् विध्यादिवाक्ये
 स्यात्कारमनिच्छद्भिः एकान्तवादिभिः सर्वथा धर्मपेक्षया इव
 विवृतिव्याख्यानम्—
 धर्मपेक्षयाऽपि, यद्वा यथा धर्मपेक्षया तथा धर्मपेक्षयापि एकान्तः
 20 सर्वथैकान्तः सोऽभ्युपगतः स्यात् तत्र च प्रमाणविरोधः इत्यभिप्रायः । अतस्तद्विरोधं
 परिहर्तुमिच्छता सर्वत्र स्यात्कारोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं व्यतिरेकमुखेन सर्वत्र स्यात्कारं
 प्रसाध्य इदानीं तथैव एवकारं प्रसाधयन्नाह—“अवधारण” इत्यादि । अवधारणस्य
 एवकारस्य अभावेऽपि न केवलं स्यात्काराभावे “सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्” इति
 सम्बन्धः । कुत एतदित्यत्राह—अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वादिति ।

नीलं सरोजमिति वा यथा ।” —प्रमाणवा० ४।१११-१२। “सामर्थ्याच्चाप्रयोगेऽर्थो गम्यः स्यादेवकारयोः ।”
 —सिद्धिबि० ६।० पृ० ५०७ B. 1 न्यायवि० का० ४५३। “सोऽप्रयुक्तोपि वा तज्ज्ञः सर्वत्रार्थत्वं प्रतीयते ।
 यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३७। स्या० रत्ना० पृ० ७१८। रत्नाक-
 रावता० पृ० ६१ । सप्तभंगित० पृ० ३१ । स्या० सं० पृ० २७९ । नयप्रदीप० पृ० ९६ A. 1
 (१) तुलना—“अत्रान्यत्रापि इति—अनुवादातिदेशादिवाक्येषु” ।—आव० नि० मल्ल० पृ०
 ३६९ B. 1 (२) पृ० ५३० टि० ३। (३) पृ० ६२० टि० ५ ।

1—निराकाराभ्युपगमस्यावश्यं—इ० वि० । 2—युक्तो न ब० । 3—गमेतेन एव—ब० । 4 वानयनं
 ब०, अ० । 5 द्रष्टव्यम् ब० । 6—पेक्षया तथा धर्मपेक्षयाप्येकान्तः अ० । 7—मुखेन आ० । 8 अभावे
 न के—ब० । 9—विस्थाह ब० ।

तथाहि—‘ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव’ इति अन्ययोगव्यवच्छेदेन जीवस्यैव ऐतल्लक्षणलक्षितस्य अनेकान्तानभ्युपगमे अजीवोऽपि तैल्लक्षणः स्यादिति बहिरर्थव्यवस्थान्विलोपः, तद्विलोपे च सकलप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारपहारः। ‘तल्लक्षण एव सः’ इति अयोगव्यवच्छेदानभ्युपगमे च रूपादिरप्येतैल्लक्षणं स्यात् इति जीवेतरविभागाभावः स्यात्। ‘भवत्येव’ इत्यवधारणाभावे अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः स्यात्।

ननु साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा एवकारस्यैव प्रतीतिषुका तैत्साध्यस्य अयोगादिव्यवच्छेदफलस्य सर्वत्र वाक्ये संभवान्न पुनः स्यात्कारस्य निष्फलत्वात्। उक्तञ्च—

“श्रियोगमपरैर्योगमत्यन्तायोगमेव च।

व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेकः॥” [प्रमाणवा० ४।१९०]

(१) “विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा पार्थ एव धनुर्धरः। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः। तत्र एवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्नः पार्थ इति बोधः।”-सप्तमंगि० पृ० २६। “तत्र विशेष्यगतैवस्थले पार्थ एव धनुर्धर इत्यादौ अन्यतादात्म्यव्यवच्छेदोऽर्थः। अन्यत्वञ्च समभिव्याहृतपदार्थापेक्षिकम्। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्नः पार्थ इति बोधः।”-वैयाकरणभू० ६० पृ० ३७०। “यद्वा पार्थान्यस्मिन् प्रशस्तधनुर्धरत्वं व्यवच्छिद्यते।”-वाच०। न्यायको० पृ० १९१। (२) ज्ञानदर्शनोपयोग। (३) एवकाराभावे अजीवोऽपि ज्ञानादिमात्रं स्यात्तथा च सर्वस्य चैतनात्मकत्वप्राप्त्या बाह्यद्रव्यस्य अचेतनस्य सर्वथाऽभावः स्यादिति भावः। (४) बाह्यार्थापलपे हि प्रमाणादिव्यवस्थाऽभावः, बाह्यार्थापेक्षयैव हि ज्ञाने प्रमाणतदाभास व्यवहारो भवति “बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभञ्च ते” (आप्तमी० का० ८३) इत्यभिधानात्। (५) तानि ज्ञानदर्शनादीनि लक्षणानि यस्य जीवस्य असी तल्लक्षणः। (६) “विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदो नाम उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणभावाप्रतियोगित्वम्।”-सप्तमंगि० पृ० २५। “विशेषणसङ्गतैवस्थले अयोगव्यवच्छेदः शङ्खः पाण्डुर एव इत्यादौ शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वत्वसमवायाभावव्यवच्छेदबोधनात्।”-वैयाकरणभू० ६० पृ० ३७०। “अत्र शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बुध्यते। अथवा विशेष्ये शङ्खे पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बोध्यते।”-स० प्र० १ पृ० ७। “न्यायको० पृ० १९१। (७) एतस्य जीवस्य लक्षणं स्यात्। (८) जीवः ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो भवत्येव। (९) “क्रियासङ्गतैवकारोऽन्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा नीलं सरोजं भवत्येव।”-सप्तमंगि० पृ० २६। वैयाकरणभू० ६० पृ० ३७०। “सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते।”-वाच०। न्यायको० पृ० १९२। (१०) एवकारसाध्यस्य। (११) “अयोगं योगमपरैरत्यन्तं निपात एवकारो व्यतिरेकः नियामकः क्वचिद् धर्मस्य विशेषणस्य अयोगं व्यवच्छिनत्ति। क्वचिदपरैः विशेष्यादन्यैः योगं व्यवच्छिनत्ति क्वचिदत्यन्तायोगं व्यवच्छिनत्ति। ननु निपातो न स्वयं वाचकः किन्तु द्योतकः तदस्य कथमयमर्थप्रभेद इत्याह-विशेषणविशेष्याभ्यां क्रियया च सहोदितः। द्योतकत्वादेव निपातो विशेषणेन सहोदितोऽयोगस्य व्यवच्छेदकः। विशेष्येण सहोक्तोऽन्ययोगस्य, क्रियया च सहोक्तोऽन्यन्तायोगस्येति विशेषणविपदवाच्य एव अयोगव्यवच्छेदादिः तत्सहोक्तनिपातद्योत्य इत्यर्थः।”-प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९०। तुलना-सिद्धिबि०, टी० पृ० ५०७ A.। “यद्विनिश्चयः-अयोगं योगमपरैः”-षड्द० बृह० पृ० १४। न्यायाव० टी० टि० पृ० १७। “यदुक्तम्-अयोगमत्ययोगञ्च अत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्तिधा मतः॥”-काव्यप्र० टी० पृ० ८८।

१-स्यानभ्यु-आ०। २-क्षणः स्यात् आ०। ३-ध्य योगादि-ब०।

- निपात एवकारः व्यतिरेचकः निवर्तकः । तत्र 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यत्र अयो-
गव्यवच्छेदः; तथाहि—परप्रतिपत्तये वाक्यं प्रयुज्यमानं यदेव परेण व्यामोहादाशङ्कितम्
तदेव व्यवच्छिन्नमिति, चैत्रश्च लोके धनुर्धरो न प्रतीतः, ततश्चैत्रस्य अधनुर्धरत्वशङ्काव्यव-
च्छेदेन धनुर्धरत्वविधानार्थं 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'पार्थ एव धनु-
५ धरः' इत्यत्र अन्ययोगव्यवच्छेदः । नहि पार्थे अधनुर्धरत्वाशङ्का कस्यचिदस्ति धनु-
धरत्वेन अखिलजनप्रसिद्धत्वात्तस्य । तस्मात् यदतिशयबद्धनुर्धरत्वं तत् पुरुषान्तर-
साधारणमाशङ्कितमिति तद्व्यवच्छेदाय 'पार्थ एव धनुर्धरः' इति वाक्यं प्रयुज्यते ।
'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यत्र तु अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः; यदा हि सरोजं नीलवर्णवि-
विक्तं प्रसिद्धमिति नीलत्वमस्य नास्तीति आशङ्कितं भवति तदा तद्व्यवच्छेदाय 'नीलं
१० सरोजं भवत्येव' इति वाक्यं प्रयुज्यते इति ।

- तैदसमीक्षिताभिधानम्; स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्तेः;
तथाहि—'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्युक्ते सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामन्यपुरुषाणां धानुर्धर्याभावः
प्रतीयते, तत्र च प्रत्यक्षादिविरोधः । अथ विशिष्टं तदन्यपुरुषेषु प्रतिनियतदेशकाला-
पेक्षया प्रतिषेद्धुमिष्टं न धनुर्धरत्वमात्रं ततोऽयमदोषः; नैतु अयमर्थः स्यात्कारप्रसा-
१५ दादेव प्रत्येतुं शक्य इति, एतत्प्रयोजनत्वात् कथंसौ निष्फलः यतः साक्षात्प्रयुक्तस्य
सामर्थ्यगम्यस्य वा अस्य सर्वत्र वाक्ये प्रतीतिर्न स्यात् ? तथा 'चैत्रो धनुर्धर एव'

(१) "यत्र धमिणि धर्मसद्भावः सन्दिह्यते तत्राऽयोगव्यवच्छेदस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अत्र
दृष्टान्तो यथा चैत्रो धनुर्धर इति । चैत्रे हि धनुर्धरत्वं सन्दिह्यते किमस्ति नास्तीति । ततश्चैत्रो
धनुर्धर इत्युक्ते पश्चात्तरमधनुर्धरत्वं श्रोतुराकाङ्क्षोपस्थापितं निराकरोति अयोगव्यवच्छेदोऽत्र न्याय-
प्राप्तः ।"—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १५ । "चैत्रे धनुर्धरत्वसन्देहात् विशेषणेन अयोगमात्रं व्यव-
च्छिद्यते ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (२) "यथा पार्थो धनुर्धर इति सामान्यशब्दोऽप्ययं
धनुर्धरशब्दः प्रकरणसामर्थ्यादिना प्रकृष्टगुणवृत्तिरिह पार्थे हि धनुर्धरत्वं सिद्धमेवेति ताऽयोगमाशङ्का ।
तादृशान्तां सातिशयं किमन्यत्राप्यस्ति नास्ति इत्यन्ययोगशङ्कायां श्रोतुर्यदा पार्थो धनुर्धर इत्युच्यते तदा
सातिशयः पार्थ एव धनुर्धरो नाम्य इति प्रतीयते । तेनात्र अन्ययोगव्यवच्छेदो न्यायप्राप्तः ।"—प्रमाणवा०
स्ववृ० टी० पृ० १५ । "पार्थ धनुर्धरत्वं प्रसिद्धमेव किन्तु तादृशमन्यस्यापि किमस्तीति सन्देहे अन्ययो-
गव्यवच्छेदफलं विशेषणम् ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (३) अर्जुने । (४) "न खलु सर्वमेव
नीलं सरोजं येनायोगव्यवच्छेदः स्यात्, नापि सरोजमेव नीलं येन अन्ययोगव्यवच्छेदो भवेत् । किन्तु
'नीलं सरोजं संभवति न वा' इत्यत्यन्तायोगसन्देहे विशेषणेन स एव व्यवच्छिद्यते ।"—प्रमाणवा०
मनोरथ० ४।१९२ । (५) यादृशं धनुर्धरत्वं पार्थे न तादृगन्यत्र इति । (६) तुलना—'यत्रापि अन्ययो-
गव्यवच्छेदोऽभिप्रेतस्तत्रापि योगविशेषो व्यवच्छिद्यते न योगसामान्यम्, यादृग् पार्थे धनुर्धरता तादृगन्यत्र
नास्तीति ।"—सत्त्वार्यभा० व्या० पृ० ४०९ । (७) स्यात्कारः ।

‘नीलं सरोजं भवत्येव’ इत्यत्र अयोगाऽत्यन्तायोगयोः सर्वथा व्यवच्छेदे चैत्र-धनुर्धरयोः नीलसरोजयोश्च अन्यतरदेव स्यात् । अथ स्वस्वरूपापरित्यागेनैव अनयोः अयोगाऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः ननु अन्योन्यस्वरूपस्वीकारेण अतोऽयमदोषः ; तन्न ; स्यात्कार-मन्तरेण अस्यार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, ‘चैत्रो धनुर्धरः’ इत्यादिवाक्येषु धनुर्धरत्वादिभिः अयोगादिव्यवच्छेदं 5 कुर्वता एवकारेण अधनुर्धरत्वादीनामशब्दवाच्यानामपि तैतोऽन्यत्वाभिवृत्तिर्यदि “विधी-यते; तर्हि शूरत्वोदारत्वादिधर्माणामपि “विधीयतां शब्दवाच्येभ्यो धनुर्धरत्वादिभ्योऽन्यत्वाविशेषात् । अथ यो धर्मो यत्र निर्यम्यते तद्विरोधिन एव तत्र निवृत्तिः चैत्रे च धनुर्धरत्वनियमे अधनुर्धरत्वं विरुद्धम्, पार्थे च असाधारणधनुर्धरत्वविधौ सकलजगत्सा-धारणं तद्वि-रुद्धम्, सरोजे च नीलत्वसंभवविधौ तदसंभवमात्रं विरुद्धम्, अतः तस्यै- 10 वाऽतो निवृत्तिः नतु शूरत्वादिधर्माणाम् तेषां तद्व्यवच्छेदवत् इति; तदेतदन्ध-सर्पविलस्रवेऽन्यायमनुसरति, एवंविधप्रविभागस्य स्याद्वादानभ्युपगमे अनुपपत्तेः । ननु तदभ्युपगमेऽपि शब्दानभिधेयत्वाविशेषे कथं विरोधिन एव निवृत्तिः नतु सर्वस्य इति चेत् ; तथा सामर्थ्यात् । स्वार्थप्रतिपादनाय हि शब्दप्रयोगो न व्यवसन्नितया । स्वार्थश्च भावाभावात्मकः प्रत्यक्षवत् शब्देऽपि प्रतिभासते । भावाभावव्यवहारश्च स्वरूपप्रतियो- 15 ग्यपेक्षानिबन्धनः । नच अतिरुद्धस्य प्रतियोगित्वं युक्तम्, अतः कथं सर्वस्य निवृत्तेः शङ्कापि इति ? ततः स्थितम् ‘अवधारण’ इत्यादि ।

(१) तुलना—“अयोगव्यवच्छेदेन हि अस्तित्वा योग इष्यते । स च योगः किं सामान्यरूपेण अस्तित्वा प्रत्याव्यतेऽयं विशेषरूपेण उतोभयरूपेणेति सर्वथा प्राप्तनदोषप्रसङ्गः । व्यवच्छेदोऽपि अस्तित्वसामान्यायोगस्य वा अस्तित्वविशेषायोगस्य वा उभयायोगस्य वा ?”—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । “चैत्रस्य धनुषा अयोगे व्यवच्छिन्ने योगः प्रतिपादितो भवेत् इतरथा चैत्रो धनुर्धर एवेति प्रयोगानुपपत्तिः । सैव सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? आह पक्षे चैत्रस्य धनुषाऽयोगे व्यवच्छिन्ने सति न चैत्रता सिद्धयेत् धनुर्भावः सिद्धयेत् । केषामित्यह—स्याद्वादविद्विषाम् एकान्तवादिनामित्यर्थः ।”—सिद्धिचि० टी० पृ० ५०८ B । (२) “अत्यन्तायोगव्यवच्छेदेऽपि अत्यन्तमयोगो नास्ति योग एव सर्वथा, अथवा कदाचिदस्ति कदाचिन्ना-स्तीत्येवं च विकल्पद्वयेऽपि प्राच्य एव प्रसङ्गो योज्यः ।”—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । “यच्चात्यदुक्तं क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यच्छिन्नति निपातो व्यतिरेकः इति; तत्र दूषणमाह—प्राप्तमि-त्यादि । नीलं सरोजं भवत्येवेति चेत् यदि तर्हि समन्तात् नित्यं सर्वदा नीलं सरोजं भवत्येव ? प्रथमपक्षेऽयं दोषः, अन्यत्र अनेकान्त इति ।”—सिद्धिचि० टी० पृ० ५१० A । (३) धनुर्धरत्वात् । (४) निवृत्ति-विधीयताम् । (५) धनुर्धरत्वम् । (६) नीलत्वासंभवमात्रम् । (७) एवकारात् । (८) धनुर्धरत्वा-दभिन्नत्वेऽपि । (९) धनुर्धरोऽपि स्यात् शूरत्वं उदारत्वं इति न कोऽपि विरोधः । (१०) स्वरूपस्य प्रतियोगिनश्चापेक्षा, स्वरूपापेक्षो भावव्यवहारः प्रतियोग्यपेक्षोऽभावव्यवहारः—आ० टि० ।

१ व्यवच्छेदाच्चैत्र-ब० । २ अथ स्वरूपा-ब० । ३ विधीयेत अ० । ४-पश्यते आ० । ५-मृतेः अ० । ६ ननु आ० । ७ स्वार्थस्वभावात्मकः ब० । ८-स्मरं प्र-अ० । ९ निवृत्ते शंकापि आ० ।

ननु 'जीवोऽस्ति' इत्युक्ते तत्र अस्तित्वम्, 'नास्ति' इत्युक्ते नास्तित्वम्, उभय-
वचनेन उभयं प्रतीयते अतो न युक्तम् 'अवधारण' इत्यादि; इत्यत्राह—'अन्यथा' इत्यादि ।
अनेकान्तनिरासस्य अवश्यंभावित्वाभावाप्रकारेण अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गात्
कारणात् 'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्' इति सम्बन्धः । अवधारणाभावे धर्मिवत्
5 धर्मोऽपि अनेकान्तप्रसङ्गात् । अपरमपि स्याद्वादमन्तरेण नश्यति इति दर्शयन्नाह—'किं
बहुना' इत्यादि । किम् ? न किञ्चित् बहुना 'उक्तेन' इत्यध्याहारः । विधिनिषेधा-
नुवादादिदेशादिवाक्येषु, आदिशब्देन नियमादिवाक्यपरिग्रहः, कारकेषु कर्त्रादिषु,
स्वार्थादिषु आदिशब्देन लिङ्गादिपरिग्रहः, प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदभास-
वाक्येषु, चशब्दः अत्र समुच्चायार्थो द्रष्टव्यः । स्याद्वादमन्तरेण 'प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः'
10 इति सम्बन्धः । इति एवम् आवाप्तप्रसिद्धम् न स्वेच्छया कल्पितमिति यावत् ।

नैतु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्त-
मुक्तम्—'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह—

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।

वाञ्छितांश्च कचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥

स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।

वैकत्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वैव ॥६५॥

विवृतिः—वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वम् आगमात् प्रतिपत्तव्यम् ।
वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थाऽन्यथानुपपत्तेः ।
अयं च प्रसंगोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे

(१) अनेकान्तनिरासोऽवश्यं भवतीति न—आ० टि० । (२) स्याज्जीवः सत्त्वेति हि नयवाक्यम्,
अत्र चेदवधारणं न क्रियते तदा यथा धर्मिणि जीवे अवधारणरहिते अनेकान्तोऽस्ति तथा धर्मोऽपि
अस्तित्वाख्ये स प्राप्नोति, नयरूपत्वेदम्, धर्मिण्यनेकान्तः धर्मो एकान्तः—आ० टि० । (३) बौद्धः ।
(४) "प्राहुरभिदधति । के ? वर्णाः अक्षराणि गकारादीनि । तथा पदानि गवादीनि तथा वाक्यानि
च गामानयेत्यादीनि । कान् ? अर्थान् अभिधेयान् । किं विशिष्टान् ? अवाञ्छितान्, अविवक्षितान्
भूमादीन्, वाञ्छितांश्च विवक्षितानपि सास्नादिमदादीन् । क्वचित् मन्दबुद्धिषु प्रतिपाद्येषु न प्राहुः तेषां
ततोऽर्थोऽधिगमाभावात् इत्येवं प्रकारा सर्वजनप्रतीता प्रसिद्धिः रूढिः । ईदृशी विचित्रा व्यवहारिभिरभ्यु-
पगन्तव्या तथैवार्थक्रियोपपत्तेः । ... तां प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव उल्लङ्घ्यैव । स्वेच्छया स्वरभावेन वदतां
कथयतां सौगतानां युज्यते युक्तं भवतीति, अधिक्षेपवचनम् । कथम् ? शब्दः सूचकं वाचकम् । कस्य ?
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य वक्तुः प्रयोजकस्याभिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावन्मात्रस्यैव न बहिरर्थस्येति । नुः
अहो आश्चर्यमित्याक्षेपो गम्यते, सामान्यविशेषात्मनो बहिरर्थस्य शब्दप्रयोगात्प्रतीतेस्तस्यैव तदर्थत्वात्
अभिप्रायस्य ततः स्वप्नेत्यप्रतीतेः ।"—लघी० ता० पृ ८७ । (५) तुलना—'तदुक्तम्—विवक्षाप्रभवा हि
शब्दास्तामेव संसूचयेयुः ।"—तत्त्वोप० पृ० १२० ।

अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात् । अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात् वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इति अलौकिकप्रतिमानम् । लोको हि अर्थस्याप्यनामिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत् शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे तत्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात् । अवाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेय-
स्वरूपमातिष्ठमानानां युक्तम्-अभिप्रेतमात्रसूचकत्वं शब्दानाम् ।

वर्णपदवाक्यानि प्राहुः, कान् ? अर्थान् घटादीन् । किंविशिष्टान् ?

अवाञ्छितान् वाञ्छयाऽविषयीकृतान् वाञ्छितान्श्च तद्विषयी-
कारिकार्यः-
कृतांश्च शास्त्रव्याख्यानाद्यर्थान् कचित् मन्दबुद्धिप्राणिषु न प्राहुः
इति एवं प्रसिद्धिः लोकप्रतीतिरियं सकलजनसाक्षिकी । ईदृशी विचित्रा । तदन-
भ्युपगमे दूषणमाह-‘स्वेच्छया’ इत्यादि । स्वेच्छया स्वाभिप्रेतप्रक्रियामात्रेण तां
प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव वदतां सौगतानां युज्यते । किं तद् ? इत्याह-वक्त्रभि-
प्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ।

ननु वर्णादयोऽर्थानवाञ्छितान् किमनित्याः सन्तः प्रतिपादयन्ति, नित्या वा ?

तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; अनित्यत्वे तेषाम् उत्पन्नमात्रप्रध्वंसित्वेन
शब्दनित्यत्ववादिनां
मीमांसकानां पूर्वपक्षः-
सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वतः तैत्तिपादकत्वानुपपत्तेः । द्वितीय-
पक्षस्तु उपपन्नः; नित्यानां तेषां तैदनुयायित्वेन तत्प्रतिपादकत्वोपपत्तेः ।
प्रमाणतः तन्नित्यत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च । तथाहि-‘स एवाऽयं गकारः’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-

(१) तुलना-“विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥”-न्यायवि० का० ३५४ । “विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥”-प्रमाणसं० का० १६ । प्रमाणसं० टि० पु० १७३ पं० २३ ।
(२) तुलना-“बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्यनामिषु ॥”-आप्तमी० का० ८७ । (३) अर्थप्रतिपादकत्वाऽनुपपत्तेः । “यदा हि क्षणिकः शब्दो न शक्तोऽर्थावधारणे । न हि क्षणिकस्य सम्बन्धग्रहणं संभवति...”-मी० श्लो० शब्दानं० श्लो० ३, न्यायर० । (४) कुमारिलमते हि शब्दो नित्यः द्रव्यरूपश्च । “श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दस्वजातिमान् । द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिलमते मतः ॥”-मानमेयो० पृ० २१८ । प्रभाकरमते च शब्दो नित्योऽपि आकाशस्य गुणो न तु स्वतन्त्रं द्रव्यम् । द्रष्टव्यम्-“आकाशश्च शब्दवानिति, स एव श्रोत्रं तद्गुणश्च शब्दः...”-प्रक० पं० न्यायशुद्धिप्रकरणम् । (५) सङ्केतव्यवहारकालव्यापकतया । (६) “वयं तावत्प्रत्यभिज्ञानीमो न नः करणदीर्घत्वम्, एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञानन्ति, स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानानां प्रत्यभिज्ञानन्ति चेद्वयमिवात्येऽपि नाय इति वक्तुमर्हन्ति ॥”-शाबरभा० १।१।२० । “प्रत्यभिज्ञयैव कालान्तरावस्थायिता सिद्ध्यति, कालान्तरावस्थितिश्च सप्रत्यभिज्ञप्रत्यक्षगम्येत्युक्तम् ॥”-बृहती० १।१।१८ । “शब्दोऽपि

१ कुतोऽपनीयते ज० वि० । २ अर्थस्यानामि-ज० वि० । ३ तत्र शब्दव्यवहारस्थितिम-
प्रतिक्रम्य स्वेच्छ-इ० वि० । ४ अवाधितमतिक्रम्य ज० वि० । ५-व सिद्धिः श्र० । ६ न्विति आ० ।
७-त्याः प्रति-व० । ८ ‘वा’ नास्ति श्र० ।

रूपप्रत्यक्षत एव तावच्छब्दानां नित्यत्वं प्रतीयते । न चास्य अज्ञानलक्षणमप्राप्त्यम् ; प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । नापि संशयरूपम् ; एकांशावलम्बित्वात् । उभयांशावलम्बी हि प्रत्ययः संशयः, न चेदं तथा । नापि मिथ्यास्व(त्व) रूपम् ; अबाध्यमानत्वात् । यदेव हि ज्ञानं बाध्यते तदेव मिथ्या प्रसिद्धं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम् ; न चेदं देशकालनरान्तरेष्वपि बाध्यते । न च दुष्टकारणप्रभवत्वादस्याप्राप्त्यम् ; तत्कारणानां दुष्टत्वानिश्चयात् । नापि अधिगताधिगन्तृत्वात् ; स्मर्यमाणानुभूयमानविशेषणावच्छिन्नस्य गकारादेः पूर्वसंवेदनाविषयत्वात् । तदुक्तम्—

“अः पूर्वावगतोऽंशोऽत्र स न नाम प्रतीयते ।

इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ॥”

[सी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३-३४] इति ।

10

प्रत्यक्षत्वञ्चास्य श्रोत्रेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सुप्रसिद्धम् । न च स्मृतिपूर्वकत्वादस्य अप्रत्यक्षत्वं युक्तम् ; तत्पूर्वकत्वेऽप्यस्य सत्सम्प्रयोगजत्वेन प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । उक्तम्—

प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते ।”-सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३ । भाट्टचि० पृ० २६ । “एतदुक्तं भवति—प्रत्यभिज्ञास्यविशेषप्रत्ययबलेन ह्यस्तनाद्यतनगकारयोरेकत्वावगमान्नित्यत्वमाश्रीयते ... अतो गत्वादिसामान्यनिबन्धनेन प्रत्यभिज्ञा सिद्ध्यति । एवं सति व्यक्तिभेदे सामान्यं तदभावात् नास्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्, अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम् ।”-शास्त्रदी० पृ० ५४०, ५६८ । तन्त्ररह० पृ० २६ ।

(१) प्रत्यभिज्ञानस्य । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यास्वरूपमप्राप्त्यम् । (३) प्रत्यभिज्ञानम् । (४) प्रत्यभिज्ञानकारणानामिन्द्रियादीनाम् । “प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृढेन्द्रियतयोच्यते ।”-सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३७२ । (५) स एवायम्-आ० हि० । (६) पूर्वप्रत्यक्ष । (७) “ननु गृहीतमपि गृह्यते इति कथं प्रामाण्यमत आह य इति । तस्मिन्नेव मा भूत्प्राप्त्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षमेव तु प्रामाण्यमिति ।”-न्यायर० । “ननु न केवलमधिकं गम्यते किन्तु प्रागवगतमपि इति कथं प्रामाण्यमत आह यः पूर्वैति । सविकल्पके हि शब्दार्थस्वरूपसम्बन्धकालसम्बन्धाः प्रथन्ते तत्र शब्दादिरंशोऽस्मृतिविषय इति मा नाम प्रमाणविषयो भवतु इदानीन्तनी तु वस्तुसत्ता न पूर्वमवधूततस्त्यति तत्र प्रमाणावसर इति स्थितं प्रामाण्यम् । इन्द्रियव्यापारानुविधानाच्च प्रत्यक्षत्वमिति । एकञ्चेदं पूर्वविज्ञानजनितसंस्कारप्रत्युत्पन्नेन्द्रियादिकारणकं वेदितव्यम् ।”-काशिका । “पूर्वमवगतोऽंशः स न नाम”-प्रमेयक० पृ० ३३९ । “पूर्वमवगतो नांशः स च नाम”-सम्मति० टी० ३१९ । “यः पूर्वावगतोऽंशोऽत्र स तो नाम”-स्या० र० पृ० ६७५ । उत्तरार्धम्-तत्त्वोप० पृ० २७ । प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ७७ । तत्त्वसं० पृ० १५९ । (८) स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (९) प्रत्यभिज्ञानस्य । “तत्र शब्दार्थसम्बन्धं प्रमातुः स्मरतोऽपि या । बुद्धिः पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते । चक्षुषा सन्निकृष्टेऽर्थे नाप्रत्यक्षमसौ भवेत् ॥”-सी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २२९-३० । (१०) संस्काराणां सम्प्रयोगश्चेति कर्मधारयः तथा च इन्द्रियाणामर्थेन साकं सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः । तुलना-“किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञास्यं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति ब्रूमः । पूर्वानुभवजनितसंस्कारसद्भीचीनेन्द्रियजन्यत्वात् ग्रहणस्मरणरूपमिदमेकं ज्ञानम् ।”-शास्त्रदी० पृ० ५६८ ।

“नहि स्मरणात् यत् प्राक्तत्प्रत्यक्षमितिदृशम् । वचनं राजकैयं वा लौकिकं वापि विद्यते ॥१॥
न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम् । वार्यते केनचिच्चापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वञ्चापि यत्स्मृतेः । विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥”

[सी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-३७] इति ।

एवमर्तः शब्दस्य नित्यत्वे सिद्धे इदानीमिव अन्यदापि यच्छब्दस्योच्चारणं न
तत्तस्यै जनकं किन्तु अभिव्यञ्जकम् । अत इदमुक्त्यते-अन्यदार्पिं यत् शब्दस्य उच्चारणं
तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात्, यद् यद् उच्चारणं तत्तदभिव्यञ्जकम् यथा एतत्का-
लोपलक्षितमुच्चारणम्, तथा च प्रैकृतम्, तस्मादिदमपि तथा ।

तथा, विवादाध्यासितो वा कालः गादिसम्बद्धः कालत्वात् प्रतिपादितशब्द-
सम्बद्धकालवत् । अतः सिद्धमस्य अनुमानतोऽपि नित्यत्वम् । इतोऽप्यनुमानात्
तत्सिद्धम्-नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, यद् यदेवं तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चाऽ-
यम्, तस्मादयमपि तथा । तथा, देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्ध्यः एकगोशब्दविषया

(१) “नन्विदं भवत्यधिकविषयं स्मरणोत्तरकाले भवत् कथं प्रत्यक्षम् ? न हि निर्विकल्पकस्य
प्रत्यक्षस्यैव घटो दृष्टः अतः आह-नहीति । न हि स्मरणात् प्राग्भाविता प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तर्हि
इन्द्रियजत्वम्, तच्चात्राप्यविशिष्टमिति भावः । यदि स्मरणेनेन्द्रियप्रवृत्तिरेव वार्यते तदा दूष्यते, तत-
स्तदुत्तरकालं जायमानं सविकल्पकं प्रत्यक्षं भवेदपि, न त्वेतदस्ति इत्याह न चेति । यतः स्मृत्या नेन्द्रियं
विरुध्यते न वा दूष्यते, तेन प्रागूर्ध्वं वा स्मृत्येयदिन्द्रियार्थसम्बन्धाद् ज्ञानं जायते सर्वं तत्प्रत्यक्षमभ्युप-
गन्तव्यमित्याह-तेनेति ।”-काशिका । (२) अर्थात् यच्च स्मरणादूर्ध्वं तदप्रत्यक्षम्-आ० टि० । (३)
‘राजकीयं वा वैदिकं वापि’-सी० श्लो० । ‘राजकीयं वा लौकिकं नापि’-समति० टी० पृ० ३१९ ।
उद्धृता इमे-प्रमेयक० पृ० ३३९ । समति० टी० पृ० ३१९ । स्या० २० ४९९ । (४) प्रत्यभिज्ञानात् ।
(५) शब्दस्य । (६) “यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्यमः ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात्
प्रयत्नेनाभिव्यज्यते इति भविष्यतीति ।”-शाबरभा० १।१।१२ । “शब्दस्य प्रयत्न एव कारणतया
संभावितः । स च प्रत्यभिज्ञाबलेन द्वितीयादिदर्शनेष्वभिव्यञ्जकतामापादित इति प्रथमदर्शनेष्वसौ
अभिव्यञ्जक एव अतः कारणरहितत्वेन सत्त्वाभित्यः शब्दः गगनादेरिव नास्याऽनित्येति ।”-प्रक०
पं० पृ० १७० । भाट्टदि० पृ० २६ । “एवञ्चोच्चारणं शब्दस्य न कारणं किन्तु अभिव्यञ्जकमिति
सिद्धम् । न चोच्चारणादत्यन्तकारणं संभवतीत्यकार्यत्वम्, अतः एवाविनाशान्नित्यत्वसिद्धिः ।”-
शास्त्रदी० पृ० ५९० । “शब्दः प्रयत्नाभिव्यङ्ग्यः यथा तदनुत्पाद्यत्वे सति तदनन्तरमुपलब्धे, यो
यदनुत्पाद्यत्वे सति यदनन्तरमुपलब्धे स तदभिव्यङ्ग्यः यथा प्रदीपानन्तरमुपलब्धमानो घटः ।”-
तन्त्ररह० पृ० २६ । मानमेयो० पृ० २२१ । (७) “श्रोत्रता चेयं हेतुः शब्दत्ववत्कृतः । यद्वा श्रोत्र-
शब्दमत्र हेतुः, तद्धि शब्दत्ववृष्ट्यान्तेन शक्नोति नित्यत्वं साधयितुमित्याह श्रोत्रेति ।”-सी० श्लो०, स्याय०
शब्दनि० श्लो० ३९३ । “प्रयोगश्चैवं भवति नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् ।”-शास्त्रदी० पृ०
५८५ । (८) “देशकालादिभिन्ना वा समस्ता गोत्वबुद्ध्यः । एकगोशब्दजन्याः स्युर्गोधीत्वादेकबुद्धिवत् ॥
गोशब्दबुद्ध्योऽप्येवमेकगोशब्दगोचराः ॥ गोशब्दविषयत्वेन कल्प्यतामेकबुद्धिवत् ॥ ... “गोशब्दबुद्ध्य-
ह्यस्तस्या गोशब्दोऽयं प्रकाशितः । गोशब्दविषयत्वेन यथैवाद्यप्रसूतया ॥ इयं वा तं विजानाति तद्वेतोः
पूर्वबुद्धिवत् । उभे वाप्येकविषये भवेतामेकबुद्धिवत् ।”-सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१८-२१ ।

१ प्रागूवापि आ० । २-पि शब्दस्य अ० । ३ प्रकृतत्वं त-अ० ।

- न चानेकार्थगोचरा गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवत् । 'गोशब्दव्य-
क्तिबुद्धयः' इत्युच्यमाने सिद्धसाध्यता स्यात्, एकगोशब्दव्यक्तिबुद्धेः एकविषयत्वाभ्यु-
पगमात्, तन्निवृत्त्यर्थं बहुवचनम् । तथा 'सामान्ये गोशब्दनिबन्धनाः समाना एव
विधयः प्रभवन्ति' इति तन्निरासार्थं व्यक्तिग्रहणम् । एकस्मिन् देशे काले वा बहूनां
5 प्रमातॄणां गोशब्दज्ञानानि एकगोशब्दव्यक्तिगोचराणि इति सिद्धसाध्यताप्रसङ्गव्यव-
च्छेदार्थं 'देशकालादिभिन्नाः' इत्युक्तम् । ह्यस्तनो वा गोशब्दः अद्याप्यनुवर्तते गौरिति
ज्ञायमानत्वात् अद्योच्चारितगोशब्दवत् । अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽपि आसीत् गौरि-
ति ज्ञायमानत्वात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत् । शब्दो वा वाचकः दीर्घकालावस्थायी
सम्बन्धबलेन अर्थमतिजनकत्वात् धूमसामान्यवत् । यस्तु अस्थिरः स सम्बन्धबलेन
10 नार्थं बोधयति तादात्विकनिमित्तत्वात् प्रदीपविद्युत्प्रकाशवत् । तदेवम्—

तुलना—'देशकालादिभिन्नाश्च गोशब्दव्यवहितबुद्धयः । समानविषयाः सर्वा न वा नानार्थगोचराः ॥ गौरि-
त्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नबुद्धिवत् । गोशब्दव्यवहितेषु या बुद्धयो देशकालद्रुतमध्यविलम्बितादिप्रति-
भेदभासभिन्नास्ता एकार्थविषयाः नानार्थविषया न वा भवन्ति गौरित्याकारोपगृहेणोत्पद्यमानत्वात्
सम्प्रत्युत्पन्नगोबुद्धिवत् । अथवा या या गोशब्दविषया बुद्धिः साऽद्यतनगोशब्दविषया गोशब्द-
विषयत्वात् अद्यप्रसृतगोशब्दबुद्धिवत् । गोशब्दविषया च ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिरिति स्वभावहेतुः ।
अथवा अह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्धर्मिणी ह्यस्तनगोशब्दविषयत्वं साध्यधर्मः गोशब्दविषयत्वादिति हेतुः
ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्दृष्टान्तः ... अथवा, उभे ह्यस्तन्यद्यतनौ बुद्धौ एकविषये गोशब्दविषयत्वादिकगो-
शब्दबुद्धिवत् । अथवा, समस्ता गोत्वबुद्धयः देशादिभेदभिन्ना एकगोशब्दजन्या गोधीत्यादिकग्रेबुद्धिवत् ।
पूर्वं गोशब्दविषया बुद्धयः धर्मिण्यः एकविषयत्वञ्च साध्यम्, इदानीञ्च गोत्वजातिविषया बुद्धयो
धर्मिण्यः एकगोशब्दजन्यत्वं साध्यमिति विशेषः ।"—तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ ।

(१) "नित्ये तु सति गोशब्दे बहुकृत्व उच्चरितः श्रुतपूर्वश्चान्यासु गोव्यवहितेषु अन्यव्यवहितेरे-
काभ्यामाकृतित्वचनमवगमयिष्यति, तस्मादपि नित्यः ।"—शाबरभा० १।१।१९ । "ह्यस्तनोच्चारितस्तस्मा-
द्गोशब्दोऽपि विद्यते । गोशब्दज्ञानगम्यत्वाद्यथोक्तोऽवैव गौरिति ॥"—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१६ ।
(२) "ह्यो वाऽऽसीदेव गोशब्दः पूर्वोक्तेनैव हेतुना । यद्वा गोत्वाभिधायित्वं वाच्यो हेतुर्द्वयोरपि ॥"—
मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१७ । तुलना—"गौरिति श्रूयमाणोऽद्य ह्योऽपि शब्दो मया श्रुतः ।
हेतोः पूर्वोक्तितादेव ह्य उच्चारितशब्दवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ । (३)
"अत्रोच्यते स्थिरः शब्दो धूमगोत्वादिजातिवत् । सम्बन्धानुभवापेक्षसामान्याधिवोधनात् ॥"
—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३११ । तुलना—"शब्दो वा वाचको यावान् स्थिरोऽसी दीर्घकालभाक् ।
सम्बन्धानुभवापेक्षज्ञेयज्ञानप्रवर्तनात् । य ईदृक् स स्थिरो दृष्टः धूमसामान्यभागवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ०
५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ । (४) वाच्यवाचकभावेन—आ० टि० । (५) तुलना—"अस्थिरस्तु
न सम्बन्धज्ञानापेक्षोऽवबोधकः । तादात्विकनिमित्तत्वाद् दीपविद्युत्प्रकाशवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ०
५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ । (६) न हि प्रदीपादिप्रकाशस्य नियतेन घटादिना सम्बन्धोऽस्ति,
तादात्विकनिमित्तत्वात्, यत्र यत्र याति तत्र तत्र प्रकाशयति । सम्बन्धे हि स्मृत्यपेक्षा भवति, न
च घटप्रदीपादयस्तथा—आ० टि० । "तादात्विकं तावत्कालिकं व्यवहारकालानुयायि निमित्तं सम्बन्धो
यस्य स तथोक्तः तद्भावस्तत्त्वम् ।"—तत्त्वसं० पृ० ५९३ । स्या० २० पृ० ६७६ ।

१ ह्यापि व० । २ गोशब्दो वा श्र० । ३ बोधयति श्र० ।

“कश्चित् कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” []

तथा, विवादोपस्थासितः कालः गादिशब्दशून्यो न भवति कालत्वात् इदानीन्तनकालवत् ।

तथा, अर्थोपपत्तिरप्यस्य नित्यत्वं सिद्धम्; तथाहि—नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः । न चेयमर्थो अन्यथैव वा उपपद्यते; शब्दस्यानित्यत्वे सर्व-
थानुपपद्यमानत्वात् । प्रतिपन्नप्रतिबन्धाद्धि शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नान्यथा
अतिप्रसङ्गात् । न चाऽनित्यत्वे शब्दस्य प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य उत्तरकालमनुवृत्तिः संभ-
वति; तस्यै तदैव विनाशात् । तदुक्तम्—

“अर्थोपपत्तिरियं चोक्ता पञ्चमरीदिवर्जिता । यदि नैशिनित्ये वा विनाशिन्ये वा भवेत् ॥१॥

(१) “अनपेक्षत्वात् १।१।२१। येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते तेषामपि
केवाञ्चिदनित्यता गम्यते येषां विनाशकारणमुपलभ्यते, यथा अभिनवं पटं दृष्ट्वा । न चैनं
क्रियमाणमुपलब्धवान् अथ चानित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा । तन्नुव्यतिषङ्गजनितोऽर्थं तन्नुव्य-
तिषङ्गविनाशात्तन्तुविनाशाद्वा विनश्यतीत्यवगच्छति । नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते यद्विना-
शाद्विनश्यति इत्यवगम्यते ।”—जैमिनिः, शाबरभा० १।१।२१। “एवं स्थितस्य शब्दस्य श्रुति-
कालात्संगतान्तरं । संभाव्यते विनाशित्वं न भूयोऽन्येन हेतुना ॥ यथा शस्त्रादिभिर्भेदाज्जराया
वा पटादयः । नङ्क्षयतीत्यवगम्यन्ते नैवं शब्देऽस्ति कारणम् ॥”—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०
४४२-४४३ । उद्धृतोऽयम्—स्या० २० पृ० ६७६ । “अस्यार्थः—शब्दः सर्वकालं स्थिरः विनाशहेतुशून्य-
त्वात् । विनाशहेतुशून्यत्वञ्च कश्चित्कालं स्थिरत्वात्सिद्धम् । स हि सम्बन्धकरणकालं यावदनुपद्रुतः
परत्वादपि केनापनीयतामिति ।”—स्या० २० पृ० ६७६ । (२) तुलना—स्या० २० पृ० ६७६ । (३)
“नित्यस्तु स्यादर्थस्य परार्थत्वात् । नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् ।
दर्शनमुच्चारणं तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे नचाऽन्योऽन्यानर्थं
प्रत्याययितुं शक्नुयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थवगम इति
युक्तम् ।”—जैमिनिः, शाबरभा० १।१।१८ । “अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम् । न
हि प्रत्युच्चारणमन्यस्यान्यस्य क्रियमाणस्यार्थप्रत्यायकत्वं संभवति सम्बन्धग्रहणासंभवात्, अगृहीतसम्ब-
न्धस्य चाऽप्रत्यायकत्वात् । न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्वं संभवति । न हि गोशब्दे
गृहीतसम्बन्धेऽवशब्दः प्रत्याययति ।”—शास्त्रदी० पृ० ५५९ । “शब्दो नित्यः परार्थदर्शनसम्बन्धित्वात्
धूमादिवदिति ।”—नयवि० पृ० २४२ । (४) अर्थप्रतिपत्तिः । (५) नित्ये च अनित्ये [च]—आ०
टि० । (६) अनित्ये एव—आ० टि० । (७) अनित्यशब्दस्य । (८) शब्दो नित्यः दर्शनस्य
परार्थत्वाज्ज्यथानुपपत्तेः, परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्तेः, अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेर्वा । (९) अनुमा-
नत्वाद्यभावः—आ० टि० । (१०) “अर्थोपपत्तिं हि द्वावेव दोषौ अन्यथाऽनुपपत्तिरन्यथैवोपपत्तिश्च ।
तदिहापि यद्यनित्यत्वेऽन्यर्थप्रत्यायकत्वमुपपद्येत अनित्यत्व एव वा ततो दूषणं स्यात् नतु तदस्तीत्याह
यदीति ।”—न्यायर० पृ० ७९० । “यदि शब्दे नाशिति नित्ये वा वाचकसामर्थ्यमित्यनेन संशय उक्तः
विनाशिन्येव वा शब्दे वाचकसामर्थ्यमित्यनेन तु विपर्यय उपदर्शितः तदा दूषणमुच्यतामिति । यदैव
शब्दे वाचकसामर्थ्यं सन्दिग्धं विपर्यस्तञ्च स्यात्तदा दूषणावसरः एतच्चान्नोभयमपि नास्तीति भावः ।”—
स्या० २० पृ० ६७८ । (११) नाशिति नित्ये वेति निरवधारणत्वात् मिलितमेव ‘अन्यथापि’ इत्यस्य
व्याख्यानम्, विनाशिन्येव इति तु ‘अन्यथैव’ इत्यस्य—आ० टि० ।

१-त्वं तथा—अ० ।

- शब्दे वाचकसामर्थ्यं तैदा दूषणमुच्यताम् । फलवद्वयवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता ॥२॥
 निर्धर्मेत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवैगम्यते । परीक्ष्यमाणस्तेनार्यै युक्त्या नित्य-विनाशयोः ॥३॥
 स धर्मोऽप्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न बाधते । नहि श्रृङ्गाङ्ग-धर्मोरोधेन प्रधानफलबाधनम् ॥४॥
 युज्यते, नाशिपक्षे च तदेकान्तात् प्रसज्यते । नहि अदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥५॥
 5 तथा च स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् । सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥
 सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद् भ्रुवं कालान्तरस्थितिः । अन्यैस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥
 गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ।' [मी० इलो० शब्दनि० इलो० २३७-४४] इति^{११} ।

अथ सदृशतया शब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः नार्थापत्तितोऽस्य नित्यत्व-
 सिद्धिः; तदयुक्तम^{१२}; तत्सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तितः तैश्चा तस्यै तद्वेतुत्वा-

- 10 नुपपत्तेः । उक्तञ्च—

(१) “ननु भाभूदर्थप्रत्यायनं तथापि किमित्यनित्यता न भवति ? अत आह—फलवदिति । फल-
 वतो गवानयनादिव्यापारस्य अङ्गभूतोऽर्थप्रत्ययः तत्फलत्वेनैव फलवान्, शब्दस्योच्चारणसंस्कारभाजः
 स्वयमफलस्य फलवत्प्रत्ययाङ्गताऽवगम्यत इति । ततः किमित्याह—परीक्षमाण इति । अर्थप्रत्ययाङ्गस्य
 शब्दस्य स एव धर्मः स्वाङ्गत्वेन गृहीतव्यो यश्च प्रधानमर्थप्रत्ययं न बाधत इति । कारणान्नहीति ।
 अर्थप्रत्ययाङ्गभूतस्य शब्दस्य यदङ्गमनित्यत्वं तदनुरोधेन यत्तत्प्रधानं शब्दः तत्फलस्य अर्थप्रत्ययस्य
 बाधनमयुक्तमिति । तथापि कथं नानित्यत्वमब्राह्म-नाशीति । कथमित्याह—नहीति । किमित्य-
 वाचकः ? अत आह—तथा चेदिति । सम्बन्धज्ञानञ्च न क्षणिकस्य संभवतीत्याह—सम्बन्धेति ।’
 —न्यायपर० पृ० ७९० । (२) अर्थप्रत्ययाकर्त्तवे—आ० टि० । (३) ‘वदधार्थते’—मी० इलो० ।
 (४) शब्दस्य । (५) प्रधानं व्यवहाराख्यं फलम्—आ० टि० । (६) ‘अङ्गाङ्गानुरोधेन’—मी०
 इलो० । अर्थप्रत्ययः—आ० टि० । (७) शब्दः—आ० टि० । (८) व्यवहारः—आ० टि० । (९)
 “ननु कियन्तं चित्कालमवतिष्ठन्तां शब्दाः, यावत्सम्बन्धदर्शनं तस्य व्यवहारश्च संभवति, नैतावता
 नित्यत्वसिद्धिरत आह—सम्बन्धेति । नन्वन्यस्यैव गोशब्दस्य सम्बन्धं गृहीत्वा अन्यस्मादर्थं प्रत्येषामो
 नावश्यमेकस्यैव स्थायित्वमत आह—अन्यस्मिन्निति, एवं ह्यव्यवस्था स्यादिति ।’—न्यायपर० पृ० ७९१ ।
 (१०) यस्य हि सम्बन्धो ज्ञातः सोऽज्यः यश्च वाचकः सोऽज्यः विनाशित्वात्—आ० टि० । (११)
 उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ४०५-६ । द्वितीयतृतीयचतुर्थेऽलोकान् विना—स्या० र० पृ० ६७८ । पञ्चम-
 षष्ठसप्तमल्लोकाः किञ्चित्पाठभेदेन—तत्त्वसं० पृ० ६१७ । (१२) “अर्थत्वसादृश्यादर्थविगम इति चेत्,
 न कश्चिदर्थवान् सर्वेषां नवत्वात् । कस्यचित्पूर्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत्; तदुक्तम्, सदृश
 इति चावगते व्यामोहात्प्रत्ययो व्यावर्तते शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव ।”—शाबरभा० ११११८ । “ननु
 तत्तुल्योपादानमभेदमुपादाय सिध्यति पारार्थ्यं दर्शनस्य; सत्यम्; सिध्यति, किन्तु नेत्यभूतत्वे प्रमाण-
 मस्ति । न कस्यचिदप्यारसंसारं जन्तोः पूर्वोक्तसदृशमुच्चारयामि तत्सदृश एवायमिति ज्ञानोत्पादो
 दृष्टः । अत एव चाविपरीतं प्रतिपद्यन्ते । अन्यथा मालाशब्दप्रत्ययस्यैव शालाशब्दसंवेदानादविपर्ययः
 स्यात् ।”—बृहती० ११११८ । शास्त्रवै० पृ० ५६० । नयवि० पृ० २४ । (१३) सादृश्यद्वारेण ।
 (१४) शब्दस्य । (१५) अर्थापत्ति (अर्थप्रतीति) हेतुत्वानुपपत्तेः—आ० टि० ।

1 ततो हू-ब० । 2 निःफल-श्र०, ब० । 3 अदृशतया श्र० । 4-त्वोपपन्नार्थाप-श्र० ।

5-पत्तेस्तथा ब० ।

“सहशत्वात्प्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचकः । कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यतां वाचकोऽपैरः ॥
 अदृष्टसङ्गतिस्त्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा । अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत् तस्य तावैन् क्षणः कुतः ॥
 द्विस्तीवानुपलब्धो हि अर्थवान् सम्प्रतीयते ॥” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-५०]
 “तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तिो भवेत् । एवमेकमनेकं वा नित्यं वाऽनित्यमेव वा ॥
 भिन्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता । व्यैक्यनन्यदर्थैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥ ४
 व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम् ॥” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१-७३] इति ॥छ॥
 अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स एवायं गकारः’ इत्यादि; तदसमीक्षिता-
 तत्प्रतिविधानपुरस्सरं **भिधानम्**; अर्थं प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनतया एकत्वाऽप्रसा-
 शब्दस्य अनित्यत्व- **धकत्वान्** प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञानवत् । न खलु ‘स एवायं प्रदीपः,
 प्रसाधनम्— **अङ्गहारः**, लूनपुनर्जातनखकेशादिर्वा’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं प्रदीपादी- 10
 नामेकत्वं प्रसाधयति । अथाऽत्रैकत्वाभावात्तस्यैतदप्रसाधकत्वं तदन्यत्रापि समानम् ।

(१) “शब्दस्तु न तथा बालानामपि प्रतीतिप्रसङ्गादित्यर्थवत्सादृश्यादर्थविगम इति भाष्यम्,
 तस्यार्थमाह—सदृशत्वादिति । शब्दान्तरे गृहीतसम्बन्धेऽर्थवति शब्दान्तरे तत्सादृश्यात् तत्त्वेन भ्रान्त्यवगतं
 तदर्थं प्रत्याययतीति । परिहरति तद्द्वारेणेति । कारणमाह—कस्येति । च शब्दो हेतुः । इदञ्च न हि
 कश्चिदर्थवानित्यनेन भाष्येणोक्तमिति एतदेवोपपादयति—अदृष्टेति । शङ्कते—अर्थवानिति । निरा-
 करोति तस्येति । अवसराभावमेव दर्शयति—द्विस्त्रिरिति ॥—**न्यायप्र०** पृ० ७९३ । (२) सादृश्येन-
 आ० टि० । (३) किन्तु वैसदृश्यम्—आ० टि० । (४) वाचकः—आ० टि० । (५) वाच्योपलम्भ-
 कालं यावत्—आ० टि० । ‘तावान् कुतः क्षणः’—मी० श्लो० । (६) ‘द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धो हि नार्थ-
 वान् सम्प्रतीयते ॥’—मी० श्लो० । तत्त्वसं० पृ० ६१९ । (७) उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ४१० ।
 तत्त्वसं० पृ० ६१९ । (८) ‘भिन्नत्वैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते । अभेदाऽनित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव
 तुल्यता ॥’—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२ । (९) ‘व्यक्त्यनन्यतथैकञ्च’—मी० श्लो० । (१०)
 उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ४११ । (११) पृ० ६९७ पं० १८ । (१२) तुलना—“किमिदं प्रत्यभिज्ञानम् ?
 तत्प्रत्ययविषयत्वम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वमन्यत्वेपीत्यनेकान्तः” —**न्यायवा०** २।२।३३ । “अनित्यत्वेऽपि
 सादृश्यवशात्प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यते एवेति । विवादगोचरापन्नः शब्दोऽभिष्यक्तः प्रत्यभिज्ञानकालं याव-
 द्नावतिष्ठते शब्दप्रत्ययविषयत्वात् पूर्वानुभूतशब्दवत् ॥” —**प्रश०** व्यो० पृ० ६४७ । “नृत्ताभिनयचेष्टा-
 दिप्रत्यभिज्ञानतो वयम् । विशेषं प्रत्यभिज्ञाने न पश्यामो मनागपि ॥” —उच्यते प्रत्यभिज्ञानमन्यथा-
 प्युपपद्यते । गत्वादिजातिविषयं यद्वा सादृश्यहेतुकम् ॥” —**न्यायप्र०** पृ० २२३-२४ । “तथा ह्यनि-
 त्येऽपि प्रदीपादी प्रत्यभिज्ञानं दृष्टं तस्मादनैकान्तिकमेतत् , यथा क्षणिकेऽपि कर्मणि प्रयोगे दृश्यते”—
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७९ । “सादृश्यान्नैकरूपत्वात्स एवायमिति स्थितिः ॥ यदि चैवविधो
 नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः । प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद् भिन्नदेशयोः ॥” —**न्यायवि०** का० ४२५-२६ ।
 “सादृशापरग्रहणेनापि तत्त्वसंभवात् क्षणिकेष्वपि करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानादिरुद्धो हेतुः । तत्कि-
 नैकत्वेऽपि किमिदानीमनेकं स्यात् ॥” —अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ । “गात्रे-
 कत्वप्राहिकाया लूनपुनर्जातकेशनखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात् ॥” —**भनमति०** टी० पृ० ३४ । स्या० २०
 पृ० ६८० । रत्नाकराव० ४।९ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७६ A. । (१३) नृत्यक्रियाविशेषः, वृद्धिचक-
 गमनादिभेदेन द्वाविंशतिविधः । (१४) प्रदीपादी । (१५) प्रत्यभिज्ञानस्य । (१६) एकत्वाप्रसाधकत्वम् ।

ननु तैलादिकारणस्य उत्तरत्र क्षयोपलम्भतः प्रदीपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वप्रसिद्धेः युक्तमेकत्वा-
सत्त्वं न शब्दस्य विपर्ययात् ; इत्यप्यनुपपन्नम् ; अस्यापि तात्वादिंसंयोगविभागलक्षण-
कारणस्य उत्तरत्र प्रक्षयप्रतीतितः प्रतिसमयमन्यत्वसिद्धेः एकत्वासत्त्वोपपत्तेः । तैत्सं-
योगविभागयोः तैदभिव्यञ्जकवायूत्पादे कारणत्वं न शब्दे इत्यभ्युपगमे वर्तिकामुखतै-
६ लानलसंयोगादेरपि प्रदीपाद्यभिव्यञ्जकवायूत्पादे कारणत्वं न तैदुत्पादे इत्यप्यभ्युपगम्य-
तामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्रापि न काकैर्भक्षितः ।

यदपि प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम् ; तदप्ययुक्तम् ; प्रत्यक्षपरिच्छेदे विशदस्व-
भावस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । न चेदं तत्स्वभावम्, अतः कथमस्य प्रत्यक्ष-
ताशङ्कापि ? अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य तद्रूपता ; इत्यप्यसत्, तस्य तदन्वयव्य-
तिरेकानुविधायित्वाभावात्, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य प्रत्यभिज्ञा-
१० परीक्षाप्रवृत्तेः प्ररूपितत्वात् । प्रत्यक्षत्वे चास्य अतीतकालपरिगतत्वेन शब्दग्राहकत्वानुप-
पत्तिः, सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारित्वात्तस्य । तद्ग्राहकत्वे वा कथं योगिप्रत्यक्षस्य
प्रतिक्षेपः प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्य तद्वद् अतीताद्यर्थग्राहकत्वाविरोधात् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चित् तत्प्रत्यक्षम् ; तथापि न तैत् शब्दस्यैकत्वप्रसाधकम्, तदु-
१५ त्पादविनाशग्राहिणा प्रमाणान्तरेण बाध्यमानत्वात्, यत् प्रमाणान्तरेण बाध्यते न तत्
स्वविषयव्यैवस्थापकम् यथा शुक्तिशकले रजतग्राहिप्रत्यक्षं शुक्तिस्वरूपग्राहिप्रत्यक्षान्तरेण,
बाध्यते च तैदुत्पादविनाशग्राहिणा तेन तदेकत्वग्राहिप्रत्यभिज्ञानमिति । न चेदमसिद्धम् ;
प्रत्यक्षस्यैवं तावत् तदुत्पादविनाशग्राहकत्वेन तद्ग्राहकत्वसंभवात् । तथाहि—‘उत्पन्नः
शब्दः विनष्टः’ इति प्रतीतिः इन्द्रियव्यापारानन्तरं प्रतिप्राणि संवेद्यमानोपजायते । न

(१) तुलना—“शब्दस्य तात्वादिंसंयोगविभागलक्षणकदम्बकस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतिः प्रति-
क्षणमन्यत्वसिद्धेरेकत्वासत्त्वोपपत्तेः ।”—स्या० २० पृ० ६८१ । (२) तात्वादि—आ० टि० । (३) शब्दा-
भिञ्जक । (४) प्रदीप—आ० टि० । (५) पृ० ६९८ पं० ११ । (६) प्रत्यभिज्ञानम् । तुलना—“एवमन्यते
—प्रथमे क्षणे शब्दग्रहणं द्वितीयक्षणे पूर्वगृहीतशब्दाहितसंस्कारप्रबोधः ततोऽन्यस्मिन् क्षणे शब्दस्मरणम्,
ततश्चतुर्थे क्षणे तिरोहिते तस्मिन् स एवायं षटशब्द इति प्रत्यभिज्ञानं कथं प्रत्यक्षं स्यादसन्निहितवि-
षयत्वात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७८ । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानस्य (९)
पृ० ४१५ । (१०) प्रत्यभिज्ञानस्य । (११) ‘स’ इति—आ० टि० । (१२) प्रत्यक्षस्य । तुलना—
“पूर्वकालसम्बन्धित्वस्येदानीमसन्निहितत्वेनाऽग्रहणात् । ग्रहणे वा श्रोत्रज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभासः
स्यात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५२ । (१३) अतीतग्राहकत्वे—आ० टि० । (१४) प्रति-
क्षिपन्ति हि मीमांसकाः सर्वज्ञम्—आ० टि० । (१५) योगिप्रत्यक्षस्य । (१६) प्रत्यभिज्ञानवत्—आ०
टि० । (१७) प्रत्यभिज्ञानम् । (१८) तुलना—“शब्दे विनाशविज्ञानात् न सा नित्यत्वसाधिका ।”—
न्यायमं० पृ० २२४ । (१९) प्रत्यक्षेण—आ० टि० । (२०) शब्दोत्पादविनाश । (२१) स एवायं
शब्द इति प्रत्यभिज्ञानबाधकत्वसंभवात् ।

१—अयोपलम्भः प्र—अ० । २—लानिल—आ० । ३—व्यवस्थाग्राहकम् आ० । ४—च तावदुत्पाद—व०,
—व तदुत्पाद—अ० ।

चेयं मिथ्या ; देशकालनरान्तरेषु अबाध्यमानत्वात् 'उत्पन्नो घटः विनष्टो घटः' इति प्रतीतिवत् । अथ प्रत्यभिज्ञानेनैव इयं कस्मान्न बाध्यते ? तन्न ; अस्य सादृश्यनिबन्धनतया तन्नित्यत्वाप्रसाधकत्वात् ।

ननु एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात् कैचिद् घटाद्यभावप्रतीतिर्युक्ता, ननु शब्दाभावप्रतीतिः, तत्रैकज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिदध्यसंभवात् ; इत्यप्यचोद्यम् ; विर्वक्षित- 5
शब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैव एकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् । निःशब्दप्रदेशे सर्वश-
ब्दाभावप्रतीतौ तर्हि तदसंभव इति चेत् ; न ; तत्रापि आत्मस्वरूपसंवेदनस्य तदेकज्ञान-
संसर्गिणः संभवात् । यथैव हि घटभूदेशादीनाम् एकत्र ज्ञाने संसर्गः तथा स्वरूपरूपयो-
रपि, अखिलज्ञानानां स्वरूपरूपावभासिस्वभावत्वात् । न चैवं शब्दाभाववत् रूपाद्यभा-
वोऽपि अतोऽनुषज्यते; तेषां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतया तदभावस्यापि प्रतिनियतादेव ईन्द्रि- 10
यात् प्रसिद्धेः । यो हि ईन्द्रियग्राह्यः तदभावोऽपि तदिन्द्रियादेव व्यवस्थाप्यते ।
यदिन्द्रियोपयुक्तो ह्यात्मा यत्र यदा यद्विषयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं नोपलभते तत्र तदा
तस्याभावमधिगच्छतीति ।

नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणानुपलम्भः कुतः स्यात्—इन्द्रियाभावात्, शब्द-
स्यासन्निहितत्वात्, आवृत्तत्वाद्वा ? न तावदिन्द्रियाभावात् ; उच्चारणानन्तरं शब्दो- 15

(१) उत्पन्नः शब्दः विनष्टः शब्द इति प्रतीतिः । तुलना—“प्रत्यभिज्ञा हि सापेक्षा निरपेक्षा
त्वभावधीः । तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते ॥ शब्दाभावस्य ग्रहणात् प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वा-
नुसन्धानादिसव्यपेक्षत्वात् । अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरति कर्माविषु गृह्यते । तेनास्यां शब्देष्वभाव-
प्रत्ययोपहतवपुषि कः समाश्वासः ? न चैवं प्रत्यक्षेप्यनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहत-
प्रभावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्वं कर्मादिष्विव शब्देऽपि न साधयितुं प्रभवति....”-न्यायसं० पृ० २२४ ।
स्या० २० पृ० ६८१ । (२) भ्रान्तिवशाद्भवतः स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) भूतल-
आ० टि० । (४) भूतलादौ । (५) शब्दाभावप्रत्यये । (६) तुलना—“विवक्षितशब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्त-
रस्यैकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् ।”-स्या० २० पृ० ६८२ । (७) तुलना—“तत्राप्यात्मस्वरूपस्य तदेकज्ञान-
संसर्गिणः संभवात् । स्वरूपरूपावभासकस्वभावस्य ह्यात्मनः परस्मिन् योग्यदेशावस्थिते वस्तुनि न
केवलमात्मस्वरूपसंवेदनं भवेत् यावन्ति खलु वस्तुनि प्रतिषेध्यत्वसम्मतवस्तुना साकं योग्यदेशावस्थितानि
सन्त्यवश्यं प्रतिभासन्ते, तानि सर्वाण्येकज्ञानसंसर्गिणि । तत्र कुम्भादौ प्रतिषेध्यो भूतलादिः आत्मस्वरूप-
ञ्चैकज्ञानसंसर्गि । शब्दे तु प्रतिषेध्ये सशब्दके प्रदेशे शब्दान्तरमात्मस्वरूपञ्च, निःशब्दके तु केवलमा-
त्मस्वरूपम् । अथवा मा भवत्वेकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरं प्रमाणान्तरगृहीतं तु भविष्यति । यथा स्मृति-
गोचरे चैत्यकुलादौ क्वचिदभावप्रमाणेन भवतामभावग्रहणे चैत्यकुलादि ।”-स्या० २० पृ० ६८२ ।
(८) परत्वाविशेषात् यथा शब्दाभावो ज्ञातः तथा रूपाभावोऽपि ज्ञायतामित्यर्थः—आ० टि० । स्वरूप-
ग्राहिणः कस्माच्चिदपि ज्ञानात् । (९) रूपादीनाम् । (१०) यदग्रहे यदपेक्षं वक्षुः तदभावग्रहेऽपि
तदपेक्षते इति किरणावलीवचनात् यद्भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्यैव—आ०
टि० । (११) येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेन तस्मिन्ना जातिस्तदभावश्च गृह्यते इति नियमात् ।

पलम्भात् । न च प्रागसतः तदैव इन्द्रियस्य प्रादुर्भावः, प्रतीतिविरोधात् । नापि शब्द-
स्यासन्निहितत्वात्; नित्यैव्यापितया सर्वत्र सर्वदा तस्यै सन्निहितत्वात् । नाप्यावृतत्वात्;
नित्यैकस्वभावत्वेन तस्य आवृतत्वानुपपत्तेः । न खलु दृश्यस्वभावपरित्यागेन अदृश्यस्वरू-
पाऽस्वीकारे शब्दस्य आवृतत्वं घटते अतिप्रसङ्गात् । यद् यदा यत्स्वरूपं न परित्यजति
न तस्य तदा तत्प्रत्यनीकस्वरूपसंभवः यथा अनावृतावस्थायां दृश्यस्वरूपमपरित्यजतो
नादृश्यस्वरूपसंभवः, न परित्यजति च आवृतावस्थायां दृश्यस्वरूपं शब्द इति । तदा
तत्स्वरूपपरित्यागे वा सिद्धमस्य अनित्यत्वम्, स्वरूपभेदस्वभावत्वात्तस्यै । ननु घटादीनां
स्वरूपभेदेऽपि अन्धकारादिना आवृतत्वं दृश्यते; ईदृष्ययुक्तम्; तत्रापि स्वरूपभेदे सत्येव
आवृतत्वोपपत्तेः । स्वरूपमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वानुपपत्तेः ।

(१) उच्चारणात् प्राक् तद्ग्राहकं श्रोत्रमिन्द्रियं नासीत् उच्चारणकाल एव शब्देन सहोत्पद्यते
इत्युक्ते सत्याह न चेति । (२) नित्यतया व्यापितया च—आ० टि० । (३) शब्दस्य । (४) शब्दस्य
आवृतावस्थायां न अदृश्यस्वरूपसंभवः अपरित्यक्तपूर्वस्वरूपत्वात् । तुलना—“यद्यदा यत्स्वरूपं न परित्य-
जति” —स्या० २० पृ० ६८२ । (५) आवृतावस्थायां दृश्यस्वरूपत्यागे । तुलना—“तदयं तात्वा-
दिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं परित्यज्य विपरितस्वभावमासादयन्नपि नित्यस्त्वेव किञ्चिदवित्यम् ।”
—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०७ । (६) अनित्यत्वस्य । (७) स्वरूपभेदाभावेऽपि । तुलना—
“स्यान्मत्तं यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापि; तवसत्; तस्यापि
तेन आतखण्डनोपपन्नात्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात् तमस्तदावरणत्वसिद्धेः सर्वस्य परिणामित्व-
साधनात् । तमसाऽपि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किञ्च भवितुमर्हति, तस्य तेन उपलभ्यतयाऽप्य-
खण्डनात् ।” —अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० २० पृ० ६८२ । “स्ति-
मितेन वायुनावरणाभित्यं नोपलभ्यत इति चेदाह—नापीत्यादि । तस्य बाह्यस्य उपलभ्यमानो
दृश्यस्य किञ्चिदुपलम्भावरणं सम्भवति । तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । सतोऽपि वा विद्यमानस्यापि
चावरणस्य तदात्मानमखण्डयतो नित्यशब्दात्मानमप्रच्यवयतः सामर्थ्यतिरस्कारायोगात् ज्ञान-
जननशक्त्यभिभवायोगात् । यस्मान्न हि तत्र शब्दात्मन्यतिशयमनुत्पादयन्नावरणाभिमतः किञ्चित्करो
नाम । अकिञ्चित्करश्चार्थः कः कस्यावरणं ज्ञानविवन्धकमन्यद्वेति प्रकारान्तरेणोपधातकं नैवेति
यावत् । “अकिञ्चित्करस्य आवरणत्वं दृष्टमिति कथयन्नाह परः—कुड्यादय इत्यादि । कुड्यादयो
घटादीनां कमतिशयमनुत्पादयन्ति कम्बा सामर्थ्यातिशयं खण्डयन्ति येनावरणमिष्यन्ते । तस्माद् यथा
तेऽतिशयमनुत्पादयन्तो घटादीनामावरणमिष्यन्ते तथा नित्यस्यापि शब्दस्य किञ्चिदावरणं भविष्यती-
त्यभिप्रायः । न ब्रूमः इत्यादिना परिहरति । ते कुड्यादयः किञ्चिद् घटादिकमतिशययन्ति विशिष्ट-
स्वभावं कुर्वन्तीति न ब्रूमः । कथन्तर्ह्यवरणमुच्यत इत्याह—अपि तु न सर्वं इत्यादि । न सर्वघटक्षणाः
सर्वस्य पुरुषस्य इन्द्रियज्ञानहेतवः किन्तु हि परस्परसहितास्तु विषयेन्द्रियालोकाः परस्परतो विशिष्ट-
क्षान्तरोत्पादात् कारणाद् विज्ञानहेतवः—तेन च विषयेन्द्रियादयः तेन प्रतिघातिना कुड्यादिनाऽप्यव-
हिता यदा भवन्ति तदाऽप्योन्यस्योपकारिणः सति च व्यवधायके कुड्ये अन्यस्योत्पत्तिः समर्थस्य
क्षणस्य यथोक्तकारणाभावेनानुत्पत्तेर्जातकारणवैकल्यमतः कारणवैकल्यात् घटादिषु कुड्यादिव्यवहितेषु
ज्ञानानुत्पत्तिरिति कृत्वा कुड्यादय आवरणमुच्यते न पुनः प्राग्विज्ञानजननयोग्यस्य घटादेः प्रति-
बन्धात्—” —प्रमाणवा० स्वयं० टी० पृ० ३६१-६२ । (८) उपलम्भानुपलम्भरूपेण ।

१—वत्ये तस्य व० । २ आवृतत्वावस्थायां आ०, व० । ३ इत्ययं—अ०, व० ।

किञ्च, व्यञ्जकव्यापारात् पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धे सद्भावे आवरणं सिद्ध्येत्, स्पर्शानप्रत्यक्षप्रतिपक्षे घटे अन्धकारादिवत्, न चासौ सिद्धः । 'प्रत्यभिज्ञानात्-त्सिद्धिः' इत्यपि मनोरथमात्रम्; तस्य एकत्वाप्रसाधकत्वप्रतिपादनात् ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्तेषामावरणम्; तैश्चापि तत् दृश्यम्, अदृश्यम्, नित्यम्, अनित्यम्, व्यापकम्, अव्यापकम्, एकम्, अनेकं वा स्यात् ? न तावद् दृश्यम्; प्रत्यक्ष-प्रमाणतः तत्प्रतीत्यभावात् । तैस्तत्प्रतीतौ वा विप्रतिपक्षभावः । नहि नीले नीलैतया प्रतीयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते । अथादृश्यम्; कथं तदस्ति अतिप्रसङ्गात् ? ननु नित्यस्य सतः शब्दस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धौ निमित्तान्तरासंभवात् तन्निमित्तमदृश्यमप्यावरणं कल्प्यते; इत्यप्यसाधीयः; अन्योन्याश्रयानुपपन्नात्-सिद्धे हि शब्दस्य आवरणे नित्यस्य सतोऽस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तदावरणसिद्धिरिति । ननु प्रत्यभिज्ञानात् शब्दस्य नित्यत्वसिद्धेः उच्चारणात् प्राक् तदनुपलब्धौ नावरणादन्यन्निमित्तम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; प्रत्यभिज्ञानस्य तन्नित्यत्वप्रसाधकत्वप्रतिषेधात् ।

नित्यत्वे च आवरणस्य सदा शब्दस्यानुपलब्धिः स्यात् । अनित्यत्वे त्वस्य प्रध्वस्तस्य पुनरुत्पादे कारणाभावात् सर्वदा सर्वस्य उपलम्भप्रसङ्गः । नहि प्रतिनियतावरणोत्पादे प्रतिनियतं किञ्चित्कारणमुपलभ्यते ।

व्यापकत्वञ्चास्य अतीव दुर्घटम्; बाधकप्रमाणसद्भावात् । तथाहि-आवरणत्वेनाभिमतो वायुरव्यापकः स्पर्शवद्द्रव्यत्वात् लोष्टवत् । व्यापकत्वे चास्य उभयोरपि आचार्यवारकयोः सर्वगतत्वात् किं कस्य आवारकं स्यात् ? न हि आकाशमात्मादी-

(१) तुलना-“स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः । यथा दीपोऽन्यथा वापि को विशेषोऽस्य कारकात् ॥ स्वप्रतिपत्तिद्वारेण अन्यप्रतिपत्तिहेतुलौके व्यञ्जकः सिद्धो दीपादिवत्, स चैत्प्राक्सिद्धः स्यात् । समानजातीयोपादानलक्षणसिद्धेन तस्यैवातिशयस्य ज्ञानहेतोः तस्य तत्सामग्रीत्वात् । ये पुनः असिद्धोपलम्भनाः कारका एव कुलालादिवद् घटादौ । स्वज्ञानेन कारणेन अन्यधीहेतुरर्थो व्यञ्जको मतः । कदा ? सिद्धेऽर्थे । यद्यसौ व्यङ्ग्यः प्रागसिद्धः स्यात्तदा को विशेषोऽस्य व्यञ्जकस्य कारकाद्भेदोः ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६४ । “यतः प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरणं सिद्धयेत् स्पर्शानप्रत्यक्षप्रतिपक्षे घटेऽन्धकारादिवत् ।”-प्रमेयक० पृ० ४२१ । (२) सद्भावः-आ० टि० । (३) शब्दानाम्-आ० टि० । (४) तुलना-“तथापि तदावरणं दृश्यदृश्यं वा नित्यमनित्यं वा व्यापकमव्यापकं वा एकमनेकं वेत्यष्टौ विकल्पाः ।”-स्या० २० पृ० ६८३ । (५) आवरणप्रतीत्यभावात् । (६) प्रत्यक्षतः । (७) आवरणम् । (८) अनुपलब्धि-आ० टि० । (९) शब्दस्य । (१०) आवरणस्य । (११) एकैकवर्णस्य एकैकमावरणम्-आ० टि० । (१२) तुलना-“आवरणत्वेनाभिमतः प्रभञ्जनः न व्यापकः स्पर्शवद्द्रव्यत्वादुपलक्षकत्ववत् ।”-स्या० २० पृ० ६८३ । (१३) आवरणस्य । तुलना-“तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्; न तद्वत्वारकम्, न ह्याकाशमात्मादीनामावारकम् ।”-प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० २० पृ० ६८३ । (१४) शब्दस्तिमितवाक्योः । (१५) पराभिसन्धिना-आ० टि० ।

१ वा कथञ्चित्-अ० । २-त्यसंभवात् अ० । ३ नीलतायाः प्र-अ० । ४ शब्दनित्य-आ०, अ० । ५-वा शब्दस्य द०, अ० । ६-गभावात् आ० । ७ स्पर्शानद्रव्य-अ० ।

नामावारकं प्रतीतम् । अत्रापकत्वे त्वस्य नितरां तेनैव शब्दस्य आचार्यत्वानुपपत्तिः, तैन्मध्ये तद्देशे पार्श्वे च विद्यमानत्वात्, प्रत्युत शब्द एवास्य आवारकः स्यात्, अथैवथा सर्षपोऽपि घटस्य आवारको भवेत् । ननु भूयादिना आकाशस्य तथाविधस्यापि आत्रियमाणत्वोपलम्भाददोषोऽयम् ; इत्यप्यसत् ; तत्प्रदेशस्यैव तेन आत्रियमाणत्वाभ्युपगमात् ।

५ शब्दप्रदेशस्यापि वायुना आत्रियमाणत्वाभ्युपगमे शब्दस्य सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्यात् ।

तथा निखिलशब्दानां यदि एकमेवावरणं कल्प्यते; तदा एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भप्रसङ्गः, तदावरणापगमे तद्वत् सर्वेषामानावृतत्वात् । तदनुपलम्भे वा विवक्षितशब्दस्यापि तद्वदनुपलम्भः स्यादविशेषात् । अथ विभिन्नम् ; तन्न; सर्वशब्दानां व्यापितया

(१) वायोः-आ० टि० । (२) वायुना-आ० टि० । (३) आवरणात्मकवायुमध्ये । (४) व्यापित्वेन-आ० टि० । (५) वायोः-आ० टि० । (६) यद्यल्पपरिमाणमपि वस्तु महत्तः आवारकं स्यात् तदा । (७) व्यापितोऽपि-आ० टि० । (८) आकाशप्रदेशस्यैव । (९) भूमिना । (१०) जैनैः आकाशस्य अनन्तप्रदेशित्वप्रतिज्ञानात् । (११) आवरणापाये कस्यचिदेकस्य शब्दस्य उपलब्धिकाले । तुलना-“यथा जवनिकापायप्राप्तप्रसरमीक्षणम् । रङ्गभूमिषु तद्देशमशेषं वस्तु पश्यति ॥ तथा प्रसरंस्सोऽसिमीरोत्सारणे सति । श्रोत्रं तद्देशनिःशेषशब्दग्राहि भविष्यति ।”-न्यायसं० पृ० २२१ । “क्वचिच्छब्दस्याभिव्यक्तौ तस्य व्यापकतया सर्वदेशावस्थितपुरुषाणामुपलम्भः स्यात् निरावरणस्य व्यापकत्वाविशेषात् ।”-प्रश्न० व्यो० पृ० ६८४ । (१२) शब्दानाम् । (१३) विवक्षितशब्दस्य आवरणस्य विनाशे । (१४) एकशब्दवत्-आ० टि० । (१५) सर्वशब्दानुपलब्धौ । (१६) सर्वशब्दवत् । (१७) अनावृतत्वाविशेषात् । (१८) तुलना-“नियमश्च न स्यात्, यदि चानेके शब्दाः युगपदाकाशे वर्तन्ते इति, एवञ्च यत्किञ्चिद् व्यञ्जकमुपात्तं समानदेशानु सर्वाभिव्यनक्तीति यदा वीणा वाद्यते तदा रासम्भवतिरपि श्रूयते । न हि समानेन्द्रियग्राह्याणां समानदेशानां व्यञ्जकेषु नियमो दृष्टः । यद्यस्य व्यञ्जकं तेन तस्य व्यक्तिरिति चेत् ; तन्न; अदृष्टत्वात् । अथ मन्यसे अनेकशब्दसन्निपाते सति व्यञ्जकानि भिद्यन्ते व्यञ्जकभेदानुविधायिन्धो व्यक्तयः प्रतिशब्दमुपजायन्त इति ; तन्न; अदृष्टत्वात् । न हि प्रदीप एकेन्द्रियग्राह्यमनेकमर्थं युगपत्सन्निपातितं न प्रकाशयति ।”-न्यायवा० पृ० २८८ । न्यायवा० ता० पृ० ४४६ । “न च गोशब्दाभिव्यक्त्यर्थं प्रेरितो वायुर्नाश्वशब्दं व्यनक्तीति वाच्यम् ; व्यञ्जकेषु नियमानुपलब्धेः । यथा घटाभिव्यक्त्यर्थमुत्पादितः प्रदीपः समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितपदार्थव्यञ्जक इति । तथाहि-“न श्रोत्रं प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्रकाशकत्वात् चक्षुर्नैत् ।”-शब्द वा विवादविषया प्रतिनियतव्यञ्जकव्यर्थ्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितत्वात् घटादिवत् ।”-प्रश्न० व्यो० पृ० ६४८ । “न च समानकरणानां समानेन्द्रियग्राह्याण्यञ्च भावानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यर्थ्यत्वमुपलब्धम् । गृहे दधिघटीं द्रष्टुमानीतो गृहमेतिना । अपूपानपि तद्देशानु प्रकाशयति दीपकः ॥”-न्यायसं० पृ० २१२ । “श्रोत्रं तावत्समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मापन्नार्थानां ग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वैत् । शब्द वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानधर्मापन्नत्वे सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात् घटादिवत् ।”-न्यायसं० पृ० ३० । “ननु नियतव्यञ्जककृता नियतश्रुतिरित्यत्राह-नहीत्यादि । न हिर्यस्मात् समानदेशानाम् समानाक्षविषयाणामेतत् नियतव्यञ्जकत्वं न्याय्यम् ।”-सिद्धिचि०, टी० पृ० ५५४B । “समानकरणानां तादृशमभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां संकुला ध्रुतिः स्यात् ।”-अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२३ । सम्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० १० पृ० ६८३ । प्रमेयर० ३।१०० । शास्त्रवा टी० पृ० ३७८A ।

१ कल्प्यते व०, श्र० ।

समानदेशत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे च आवरणभेदस्य व्यञ्जकभेदस्य चानुपपत्तेः । तथाहि—
शब्दाः प्रतिनियतावरणार्थाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, अभिन्नदेशत्वे
सति एकैन्द्रियग्राह्यत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा एकघटवृत्तिसामान्य-संख्या-रूप-परिमाण-
कर्मादि, तथा चैते शब्दाः, तस्मात्तथेति । 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्युच्यमाने रूपरसादिभि-
र्व्यभिचारः, तेषामेकद्रव्यवृत्तित्वेऽपि प्रतिनियतव्यञ्जकप्रतीतिः, अतः 'एकैन्द्रियग्राह्यत्वात्'
इत्युक्तम् । तस्मिन्श्चोच्यमाने भिन्नदेशव्यवस्थितघटादिनिष्ठैः सामान्यादिभिः अनेकान्तः,
तन्निवृत्त्यर्थम् 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्यभिहितम् । तदतोऽनुमानात् शब्दानां प्रतिनियत-
व्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाऽव्यवस्थितेः अयुक्तमुक्तम्—

“अन्यार्थं प्रेरितो वायुः यथान्यं न कैरोति वैः । तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥१॥”

[मी० इलो० शब्दनि० इलो० ८० ।] इत्यादि । 10

यदि च तात्वादयो ध्वनयो वा शब्दानां व्यञ्जकाः; तर्हि तद्व्यापारे नियमेन
उपलब्धिर्न स्यात् । कौरकव्यापारो ह्येषः—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम,
न व्यञ्जकव्यापारः । न खलु यत्र यत्र व्यञ्जकः प्रदीपादिः तत्र तत्र व्यङ्ग्यस्य घटादेः
सन्निधानमुपलब्धिर्वा नियमतोऽस्ति कारक-व्यञ्जकयोरविशेषप्रसङ्गात्, चक्रादिव्यापार-
वैयर्थ्यानुषङ्गाच्च । अथ घटादेरसर्वगतत्वात् व्यञ्जकसन्निधाने नियमतः सन्निधान- 15

(१) “अन्यार्थमिति अन्यवर्णनिष्पत्यर्थम् । अन्यवर्णसंस्कारसक्त इति अन्यवर्णप्रतीत्यर्थः
संस्कारो यः श्रोत्रस्य सोऽन्यवर्णसंस्कारशब्देनोक्तः न तु वर्णसंस्कार एव श्रोत्रसंस्कारस्य प्रकृतत्वात् ।
नान्यं करिष्यति इति नान्यं वर्णं श्रोत्रसंस्कारद्वारेण संस्करिष्यतीत्यर्थः ।” —तत्त्वसं० पृ० पृ० ६०८ ।
(२) ‘करोति च’—स्या० २० पृ० ६८४ । ‘करोति सः’—तत्त्वसं० पृ० ६०८ । प्रकृतपाठः—प्रमेयक०
पृ० ४२३ । सन्मति० टी० पृ० ३६ । (३) भो जैनाः—आ० टि० । (४) ‘एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भ-
प्रसङ्गः’ इत्युपलम्भस्य समाधानमिदं मीमांसकेन प्रोक्तम्—आ० टि० । (५) तुलना—“कारणानां
समग्राणां व्यापारावुपलब्धितः । नियमेन च कार्यत्वं व्यञ्जके तदसम्भवात् । नहि कदाचिद् व्यापू-
तेषु करणेषु शब्दानुपलब्धिः, न चावश्यं व्यञ्जकव्यापारोऽर्थमुपलम्भयति वचित् प्रकाशेऽपि घटानु-
पलब्धेः । सेयं नियमेनोपलब्धिः तद्व्यापाराच्छब्दस्य तदुद्भवो स्यात् । अकर्तृव्यापारेऽपि तत्सिद्धययो-
गात् । किञ्च करणानां समग्राणां व्यापारात् परिस्पन्दादिलक्षणात् नियमेन शब्दस्य उपलब्धितः
कारणात् कार्यत्वं प्राप्तम् । किं कारणम् ? व्यञ्जके हेतौ तदसम्भवात् नियमेन व्यङ्ग्यस्योपलम्भा-
संभवात् ।” —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२६५ । “व्यञ्जकव्यापृतौ न स्याद् व्यङ्ग्यस्य नियमाद् गतिः
नावश्यमभावनियमः स्याच्छ्रुतेरुच्चारणात्ततः ।” —सिद्धिबि०, टी० पृ० ५५५A । “न कश्चिद्विशेष-
हेतुः तात्वादयो व्यञ्जका न पुनश्चक्रादयोऽपि इति । ते वा घटादेः कारकाः न पुनः शब्दस्य तात्वा-
दयोऽपीति । न हि व्यञ्जकव्यापृतिनियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च तात्वादिव्यापृति-
नियमेन शब्दं ततो नास्ती तात्वादीनां व्यङ्ग्यः चक्रादीनां घटादिवत् ।” —अष्टश०, अष्टसह० पृ०
१०३ । “यदि च तात्वादयो ध्वनयो वास्य” —प्रमेयक० पृ० ४१५ । स्या० २० पृ० ६८४ । (६)
वायवः—आ० टि० । (७) “प्राक् सतः स्वरूपसंस्कारकं हि व्यञ्जकम्, असतः स्वरूपनिर्वर्तकं कार-
कम् ।” —प्रमेयक० पृ० ११६ । (८) घटाद्युत्पादने । (९) प्रदीपादिनैव साध्यसिद्धेः—आ० टि० ।

मुपलम्भो वा, शब्दस्य तु भवति विपर्ययात्; तदप्यचर्चित्ताभिधानम्; तत्सर्वगतत्वा-
सिद्धेः । तथाहि-शब्दः सर्वगतो न भवति सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्य-
क्षत्वात् घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषणभावाद् उभयोः कार्यत्वं
व्यङ्ग्यत्वं वाऽविशेषतोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

- ५ किञ्च, एते ध्वनयः कुतः प्रतिपन्नाः येन तदधीना शब्दश्रुतिः स्यात्-प्रत्यक्षेण,
अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्; किं श्रोत्रेण, स्पर्शनेन वा ? न तावत्
श्रोत्रेण; तथा प्रतीत्यभावात् । नहि शब्दवत् श्रोत्रे ध्वनयः प्रतिभासन्ते; विप्रति-
पत्त्यभावप्रसङ्गात् । तत्र तत्प्रतिभासाभ्युपगमे च अपरशब्दकल्पनावैयर्थ्यम्, ध्वनीना-
मेव श्रावणस्वभावतया शब्दत्वप्रसङ्गात् । अथ स्पर्शनप्रत्यक्षेण ध्वनयः प्रतीयन्ते,
१० स्वरपरिहितवदनो हि वदन् स्वरसंस्पर्शनेन तान् प्रतिपद्यते; इत्यप्यसाम्प्रतम्; वार्युवत्
तात्वादिव्यापारानन्तरं विप्रुषामुपलम्भतः शब्दाभिर्व्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्तृमुखप्रदेश
एव तौर्षां प्रक्षयतः श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावाच्च तदु; इत्यन्यत्रैपि समानम् । न खलु
वायवोऽपि तत्र गच्छन्तः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु प्रतीतिः
उभयत्र तुल्या । यथा च स्तिमितभाषिणो न विप्रुषामुपलम्भः तथा वायूपलम्भोपि नास्ति ।

(१) तुलना-“व्यापिनः शब्दा नित्याश्च, ततो व्यापिनित्यत्वाच्छब्दानां व्यञ्जकस्य करणस्य
व्यापारात् सर्वत्रोपलब्धिः घटादयस्तु न व्यापिनः नापि नित्याः तेन ते व्यञ्जकव्यापारेण तावदस्यमुप-
लम्भन्त इति; यथेवं क इदानीं घटादिषु समाव्वासः निश्चयः, यथा ते न नित्या नापि व्यापिन इति
यावता तेषु नित्या व्यापिनश्च भवन्तु ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८५ । “नैनं दोषः सर्वगत-
त्वाद्वर्णानामित्यपि वार्तम्; प्रमाणवलायातत्त्वाभावात् अन्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात् ।”-अष्टश०, अष्ट-
सह० पृ० १०३ । स्या० र० पृ० ६८४ । (२) सामान्यनिरासार्थं विशेषणमुक्तम्-आ० डि० । तुलना-
“तदुक्तं न च सर्वगतोऽमुर्नित्यैकात्माऽत्र युज्यते । वर्णा बाह्येन्द्रियग्राह्यस्वभावत्वाद् घटादिवत् ।”
-पत्रप० पृ० ११ । “न सर्वगतः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् ।”
-प्रमेयक० पृ० ४१५ । “सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् ।”-स्या० र० पृ० ६८४ । (३)
तुलना-प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० र० पृ० ६८४ । (४) श्रोत्रे । (५) तुलना-“ध्वनय एव हि विशिष्टा
वर्णरूपा वाचकाः । तेभ्यो भिन्नोऽर्थान्तरं वाचकं शब्दरूपमस्तीत्येतत्सत्ताग्राहकप्रमाणभावात् अतिवह्नियं
श्रद्धेयम् । किं कारणम् ? यतो न वयमवाचकं ध्वनिं शब्दञ्च वाचकं पृथग्रूपमिति ध्वनिभ्यो भिन्नस्व-
भावमुपलक्षयामः...तस्मात् ध्वनिविशेष एवाकारादिरूपेण स्थितः वर्णल्यः...”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी०
पृ० ३६८ । “यतो ध्वनिविशेष एव वर्ण उच्यते । तेन द्रुतोच्चारितो ध्वनिविशेषः द्रुता गव्यक्तिरुच्यते,
मध्योच्चारितो मध्यगव्यक्तिः, विलम्बितोच्चारिता ध्वनिविशेषो विलम्बिता गव्यक्तिः न तु व्यञ्जकेभ्यो
ध्वनिभ्योऽप्यो गकारः प्रतिभासते...”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८२ । (६) ध्वनीन् । (७) तुलना-
“वायुवत्तात्वादिव्यापारानन्तरं कर्णशानामप्युपलम्भेन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् ।”-प्रमेयक०
पृ० ४१८ । स्या० र० पृ० ६८४ । (८) यद्यत्तात्वादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तत्तच्छब्दाभिव्यञ्जकं
यथा वायुः तथा च विप्रुष इति-आ० डि० । (९) विप्रुषाम् कफकणानाम् । (१०) शब्दाभिव्य-
ञ्जकत्वम् । (११) ध्वनावपि । (१२) श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे । (१३) वायुवत् कर्णोऽपि समाना ।

१ ‘घटादिवत्’ नास्ति आ० । २ श्रोत्रेण श्र०, व० । ३ स्पर्शनेन श्र० । ४ शब्दवत्तत्र ध्वनयः
श्र०, व० । ५ विप्रुषाणाम्-आ० । ६ तेषां आ० । ७ प्रत्यक्षतः प्रक्षयतः व० । ८ विप्रुषोपलम्भः आ० ।

स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र तुल्यम् । एतेन वदतो मुखाग्रस्थिततुलादेः प्रेरणोपलम्भान् अनुमानतो ध्वनीन् प्रतिपद्यते; इत्यपि प्रत्युक्तम्; तद्वद् विप्रुषामपि अतः प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ अर्थप्राप्त्या ध्वनयः प्रतीयन्ते; तथाहि—शब्दस्तावत् नित्यत्वात् नोत्पद्यते, संस्कृतिरेव तु क्रियते, सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्युः । उक्तञ्च—

“शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वात् अन्यथानुपपत्तिः । विशिष्टसंस्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्योऽध्यवसीयते ॥” 5

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६-२७ ।] इति ।

तदप्यचारु; यतः केयं विशिष्टा संस्कृतिर्नाम—शब्दसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभय-संस्कारो वा ? त्रिविधो हि संस्कारो मीमांसकैरिष्टः ।

“स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२ ।] 10

“स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत् ।”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२ ।] इत्यभिधानात् ।

तत्राद्यपक्षे कोऽयं शब्दसंस्कारो नाम—शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः कश्चिद-

(१) वायून्—आ० टि० । (२) ‘मुखाद्विप्रुषो निःसरन्ति मुखाग्रस्थितवस्त्रे आर्द्रतादर्शनात्’ इत्यनुमानात् । (३) विप्रुषो हि मुखाग्रस्थवस्त्रादौ दृश्यन्ते—आ० टि० । (४) ध्वनयः सन्ति विशिष्ट-संस्कृत्यन्यथानुपत्तेः । “तथा हि सन्ति शब्दव्यञ्जका ध्वनयः शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपत्तेः ।”—स्या० २० पृ० ६०५ । (५) “नन्वेवमविशेषे किमिति संस्कारविशेषोत्पत्तिरिवाङ्गीक्रियते न शब्दविशेषोत्पत्तिरत आह—शब्देति । प्रागनुपजातपश्चादुपजातशब्दोपलम्भानुपपत्त्याऽवश्यं कल्पनीये किमिच्छित् प्रत्यक्षतया शब्दोत्पत्तेर्निषेधात् संस्कारकल्पनैव युक्तेति ।”—स्या० २० पृ० ४१८ । प्रकृतपाठः—तत्त्वसं० पृ० ६११ । (६) “इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा । क्रियते ध्वनिमिवादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ॥”—वाक्यप० १।७९ । (७) ‘सा हि स्याच्छब्द’—मी० श्लो० । तत्त्वसं० पृ० ५९८ । अनेनैव रूपेण उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० ४१९ । “साऽभिव्यक्तिः शब्दस्य भवन्ती वायवीयैः संयोगविभागैः शब्दसंस्काराद्वा भवेत् इन्द्रियसंस्काराद्वा उभयस्य वा शब्दस्येन्द्रियस्य च संस्कारात् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ५९९ । (८) “द्विविधो हि वायुः स्थिरोऽस्थिरश्च । तत्र यः स्थिरः सधनान्धकारवत् शब्दमावृत्यास्ते तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्पन्नं वायुना संयोगविभागा उत्पद्यन्ते । तैश्च संयोगविभागैः तस्य स्थिरस्य वायोरपनयः क्रियते स एव च शब्दस्य संस्कारो नान्यः स्वलक्षणपुष्ट्यादिः तस्य नित्यत्वेनैकरूपत्वात् ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ६०१ । (९) तुलना—“भवन्ती वा कारणभ्योऽतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिः आवरणविगमो विज्ञानं वा गत्यन्त-राभावात् । यत एवन्तस्मात् न व्यक्तिः शब्दस्य कारणभ्यः किन्तुत्पत्तिरेव । भवन्ती वा कारणभ्यः सकाशाद् व्यक्तिस्त्वभा भवेत्—पूर्वावस्थापरित्यागेन अतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिर्भवेत्, उपलम्भावरणविगमो वा, शब्दालम्बनं विज्ञानं वा व्यक्तिः, प्रकारत्रयव्यतिरेकेण गत्यन्तराभावात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८५ । इमे सर्वे विकल्पाः—प्रमेयक० पृ० ४१९ । “क एष शब्दसंस्कारः—किमतिशयाधानमनतिशयव्यावर्तनमावरणापगमो वा”—स्या० २० पृ० ६८५ । रत्नाकराव० ४।९।

1 स्तिमितकल्प-आ० । 2 विप्रुषाणामपि आ० । 3-भ्योऽवसी-अ० । 4 एतदप्य-आ० ।

5 संस्कार इन्द्रि-अ० ।

- तिशयः, अनतिशयव्यावृत्तिः, स्वरूपपरिपोषः, व्यक्तिमवायः, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमाम्त्रम्, आवरणविगमो वा ? यदि शब्दस्य उपलब्धिः; कथमसौ ध्वनीनां गमिका शब्दश्रोत्रमात्रभावितात्तर्याः ? तथाप्यन्यनिमित्ताकल्पने हेतुनामनवस्थितिः । आत्मभूतः कश्चिदतिशयः अनतिशयव्यावृत्तिर्वा; इत्यत्रापि अतिशयैः—
- 5 दृश्यस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिश्च अदृश्यस्वभावखण्डनमेव । 'ते' च तौ तो भिन्ने, अभिन्ने वा विधीयेते ? यदि भिन्ने; तदा तत्करणे शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्था अस्य अश्रुतिः स्यात् । अथ अभिन्ने; तर्हि शब्दस्यापि तद्वत् कार्यतानुप-
 10 ज्ञादनित्यत्वप्रसक्तिः । 'यो हि यस्मादभिन्नस्वभावः तत्करणे तस्यापि करणम् यथा अतिशयानतिशयव्यावृत्तिस्वरूपस्य, ताभ्यामभिन्नस्वभावश्च शब्द इति ।
- किञ्च, श्रोत्रप्रदेश एव अर्थं ध्वनिभिः संस्कारः 'क्रियेत, सर्वत्रापि वा ? प्रथमं-
 पक्षे तावन्मात्रक एव शब्दः स्यात् न सर्वगतः । तस्यैव अन्यत्र तद्विपर्ययरूपतया अव-
 स्थाने दृश्यादृश्यत्वप्रसङ्गान्निरंशताव्याघातः । दृश्येतररूपता चैकस्य ब्रह्मवाद् समर्थयेते,
 चेतनेतररूपतयापि एकस्य तद्वदवस्थित्यविरोधात् । घटादेरपि चैवं सर्वगतत्वानुपपन्नः,
 सोऽपि हि दृश्यप्रदेशे दृश्यः अन्यत्र चादृश्य इति वदतो न वक्तुं वञ्चीभवेत् । सर्वत्र
 15 चार्थं संस्कारे सर्वत्र सर्वदा उपलब्धिः स्यात्, न वा कचित् कदाचिद् विशेषात् ।
- स्वरूपपरिपोषोऽप्यनुपपन्नः; नित्यस्य स्वभावाऽन्यथाकरणसंभवात् । करणे वा

- (१) शब्दोपलब्धेः । (२) शब्दश्रोत्रव्यतिरिक्त-आ० टि० । (३) तुलना—“तत्र नातिशयोत्यतिः अनित्यताप्रसङ्गात् तस्याः पूर्वापररूपहान्युपजननलक्षणत्वात् ।”—प्रमाणवा० स्व० ११२६५। “विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिविभाव्यते । नित्यस्यातिशयोपत्तिविरोधात्स्वात्मनाशवत् ।”—तत्त्वा-
 र्थसं० पृ० २३८ । (४) “अतिशयो दृश्यस्वभाव एव अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव, ते
 चेत्ततोऽप्ये; तत्करणेऽपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुतिः । अथानन्ये; तदा शब्द-
 स्यापि कार्यतया अनित्यत्वानुपपन्नः ।”—प्रमेयक० पृ० ४१९ । स्या० २० पृ० ६८५। (५) अदृश्यः सन्
 अतिशये जाते दृश्यो जातिः—आ० टि० । (६) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिः । (७) शब्दता-
 आ० टि० । तुलना—“विशिष्टसंस्कृतिः सा हि न शब्दव्यतिरेकिणी । शब्दस्याज्ञेयताप्राप्तेः ततः
 शब्दोऽपि जायते ।”—तत्त्वसं० का० २५७० । (८) अतिशयोत्पादने अनतिशयव्यावृत्तौ वा ।
 (९) शब्दस्य-आ० टि० । (१०) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिवत् । (११) शब्दः कार्यः कार्यरूपा-
 भ्यामतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिभ्यामभिन्नस्वभावत्वात् । (१२) शब्दस्य । (१३) “श्रोत्रप्रदेश एव
 चास्य संस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः न सर्वगतः स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ४१९ । (१४) शब्दस्य ।
 (१५) श्रोत्रप्रदेशादन्यत्र (१६) अदृश्यरूपतया अशब्दरूपतया वा । (१७) शब्दस्य दृश्यादृश्यत्ववत् ।
 • (१८) शब्दस्य । (१९) तुलना—“सर्वेषामुपलम्भः स्याद् युगपद्व्यापिता यदि ॥ संस्कृतस्योपलम्भे च
 कः संस्कृताविकारिणः ।”—प्रमाणवा० ३।१५३-५४ ।

- 1-वृत्तिस्तु ब०, थ० । 2-तौ च ततो भिन्नौ अभिन्नौ वा आ० । 3-भिन्नौ आ० ।
 4-अभिन्नौ आ० । 5-वृत्तेः थ० । 6-तत्कारणे थ० । 7-एवध्व-थ० । 8-क्रियते आ० । 9-तः
 स्यात् दृ-थ० । 10-दृष्टप्र-थ० । 11-चित् स्वरूप-थ० ।

अतिशयपक्षभाविदोषानुपङ्गः । नापि व्यक्तिमर्वायः; अनभ्युपगमात्, अन्यथा शब्दस्य सामान्यादिरूपताप्रसङ्गः । अत एव न तर्द्धहणापेक्षग्रहणता । नापि व्यञ्जकसन्निधि-
मात्रम्; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तुभिः सर्वशब्दानां ग्रहणप्रसङ्गात् । आवरणविगमरूपे
तु तत्संस्कारे युगपन्नखिलशब्दानामुपलब्धिः स्यात् । प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादय-
मदोषः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; तेषां तद्व्यङ्ग्यत्वस्यापास्तत्वात् ।

5

मा भूतर्हि शब्दसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, इन्द्रियसंस्कारस्तु भविष्यति । तदुक्तम्—
“अर्थापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठानदेशतः । शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्रं तेनासंस्कृतशङ्कुलि ॥१॥
अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया । अतोऽधिष्ठानभेदेन ^{१२}संस्कारनियमः स्थितः ॥२॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९-७१] इति;

तदप्यविचारितरमणीयम्; ^{१३}इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि सकृत् संस्कृतस्य श्रोत्रस्य युगपन्नखिल-
शब्दप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् । नहि अञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं स्वविषयं नीलधवल-
दिक् कञ्चित् पश्यति कञ्चिन्नेति, बलैतलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादिव-
र्णां शृणोति काञ्चिन्नेति नियमो दृष्टः, येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

10

(१) शब्दोऽपि व्यक्तिषु समवैति—आ० टि० । (२) यदि शब्दः व्यक्तिषु समवेयात् तदा । (३)
सामान्यं हि व्यक्तिषु समवैति—आ० टि० । (४) आदिपदेन संयोगादयोऽनेकस्थाः पदार्था ग्राह्याः । (५)
सामान्यरूपादिप्रसङ्गादेव—आ० टि० । (६) व्यक्तिग्रहणापेक्षया स्वज्ञानजनकता । (७) शब्दसंस्कारः ।
तुलना—“तदुपावरणानाञ्च व्यक्तिस्ते विगमो यदि । अभावे करणग्रामसामर्थ्यं किञ्च तदभवेत् ॥” —प्रमा-
णवा० १२६६ । (८) “अधिष्ठानम्—कर्णशङ्कुलि । तत्संस्काराद्वारेण श्रोत्रस्य संस्कारो न केवलस्य ।
तेनासंस्कृताधिष्ठानत्वाच्च विदूरस्थान्यचित्तसुप्तमूर्च्छितानां श्रोत्रं न शृणोति । असंस्कृता कर्णशङ्कुलि
यस्य न तथोक्तम् । अधिष्ठानदेशतः इति सप्तम्यर्थं तसिः । “यद्यप्यधिष्ठानसंस्कारकारिणो नादा-
स्तद्देशेन्द्रियसंस्कारका वा, तथापि प्राप्ता एव सन्तः संस्कारभाजि पदार्थे संस्कारं कुर्वन्ति ताप्राप्ता
इत्यतो न सर्वपुरुषाधिष्ठानादिसंस्कारः...” —तत्त्वसं० पृ० पृ० ६०६ । (९) सप्तमी—आ० टि० ।
सप्तम्यर्थे पञ्चमीविभक्तिरित्यर्थः । (१०) ‘अतो न श्रोष्यति’—स्या० २० पृ० ६८५ । (११) यस्यैव
कर्णदेशं ध्वनिः प्राप्तः तस्यैव श्रोत्रसंस्कारः—आ० टि० । ‘अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनिना श्रोत्रसंस्क्रिया’
—स्या० २० पृ० ६८६ । (१२) ‘संस्कारनियमस्थितिः’—मी० श्लो० । प्रमेयक० पृ० ४२४ ।
‘संस्कारनियमः स्थितः’—तत्त्वसं० पृ० ६०६ । स्या० २० पृ० ६८६ । (१३) तुलना—“इन्द्रियस्य
स्यात्संस्कारः शृणुयान्निखिलञ्च तत् । संस्कारभेदभिन्नत्वादेकार्थनियमो यदि ॥ अनेकशब्दसंघाते
श्रुतिः कलकले कथम् ॥” —प्रमाणवा० ३ । २५५-५६ । “तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयनं संस्कारः
शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा ।” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ । “इन्द्रियसंस्कारस्यान्मीलनालोकादेः सकृदिन्द्रि-
यसम्बन्धयोग्यसर्वार्थोपलब्ध्यनकूलसंस्कारजनकत्वं दृष्टं तद्वद्व्यापुर्पि सकृदेव सर्वशब्दोपलब्ध्यनकूलं
श्रोत्रे संस्कारमादध्यात् तथा च सर्वशब्दोपलब्धिः स्यात् ॥” —तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४०५ । “नन्वेवमपि
अशेषशब्दोपलम्भप्रसङ्गः, संस्कृते हि श्रोत्रे सर्वेषां सान्निध्यात् ॥” —प्रश्न० ध्यो० पृ० ६४८ । (१४)
“बलातैलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादीन् शृणोति काश्चिन्नेति नियमो दृष्टः ॥” —
प्रमेयक० पृ० ४२४ । सम्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० २० पृ० ६८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७७B ।

1—रो भक्तिः अ० । 2 शृणोतीति नियमो आ०, व० ।

“यथा घटादेदीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते । चतुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्यात् श्रोत्रसंस्कृतेः ॥
न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण संस्कृतिः । उत्पत्तावपि तुल्यत्वात् शक्तिसत्राप्यतीन्द्रिया ॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३] इति;

प्रदीपाद्यनुगृहीतचक्षुषा युगपद् घटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेण एकदा अनेक-
शब्दग्रहणप्रसङ्गात् । प्रयोगैः—श्रोत्रम् एकेन्द्रियग्राह्याऽभिन्नेदेशस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियत-
संस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽप्यभिव्यक्तिर्वदते ।

अस्तु तर्हि उभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, तत्र उक्तदोषासंभवात् । तदुक्तम्—

“द्वयसंस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वचः । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६-८७] इति;

तदप्युक्तम्; उक्तदोषानुषङ्गादेव; तथाहि—यदा एकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं
वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णानपि प्रतिपद्यते, संस्कृतश्च वर्णं सर्वत्र सर्वदा स्थित-
त्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न स्यात् तदात्मकत्वात्तस्य ।

ततो नित्यैकरूपत्वे शब्दस्य आवायवारकभावस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य
वाऽनुपपत्तेः नावरणकृता प्रागुच्चारणादस्याऽनुपलब्धिः । अतः तात्त्वादिव्यापारान-

(१) “कीदृशं पुनर्वर्णनामभिव्यञ्जकत्वम् ? तदर्थंयति यथेति । तेजसस्वाक्षुषस्य आप्याय-
नानुग्रहं कुर्वन् प्रदीपो यथा चाक्षुषाणां घटादीनां व्यञ्जको भवति तथा ध्वनयोऽपि श्रोत्रसंस्कारं कुर्वन्तः
शब्दस्याभिव्यञ्जका भविष्यन्तीति ।”—न्यायर० । उद्धृतविमर्—प्रमेयक० पृ० ४२४ । तत्त्वसं० पृ०
६०२ । (२) श्रोत्रसंस्कृतेरनुग्रहाद् ध्वनिः शब्दस्य व्यञ्जकः—आ० टि० । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ७०८
टि० १८ । (४) “श्रोत्रसंस्कारवैकल्याच्च सर्वैः पुरुषैः श्रूयते, शब्दसंस्कारवैकल्याच्च न सर्वैः शब्दः,
इति ।”—तत्त्वसं० पृ० ६१२ । (५) “मृषा दोषद्वये वचः”—मी० श्लो० । स्या० २० पृ० ६८७ ।
प्रकृतपाठः—तत्त्वसं० पृ० ६११ । प्रमेयक० पृ० ४२४ । (६) शब्दसंस्कारः श्रोत्रसंस्कारः—आ० टि० ।
(७) तुलना—“तथाहि संस्कृता श्रोत्रवर्णा यद्व्यञ्जकैः पुरा । न नष्टास्ते व्युत्तिप्राप्तेः सर्वैः सर्वैश्चुतिस्ततः”
—तत्त्वसं० का० २५७३ । “यदैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्
प्रतिपद्यते ।”—प्रमेयक० पृ० ४२५ । स्या० २० पृ० ६८७ । (८) तदाकाशदेशे सर्वेषामपि वर्णानां व्यापितया
नित्यतया च विद्यमानत्वात् । (९) यदि संस्कृतं वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन न जानाति तदा ।
(१०) नित्यव्यापिरूपत्वात् । (११) तुलना—“प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ प्रागु-
च्चारणात्तास्ति शब्दः । कस्मात् ? अनुपलब्धेः । सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः । एतन्नोपपद्यते,
कस्माद् ? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । अनेन आवृतः शब्दो नोपलभ्यते असन्नि-
कृष्टेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यते इति सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति ।”
तस्माच्च व्यञ्जकाभावाद्यग्रहणमपि स्वभावादेवेति । सोऽयमुच्चार्यमाणः श्रूयते श्रूयमाणश्चाऽभूत्वा

न्तरमस्योपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् तत्कार्यत्वमेव अभ्युपगन्तव्यम् । ननु-
खननाद्यनन्तरं व्योम उपलभ्यते तदभावे च नोपलभ्यते, नैव तत्तत्कार्यम्, अतोऽ-
नैकान्तिकत्वमस्य । उक्तञ्च—

“अनैकान्तिकता तावाद्धेतूनामिह कथ्यते । प्रयत्नानन्तरं दृष्टिर्नित्येऽपि न विरुद्धयते ॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९] 5

“आकाशमपि नित्यं सद् यदा भूमिजलावृतम् । व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः ॥
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि विद्यते । तेनाऽनैकान्तिको हेतुर्षुदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥
अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते । शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते ॥”

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०—३३] इति^३;

तदप्यसुन्दरम्; एकैस्वभावत्वस्य आकाशेऽप्यसिद्धत्वात् । तद्धि तत्स्वभावं सत् स्ववि- 10
षयज्ञानजननैकस्वरूपम्, तद्विपरीतं वा स्यात् ? यदि तज्जननैकस्वरूपम्; तदा तस्य
न खननाद्यनन्तरमेव उपलब्धिः, किन्तु पूर्वमपि स्यात् । तद्विपरीतस्वरूपत्वे तु न
कदाचानाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात् । विशेषे वा तदैकरूपताव्याघातः । प्रत्यभि-
ज्ञानाच्छब्दे प्राक्सत्त्वसिद्धिश्च लूनपुनर्जातनखकेशादावपि सामाना । कथञ्चैवं ध्वनीना-
मपि प्राक्सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् ? य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि 15
इति प्रतीतेः । तथा च व्यङ्ग्यबद् व्यञ्जकस्यापि सर्वत्र सद्भावासिद्धेः तांत्वादिव्यापारवै-
यर्थ्यम्, सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिदच स्यात् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्—“अन्यदापि यत् शब्दस्थोच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उक्त्वा-

भवतीत्यनुमीयते । ऊर्ध्वञ्चोच्चारणान्न श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान्न श्रूयते इति । कथम् ?
आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम् । तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मकः शब्द इति ।” न्यायभा० २।२।१८ ।

(१) तात्वादिव्यापाररूपोच्चारणकार्यत्वम् । शब्दः अनित्यः तात्वादिव्यापाररूपप्रयत्नान्त-
रीयकत्वादिति । (२) व्योम । (३) खननकार्यम् । (४) प्रयत्नान्तरीयकत्वादित्यस्य हेतोः । (५)
“तावच्छब्देनासिद्धतापि वक्ष्यत इति प्रयत्नानन्तरदर्शनादित्यस्य तावदनैकान्तिकत्वं दर्शयति—प्रयत्नेति ।
दर्शनं हि तत्र सत्तां गमयति न कालान्तरे निषेधति, तेन विपक्षेऽपि कालान्तरे सत्त्वसंभवात्तत्र दर्शनम-
नैकान्तिकमिति ।” न्याय० । (६) ‘प्रयत्नानन्तरा दृष्टिः’—मी० श्लो० । (७) उपलब्धिः—आ०
टि० । (८) व्योमज्ञानम्—आ० टि० । (९) ‘दृश्यते’—मी० श्लो० । (१०) ‘दर्शनम्’—प्रयत्नान्त-
रज्ञानम्—तत्त्वसं० पृ० ५० ६४० । ‘दर्शनात्’—मी० श्लो०, तत्त्वसं० । (११) भूम्याद्यावृतमपि
आकाशम् । (१२) उच्चारणात् प्राक् । (१३) उद्धृता इमे श्लोकाः—प्रमेयक० पृ० ४२२ । स्या० २०
पृ० ६८९ । द्वितीयतृतीयौ—तत्त्वसं० पृ० ६४० । (१४) तुलना—“एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा”-
प्रमेयक० पृ० ४२२ । स्या० २० पृ० ६८९ । (१५) आकाशं नित्यैकस्वभावम् । (१६) खननात्
प्रागनुपलब्धिसमये स्वविषयज्ञानाज्जननस्वभावत्वे खननान्तरञ्च स्वविषयज्ञानजननात्मकत्वे । (१७)
आकाशस्य नित्यैकरूपता न स्यादिति भावः । (१८) शब्दवत् । (१९) ध्वन्युत्पत्तावेव तात्वादीना-
मुपयोगः ते च सर्वदा सन्तीति ।

रणत्वात्' इत्यादि; ध्वनावप्यस्य समानत्वात् । तथाहि—अन्यदापि यद् ध्वनेरुच्चारणं तत्तस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात् इदानीं तदुच्चारणवत् ।

एतेन “तावत्कालं स्थिरञ्चैनं कः पश्चाच्चाशयिष्यति ।” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६] इत्येतदपि प्रत्युक्तम्; ध्वनेरपि प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वोत्तरकालद्वयावस्थायिनः प्रसिद्धस्य

५ परचात् केनचिन्नाशानुपपत्तेः ।

यदप्यभिहितम्—‘विवादाध्यासितः कालो गादिसम्बद्धः कालत्वात्’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; गादेः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य कालान्तरेऽनुपलम्भतोऽभावसिद्धेः; तत्र तत्सद्भावावेदकानुमानस्य बाधितपक्षतया कालात्ययापदिष्टहेतुतया च अगमकत्वात् । विद्युदादेरपि चैवं नित्यत्वं स्यात्; तथाहि—विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिसम्बद्धः 10 कालत्वात् विद्युदादिसम्बद्धकालवत् । प्रतीतिविरोधोऽर्थत्राप्यविशिष्टः । अत एव ‘नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्’ इत्याद्याप्युक्तम्; उदात्तादिभिर्ध्वनिधर्मैः अनैकान्तिकत्वाच्च, तेहि श्रावणत्वेऽपि अनित्या भवद्भिः प्रतिज्ञाताः । 12 तेषामश्रावणत्वे श्रोत्रेण शब्दगत-धर्मतया उपलम्भो न स्यात्, यद्श्रावणस्वरूपं न तस्य शब्दधर्मतया श्रोत्रेणोपलम्भः यथा नीलत्वदेः, अश्रावणस्वरूपाश्च उदात्तादयो ध्वनिधर्मा इति । तथा वीणादिशब्दैश्च 15 अनैकान्तिकत्वम्; तेषामप्यनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्ध्यः’ इत्यादि; तदपि न साधीयः; गोशब्दलिपिबुद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वात्, सा हि ‘गौः’ इत्युत्पद्यते न च सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्ध्यैर्कविषया इति । नचैवं विषयभेदः कापि प्रसिद्ध्यति; सैकलबुद्धीनामभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात् । तथाहि—देशकालभिन्नवस्तुबुद्ध्यः एकविषया नैवाऽनेकविषया

(१) पू० ६९९ पं० ५ । (२) ध्वनेरभिव्यञ्जकम् । (३) उद्धृतोऽयम्—न्यायबा० ता० पू० २५४ । (४) तुलना—तत्त्वसं० पू० १५५ । तत्त्वचि० पू० ३७९ । (५) पू० ६९९ पं० ९ । (६) तुलना—‘गादेरुच्चारणादनन्तरं विनाशस्य प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वेन प्रतिपादनात्’—स्या० २० पू० ६८९ । (७) कालान्तरे उच्चारणानन्तरम् । (८) शब्देऽपि । (९) पू० ६९९ पं० ११ । (१०) तुलना—‘उदात्तादिभिर्धर्मैरनैकान्तिकत्वात् । ते हि श्रावणग्राह्यत्वेऽपि न नित्या भवद्भिरङ्गीकृताः । तेषामश्रावणत्वे तु नीलादीनामिव श्रोत्रेणोपलम्भो न भवेत् । वीणादिशब्दैश्चानैकान्तिकत्वम्, तेषां श्रावणत्वेऽयमित्यत्वात्’—स्या० २० पू० ६९० । (११) चशब्देन प्रतीतिविरोधः समुच्चोयते । (१२) उदात्तादीनाम् । (१३) भवमते—आ० टि० । (१४) पू० ६९९ पं० १२ । (१५) तुलना—‘गोशब्दलिपिबुद्ध्या हेतो-रनैकान्तिकत्वात् । सा हि गौरित्युल्लेखनोत्पद्यते न चैकगोशब्दविषया देशकालादिभिन्नत्वाद् गोशब्दलि-पीनाम् ।’—स्या० २० पू० ६९० । (१६) अन्या हि लिपिबुद्धिः अन्या हि गोशब्दबुद्धिः—आ० टि० । (१७) तुलना—‘अन्यथा सर्वबुद्धीनामेकालम्बनता भवेत् । क्रमभावविरोधश्च शक्तकारणसन्निधेः ॥’—तत्त्वसं० का० २४६६ । स्या० २० पू० ६९० ।

१ तदनुच्चा—ब० । २—तयो श्रावणोप—ब०, तयोपलम्भो आ० । ३ गौरित्यु—ब० । ४—भिन्ना वस्तु—श्र० । ५ त्वानेक—श्र० ।

वस्तुबुद्धित्वात् सम्प्रत्युत्पन्नघटबुद्धिवत् । ततश्च अखिलवस्तुबुद्धीनाम् एकघटलक्षण-
वस्तुविषयत्वे घटबुद्धिवमेव स्यात् न गोशब्दबुद्धित्वम् । अतः कथं देशादिभिन्नगोश-
ब्दव्यक्तिबुद्धीनां धर्मित्वम्, कथं वा गोशब्दबुद्धित्वं हेतुः, सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धि-
वदिति दृष्टान्तो वा सिद्ध्येत् यतोऽनुमानं स्यात् ? अथ गवाशवादिवस्तुभेदस्य प्रत्यक्ष-
सिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामेकघटविषयत्वे साध्ये 'वस्तुबुद्धित्वात्' इत्यस्य कालात्ययापदिष्ट-
त्वम् अग्रेनुष्णत्वे द्रव्यत्ववदित्युच्यते; यद्येवम्, उदात्तादिधर्मभेदेन गोशब्दव्यक्तिभे-
दस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामपि एकविषयत्वे साध्ये 'गोरित्युत्पद्यमानत्वात्'
इत्यस्यापि कालात्ययापदिष्टत्वं स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'ह्यस्तनो गोशब्दोऽद्याप्यनुवर्त्तते' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्;
ह्यस्तनाऽद्यतनगोशब्दयोर्भेदस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वेन तदभेदप्रसाधनस्य कालात्ययापदिष्ट-
त्वात् । कथमन्यथा ह्यस्तनाऽद्यतनविद्युत्प्रकाशयोरपि एकत्वञ्च स्यात् । शक्यं हि वक्तुं
ह्यस्तनो विद्युत्प्रकाशोऽद्याप्यनुवर्त्तते विद्युत्प्रकाशत्वात् अद्यतनविद्युत्प्रकाशवदिति । अथ
तीव्रा 'विद्युत्' तीव्रतरा तीव्रतमेति प्रत्यक्षतः तीव्रादिधर्मात्मकतया विद्युत्प्रकाशस्य विभि-
न्नस्वभावस्य प्रतीतेः न तदैक्यप्रसाधकमनुमानं गमकम्; तदन्यत्रापि समानम्—गोश-
ब्दस्यापि तीव्रादिधर्मोपेतस्य श्रोत्रप्रत्यक्षे प्रतिभासनात् । तद्धर्मस्य अत्रौपाधिकत्वे
विद्युत्पि अस्यैव तदस्तु विशेषाभावात् । अथ शुद्धायाः विद्युतः कदाचिदप्यसवेदनात्
न तत्रास्यौपाधिकत्वम्; तदेतत् शब्देऽप्यविशिष्टम्, नहि तद्धर्मशून्यः 'सोपि स्वप्नेऽपि
प्रतिभासते । एतेन 'अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽप्यासीत्' इत्यादि^{११} प्रतिव्यूढम्; न्यायस्य
समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'शब्दो वाचको दीर्घकालावस्थायी' इत्यादि; तदपि चेष्टया^{१२} अनैका-
न्तिकम्, तस्याः सम्बन्धबलेन अर्थमतिहेतुत्वेऽपि दीर्घकालावस्थायित्वाभावात् ।

एतेन 'यस्त्वस्थिरः स सम्बन्धबलेन नार्थं बोधयति' इत्यादि^{१३} प्रत्याख्यातम्;

(१) पृ० ७०० पं० ६ । (२) तुलना—'ह्यस्तनाद्यतनाः सर्वे गोशब्दप्रत्यया इमे । नैकार्थाः
क्रमसम्भूते रूपगन्धादिवुद्धिवत् ॥'—तत्त्वसं० का० २४६५ । स्या० २० पृ० ६९० । (३) तुलना—
'स्वाभाविकत्वावधारणन्यायस्य यत्र तत्र प्रसिद्धस्य अत्रापि तुल्यत्वात् । न हि पयसि सैत्यव्रवत्वे तेजसि
वा भास्वरत्नोष्णत्वे स्वाभाविके इत्यत्रान्यत्प्रमाणं प्रत्यक्षात्'—स्या० २० पृ० ६९० । (४) उदात्ता-
दिधर्मस्य । (५) शब्दे । (६) तीव्रतीव्रतरादिधर्मस्य । (७) तीव्रतीव्रतरादिसर्वधर्मशून्यायाः । (८)
विद्युति । (९) उदात्तानुदात्तादिधर्मरहितः शुद्धः । (१०) शब्दोऽपि । (११) पृ० ७०० पं० ७ ।
(१२) पृ० ७०० पं० ८ । (१३) आह्वानादौ अङ्गुल्यादिकृतया—आ० टि० । तुलना—'चेष्टयाज्ञै-
कान्तिकत्वात्'—स्या० २० पृ० ६९२ । (१४) पृ० ७०० पं० ९ ।

१ यद्येवम् श्र० । २-क्षसि—श्र०, व० । ३ विद्युत्तीव्रतमेति श्र० । ४ श्रोत्रप्रत्यक्षप्र—श्र०,
श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्र—व० । ५-न्यः स्वापे स्वप्नेपि श्र० । ६ बोधयति व० ।

चेष्टायाः सम्बन्धबलेन अर्थबोधकत्वेऽपि तादात्मिकनिमित्तत्वसंभवात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

“काञ्चित्कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [] इति;

यतः कञ्चित्कालवस्थायित्वं किम् उपलम्भकालवस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्त्तमान-
5 कालवस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे चेष्टाया विबुदादेश्च सर्वकालमपि स्थायित्वप्रसङ्गः,
तथाविधकियत्कालस्थिरत्वस्य तत्राप्यविशेषात् । अतीतवर्त्तमानकालवस्थायित्वश्चास्यै
न कुतश्चित् सिद्ध्यति इत्युक्तं प्रागेव । हेतुश्चात्रासिद्धः; शब्दस्य कादाचित्कतया विनाश-
हेतुशून्यत्वानुपपत्तेः । यत् कादाचित्कं न तत् विनाशहेतुशून्यम् यथा विबुदादि, कादा-
चित्कश्च शब्द इति ।

10 यदपि—‘विवादाध्यासितः कालो गादिशब्दशून्यो न भवति’ इत्याद्युक्तम्; तदपि
विबुदादौ समानत्वादयुक्तम् । तथाहि—विवादाध्यासितः कालो विबुदादिशून्यो न
भवति कालत्वात् तत्सत्त्वोपेतकालवत् । प्रत्यक्षबाधनम् उभयत्र तुल्यम् ।

यदप्युक्तम्—‘नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः’ इत्यादि; तदप्यविचा-
रितरमणीयम्; धूमादिवदनित्यस्याप्यस्य साहचर्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । न खलु
15 ‘य एव सङ्केतकाले दृष्टः तेनैव अर्थप्रतीतिः कर्तव्या’ इति नियमोऽस्ति, महानसदृष्ट-
धूमसदृशादपि पर्वतधूमाद् बह्विप्रतिपत्तिप्रतीतेः । न च पर्वतमहानसप्रदेशवर्तिन्योः
धूमव्यक्त्योरैक्यं संभवति; प्रतीतिविरोधात्, सर्वस्य सर्वगतत्वानुपपन्नाच्च । अथ धूम-
सामान्यस्य अत्र गमकत्वम्; शब्दसामान्यस्य अन्यत्र वाचकत्वं किन्न स्यात् ? ननु
शब्दसामान्यस्य वाचकत्वे शब्दस्य किमायातम् ? तर्हि धूमसामान्यस्याप्यनुमापकत्वे
20 धूमस्य किमायातम् ? अथ धूमात्तस्यैऽभेदात् तदनुमापकत्वे धूमस्याप्यनुमापकत्वम्;
तर्हि शब्दात् तत्सामान्यस्याप्यभेदात् तद्वाचकत्वे तस्यापि वाचकत्वमस्तु अविशेषात् ।
अथ शब्दे सामान्यमेव नास्ति तत्कथमस्य वाचकत्वमुच्यते; धूमेऽपि तर्हि तन्नास्ति तत्कस्य

(१) उच्चारणानन्तरं यदुपलभ्यते स उपलम्भकालः—आ० टि० । (२) शब्दस्य । (३) तुलना—
“कादाचित्कत्वाच्च शब्दे तदसिद्धम्”—स्या० २० पृ० ६९२ । (४) पृ० ७०१ पं० ३ । (५) तुलना—
“तदपि विबुदादौ तुल्यत्वादयुक्तम्”—स्या० २० पृ० ६९२ । (६) शब्दे विबुदादौ च । (७) पृ०
७०१ पं० ४ । (८) तुलना—“अनित्यत्वेऽपि सादृश्योपादाने सत्यर्थप्रतिपत्तेर्भावात् । तत्र यत्र गकारो-
कारविसर्जनीयानामित्यम्भूतानुपूर्वीमुपलभसे तत्र तत्र गोत्वविशिष्टोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः प्रतिपादयितव्य-
श्चेति सङ्केतग्रहे सति तथाविधं शब्दमुपलभमानः तमर्थं प्रतिपद्यते प्रतिपादयति चेति ।”—प्रश० व्यो०
पृ० ६४९ । “धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्य अवगतसम्बन्धस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसंभवात् ।”—
प्रमेयक० पृ० ४०९ । सम्मति० टी० पृ० ३३ । स्या० २० पृ० ६९२ । प्रमेय० ३ । १०० । (९) यदि महान-
सोपलब्धैव धूमव्यक्तिः पर्वतेऽपि स्यात्तदा । (१०) धूमसामान्यस्य । (११) शब्दसामान्यस्य शब्दत्वस्य ।

गमकत्वमुच्येत ? अथ तद्वेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् 'धूमो धूमः' इत्यसन्दिग्धाऽवाध्यमानाऽनुगतप्रतीतिदर्शनात् अस्ति तत्र तत् ; तदेतदन्यत्रापि समानम् । ननु शब्दव्यक्तीनां प्रत्यक्षतो भेदप्रसिद्धेः तत्र इष्टमेव शब्दत्वसामान्यम्, गादीनां तु एकैकव्यक्तिकत्वेन भेदाभावान्न तत्र गत्वादिसामान्यं संभवतीति तत्र तस्य वाचकत्वाभावः; तदप्यसाम्प्रतम् ; तेषामपि उदात्तादिभेदतो नानाव्यक्तिकत्वसंभवाद् गत्वादिसामान्यसद्भावोपपत्तेः ।
 'ध्वनिधर्मा एव उदात्तादयः' इति च मनोरथमात्रम् ; तेषां तद्धर्मत्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् । ततोऽनित्यपक्षेऽपि इत्थं शब्दादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तेः नार्थापत्तितोऽपि तन्नित्यत्वसिद्धिः । अतोऽयुक्तमुक्तम्—“अर्थापत्तिरियं चोक्ता” [सी० श्लो०] इत्यादि । प्रसाधितञ्च नित्यसम्बन्धपरीक्षावसरे अनित्यत्व एव शब्दस्य वाचकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमो-
 विलसितम् ; तस्य आबालमबाधप्रतीतिगोचरचारितया अपह्नोतुमशक्यत्वात् । एकस्य हि स्वसामग्रीतो यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं यमलंकवत् । तच्च व्यक्तीभ्यो भिन्नमभिन्नञ्च सामान्यपरीक्षाप्रघटके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिति कृतं पुनः प्रसङ्गेन । ततो यद् यद्रूपतया कुतश्चिदपि प्रमाणान्न प्रतीयते न तत्तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगद् अद्वैतरूपतया, सर्वथा नित्यस्वभावतया न प्रतीयते च कुतश्चित्प्रमाणात् शब्द-
 इति । तदनित्यस्वभावतायां तु प्रमाणसद्भावात् तद्रूपतयाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

तच्च प्रमाणम्—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः, कृतकश्चायमिति । न चेदमसिद्धम् ; तथाहि—कृतकः शब्दः, कारणान्वयव्यतिरेकानु-

(१) महानसीयपर्वतीयादिभेदेन धूमव्यक्तीनामनेकत्वादस्ति तत्रानुगतं धूमत्वाख्यं सामान्यम्, गादिशब्दस्तु एकः अतः कथं तत्र शब्दत्वम् व्यक्तेरभेदस्य जातिबाधकत्वादित्याशयेन शङ्कते अथेति ।
 (२) धूमत्वाख्यं सामान्यम् । (३) गत्वादौ । (४) गादीव्यक्तीनामपि । (५) उदात्तादीनाम् । (६) पृ० ७०२ पं० ९ । (७) तुलना—“स्वहेतोरेकस्य हि यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं न तु स एव । स च व्यक्तीभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च ।”—प्रमेयक० पृ० ४११ । (८) पृ० २८९ । (९) तुलना—“नित्यत्वेऽपि शब्दानां सर्वेषां स्यात् सकृच्छ्रुतिः । समाक्षग्रहयोग्यत्वात् व्यापिनां समवस्थितेः ॥ तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न संभवति । सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितकशब्दश्रुतिर्न स्यात् ।”—सिद्धिर्वि० पृ० ५५४ । “स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् । व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः ॥ वंशादिस्वरवारायां संकुलं प्रतिपत्तितः । क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्तः सकृद्ग्रहणविभूतः । तात्वादिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते । को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ॥”—न्यायवि० का० ४२२-२४ । (१०) तुलना—“अनित्यः शब्दः इत्युत्तरम् । कथम् ? आदिमत्त्वादैन्ययकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥ आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति । कारणवदनित्यं दृष्टम् । संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादित्य इति । का पुनरियमर्थदेशना कारणवत्त्वादिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादित्यः शब्दः इति, भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति । सांशयिकमेतत्—किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागी शब्दस्य आहोस्विदभिव्य-

१ भेदसिद्धेः श्र० । २-कत्वे भेदा-आ० । ३ यथा च जगद् श्र० । ४ नित्यत्वस्व-श्र० ।
 ५ कुतश्चेतिप्रमा-श्र० । ६-स्यं यथा व० ।

विधायित्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा घटः, तथा च शब्दः, तस्मात्तथेति । नचेदमप्य-
सिद्धम् ; तात्वाधिकारणव्यापारे सत्येव अस्यात्मलाभोपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात्
मृदण्डादिकारणव्यापारभावाभावयोः घटस्य आत्मलाभाऽलाभोपलम्भवत् । न च तद्व्या-
पारे तदभिव्यक्तेरेव आत्मलाभो न शब्दस्य इत्यभिधातव्यम् ; तस्याः प्रागेव प्रपञ्चतोऽ-
पास्तत्वादिति ॥७॥

- तदेवं वर्णानां पौरुषेयत्वप्रसिद्धौ पदवाक्यानामनायासतः तत्प्रसिद्धति तदै-
त्मकत्वात्तेषाम् । नन्वस्तु लौकिकानां तेषां तैत्तिस्त्रिः न वैदिकानामिति चेत् ; न ; तैद-
न्यवैलक्षण्यप्रतीतेः । “य एव हि लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः” [शाबरभा० १।३।३०]
इयंभ्युपगमव्याधातप्रसङ्गाच्च । तदपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च ; न च तदभावोऽ-
सिद्धः ; यतः तत्प्रसाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अन्यद्वा भवेत् ? न तावत्प्रत्यक्षम् ; तस्य
शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन तत्पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्वग्राहकत्वासंभवात् ।

वित्कारणमित्यत आह—ऐन्द्रियकत्वात् इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः । किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽ-
भिव्यज्यते रूपादिवत्, अथ संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति ? संयोगनि-
वृत्तौ शब्दग्रहणात् व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम् । दारुवत्त्वेन दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो
गृह्यते, न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः... इतश्च शब्द उत्पद्यते
नाभिव्यज्यते कृतकवदुपचारात् । तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते तीव्रं सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं
मन्दं दुःखमिति, उपचर्यते च तीव्रः शब्दो मन्दः शब्दः इति ।—न्यायसू०, भा० २।२।१३। “अनित्यः
शब्दः तीव्रमन्दविषयत्वात् दुःखवदिति कृतकवदुपचारादित्यनेन सूत्रेण सर्वानित्यत्वसाधनवर्गसंग्रहः
कृतकत्वग्रहणस्य उदाहरणार्थत्वात् । यथा सामान्यविशेषवतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, उपल-
भ्यस्य अनुपलब्धिकारणाभावे सत्यनुपलब्धेः, गूणस्य सतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् इत्येव-
मादि ।—न्यायवा० पृ० २९० । “तदेवन्तीन्द्रादिभेदभिन्नत्वात्सुखादिवदनित्यत्वं शब्दानाम् । व्यञ्ज-
कानुपलब्धौ चाभूत्वा भवनस्योपलब्धेः कार्यत्वादनित्यत्वं घटादिवत् । तथा परमात्मगुणान्त्ये सति
व्यापकविशेषगुणत्वात् सुखादिवत् ।”—प्रश० व्यो० पृ० ६४९ । “अतो यत्तज्जनितावर्णाद्यात्मा श्रवण-
मध्यस्वभावः प्राक् तस्मादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणामः ।”—अष्टा०, अष्टसह०
पृ० १०८ । “परिणामी शब्दः वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६ । “अनित्यः शब्दः
तीव्रमन्दतादिषमपेक्षितत्वात् सुखदुःखादिवत्”—रत्नाकराव० ४।१ । “तस्माद्वर्णो न नित्योऽनित्यो वा
सत्ये सत्युत्पत्तिमत्त्वात्, अस्मदादिबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति जातिमत्त्वात्, अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वाद्वा,
आत्मैकत्वप्रत्यक्षत्वपक्षे प्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, व्यापकसमवेतप्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, अनात्मप्रत्यक्ष-
गुणत्वात्, अव्याप्यवृत्तित्वात्, बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुगुणत्वात्, भूतप्रत्यक्षगुणत्वात्, उक्तवर्णपक्षशब्द-
प्रवृत्तिनिमित्तातिमत्त्वादित्यादि ।”—तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६० ।

(१) शब्दस्य । (२) तात्वादिव्यापारे । (३) वर्णात्मकत्वात्पदवाक्यानाम् । तुलना—“यदा
च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपणां पदानां
कुतस्ताराज्च तत्समूहस्य वाक्यस्य कुतस्तमाज्च तत्समूहस्य वेदस्येति”—तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६४ ।
(४) पदवाक्यानाम् । (५) पौरुषेयत्वसिद्धिः । (६) तयोः लौकिकवैदिकपदवाक्ययोः । (७)
उद्धृतमिदम्—सम्मति० टी० पृ० ३९ । तौतातित० पृ० १३४ । भाट्टचि० पृ० ४१ ।

किञ्च, अनादिसत्त्वस्वरूपमपौरुषेयत्वम्, तत्कथम् अक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् ?
अक्षाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अनादिकालेनाऽसम्बन्धात् तत्कालसम्बन्ध-
सत्त्वेनाप्यसम्बन्धतः तैज्ज्ञानाऽहेतुत्वात् ।

ननु मा भूत् प्रत्यक्षतस्तदपौरुषेयत्वसिद्धिः, अनुमानानु सा भविष्यति । तच्चा-
वेदस्य अपौरुषेयत्व- नुमानम्—अपौरुषेयो वेदः कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्षमाण- 5
मुरीकुर्वतां मीमांस- कर्तृकत्वाद् व्योमवत् । न चायमसिद्धः; वेदकर्तुः कदाचित् केनचित्
कानां पूर्वपक्षाः— स्मरणाभावात् । सतश्चास्यै तदर्थानुष्ठानसमये अनुष्ठानतृणामनिश्चित-
प्रामाण्यानां तत्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरणं स्यात् । ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते ते अवश्यं

(१) तुलना—“अनादिसत्त्वरूपञ्च अपौरुषेयत्वं कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम्” —प्रमेयक०
पृ० ३९१। (२) अनादिकाल । (३) अनादिसत्त्वरूपाऽपौरुषेयत्वज्ञानाकारणत्वात् । (४) “अपौरुषेय-
त्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति । कथं पुनरिदमवगम्यत अपौरुषेय एव सम्बन्ध इति ? पुरुषस्य सम्बन्धुर-
भावात् । कथं सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम् । ननु चिरवृत्त-
त्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेद्विद्वान्निष्ठानाम् । न हि चिरवृत्तः सन्न स्मर्यते । न च हिमवदादिषु कूपारा-
मादिवदस्मरणं भवितुमर्हति, पुरुषविषयो हि तेषु भवति देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा । न च शब्दार्थ-
वियोगः पुरुषाणामस्ति । स्यादेतत्—सम्बन्धमानव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्तृस्मरणमनाद्रियमाणा
विस्मरेयुरिति; तन्न; यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत् व्यवहारकाले अवश्यं स्मर्तव्यो
भवति । संप्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहृन्नोरर्थः सिद्धयति न विप्रतिपत्तौ । न हि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्व्य-
वहरतः आदैचः प्रतीयेरन् पाणिनिकृतिमननुमन्यमानस्य वा । तथा मकारेण अपिङ्गलस्य न सर्वगुह-
स्त्रिकः प्रतीयेत पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा । तेन कर्तृव्यवहृत्तरी स्मप्रतिपद्येते । तेन वेदे
व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्ता स्यात् व्यवहारस्य च । “तस्मात् कारणादवगच्छामो
न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद्देवाः प्रणीता इति । “तस्मादपौरुषेयः शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः।”
—शाबरभा० १।१।५। पृ० ५३ । बृहती० पृ० १७७ । “यदा चाप्तप्रणीतत्वाच्छब्दोऽयं प्रतिपादयेत् ।
न स्वशक्त्या तदापातत्वं मितौ न स्मर्यते कथम् ॥ यदा हि कश्चित् पदपदार्थसम्बन्धं कृत्वा धर्माधर्म-
प्रतिपादनाय वेदवाक्यानि कृतवान् तदाऽवश्यमसौ सम्बन्धस्य कर्ता, स एव च तैः पदैः वेदवाक्यपरच-
नात्मकं व्यवहारं करोतीति समयव्यवहारयोरेककर्तृत्वं प्रतिपत्तुमिः स्मर्तव्यम्, तथा च वाक्यार्थ-
प्रतिपद्यमानानामवश्यं वाक्यकर्तुरापातत्वं प्रतिपत्तुमिः स्मर्तव्यम्, तदधीनत्वात्तदर्थनिश्चयस्य, न वेदार्थ-
प्रतिपद्यमानाः समयकर्तारं तेन सह वेदकर्तुरेकत्वं तस्य चापातत्वं स्मरन्तो दृश्यन्त इति । “दृष्टे भवतु
मा वाभूत् कर्तृसंप्रतिपन्नता । वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरणादुते ॥ एवं गामानयेत्येवमादिषु मा
नाम समयकर्तुः व्यवहारकर्तृश्च संप्रतिपत्तिर्भूत्, वेदेऽपि प्रतिपत्तिमात्रं विनाऽपि संप्रतिपत्त्या सिद्धयतु
नाम । व्यवहारस्तु योऽग्निहोवाद्यनुष्ठानात्मकः सोऽदृष्टार्थं वाक्यैकप्रमाणको नाऽस्ति वाक्यकारा-
प्तस्मरणे सिद्धयेत्, तदवश्यंस्मर्तव्यस्य वेदानां सम्बन्धानाञ्च कर्तृस्मरणात् योग्यानुपलम्भना-
दभावेऽवधारिते सिद्धं वेदानां सम्बन्धानाञ्च नित्यस्वमित्याह—दृष्ट इति ।”—मी० इलो० न्यायर०,
सम्बन्धा० इलो० १२३, १३० । “कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानाम् ? पुरुषस्य कर्तृस्मरणात् ।”—प्रक०
पं० पृ० १४० । “कर्तृस्मरणाच्चापौरुषेयत्वम्”—भाट्टदी० पृ० ३३। नयवि० पृ० २७९। “स्मर्तव्यत्वे
सत्यस्मरणाद् योग्यानुपलब्धिरस्तस्य कर्तृनुमानासंभवात् समाख्यायाश्च प्रवचननिमित्तत्वावपौरुषेया
वेदा इति ।”—शास्त्रदी० पृ० ६९, ६१६ । (५) वेदकर्तुः । (६) अग्निष्टोमादियज्ञानुष्ठानकाले ।

1 तत्र ज्ञाना—आ०, व० । 2 कदाचित्कालेन चित् श्र० ।

तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति यथा अष्टकार्यानुष्ठानार्थिनः तत्प्रणेतारं मनुम्, वेदविहिता-
र्थानुष्ठाने बहुवित्तव्ययायाससाध्याऽग्निष्टोमादिकर्मलक्षणे प्रवर्तन्ते च प्रेक्षापूर्वकारिणः,
अतस्तेषां महती तत्कर्तृस्मरणापेक्षा । तेहि अदृष्टफलेषु कर्मसु एवं निःसंशयाः प्रवर्त-
न् यदि तेषां तद्विषयः सत्यतानिश्चयः स्यात् । न चासौ तदुपदेष्टुः स्मरणभावे घटते
पित्राद्युपदेशवत् । यथैव हि पित्रादिकमुपदेशारं स्मृत्वा स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुप-
देशात् 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्टं तेनाऽनुष्ठीयते' इति, एवं वैदिकेष्वपि कर्मसु अनुष्ठीय-
मानेषु कर्तुः स्मरणं स्यात् । न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठानां त्रैवर्णिकानां तत्स्म-
रणमस्ति, अतोऽसौ तत्र नास्तीति निश्चीयते ।

छिन्नमूलत्वाच्च तत्र कर्तृस्मरणभावः । स्मरणस्य हि अनुभवो मूलम्, न चासौ
वेदे कर्तृविषयत्वेन विद्यते तत्कथं तत्स्मरणसंभावनाशङ्काऽपि ? न च रचनावाचनेन
अत्र भारतादिवत् कर्तृसद्भावप्रसिद्धेर्नास्य छिन्नमूलत्वमित्यभिधातव्यम्; वेदरचनानायाः
कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात् । न च रचनामात्रस्यात्रोपलम्भात् कर्त्रनुमानं युक्तम्;
जगतो बुद्धिमद्भेतुकत्वानुमानानुपपन्नतोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । अतो यादृशी रचना कर्त्रन्व-
यव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिपन्ना तादृश्येव परिदृश्यमाना कर्तारमनुमापयति इत्यभ्यु-
पगन्तव्यम् । तत्कथं वेदे तत्र कर्त्रनुमानशङ्काऽपि संभाव्यते ? अतो वैदिकी रचना
अपौरुषेयी दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वात् आकाशवदिति । तथा—

“वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययनं यथा ॥” [मी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६]

(१) कर्तारः । आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिसुषु क्रियमाणः पितृश्राद्धविशेषः । तथा च
मनुवचनम्—“पितृर्ब्रूवाष्टकास्वर्चत्”—मनुस्मृति० ४।१५०। (२) अनुभवः । (३) “विप्लवते खल्वपि
कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात्प्रत्ययः, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । ननु सामान्यतो दृष्टं
पौरुषं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते; न; अन्यत्वात् । न ह्यन्यस्य वितथभावे
अन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति अन्यत्वादेव । न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति ।”
—शाबरभा० १।१।२ । “वाक्यत्वात् पौरुषेयत्वं दृश्यादर्शनबाधितम् । प्रतिहेतुविशुद्धश्च हेतुः तस्मादक-
त्रिमाः ॥”—शास्त्रदी० पृ० ६१५ । “प्रकृष्टं हि वचनं कस्यचिदेव कुत्रचिदेव तावत्संघातमकत्वं न पौरुषेय-
तामनुमापयितुमलम् वेदार्थविषयवाक्यरचनासामर्थ्यानुपपत्तेः—य एव हि पदसंघाताः पौरुषेयैः विरचयितुं
शक्यन्ते तत्रैव पौरुषेयत्वं दृष्टमित्य शक्यविरचनेषु पौरुषेयत्वानुमानं न क्रमते । न च पौरुषेयत्वं विना
पदसंघातात्मकतैव नोपपद्यते; उच्चारणवती न हि पदानि संहततामापद्यन्ते ॥”—प्रक० पं० पृ० ९८-९९ ।
तन्त्ररह० पृ० ४३ । (४) रचनामात्रात् । (५) “उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् । उक्तमस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्ये-
तुणाम् ।”—जैमिनिषू०, शाबरभा० १।१।३० । “वेदस्य कर्तृस्मरणम्, वेदार्थस्यातीन्द्रियत्वमित्येवमादिहे-
तुभिरध्येतृणामनादिप्रवृत्तानां शब्दपूर्वं उच्चारणान्तरपूर्वो वेदो न केनचित्चित्तयित्वा प्रवर्तित इति अकृ-
तकत्वहेतोरेकत्वत्वात्”—मीमांसाभा० पृ० पृ० ७८ । “संप्रतिसाधनश्च वाक्यत्वात् इति । विवादाध्यासितं
वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वादतनाध्ययनवदिति । तदिदमाह सूत्रकारः—‘उक्तं तु शब्दपूर्व-

“अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।

कालत्वात्तद्यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्य (द्य) ते ॥” []

इत्यतोप्यस्य अपौरुषेयत्वसिद्धिः । †नन्वाप्तप्रणीतत्वाभावे कथमस्य प्रामाण्यं स्यादिति चेत् ? ‘अपौरुषेयत्वादेव’ इति ब्रूमः । वचनस्य पुरुषदोषानुप्रवेशेनैव अप्रामाण्य-प्रसिद्धेः† । तदुक्तम्—

“शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन ईति स्थितम् । तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वैतकत्वतः ॥ तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥”

[मी० श्लो० चोदना० श्लो० २६, ६३]

न च आप्तगुणसंक्रान्त्यैव शब्दस्य प्रामाण्यम्, वेदे च आप्तप्रणीतत्वाभावतः तत्संक्रान्त्यसंभवान्न प्रामाण्यमित्यभिधातव्यम्; यतो नात्र आप्तगुणसंक्रान्त्या प्रामाण्यम् 10 शब्दोच्चारणमात्रे तस्य व्यापारात्, शब्दस्तु स्वमहिम्नैव अवितथामर्थप्रतिपत्तिं कुर्वाणः प्रमाणम् । न चैवमनाप्तस्यापि तदुच्चारणमात्रे व्यापारात् शब्दः स्वमहिम्नैवास्त्यप्रतीतिं कुर्वाणः अप्रमाणमित्यभिधातव्यम्; अनाप्तप्रणीतत्वादिदोषाणाम् अप्रामाण्योत्पादना-दन्यप्रयोजनाभावात्, आप्तप्रणीतत्वादिगुणानां तु दोषापसारणे व्यापारात् स्वतः प्रामाण्यं

त्वम्’ इति । शब्दशब्देनात्र शब्दजन्यमध्ययनम् । तदयमर्थः—सर्वपुंसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम्, सर्वे हि यथैव गुरुणाऽधीतं तथैवाधिगिजांसन्ते न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति यः कर्ता स्यात् तस्मादपौरुषेया वेदाः ।”—शास्त्रदी० पृ० ६१७ । “विमतं वेदाध्ययनं परतन्त्राध्येतुं वेदाध्ययनत्वात् सम्प्रतिपत्त्याध्ययनवत्, आत्मत्वं वेदकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति जातित्वात् गोत्व-वदिति प्रतिहेतुविरुद्धञ्च वाक्यत्वम् ।”—मानमेयो० पृ० १७३ । उद्युतोऽयम्—प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ३३८ । न्यायसं० पृ० २३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—अष्टसह० पृ० २३७ । तत्त्वसं० पृ० ६४३ । प्रमेयक० पृ० ३९६ । सन्मति० टी० पृ० १३७ । स्या० २० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—प्रमेयर० ३१९९ । रत्नाकराव० ४१९ ।

(१) “वेदकारवियोगिनौ । कालत्वात्तद्यथा’—प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ३३८ । तत्त्वसं० पृ० ६४३ । ‘वेदकारविवर्जितौ’—प्रमेयक० पृ० ३९८ । सन्मति० टी० पृ० ३१ । स्या० २० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३४ । प्रमेयर० ३१९९ । रत्नाकराव० ४१९ । (२) वेदस्य । (३) “विप्लवते हि खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात् प्रत्ययः, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति ।” —शावरभा० पृ० १७ । (४) ‘इति स्थितिः’—मी० श्लो० । स्या० २० पृ० ६२७ । रत्नाकराव० ४१९ । प्रकृतपाठः—न्यायसं० पृ० १६७ । प्रमाणप० पृ० ७८ । सिद्धिर्वि० टी० पृ० ४०६A । प्रमेयक० पृ० ३९७ । सन्मति० टी० पृ० १९ । प्रमेयर० ३१९९ । (५) शब्दे प्रत्यये । (६) आप्तस्य । (७) “तस्माद् गुणभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनवोदितः ॥ तत्रापवादानिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति । अतो वक्त्रन-धीनत्वात्प्रामाण्यं तदुपासनम् । न युक्तम्, अप्रमाणत्वे कल्पे तत्प्रार्थना भवेत् । ततश्चाप्ताऽप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते ।” —मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५-७० ।

१-त्वा यथा आ०, अ० । २-स्वमिति तन्ना-ब० । †एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ३ न चाप्त-प्रणीतकालाभावे-ब० । ४ शब्दो आ० । ५-वतुतत्त्वतः अ० । ६ शब्दसंक्रा-अ० । ७ नाप्तगुण-ब० ।

वेदे आप्तानां प्रणीतत्वाभावात् प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा; इत्यप्यसुन्दरम्; यत्र हि पुरुष-
कृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्षं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात्
स्वसामर्थ्येनैवार्थवबोधकत्वात् तन्निरपेक्षं प्रामाण्यम् । नहि तादृशीमानुपूर्वी कश्चित्
कर्तुं क्षमः अन्यत्रैवामिष्यते । पूर्वसिद्धानुपूर्वीतोऽपूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्वात-
5 न्यासंभवात् । कुर्वाणो वा तां तदध्येतुभिः अन्यैर्वा निवार्येत । उक्तञ्च—

“अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्याच्चिवारैणा ।” [मी० श्लो० चोदनासु० श्लो० १५०] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्’

वेदानुपूर्व्येति तस्य
प्रतिविधानम्—

इत्यादि; तदसमीचीनम्; यैतः किमिदम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वनाम—
किं कर्तृस्मरणाभावः, अकर्तृकत्वं वा ? प्रथमपक्षे व्यधिकरणासिद्धौ

10 हेतुः; कर्तृस्मरणाभावो हि आत्मनि वर्तते अपौरुषेयत्वं तु वेदे इति । अज्ञातासिद्धश्च;
तद्प्राहकप्रमाणावात् । नहि प्रत्यक्षं तद्प्राहकम्; प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया
अभावे तस्य प्रवृत्त्यसंभवात् । संभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् तत्साध्यस्य
अध्यक्षादित एव प्रसिद्धेः । अभावप्रमाणात्तत्सिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यम्,
निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्तेः ।

“गृहीत्वा वस्तुतद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

15

मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपेक्षया ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्; ननु अतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभावं निराश्रयम्, साश्रयं
वा प्रसाधयेत् ? न तावन्निराश्रयम्; ‘गृहीत्वा वस्तुतद्भावम्’ इत्यभिधानात् । अनेन हि
निषेध्याधारवस्तुग्रहणमभिदधता भट्टेन “निषेध्याभावाश्रयः सूचित एव, अन्यथा प्रति-
20 निततवृत्तितया कर्तृस्मरणाभावसिद्धिः ततोऽतिदुर्लभा । यन्निराश्रयं न तत् प्रतिनियतवृत्ति
यथा आकाशम्, निराश्रयश्च भवद्विरभिप्रेतोऽभावप्रमाणाप्रसिद्धत्वं कर्तृस्मरणाभाव इति ।

(१) “पौरुषेये तु वचने प्रमाणान्तरमूलता । तदभावे हि तद् दुष्येदितरन् कदाचन ॥”-मी०
श्लो० चोदना० श्लो० ७१ । (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम् । (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षणा आनुपूर्वी । (४)
विलक्षणा शब्दानुपूर्वीम् । (५) ‘निवारणम्’-मी० श्लो० । प्रकृतपाठः—स्या० २० पृ० ६२८ । (६)
पृ० ७२१ पं० ५ । (७) तुलना—‘किमिदं कर्तृस्मरणं नाम कर्तृस्मरणाभावः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा ?’
—प्रमेयक० पृ० ३९२ । (८) ‘अपौरुषेयो वेदः कर्तृस्मरणात् इत्येवं प्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणवदोपात् ॥’
—सम्पत्ति० टी० पृ० ४१ । (९) ‘तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम्; तद्प्राहकप्रमाणाभावात् ।’—
स्या० २० पृ० ६२९ । (१०) अभावप्रमाणेन क्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य । (११) कर्तृस्मरणाभा-
वसिद्धौ । (१२) अभावप्रमाणात्पत्तौ । (१३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४६४ हि० १ । (१४) कर्तृस्मरणाभावम् ।
“नन्वतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभावं साश्रयमेव प्रसाधयेत् गृहीत्वा वस्तुतद्भावमित्यभिधानात् ।”-
स्या० २० पृ० ६२९ । (१५) गृहीत्वा वस्तुतद्भावमिति श्लोकाशेन । (१६) निषेधस्य यः अभावः
तस्य आश्रयः । (१७) अभावप्रमाणात् ।

1-नैवावबोध-व० । 2-स्वास्तिर्ये-व० । 3-त्रापि व्यक्तेः आ० । 4 पूर्वं सि-व० । 5 अन्ये-
निवा-आ० । 6 बहुभिः श्र० । 7 निःका-आ० । 8 निषेध्याश्रयः व० ।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते; ननु कोऽस्य आश्रयः—स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा ‘अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरणं नास्ति’ इति; किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरणं नास्ति, न चैतावता तस्याभावः सिद्ध्यति । ममानुष्ठानुरवश्यं स्मर्त्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्; इत्यप्यसारम्; भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धेः । तस्य स्वयं निहितेऽवश्यं स्मर्त्तव्ये कचिद् 5 द्रव्यादौ विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात् । तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौषधं स्वयं धृतं महत्यामप्यर्थितायां न स्मर्यते, नचैतावता तस्याऽभावः इत्यनेन चाऽनेकान्तः । अथ सर्वप्रमातारः; ननु ‘त्रैलोक्योदरवर्तिनः प्रमातारो वेदकर्त्तारं न स्मरन्ति’ इत्यसर्वविदो वेदनानुपपत्तिः । उपपत्तौ वा सर्ववेदित्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तत्रैव पृष्ठा तत्र स्मरणाभावः प्रतीयेत, अन्यथा 10 वा ? न तावदन्यथा; “गत्वा तु तान् देशान्” [मी० श्लो० अर्षां श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुपपन्नम् । गत्वा चेत्; ननु तत्रैव तेषु पृष्ठेषु ‘न स्मरामः’ इति प्रतिवचनञ्च ब्रुवाणेष्वपि कः समान्धासः पुरुषवचसामग्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्तेः ? न च सर्वेषामाप्तताप्रतिपत्तिरस्ति, यतः तद्गुणसंक्रान्त्या तत्रैव प्रामाण्यं स्यात्; तत्प्रतिपत्तेरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण वाऽसंभवात् । 15

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्तिः यत्र वस्तुसत्तावबोधकं प्रमाणपञ्चकं न प्रवर्त्तते ।

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणात् ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

(१) कर्तृस्मरणाभावस्य । “अपि च किमशेषजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्तिः । तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्तिः; तदाऽसिद्धा; अवधारयितुमशक्यत्वाच्चावर्गभागविद्भिः । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञाः स्युः अवर्गभागविदो न भवेयुः । अथ कतिपयपुरुषापेक्षया; तदाऽनैकान्तिको हेतुः, विद्यमानकर्तृकैष्वपि कर्ता न स्मर्यते कश्चित् ।”—तत्त्वोप० पृ० ११७ । “आश्रयश्चास्य स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा”—स्या० २० पृ० ६२९ । (२) मदीय आत्मनि । (३) “ममानुष्ठाने स्मर्त्तव्योऽसौ”—स्या० २० पृ० ६२९ । (४) वेदकर्ता । (५) “एवं तहि पितामहस्य पितरं मातामहीमातरम्, तन्मातापितरौ च न स्मरति तत्तेषामभावो भवेत् ।”—स्या० २० पृ० ६२९ । (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं धृतीषधादिद्रव्यस्य । (८) ननु इति निश्चयार्थं । तुलना—“सर्वं पुमांसः कर्तारं वेदस्य न स्मरन्ति इति कथं जानाति भवान् । न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । न च यत् त्वं न जानाति तदन्योऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात् ।”—न्यायमं० पृ० २३७ । स्या० २० पृ० ६३० । (९) तुलना—“अपि च सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तांश्च पृष्ट्वा तत्र कर्तृस्मरणाभावः प्रतीयेतान्यथा वा ?”—स्या० २० पृ० ६३० । (१०) सर्वप्रमातृन् । (११) “गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते । ततोऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥”—मी० श्लो० । उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० २२ । सम्मति० टी० पृ० २३, ३२१ । (१२) देशान्तरे । (१३) सर्वप्रमातृषु । (१४) तैरुक्ते ‘न स्मरामः’ इति प्रतिवचने । (१५) द्रष्टव्यम्—पृ० ४६४ टि० ४ ।

१ जाने—आ० । २ सर्वत्रप्रमा—श्र० । ३ तत्र स्मरं न स्मरन्तीत्यसर्वविदो वेदनानु गत्वा गत्वा आ० । ४ प्रतीयेते ब० । ५ सद्भाव—ब० ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा; तर्हि यावद्भिरुपाध्यायैः सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावतां नामभिः तस्याः किन्नाङ्कितत्वं स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते—अस्ति यौगादीनां वेदे कर्तृस्मरणं किन्तु सैविगानं तत्कर्तृविशेषे^१ विप्रतिपत्तेः अतोऽप्रमाणमिति; तदप्युक्तिमात्रम्; यैतः कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः तद्विशेष-
स्मरणमेवाप्रमाणं स्यान्न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे^२ 5
विप्रतिपत्तेः ऽकर्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य तदापि (तत्रापि) गतत्वाद्नेकान्तः । अथैव वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः तन्मात्र-
स्मरणमप्यप्रमाणं कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तेः तत्प्रमाणमित्यतो नाने-
कान्तः; ननु वेदे सौगतादयः कर्तारं स्मरन्ति न मीमांसकाः इत्येवं कर्तृमात्रे विप्रतिपत्तेः^३
यदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तदस्मरणमप्यप्रमाणं किन्न स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात् । 10
तथा चार्थमसिद्धो हेतुः ।

विरुद्धश्च; स्मर्यमाणकर्तृकत्वाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वयोः कार्यधर्मतया विपक्ष एव वर्तमानत्वात् । कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृकं दृष्टं घटादि, किञ्चिदस्मर्यमाणकर्तृकं जीर्णकूपादि । ततश्च कृतको वेदः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् जीर्णकूपादिवत् । नैहि नित्यं

(१) “समाख्यापि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते । काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषाः शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते । ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धनाः प्रवक्तृगामनन्तत्वात् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ताः; उपाध्यायेभ्योपि प्रकर्षे प्रत्युताप्यथाकरणदोषात्, तस्याठानुकरणे च प्रकर्षाभावात् । कति चानादौ संसारे प्रकृष्टाः प्रवक्तार इति को नियामक इति ।” न्यायकुसुमं ५।१७ । (२) “येऽपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति—केचिदौश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम् । न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तारं भन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदवकल्पते । नहि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद्विवदते । तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणाद् दृश्यादर्शनवाचितं सामान्यतोदृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् ।” —शास्त्रदी० पृ० ६१७ । (३) सविवादम् । (४) रुद्रे—आ० दि० । (५) तुलना—“नन्वेवं कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम् ।” —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० र० पृ० ६३० । शास्त्रबा० यशो० पृ० ३८४ A । (६) कादम्बर्यादावपि । (७) तुलना—“अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम्” —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० र० पृ० ६३० । (८) कर्तृमात्रस्मरणम् । (९) तुलना—“ननु वेदे सौगतादयः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः इत्येवं कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः यदि कर्तृस्मरणं मिथ्या तदा कर्तृस्मरणत्वं अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि असत्यं स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः ।” —सम्मति० टी० पृ० ४२ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स्या० र० पृ० ६३१ । (१०) कर्तृमात्रस्मरणम् । (११) कर्तृस्मरणवत् । (१२) कर्तृस्मरणम् । (१३) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् । (१४) पौरुषेये अनित्ये । (१५) तुलना—“नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकर्तृकं प्रतिपन्नं किन्त्वकर्तृकमेव ।” —प्रमेयक० पृ० ३९२ ।

१—नां कर्तृ—ब० । २—येपि विप्र—अ० । ३—एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति अ० । ४—एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ५—अथ कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ति कर्तृमात्रमपि विप्रतिपत्तेः ब० । ६—णमतो ब० ।

वस्तु स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाणकर्तृकं वा प्रतिपन्नम्, किन्तु अकर्तृकमेव । कालात्यया-
पदिष्टश्च; श्रुतिस्मृतिबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् । तन्न कर्तृस्मरणाभावलक्ष-
णमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं घटते ।

- नापि अकर्तृकत्वलक्षणम्; अशब्दार्थत्वात् । नहि अस्मर्यमाणकर्तृत्वशब्दस्य
5 अकर्तृकत्वमर्थो लोके शास्त्रे वा प्रसिद्धः । प्रसिद्धौ वा साध्याविशिष्टत्वम् । अस्तु वाऽवि-
चारितमणीयमस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्; तथापि तैद् वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा सम्ब-
न्धि हेतुः स्यात् ? यदि वादिनः; तदनैकान्तिकैम्, “वटे वटे वैश्रवणः” []
इत्यादिषु विद्यमानकर्तृकेष्वपि प्रयोजनाभावात् मीमांसकैरस्मर्यमाणकर्तृकेषु अस्य सद्भा-
वात् । ननु वेदे कर्त्रभावपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृत्वं हेतुः, तच्चात्र नास्ति कर्त्रनुपलम्भमात्र-
10 पूर्वकत्वात्तत्र तस्य तत्कथमनैकान्तिकत्वम् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्; यतः कुतोऽत्र कर्त्रभाव-
सिद्धिः—प्रमाणान्तरात्, अत एव वा ? यदि प्रमाणान्तरात्; तदाऽस्य आनर्थक्यम् ।
अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः—अतो हि अनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाण-
कर्तृकत्वं सिद्ध्यति, तैत्सिद्धौ च अतोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति । अथ प्रतिवादिनः
सम्बन्धि ‘तत् हेतुत्वेन विवक्षितम्; तदसिद्धम्; तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारम् ।
15 एतेन सर्वस्याऽस्मरणं प्रत्याख्यातम्; सैवात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्त्र-
स्मरणमवैति ? अतोऽस्य अज्ञातासिद्धत्वम्, सतोऽप्यस्य असर्वविदा ज्ञानुभयशक्यत्वात् ।

(१) साध्यं हि अपोख्येयत्वं तदेव च अकर्तृकत्वमिति, साध्याविशिष्टत्वाद् असिद्धो हेत्वा-
भासो लक्ष्यते साध्यस्य असिद्धत्वादिति । (२) तुलना—“किञ्च अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वादिनः प्रतिवा-
दिनः सर्वस्य वा स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३९५ । सम्मति० टी० पृ० ३० । स्या० २० पृ० ६३१ ।
प्रमेयर० ३।१९ । “अपि च किमशेषजनस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपय-
पुरुषस्मरणविनिवृत्तिः ।”—तत्त्वोप० पृ० ११७ । (३) तुलना—“अनैकान्तिकत्वमप्याह—दृश्यन्ते चेत्यादि ।
उपदेशपारम्पर्यं सम्प्रदायः, विछिन्नः क्रियासम्प्रदायः पुरुषकृतत्वसम्प्रदायो येषां वटे वटे वैश्रवणादि-
शब्दानां ते तथा । अनेन अस्मर्यमाणकर्तृत्वमाह । कृतकाश्च पोख्येयाश्च । ततः पोख्येयेषु वाक्ये
कर्तृस्मरणं वर्तत इत्यनैकान्तिको हेतुः ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२४२ । स्या० २० पृ० ६३१ ।
“वादिनश्चेत्तदनैकान्तिकम्; सा ते भवतु सुप्रीतेत्यादौ विद्यमानकर्तृकेष्वस्य भावात् ।”—प्रमेयक०
पृ० ३९५ । (४) ‘वटे वटे श्रवणः’ इत्यादिवाक्येषु । (५) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य । (६) वेदे ।
तुलना—“यतः कुतोऽत्र कर्त्रभावसिद्धिः प्रमाणान्तरादत एव वा” ? —स्या० २० पृ० ६३१ । (७)
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य हेतोः । (८) वेदे कर्त्रभावसिद्धौ । (९) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वसिद्धौ च । (१०)
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम् । (११) तुलना—“तद्यदि सकलजनस्मरणनिवृत्तिः तदाऽसिद्धा अवधारयितुम-
शक्यत्वाच्च अवर्गभागविद्भिः । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञाः स्युः अवर्गभागविदो न भवेयुः ।”—
तत्त्वोप० पृ० ११७ । न्यायम० पृ० २३७ । प्रमेयक० पृ० ३९५ । स्या० २० पृ० ६३१ । (१२)
वेदविषये । (१३) सर्वसम्बन्धिकर्त्रस्मरणस्य ।

यदप्युक्तम्—‘ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते तेऽवश्यं तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति’
इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; निर्यमाभावात् । न हि ‘यो धर्मशीलः’ []
इत्यादिवाक्येभ्यः तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठानाणां तत्कर्तृस्मरणमस्ति, तदन्तरेणापि
धर्मशीलताद्यर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाभावहेतौ प्रवृत्तिप्रतीतिः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘छिन्नमूलत्वाच्च’ इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; यतः अध्यक्षेणानु- 5
भावाभावात् तत्रैतच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा ? अध्यक्षेण चेत्; किं भवत्सम्ब-
न्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा ? यदि भवत्सम्बन्धिना; तर्हि आगमान्तरेऽपि कर्तृसद्भा-
वप्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेः तैर्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य
भावाद् व्यभिचारी हेतुः । अथ तत्रैतद्वाहकत्वेन अस्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः
कर्तृसद्भावाभ्युपगमाम्न व्यभिचारः; तन्न; परकीयाभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्, 10
अन्यथा वेदेऽपि ‘परैस्तैस्सद्भावाभ्युपगमात् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात् ।
सर्वसम्बन्धिना चेत्; सोऽसिद्धः; अर्वागदृशा तस्यावसानुमशक्यत्वात् । अथ प्रमाणान्तरेण
अनुभावभावः; तन्न; आगमस्य तत्र कर्तृसद्भावावेदकस्य प्रतिपादितत्वात् । रचनावत्त्वाद्यनु-
मानस्य च तत्प्रसाधकस्य सद्भावात् । तथाहि- पौरुषेयो वेदः रचनावत्त्वात् भारतादि-
वत्, पदवाक्यात्मकत्वाद्वा तद्वत् । तथा प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि वाक्यानि 15

(१) पं० ७२१ पं० ८ । (२) “न चायं नियमोऽनुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्ते”—
प्रमेयक० पृ० ३९५ । सम्मति० टी० पृ० ४३ । शास्त्रवा० यशो० पृ० २८४ B.1. “न हि यो धर्मशील
इत्यादिवाक्येभ्यस्तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठानाणां तत्कर्तृस्मरणमस्ति । तदन्तरेणापि धर्मशीलता-
द्यर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाभावहेतौ प्रवृत्तिप्रतीतिः ।”—स्या० २० पृ० ६३१ ।
(३) पृ० ७२२ पं० ९ । (४) “यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात्तत्र तच्छिन्नमूलं प्रमाणान्तरेण वा ।”
—प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० २० पृ० ६३१ । (५) वेदे । (६)
कर्तृस्मरणम् । (७) तुलना—“सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी । विल्याद्विरत्नद्वयदि-
रदृष्टावपि सत्त्वतः ।”—तत्त्वसं० पृ० ६५ । न्यायवि० टि० पृ० १६७ पं० ३ । न्यायली० पृ० २२ ।
(८) आगमान्तरकर्तृस्मरणस्य । (९) आगमान्तरे । (१०) सीमांसकस्य । (११) जेनादिभिः । (१२)
कर्तृसद्भावः । (१३) वेदस्मृतिरूपस्य । (१४) तुलना—“बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे—वाक्यकृतिर्वाक्यरचना
वा बुद्धिपूर्वा वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात्, नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्य-
रचनावत् ।”—वेशो० सु०, उ० ६११ । “बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वाक्यरचना वेदे तद्वचनात्वात् उभया-
भिमतवाक्यरचनावत् ।”—प्रश० व्यो० पृ० ५८१ । प्रश० कन्ध० पृ० २१७ । “तथा च वैदिक्यो रचनाः
कर्तृपूर्विकाः रचनात्वात्लौकिकरचनावत् ।”—न्यायसं० पृ० २३२ । स्या० २० पृ० ६३२ । “ततो ये नर-
रचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषेयाः यथाऽभिनवकूप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूप्रासादादयः,
नररचितवचनरचनाऽविशिष्टाश्च वैदिकं वचनमिति ।”—प्रमेयक० पृ० ४०२ । सम्मति० टी० पृ० ३९ ।
(१५) तुलना—“इतश्च वर्णवत्त्वात्, वर्णवन्ति लौकिकवाक्यानि अनित्यानि तथा च वेदवाक्यानि,
तस्मात्तान्यनित्यानि । इतश्च सामान्यवितोषवत्त्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात् लौकिकवाक्यवत् । इतश्च

१-णमिति व० । २-त्रिकमयाद्वारहेतौ व० । -त्रिकतयाभावहेतौ आ० । ३ तत्रकर्तृ-व० ।

४ अथतद्भा-व० ।

आप्तोक्तानि, वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा पित्रादिवाक्यम्, तथा चामूनि, तस्मात्तथेति ।

यदप्यभिहितम्—‘वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्’ इत्यादि; तत्र किमिदं तस्याः तद्वैलक्षण्यं नाम—दुर्भणत्वम्, दुःश्रवणत्वम्, लोकव्याकरणप्रसिद्धशब्दैर्वैलक्ष्येन शब्दविनिवेशः, अपूर्वछन्दोनिबद्धत्वम्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेत-
मन्त्रयुक्तत्वं वा ? सर्वमेतत् पुरुषाणां न दुष्करम्, विद्वानकरणपाटवाधीनत्वाद् वाचोवृत्तेः ।
मन्त्राणाम्ब्र महाप्रभावोपेतत्वं पुरुषप्रणीतत्वेनैवोपपन्नम्, निरतिशयप्रभाववता हि पुरुषेण पदवत्त्वात् लोकिकवाक्यवत् ।” न्यायवा० पृ० २७२ । “अनित्यानि वेदवाक्यानि वाक्यत्वाद्बुभ्या-
भिमत्वाक्यवत् ।” प्रश्न० ध्यो० ५८१ । “न बाक्षरराखोरूपेयत्वं येन स्वतः प्रमाणं वेदः स्यात्, शास्त्रान्तरस्यापि तदनुषङ्गात् विशेषाभावाच्च ।” सिद्धिचि०, टी० पृ० ४०६ B. । “वेदपदवा-
क्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्यत्वाद् भारतादिपदवाक्यवत् ।” प्रमेयक० पृ० ३९१ । “श्रुतिः पौरुषेयो वर्णाद्यात्मकत्वात् कुमारसंभवादिवत् ।” रत्नाकराव० ४१९ ।

(१) पृ० ७२२ पं० ११ । (२) तुलना—“दुर्भणत्वानुदात्तवर्णित्वात्श्रव्यतादयः । वेदधर्मा हि दृश्यन्ते नास्तिकादिवचस्वपि ॥ विषापगमभूत्यादि यच्च किञ्चित्समीक्ष्यते । सत्यं तद्वैतयेयादि-
मन्त्रवादेऽपि दृश्यते । दुर्भणत्वं दुरभिधानम्, अनुदात्तत्वं मनोज्ञत्वम् किरणं व्यवहितम्,
अश्रव्यता श्रुतिदुर्भगता । आदिशब्देन पदविच्छेदप्लुतोदात्तादिपरिग्रहः । विषापगमे भूतिः सामर्थ्यं प्रभाव इति यावत् । अथवा विषापगमश्च भूतिश्चेति समासः, भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति यावत् ।
आदिशब्देन भूतग्रहाद्यावेशवशीकरणाभिचारादयो गृह्यन्ते । सत्यमिति अविस्वादि । वैतयेयादीत्या-
दिशब्देन बौद्धादिमन्त्रवादपरिग्रहः ।” तत्त्वसं०, पं० पृ० ७३९ । “सर्वेषां दुर्भणत्वादीनां मन्त्रादि-
सामर्थ्यानाञ्च साधारणत्वात् ।” प्रमाणवा० मनोरथ० ३१२४२ । “दुर्भणतुःश्रवणादीनामस्मदाद्युप-
लभ्यानां तदतिशयान्तराणां शक्यक्रियत्वादितरत्रापि ।” अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० २० पृ० ६३२ । रत्नाकराव० ४१९ । (३) तुलना—“अपि चेदं मन्त्रा अपौरुषेयाश्चेति व्याहृतं पश्यामः । तथाहि
—“समयत्वे हि मन्त्राणां कस्यचित् कार्यसाधनम् । युक्तं यद्येते मन्त्राः कस्यचित्समयो यथा मत्प्रणी-
तमेतदभिमतार्थानिबन्धनं वाक्यमेवं नियुञ्जानमनेनार्थेन योजयामीति; परार्थपरतानुरोधेन अन्यतो
वा कुतश्चिद्धेतोः स्यात् तदा मन्त्रप्रयोगात् कदाचिदर्थनिष्पत्तिर्युक्ता कविमर्यादिव पाठकानाम् ।”
—प्रमाणवा० स्ववृ० ११२९४ । “अपि च न मन्त्रो नामान्यदेव किञ्चित् । किं तर्हि ? सत्येत्यादि ।
यथाभूताख्यानं सत्यम्, इन्द्रियमनसोर्दमनं तपः तयोः प्रभावो विषस्तम्भनादिसामर्थ्यं स विद्यते येषां
पुंसां ते तथा तेषां सत्यतपःप्रभाववतां पुंसां समीहितार्थस्य साधनं तदेव मन्त्रः । तद्वचनं मन्त्रलक्षण-
मद्यत्वेऽपि पुरुषेषु दृश्यत एव । किं कारणम् ? यथास्वं सत्याधिष्ठानबलाद् विषदहनादेः स्तम्भनस्य
सामर्थ्योपपत्तस्य दर्शनात् । तथा शबरानां केषाञ्चित् स्वनियमस्थानामद्यापि विषापनयनशक्ति-
युक्तस्य कारणात् शक्नुवन्त्येव पुरुषाः मन्त्रान् कर्तुम् । अवैदिकानाञ्च वेदादान्येषां बौद्धादीनामिति,
आदिशब्दाद् आर्हतगारुडमाहेश्वरादीनां मन्त्रकल्पानां मन्त्राणां मन्त्रकल्पानाञ्च दर्शनात् । विद्याक्षराणि
मन्त्राः, तत्साधनविधानोपदेशाः मन्त्रकल्पाः तेषाञ्च बौद्धादीनामन्त्रकल्पानां पुरुषकृतेः पुरुषैः करणात् ।”
—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४२ । “येऽपि मन्त्रविदः केचिन्मन्त्रान् कांश्चन कुर्वते । प्रभोः प्रभाव-
स्तेषां स तदुक्तन्यायवृत्तिः ॥ कृतकाः पौरुषेयाश्च मन्त्राः वाच्याः फलेप्सुना । अशक्तिसाधनं पुंसाम-
नेनैव निराकृतम् ।” प्रमाणवा० ३१०९-१० । “परोक्षया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । न ह्याथर्वणा-
नामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं प्रमाणबाधनात् ।”
—अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० २० पृ० ६३३ । “मन्त्रादीनाञ्च सामर्थ्यं शाबरनामपि स्फुटम् ।

‘अमुष्मान्मन्त्रादस्येदं फलं भवतु’ इत्यनुसन्धाय यदा यथा कयाचित् भाषया प्रयुज्यन्ते मन्त्राः तदा तेषां तत्कर्तृप्रभावादेव तथाविधार्थक्रियाकरणसामर्थ्यं संभाव्यते । दृश्यते हि साम्प्रतमपि महाप्रभाववतो मन्त्रवादिन आज्ञाप्रदानात् ज्वराबुद्धाटनं निर्विषीकरणादि च ।

किञ्च, अत्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तारं प्रतिक्षिपति नतु कर्तृमात्रम् । न हि जीर्णकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचनोपलभ्यमाना तन्मात्रं प्रति- 5 क्षिपन्ती प्रतीता; तत्करणासमर्थस्यैव शिल्पिनः तैर्या प्रतिक्षेपात् । नहि कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्तारमन्तरेण उपपद्यन्ते । अतः ‘वैदिकी रचनाऽपौरुषेयी’ इत्याद्यनुमानमनुपपन्नम् ; दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य उक्तप्रकारेण तत्राऽसंभवात् । संभवे वा कर्तृमात्रानिषेधकत्वात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘रचनामात्रात्कर्त्रनुमाने जगतो बुद्धिम- 10 छेतुं कत्वानुमानानुषङ्गः’ इत्यादि; वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वान्वयवस्थितेः, जगद्रचनायास्तु तैस्थितेः । तस्मिन्निश्चितश्च ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चिता ।

यदप्युक्तम्—‘वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्’ इत्यादि; तत्र निर्विशेषणमध्ययन- 15 शब्दवाच्यत्वम् अपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, सविशेषणं वा ? तत्र आद्यविकल्पेऽनैकान्तिकत्वं; निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वप्यस्य भावात् । द्वितीयपक्षे तु किं तस्य विशेषणम् ? वेदैश्चेत् ; ननु वेदविशिष्टमध्ययनं किं तावन्मात्रेण हेतुः, अपरविशेषणवि- प्रतीतं सर्वलोकेऽपि न चाप्यव्यभिचारि तत् ॥”-शास्त्रवा० १०।४४।

(१) संकृतरूपया प्राकृतस्वरूपया पालिरूपया वा भाषया । (२) वेदे । तुलना—“अपि च यद्विलक्षणं रचना तद्विलक्षण एव कर्ता अनुमीयतां न पुनस्तदपलापो युक्त इत्यप्युक्तम् ।”-न्यायमं० पृ० २३६ । “अपि चात्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तारं निराकुश्ले न पुनः कर्तृमात्रमपि ।”-स्या० २० पृ० ६३४। (३) कर्तृमात्रम् । (४) विशिष्ट-रचनया । (५) वेदे । (६) पृ० ७२२ पं० १२ । (७) कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वस्थितेः, यतो हि विद्यमानकर्तृकेषु अक्रियादिशिनोऽपि कृतबुद्धिरुपजायते नतु क्षित्यादौ । (८) पृ० १०२ । (९) पृ० ७२२ पं० १७ । (१०) तुलना—“किञ्चात्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत् कर्त्रस्मरणविशिष्टं वा ?”-प्रमेयक० पृ० ३६९। सम्मति० टी० पृ० ४१। स्या० २० पृ० ६३४। (११) तुलना—“यत एवन्तस्मादध्ययनमध्ययनान्तरवद् अध्ययनान्तरपूर्वकमिति साध्ये अध्ययनादिति लिङ्गं व्यभिचारि, भारताद्यध्ययने पौरुषेयत्वाध्ययनत्वस्य भावात् ।”-प्रमाणवा० स्वबु० टी० पृ० ३४५ । “न हि तच्छब्दवाच्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते । अनैकान्तिकश्चायं हेतुः, भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात् । भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानान्तनभारताध्ययनवदिति ।”-न्यायमं० पृ० २३३ । प्रमेयक० पृ० ३६९ । सम्मति० टी० पृ० ४१ । स्या० २० पृ० ६३४ । “पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रकृतौ न वक्त्रं वक्त्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेऽपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात् ।”-अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । “भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । तदध्ययनवाच्यत्वादनुनाध्ययनं यथा ॥”-प्रमेयर० ३।९९। (१२) अध्ययनशब्दवाच्यत्वादिति हेतोः ।

१ भवति व० । २ ‘तदा’ नास्ति आ० । ३-मानतत्करण-श्र० । ४ ननु आ० । ५ तथा आ० । ६-हेतुत्वानु-आ० । ७ भारतेष्वप्यस्य व० । ८ सद्भावात् व०, श्र० । ९ वेदस्त्वेतनु श्र० ।

शिष्टत्वेन वा ? यदि तावन्मात्रेण; तदाऽनैकान्तिकम्; विपक्षेऽप्यस्यैव अविरुद्धतया सद्भाव-
संभवात् । विपक्षेण विरुद्धं हि विशेषणं ततो हेतुं व्यावर्त्तयति नान्यद् अतिप्रसङ्गात् ।
नच वेदविशेषणं कर्तुंपूर्वकत्वैलक्षणविपक्षेण विरुद्धम् भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्यापि
सकर्तृकत्वेऽप्यविरोधात् ।

६ किञ्च, यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनम् अध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव तैत्तरीया
साध्यते, अन्यथाभूतानां वा ? यदि तर्थाभूतानाम्; तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्य-
थाभूतानाम्; तर्हि जगतो बुद्धिमद्भेतुकत्वे सन्निवेशादिवदप्रयोजकौ हेतुः । अथ तर्थाभूता-
नामेव तैत्तरीया साध्यते, नच सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियाथेदर्शनशक्तिकैक्येन
अतीन्द्रियाथेप्रतिपादकप्रेरणप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन ईदृशीत्वात्; तदप्यसुन्दरम्; प्रेरणयाः

(१) तुलना—“वेदेन विशेषणाददोषः, अध्ययनमात्रस्य हि व्यभिचारी न वेदेन विशिष्टस्या-
ध्ययनस्येत्यभिप्रायः । कः पुनरित्यादि सिद्धान्तवादी । कोऽतिशयो वेदाध्ययनस्य येन तद्देवाध्ययनमन्य-
येति स्वयं कृत्वाऽध्येतुं न शक्यते । नैव कश्चिदतिशयः । ततो वेदाध्ययनञ्च स्यान्न च अध्ययन-
पूर्वकमिति विरोधाभावात् स एव व्यभिचारः । यस्मान्नहि विशेषणं वेदत्वम् अविरुद्धं विपक्षेण अनध्य-
यनान्तरपूर्वकत्वेन सह, अस्माद् विपक्षाद् हेतुं निवर्तयति । किं कारणम् ? अविरुद्धयोः वेदत्व-अध्यय-
नान्तरपूर्वकत्वयोरैकत्र वेदवाक्ये सम्भवात् । को ह्यत्र विरोधो यद् वेदाध्ययनञ्च स्यान्न च अध्ययना-
न्तरपूर्वकमिति । “तस्माद्देवत्वं विशेषणमध्ययनस्य हेतोरतिशयभागं न भवति विशेषाधायकस्य भवति,
विपक्षविरोधाभावेन विपक्षादव्यावर्तनात् उपात्तमपि विशेषणमनुपात्तसमम् ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी०
पृ० ३४५। प्रमेयक० पृ० ३९७। स्या० पृ० ६३४। (२) अनध्ययनपूर्वकाध्ययने सकर्तृके (३) वेदविशेष-
णस्य अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य । (४) विपक्षात् । (५) अस्मदादीनाम् अवगिद्भावात् । तुलना—“किञ्च
यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनमध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव अध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं
साधयत्यन्यथाभूतानां वा ?”-प्रमेयक० पृ० ३९८। सम्मति० टी० पृ० ४१। स्या० ०२० पृ० ६३४। (६)
गुर्वध्ययनपूर्वकम् । (७) वेदाध्ययनम् । (८) वेदाध्ययनपूर्वकम् । (९) अतीन्द्रियाथेदर्शनशालिनां
पुरुषाणां वा । (१०) अस्मदादीनाम् । तुलना—“यादृशं त्वध्ययनं स्वयङ्कर्तृमशक्तस्य तन्निमित्तम्
अध्ययनान्तरनिमित्तं दृष्टं तत्तथेति अध्ययनान्तरपूर्वकमेवेति स्यात्”-तन्निमित्ततया शक्तिनिमित्ततया
दृष्टेऽवगते विशेषे स्वयं कृत्वाऽध्ययनलक्षणे तत्त्यागेन तस्य विशेषस्य त्यागेन वेदाध्ययनत्वसामान्यस्य
ग्रहणं शक्तस्याशक्तस्य वा सर्वं वेदाध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं वेदाध्ययनत्वसामान्यादिति क्रियमाणं
व्यभिचार्येव । किमिव ? हूताशानसिद्धौ अग्निंसिद्धौ पाण्डुरव्यत्ववत्”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ०
३४६ । (११) यादृशं सन्निवेशादि षटादिषु यदक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धयुत्पादकं दृष्टं तादृशमेव जीर्णकू-
पादौ बुद्धिमद्भेतुकत्वमनुमापयति तनु तद्विलक्षणम्-अक्रियादर्शिनः कृतबुद्धयनुत्पादकमिति स्थितिः; तथापि
सन्निवेशसामान्यात् पृथिव्यादावपि बुद्धिमद्भेतुकत्वानुमाने मृद्धिकारत्वहेतुना बलीकृत्यापि कुम्भकार-
कृतत्वं स्यात्, ततो यथा जगतो बुद्धिमद्भेतुके सन्निवेशादिसामान्यमकिञ्चित्करं तथैव यादृशानाम-
स्मदादिपुरुषाणामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं दृष्टं तादृशानामेव देशान्तरादौ अध्ययनपूर्वकत्वं साधयितुमर्चितं
न तु अन्यादृशानामतीन्द्रियाथेद्वृणाम्, तत्र अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य अप्रयोजकत्वादिति भावः ।
(१२) अस्मदादीनामवगिद्भावात् । (१३) अध्ययनम् । (१४) अध्ययनपूर्वकम् । (१५) अन्यथा-
भूताऽतीन्द्रियपुरुषासंभावनाया । (१६) अस्मादिवदेव अवगिदितात्वात् । (१७) वेदस्य ।

तथाभूतार्थप्रतिपादने प्रामाण्याप्रसिद्धेः । तदप्रसिद्धिश्च गुणवतो वक्तुरभावे तद्गुणै-
रनिराकृतैर्दोषैः तस्यापोहितत्वात् सुप्रसिद्धा । तथाभूताश्च प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शन-
शक्तिविरहिणोऽपि कर्तुं समर्था इति कुतः तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन अशेषपुरु-
षाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् । अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽ-
प्रामाण्यनिवृत्तिः अपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः संभवात् ततोऽयमदोषः; तदप्यसाम्प्रतम्; यतोऽ- 5
पौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात् प्रसिद्धम्, अत एव वा ? यदि अन्यतः; तदा
अस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः—अतो हि अनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ
प्रेरणायाः प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामी-
दृशत्वसिद्धिरिति । तन्न वेदाध्ययनमात्रं हेतुः ।

अथ अपरविशेषणविशिष्टम्; किं पुनस्तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरणम्, सम्प्रदाया- 10
व्यवच्छेदो वा ? न तावत् कर्त्रस्मरणम्; तस्य असिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादानात् ।
सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ? न तावदात्मगतः; भारतादिवत्
पौरुषेयत्वेऽप्यस्य सम्भवात् । नापि सर्वलोकगतः; असर्वविदा तस्य सतोऽपि ज्ञातुम-
शक्यत्वात्, “वटे वटे वैश्रवणः” [] इत्यादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यस्याऽविरोधाच्च ।

किञ्च, प्रमाणादर्थव्यवस्था भवति । सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च किं स्वतन्त्रं प्रमाणम्, 15
प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तदन्तर्भूतं वा ? न तावत् स्वतन्त्रम्; षट्प्रमाणसंख्याव्याघात-
प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्; तस्य तत्सामग्रीतो विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वात्,
आज्ञापारस्पर्यवत् । अत एव न तदन्तर्भूतम् । ततो वटे यक्षपारस्पर्यवत् संशयजनक-
मेवैतत् नार्थतत्त्वव्यवस्थापनप्रवणम् । अव्यवच्छेदश्चास्य श्रद्धामात्रगम्यः; नैपथ्यव्यव-

(१) अतीन्द्रियार्थः । (२) तुलना—“गिरां सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयात् । अपौरुषेयं
मिथ्यार्थं किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ॥” —प्रमाणवा० ३।२२५। “यावता गुणवद्वक्त्रभावे तद्गुणैरनिरा-
कृतैर्दोषैरपोहितत्वात् तत्र सापवादं प्रामाण्यम् ।” —प्रमेयक० पृ० ३९७ । सम्मति० टी० पृ० ४१ । स्या०
२० पृ० ६३४ । (३) वक्तृगुणैः । (४) प्रामाण्यस्य निराकृतत्वात् । (५) अप्रामाण्यभूताम् ।
(६) अप्रामाण्यनिवृत्तेः । (७) चोदनायाः । “यतोऽपौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात् प्रति-
पन्नमत एव वा ?” —प्रमेयक० पृ० ३९७ । सम्मति० टी० पृ० ४१ । स्या० २० पृ० ६३५ । (८)
अस्मादादिवदवगदित्वसिद्धिः । (९) वेदाध्ययनवाच्यत्वात् हेतौ । “किं तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरणं
सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ?” —स्या० २० पृ० ६३५ । (१०) “सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः,
सर्वलोकगतो वा ?” —स्या० २० पृ० ६३५ । (११) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य । (१२) सम्प्रदायाव्यव-
च्छेदस्य । (१३) विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वादेव । (१४) प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतम् । (१५) सम्प्रदायाव्यवच्छे-
दात्मकं प्रमाणम् । (१६) वेदस्य । तुलना—“अपि च आदिमतोऽपि शास्त्रग्रामस्य सम्प्रदायव्यवच्छे-
दोऽस्ति वेदस्य पुनरुतादेरसौ नास्तीति कः श्राद्धिको भवतोऽपरः प्रतिपद्येत ?” —स्या० २० पृ० ६३५ ।

१—पोदित—आ० । २—पादित—श्र० । ३ सर्वगतोः व०, श्र० । ४ ततो दृष्टयङ्गुपारम्पर्यवत्
संशयजनकवस्तुमेवेतदर्थव्यवस्था भवति सम्प्रदायाध्ययनप्रवणम् व० । ५—जननेव तन्नार्थ—आ० ।

हारवालक्रीडादीनाम् आदिमतामपि निर्मूलोच्छेदोपलम्भेन अनादौ वेदे अव्यवच्छेदस्य
श्रद्धामात्रादन्यतः संभावयितुमशक्यत्वात् ।

- यदयुक्तम्—“अतीतानागतौ कालौ” इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; आंगमा-
न्तरेऽप्यस्याविशेषात् । किञ्च, इदानीं यथाभूतो “वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृ-
5 पुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालोऽत्वात् साध्येत, अन्य-
थाभूतो वा ? यदि तथाभूतः; तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्यथाभूतः; तदा सन्निवे-
शादिवदप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतस्यैव तस्यैव तद्गहितत्वं साध्येत, नच सिद्धसाधनम्
अन्यथाभूतस्य कालस्यैवाऽसंभवात्; ननु “अन्यथाभूतः कालो नास्ति” इत्येतत् कुतः
प्रमाणात् प्रतिपन्नम्—अत एव, अन्यतो वा ? यदि अत एव; इतरेतराश्रयः—अन्यथाभूतका-
10 लाभावासिद्धौ हि अतोऽनुमानात्तद्गहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेऽत्र अन्यथाभूतकालाभावासिद्धि-
रिति । अन्यतः “तस्मिन्नास्ति चार्थानर्थक्यम् अपौरुषेयत्वस्यापि तत एव प्रसिद्धेः । ततो वेदे
अपौरुषेयत्वप्रसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात् कथमसौ अपौरुषेयः स्यात् ।

- अस्तु वा, तथाप्यसौ^{३०} व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ?
न तावद्व्याख्यातः; अतिप्रसङ्गात् । अथ व्याख्यातः; कुतस्तद्व्याख्यानम्—स्वतः, पुरुषाद्वा
15 न तावत् स्वेत एव; “अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थः नायम्” इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपा-

(१) पू० ७२३ पं० १ । (२) तुलना—“कालत्वपुरुषत्वादौ सन्दिग्धव्यतिरेकिता । पूर्ववत्करण-
शक्तेः नराणामप्रसाधनात् ॥”—तत्त्वसं० का० २७९१ । (३) तुलना—“किञ्चेदानीं यथाभूतो वेदाकरण-
समर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः, अतीतानागतो वा तथाभूतः कालत्वासाध्येत
अन्यथाभूतो वा ?”—प्रमेयक० पू० ३९१ । सम्प्रति० टी० पू० ३१ । स्या० २० पू० ६३५ । (४)
वेदकर्तृपुरुषरहितः । (५) हेतोः वेदकारविवाजितः इति शेषः । (६) वेदकर्तृपुरुषसहितः । (७)
वेदकर्तृपुरुषरहितकालस्य वेदकारविवाजितत्वमिष्टमेव । (८) वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुष-
सहितो वा । (९) वेदकर्तृपुरुषरहितस्यैव । (१०) कालस्य । (११) वेदकाररहितत्वम् । (१२)
वेदकर्तृपुरुषसहितकालसम्भावना । (१३) वेदकर्तृपुरुषसहितस्य । (१४) तुलना—“नवव्यथाभूतः
कालो नास्तीत्येतत् कुतः प्रमाणात् प्रतिपन्नम् ?”—प्रमेयक० पू० ३९१ । सम्प्रति० टी० पू० ३१ । स्या० २०
पू० ६३५ । (१५) कालत्वात् हेतोः । (१६) वेदकर्तृसहितः । (१७) वेदकारविवाजितत्व ।
(१८) अन्यथाभूतकालाभावासिद्धौ । (१९) कालत्वादिति हेतोः । (२०) तुलना—“सहि वेदः
केनचिद् व्याख्यातः धर्मस्य प्रतिपादकः स्यादव्याख्यातो वा ?”—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक०
पू० ४०० । स्प० २० पू० ६३६ । प्रमेय० ३।९९ । (२१) तुलना—“न हि तावत्स्थितोऽयं ज्ञानं वेदः
करोति न । यावन्न पुरुषैरेव दीपभूतैः प्रकाशितः ॥ ततश्चापौरुषेयत्वं भूतार्थज्ञानकारणम् । न कल्प्यं
ज्ञानमेतद्गच्छं व्याख्यानात्प्रवर्तते ॥ सत्यप्येषा निरर्थाज्ञो वेदस्यापौरुषेयता । यदिष्टं फलमस्या हि ज्ञानं
तत्पुरुषाश्रितम् ॥ स्वतन्त्राः पुरुषास्तेह वेदे व्याख्यां यथाशक्ति । कुर्वाणाः प्रतिबद्धं ते शक्यते नैव
केनचित् ॥ मोहमानादिभिर्दोषैरतोऽपि बिभ्रुताः श्रुतेः । विपरीतामपि व्याख्यां कुर्यादित्यभिशाङ्क्यते ॥”
—तत्त्वसं० का० २३६६-७१ । (२२) तुलना—“अर्थोऽयं नायमर्थ इति शब्दाः वदन्ति न । कल्प्यो-

१ अधिमता-अ० । २ वेदाकरणसमर्थ-अ० । ३ तद्वद्वृत्तपुरुष-अ० । ‘तत्कर्तृपुरुषरहितो’
इति नास्ति आ० ।

दनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात् । पुरुषाच्चेत्; कथं तद्व्याख्यानात् पौरुषेया-
दर्थप्रतिपत्तौ दोषाशङ्कानिवृत्तिः स्यात् ? पुरुषा हि रागादिमन्तो विपरीतमप्यर्थं व्याच-
क्षाणा दृश्यन्ते । संवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनार्थक्यम्, पौरुषेयत्वेऽपि
वेदस्य संवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः । नच व्याख्यानानां संवादोऽस्ति, परस्परविरुद्ध-
भावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्यं विसंवादोपलम्भात् ।

5

किञ्च, असौ तद्व्याख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा ? प्रथमपक्षे अतीन्द्रि-
यार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधः । धर्मादौ च अर्थे प्रामाण्योपपत्तेः “ धर्मे चोदनैव
प्रमाणम् ” [] इत्यधारणानुपपत्तिश्च । अथ तद्विपरीतः; कथं तर्हि तद्व्या-
ख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, अयथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तेः ?

ज्यमर्थः पुरुषैः ते च रागादिसंयुताः ॥”-प्रमाणवा० ३।३१२ । “वेदो नरं निराशंसो ब्रूतेऽर्थं न सदा
स्वतः । अन्धात्तयष्टितुल्यां तु पुंव्याख्यां समपेक्षते ॥ स तया कृष्यमाणश्च कुवर्मन्यपि सम्पतेत् । ततो
नालोकावद्वेदश्चर्भूतस्त्वच युज्यते ।”-तत्त्वसं० का० २३७४-७५ । प्रमेयक० पृ० ४०० । स्या० २०
पृ० ६३६ । प्रमेयर० ३ । ९९ । “अथवा न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगम-
प्रसङ्गात् ।”-धवलादी० पृ० ११५ ।

(१) तुलना-“व्याख्याप्यपौरुषेयस्य मानाभावान्न सङ्गता । मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वा-
द्यनिश्चिते ॥”-शास्त्रवा० १०।३१ । (२) तुलना-“अथान्ये व्याचक्षते; तेषां तदर्थविषयपरिज्ञान-
मस्ति वा न वा । प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा ?”-धवलादी० पृ० १५९ । “व्याख्याता
रागादिमान् विरागो वा ?”-आप्तप० का० ११० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ८ । प्रमेयक० पृ० ४०१ ।
स्या० २० पृ० ६३६ । प्रमेयर० ३ । ९९ । (३) तुलना-“यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थे स्वर्गसम्बन्धादौ जैमिन्यादेरनागमस्य
अतीन्द्रियार्थवित् कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत् ॥ यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थे स्वर्गसम्बन्धादौ जैमिन्यादेरनागमस्य
आगमनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य संभवः तदा अतीन्द्रियार्थदर्शी कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत् ततस्तत्प्रतिक्षेपो न
युक्तः । यदि तु न कश्चिदतीन्द्रियार्थदर्शी तदा-स्वयं रागादिमान्नार्थं वेति वेदस्य नाप्यतः । न वेदयति
वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः ॥”-प्रमाणवा०, मनोरथ० ३।३१६-१७ । (४) अतीन्द्रियार्थद्रष्टुः ।
(५) “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।”-जैमिनिसू० १।१।२ । “चोदनैव प्रमाणञ्चेत्येतद् धर्मोऽवधारितम् ।”
-मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४ । “यो धर्मः स चोदनालक्षणः, चोदनैव तस्य लक्षणम् ।”-शास्त्रदी०
१।१।२ । उद्धृतमिदम्-आप्तप० पृ० ५७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० २०
पृ० ६३६ । (६) यथार्थप्रतीत्यनुपपत्तेः । तुलना-“अपि च वेदस्तद्व्याख्यानां वा पुरुषेण पुरुषाद्योपदि-
श्यमानमनष्टम्प्रदायमेवानुवर्तते इत्यत्रापि शपथः शरणम् । आगमभ्रंशकारिणामाहोपनिषत्कथा तद्दर्शन-
विवेकेषेण वा तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणादन्यथारचनासंभवात् ।
अपि चात्र भवान् स्वमेव मुखवर्णं स्ववादानुरागान्तुं विस्मृतवान् ‘पुरुषो रागादिभिस्पृष्टोऽनुत्तमपि
ब्रूयादिति नास्य वचनं प्रमाणम्’ इति । तदिहापि किञ्च प्रत्यवेक्ष्यते संभवति न वेति । स एवोपदिश-
न्नूपल्लावात् वेदवेदार्थं वाऽन्यथाप्युपदिशेदिति । श्रूयन्ते हि कैश्चित् पुरुषैरुत्सन्नोद्धूतानि शाखान्तराणि
इदानीमपि कानिचिद् विरलाध्येतृकाणि । तद्वत् प्रचुराध्येतृकाणामपि कस्मिंश्चित्काले कथञ्चित्संहार-
संभवात् । पुनः संभावितपुरुषप्रत्ययात् प्रचुरतोपगमनसंभावनासंभवाच्च । तेषाञ्च पुनः प्रतानयितृणां
पुरुषाणां कदाचिदधीतविस्मृताध्ययनानामन्येषां संभावनाभ्रंशभयादिनाज्यथोपदेशसंभवात् । तत्प्रत्ययाच्च

- नच मन्वादीनां सातिशयप्रज्ञत्वात् तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां सातिशयप्रज्ञत्वसिद्धेः । तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? स्वतश्चेत्; सर्वस्य स्यादविशेषात् । वेदार्थाभ्यासाच्चेत्; ननु वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा अभ्यासः स्यात् ? न तावदज्ञातस्य; अतिप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातस्य; कुतस्त-
 5 ज्ञप्तिः—स्वतः, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत्; अन्योन्याश्रयः—सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिंश्च सति तदार्थाभ्यास इति । अथ अन्यतः; तर्हि तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यतः इति अस्तीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे अन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुप-
 10 पत्तिः । अदृष्टमपि न प्रज्ञातिशयप्रसाधकम्; तस्य आत्मान्तरेऽपि सद्भावात् । न तथाविधमदृष्टमन्यत्र मन्वादावेव अस्य संभवादिति चेत्; कुतस्तत्रैवास्य संभवः ?
 वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्; स तर्हि ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा वेदार्थस्य अनुष्ठाना स्यात् ?
 15 अज्ञातस्य चेद्; अतिप्रसङ्गः । ज्ञातस्य चेत्; चक्रकप्रसङ्गः—सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टविशेषसिद्धिः, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति । ब्रह्मणोऽपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सति अतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः सिद्धेत् । तच्चार्थस्य कुतः सिद्धम् ? धर्मविशेषाच्चेत्; स एव चक्रकप्रसङ्गः—सिद्धे हि वेदार्थपरि-
 20 ज्ञानातिशये तत्पूर्वकानुष्ठानविशेषः सिद्धेत्, ततः तज्जनितधर्मविशेषः सिद्धेत्, तस्मिन्निदौ च वेदार्थपरिज्ञानातिशयः सिद्धेदिति । ततोऽस्तीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तिरेव ।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात् लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तद्विशिष्टवैदिकपदवा-

तद्भक्ततानामविचारण प्रतिपत्तेः बहुष्वप्यध्येतुषु संभावितात् पुरुषाद् बहुलं प्रतिपत्तिदर्शनात् । ततोऽपि कथञ्चिद् विप्रलम्भसंभवात् । किञ्च, परिमितव्याख्यानुपुरुषपरम्परामेव चात्र भवतामपि क्षुण्मः । तत्र कश्चिद् द्विष्टानुवृत्तानामन्यतमः स्यादपीति अनाश्वासः ।—प्रमाणवा० स्ववृ० १।३२१ ।

(१) तु०—“कुतस्तस्य तादृशः प्रज्ञातिशयः ? श्रुत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत्; सोऽपि कुतः ? पूर्वजन्मनि श्रुत्यभ्यासादिति चेत्; स तस्य स्वतोऽप्यतो वा ? स्वतश्चेत्; सर्वस्य स्यात् । तस्यादृष्ट-
 वशाद् वेदाभ्यासः स्वतो युक्तो न सर्वस्य तदभावादिति चेत्; कुतस्तस्यैव अदृष्टविशेषः तादृग् ? वेदार्थानुष्ठानाच्चेत्; तर्हि स वेदार्थस्य स्वयं ज्ञातस्यानुष्ठानात् स्यादज्ञातस्य वापि ? न तावदुत्तरः पक्षः, अतिप्रसङ्गात् । स्वयं ज्ञातस्य चेत्; परस्परश्रयः । “मन्वादेर्वेदाभ्यासोऽन्यत एवेति चेत्; स कोऽन्यः ? ब्रह्मेति चेत्; तस्य कुतो वेदार्थज्ञानम् ? धर्मविशेषादिति चेत्; स एवान्योन्याश्रयः ।”—तत्त्वार्थसङ्को०
 ५०९ । प्रमेयक० ५०४०१ । स्या० २० ५० ६३६ । (२) तुलना—“यस्मादेकोऽपि तन्मध्ये नैवातीन्द्रियदुर्लभतः । अनादिः कल्पितायेषा तस्मादन्धपरम्परा ॥ अन्धेनान्धः समाकृष्टः सम्यग्वर्त्म प्रपद्यते । ध्रुवं नैव तथाप्यस्या विफलाज्जादिकल्पना ।”—तत्त्वसं० का० २३७९-८० । “अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा । तदर्थदर्शिनोऽभावात्स्लेच्छादिव्यवहारवत् ।”—स्यायवि० का० ११७ । अष्टश०, अष्टसह० ५० २३९ । प्रमेयक० ५०४०१ । स्या० २० ५० ६३७ । तत्त्वचि० शब्द० ५० ३६९ ।
 (३) प्रज्ञातिशयप्रयोजकस्य अदृष्टस्य । (४) मन्वादिः । (५) ब्रह्मणः । (६) ब्रह्मणः । (७) धर्मविशेषसिद्धौ ।

१ अदृष्टत्वात् श्र० । २-प्तिः स्वतश्चेदप्यो-आ० ।

क्यार्थप्रतिपत्तोरपि प्रसिद्धिः अश्रुतकाव्यादिवत्, अतो न वेदार्थप्रतिपत्तौ अतीन्द्रियार्थ-
दर्शना किञ्चित् प्रयोजनम्; इत्यप्यपेशलम्; 'लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि अनेकार्थ-
त्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण व्याचिर्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणा-
दिभ्यस्तन्निमित्तम्; तेषां नमप्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेन अग्न्या-
दिशब्देन अविशिष्टत्वाद् वैदिकस्य अग्न्यादिशब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिः; तर्हि 'पौरुषेयेणापि 5
तेन अविशिष्टत्वात् पौरुषेयोऽप्यसौ' कथन्न स्यात्? लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्य अर्थ-
वत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्, तत्र अयं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य
तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति? उभयमपि गृह्णीयात् जह्याद्वा। न च लौकिकवैदिकश-
ब्दयोः स्वरूपाविशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च 10
पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषोऽस्ति, यतो वैदिका अपौरुषेयाः शब्दा लौकिकास्तु
पौरुषेयाः स्युः। ततो ये नररचितरचनाऽविशिष्टाः ते पौरुषेयाः यथा अभिनवकूपप्रा-
सादादिरचनाऽविशिष्टाः जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टश्च वैदिकं
पदवाक्यादिकमिति ॥ छ ॥

किं पुनः पदं वाक्यञ्च इति चेत्? उच्यते—वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः
पदवाक्ययोर्लक्षणम्—समुदायः पदम्। पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो 15

(१) तुलना—“उत्पादिता प्रसिद्धयैव शङ्का शब्दार्थनिरुचये। यस्मान्नानार्थवृत्तित्वं शब्दानां
तत्र दृश्यते ॥ अन्यथासंभवाभावात्तानाशक्तेः स्वयं ध्वनेः। अवश्यं शङ्कया भाव्यं नियामकमप-
श्यताम् ॥” “सर्वत्र योग्यस्यैकार्थद्योतने नियमः कुतः। ज्ञाता वाज्जीन्द्रियाः केन विवक्षावचनादृते ॥”—
प्रमाणवा० ३। ३२३, २४, २६। प्रमेयक० पृ० ४०२। स्या० २० पृ० ६३७। (२) आदिपदेन
संसर्गादयो गाह्याः। तथा चोक्तम्—“संसर्गा विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं
शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे
विशेषस्मृतिहेतवः ॥”—वाक्यप० २। ३१७-१८। (३) इष्टार्थनियमः। (४) प्रकरणादीनामपि।
तुलना—“तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत् ॥”—प्रमेयक० पृ० ४०२। “तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेस्त्रि-
सन्धानादिवत् ॥”—स्या० २० पृ० ६३७। (५) पौरुषेयत्वदृष्टत्वापि। (६) लौकिकशब्देन। (७)
वैदिकशब्दः। (८) तात्पर्यम् पौरुषेयत्वञ्च। (९) “अथ स्यादस्त्येव तयोः स्वभावभेद इत्याह—न
चात्रेत्यादि। अत्र जगति लौकिकवैदिकयोर्वाक्ययोः स्वभावानात्वं [नच] पश्यामः। असति तस्मिन्
स्यरूपभेदे तयोः लौकिकवैदिकवाक्ययोः सामान्यस्यैव तुल्यरूपस्यैव वर्णानुक्रमलक्षणस्य दर्शनाद् एकस्य
लौकिकवैदिकस्य कंचिद् धर्मं विवेचयन् पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्वं वा विभागेन व्यवस्थापयन् पुरुषः आश-
क्यव्यभिचारवादः क्रियते ॥”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४१। “नच लौकिकवैदिकशब्दयोः शब्दरू-
पाविशेषे संकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषो
विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः स्युः ॥”—प्रमेयक० पृ० ४०२। सम्मति० टी० पृ० ३९। स्या०
२० पृ० ६३७। (१०) दृष्टव्यम्—पृ० ७२९ टि० १४। (११) तुलना—“सुप्तिङन्तं पदम्”—वाणिनि-
व्या० १। ४। १४। “ते विभक्त्यन्ताः पदम्”—न्यायसू० २। २। ५९। नाट्यशा० १। ४। ३९। “पदं पुनर्वर्ण-

१-स्तेः आ०। २ पौरुषेयत्वस्यापि ततोऽवशि-व०। ३ न लौकि-आ०, व०। ४-काश्च
पौरु-व०। ५-तरचना-आ०, व०।

वाक्यमिति । नैन्वेवं कथमिदं साधनवाक्यं घटते—‘यत् सत् तत्सर्वं परिणामि यथा घटः संश्र शब्दः’ इति, ‘तस्मात्परिणामि’ इत्याकाङ्क्षात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्ठेः ? इत्यचोद्यम् ; कैस्यचित् प्रतिपत्तुः तदनाकाङ्क्षोपपत्तेः । यस्य हि प्रतिपत्तुः ‘तस्मात् परिणामि’ इत्यत्र आकाङ्क्षाक्षयः तदपेक्षया तद् वाक्यं भवति उक्तवाक्यलक्षणसद्भावात् नान्योपेक्षया । निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तुधर्मः वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मः तस्याऽचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता तावता अर्थं प्रत्येति किमित्यपरमाकाङ्क्षे ? पक्षधर्मो-
पसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयव-
वाक्यादर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षप्रसङ्गात् न कचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः स्यात् । तर्था च
वाक्याभावात् न कचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित् स्यात् । तामिच्छता यस्य

समूहः—‘न्यायवा० पृ० १ । न्यायमं० पृ० ३६७ । “शक्तं पदम् ।”—मुक्ता० का० ८१ । “वर्णाः पदं प्रयोगाहनिन्वितैकार्थबोधकाः”—सा० द० २।५ । “व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः निरुक्तनिष्पद्वा-
दिभिः निदिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तौ पदम् ।”—काव्यमी० पृ० २१ । “वर्णानां परस्परपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम् ।”—प्रमेयक० पृ० ४५८ । “वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति ।”—प्रमाणनय० ४।१० ।

(१) तुलना—“आख्यातं साध्यसं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्—अपर आह—आख्यातं सविशेषणमित्येव । सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि । “एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम् ।”—पात० महाभा० २।१।१ । “तिङ्मुबन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारका-
न्विता ।”—अमरको० । “पूर्वपदस्मृत्यपेक्षः अन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुष्ठेण प्रतिसन्धीयमानः विशेष-
प्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम् ।”—न्यायवा० पृ० १६ । “यावद्भिः पदैरर्थपरिसमाप्तिः तदेकं वाक्यम् ।”—
वाङ्मन्याय पृ० १०८ । “पदसमूहो वाक्यमिति ।”—न्यायमं० पृ० ६३७ । न्यायवा० ता० पृ० ४३४ । “अथात्र प्रसङ्गान्मीमांसकवाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह—साकाङ्क्षावयवं भेदे पराना-
काङ्क्षशब्दकम् । कर्मप्रधानं गुणवेदकार्यं वाक्यमिष्यते ॥”—वाक्यप० २।४ । “पदानां परस्परापे-
क्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । प्रमाण-
नय० ४।१० । “मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम् । सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्या-
दिदोषतः ॥ यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयताकान्वयबोधं प्रत्यनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृशशब्दरतोम
एव तथाविचार्य वाक्यम् ।”—शब्दश० श्लो० १३ । “वाक्यं स्याद्व्ययताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।
—सा० द० २।१ । “पदानामभिधितिसार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम् ।”—काव्यमी० पृ० २२ । “वाक्यं
विशिष्टपदसमुदायः । यदाह—पदानां संहतिर्वाक्यं सापेक्षाणां परस्परम् । साख्याताः कल्पनास्तत्र
पश्चात्सन्तु ययाययम् ।”—न्यायवा० टी० टि० पृ० ८ । (२) “ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परा-
पेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घटः संश्र शब्द
इति साधनवाक्यम् ; तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षाणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्ठेरिति न शङ्कनीयम् ;
कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः, निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तुधर्मोऽयं वाक्येष्वध्यारोप्यते
न पुनः शब्दस्य धर्मः तस्याचेतनत्वात् । स चेत्प्रतिपत्ता तावताऽर्थं प्रत्येति किमिति शेषमाकाङ्क्षति ?”
—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० र० पृ० ६४१ । (३) सौगतस्य ।
(४) सौगतापेक्षया । (५) पञ्चावयववादिन्यायिकापेक्षया । (६) उपनय । (७) षष्ठावयवपेक्षया ।
(८) कचिदाकाङ्क्षापरिसमाप्त्यभावे न वाक्यपरिनिष्ठितिः ।

प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परपेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिः प्रतिपत्तव्या । एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवत् वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् ।

एतेन यत्कैश्चित् वाक्यस्य लक्षणान्तरमुक्तम्—

“आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी । एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहती (तिः) ॥ १ ॥
पदैमाद्यं पदञ्चान्त्यं पदं सापेक्षमित्यपि । वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥”

[वाक्यप० २।१-२] इति;

तत्प्रत्याख्यातम्; यस्मादाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात् ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वेन वाक्यत्वानुपपत्तेः, अन्यथा आख्यातपदाभावः स्यात् । द्वितीयपक्षेऽपि क्वचित् निरपेक्षोऽसौ, न वा ? प्रथमपक्षे अस्म- 10
न्मतसिद्धिः, अस्मुक्तस्यैव वाक्यलक्षणस्य इत्थमभ्युपगात् । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्यै क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थपरिसमाप्त्या वाक्यत्वायोगाद् अर्द्धवाक्यवत् ।

(१) “प्रकरणादिना वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपद वाक्यत्वसिद्धेः ।”—अष्टश० अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० २० पृ० ६४२ । (२) वैयाकरणैः भर्तृह-
रिप्रभूतिभिः । (३) व्याख्या—“एतेऽष्टौ वाक्यविकल्पा आचार्याणाम् । तत्राखण्डपक्षे जातिः संघात-
वतिव्येकोऽनवयवः शब्दो बुद्धयनुसंहतिरिति त्रीणि लक्षणानि । खण्डपक्षे तु आख्यातशब्दः क्रमः संघातः
पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकाङ्क्षमिति पञ्च लक्षणानि । अत्रापि संघातः क्रमः इत्याभिहितान्वयपक्षे
लक्षणद्वयम् । आख्यातशब्दः पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यन्विताभिधानपक्षे लक्षणत्रयम् इति
विभागः... इत्यमष्टादेव वाक्यविकल्पाः । मतभेदेन सम्पद्यन्ते इति बोद्धव्यम् ।”—वाक्यप० टी० २।१-२ ।
‘आख्यातं शब्दसंघातो’—मी० श्लो० न्याय० पृ० ८६० । (४) ‘बुद्धयनुसंहतिः’—वाक्यप०, मी० श्लो०
न्याय० पृ० ८६० । स्या० २० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठः—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ०
४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । नयच० वृ० पृ० १६८ अ. १ । (५) ‘पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्ष-
मित्यपि’—वाक्यप० । ‘पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं सापेक्षमित्यपि’—मी० श्लो० न्याय० पृ० ८६० । स्या० २०
पृ० ६४७ । प्रकृतपाठः—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६)
‘न्यायवादिनाम्’—वाक्यप० । ‘न्यायवादिनाम्’—मी० श्लो० न्याय०, स्या० २० । ‘न्यायवेदिनाम्’—
अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो०, प्रमेयक० । (७) आख्यातात्मकवाक्यस्य स्वरूपम्—“आख्यातशब्दे नियतं
साधनं यत्र गम्यते । तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधीयते ॥—यथा वर्षतीत्युक्ते देवो जलमिति
कर्तृकमिक्षेपात् परिपूर्णार्थत्वे वर्षति देवो जलमिति यथा वाक्यमेवं तदप्येकं पदं समासार्थं परिपूर्णार्थं
वाक्यमेवाभिधीयते ।”—वाक्यप० टी० २।३१७ । “तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वाद् अन्यथा आख्या-
तपदाभावप्रसङ्गात् । पदान्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात् प्रकृतार्थपरिस-
माप्तेः । निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम् ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक०
पृ० ४५९ । (८) जैनमत । (९) आख्यातपदस्य ।

- ‘सङ्घातो वाक्यम्’ इत्यत्रापि वर्णानाम्, पदानां वा सङ्घातो वाक्यं स्यात् ? प्रथमपक्षे पदाय दत्तो जलाञ्जलिः । द्वितीयपक्षे तु देशैकतः, कालकृतो वा पदानां सङ्घातः स्यात् ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषामेकस्मिन् देशे सकृदवस्थित्यभावतो देश-
कृतसंघा[ता]संभवात् । द्वितीयपक्षे तु पदेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा ? न तावद्विज्ञोऽ-
नंशः; तथाविधस्यास्याप्रतीतिः, वर्णान्तरवत् सङ्घातविरोधाच्च । अथ तेभ्योऽभिन्नोऽसौ;
किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? यदि सर्वथा; कथमसौ सङ्घातः सङ्घातित्वरूपवत् ? अन्यथा
प्रतिपदं सङ्घातप्रसङ्गः । न चैकं पदं सङ्घातो नाम अतिप्रसङ्गात् । अथ कथञ्चित् ;
तदा जैनमतप्रसङ्गः, परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदसमूहरूपतामापन्नवर्णानां कालप्रत्यासक्तिरूप-
सङ्घातस्य कैथञ्चिद्वर्णभ्यो भिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात् । साकाङ्क्षाऽन्योन्या-
पेक्षाणां तु तेषां वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुपपन्नः ।

एतेन ‘जातिः सङ्घातवर्त्तिनी वाक्यम्’ इत्यपि नोत्सृष्टम्; निरौकाङ्क्षाऽन्योन्या-

(१) संघातस्य स्वरूपम्—“केवलेन पदेनार्थो यावानेवामिधीयते । वाक्यस्य तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥ सम्बन्धे सति यत्स्वयदाधिक्यमुपजायते । वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम् ॥ केवलं पदं यस्यैवार्थस्य वाचकम् वाक्यस्यमपि तमेवाभिदधाति । ततः समुदये पदानां परस्पराव्यये पदार्थवशाद् यदाधिक्यं संसर्गः स वाक्यार्थः । उक्तञ्च—यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः स इति । अनेकपद-
संश्रयमित्यनेन संघातो वाक्यमिति दशितम् ।”—वाक्यप० टी० २।४२ । “यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् । अर्थवन्तः समुदिताः वाक्यमप्येवमिष्यते ॥”—वाक्यप० २।५५ । (२) तुलना—
“संघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणां पदानामनपेक्षाणां वा ? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वे अस्म-
त्पक्षसिद्धिः साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः । द्वितीयविकल्पे अतिप्रसङ्गः ।”—अष्टसह० पृ० २८५ ।
स्या० २० पृ० ६४४ । (३) “देशकृतः कालकृतो वा वर्णानां संघातः स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ४५९ ।
(४) पदानाम् । (५) “न वर्णभ्यो भिन्नः संघातोऽनंशः प्रतीतिमागवितारी संघातत्वविरोधाद्
वर्णान्तरवत् । नापि ततोऽनर्थान्तरमेव संघातः; प्रतिवर्णसंघातप्रसङ्गात् । न चैको वर्णः संघातो भवेत्
—तत्सर्वार्थहो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) पदानाम् । (७) पदान्तरसाकाङ्क्षत्वे
वाक्याऽपरिसमाप्तिः, अन्योऽन्यानपेक्षत्वे तु पदत्वमेव स्यान्न वाक्यत्वमिति । (८) “अथ जातिः
संघातवर्त्तिनीत्युद्दिष्टस्य जातिस्फोटस्यापि दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण स्फुटीकरणायाह—यथा दूषणविशेषेऽपि
कर्मभेदो न गृह्यते । आवृत्तौ व्यज्यते जातिः कर्मजातिर्मणादिभिः ॥ वर्णवाक्यपदेष्वेवं तुल्योपव्यञ्जना
श्रुतिः । अत्यन्तभेदे तत्त्वस्य सरूपेव प्रतीयते ॥ इह भ्रमणलक्षणा कर्मजातिर्मणा विशिष्टप्रत्यक्षजनितेन
क्षेपविशेषेणाभिव्यक्ता प्रत्येकपरिसमाप्तत्वात् । न च पार्वस्त्वेन सा विज्ञायते । भ्रमणानामावृत्तौ तु
भ्रमणं भ्रमणं प्रति प्रतिपन्ना सा गृह्यते । एवं वर्णपदवाक्येषु श्रुतिरभिव्यञ्जको ध्वनिरत्यन्तभेदे
तत्त्वस्य वर्णपदवाक्यस्फोटलक्षणस्य साऽभिव्यञ्जिका सरूपेव प्रतीयते, परमार्थतो भिन्नापि सती ।
कीदृशी ? तुल्योपव्यञ्जनेति । तुल्यः सदृश उपव्यञ्जनः स्थानकरणाभिधातलक्षणो यस्याः सा तथेति ।
तेन भिन्नप्रत्यलोदीरितध्वन्यभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोद्धव्यम् । युक्तञ्चेतत् । यथा
निरंशास्यास्य स्फोटस्य पूर्वापरभाव उपाधिकृतो न स्वतो नित्यत्वादिति ।”—वाक्यप०, टी० २।२०,
२१ । (९) तुलना—“निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसंघातवर्त्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्य-
त्वघटनात् ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

पेशपदसङ्घातवर्तिन्याः सट्टशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चित्ततोऽभिन्नायाः जातेर्वाक्यत्व-
घटनात्, अन्यथा सङ्घातवाक्यपक्षोक्ताऽशेषदोषानुपपन्नः ।

‘एकोऽनैवयवः शब्दो वाक्यम्’ इत्यपि मनोरथमात्रम्; तस्य अप्रमाणकत्वात् ।
तदप्रमाणकत्वञ्च शब्दस्फोटप्राहकप्रमाणानां निषेत्स्थमानत्वात् सुप्रसिद्धम् ।

‘कर्मो वाक्यम्’ इत्येतत्तु सङ्घातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तदोषेणैव दुष्टं द्रष्टव्यम् । 5

‘बुद्धिर्वाक्यम्’ इत्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात् ? प्रथमकल्पनायां

(१) संघातात् । (२) “स्फोटश्च द्विविधः—बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन
द्विविधः । तत्र जातिलक्षणस्य जातिः संघातवर्तिनीति, व्यक्तिलक्षणस्यैकोनवयवः शब्द इति । आभ्य-
न्तरस्य तु बुद्ध्यनुसंहतिरित्यनेनोद्देशः ।”—वाक्यप० टी० २।२ । “टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकारा-
भिप्रायसमाश्रयणेन युक्तियुक्तं मन्यमानो बहिरूप आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः
स्फोटलक्षण एव वाक्यमिति क्रमेण व्याजिहीर्षुः चित्रज्ञानचित्ररूपदृष्टान्तप्रदर्शनं पूर्वमुपक्रमते । तत्र चित्र-
बुद्धिदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमह—यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते । दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा ॥
चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः । नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः ॥ तथैवैकस्य वाक्यस्य
निराकाङ्क्षस्य सर्वतः । शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते ॥ “शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽ-
र्थस्य भविष्यति । विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ॥”—वाक्यप० २।७-९, १३ । “नित्यत्वे समुदा-
यानां जातेर्वा परिकल्पने । एकस्यैवार्थात्तामाहुः वाक्यस्याव्यभिचारिणीम् ॥”—वाक्यप० २।५७ । (३)
“ओत्रबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिगाभावात्”—अष्टसह० पृ० २८५ । (४) “क्रमपक्षं व्याख्यातु-
माह—सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिताः । ते क्रमादनुगम्यते न वाक्यमभिधायकम् ॥ “क्रमव्यतिरे-
केण न शब्दात्मकं न वाक्यमभिधायकमस्तीत्युच्यते । शब्दानां क्रममात्रे च नान्यः शब्दोऽस्ति वाचकः । क्रमो
हि धर्मः कालस्य तेन वाक्यं न विद्यते ॥ वर्णानां च पदानाञ्च क्रममात्रनिवेशिनी । पदाख्या वाक्यसंज्ञा च
शब्दत्वं नेष्यते तयोः ॥ अनर्थकान्युपायत्वात्पदार्थनार्थवन्ति वा । क्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्ष-
णम् ॥”—वाक्यप० २।५०-५२, ५६ । (५) तुलना—“वार्यः पदक्रमो वाक्यं यथा वर्णक्रमः पदम् ।”—मी०
श्लो० वाक्या० श्लो० ५३ । “वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो
वाक्यमिति चेत्; स यदि परस्परपेक्षाणां निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, क्रमभूतां कालप्रत्यासत्तेरेव
समुदायत्वात्, सहभूतामेव देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वव्यवस्थितेः । अथ साकाङ्क्षः; तदा न वाक्यमर्थवा-
क्यवत् । परस्परनिरपेक्षाणां तु क्रमस्य वाक्यत्वेऽतिप्रसङ्ग एव ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ०
४६० । स्या० १० पृ० ६४४ । (६) “इदानीमन्तरे वाऽनवयवं बोधस्वभावं शब्दार्थमयं निर्विभागं
शब्दतत्त्वमिति यद्गोचरे तदेव नादैर्बहिः प्रकाशितं वाक्यमाहुराचार्या इत्यन्तरे बुद्ध्यनुसंहतिरित्युद्दिष्टं
व्याख्यातुमाह—यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् । तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ॥
अर्थभागेस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाश्यते । एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक्स्थितिः ॥ प्रकाशकप्र-
काश्यत्वं कार्यकारणरूपता । अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा ॥”—वाक्यप० २।३०-३२ ।
(७) तुलना—“बुद्ध्या न चोपसंहर्तुं क्रमो निष्कृष्य शक्यते । पदान्वये हि तद्वन्ति वर्तन्ते ओत्रबुद्धिवत् ।
तावत्स्वेव पदेष्वन्यः क्रमोज्यश्च प्रतीयते । तत्र यावत्क्रमं भेदो वाक्यार्थस्य प्रसज्यते । किञ्च,
वर्णक्रमस्य पदत्वं युज्येतापि, स ह्यर्थप्रतीत्यौपिकः क्रमान्तरे अर्थप्रतीत्यभावात् । पदक्रमस्य तु वाक्या-
र्थप्रत्ययानौपिकस्य कथं वाक्यत्वम् ? औपिकत्वे वा क्रमभेदे वाक्यार्थभेदः स्यादित्याह तावत्सु इति ।”
—मी० श्लो० न्यायर० वाक्या० श्लो० ५३-५५ । “बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्यं वा ?”
—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

सिद्धसाध्यता; पूर्वपूर्ववर्णज्ञानादितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्य अन्यवर्ण-
श्रवणानन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतुर्वृद्धात्मनो भाववाक्यस्य अस्माभिरपीष्टत्वात् । द्वय-
वाक्यरूपतां तु बुद्धेः कः सुधीः श्रद्धेयीत प्रतीतिविरोधात् ?

एतेन 'अनुसंहतिर्वाक्यम्' इत्यपि चिन्तितम्; यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य चेतसि
परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात् ।

'आद्यं पदमन्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद् भिद्यते;
परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा पदस्य वार्ताप्युच्छिद्येत ।

"येऽपि मन्यन्ते—पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि
वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते—

(१) "संहतसकलक्रमस्यैकस्यादेशप्रदेशत्वेऽप्यन्तरात्मास्त्यर्थमीत्येवाख्यायमानस्य प्रतिप्रा-
णित्वेः शब्दतत्त्वस्याक्षरचिह्नादिभिरिवाऽतथाभूतैः क्रमवद्भिर्भिर्गोचरं बुद्धेरनुसंहारः क्रमशः
पूर्वपूर्वभागप्राहिणीभिः बुद्धिभिर्जनितो य संस्कारस्त उपपन्नस्य स्मरणस्य बलादत्यवर्णभागग्रहण-
तुल्यकालः स वाक्यमिति ।"—स्या० २० पृ० ६४६ । (२) तुलना—"भाववाक्यस्य यथोक्तपदानु-
संहतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोऽभीष्टत्वात् ।"—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।
(३) "नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना । स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते ॥—साधनं
साध्यञ्च परस्परं नियतमेव, केवलमाकाङ्क्षादिवशादितरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नैव प्रकाशते
इत्याश्लेषपदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्, पदार्थाश्च वाक्यार्थ इति अव्यतिरिक्तः संघातपक्षोऽयम् ।"—
गुणभावेन साकाङ्क्षं तत्र नाम प्रवर्तते । साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ॥"—वाक्यप० २।४८-
४९ । (४) तुलना—"एवमाद्यन्तसर्वेषां पृथक् संघातकल्पने । अन्योऽन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति
वाक्यता ॥ आद्यं यदि पदं सर्वैः संस्क्रियेत विशेषतः । ततस्तदेव वाक्यं स्यादम्यश्च द्योतको गुणः ॥ एव-
मन्येषु सर्वेषु पृथग्भूतेष्वश्लेषितम् । स्वतन्त्रेषु हि वाक्यत्वं कथञ्चिन्नोपलक्षितम् ॥"—मी० श्लो० वाक्या०
श्लो० ४९-५१ । "इत्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद् भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराका-
ङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः ।"—अष्टसह० पृ० ३८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० । स्या० २० पृ० ६४६ ।
(५) मीमांसकाः । "नानापेक्ष्य पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुतः ? प्रमाणभावात् ।
न च किञ्चन प्रमाणमस्ति येन प्रमिमीमहे । न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यत्ववर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्का-
ररहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थभ्योर्थान्तरे वर्तितुमिति । पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्या-
पाराणि । अर्थेदानीं पदार्था अवगताः सन्तः वाक्यार्थं गमयन्ति । कथम् ? यत्र हि शुक्ल इति वा कृष्ण
इति गुणः प्रतीतो भवति, भवति खल्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम् । तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः
केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति । सम्पत्स्यत एषां यथा संकल्पितोऽभिप्रायः, भवन्त्यति विशिष्टार्थसंप्रत्ययः ।
विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थः ।"—शाबरभा० १।१।२५ । "साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णस्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥ वाक्यार्थमित्ये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् । पाके
ज्वालये काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥"—मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३४२-३४३ । "तस्मात्पदाभिहितैः
पदार्थैः लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते ।"—शास्त्रदी० पृ० ६०४ । "तस्मात् वाक्यं न पदानि साक्षात्
वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु । पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत् ॥"—
न्याय० मा० पृ० १०२ ।

“पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावभावतः ।” [मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११]

“पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थितः ।” [मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६]

इत्यभिधानात्; तैरपि विवक्षितपदानामन्योन्यापेक्षाणां पदान्तरानाकाङ्क्षाणां वाक्यार्थ-
प्रतिपत्तिहेतुत्वमुच्यते, तद्विपरीतानां वा ? तत्र उत्तरपक्षे अतिप्रसङ्गः । प्रथमपक्षे तु
अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन अस्मदुक्तवाक्यलक्षणानुसरणमेव ।

किञ्च, वाक्यार्थः पदार्थादन्यः, अनन्यो वा ? यदि अनन्यः; तदा पदार्थ एवासौ
न वाक्यार्थः । तत्रैव ‘वाक्यार्थः’ इति नामकरणे स्वैकम्बलस्य ‘कूर्दालिका’ इति नामकृतं
स्यात् । अथान्योऽसौ क्रियाकारकसंस्मरूपः; ननु तथाभूतोऽसौ किं नित्यः, अनित्यो
वा ? यद्यनित्यः; किं विवक्षितपदार्थैर्जन्यते, पदार्थान्तैरैवा ? पदार्थान्तरोत्पाद्यत्वे स्वसि-
द्धान्तविरोधः । विवक्षितपदार्थोत्पाद्यत्वे त एव उत्पादकाः त एव ज्ञापकाः स्युः,
तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ?
प्रथमकल्पनायाम् असति वाक्यार्थे मेये कै ते ज्ञानमुत्पादयेयुः ? उत्पादयतां वा, तेषां
न तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविद्यमानविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवत् । अथ असन्त-
मपि तं कर्तव्यतया ते प्रतिपादयन्ति तेनायमदोषः; ननु किंस्वरूपेयं तत्कर्तव्यता
नाम—भावरूपा, अभावरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा व ? यदि भावरूपा; तर्दा विद्य-
15

(१) “सिद्धान्तमाह—अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न नः । पदार्थानां तु मूलत्वं दृष्टं
तद्भावभावतः । सत्यं न वाचकं वाक्यं वाक्यार्थस्योपपद्यते ॥ यद्यपि प्रत्येकं पदं संहतानि वा साक्षात्
मूलं तथा जातिः सम्बन्धज्ञानं सावयवनिरवयवाक्यानि तथापि पदार्थाः पदैः प्रत्यार्थिताः प्रत्यासत्त्यपेक्षया
योग्यत्वसनाथा मूलं भविष्यन्ति, तद्भावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भावादिति ।” —मी० श्लो० व्याख्य० वाक्या०
श्लो० ११०—११ । उद्धृतोऽयम्—सम्मति० टी० पृ० ७४३ । ‘तद्भावभावतः’—प्रमेयक० पृ० ४६१ ।
(२) अन्योन्यान्तपेक्षत्वे पदत्वमेव स्यात् वाक्यत्वम्, पदान्तराकाङ्क्षत्वे वाक्याऽपरिसमाप्तिः । (३)
‘तेत्यन्धसर्पविलप्रवेश’—प्रमेयक० पृ० ४६१ । (४) तुलना—“यद्यसौ पदार्थादिभिन्नः तदा पदार्थ एव
स्यात् वाक्यार्थः तथा च कुतः पदार्थगम्यता ? अथ क्रियाकारकसंस्मरूपः पदार्थादिष्वन्तरं वाक्यार्थः,
नन्वसावपि यद्यनित्यः तदा कारकसंपाद्यः, पदार्थसंपाद्यो वा ?”—सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (५)
‘स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् ।”—अष्टसह० पृ० ९ । (६) “पदार्थोत्पाद्यत्वेऽ-
पि य एव पदार्थास्तस्योत्पादकास्त एव यदि ज्ञापकाः, तदा पूर्वं किं ज्ञापकाः उत उत्पादका इति वक्त-
व्यम् ।”—सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (७) विवक्षितपदार्थाः । (८) क्रियाकारकसंस्मरूपः । “भावनैव
हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवतया । अनेकगुणजात्यादिकारकाथानुरञ्जिता । पदार्थाहितसंस्कारचित्रपिण्ड-
प्रसूतया । पदार्थपदबुद्धीनां संसर्गस्तदपेक्षया ॥”—मी० श्लो० वाक्य० श्लो० ३३०—३३ । (९)
‘कर्तव्यतया ते तं ज्ञापयन्तीति चेत्; तस्यामपि भावाभावोभयानुभयविकल्पानतिक्रमात् ।”—सम्मति०
टी० पृ० ७४२ । (१०) “आद्यविकल्पे तत्कर्तव्यतया भावस्वभावतया विद्यमानवाक्यार्थविषया चोदना
स्यात्, तथा च विद्यनोपलम्भनत्व-सत्सम्प्रयोगजत्वोपपत्तेः अध्यक्षवन्न भावना अर्थविषया स्यात् ।”—
सम्मति० टी० पृ० ७४२ ।

१ तद्भावतः श्र० । २ कृते श्र० । ३—किंरूपेयं व०, श्र० । ४ तदा विद्यमानार्थ—श्र०,
तथा विद्यमानार्थ—व० ।

मानरूपार्थगोचरा चोदना प्राप्ता । न च तत्रास्याः प्रामाण्यमिष्टम्; अनिष्टसिद्धि-
प्रसङ्गात् । विद्यमानस्य कर्तव्यता च स्ववचनविरुद्धा । अभावरूपतायामपि एतदेव
दूषणम्, अस्यापि स्वरूपेणाविद्यमानत्वात् । तद्वृत्तस्य खरविषाणवत् कर्तव्यताविरोधात् ।
अभावे चोदनायाः प्रामाण्यानभ्युपगमाच्च । उभयरूपतापि अनेनैव प्रत्युक्ता । अनुभ-
यरूपतायां तु चोदनायां निर्विषयत्वादप्रामाण्यमेव स्यात् । न च अनुभयरूपता एकस्यै-
कदोषपन्ना; विधिप्रतिषेधधर्मयोरेकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यंभावित्वात् । अथ पूर्व-
मुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति; तर्हि विद्यमानविषयत्वात् तत्रास्याः प्रामाण्यानुपपत्तिः ।
एतेन निर्व्यवाक्यार्थपक्षः प्रत्युक्तः; विद्यमानार्थविषयतया अप्रामाण्यानुपपत्ताविशेषात् ।

किञ्च, प्रसिद्धे पदे वाक्ये वा पदार्थैवाक्यार्थाभिव्यक्तिर्वक्तुं युक्ता, न च तत्
प्रसिद्धम् । तद्वि वर्णभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात् ? यद्यभिन्नम्; तदा वर्णा एव,
पदवाक्यद्वयमेव वा । भेदेऽपि तद् दृश्यम्, अदृश्यं वा ? अदृश्यत्वे ततोऽर्थप्रतीतिर्न
स्यात् । अज्ञाताज्ञा (ताज्ज्ञा) पकार्थप्रतीतिवतिप्रसङ्गात्, प्रतीत्यनुपरमानुषङ्गाच्च ।
नापि दृश्यम्; वर्णव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात् । नहि देवदत्तादिवर्णेषु तद्व्यतिरिक्तं
निराशमेकं पदं वाक्यं बोधोपलभामहे ।

किञ्च, तत् पदं वाक्यं वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते, वर्णद्वारेण वा ? न तावत् स्वातन्त्र्येण;
वर्णाऽश्राविणोऽपि पदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । वर्णद्वारेणापि सावयवस्यार्थं प्रतीतिः
स्यात्, निरवयवस्य वा ? सावयवत्वे प्रागुक्तमेव पदवाक्यलक्षणसङ्गीकृतं स्यात्, अन्यो-
न्यापेक्षाणां वर्ण-पदान्तरानपेक्षाणां कालप्रत्यासत्तिलक्षणस्य समूहस्यैव सावयवपद-
वाक्यरूपतोपपत्तेः । अथ निरवयवम्; तर्हि समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्यः प्रतीयते, व्यस्ते-
भ्यो वा ? न तावत्समस्तेभ्यः, उच्चरितप्रध्वंसिनां ^{१५}तेषां सामस्त्यासंभवात् । नापि
व्यस्तेभ्यः; प्रथमवर्णपदश्रवणकालेपि सकलपदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गतः शेषवर्णपदोच्चा-

(१) विद्यमानार्थे । (२) चोदनायाः । (३) विद्यमानोपलम्भनत्वेन सत्सम्प्रयोगजत्वापत्त्या
प्रत्यक्षत्वमेव स्यात् । (४) “अभावस्य तुच्छतया कर्तुमशक्तेः अनुच्छल्लेऽपि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात्
कर्तव्यतासंभवात् । नचाभावविवर्धं चोदनायाः परैः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, अभावप्रमाणविषयत्वाच्च
अभावस्य, तद्विषयत्वे चोदनाया अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च ।”-सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (५)
अभावस्यापि । (६) अविद्यमानस्य । (७) विद्यमानार्थविषयत्वेन चोदनायाः प्रत्यक्षाद्यवगतार्थगोचर-
त्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गः ।”-सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (८) “अथ नित्यो वाक्यार्थः पदार्थः प्रतिपाद्यते;
नन्वेवं विद्यमानार्थगोचरत्वं चोदनायाः स्यात्, तथा च त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका
चोदनेत्यभ्युपगमव्याधातः ।”-सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (९) प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतत्वात् अपूर्वार्थबोधकत्वा-
भावतः प्रामाण्यानुपपत्तिरिति भावः । (१०) पदम् । (११) अज्ञातपदस्य सुप्तमूर्च्छितादेवार्थप्रतीतिः
स्यात् । (१२) अज्ञातज्ञापकादर्थप्रतीती हि सत्यामपि एकपदार्थप्रतीती अन्यस्मादज्ञातपदात् पुनरर्थ-
प्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रतीत्यनुपरमः । (१३) पदस्य । (१४) पदस्य वाक्यस्य वा । (१५) वर्णानाम् ।

१ अतात्यातात् ज्ञापका-आ०, अज्ञातापका-श्र० । २-दर्थे प्र-ब० । ३-तावत्प्रतिप्र-ब०, श्र० ।
४ पदवाक्यं श्र० । ५ बोधोपलभा-ब०, बोधोपलभा-श्र० । ६-तीयेत व० ।

रणवैयर्थ्यप्रसक्तेः । अथ सकलवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणमिष्यते; नन्वसौ बुद्धिः किं स्मरणम्, उत अध्यक्षम् ? न तावत् स्मरणम्; अंगुहीताऽन्त्यवर्णग्राहकत्वात् । नापि प्रत्यक्षम्; अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात् । अथ पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं जन्यते, तेनैवधारणम्; नन्वेतत् प्रमाणम्, न वा ? प्रमाणञ्चेत्; किं प्रत्यक्षाद्यन्यतैमत्, प्रमाणान्तरं वा ? न तावत् तदन्तरम्; प्रमाणसंख्या-
व्याघातप्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतैमत्; तत्र तदैन्यतमरूपतायाः प्रत्यभिज्ञान-
विचारावसरे प्रतिव्यूढत्वात् । अथ कल्पनाज्ञानमेवेदं न प्रमाणम्; कथमतस्तत्त्व-
सिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? वाक्यस्य वा काल्पनिकत्वानुषङ्गाद् वास्तवत्वानुपपत्तिः । ततो
यथोक्तलक्षणमेव पदं वाक्यं वा अभ्युपगन्तव्यम् तस्यैव प्रसाधितप्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञाने
प्रतिभासनादिति ।

ननु वर्णपदवाक्यानामर्थप्रतिपादकत्वाभावात् तल्लक्षणप्रणयनमनुपपन्नम्; स्फोट
स्फोट एव हि अर्थप्रतिपादको न वर्णाः । ते हि समस्ताः, व्यस्ता वा
स्फोट एवार्थप्रतिपाद- तत्प्रतिपादकाः स्युः ? यदि व्यस्ताः; तदा एकेनापि वर्णेन गवाद्यर्थ-
को न तु वर्णाः इति प्रतिपत्तेः उत्पादितत्वात् द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यम् । अथ
वैयाकरणार्थादीनां पूर्व- समस्ताः; तन्न; क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषां सामस्यासंभवात् । न च
पक्षः-

(१) पूर्ववर्णबुद्ध्यंगुहीतस्य अन्त्यवर्णस्य ग्राहकत्वान्नास्य स्मृतिरूपता, पूर्वनिबनानुसारित्वा-
त्स्मृतेः । (२) प्रत्यक्षस्य च विद्यमानाग्राहकत्वात् । (३) प्रत्यक्ष । (४) विकल्पज्ञानेन । (५)
प्रत्यक्षस्मरणजनितविकल्पज्ञाने प्रत्यभिज्ञानरूपे । (६) प्रत्यक्षाद्यन्यतरूपतायाः । (७) पृ० ४१६ ।
(८) पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णप्रत्यक्षजनिते । (९) “पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति, वर्णा
एकसमयासंभवितात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः ते पदमसंसृष्टानवस्थाप्य आविर्भूतास्ति रोभूतास्चेति
प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । वर्णः पुनरकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचिताः सहकारिवर्णान्तर-
प्रतियोगित्वाद् वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेण उत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहुवो
वर्णाः क्रमानुरोधिर्नोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्ना इत्यन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारो गारविसर्जनीयाः
सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति, तदेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनि-
र्भासः तत्पदं वाचकं वाक्यस्य संकेत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रत्यक्षाक्षिप्तमभागमक्रमवर्णं
बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिष्या वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रयमाणैश्च श्रोतुभि-
रनादिवागव्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते ।”-योगभा० ३ । १७ ।
तत्त्ववै०, भास्वती, योगवा० ३ । १७ । “नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम् । निरस्तभेदं पद-
त्वमेतत् ।”-स्फोटसि० का० २९, ३६ । “एकाकारप्रिया तावद्दर्शनेभ्योऽन्यधिकं पदम् ।”-स्फोट० भा०
पृ० १ । गौरित्यादिषु विज्ञानमेकं पदमिति स्फुटम् ।”-स्फोट० न्या० पृ० १ । “तत्त्वतस्तु वाक्यमे-
वाखण्डमयूराण्डकललवदविभागं भिन्नार्थप्रतीतिहेतुभूतं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यम् ।”-स्फोटप्र० । “इत्यन-
वयवः प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागो वाक्यस्फोट एव श्रेयान् ।”-स्फोटतत्त्वम् । “तस्मादेकवर्णात्मकोऽखण्ड-
वाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम् ।”-स्फोटच० । “वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्ययको नित्यः
शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति । अत एव स्फुटद्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति

युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकल्पना युक्ता; एकपुरुषापेक्षया युगपत्तदुत्पत्तेरेवाऽसंभवात्, प्रतिनियतस्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम् । न च विभिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽपि अर्थप्रतिपादकत्वं प्रतीयते; प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात् ।

- 5 न च अन्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सति अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णानाम् अन्यवर्णं प्रति अनुग्राहकत्वानुपपत्तेः । तैद्धि अन्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? न तावज्जनकत्वम्; वर्णाद् वर्णोत्पत्तेरभावात् प्रतिनियतस्थानकरणादिसाध्यत्वात्तस्याः, वर्णाभावेऽपि आद्यवर्णोत्पत्तिप्रतीतिश्च । नापि अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्यवर्णानुग्राहकत्वम्; असतां सहकारित्वस्यैवासंभवात् । यथा च अन्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते तथा तैज्जित-
- 10

स्फुटीभवत्यस्मादर्थं इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः । "सर्वद० पृ० ३०० । "वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षं तिष्ठतीति मतस्थितिः । यद्यपि वर्णस्फोटः पदस्फोटः वाक्यस्फोटः अखण्ड-पदवाक्यस्फोटो वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटः इत्यष्टौ पक्षाः सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहणमनर्थकं दुरर्थकञ्च, तथापि वाक्यस्फोटातिरिक्तानामन्येषामन्यथास्तत्वबोधनाय तदुपादनमत एवाह-अतिनिष्कर्ष इति । "वैयाकरणभू० पृ० २९४ । परमलघु० पृ० २ । "तादृशमध्यमानादव्यङ्ग्यः शब्दः स्फोटात्मको ब्रह्मरूपः नित्यश्च । "परमलघु० पृ० २८ । (१०) "प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयीगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्तेः; नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च । तस्माद् वर्णव्यतिरेकी वर्णभ्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्ययः स्वनिमित्तमुपकल्पयति । "स्फोटसि० पृ० २८ । "ते खल्वमी वर्णाः प्रत्येकं वाच्यविषयां धियमादधीरन् नागदन्तका इव शिखावलम्बनम्, संहता वा प्रावाण इव पिठरधारणम् ? न तावत्प्रथमः कल्पः; एकस्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्तेः उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्गः । वर्णानां तु यौगपद्याभावोऽतः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वायोगात् संभूयापि नार्थधियमादधते । "योगभा० तत्त्वबै० १।१७ । "वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणार्थक्यप्रसङ्गात् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिष्वे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात् । अत्रिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणोवाभिभ्यक्त्या समुदायाभावात् एकस्मृत्युपाख्यानं वाचकः । "महाभा० प्र० पृ० १६ । "तत्र तावद्गकारादेरेकैस्माह वाच्यधीः । उदेति यदि चेदस्ति प्रथमेनैव गादिना ॥ वर्णोन्वचरितेतेह गवाद्यर्थाभिधानतः । उच्चारणं द्वितीयादिवर्णानां स्यातिरर्थकम् ॥ तदुच्चारणसामर्थ्यं नैकैकस्मात्ततोऽर्थधीः । समुदायोऽपि वर्णेषु क्रमज्ञातेष्वसम्भवी । नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यो न च सा दृश्यतेऽर्थधीः । यौगपद्येऽपि वर्णभ्यो नापि क्रमविपर्यये । "स्फोट० न्या० पृ० २ । सर्वद० पृ० २९९ ।

(१) वर्णानाम् । (२) अनुग्राहकत्वम् । (३) पूर्ववर्णानाम् । (४) वर्णोत्पत्तेः । (५) पूर्ववर्णानाम् । (६) "क्व पुनरिति सहायता, यदा न विसर्जनीयसमये वर्णान्तरोपलब्धिरस्ति ? कार्यं खलु व्यापारतः सहायता; न चास्तदस्तदानीं व्यापृतिरस्ति । स्वकालेऽपि च व्यापारस्तदानीमेव प्रवृत्तसन्नेदानीन्तनकार्योपजनननिमित्तम् । "स्फोटसि० पृ० ३३ । "असतां पूर्ववर्णानां तदानीं व्यापृतिः कथम् । असतानपि साहाय्यं वर्णानां यदि विद्यते ॥ केवलान्त्यप्रयोगेऽपि भवेदेवाभिधेयधीः । "स्फोट० न्या० पृ० ४ ।

(७) पूर्ववर्णजनिताज्ञापानि ।

संवेदनान्यपि तत्प्रभवसंस्काराश्च; 'तेषामपि तैत्कालेऽसत्त्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, संवेदेनप्रभवसंस्काराः स्योत्पादकसंवेदनविषये स्मृतिहेतवः न तु अर्थो-
न्तरे ज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः । न खलु घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पदे स्मृतिं विदधत्
दृष्टः । न च तत्संस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायता युक्ता; तौसां युगपदुत्पत्त्यभावात्,
अयुगपदुत्पन्नानाञ्च अवस्थित्यसंभवात् । न च अखिलसंस्कारप्रभवैका स्मृतिः संभवति; 5
अन्योन्यविरुद्धानेकार्थानुभवप्रभवसंस्काराणामपि एकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात् । न च
अन्यवर्णान्तपेक्ष एव 'गौः' इत्यत्र अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णोच्चारणवैय-
र्थ्यानुवङ्गात्, घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्याप्यस्यै ककुदादिमर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च ।
तत्र वर्णाः समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादकाः संभवन्ति । अस्ति च गवादिशब्दे-
भ्योऽर्थप्रतीतिः, अतस्तदन्वयानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तः अर्थप्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युप- 10

(१) पूर्ववर्णजनितसंवेदनप्रभवसंस्काराः । "अर्थधीकृत् संस्कारो न तच्छक्तिर्न तज्जधीः । न
तस्यापूर्वकल्पस्य कल्पकं जनकं फलम् ॥"—स्फोटसि० भा० पृ० १८ । (२) पूर्ववर्णजनितज्ञानानां
तत्प्रभवसंस्काराणाञ्च । (३) अन्त्यवर्णकाले । (४) 'संस्काराः खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याप्रभाविताः ।
विज्ञानहेतवस्तत्र ततोऽर्थं धीर्न कल्पते ॥ संस्कारा खलु यद्वस्तुपलम्भसंभावितात्मानः तत्रैव नियतनि-
मित्तलब्धप्रतिबोधा धियमाविर्भावयन्ति नाथान्तरे । न हि जातु गवावग्रहप्रत्ययप्रभाविताः संस्कारोऽव-
स्मरणमुपकल्पयति ।"—स्फोटसि० पृ० ४४ । "स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु संस्कारः स्वकारणानुभववि-
षयनियतो न विषयान्तरे प्रत्ययमाधातुमुत्सहते, अन्यथा यत्किञ्चिदेवैकमभ्युपगम्य सर्वैः सर्वं जानीया-
दिति ।"—योगसू० तत्त्ववै० ३१ । (५) "पूर्ववर्णग्रहणजसंस्कारसंहितादन्त्यवर्णान्तवर्षधीरिति चेत्; तदपि
न; वस्तुवन्तरग्रहणजस्य संस्कारस्य वस्तुवन्तरज्ञानजनकत्वादधीनात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १६ । (५)
'नचैकस्मृत्युपादोहात् समुदायस्य संभवः । वर्णेषु क्रमद्वयेषु युगपत्स्मृत्यसंभवात् । संभवेऽपि च तेष्वेव
विपरीतक्रमेणैव गकारादिषु विज्ञानं गौरित्येकं प्रसज्यते ।"—स्फोट० न्या० पृ० १ । "अन्यस्तु सकल-
वर्णपलब्धिनिबन्धननिखिलभावनाबीजजन्मा युगपदखिलवर्णरूपपरामर्शी चरमवर्णप्रत्यक्षोपलब्धिसम-
नन्तरः स्मरणरूपः सङ्गीर्यते; क्रमसमधिगतात्मसु न युगपदनुस्मरणमित्यपि मिथ्या ।"—स्फोटसि० पृ०
६१ । (६) "न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारपिण्डलब्धजन्मस्मृतिवर्णसमारोहिणो वर्णाः समधिगत-
सहभावा वाचका इति साम्प्रतम्; क्रमाक्रमविपरीतक्रमानुभूतानां तत्राविशेषेणाधीर्धीजननप्रसङ्गात् ।"—
योगसू० तत्त्ववै० पृ० ३२२ । "पूर्वोपलब्धिभेदेऽपि भवेदर्थस्य दर्शनम् । एकोपलब्धी नैतेषां भेदः कश्चन
लक्ष्यते । पूर्वोपलब्धयो हि क्रमविशेषवत्यः परिगृहीताभिमतविपरीतानुपूर्व्यां अक्रमाद्वैकवक्तृप्रयुक्त-
वर्णविषया विपरीताश्च न पश्चाद् भाविन्यां समस्तवर्णविभासिन्यामुपलब्धवानुविपरिवर्तमानान् वर्णा-
त्मनो भिन्दन्ति ।"—स्फोटसि० पृ० ६५ । "एवं तर्हि सर्वसंस्कारजा सकलवर्णग्राहिण्येका स्मृतिरर्थ-
धीहेतुः; तदपि न; क्रमप्रत्यस्तमयेन जराराज्यदावर्थाविशेषप्रसङ्गात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १८ ।
"तुल्यत्वाद् योगपक्षस्य तदा नार्थधियो भिदा । सरोरसनदीदीनजराराजादिषु स्फुरेत् ॥"—स्फोट०
न्या० पृ० १० । (७) "न चान्त्यवर्णमात्रस्य पुरःसम्बन्धवेदनम् । अक्षवत्प्रातिवृत्तत्वात् संस्कारस्य न
तद्वतः । विदितसङ्गतयो हि शब्दा यथास्वमर्थान् प्रकाशयन्ति । न चान्त्यवर्णमात्रमर्थसम्बन्धितया प्रति-
पद्यते पुरस्तात् ।"—स्फोटसि० पृ० १०५ । (८) "गौरश्च इति वा केवलोच्चारणे वा को विसर्जनी-
यस्य भेदः यत्कृतोऽर्थभेदः प्रत्ययभावाभावी च ।"—स्फोटसि० पृ० ३३ । (९) विसर्जनीयस्य ।

गन्तव्यः, प्रत्यक्षतः तस्यैव अवभासमानत्वात् । विभिन्नतनुषु हि वर्णेषु अभिन्नाकारं श्रोत्रान्वयव्यतिरेकावुपधाप्यध्यक्षं स्फोटसद्भावमेव अवभासयति । नैहि तद् वर्णविषयम्; वर्णानामन्योन्यव्यावृत्तरूपतया अभिन्नाकारावभासिप्रत्यक्षोत्पादनासमाध्यासंभवात् । नापि सामान्यविषयम्; गकारौकारविसर्जनीयेषु वर्णत्वव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्यासंभवात् । वर्णत्वस्य च प्रतिनियतककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न चेदं भ्रान्तम्; अवाध्यमानत्वात् । न चावाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्य असत्त्वं युक्तम्; अवयविद्वयदेरपि असत्त्वप्रसङ्गात् ।

नित्यश्चासौ अभ्युपगन्तव्यः । अनित्यत्वे सङ्केतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात् । असङ्के-
 10 तिताच्छब्दात् अर्थप्रतीतरेसंभवात् । संभवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थ-
 प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् सङ्केतकरणवैयर्थ्यं स्यात् । ननु 'देवदत्त गामभ्याज' इत्यादि वाक्य-
 स्फोट अन्तरालेष्वपि शब्दप्रतिपत्तयः संवेद्यन्ते अतस्तत्रापि तावद्वा (द्वा) स्फोटः कल्पनीयः तथा च स्वमतव्याघातः, तस्याऽखण्डस्यैकस्य तत्र प्रसिद्धेः; इत्यप्यचोद्यम्; अर्त्त-
 रालप्रत्ययानां स्फोटाभिव्यक्तिहेतुतया विभिन्नस्फोटायोग्यत्वात् । यथैव हि पुनः पुनः

(१) "तत्र प्रत्यक्षं तावत्प्रसिद्धमेव, गौरित्युच्चारणे सत्येकमेवेदं पदमित्येकाकारविज्ञानोपायात् । न चेदं वर्णमात्रविषयं भवितुमर्हति; तेषां भिन्नानां भ्रातृत्वाकारज्ञानविषयत्वायोगात् । न चेदं भ्रान्तम्; भ्रान्तिनिमित्ताभावात् ।" —स्फोटसि० भा० पृ० १ । "प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता । मानान्तरेषु ग्रहणमथवा नैव हि ग्रहः ॥ इन्द्रियं हि व्यक्तावभासिनोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य हेतुः यथा दूराद् ग्रहणे सूक्ष्मार्थनिरूपणयाञ्च । लिङ्गशब्दादयस्तु निश्चितात्मानं प्रत्ययमुपजनयन्त्येकरूपं नैव वा तत्र व्यक्ताव्यक्तग्रहणबुद्धिभेदः । अर्थश्च शब्दप्रत्ययावसेयः, स्फोटात्मा तु प्रत्यक्षवेदनीय इति निरवद्यम् ।" —स्फोटसि० पृ० १६९ । (२) "न च समुच्चयज्ञानोपारोहि वर्णनिरन्धनार्थबोधाभिप्रायं 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति, नापि शब्दजात्यभिप्रायम् । तथाहि—नेक्षिता जातिशब्दानां समुदायानुपातिता । जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तिर्वा जातिसङ्ज्ञता ॥ न तावदिदं शब्दजात्यभिप्रायम् । न शब्दजातितीर्थप्रतीतिः; गवाश्वादिष्वेव तु तद्विशेषादभिधेयाविशेषप्रसङ्गात् । "नापि शब्दव्यक्त्यभिप्रायम्; तद्भेदात् गोशब्दादित्येकवचनानुपपत्तेः ।" —स्फोटसि० पृ० ७३ । (३) "अनादिनिधनं शब्दद्वैतत्वं यदक्षरम् ।" —वाक्यप० १।१ । (४) "यतः प्रत्येकमपि तेष्विकलं स्फोटात्मानमाभिव्यञ्जयति । न चैतरेतादवैयर्थ्यम्; अभिव्यक्तिभेदात् । तथाहि—पूर्वं ध्वनयः अनुपजातभावनाविशेषमवचनः प्रतिपत्तुः अव्यक्तरूपोपग्राहिणीः उत्तरव्यक्तपरिच्छेदोत्पादानुगुणभावनाबीजवापिनीः प्रस्थाः प्रादुर्भावयन्ति, पश्चिमस्तु पुरस्तन्ध्वनिनिबन्धनाव्यक्तपरिच्छेदप्रभावितासकलभावनाबीजसहकारि स्फुटतरविनिविष्टस्फोटविस्ममिव प्रत्ययमतिव्यक्ततरमुद्भावयन्ति । यथा रत्नपरीक्षिणः परीक्षमाणस्य प्रथमसमयाधिमानानुपास्थातमनुपास्थेय्यरूपप्रत्ययोपाहितसंस्काररूपाहितविशेषायां बुद्धौ क्रमेण चरमे चेत्तसि चकास्ति रत्नतत्त्वम् ।" —स्फोटसि० पृ० १२९ । स्फोट० न्या० पृ० २० । स्फोटसि० भा० पृ० २१ । "अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति, उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमम् । यथा स्वाध्यायः सकृत् पठ्यमानो नावधार्यते, अभ्यासेन तु स्फुटावसायः, यथा वा रत्नतत्त्वं प्रथमप्रतीती स्फुटं न चकास्ति चरमे चेत्तसि यथावदभिव्यज्यते ।" —सर्वद० पृ० ३०३ ।

१-यथैव च स्यात् श्र० । २ तावद्वास्फो-श्र०, तावत्स्फो-आ० ।

रुच्यार्थिमाणोऽनुवर्कग्रन्थः श्लोको वा आवृत्या मुखेनैव अवधारयितुं शक्यते न तु सङ्कदुच्चरितः प्रतिगताऽऽवृत्तिः, तथैवायं स्फोटलक्षणः शब्दः अन्तरालप्रत्ययैः सत्य-प्रतिभासकल्पैः तद्ग्रहणानुगुणोपायभूतैः अभिव्यज्यते । अन्येन हि ध्वनिना सह पूर्वभाविभिर्नादैः आहितसंस्कारायां बुद्धौ अयं स्फुरन्नेव अवधार्यते । उक्तञ्च—

“यथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति । आवृत्या नैतु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्तिरिच्छ्यते ॥ ५

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहेणानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

नादैर्नाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्ति(त्त)परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥”

[वाक्यप० १।८३-८५] इति ॥ छ ॥

(१) ऋग्यजुःसामसमूहः—इत्यमरः । “वेदविशेष इति सूत्रितः”—शब्दकल्पद्रुमः । (२) व्याख्या—“सोढत्वमेकबुद्धिविषयत्वम्, एवं वर्णपदवाक्यविषयाः प्रयत्नविशेषाध्या ध्वनयो वर्ण-पदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति” नत्वेतावता आनन्त्यं स्फोटा-नाम्, यथावृत्तौ न श्लोकाद्यानन्त्यम् । तदेवाह—न तु प्रत्यावृत्या स ग्रन्थः श्लोकसमुदायात्मको भेदेन निरूप्यत इत्यर्थः । तत्रास्त्यया ध्वनिना सम्यग्बुद्धौ निवेशः । यच्चानुपगृहीतविशेषं बुद्धावसन्नविष्टं तावदनुपलब्धमेव । नहि तेन कश्चिदपि व्यवहारः प्रकल्प्यते ।”—वाक्यप० पु० टी० । वाक्यप० ब० । “अनुवाक इति वैदिकं वाक्यम्, सोढत्वमिति सोढुं शक्यत्वं बुद्ध्याक्रमणीयतां स्वीकार्यत्वम्, येन स्वेच्छ-याऽसौ पठनीयो भवति । आवृत्येति जातावेकवचनम्, आवृत्तिरेकैकापि उपयुज्यते उत्तरोत्तरविशेषा-धानाय, अन्यथा एकावृत्यैव सोढता स्यादिति । ...यथा ह्यनुवाकः श्लोको वा पुनः पुनरावृत्या मुखे-नावधारयितुं शक्यते । न च प्रत्यावृत्तिस्तत्र ईदृशी बुद्धिरुपजायते यथेदं गृहीतमिदं नेति । अथ चाने-कावृत्तौ श्लोकाद्यवभासः स्पष्टः संवेद्यते तथैवायमपि शब्दात्मा पुनः पुनरभिव्यक्तस्फोटरूपोऽवधार्यते, न च प्रत्यभिगम्यन्तिस्तत्रेदृशी बुद्धिरुपजायते इदं गृहीतमिदं नेति । अथवाऽनेकाभिव्यक्तौ स्फोटावभासः स्पष्टः संवेद्यते ।”—स्या० २० पृ० ६५० । “अनुवाको वैदिकः श्लोकस्तु लौकिकः, सोढत्वं जित्वं वशतामिति यावत्”—स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । (३) ‘प्रत्यावृत्या’—वाक्यप०, ‘प्रत्यावृत्ति नि’—वाक्यप० ब०, स्फोटसि० । प्रकृतपाठः—स्या० २० । न्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । ‘प्रत्यावृत्ति-निरुच्यते’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । (४) ‘यथा श्लोक एकदा प्रकाशितोऽनवधारितोऽन्यदा प्रकाशने त्ववधारणसहो भवति पुनः पुनः प्रकाशने त्ववधार्यते । तथा वाक्यं पूर्वं ध्वनिभावातन्निव्यक्त-मपि नावधारितम्, तेन पूर्वपूर्ववाक्याभिव्यक्त्याहितस्तु संस्कारैर्वाक्यावधारणं प्रति प्रत्ययभूतैरत्यवर्ण-श्रवणकाले तदवधार्यते, तस्माद्वर्णानुक्रमकवताऽक्रमस्य वाक्यव्यक्तिर्युज्यत एव ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । “व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकाराः (इदं तदिति तस्य बुद्ध्याख्येयाख्यानुम-शक्यत्वात्) बहवः उपायभूताः प्रत्ययाः ध्वनिभिः प्रकाश्यमाने शब्दे समुत्पद्यमानाः शब्दस्वरूपावग्रहे-तवो भवन्ति ।”—वाक्यप० ब० । (५) ‘ग्रहणानुग्रहः’—ध्वन्या० टी० १।१६ । प्रकृतपाठः—स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० २०, न्यायवि० वि० । (६) ‘नादैः शब्दात्मानमवधीतयद्भिः यथोक्तोत्कर्ष-णाधीयन्ते व्यक्तपरिच्छेदानुगुणसंस्कारभावनाबीजानि, ततश्चात्थो ध्वनिविशेषः परिच्छेदसंस्कारभाव-नाबीजवृत्तिलाभप्राप्तयोग्यतापरिपाकायां बुद्धौ उपग्रहेण शब्दस्वरूपाकारं सन्नियेशयति ।”—वाक्यप० ब० । वाक्यप० पु० टी० । ‘नादैर्नाहित’—वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० २०, न्यायवि० वि०, सर्वद० । प्रकृतपाठः—तत्त्वसं० पृ० ७२२, पं० पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । (७) ‘आवृत्तिः

1—वादकप्र—आ० । 2 शक्योच्यते श्र० । 3 अन्येन ब०, श्र० । 4 स्फोटत्व—आ०, ब०, श्र० । 5 ननु आ०, ब० । 6 इति नाहित—श्र० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स्फोट एव’ इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; स्फोटनिरसनपुरस्सरं पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टाद् अन्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तिः स्फोटस्य अर्थ-वर्णानिमेव अर्थप्रति- प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न च अभावस्य सहकारित्वं न दृष्टम्; पादकत्वप्रतिपादनम्— वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्गुह्यफलप्रपातक्रियाजनने तद्वै-
 ५ र्शनात्, तथा प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म उत्तरसंयोगं कुर्वत् प्रतीतम्, परमाण्व-
 मिनसंयोगश्च परमाणौ तद्वत्पूर्वरूपप्रध्वंससहकृतो रक्तामुत्पादयन् दृष्टः । यद्वा पूर्ववर्ण-
 विज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञानजनितसंस्कारसद्व्यपेक्षो वा अन्यो वर्णः अर्थप्रतीत्युत्पादकः ।

परिपाको यस्या इति, परिपाकः कार्योत्पादनं प्रति विशिष्ट आत्मलाभः” —वाक्यप० वृ० टी० ।
 “आवृत्तोऽभ्यस्तः परिपाको यस्याः सा तथोक्ता, प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद्भावनाबीजमाहितम्,
 तेन च कश्चित्परिपाकः कार्यजननशक्तिविशेषः एवं द्वितीयेनेति । यद्यपि परिपाका भिन्नाः तथापि
 जातिमाश्रित्यावृत्तवाचोयुक्तिः अष्टकृत्वो ब्राह्मणा भूतवन्त इतिवत् । आवृत्तेत्यस्यान्या
 व्याख्या—आवृत्तेन वावृत्त्या कषायपरिपाको यस्यामिति । क्वचित्तु आवृत्तीति पाठः । बुद्धावन्तःकरणे
 शब्दोऽवधार्यते अन्येन ध्वनिना सह, यदा अन्त्यो ध्वनिरवधार्यते तदा गौरित्येवं शब्दोऽवधार्यते
 इत्यर्थः ।” —स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । “आवृत्तपरि” —वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०,
 तत्त्वसं० पृ० ७२२ । सम्मति० टी० पृ० ४३५ । स्फोटत० पृ० ९ । “आवृत्तिपरि” —तत्त्वसं० पं०
 पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । स्या० रं० पृ० ६५० । न्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । (८)
 ‘शब्दोऽवधार्यते’ —वाक्यप० । स्फोटसि० । प्रमाणवा० स्ववृ० टी० । तत्त्वसं० पं० । स्या० रं० ।
 सर्वद० । प्रकृतपाठः—तत्त्वसं० पृ० ७२२ । प्रमेयक० । सम्मति० टी० । न्यायवि० वि० ।

(१) पृ० ७४५ पं० ११ । (२) तुलना—“अन्ये तु पूर्ववर्णानां तज्ज्ञानानाञ्च अतीतानामप्य-
 न्त्यवर्णसहकारित्वमन्यव्यतिरेकोपपत्तेः । तथाहि—वर्तमानस्य कारणत्वमन्यव्यतिरेकाभ्यां विज्ञातम्
 एवमतीतस्यापि । यदि वा पूर्ववर्णविनाशास्तज्ज्ञानप्रध्वंसाश्च समीपवर्तिनोऽन्त्यवर्णसहकारिणः ।” —प्रश्न०
 व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । “तत्र पूर्वं वर्णाः अतीता अप्युपकारिष्यन्ति, चरमवर्णस्तु वर्तमान
 इतीदृश एवायं काल्पनिकः क्रियाक्षणसमूह इव वर्णसमूहोऽर्थप्रत्यायकः ।” —न्यायसं० पृ० ३७६ । “अर्थप्र-
 तिपत्तिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्यवर्णात् । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्;
 वृन्तफलसंयोगाभावस्येवाप्रतिबद्गुह्यफलप्रपातक्रियाजनने, दृष्टञ्चोत्तरसंयोगं विदधत् प्राक्तनसं-
 योगाभावविशष्टं कर्म, परमाण्वमिनसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंसविशिष्टो रक्तामुत्पादयन् ।”
 —सम्मति० टी० पृ० ४३३ । (३) सहकारित्व । (४) परमाणुगतस्यामरूप । (५) “यद्वा
 उपलभ्यमानोऽन्त्यवर्णः पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः पदरूपतामासादयन् पदार्थं प्रतिपत्तिं जनयति ।” —
 सम्मति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । (६) “पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः
 प्रत्यायकः ।” —शाबरभा० १।१।५ । “वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरन्तु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति, श्रुतं
 वर्णमेकमेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धते, प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्थाति । पदव्यवस्थाने स्मृत्या पदार्थं
 प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्थाति, सम्बन्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रति-
 पद्यते ।” —न्यायभा० ३।२।६० । “अन्त्यवर्णप्रत्ययात् पूर्ववर्णप्रतिसन्धानप्रत्ययापेक्षार्थप्रत्ययः ।” —
 न्यायवा० पृ० ३१०—१६ । “पूर्ववर्णानुगृहीतस्यान्त्यवर्णस्य स्वानुभवसहकारिणोऽर्थप्रतिपादकत्वात् ।” —
 प्रश्न० व्यो० पृ० ५९५ । “यद्वा पूर्ववर्णसंस्कारस्मरणयोरन्यतरसापेक्षोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः ।” —प्रश्न०
 कन्द० पृ० २७० । प्रमेयक० पृ० ४५३ । “प्राक्तनवर्णसंस्कारमव्यपेक्षो वा” —सम्मति० टी० पृ०
 ४३३ । “तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तेरिति ।” —मुक्ता० दाब्दख० ।

ननु संस्कारस्य कथं विषयान्तरे ज्ञानजनकत्वम् ? इत्यप्यचोद्यम् ; इत्थमेव वाक्यार्थ-
प्रतीतिरुपलब्धेः । पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्रेणालिकया अन्यवर्णसहायतां प्रति-
पद्यते; तथाहि—प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्ण-
विज्ञानम्, तेन च पूर्ववर्णज्ञानादितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते, एवं
तृतीयादावपि योजनीयम्, यावदन्यः संस्कारः अर्थप्रतीतिजनकान्त्यवर्णसहायः । ६
अथवा, शब्दार्थोपलब्धिनिमित्तादृष्टप्रतिनियमाद् अविनष्टा एव पूर्वसंविदः तत्संस्का-
राश्च अन्यवर्णसंस्कारं विदधति । तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वा अन्यो

(१) अर्थप्रतीतो । यद्विषयको हि संस्कारः तद्विषयामेव स्मृतिं विदधातीति नियमात् । शब्द-
विषयकश्च संस्कारः शब्दस्मृतिमेव विदधीत नतु अर्थप्रतीतिमिति भावः । तुलना—“यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं
संस्कारस्य व्यवस्थितम् । कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिषिध्यते ॥ ननु हेतोः कथं कार्यान्तरे सामर्थ्य-
मत आह—यद्यपि इति । संभवति ह्येकस्याप्यनेकत्र सामर्थ्यं कर्मवत्संयोगविभागयोरिति ।”-मी० श्लो०
न्यायर० पृ० ५३६ । “यतः पदार्थे प्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवेराधीयमाना वर्णविषयाः संस्काराः
स्मृतिहेतुसंस्कारविलक्षणशक्तय एवाधीयन्ते, तथाभूतानामेव तेषां कार्यणाधिगमात्”-प्रश० कण्व० पृ०
२७१ । (२) तुलना—“तथा चैकस्मिन् वर्णे ज्ञाते तेन क्रियते संस्कारः, पुनर्द्वितीयवर्णे ज्ञानम्, तेनापि
पूर्ववर्णसंस्कारसहकारिणा संस्कार इति क्रमेणान्त्यवर्णज्ञानम्, तस्मात् पूर्वसंस्काराभिर्व्यक्तावशेषवर्ण-
नुस्मरणे सत्यन्त्यवर्णवर्धप्रतिपत्तिः ।”-प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०
पृ० ४३३ । “स्मृत्याल्लान्येव सर्वपदानि वाक्यार्थमवगमयिष्यन्ति । तत्र चेयं कल्पना वर्णक्रमेण
तावत् प्रथमपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं संस्कारश्च युगपद् भवतः । ज्ञानयोर्हि योगपक्षं शास्त्रे प्रतिषिद्धं
न संस्कारज्ञानयोः । ततः पदार्थज्ञानं तेनापि संस्कारः, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं
पूर्वसंस्कारसहितेन च तेन पटुतरः संस्कारः पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारा-
पेक्षः पटुतरः संस्कारः, पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षः पटुतरः संस्कारः
इत्येवं पदज्ञानजनिते पीवरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि संस्कारे स्थिते अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं
पदसंस्कारात् सर्वपदविषयस्मृतिः, पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे
स्मृती भवतः । तत्रैकस्यां स्मृतावुपाह्वः पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपाह्वः पदार्थसमूहो वाक्यार्थः ।
अथवा कृतं स्मरणकल्पनया अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायः शतादि-
प्रत्ययस्थानाधो भविष्यति । तदुपाह्वानि पदानि वाक्यं तदुपाह्वश्च पदार्थो वाक्यार्थः ।”-न्यायमं० पृ०
३९४-९५ । (३) तुलना—“अन्ये तु शब्दार्थोपभोगप्रापकादृष्टनियमिताः पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्काराः
पूर्ववर्णेष्वेकं स्मरणमारभन्ते तत्सहकारी चान्त्यो वर्णः पदम् । यदि वा संस्कारमेकं विचित्रमारभन्ते
तस्माच्च पूर्ववर्णेष्वेकं स्मरणमिति ।”-प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०
पृ० ४३३ । (४) तुलना—“यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं क्रमज्ञातेषु यत्परम् । समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानका-
रणम् ॥ अन्त्यवर्णोऽपि विज्ञाते पूर्वसंस्काराकारितम् । स्मरणं योगपक्षेन सर्वैक्ये प्रचक्षते ॥ सर्वेषु
चैवमर्थेषु मानसं सर्ववादिनाम् । इष्टं समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु सत्स्वपि ॥ न चेत्तदाऽभ्युपेयत क्रमदृष्टेषु
नैव हि । शतादिरूपं जायेत तत्समुच्चयदर्शनम् ॥ तेन श्रोत्रमनोभ्यां स्यात् क्रमाद्वर्णेषु यद्यपि । पूर्व-
ज्ञानं परस्तात् युगपत्स्मरणं भवेत् ॥ तदाह्वास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थावबोधनात् । शब्दादर्थमित्येतेन
लौकिकैरभिधीयते ।”-मी० श्लो० स्फो० श्लो० १०९, ११२-११६ । तत्त्वसं० का० २७२-२५ ।

१-अर्थे ज्ञानाहितसंस्कारश्च आ० । २-वर्णेन ता-आ० । ३ तेन च पूर्ववर्णविज्ञानं तेन
विशिष्टः संस्कारो ब० । ४ यावदन्यसंस्कार-आ० ।

वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । वाक्यार्थप्रतिपत्तावपि अयमेव न्यायो द्रष्टव्यः । वैर्णाद्
वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षा-
दन्त्यवर्णाद् अर्थप्रतिपत्तोः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽनर्थिकैव,
तदभावेऽपि अर्थप्रतिपत्तोः उक्तप्रकारेण संभवे अन्यथानुपपत्तोः प्रक्षयात् । न खलु
५ दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तौ अदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि उपलभ्यमाना वर्णा व्यस्ताः समस्ता वा नार्थप्रतिपत्तिजननसमर्थाः,
तदा स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्थाः स्युः । तथाहि—न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यज्यन्ति
उक्तप्रकारेण तेषां सामस्यासंभवात् । नापि व्यस्ताः; वणान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्,
एकेनैव वर्णेन स्फोटाभिव्यक्तेः कृतत्वात् । न च पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं
१० तदुच्चारणम् इत्यभिधातव्यम्; तदुच्चारणेऽपि तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तोरवरयस्याभावात् ।

‘तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः ।’—प्रमेयक० पृ० ४५४ ।
‘तस्मात्पूर्ववर्णेषु स्मृतिरूपजाता अन्त्यवर्णेनोपलम्ब्यमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति ।’—सम्मतिक० टी०
पृ० ४३३ । द्रष्टव्यम्—पृ० ७५० टि० ६ ।

(१) “क्रमोपलब्धेऽपि वर्णेषु मानसमनुव्यवसायरूपमखिलवर्णविषयं सङ्कलनाज्ञानं यदु-
जायते तदर्थप्रत्ययनानङ्गं भविष्यति ।”—न्यायम० पृ० ३७६ । “सत्यपि समस्तवर्णप्रत्ययमर्थं यथा क्रमा-
नुरोधेन एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति एवं क्रमानुरोधेन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति ।
तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते । बुद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाच्च-
ननुहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्ययमशिन्यां बुद्धौ
तादृशा एव प्रत्ययभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना ।”
ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८ । “ते हि पूर्वमनुभूताः प्रत्येकमनुभूतताक्रमोपसृष्टाः एकबुद्धिसमारोहिणः
शक्यन्त्यर्थवियमाधातुम् ।”—न्यायवा० ता० पृ० ४७०। (२) तुलना—“वर्णद्विर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च
सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वर्णद्विर्णप्रतिपत्तिः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुप-
जायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पनां निरस्यति तदभावेऽप्यर्थप्रतिपत्तेस्वतःप्रकारेण संभवेऽन्यथा-
नुपपत्तेः प्रक्षयात् । नहि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अति-
प्रसङ्गात् ।”—सम्मतिक० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (३) “यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते
वर्णबुद्धिभिः । सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते ॥ तत्रापि प्रतिवर्णं पदस्फोटो न गम्यते । नचा-
वयवशो व्यतिस्तदभावाच्च चात्र धीः ॥ प्रत्येकञ्चाप्यशक्तानां समुदायेऽप्यशक्तता ।”—मी० श्लो०
स्फो० श्लो० ९१—९३ । “न समस्तैरभिव्यज्यते; समुदायानभ्युपगमात् । न व्यस्तेः; एकेनैवाभिव्यक्तौ
शेषोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।”—प्रश० ध्यो० पृ० ५९५ । “पदस्फोटो नित्यो निरंशः सर्वगतोऽमूर्तः
किमनभिव्यक्त एवार्थप्रतिपत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा ? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थक्यम् । द्वितीयपक्षे
तु पदस्फोटोऽभिव्यज्यमानः प्रत्येकं वर्णेनाभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा ?”—युक्त्यनु० टी० पृ० ९६ ।
तत्स्वादेश्लो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । सम्मतिक० टी० पृ० ४३३ । (४) वर्णानाम् । (५)
“वर्णान्तरोच्चारणादपि पदार्थान्तरप्रतिपत्तेरेवानुषङ्गात् । यथाहि गौरिति पदस्यार्थां गकारोच्चारणात्
प्रतीयेत तथा ओकारोच्चारणाद् औशनस इति पदस्यार्थः प्रतिपद्येत । आद्येन गकारेण गौरिति पदस्येव
प्रथमोकारेण औशनस इति पदस्य स्फोटस्य अभिव्यक्तेः । तथा च गौरिति पदादेव गौरीशनस इति
वाक्यार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्येत । संशयो वा स्यात्”—युक्त्यनु० टी० पृ० ९६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ ।

१ बुद्धिः संगता व०, युक्तिः संगता आ० । २ तथा आ०, व० ।

यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा औकारोच्चारणाद् औशनस इति पदार्थोऽपि, तथा च गौरिति पदादेव 'गौः' 'औशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत । संशयो वा स्यात्—'किं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन एकपदस्फोटोऽभिव्यक्तये गवाक्षनेकवर्णो-
च्चारणम्, किंवा अनेकपदस्फोटोऽभिव्यक्तये अनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति । नच पूर्व-
वर्णैः स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यो वर्णस्तस्य व्यञ्जकः इति न वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यमित्य-
भिधातव्यम्; अंभिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य संस्कारस्यैव तत्रानुपपत्तेः । न खलु वेगाख्यः
तत्र तैः संस्कारो विधीयते; मूर्त्तैष्वेव अस्य संभवात् । नापि वासनारूपः; अचेतनत्वात् ।
स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः । नापि स्थितस्थापकरूपः; अस्यापि
मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य च अमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

किञ्च, असौ संस्कारः स्फोट एव, तद्धर्मो वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य
वर्णोत्पाद्यत्वानुषङ्गात् । द्वितीयविकल्पोऽप्यसंभाव्यः; व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पा-
नुपपत्तेः । स्फोटाद्धि तस्य अव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्य
अनित्यत्वानुषङ्गात् स्वाभ्युपगमक्षतिः । व्यतिरेके तु सम्बन्धानुपपत्तिः अनुपकारकत्वात्,
तस्य तदुपकारकत्वे वा तदुपकारस्यापि ततो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पप्रसङ्गः; तत्रापि
पूर्वोक्तदोषोऽनवस्थाकारी प्रसज्येत । नच व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेऽपि स्फोटस्य अनभिव्यक्त-
स्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं घटते अतिप्रसङ्गात्, तस्यैव वाऽनित्यत्वप्रसक्तिः ।

किञ्च, वर्णैः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियेत, सर्वात्मना वा ?
यदि एकदेशेन; तदा तद्देशानामपि अतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः ।
सर्वात्मना संस्कारे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां ततोऽर्थप्रतीतिः स्यात् ।

किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनम्, आवरणापनयनं वा ? यदि आवर-

(१) तुलना—“अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानुपपत्तिः । तथाहि न तावत्तत्र तैर्वेगाख्यः
संस्कारो निर्वर्त्यते तस्य मूर्त्तैष्वेव भावात् । नापि वासनारूपः; अचेतनत्वात् ”—सम्मति० टी०
पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (२) स्फोटे । (३) वर्णः । (४) स्फोटस्य अचेतनत्वात् ।
(५) “किञ्चातो संस्कारः स्फोटस्वरूपस्तद्धर्मो वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मति० टी० पृ०
४३४ । (६) संस्कारस्य । तुलना—“अपि च साऽभिव्यक्तिः स्फोटादव्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ता वा
ध्वनिभिः क्रियेत ?”—स्या० २० पृ० ६६२ । (७) स्फोटस्य । (८) स्फोटस्यायं संस्कार इति ।
(९) संस्कारस्य । (१०) स्फोटोपकारकत्वे । (११) संस्कारकृतोपकारस्यापि । (१२) स्फोटात् ।
(१३) अनभिव्यक्तस्वरूपपरित्यागे । (१४) तुलना—“किञ्च, आद्यो वर्णध्वनिः शब्दात्मा सकलस्य
वा व्यञ्जकः स्यादेकदेशस्य वा ? यदि सकलस्य; इतरेषां ध्वनीनामानर्थक्यं स्यात् । अथैकदेशस्य;
निरवयवत्वमस्य हीयते ।”—राजवा० ५।२४ । प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मति० टी० पृ० ४३४ ।
(१५) स्फोटात् । (१६) “किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयनं
वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मति० टी० पृ० ४३४ ।

१ यथा गी-श्र० । २ तदा श्र० । ३ प्रतीयते आ० । ४ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० ।
५ धर्मो वा श्र० । ६ स्फोटाद्धि तस्य वा । ७ दोषानवस्था-श्र० । ८ वानि-ब० ।

णापनयनम्; तदा एकत्रैकदा आवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदोषलभ्येत नित्यत्व-
व्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोषलभ्यस्वभावत्वात् । अनुपलभ्यस्वभावत्वे
वा न क्वचित् कैदाचित् केनचिदुपलभ्येत । अथ एकदेशेन आवरणापगमः क्रियते;
नैन्वेवम् आवृतानावृतत्वेनास्य सावयवत्वसंभवात् कार्यत्वाऽनित्यत्वे स्याताम् । अथ
5 अविनिर्भागत्वेन एकत्राऽनावृतोऽसौ सर्वत्राऽनावृतोऽभ्युपगम्यते; तर्हि तदवस्थः
अशेषदेशावस्थितैरुपलब्धप्रसङ्गः । यथा च निरवयवत्वात् एकत्राऽनावृतः सर्वत्राऽ-
नावृतः, तथा एकत्र आवृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि नोपलभ्येत । अथ स्फोट-
विषयसंवेदनोत्पादस्तत्संस्कारः; सोऽप्युक्तः; वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्ति-
जननेऽपि सामर्थ्यासंभवात्, न्यायस्य समानत्वात् ।

10 अथ मतम्—पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्य आत्मनः अन्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तरं
पदादिस्फोटस्य अभिव्यक्तरयमदोषः; तदव्यपेशलम्; पदार्थप्रतिपत्तेरप्येवं प्रसिद्धेः स्फोट-
कल्पनानर्थक्यात् । चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्य अर्थप्रकाशनसामर्थ्यासंभवाच्च ।
स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु, स्फुटति^१ प्रकटीभवति अर्थोऽस्मिन्निति
स्फोटः चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थ-
15 ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोटः, इति भावतः श्रुतज्ञानपरिणतस्य
आत्मनस्तर्थाभिधानाविरोधात् ।

‘वायवः स्फोटाभिव्यञ्जकाः’ इत्यप्यसुन्दरम्; शब्दाभिव्यक्तित्वत् स्फोटाभिव्यक्तेः
तेभ्योऽस्तुपक्षेः । तेषां तद्व्यञ्जकत्वे च वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तौ अर्थप्रति-
20 ष्पत्तौ च अस्मीषामनुपयोगात् ।

एतेन ‘नादेनाहितबीजायाम्’ इत्यादि^२ प्रत्याख्यातम्; नित्यत्वमन्तरेणापि च

(१) स्फोटस्य । (२) स्फोटः । (३) “तथैव पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धेः स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात् ।
चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य स्फोटस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्तेः । स एव चिदात्मा विशिष्टशक्तिः
स्फोटोऽस्तु । स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटश्चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोप-
शमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति । प्रकृष्टा-
द्विधाध्यायशास्त्रादिरङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्याविकल्पः स्फोटः प्रसिद्धो भवति, भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मन-
स्तर्थाभिधानाविरोधात् ।”-युक्त्यनु० टी० पृ० ९७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५६ ।
(४) तुलना—“स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च । वर्णश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्ज-
यन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात् ।”-ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८ । (५) “स्फुट-
त्यर्थोऽस्मिन् प्रकाशते इति स्फोटः”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६ । (६) पदवाक्यादिस्फोटरूपेण । (७) “वाय-
नाञ्च व्यञ्जकत्वपरिकल्पने वर्णवैफल्यप्रसक्तिः ।”-सम्मत० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । “न च
स्फोटमभिव्यञ्जति ध्वनयः अवाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् गन्धवत् ।”-तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४ । (८) वर्णानाम् ।
(९) पृ० ७४९ पं० ७ । (१०) तुलना—“समस्तवर्णसंस्कारवत्याज्यया बुद्ध्या वाक्यावधानमित्यपि

1 ‘कदाचित्’ नास्ति आ०, थ० । 2 नत्वेवं आ०, व० । 3 अन्यवर्ण-थ० । 4 स्फोटति थ० ।
§ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० ।

अर्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

किञ्च, सिद्धे वर्णोत्पादात् वायूत्पादाद्वा पूर्वं स्फोटसद्भावे वर्णानां वायूनां वा तद्व्यञ्जकत्वं युक्तम्, न चास्य सद्भावः कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धः ।

यदप्युक्तम्—‘प्रत्यक्षतः तस्यैवावभासमानत्वात्’ इत्यादि; तदपि श्रद्धामात्रम्; घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाश-
कस्य अध्यक्षगोचरचारितया [५] प्रतीतेः । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादर्थव्यवस्था युक्ता; 5
अन्यथा दूरान्विडितरुनिकरे अभेदप्रतिभासादेकव्यवस्था स्यात् । अथास्यैवाव्यमा-
नत्वान्नैकव्यवस्थापकत्वम्; तदन्यत्रापि समानम्, स्फोटप्रतिभासेऽपि अनेकधा
बाधकप्रदर्शनात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘यथानुवाकः श्लोको वा’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; दृष्टान्तदार्ष्ट-
ान्तिकयोः वैषम्यात् । अनुवाकः (क) ग्रन्थादौ हि प्रत्यक्षतः प्रतीतिः, पुनः पुनरुच्चार्यमाणे
चास्मिन् आवृत्त्या अप्रयासेनैवाऽवधारणमनुभूयते, अतस्तत्र तैर्था तत्कल्पनं युक्तम्, स्फोटस्तु
स्वप्नेऽपि न प्रतीयते, अतः कथं तस्य अन्तरालप्रत्ययैर्व्यञ्जकत्वकल्पना ज्ञायसी । 10

मिथ्या; तस्यावर्णरूपसंस्पर्शिनः कस्यचित्कदाचिदप्रतिपत्तेः । वर्णानाञ्चाक्रमेणाऽप्रतिपत्तेः कुतोऽ-
क्रममेकबुद्धिप्राज्ञं नाम । नचान्यवर्णप्रतिपत्तेरुर्ध्वमन्यमशकलं शब्दात्मानमुपलक्षयामः ।”—
प्रमाणवा० स्व० १।२५३ ।

(१) “स्थिते च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात् प्राक् सद्भावे वर्णानां वायूनां वा व्यञ्जकत्वं
परिकल्प्येत । नच तत्सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणादवगतः ।”—सन्मति० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ०
४५६ । (२) पृ० ७४८ पं० १ । (३) “घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरिक्तस्य स्फोटा-
त्मनोऽर्थप्रत्यायकस्यैकस्य अध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् :”—सन्मति० टी० पृ० ४३५ ।
प्रमेयक० पृ० ४५७ । (४) तुलना—“दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपदार्थस्य घनरूपताप्रतीतिः उत्तर-
कालभाविबलिष्ठविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यत इति तत्र घनत्वप्रतीतिवशाद् व्यवस्थाप्यमानं घनत्व-
मस्त्ववास्तवं कः किमाह । वर्णाद्यवयवाभासस्य तु मोत्तरकालिकं बाधकं किञ्चित्चेतयामः ।” स्या०
२० पृ० ६५८ । (५) पृ० ७४९ पं० ५ । (६) तुलना—“यतोऽनुवाकश्लोकौ सावयवौ वा स्यातां
निरवयवौ वा ? प्रथमपक्षे वैषम्यम् । अनुवाकादौ हि सावयवत्वात् स्फोटोऽस्फुटश्चावभासो युज्यते स्फोटे
तु निरवयवत्वात् तौ संभवतः इति । अपसिद्धान्तप्रसङ्गश्चास्मिन् पक्षे वैषम्यम्—श्लोकानुवाकयोरपि
स्फोटरूपत्वेनाभ्युपगतयोर्मैवच्छास्त्रे निरवयवत्वेनाभ्युपगतत्वात् । द्वितीयविकल्पे तु देवदत्तगामभ्याजेति
वाक्यस्फोटवत् एतावपि पूर्वपूर्वध्वनिजनिताभिव्यक्तिवृत्तसंस्कारविशेषावन्त्यध्वनिबुद्धौ प्रथमावृत्तावपि
स्फुटं प्रतिभासेयताम् ।”—स्या० २० पृ० ६६० । “योगिषि द्वितीयो दृष्टान्त उदाहारि-यथानुवाकः श्लोको
वा प्रथमसंस्थया गृहीतोऽपि संस्थानान्तराभ्यासे स्फुटतरपरिच्छिन्नो भवति तथा स्फोटोऽपि प्रथम-
वर्णव्यक्तौ वर्णान्तरैरतिशयिताभिव्यक्तिर्भविष्यतीति; सोऽपि न सदृशो दृष्टान्तः श्लोकानुवाकयोर-
न्तर्गतानुपपत्तेः । केचिदवयवा वर्णात्मानः पदात्मानो वा प्रथमायां बुद्धावपरिस्फुरन्तः संस्थाभ्यास-
लघातिशयायां तस्यां प्रकटीभवन्ति, स्फोटस्तु एकवर्ण इव निरंशः इति तत्र को बुद्धेरतिशययोगः तस्मा-
दयमपि न सङ्गतो दृष्टान्तः ।”—न्यायमं० पृ० ३०९ । (७) स्फुटतरतमादिरूपेणाभिव्यक्तिकल्पनम् ।

१ पूर्वस्फोट—आ० ब० । २ ‘पुनः’ नास्ति आ० । ३ तथावत्कल्प—आ०, तदात्मनत्कल्प—श्र० ।

४ प्रतीतोऽतः ब०, श्र० ।

किञ्च, वर्णैः तद्वुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो यदि शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते; तदा प्रदीपादिना तद्वुद्ध्यां वा व्यङ्ग्यः प्रदीपादिस्फोटोऽभ्युपगम्यतामविशेषात् । प्रत्यक्षादिविरोधात् तदनभ्युपगमे शब्दस्फोटोऽप्यत एव नाभ्युपगन्तव्यः । बाधकानुमानसद्भावाच्च; तथाहि—न वर्णाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति व्यञ्जकत्वात् । अर्थबुद्धिर्वा वर्णपदवाक्य-

५ प्रभवा तद्भावभावित्वात् धूमादेर्धूमध्वजबुद्धिवत् ।

यदि च अर्थप्रतीत्यर्थो वर्णादिव्यतिरिक्तः शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते तर्हि गन्धादिस्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः । यथैव हि शब्दः कृतसङ्केतस्य कचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि, 'एवंविधं गन्धमाग्राय स्पृशंश्च संस्पृश्य रसश्चास्वाद्य रूपञ्चावलोक्य त्वया एवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणां पुनः कचिच्चादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थप्रति-

१० पत्तिप्रसिद्धेः गन्धादिविशेषव्यङ्ग्यः गन्धादिस्फोटोऽस्तु वर्णविशेषव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत् ।

एतेन हस्त-पाद-करण-मौत्रि(तृका)-अङ्गहारदिस्फोटोऽपि आपादितो द्रष्टव्यः । नचै पदादिस्फोट एव, नतु स्वावयवक्रियाविशेषव्यङ्ग्यो हंसपक्षमादिः हस्तस्फोटः, विकृतितादिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपः मात्रि(तृ)कास्फोटः; मात्रि(तृ)कासमूहलक्षणः अङ्गहारस्फोटो वा इति वक्तुं युक्तम्; तस्यापि

(१) "वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः । व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः ॥ सत्त्वात् घटादिवच्चेति साधनानि यथावचि । लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि ॥ नार्थस्य वाचकः स्फोटः वर्णभ्यो व्यतिरेकतः । घटादिवत्, न दृष्टेन विरोधो धर्मसिद्धितः ॥"—मी० श्लो० स्फोटोऽश्लो० १३१-३३ । (२) "वर्णात्था वाऽर्थधीरेषा तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा । येदृशो सा तदुत्था हि धूमादेरिव वृत्तिर्वा ॥"—मी० श्लो० स्फोटोऽश्लो० १३५ । तत्त्वसं० का० २७३ । (३) "गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमाह-त्वात् । यथैव शब्दः वक्तुसंकेतस्य कचिदर्थप्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि विशेषाभावात् । एवंविधमेव गन्धं समाग्राय इत्यमेवविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः स्पृशं स्पृश्य रसं वास्वाद्य रूपं वालोक्येत्यम्भूतमीदृशो भावः प्रत्येतव्य इति समयग्राहिणां पुनः कचिच्चादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धेः गन्धादिज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनः तद्वार्थप्रतिपत्तिहेतुः गन्धादिपदस्फोटतोपपत्तेः पूर्वगन्धादिविशेषज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनः अत्यगन्धादिविशेषोपलम्भानन्तरं गन्धादिविशेषसमुदायगन्धार्यप्रतिपत्तिहेतोर्गन्धादिना-क्यस्फोटत्वघटनात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पु० ४२७ । प्रमेयक० पु० ४५७ । (४) हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ।"—नाट्यशा० ४।३० । (५) "द्वे नूत करणे चैव भवतो नूतमातृका । नूतस्य अङ्गहारस्यात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम् ।"—नाट्यशा० ४।३१ । (६) "अङ्गानां देशान्तरे समुचिते प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः हरस्य चार्थं हारः प्रयोगः, अङ्गनिर्वर्त्यो हारः अङ्गहारः । स्थिररहस्यादिभेदेन द्वान्नि-शद्विधः । द्वार्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः ॥ त्रिभिः कलापकं चैव चतुर्भिर्मण्डकं भवेत् ॥ पञ्चैव करणानि स्युः सङ्घातक इति स्मृतः । षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिः नवभिस्तथा । करणैरिह संयुक्ता अङ्गहाराः प्रकीर्तिताः ॥"—नाट्यशा० ४।३१-३३ । (७) "पदादिस्फोट एव घटते न पुनः स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यङ्ग्यः हंसपक्षमादिहस्तस्फोटः स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमात्रिसन्द-र्शनमात्रम् । एतेन वित्कुटितादिः पादस्फोटः हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः करणद्वयरूपमात्रिका-सहस्रलक्षणः अङ्गहारदिस्फोटश्च न घटते इति वदन्ननभिधेयवचनः प्रतिपादितो बोद्धव्यः, तस्यापि स्वस्वावयवामिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पु० ४२७ ।

स्वैस्वावयवाभिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिनेयार्थप्रतीतिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात् । तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटाग्रहाभिनिवेशो दूरतः परित्याज्यः, आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात् । ततः स्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यः, किन्तु गवादिशब्दास्तन्निबन्धनं प्रतिपत्तव्या इति ।

नन्वस्तु तेषां तन्निबन्धनत्वम्; किन्तु संस्कृतानामेव न प्राकृतानाम्, तेषामसा-

संस्कृतशब्दा एव ध्रुत्वात् । व्याकरणसिद्धा एव हि गवादयः शब्दाः साधवैः, अतः साधवोऽर्थवाचकाश्च स्तेषामेव अर्थवाचकत्वमुपपन्नं न पुनः गव्यादीर्नाम्, तेषां तदभावात् । न तु अपभ्रंशद्वयः वृद्धव्यवहारे हि अनन्यथासिद्धाभ्यामन्यव्यतिरेकाभ्यां वाच्यवा-
इति मीमांसक-वैयाक-
रणादीनां पूर्वपक्षः— चकभावोऽवधार्यते, तौ च यदि एकस्य गोशब्दस्य एकत्र गोत्वलक्ष-

(१) “अथ पुनरेकमेवानवयवं वाक्यम्; तत्र-एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्म क्रमशो गत्यसम्भवात् । कालभेद एव न युज्यते । न ह्येकस्य क्रमेण प्रतिपत्तिर्युक्ता; गृहीतागृहीतयोरभेदात् । क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्तिर्वृष्टा, सर्ववाक्याध्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्तेः वर्णरूपासं-
स्पर्शिनश्चैकबुद्धिप्रतिभासिनः शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात् वर्णानुक्रमप्रतीतेः । तदविशेषेऽप्यनुक्रमकृतत्वा-
द्वाक्यस्य अनुक्रमवती वाक्यप्रतीतिः; वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे तैर्यथाकञ्चित्प्रयुक्तैरपि यत्किञ्चि-
द्वाक्यं प्रतीयेत विनापि वा वर्णैः । तैरनुक्रमवद्भिरक्रमस्योपकारायोक्तात् । अक्रमेण च व्यवहर्तुमश-
क्यत्वात् । गत्यन्तराभावाच्च ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० १२५३ । (२) “एकः शब्दः सम्प्रज्ञातः
शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्ग्ये लोके कामधुग्भवति ।”-पात० महाभा० ६।१।८४ । “तस्माद् ब्राह्मणेन
न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष अपशब्दः ।”-पात० महाभा० पस्पशा० । (३)
“यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति ।”-पात०
महा० पस्पशा० । “तस्माद् यमभियुक्ता उपदिशन्त्येष एव साधुरिति साधुरित्यवगन्तव्यः ।”-शाब-
रभा० १।३।२७ । “शिष्टेऽप्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् । अर्थप्रत्यायनभेदे विपरीतास्त्व-
साधवः ।”-वाक्यप० १।२७ । “शब्दस्य तत्त्वमवैकल्यमनपगतसंस्कारं साधुस्वरूपम् । अन्ये तु तत्प्रयु-
युक्षया प्रयुज्यमाना विकलाः स्युरपभ्रंशाः ।”-वाक्यप० स्ववृ० १।१३ । “स साधुर्यस्य व्याकरणावगतः
संस्कारोऽविकलः । तादृकलास्त्वपभ्रंशा इति ।”-वाक्यप० पु० टी० १।१३ । “तस्मान्न लोकवेदाभ्यां
कश्चिद् व्याकरणादृते । वाचकाननपभ्रंशान् यथावज्ज्ञातुमर्हति ।”-तन्त्रवा० पृ० २७८ । “तथा
व्याकरणाख्येन साधुरूपं नियम्यते । अविशेषेण सिद्धिः स्याद्विना व्याकरणस्मृतेः ।”-तन्त्रवा० पृ०
२८७ । “व्याकरणलक्षणानुगमविशेषित्वं वाचकत्वं साधुत्वम् ।”-न्यायमं० पृ० ४२३ । “अभियुक्तत-
मैरिन्द्रप्राणिनिप्रभृतिभिः साधुत्वेनाविगानतः स्मर्यते स साधुरितोऽसाधुरिति निश्चीयते ।”-न्यायवा०
पृ० ७१४ । “साधुत्वं नाम क्वचिदर्थविशेषे स्वाभाविकप्रतिपादनशक्तियोगिनः शब्दस्य विलक्षणं
रूपम् । तज्च प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण व्याकरणस्मृत्या यस्य प्रतिपाद्यते तस्यैव व्याकरणस्मृतिसहकृतेन
श्रोत्रप्रत्येक्षण असाधुशब्दवाचुत्वं साधुत्ववरूपं स्फुटतरमथतनैस्तावत्प्रतीयत एव ।”-तौता० पृ० १२८ ।
“गवादय एव साधवो न गाव्यादय इति साधुस्वरूपनियमः ।”-शास्त्रदी० १।३।२७ । “साधून्नेव
प्रयुञ्जीत गवाद्या एव साधवः । इत्यस्ति नियमः पूर्वपूर्वव्याकृतिमूलतः ।”-जैमिन्या० १।३।२७ ।
“इत्थञ्च संस्कृते एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्तत्त्वं साधुत्वम् । वस्तुतो
वृत्तिमत्त्वं न साधुत्वम्” किन्तु व्याकरणनिष्पाद्यत्वम् । यत्र यः शब्दो व्याकरणे व्युत्पादितः स तत्र
साधुः ।”-वैयाकरणभू० पृ० २४९ । “अनपभ्रष्टतानादिर्यद्वाऽभ्युदययोग्यता । व्याक्रिया व्यञ्जनीया

णेऽर्थे शक्तिं कल्पयित्वा उपपन्नौ तदा न द्वितीयस्य गावीशब्दस्य तत्रार्थे तौ शक्तिं कल्पयतः । अनुपपन्नत्वा हि तयोः कल्पकत्वम्; यश्च येन विना आत्मानं न लभते स तेन विनाऽनुपपन्नः स्वोपपत्तये तं कल्पयति, यत्पुनः येन विनाऽप्युपपद्यते न तत् तं कल्पयति अनुपपत्तेः कल्पिकायाः क्षीणत्वात् ।

न च गावीशब्दादपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिसंभवात् कथञ्च वाचकत्वमित्यभिधातव्यम्; अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्र अन्यथासिद्धत्वात् । अवाचकस्यापि हि गावीशब्दस्य वाचकगोशब्दस्यैव द्वारेण अर्थप्रतिपत्तौ अन्वयव्यतिरेकौ घटेते । दृश्यते च असाधुशब्दप्रयोगे साधुशब्दस्मरणार्थप्रतिपत्तिः, यथा आमन्त्रणे 'अस्व'

वा जातिः कापीह साधुतेति ।"-शब्दको० पृ० २५। (४) "गीरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयः अपभ्रंशाः ।"-पाठ० महा० पल्पशा०।

(१) "सामर्थ्यं सर्वभावानामर्थपित्वावगम्यते । एकसामर्थ्यसिद्धेऽर्थं नानेकं तच्च लभ्यते ॥ नाम च व्यवहारार्थमर्थस्याभ्युपगम्यते । तेनैकेनैव सिद्धेऽर्थे द्वितीयादि च निष्कलम् ॥"-तन्त्रवा० पृ० १।३।२६ । "किञ्च, वाचकशक्तित्वात् सूक्ष्मा परमार्थपित्तात्रशरणावगमा न तन्मन्दातामन्वयतः कुतश्चिदवगन्तुं पार्यते । सा चेयमन्यथाप्युपपद्यमाना गवादिभ्योऽर्थप्रत्ययादिव्यवहारे मन्दीभवति तेषु शक्तिकल्पनामर्थपत्तिः एवं गवादय एव वाचकशक्तेराश्रयः न गवाद्यादयः ।"-न्यायमं० पृ० ४२१ । "अत्र च संस्कृतस्य सर्वदेशे एकत्वात्तत्रैव शक्तिः, भाषाणाञ्च प्रतिदेशं भिन्नत्वात् संस्कृतेः सह पर्यायात्पतदेव न शक्तिः ।"-वैयाकरणभू० पृ० २४८ । "एकत्र शक्त्याप्यन्यत्र तदारोपात्तदर्थप्रतीत्युपपत्तादिकत्रैव शक्तिर्लोक्यत्वात्, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । सा च शक्तिः संस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात् ।"-तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४१ । (२) अन्वयव्यतिरेको । (३) गावीशब्दे । (४) "अथ यदुक्तम्-अर्थोऽज्ञगम्यते गाव्यादिभ्यः, अत एषामन्यनादिरर्थेन सम्बन्ध इति । तदशक्तिरेषां गम्यते । गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचिदशक्त्या गावीत्युच्चारितम्, अपरेण ज्ञातं सास्नादिमानस्य विवक्षितस्तदर्थे गीरित्युच्चारयितुकामो गावीत्युच्चारयति । ततः शिक्षित्वाऽपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति । तेन गाव्यादिभ्यः सास्नादिमानवगम्यते । अनुरूपो हि गाव्यादिगोशब्दस्य ।"-एवं गाव्यादिदर्शनाद् गोशब्दस्मरणं ततः सास्नादिमानवगम्यते ।"-शाबरभा० १।३।२८-२९ । "यथा गीरित्यस्य पदस्यार्थं गावीति प्रयुज्यमानं पदं ककुदादिमन्तर्गते प्रतिपादयतीति । न च शब्दान्वाख्यानं व्यर्थम्; अनेन शब्देन गोशब्दमेवादौ प्रतिपद्यते गोशब्दात् ककुदादिमन्तर्गते ।"-न्यायवा० पृ० ५५६ । "ते तु वर्ण-सारूप्यच्छाया गवादिशब्दस्मृतिमाधानाः तदर्थप्रतिपत्तिहेतुतामुपगच्छन्ति ।"-न्यायमं० पृ० ४२१ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४१ । "न चापभ्रंशानामवाचकतया कथमर्थवबोध इति वाच्यम्; शक्तिभ्रमवतां बाधकाभावात् । विशेषदशिनस्तु द्विविधाः-तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्तः तद्विकलाश्च । तत्र आद्यानां साधुस्मरणद्वारा अर्थबोधः । द्वितीयाणां तु बोधार्थसम्बद्धानां रत्नाचकस्य स्मृतौ तस्यां ततो लक्षणया बोधः । सर्वानामस्मृतेषां, तदर्थज्ञापकत्वेन रूपेण साधुस्मृतेषां, अर्थाध्याहार-पक्षाध्ययनाद्वा यथायथं बोध्यम् ।"-शब्दको० पृ० ३२ । (५) "अवगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे । निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वञ्च व्यवस्थितम् ॥ ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः । तादात्म्य-मुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकः ॥ न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः । ते यतः स्मृतिशक्त्येन तस्मात्साक्षादवाचकः ॥ अस्माद्वेति यथा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते । अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः ॥ एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते । तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥"-

१ अनुपपन्ना हि न० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । २ विनोप-न० ।

इति विवक्षायां स्थानकरणप्रयत्नवैकल्यात् प्रमादाद्वा तमुच्चारयितुमसमर्थः अम्बिति
 बालोऽपभाषते । अम्बा च तच्छब्दश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमाना एवं मन्यते-अनेन बालेन
 'अम्ब' इति शब्दविवक्षायाम् अम्बिति तैस्तथाने समुच्चारितमिति अम्बिति शब्दादसा-
 धुभूताद् 'अम्ब' इति मूलशब्दं साधुभूतं स्मृत्वा प्रवर्त्तते । तथा, खण्ड (षण्ड) शब्दे समु-
 च्चारयितव्ये विवक्षिते प्राच्यानां संदशब्दोच्चारणं दृश्यते । व्यवहर्त्ता तद्वाक्यश्रव- 5
 णानन्तरं प्रवर्त्तमानः अनेन मूलशब्दोच्चारयिषया अज्ञप्त्या प्रमादेन वा अयं संद-
 शब्दः समुच्चारितः इति संदशब्दात् षण्डशब्दं स्मृत्वा ततोऽर्थं प्रतिपद्य प्रवर्त्तते ।
 एवं गावीशब्दादसाधुरूपान् मूलभूतं साधुरूपं गोशब्दं स्मृत्वा व्यवहर्त्ता ततोऽर्थं प्रति-
 पद्यते इति, अन्वयव्यतिरेकयोरत्र अन्यथासिद्धत्वात् न वाचकत्वावधारणक्षमत्वम् ।
 यत्रैव हि निश्चितौ तौ तत्रैव वाचकत्वनियममवबोधयतः । न च गावीशब्दस्य उक्त- 10
 प्रकारेण तौ निश्चितौ, अतो न तन्नियममवबोधयतः । गोशब्दस्य तु उभयवादि-
 सम्प्रतिपन्नत्वेन तौ निश्चितौ, अतोऽस्यैव गौत्वप्रतिपत्तौ वाचकत्वनियमोऽवकल्प्यते ।
 सर्वदेशकालपुरुषपुराणवेदादिषु गोशब्दस्य एकरूपतया व्यवहारकारकत्वेन प्रतीयमान-
 त्वाच्च अस्यैव व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य वाचकत्वनियमो युक्तः न तु गावीशब्दस्य,
 अस्य नियतदेशादावेव व्यवहारहेतुतया प्रतीयमानत्वात् । न खलु ये देशान्तरादिप्रभवा 15
 गाव्यादिशब्देष्वनुगृहीतसम्बन्धा तेषां ते व्यवहारं प्रसाधयन्ति । अतः अवगतप्रमाण-
 भावेन व्याकरणेन ये अनुशिष्टा गवादयः शब्दाः त एव साधवः सिद्धा न तु गौद्यादयः ।

तत्रैव वाचकत्वनियमावगतेश्च गवादिशब्दानामेव साधुत्वम् ; तथाहि-
 'गामानय' इत्युक्ते सास्नादिमत्स्वविशिष्टार्थानयनप्रतिपत्तिर्भवति । तत्र च यथा
 'गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थो वाच्यः' इत्यवधार्यते, तथा 'गोशब्दस्यैव अयमर्थः' इति 20
 नियमोऽप्यवधार्यते । अवगतश्च नियमः अन्यस्य वाचकत्वं बाधते ।

अस्तु वा नाम गवादीनामेव वाचकत्वावधारणम् ; तथापि वृद्धव्यवहारादेव
 तेषां तैद् भविष्यति, अतस्तत्साधुत्वसमर्थनाय व्याकरणारम्भो व्यर्थः ; इत्यसमीचीनम् ;
 व्याकरणनिर्पेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव सकलशब्दानां वाचकत्वस्य अवधारयितुमशक्य-
 त्वात् । अनन्तो हि शब्दराशिः, तस्य अनन्तेनापि कालेन प्रतिपदं वृद्धव्यवहाराद् 25
 वाक्यप० १।१४९-५३ । 'गाव्यादिशब्दानां पुनश्चचारणासामर्थ्यतो मूलशब्दादपभ्रंशानां विवक्षितेषु
 मूलशब्दानुसारेणार्थप्रतिपादकत्वम्, अविवक्षितेषु तु वाचकभ्रान्त्यैवेति ।'-तीता० पृ० १३० । भाट्टचि०
 पृ० ९५ ।

(१) सर्वे देशान्तरे । 'सर्वे खलु एते शब्दाः देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।'-पात० महा० पस्पशा० ।
 (२) पुरुषाणाम् । (३) गाव्यादयः शब्दाः । (४) वाचकत्वावधारणम् ।

१ अम्बिति आ० । २ तत्र स्थाने ब० । ३ गोशब्दत्वप्रति-अ० । ४-ल्पते आ०, ब० । ५ ना
 तु आ० । ६ गाव्या-ब० । ७-तीति तत्र अ० । ८ अस्तु नाम ब०, अ० । ९-निरपेक्षे वृ-अ० ।

वाचकत्वं गृहीतुमशक्यम् । व्याकरणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षितानां स्वल्पप्रत्ययेन सर्वेषामपि शब्दानां वाचकत्वमवबोधुं शक्यमेव । अतो व्याकरणादेव तेषां साधुत्वावगमः । तथाहि—“कर्मयण्” [पाणिनि० ३।२।१] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-काण्डलाव-वेदाध्यायादयः शब्दाः बहवः साधुत्वेन लक्ष्यन्ते । अतो व्याकरणानुगृहीतलोकव्यवहारात् सुखेनैव साधुत्वमवधारयितुं शक्यते इत्यस्ति व्याकरण-स्थोपयोगः । ननु चास्यैप्रमाणत्वात् कथं ततः केषाञ्चिच्छब्दानां साधुत्वमवधारयितुमुचितम् ; इत्यप्यसाम्प्रतम् ; तदप्रमाण्ये कर्मकर्त्रादिकारकाणां सम्भवप्रसङ्गात् । न खलु व्याकरणमन्तरेण प्रकृति-प्रत्ययविभागद्वारेण कर्मकर्त्रादिकारकाणां नैयत्येन प्रति-पत्तिर्घटते, तन्नैयत्यहेतोरेत्यस्याऽसंभवात् । अतस्तन्नैयत्यमुपलभ्यमानं स्वव्यवस्थानि-मित्तं व्याकरणमेव व्यवस्थापयति ।

तथा व्याकरणाप्रमाण्ये लोकशास्त्रविरोधः । तत्र लोकविरोधस्तावत्—संकल-शिष्टानां तत्प्रामाण्यस्य अभीष्टत्वात् । शास्त्रविरोधोऽपि तदप्रमाण्ये सकलशास्त्रोच्छेद-प्रसङ्गात् । सकलान्यपि हि शास्त्राणि नियतभाषात्मकानि, नियमस्य च व्याकरणाधीन-त्वात् कथं तदप्रमाण्ये तदुपपत्तिः ? शास्त्रप्रामाण्यमनभ्युपगच्छताऽपि परप्रत्यायनाय साधनदूषणप्रयोगः तत्प्रामाण्यप्रसाधनोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः । तदनभ्युपगमे स्वपर-पक्षसाधनदूषणप्रपञ्चप्रत्यस्तमयप्रसङ्गात्, केवलैर्मनोविकल्पैः अङ्गसंज्ञाभिर्वा परप्रत्या-यनानुपपत्तेः । तस्मादुक्तदोषं परिजिहीर्षता न व्याकरणाप्रमाण्यमपह्नवनीयम्, इति सिद्धं तत्साधुत्वप्रसाधनायास्य प्रामाण्यम् ।

ननु साधुत्वस्य शब्दानां कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं तत्प्रसाधनाय व्याक-

(१) “रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्” लघ्वर्थं बाध्यं व्याकरणम् ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेयाः इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम् । “किञ्चित्सामान्यविशेषलक्षणं प्रवर्त्यम्, येनात्येन प्रयत्नेन महतो महतः शब्दोपात्तं प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गपवादी । कश्चि-दुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः । “सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः तद्यथा कर्मण्यम् । तस्य विशेषेणापवादः, तद्यथा आतोऽनुपपत्तेर्गः कः ।”—पात० महा० पस्पशा० । “प्रकृत्यादिविभागकल्पनाय सामान्यविशेषवता लक्षणेन ।”—काशिका० पृ० १ । “तत्र सामान्यवता लक्षणेन प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनाया कुम्भकारः काण्डलावः शरलाव इत्येवमादिकं महान्तं शब्दौघं प्रतिपद्यते । विशेषवता तु पाणिनिर्गोदः कम्बलद इत्येवमादिकम् ।”—न्यास० पृ० ६ । सर्वद० पाणिनि० । (२) “लोकव्याकरणाभ्यां हि मिश्राभ्याम-विप्लुतवाचकशिद्धिरिति ।”—तन्त्रवा० १।३।२७ । (३) व्याकरणस्य । (४) “नचान्तरेण व्याकरणं कुतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् ।”—पात० महा० पस्पशा० । “तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकर-णादृते ।”—वाक्यप० १।१३ । (५) “सर्वपार्षदस्वाच्च शब्दानुशासनस्य ।”—हैमश० बृह० पृ० २ । (६) “साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः । अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ।”—वाक्यप० १।१४३ ।

रणस्य प्रामाण्यम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम् ; प्रत्यक्षत एव तत्साधुत्वप्रसिद्धेः ।
तथाहि—व्याकरणसंस्कृतमतेः श्रौत्रप्रत्यक्षे वर्णस्वरूपवत् तत्साधुत्वमवभासते, व्याकर-
णानुशिष्टेषु शब्देषु उच्चार्यमाणेषु ‘साधुभिरयं भाषते’ इति प्रतीतिसद्भावात्, अन्यथा
चोच्चार्यमाणेषु ‘असाधुभिरयं भाषते पापः अपर्शब्दान् करोति’ इति प्रत्ययप्रतीतेः
प्रत्यक्षत एव साधुत्वासाधुत्वविभागोऽवसीयते । अथोच्यते—यदि वर्णस्वरूपातिरिक्तं
साधुत्वं स्यात् तर्हि व्याकरणसंस्कारात्पूर्वं वर्णस्वरूपवत् तदपि प्रतिभासेत, तत्प्रति-
भासकारणस्य श्रोत्रसम्बन्धस्य प्रागपि सद्भावात् ; तदप्युक्तिमात्रम् ; व्याकरणसंस्कारा-
पेक्षस्य श्रोत्रस्य पूर्वमभावात्, कारणाभावे च कार्याभावस्य उपपन्नत्वात् । वर्णस्वरूप-
ग्रहणे हि श्रोत्रस्य केवलस्यापि सामर्थ्यम्, साधुत्वग्रहणे तु व्याकरणसहकृतस्यैव । यथा
रत्नादिभेदानां तच्छास्त्रसंस्कारसहायं चक्षुः ग्रहणे समर्थम् न तद्वहितम् ।

ननु शब्दराशेरपर्यन्ततया प्रत्यक्षागोचरत्वात् कथं ततः तत्साधुत्वप्रसिद्धिः ?
इत्यप्यसुन्दरम् ; तद्वर्णोच्चरस्यास्य अनुमानात् साधुत्वं प्रसिद्धेः ; तथाहि—अदृश्यमानप्रयोगाः
शब्दाः साधवः व्याकरणानुशिष्टत्वात् परिदृश्यमानगवादिशब्दवत् । तथा “साधुभि-
र्भाषितव्यम्” [] तस्मादेषा संस्कृता वागुद्यते” [तैत्ति० ६।४।७ (?)] इत्येवमा-
दिना आगमेनापि साधुत्वं प्रसाध्यते । तथा उपमानेनापि साधुत्वमवगम्यते ; तथाहि—
सूत्रकार-भाष्यकार-वार्तिककारादिभिः प्रयुक्ता यथा साधवः शब्दाः तथा तत्प्रायैरन्यैरपि
प्रयुक्ताः साधव एवेति । तथा अर्थार्पण्यापि ; अनाद्यनन्ताऽनन्यथासिद्धान्वयव्यति-
रेकतोऽर्थप्रतीतिसाधनत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणया शब्दानां साधुत्वमवसीयते इति ॥४॥

(१) “साधुत्वमिन्द्रियग्राह्यं लिङ्गमस्य च विद्यते । शास्त्रस्य विषयोऽप्येष प्रयोगोऽप्यस्य-
संकरः ॥ ...वैयाकरणोपदेशसाहाय्यकोपकृतश्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । यथा ब्राह्मणत्वादिजाति-
रूपदेशसव्यपेक्षक्षुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपोज्ञाति ।” व्याकरणकोविदोपदेशसचिवश्रवणे-
न्द्रियग्राह्ये अपि साधुत्वासाधुत्वे न प्रत्यक्षतामतिवर्तेते ।” —न्यायसं० पृ० ४२२ । तौता० पृ० १२८ ।
(२) “यथा च पश्चरागादीन् काचस्फटिकमिश्रितान् । परीक्षका विज्ञानति साधुत्वमपरे तथा ॥
यथा रत्नपरीक्षायां साधवसाधुत्वलक्षणम् । तथा व्याकरणासिद्धं साधुशब्दनिरूपणम् ॥” —तन्त्रवा०
१।३।२७। (३) प्रत्यक्षागोचरस्यापि शब्दराशेः । (४) “विशिष्टशब्दश्रवणोत्तरकालप्रवृत्त्यव्यवहारा-
वगताथप्रतिपत्तिसहितं शब्दानुशासनशास्त्रोपदिष्टप्रकृतिप्रत्ययविकरणवर्णलोपगमादेशादिलिङ्गमव्य-
भिचारि तत्स्वरूपावधारणे कारणं भविष्यति ।” —न्यायसं० पृ० ४२३ । तन्त्रवा० १।३।२७। (५)
उद्धतोऽप्यस्य—न्यायसं० पृ० ४२३ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । वैयाकरणभू० पृ० २५२ । तत्त्वचि० शब्द०
पृ० ६४० । “साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयाधिभिः ।” —वाचस्प० १।१४१ । (६) ‘तस्मादेष्टा
व्याकृता’ —तन्त्रवा० १।३।२७। भाट्टचि० पृ० ९८ । (७) “तथा लौकिकार्थप्रत्ययोत्पापितवाचकत्वाधी-
पत्तिलभ्यंस्तावदेकः साधुत्वनिश्चयः ।” —तन्त्रवा० १।३।२७।

१ श्रौत्रप्र-आ०, व० । २-वत्साधु-व०, आ० । ३-शिष्टेषूच्चार्य-आ०, -शिष्टेषु शब्देषूच्चार्य-
व० । ४-वदानु करोति आ० । ५ पूर्व भावा-आ०, पूर्वसद्भा-व० । ६-रस्यानु-आ० । ७-त्वसिद्धेः
आ० । ८ सूत्रकारवार्तिक-श्र० ।

- अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘गवादयः शब्दा एव साधवः, तेषामेव वाचक-
 त्वोपपत्तेः’ इत्यादि; तद्विचारितरमणीयम्; यतो लोकव्यवहार-
 भाषाशब्दानां साधु-
 त्वसमर्थनेन वाच-
 कत्वप्रसाधनम्—
 5 व्यवहारकाले गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरन्तः प्रतीयन्ते । अतः
 संस्कृतेतरवेदिनां व्यवहारस्य गाव्यादिशब्दैरेव दृष्टत्वात्तेषामेव अन्यव्यति-
 रेकाभ्यां वाचकत्वमवधार्यते । नच गाव्यादिशब्दानां गवादिस्मृतिसापेक्षमर्थबोधकत्वं
 स्वप्रेषिपि प्रतीतं येन अर्थप्रतिपत्तेरन्यथोप्युपपद्यमानत्वात् तेषामवाचकत्वं स्यात् ।
 न खलु प्राकृतशब्देभ्यः ‘प्रथमं संस्कृतशब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिः’ इति व्यवधानेन
 10 अर्थप्रत्ययोऽनुभूयते, संस्कृतशब्दवत् तेभ्योऽपि साक्षादेव अर्थप्रत्ययप्रतीतेः, अन्यथा
 यत्र संस्कृतज्ञानं न सन्ति तत्र भाषाशब्देभ्योऽर्थप्रत्ययो न स्यात् । ततो गवादिशब्दवत्
 शब्दान्तरस्मृतिनिरपेक्षतयैव सदा तेषामर्थबोधकत्वप्रतीतेः वाचकत्वमेवोपपन्नम् ।
 यद्यैव हि गवादिशब्दस्य अन्यव्यतिरेकाभ्यां गाव्यादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गोत्वाद्यर्था-
 भिधायकत्वं प्रतीयते तथा गवादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गाव्यादीनामपि । एवञ्च अन्य-
 15 व्यतिरेकाभ्यां तुल्येऽर्थप्रतिपादकत्वे यद्येकतयैव वाचकत्वं कल्प्यते तद्वरं गाव्यादि-
 शब्दस्यैव कल्प्यताम्, निखिलजनानां व्यवहारस्य तद्वद्वारेणैव प्रतीतेः ।

- किञ्च, स्मरणं मूलानुभवे सति प्रमाणं भवति अनुभवानुसारित्वात्तस्य । न च
 गवादिशब्दानां गोव्यवहारे प्रथमत एव स्वरसदृश्या वाचकत्वमनुभूतम्; गाव्यादि-
 शब्दानामेव तदा तदनुभवात् । अतो येषां वाचकत्वमनुभूतपूर्वं तन्निबन्धने व्यवहारे
 20 अननुभूतवाचकत्वाः स्मरन्ते इति महन्न्यायकौशलम् !

(१) पृ० ७५७ पं० ६ । (२) ‘बुद्धि (द्व) प्रसिद्धितस्त्वेव व्यवहारः प्रवर्तते । संस्कृतेरिति सर्वापि
 शब्देः भाषास्मरित्वेन ।’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९० । (३) गाव्यादिशब्दानामेव । (४) प्राकृतशब्दे-
 भ्योऽपि । तुलना—‘व्युत्क्रमादर्थनिर्णीतिरपशब्दादिवैत्यपि । वक्तुं शक्तेस्तथा दृष्टेः सर्वव्याप्यविशेषतः ।’
 —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९० । प्रमेयक० पृ० ६६८ । (५) तुलना—‘स्त्रीबुद्धानामुपपत्तीतेरभावात् ।
 यः खलुभयं वेति शब्दमपशब्दञ्च स एवं प्रतिपद्यते । यस्तु नचकमुच्यशब्दमेव वा वेति न नासाशब्दं
 स कथमपशब्दाच्छब्दं प्रतिपद्येत ततोऽर्थं प्रतिपद्येत ? दृष्ट्वा चानुभववेदिनोऽपि प्रतीतिरिति ।’—वाङ्म्या०
 पृ० १०३ । ‘म्लेच्छादीनां साधुशब्दपरिज्ञानाभावात्कथं तद्विषया स्मृतिः । तदभावे न गोऽर्थप्रतिपत्तिः
 स्यात् ।’—तत्त्वबौ० पृ० १२४ । (६) गाव्यादिशब्दद्वारेणैव । तुलना—‘विपर्ययदर्शनाच्च । शब्दादर्थ-
 मप्रतिपद्यमाना अपशब्दैरेव ज्ञानं व्युत्पद्यमाना लोके दृश्यन्ते इति व्यर्थं शब्दानुशासनम् । तथाहि
 वृक्षोऽग्निरुत्पलमित्युक्तेऽप्युत्पलत्रयिष्यो बालाः प्रश्नोपक्रमं सन्तिष्ठन्ते कोऽयं वृक्ष इत्यादिना । ते
 चान्यस्य व्युत्पादनोपायस्याभावादपशब्दैरेव व्युत्पाद्यन्ते हक्त्व अग्री उपलभिति । तदेवमत्रासाधव
 एव वाचका न साधवः सन्तोऽपि इति विपर्ययो दृश्यते ।’—वाङ्म्या०, टी० पृ० १०५ । (७)
 वाचकत्वानुभवात् (८) गाव्यादीनाम् । (९) गवादयः शब्दाः ।

१ असंस्कृते-आ० । २-योपपद्य-ब० । ३ प्रथमसं-श्र० । ४-व गवादि-ब० । ५ तुल्यार्थ-
 प्रति-ब० । ६-प्रथमं त एव स्वरस्य वृत्ता वा-आ० । ७-रे न खलु वाचकत्वाः ब० ।

यदप्युक्तम्—‘गोशब्दे समुच्चारयितव्ये अशक्तया प्रमादेन वा बालेन गावीशब्दः समुच्चारितः’ इति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो यदि गोशब्दसमुच्चिचारविषया बालः अशक्ति-
प्रमादाभ्यां गावीशब्दं समुच्चारयेत्, तर्हि परित्यक्तबालभावः प्रबुद्धः सन् ‘मया
अशक्त्या प्रमादेन वाऽयं प्रयुक्तः’ इति ज्ञात्वा तं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहारं कुर्यात् ।
न च पटुकरणोऽपि गावीशब्दं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहरति । ननु च असंस्कृत-
मतिभिः सह संस्कृतशब्देन गवादिना व्यवहारः कर्तुं न शक्यते, लक्ष्णपरिज्ञानाभाव-
तत्तेषां संस्कृतशब्दपरिज्ञानानुपपत्तेः, अतः बहुत्वादसंस्कृतमतीनाम् अशक्तिप्रमाद-
प्रभवोऽपि अपभ्रष्टव्यवहारः परां रूढिमागतः, येन शक्तो विज्ञातशब्दस्वरूपोऽपि जनः
तेनैव व्यवहरति; इत्यप्येतैतेन प्रत्याख्यातम्; प्रमादाऽशक्तिप्रभवत्वे गाव्यादिशब्द-
व्यवहारस्य उक्तदोषानुपपन्नात् ।

अपभ्रष्टत्वश्चास्य पुरुषार्थोऽप्रसाधकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र
सर्वदाऽनैवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्, संकेतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात् ?
तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; सकलस्य धर्मार्थादेः पुरुषार्थस्य प्राकृतशब्दव्यवहारादेव
प्रसिद्धेः । नहि कश्चित्तादृशः पुरुषार्थोऽस्ति यत्र साक्षात् परम्परया वा तैर्ब्रह्मवहारो
न स्यात् । तैवप्रतिपिपादविषया प्रयुक्तानामपि संस्कृतशब्दानामर्थः सुस्पष्टः प्राकृत-
शब्दैरेव प्रदर्श्यते इति कथं तद्व्यवहारस्य पुरुषार्थोऽप्रसाधकत्वं यतोऽपभ्रष्टत्वं स्यात् ?
द्वितीयपक्षे तु ठकागमस्य “सधनं ब्राह्मणं हन्याद् भृतिकामः” []
इत्यादेः साधुत्वप्रसङ्गः, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदानवच्छिन्नस्यैकत्वेन
अस्यापि प्रतीत्यविशेषात् । शिष्टैरस्वीकृतत्वात् तत्रास्य विच्छेदः पशुवधाद्यागमेऽपि
समानः । नहि “श्वेतमजमालमेत” [] इत्यागमः परीक्षाप्रधानैः कृपा-
द्रीकृतचेतोवृत्तिभिः आद्रियते । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्तः; प्राकृतशब्दवत् संस्कृतशब्दाना-
मपि संकेतसहायानामेव अर्थप्रतिपादनसामर्थ्यसंभवात् । असंकेतिताऽनभि(ताभि)धाने
अतिप्रसङ्गात् । तदेवं संस्कृतेतरशब्दानां विशेषासंभवात् उभयेषां साधुत्वमसाधुत्वं वा
अविशेषतः प्रतिपत्तव्यम् ।

किञ्च, स्वरूपतः प्रसिद्धे साधुत्वे कचिद् विधानं निषेधो वा युक्तः । न च
स्वरूपतः तैत् प्रसिद्धम् । तत्स्वरूपं हि वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता, धर्मसाधन-
त्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्, विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, बाधाहृतत्वम्, प्रमाणा-
न्तरानुगृहीतत्वम्, अनुपहृतेन्द्रियप्राज्ञत्वम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वं

(१) पृ० ७५९ पं० ६ । (२) व्याकरणसूत्र । (३) असंस्कृतमतीनाम् । (४) प्राकृतादि-
भाषाशब्दव्यवहारः । (५) पुरुषार्थबोधनाय । (६) जैनबौद्धवैष्णवादिभिः । (७) साधुत्वम् ।

१ इत्यादि तद-अ०, व० । २ चायं अ० । ३-नवस्थितस्य व० । ४ तद्वधापारव्यवहारो न आ०,
अ० । ५-द्वयत्वं अ० । ६-नुगृहीतमनु-आ०, व० । ७-रूपं वा व० ।

वा स्यात् ? यदि वाचकत्वम् ; तद् गवादिशब्दवत् गाव्यादिशब्दानामस्यैव, अन्व-
यव्यतिरेकाभ्यां तद्वत् तेषामप्यर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनात् ।

- अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया, नित्यत्वापेक्षया वा उच्येत ? प्रथमपक्षे
गोगावीशब्दयोरविशेषः, द्वयोरपि अनादिप्रयोगितायाः तथा संभवाद् उभयोरपि साधु-
त्वमसाधुत्वं वाऽविशेषतः स्यात् । अनादिप्रयोगितयां च साधुत्वे प्राकृतस्यैव गाव्यादेः
5 साधुत्वं स्यात्, तस्यैव तत्संभवात् । प्रकृतिरेव हि प्राकृतम्, प्रकृतिश्च स्वभावः, अतः
प्रकृतिभूतस्य अर्थस्वरूपावेदकस्य अनादिप्रयोगार्हस्य गाव्यादेरेव साधुत्वं युक्तं न तु
संस्कृतस्य गवादेः, तस्य अनादिप्रयोगितानुपपत्तेः । सतो हि वस्तुनो गुणान्तरारोपः
संस्कारः, स च आदिमानेव, अतः संस्कृतव्यपदेशादेव संस्कारात् पूर्वं विद्यमानं
10 प्रकृतिभूतमन्यत्किञ्चिदस्तीत्यवसीयते । तच्च प्राकृतमेव, इत्यस्यैव अनादिप्रयोगितया
साधुत्वमायातम् ।

- अथोच्यते—न प्रकृतिरेव प्राकृतम्, किं तर्हि ? प्रकृतेर्भवम् । ननु केयं प्रकृति-
नीम—यतो भवं प्राकृतम् इत्युच्येत ? किं स्वभावः, धातुगणः, संस्कृतशब्दस्वरूपं वा ?
प्रथमविकल्पे ‘प्रकृतिरेव प्राकृतम्’ इत्ययमेव पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात्, प्रकृतेः स्वभावात्
15 लब्धात्मलाभेर्गाव्यादिशब्दैः निखिललोकानां व्यवहारप्रसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु गवादि-
शब्दानामपि प्राकृतत्वप्रसङ्गः, धातुगणात् तत्स्वरूपसिद्धेरविशेषात्, इति संस्कृतव्यव-
हाराय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात् । संस्कृतशब्दस्वरूपस्य तु प्रकृतित्वमनुपपन्नम्, विकारत्वात् ।
सतो हि वस्तुनो गुणान्तराधानं संस्कारः स विकाररूपतया कथं प्रकृतित्वं प्रतिपद्येत ?

- किञ्च, पूर्वापरकालभावित्वे सति प्रकृति-विकृतिभावो दृष्टः । न चात्रै तदस्ति,
20 वैपरीत्यप्रतीतेः—‘आदिमद्भिः संस्कृतम् अनादिमच्च प्राकृतम्’ इति ।

(१) “अथ गावीशब्दस्य वाचकत्वं नोपपद्यते ; तदयुक्तम् ; गावीशब्देन बहुलं व्याहरन्ति प्रमा-
तारः ।”-तत्त्वो० पृ० १२४ । (२) अनादिप्रयोगितासंभवात् । (३) “प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूनां
व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् । ‘आरिसवयणे
सिद्धं देवाणं अद्धमगहा वाणी’ इत्यादि वचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसकलभाषानि-
बन्धनभूतं वचनमुच्यते । मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादि-
तविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविमोदान्प्रोति । अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निदिष्टं तदनु संस्कृतादीनि ।
पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणैः संस्करणात् संस्कृतमुच्यते ।”-काव्या० श्र० नमि० २।१२ । (४)
तुलना—“प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम् ।”-हेम० प्राकृ०, प्राकृतसर्व०, प्राकृतच०,
वाग्भट्टा० टी० २।२ । “एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्त-
रात्मकम् ॥”-नाट्यशा० १७।२ । “प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ।”-षड्भा० । “प्राकृ
तस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः ।”-प्राकृतसं० । “प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानासिद्धाच्च यद्भवेत् ।
प्राकृतस्यास्या लक्ष्यानुरोधि लक्ष्यं प्रचक्ष्महे ॥”-त्रि० प्रा० पृ० १ । (५) संस्कृतप्राकृतयोः ।

1-तया साधु-श्र० । 2 न च श्र० । 3 प्रकृतो भवम् आ० । 4 इत्युच्यते व० । 5 धातु-
गणोक्तस्वरूपसिद्धेः व० । 6 विकारित्वात् श्र० ।

अथ मतम्—न गुणान्तराधानं संस्कारः, किं तर्हि ? अभिन्नस्वरूपस्य शब्दस्य सम्यगनधिगतार्थस्य प्रकृति-प्रत्ययादिविभागद्वारेण तदन्तर्गतोऽर्थः प्रकाश्यते इत्येवं रूपः शब्दस्य संस्कार इति; तदप्यसङ्गतम् ; प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण अर्थकथनस्य व्याख्यानरूपतया संस्कारत्वानुपपत्तेः । नहि वस्त्रादौ तथाविधः संस्कारः कदाचिद् दृष्टः । किं तर्हि ? गुणान्तराधानलक्षणः । तथाप्यस्य संस्कारत्वाभिधाने स्वकम्बलस्य 'कूर्दालिका' इति नाम कृतं स्यात् ।

एतेन 'दैववहर्नुसक्तिद्वारेण अपभ्रंश्यतः शब्दस्य रक्षाद्वारेण अविचलितस्वरूपस्यैवावस्थापनं संस्कारः' इति मतान्तरमपि अपास्तम् ; अविचलितरूपतयावस्थापनस्यापि संस्कारत्वेन कचिदप्यप्रतीतेः । अविचलितरूपतया अवस्थापनञ्च शब्दानां सादृश्यापेक्षया, नित्यैकरूपपेक्षया वा स्यात् ? यदि सादृश्यापेक्षया; तर्हि गाव्यादि-शब्दस्यापि संस्कृतत्वप्रसङ्गः तदविशेषात् । अथ नित्यैकरूपपेक्षया; तदयुक्तम् ; शब्दानां नित्यैकरूपतायाः प्राक् प्रबन्धेन प्रतिषेधात् । तन्न प्रवाहापेक्षया अनादिप्रयोगितातः शब्दानां साधुत्वं सिद्ध्यति । तया तत्साधुत्वाभ्युपगमे च 'पितरि स्वर्गं गते ज्येष्ठेन पुत्रेण माता वोढव्या' इत्यादिस्लेच्छव्यवहाराणामपि साधुत्वप्रसक्तिः; प्रवाहेण अनादिप्रयोगितायाः तत्राप्यविशेषात् । अथ नित्यत्वापेक्षया अनादिप्रयोगितातः तत्साधुत्वसिद्धिः इत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम् ; शब्दानां नित्यत्वस्य प्रमाणानुपपन्नत्वात् । तदनुपपन्नत्वञ्चैषां शब्दानित्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तन्न अनादिप्रयोगितापि तत्साधुत्वलक्षणम् ।

नापि धर्मसाधनत्वम् ; तद्धि तेषां साक्षात् ; परम्परया वा स्यात् ? न तावत् साक्षात् ; त्रैतानुष्ठानादेः तदर्थस्य आनर्थक्यानुपपन्नात् । परम्परया तत्साधनत्वं तु संस्कृत-

(१) "नन्वेवं वयं गुणातिशयमपश्यन्तः संस्कारं केषाञ्चिच्छब्दानामनुमन्यामहे..."—वादव्या० पृ० १०७ । (२) "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति ।"—पात० सहा० पृ० १०३ । (३) पृ० ७०३ । (४) अनादिप्रयोगिताया । (५) तुलना—"म्लेच्छव्यवहारा अपि केचित् मातृविवाहादयो मदनोत्सवादयश्चानादयः नास्ति-क्यवचांसि च अपूर्वपरलोकाद्यपवादीनि ।"—प्रमाणवा० स्ववृ० १२४७ । (६) "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः । शब्देनैवायोंऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन ।"—पात० सहा० पृ० १०३ । "साधवो धर्मसाधनम्"—वाक्यप० १२७ । (७) तुलना—"न धर्मसाधनता; मिथ्यावृत्तिचोदनेभ्योऽप्यधर्मोत्पत्तिः, अन्येभ्योऽपि विपर्यये धर्मोत्पत्तेः । शब्दस्य सुप्रयोगादेव स्वर्गमोदनधोषणा वचनमात्रम् । नचैवंविधानागमानाग्रियन्ते युक्तिज्ञाः । नच दानादि-धर्मसाधनचोदनाशून्यकेवलशब्दसुप्रयोगान्गुपपात इति ब्रुवाणस्य कस्यचिन्मुखं वक्त्रीभवति ।"—वादव्या० पृ० १०६ । "तथा च संस्कृताच्छब्दात्सत्याद् धर्मस्तथाज्यतः । स्यादसत्यं यदा (सत्याद्यदाऽ) धर्मः कः नियमः पुण्यपापयोः ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९० । प्रमेयक० पृ० ६६८ । (८) शब्दादननुष्ठेयार्थ-

१-चिद्वृष्टम् श्र० । २-व्यवहारात्तल-श्र० । ३-लितस्वरूप-ब०, श्र० । ४-रूपतापेक्षया ब०, श्र० । ५-प्रसंगतस्तद-ब० । ६-पगमेपि च श्र० । ७-पेक्षस्यानादि-ब० ।

शब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यविशिष्टम् ।

विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वं विशिष्टार्थाभिधायित्वं बाधारहितत्वं प्रमाणान्तरानुगृही-
तत्वं अनुपहतोन्द्रियग्राह्यत्वञ्च उभयत्राप्यविशिष्टमेव । अनावृतत्वमपि आवृतत्वपूर्वकं
न शब्दे संगच्छते; स्थायित्वाभावात् । स्थायिन एव हि पदार्थस्य आवृतत्वान्नावृतत्वे
घटते । शब्दे च स्थायित्वं प्रागेव प्रतिषिद्धम् ।

व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वञ्च संस्कृतशब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यस्त्येव । यथैव हि
संस्कृतव्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा प्राकृतेनापि । अस्याऽ-
व्याकरणत्वे अन्यत्र कः सामान्वासः ?

यथान्यदुक्तम्^१—‘संस्कृता वैयुद्यते’ इत्यादि; तत्राप्यसौ कदावक्तव्या—कर्मकाले^२,
अध्ययनकाले वा ? अध्ययनकाले चेत्; कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य, संस्कृतस्य वा ?
न तावत् प्राकृतस्य; तर्हि संस्कृतवाचोऽनभिधानात्, अन्यथा तदध्ययनानुपपत्तिः । अथ
संस्कृतस्य; कथं तदध्ययनकाले अनधीयमानत्वात् प्राकृतवाचोऽसाधुत्वम् ? अन्यस्या-
ध्ययनकाले अन्यस्याऽप्रयोगादसाधुत्वे^३ तु पुराणाध्ययनकाले वेदवाचामप्यप्रयोगादसाधुत्वं
स्यात् । अथ कर्मकाले; कुतस्तदा प्राकृता न वक्तव्याः—अर्थप्रतिपादकत्वात्, अपशब्द-
त्वात्, अधर्महेतुत्वाद्वा ? तत्राप्यपक्षोऽयुक्तः; गाव्यादिशब्देभ्यः संस्कृतेतरवेदिनां सुस्पष्टा-
र्थप्रतिपत्तिप्रतीतिः ।

अपशब्दत्वञ्च गाव्यादिशब्दानां स्वरूपमात्रात्, व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? यदि
स्वरूपमात्रात्; तर्हि गोशब्दस्यापि अपशब्दत्वप्रसङ्गः तदविशेषात् । व्याकरणादनि-
ष्पत्तिरपि संस्कृतात्, प्राकृताद्वा स्यात् ? न तावत् प्राकृतात्; तत्रै तेषां स्वरूपनिष्प-
त्तिप्रतीतिः । संस्कृतव्याकरणतोऽपि गावीशब्दस्य स्वरूपमात्रेणाऽनिष्पत्तिः; अर्थविशेषे
वा ? न तावत् स्वरूपमात्रेण; “^४येत्ये तदादि गुः” [जनेन्द्र० १।२।११४] इति गुंस्त्रयां सत्यां
गोरियं गावी प्रक्रिया इति स्वरूपमात्रेण तन्निष्पत्तिप्रसिद्धेः । अथ अर्थविशेषे गोत्व-
लक्षणे गावीशब्दस्य अतोऽनिष्पत्तेः अपशब्दत्वमुच्यते; तदप्यसुन्दरम्; तत्रै तस्याऽव्यु-
त्पादकत्वात् । प्राकृतव्याकरणमेव हि गोत्वलक्षणेऽर्थं गावीशब्दं व्युत्पादयति नान्यत् ।
बोधस्ततोऽनुष्ठानं ततो धर्मात्पत्तिरिति ।

(१) तुलना—“न ह्येषां प्रशाबाहुश्रुत्यादिकं संस्कारं पश्यामो नाप्येषामेकान्तेन श्रव्यता । नाप्य-
र्थप्रत्यायने कश्चिदतिशयः । “शिष्टप्रयोगः संस्कार इति चेत्; के शिष्टा ? ये वेदज्ञादिगुणयुक्ताः ।
कः पुनरेषां गुणोत्कर्षनिषेधोऽलीकनिर्बन्धो यत्तेऽमुनेव शब्दान् प्रयुञ्जते नापरान्...” —वादव्या० पृ०
१०७। (२) प्राकृतव्याकरणस्य । (३) पृ० ७६१ पं० १४। (४) प्राकृताध्ययनकाले । (५) प्राकृतव्या-
करणे । (६) “यस्य त्वः यस्यः तस्मिन् परतः तदादि शब्दरूपं गुंसं भवति ।”—शब्दार्ण० । (७)
‘गु’ इति संज्ञा ‘अंग’ संज्ञास्थानीया । (८) गोत्वलक्षणेऽर्थं । (९) संस्कृतव्याकरणस्य ।

१—ष्टाभिधा-ब० । २—नावृतत्वं घटते ब० । ३—मस्त्येव ब० । ४ वायुस्यते आ० ।
५—ले वा अध्व- । ६ अनभिधीय-श्र० । ७—त्वे प्राकृ-आ० । ८ प्राकृताऽतो न श्र० । ९ स्तपष्टार्थ-
—श्र० । १०—प्रतिप्रतीतिः आ०, ब० । ११ त्येता-श्र० ।

अव्युत्पादकादनिष्पत्तेश्चास्य अपशब्दत्वे गोशब्दस्याप्यपशब्दत्वप्रसङ्गः, प्राकृतव्याकरणा-
त्तस्याप्यनिष्पत्तेरविशेषात् । अतः संस्कृतेतरव्याकरणप्रसिद्धयोः गोगावीशब्दयोः गोत्व-
लक्षणार्थाभिधायित्वेन प्रवृत्तेः कुतोऽयं नियमः 'गोशब्द एव गोत्वस्य वाचको न गावी-
शब्दः शब्दः तथा' । यथैवं हि तुल्यप्रमाणावधारितवाचकत्वाद् वृक्षतरूपादपादयः पर्यायश-
ब्दाः तथा गोगाव्यादयोऽपि । तथैहि—गो-गावी-गौणी-गौपोतलिकेत्यादयः शब्दाः गोत्वस्य 5
वाचकाः वृद्धैस्तत्र अविगानेन प्रयुज्यमानत्वात् गौः उश्रा(स्त्रा)इत्यादिवत् । तथा, गाव्यादयः
शब्दाः गोत्वे अनादिप्रयोगाः अनवगम्यमानाऽवधित्वात् 'गौरुश्रा(स्त्रा)इत्यादिवत् ।

अथ अधर्महेतुत्वादसाधुत्वमस्याः; ननु कदा तस्या अधर्महेतुत्वम्—सर्वदा, यागा-
दिकर्मकाले वा ? यदि सर्वदा; न कदाचिद् धर्मस्यावसरः स्यात्, नित्य-नैमित्तिका-
नुष्ठानसमयेऽपि प्राकृतशब्दानां धृतसमिदाद्यभिधायिनां गोभूम्यादिदानाभिधायिनाञ्च 10
प्रयुक्तानामधर्मस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात् । अथ यागादिकर्मकाले; महत् तत्कर्मणो माहात्म्यं
येनान्यदा अधर्मस्याजनकमपि आत्मसत्ताकाले[ऽ]धर्मजनकं करोति इति ।

किञ्च, प्राकृतवचसामधर्महेतुत्वनियमः तदा सिद्ध्येत् यदा संस्कृतानां तेषां
धर्महेतुत्वनियमः स्यात् । तन्नियमाभ्युपगमे च नटभटवैरुट्चर्मकारादीनां संस्कृतवे-
द्वचोऽभिधायिनां प्राकृतवक्तृमासोपवासिन्यादिभ्यः अतीवाधिकधर्मोत्पत्तिः स्यात् । 15
अथ ब्राह्मणस्यैव तदभिधायिनो धर्मः नान्यस्येति चेत्; न; ब्राह्मण्यस्य कुतश्चिदपि
प्रमाणादप्रतीतेः ॥छा॥

ननु प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीयते; विस्फारिताक्षस्य पुरोव्यवस्थितेषु क्षत्रियादिस-
नित्यनिरशैकत्वादिषु-क्षेत्रेषु तद्वैलक्षण्येन 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारप्रत्यय-
मोपेता येनिनिबन्धना-विषयतया ब्राह्मणसङ्गे मनुष्यत्वाद्यतिरिक्तस्य अनुगतैकाकारस्य ब्राह्मण- 20
ब्राह्मण्यजातिरिति मीमा- (पुन्य)स्य प्रतिभासप्रतीतेः । न चौर्यं प्रत्ययः सन्दिग्धः; उभयको-
सकादीनां पूर्वपक्षः—दिसंस्पर्शित्वाभावात् । नापि विपर्यस्तः; दोषरहितैः कारणैरारब्धत्वात्
बाधकप्रत्ययरहितत्वाच्च । यदि च ब्राह्मण्यं प्रत्यक्षं न स्यात् तदा 'ब्राह्मणोऽयं पुरुषः' इति
विशिष्टप्रतिभासो न स्यात् । अत्र हि ब्राह्मणत्वानुरागविशिष्टः पुरुषः प्रतिभासते, न पुनः

(१) गावीशब्दस्य । (२) तुलना—“तस्मात्पर्यायशब्दत्वात् गाव्यादित्तरूवृक्षवत् । आचारेण
प्रयोज्यत्वं न शास्त्रस्थैर्निवारितम् ॥”—तन्त्रबा० १।३।२४ । (३) तुलना—“गावीगोण्यादयः शब्दाः सर्वे
गोत्वस्य वाचकाः । वृद्धैस्तत्र प्रयुक्तत्वाद् गोरुक्षेत्येवमादिवत् ॥”—तन्त्रबा० १।३।२४ । (४) म्लेच्छजा-
तिविशेषः । “पुलिन्दा नाहुलाः निष्ठया शवरा वरुटा भटाः । माला भिल्लाः किराताश्च सर्वेऽपि
म्लेच्छजातयः ॥”—हैमः । (५) ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रत्ययः ।

१-भिधायकत्वेन ब०, अ० । २-स्वात् वृक्ष-ब० । ३-गौणातल-अ० । ४ गोरुपत्वेत्या-
ब०, गोरुक्षेत्या-अ० । ५ गोरुपत्वेत्या-ब० । ६-चरुट-आ०, ब० । ७ यदि ब्राह्म-आ० । ८ एतदन्तर्गतः
पाठो नास्ति आ० । ८-न पुनः पुरुषमात्रं अ० ।

प्रतिभासते तच्छून्यं पुरुषमात्रम् । तैत्तिप्रतिभासे हि 'पुरुषोऽयम्' इति प्रतिभासः स्यात् नतु 'ब्राह्मणोऽयम्' इति, पुरुषातिरेकित्वाद् ब्राह्मण्यस्य । न च अप्रतिपन्ने विशेषणे विशिष्टः प्रत्ययो युक्तः ; अतिप्रसङ्गात् । न च तथाभूतस्य ब्राह्मण्यस्य अर्थेषु संभवे प्रथमदर्शनेऽपि प्रतिभासप्रसङ्गः ; यतः स्वविशेषव्यङ्ग्या जातिः, विशेषाच्च इतरजातिपरिहारेण अवभासमाना जात्यन्तरपरिहारेण स्वजातीव्यञ्जयन्ति यथा गवाश्चादयः, अतः तत्रै प्रतिभाताऽपि जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणान्नोद्दिश्यते । व्यञ्जकभेदाग्रहणञ्च अत्यन्तसुसह-
 5 शावयवत्वादुपपन्नम् अत्यन्तसुसहशगोगवयवत् । हृदयते च द्रव्यपरीक्षकाणां कूटाकूटवि-
 वेके मणिपरीक्षकाणाञ्च मणिकाचादिविवेके अवधानवतां नैसर्गिकाभ्यासिकप्रतिभास-
 10 सौमग्रीसद्भाव एव कूटाकूटविवेको मणिकाचादिविवेकश्च, एवमत्रापि 'अविप्लुतेन ब्राह्म-
 णेन अविप्लुतां ब्राह्मण्यामुत्पन्नः ब्राह्मणः' इत्याद्यौपदेशिकमातापितृब्राह्मण्यज्ञानलक्षण-
 सौमग्रीसद्भाव एव 'ब्राह्मणोऽयम्' इति विवेकेन प्रतिभासाविर्भावो भवति । यदि वा, तद्ब्राह्मण्यज्ञाननिरपेक्षः 'ब्राह्मणोऽयम्' इत्युपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण 'ब्राह्मणोऽयम्' इति ब्राह्मण्यजातिग्राही प्रत्ययो जन्यते । न च सामर्थ्यभावात् यत्र प्रतिभासते तन्नास्तीति वक्तुं युक्तम् ; अतिप्रसङ्गात् । अविप्लुतत्वञ्च मातापित्रोः प्रवादाभावान्निश्चीयते । व्यभिचारे

(१) ब्राह्मणत्वरहितम् । (२) ब्राह्मणत्वशून्यपुरुषमात्रप्रतिभासे । (३) पुरुषेषु । (४) 'ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः । क्षत्रियायां तथैव स्याद् वैश्यस्यापि चैव हि ॥' -महाभा० अनु० ४७-१८ । 'सुवर्णं व्यज्यते रूपात्तामृतादेरसंशयम् । तैलाद् घृतं विलीनञ्च गन्धेन च रसेन च ॥ भस्मप्रच्छादितो वह्निः स्पर्शेनोपलभ्यते । अश्ववादी च दूरस्थे निश्चयो जायते स्वेनः । संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि यो नितः । क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्ज्ञानानुपालितात् ॥' -सी० इलो० वन० इलो० २७-२९ । 'कथं पुनरिदं लोकस्य प्रसिद्धम् ? प्रत्यक्षेणेति ब्रूमः । कस्मात्पुनः मातापितृसम्बन्धानभिज्ञाः चक्षुःसंश्लिष्टेषु मनुष्येष्वनाख्यातं न प्रतिपद्यन्ते ? शक्यत्वभावात् यथा वृक्षत्वं प्रागभिधानव्युत्पत्तेः । 'तेन' यथैवालोकेन्द्रियानेकपिण्डानस्यूतिशब्दस्मरणव्यक्तितमहृत्वसन्निकर्षकारविशेषादयोऽन्यजातिग्रहणे कारणं तथैवात्र उत्पादकजातिस्मरणम् । अयञ्चोत्पादोत्पादकसम्बन्धो मातुरेव प्रत्यक्षोऽन्येषां तु अनुमानात्पोपदेशावगतः कारणम् । न च तप आदीनां समुदायो ब्राह्मण्यस्य, न तज्जनितः संस्कारः, न तदभिव्यङ्ग्यता जातिः । किं तर्हि ? मातापितृजातिज्ञानाभिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसमधिगम्या ॥' -तन्त्रवा० १।२।२ । 'तस्मात्समानाकारेण्यपि पिण्डेषु विलक्षणब्राह्मणप्रत्ययवेद्यब्राह्मण्यादिजातिनपिण्डात् शक्यते ।' -तन्त्रवा० न्यायसु० पृ० १०-१५ । 'यथा ब्राह्मणत्वादिजातिरुपदेशसव्यपेक्षचक्षुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपोऽस्मिन्' यथा च ब्राह्मणत्वादिजातिप्रतीती कारणान्तरमुक्तं क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्ज्ञानानुपालितादिति मन्वादिदक्षितानवद्यवत्सर्गनिसुरणनिपुणनरपतिपरिप्राप्त्यमानवर्णश्रमाणां शङ्कितकपटकृतकार्येवेशदृष्टशुद्ध्यभिचारे देशे विशिष्टाचारगम्यापि ब्राह्मणत्वादिजातिर्भवति ।' -न्यायसं० पृ० ४२। (५) मातापितृब्राह्मण्यज्ञान । (६) 'स्थपयराधात्तु दुर्जनोऽयं सम्बन्ध इति स्वदमेव वक्ष्यति । न च तावन्मात्रेण प्रत्यक्षता हीयते । न हि यद्विगिरिशृङ्गमारुह्य गृह्यते तदप्रत्यक्षम् । न च स्त्रीणां क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रैव कल्पना युक्ता । लोकविरुद्धानुमानात्संभवात् । विशिष्टेन हि प्रयत्नेन महाकुलीनाः परिरक्षन्त्यात्मानम्, अनेनैव हेतुना राजभिर्ब्राह्मणैश्च स्वपितृपितामहा-

१ ब्राह्मणस्य व०, श्र० । २ ब्राह्मणस्य व०, श्र० । ३ इतरज्ञाति-आ० । ४ प्रतिज्ञातापि आ०, श्र० । ५ सामर्थ्यासद्भाव-व० । ६ इत्युपदेश-व०, इत्यापदे-श्र० ।

हि प्रवादेन व्याप्तः, अतः प्रवादो निवर्त्तमानः व्यभिचारं निवर्त्तयति, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽनिवृत्तिविरोधात् ।

यदि च ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्यजातिरर्थो न स्यात् तदाऽयमनर्थकः स्यात्, न चैतद् युक्तम्, एतदुच्चारणानन्तरभाविनोऽर्थप्रत्ययस्य उपलभ्यमानत्वात् । तन्निबन्धनव्यवहारस्य च 'ब्राह्मणं भोजय' इत्यादिरूपस्य असन्दिग्धाबाधितैस्य सुप्रतीतत्वात् । पाँशुपता- 5
दिलिङ्गिनामपि ब्राह्मणत्वादिजात्यनुरूपो नामचिह्नाचारोपदेशादिव्यवहारो दृश्यते, अतः सुदृढव्यवहारदर्शनाद् व्यक्तिभ्योऽर्थान्तरभूता प्रत्यक्षतः प्रसिद्धा ब्राह्मण्यजातिः ।

तथा अनुमानतोऽपि; तथाहि—असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः स तदा- कारविषयनिमित्तकः यथा नीलादिप्रत्ययः, असति प्रतिबन्धके भवति च 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारः प्रत्ययः, तस्मात् पिण्डव्यतिरिक्त-अनुगतैकाकारब्राह्म- 10
ण्यनिमित्तक इति । यदाकारो हि प्रत्ययः विषयेणापि तदाकारेणैव भवितव्यम्, अन्यथा नीलादिप्रत्ययस्य अनीलादिविषयत्वप्रसङ्गात् प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपानुपपन्नः ।

तथा, ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताऽभिधेयसम्बद्धम् पदत्वात् पटादिपद- वत् । न चायमसिद्धो हेतुः; धर्मिणि विद्यमानत्वात् । नापि विरुद्धः; विपक्ष एवावृत्तेः । नाप्यनैकान्तिकः; पक्षसपक्षवद् विपक्षेऽप्यप्रवृत्तेः । नापि साधनविकलो दृष्टान्तः; पटा- 15
दिपदेषु पदत्वस्य विद्यमानत्वात् । नापि साध्यविकलः; तेषु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ता-भिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येन अनन्तेनापि कालेन सम्बन्धप्रहाणानुपपत्तेः ।

तथा वर्णविशेषाध्ययनाचार्यज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मण' इति ज्ञानं तन्निमित्तबुद्धिबिलक्षणत्वात् गवाश्वादिज्ञानवदिति ।

दिपारम्पर्याविस्मरणार्थं समूहलेख्यानि प्रवर्तितानि । तथा च प्रतिकूलगुणदोषस्मरणान्तदन्तरूपाः प्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते । "तन्त्रवा० १।२।२। "स्त्रीत्वस्य व्यभिचाराप्रयोजकत्वसूचनार्थोऽनुमाने कल्पनाशब्दः । न च निर्मूलकत्वेन लोकस्याप्रामाण्यम्; प्रयत्नेन रक्षणे योग्यानुपलब्धैर्मूलत्वसंभवादिति दर्शयितुमाह—विशिष्टेन हीति । महाकुलीनानां पुरुषाणां स्त्रीरक्षणमेव आत्मरक्षणम्, जायायां रक्ष्य-माणायामात्मा भवति रक्षित इति स्मरणात् । यद्वा दुष्कुलप्रसूतत्वं व्यभिचाराशीलत्वे प्रयोजकं न स्त्रीत्वमिति दर्शयितुं महाकुलीनत्वं स्त्रीणामुक्तम् । व्यभिचाराभावनिश्चयमेव अभियुक्तबृद्धव्यवहारेण द्रढयति अनेनैवेति । व्यभिचाराभावनिश्चये हि निर्मूलत्वात् पितृपितामहादिपरम्परालेखनात्मकसमूह-लेख्यं व्यर्थं स्यादिति भावः । कुलपरीक्षापूर्वकेदानीन्तनपुरुषगतविवाहादिव्यवहारेणापि तमेव द्रढयति तथा चेति । "तन्त्रवा० न्यायसु० पृ० १२। "यत्र यावदुपलब्धिसामग्री तावत्यां सत्यामपि यासां व्यभि- 2
चारो न दृश्यते तासां नास्त्येव व्यभिचार इति लोकप्रमाणकमेतत् । अपि च अग्रमत्तैः स्त्रियो रक्षणीयाः, तामु नास्त्येव व्यभिचारसंभावनावकाशो यासु त्वस्ति मा भूत् तदपत्येषु तत्सन्ततिप्रभवत्वनिश्चयः । न चैतावता यत्रापि निश्चयः शक्यस्तत्रापि अनिश्चय इति युक्तमिति । "प्रक० पं० पृ० ३१ ।

(१) ब्राह्मणशब्दप्रयोगः । (२) शैवादिभेदानाम् । (३) ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्ययः पिण्डव्य-तिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धनः असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकरतया समुत्पद्यमानत्वात् । (४) पटादिपदेषु । (५) पटव्यक्तितो व्यतिरिक्तमेकं निमित्तं पटत्वाख्यम् ।

१-चारं विनि-व० । २-तस्य प्रती-व० । ३ सुबुद्धं व्यव-थ० ।

तथा “ब्राह्मणेन सृष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः” [] इत्याद्यागमादपि ब्राह्म-
ण्यजातिः प्रसिद्धा । तथा ‘वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धा चासौ “आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं
सत्सर्गं, बाहुभ्यां क्षत्रियम्, ऊरुभ्यां वैश्यम् पद्भ्यां शूद्रम्” [] इत्यादि वैचसं
भूयसां तत्र तत्प्रतिपादकानां श्रवणादिति ।

- 5 अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—“प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीते” इत्यादि; तदसमी-
चीनम्; यतः किं केवलेन्द्रियजनितेन तेन तत्प्रतीयेत, अन्यसहकृतेन्द्रिय-
जनितेन वा? प्रथमपक्षे किं निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तज्जन-
तेन तेन तत्प्रतीयेत? न तावन्निर्विकल्पकेन; तत्रै जात्यादिप्रतिभासा-
समर्थनम्—
भावात्, भावे वा निर्विकल्पकत्वविरोधः कथमन्यथेदं शोभेत—

- 10 “अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुञ्च ॥
तैतः परं पुनर्वस्तुधर्मेजात्यादिभिर्यथा । बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥”
[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२, १२०] इति ।

नापि सविकल्पकेन; अस्य निर्विकल्पकाविषये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । उपपत्तौ वाऽति-
प्रसक्तेः । नै च विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्तिखण्डमुण्डककार्दिव्यक्तिषु गवाश्चादिजातिवत्

(१) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राज्यस्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥”—
कृ० पु० १२ । “अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः ।
योऽयं राज्यस्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः स बाहू कृतो बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः ।
तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यथावृत्तं तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां
शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इत्यञ्च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्येषुः संहितायां (३१११)
सप्तमकाण्डे ‘स मुखतस्त्रिवृत् निर्ममीत’ इत्यादौ विस्पष्टमाप्नोतात् ।”—सायणभा० । (२) पृ० ७६८
पं० १८ । (३) तुलना—“तत्र किं निर्विकल्पात् विकल्पकाद्वा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ०
४८२ । स्या० २० पृ० ९५८ । (४) इन्द्रियजनितेन प्रत्यक्षेण । (५) निर्विकल्पके । (६) व्याख्या—
‘यस्तत्त्वपिशाब्दसहमानः सर्वमेव ज्ञानं शब्दानुविद्वत्वात् सविकल्पकमेव न किञ्चिन्निर्विकल्पकमस्तीति
मन्यते तं प्रत्याह—अस्तीति । बालानामिव अव्युत्पन्नानामस्माकमपि चक्षुःसन्निपातानन्तरं सविकल्पात्
प्रथममस्ति निर्विकल्पकं प्रतीतिसिद्धमालोचनविज्ञानं शुद्धवस्तुविषयम्, तदभावे हि निनिमित्तं शब्दस्मरणं
स्यात् । अस्मत्तत्त्वव्यस्य च (न) शब्दानुविद्धो विकल्पः संभवतीति । शुद्धवस्तुजमित्येतद्विज्ञाति— न
विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते । तयोराधारभूता तु व्यक्तितरेवावसीयते ॥ महासामान्यमन्यैस्तु
द्रव्यं सदिति चोच्यते ॥”—मी० श्लो० न्यायर० । उद्धोऽयम्—ज्ञानमाद्यं चेन्निकल्पकम्—तत्त्वसं० पृ०
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । प्रमेयर० पृ० ७४ । स्या० २० पृ० ९५८ । स्या० सं० श्लो० १३ ।
‘ह्यालोचनं ज्ञानं’—षड्विंश० बृह० पृ० ११ । (७) ततो निर्विकल्पकादुत्तरकालं जात्यादिभिरविकल्प्य
वस्तु यथा बुद्ध्या गृह्यते साऽपि प्रत्यक्षमेवेति ॥”—मी० श्लो० न्यायर० । उद्धोऽयम्—तत्त्वसं० पृ०
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । स्या० २० पृ० ९५८ । (८) मनोराज्यादिविकल्पादपि वस्तुसिद्धिप्रसङ्गात् ।
(९) तुलना—“विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्तिखण्डमुण्डककार्दिव्यक्तिषु गवाश्चादिजातिवत् मनुष्यव्यक्तिषु
मनुष्यत्वपुंस्त्वद्यतिरिक्तब्राह्मणस्य कस्यचिदप्रतिभासात् ॥”—स्या० २० पृ० ९५८ ।

शुक्लत्वादिगुणवद्वा मनुष्यव्यक्तिषु मनुष्यत्वपुंस्त्वौद्यतिरिक्तस्य ब्राह्मण्यस्यैकस्य अखिल-
स्वव्यक्तिष्वनुगतस्य प्रतिभासोऽस्ति । कथमेवं कचिद् ब्राह्मणत्वानुरक्तोऽनुगतप्रत्ययः
स्यादिति चेत् ? सङ्केतवशात्, यथैव हि परस्परविलक्षणेष्ु गोवज्रादिषु एकगोत्वरूपसामा-
न्याभावेऽपि 'गौः गौः' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययः तथा अन्योन्यविलक्षणेष्ु मनुष्यव्य-
क्तिविशेषेषु 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययो भविष्यति । वस्तुसामर्थ्य- 5
प्रभवत्वे तु अगृहीतसङ्केतास्वपि व्यक्तिषु तन्मात्रोपलम्भेनैव अव्यभिचारिगोप्रत्ययवत्
सै स्यात्, न चैवम् । न खलु यथा महिषादिसङ्केतं गवां गोजातिः वैलक्षणेन प्रतिभासते
सैसङ्केतं च गुणः क्रिया वा, तथा ब्राह्मण्यमपि । नहि हस्तपादाद्याकारव्यङ्ग्यमनुष्य-
त्वाद् व्यतिरिच्यमानपुंस्त्वादिसामान्यवत् ब्राह्मणत्वं वैविकत्वेन जातु प्रतिभासते ।
अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेनापि तेनैव निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तन्नैव प्रतीयेत ? 10
उभयत्र उक्तदोषानुपपन्नः ।

किञ्च, इन्द्रियाणां तद्विषयं प्रत्यक्षमुपजनयतां किं तदन्यत् सहकारित्वेन अभिप्रे-
तम्—ब्राह्मणभूतपितृजन्मत्वम्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेशः, आचारविशेषः, संस्कारविशेषः,
वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नैः, यतः 15
पित्रोर्ब्राह्मण्ये सिद्धे तज्जन्यत्वेन पुत्रस्य ब्राह्मण्यं सिद्धेत्, तच्चानयोः ब्राह्मणभूतपितृ-
जन्मत्वात् सिद्धेत्, तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे अनवस्था । बीजाङ्कुरवदना-
दित्वात् तत्कार्यकारणप्रवाहस्य अतो नानवस्था दोषाय; इत्यप्ययुक्तम्; यतो बीजाङ्कुरयोः
कार्यकारणभावः पूर्वबीजाङ्कुरकार्यकारणभावग्रहणनिरपेक्षः प्रमाणतः प्रतीयते, अत्र तु
पूर्वपूर्वब्राह्मण्यप्रतिपत्त्यभावे परापरब्राह्मण्यप्रतिपत्तेः कर्तुमशक्यत्वाच्च दृष्टान्त-दार्ष्ट-
न्तिकयोः मनागपि साम्यम् । द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि पितृब्राह्मण्ये ब्राह्मण- 20
भूतपितृजन्मत्वेन पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः; तत्सिद्धौ च ब्राह्मणभूतपुत्रजनकत्वात् पितृब्राह्म-
ण्यसिद्धिरिति ।

(१) वस्तुमात्रोपलम्भेनैव । (२) ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्ययः । (३) मनुष्यत्वं हि
स्त्रीषु पुरुषेषु च व्याप्तम्, पुरुषत्वं तु पुरुषमात्र एव । (४) प्रत्यक्षेण । (५) ब्राह्मण्यम् । (६)
“ननु किमिदमिन्द्रियसहकारित्वेनात्रेष्टम्—ब्राह्मणभूतस्वपितृजन्मत्वम्, पितृगोचरोऽविप्लुतत्वोपदेशः,
आचारविशेषः, संस्कारविशेषः, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा ?”—स्या० १० पृ०
९५८ । (७) तुलना—“यतः पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४८३ । (८)
“तच्चानयोः ब्राह्मणभूतपितृजन्मत्वात् सिद्धयेत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ?”—स्या० १० पृ० ९५९ ।

1 मनुष्यपुंस्त्वा-आ०, ब० । 2-स्त्वाद् व्यति-अ० । 3 ब्राह्मणस्य-आ०, अ० । 4-गतः
प्रत्य-ब० । 5-व्यवितेषु मनुष्यत्वपुंस्त्वादिव्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणोऽयं अ० । 6-चारी गोप्रत्य-आ०, ब० ।
7 महिष्यादि-अ० । 8 स्वस्वसंघे ब० । 9-स्वाद्यतिरि-ब०, आ० । 10 जातिः प्रति-अ० ।
11-जन्मत्वं ब० । 12 तत्राद्यप-ब० । 13 ब्राह्मणभूत-अ० । 14-ह्यण्यभावेपरा-अ० । 15 पुत्र-
ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण-आ० ।

‘अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुतायां ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मणः’ इत्यविप्लुतमातापित्रु-
पदेशस्तत्तद्वहकारिः, इत्यपि श्रद्धामार्गम्; प्रमाणतोऽप्रतिपन्नोऽर्थे वास्तवोपदेशसंभवात् ।
यंन कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते न तत्रोपदेशो वास्तवः यथा सकलशून्यतायाम्, कुतश्चि-
दपि प्रमाणान्न प्रतीयते च भवत्कल्पितं ब्राह्मण्यमिति । अथ प्रत्यक्षत एव ब्राह्मण्यं प्रतीय-
यथोक्तोपदेशो विधीयते; तदसत्; परस्परश्रयप्रसङ्गात्-सिद्धे हि ब्राह्मण्यप्रत्यक्षत्वे
प्रमाणभूतयथोक्तोपदेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतोपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण ब्राह्मण्य-
प्रत्यक्षतासिद्धिरिति ।

अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया, अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा अभिप्रेतम् ?
यदि विवक्षितपित्रपेक्षया; तत्रापि अनयोः तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्, अनादि-
काले वा ? तज्जन्मनि चेत्; केन तच्च तयोः प्रतीयेत-पुत्रेण, अन्यैर्वा ? न तावत्
पुत्रेण; स्वजन्मकालेऽपि तस्य तद्विवेचनासामर्थ्यात् । नाप्यन्यैः; तैर्हि तैः प्रत्यक्षतः
प्रतीयेत, अनुमानात्, आगमाद्वा ? न तावत् प्रत्यक्षतः; ‘अयमेतस्मादेव एतस्यामुत्पन्नः’
इत्येवंरूपस्याधेस्य अर्वागृह्णा प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वात् । नाप्यनुमानात्; प्रत्यक्षविषये
भवता अनुमानाऽनभ्युपगमात् । लिङ्गाच्च अनुमानमुदयमासादयति । न च पित्रविप्लु-
तत्वे किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तत्र हि लिङ्गम्- पित्रोः संवृताकारादिविशेषः, अपत्येष्वविल-
क्षणता वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, दुश्चारिणाम् अतीव संवृताकारदर्शनात् । द्वितीयपक्षोऽ-
प्यपेशलः; यतो यदि विप्लुतेतरपितृप्रभवाऽपत्येषु विलक्षणाकारता सिद्ध्येत् तदा अवि-

(१) तुलना-“न खलु द्विजादिभावः प्रमाणगोचरचारी । स हि जातियोगलक्षणः गोत्रलक्षणः
क्रियासामर्थ्यातिशययोगो वा ?” परोपदेशप्रामाण्यं प्रत्यक्षार्थे न युक्तिमत् । उपदेशो हि लोकानामन्य-
थापि प्रवर्तते ।”-प्रमाणवातिकार्ल० पृ० २२। “नचोपदेशसहाय्याध्यक्षगम्यं तत्; अध्यक्षविषये उपदे-
शापेक्षायोगात् । तन्नो गे वा उपदेशस्यैव केवलस्य व्यापार इति उपदेशमात्रव्यङ्ग्यतैव ।”-सम्मत०
टी० पृ० ६९७ । (२) ब्राह्मण्ये नोपदेशो वास्तवः प्रमाणतोऽप्रतीयमानत्वात् । (३) “किञ्च, ब्राह्म-
ण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिरित्यन्यो-
न्याश्रयः ।”-प्रमेयक० पृ० ४८३ । स्या० २० पृ० ९५९ । (४) तुलना-“शुद्धिर्बैशद्ययीशुद्धौ पित्रोः
पित्रोर्बैशद्यः । तदानन्तकुलादोषादोषा जातिरस्ति का । कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः सङ्क्रान्तपातकः ।”
-नैषध० १७। ४०-४१ । “अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वाऽ-
भिप्रेतम् ? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया; तत्राप्यनयोस्तज्जन्मन्यविप्लुतत्वमभिमतमनादिकाले वा ?
तज्जन्मनि चेत्; तर्हि केन तत्र तयोः प्रतीयेत पुत्रेण अन्यैर्वा ?”-स्या० २० पृ० ९५९ । (५)
विवक्षितपित्रपेक्षया तज्जन्मन्यविप्लुतत्वम् । (६) “नच पित्रोर्विप्लुतत्वे किञ्चिल्लिङ्गमस्ति, तद्वि
(द्वि) संवृताकारादिविशेषः अपत्येष्वविलक्षणता वा ?”-स्या० २० पृ० ९५९ । (७) तुलना-
“नच विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वैलक्षण्यं लक्ष्यते । न खलु वडवायां गर्भमादवप्रभवपत्येष्विव
ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवपत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते ।”-प्रमेयक० पृ० ४८३ । स्या० २० पृ०
९५९ । “न च जात्यन्तरस्थेन पुरुषेण स्त्रियां ववचित् । क्रियते गर्भसंभूतिविप्रादीनां तु जायते ॥
अश्वयायं रासमेनास्ति संभवोऽप्येति चेन्न सः । नितान्तमन्यजातिस्थः शफादितनुसाम्यतः ॥ यदि वा

लक्षणाकाराऽपत्योपलम्भात् पित्रोरविप्लुतत्वं निश्चीयते, न चासौ^१ सिद्धा । न खलु वड-
वायां गर्दभाश्चप्रभवाऽपत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं स्वप्नेऽपि
प्रतीयते । आगमतोऽपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तयोरविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः स्यात् ? न
तावदपौरुषेयात्; तत्प्रतिपादकस्य अपौरुषेयस्य आगमस्यैवाऽसंभवात् । पौरुषेयो-
प्यागमः तैत्थनेत्रा प्रमाणान्तरेणानयोरविप्लुतत्वे प्रतिपन्ने सति प्रवर्त्तमानः प्रमाणां^२
भजते, 'न तैत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिदस्ति' इत्युक्तम् । तन्न तज्जन्मानि अनयोरविप्लुतत्वं
कुतश्चित् प्रत्येतुं शक्यम् ।

एतेन अनादिकाले तैयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता; यथोर्हि तज्जन्मन्यप्यविप्लुतत्वं
प्रत्येतुं न शक्यते तयोः अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम् !

एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अविप्लुतत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा ।

किञ्च, सदैव अवलानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्
अनादौ काले ताः कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्यम् । तथा च 'व्यभिचारो हि
प्रवादेन^३ व्याप्तः' इत्याद्युक्तम्; अत्यन्तप्रेच्छन्नकामुकानां प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसंभ-
वतः तस्य तेन व्याप्त्यनुपपत्तेः । अतः पित्रोरविप्लुतत्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः न तदुपदेशो
ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुषः सहकारित्वं प्रतिपद्यते ।

नापि आचारविशेषः; स हि ब्राह्मणस्याऽसाधारणो याजनाऽध्यापनप्रतिग्रह-

तद्वदेव स्याद् द्वयोर्विसृष्टः सुतः । नात्र दृष्टं तथा तस्माद्गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ॥"-पद्मपु० ११।१९६-९८।
"वर्णक्रियादिभेदानां देहेस्मिन्न च दर्शनात् । ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥ नास्ति जातिक्रतो
भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् । आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥"-उत्तरपु० ७४।४९१-९२ ।

(१) विप्लुतेतरप्रभवापत्येषु विलक्षणाकारता । (२) तुलना-"न च वेदवचः किञ्चित्
द्विजातित्वप्रसाधकम् । व्यक्तेः सामान्यवचनमनुक्तसममेव तत् ॥"-प्रमाणवार्तिकालं पृ० २५। (३)
आगमप्रतिपादकेन । (४) अविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः । (५) पित्रोरविप्लुतत्वप्रतीतिः । (६) तुलना-
"यदाहुः-अनादाविह संसारे दुर्वारि मकरध्वजे । कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥"-नैषध०
टी० १७।४०। "अनादिगोत्रप्रभवापत्यस्यां न स्खलनं स्त्रियाः । इति ज्ञानं कथञ्चाम कामार्ता हि सदा
स्त्रियः ॥ ब्राह्मणत्वे स्थिते पूर्वं तद्गोत्रत्वस्य संभवः । तदाऽस्थितेः कथं गोत्रं लेयमन्धपरम्परा ॥"
-प्रमाणवार्तिकालं पृ० २५ । "अतीतश्च महान् कालो योषिताञ्चातिचापलम् । तद् भवत्यपि
निश्चेतुं ब्राह्मणत्वं न शक्यते ॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो न हि कश्चित् समस्ति वः । त्वदन्वयविशुद्धिञ्च
नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान् ॥"-तत्त्वसं० का० ३५७९-८० । "प्रायेण प्रमादानां कामातुरतया
इहजन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्कुतो योनिनिबन्धनो बाह्मण्यनिश्चयः ।"-प्रमेयक० पृ० ४८२। "अना-
दिगोत्रपद्धतौ च कामार्तत्वात् सर्वदा प्रमादानां कस्याश्चिद् व्यभिचारसंभवात् कुतो योनिनिबन्धन-
ब्राह्मण्यनिश्चयात् संस्कारस्य अध्ययनादेश्च अविपर्यस्तत्वनिश्चयः ।"-सम्प्रति० टी० पृ० ६९८।
स्या० २० पृ० ९६० । "न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता । कालेनानादिना गोत्रे स्खलनं क्व
न जायते ॥"-धर्मपु० १७।२८। (७) "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहञ्चैव
ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥"-मनुस्मृ० १।८८।

ग्रहादिः, स च तत्प्रत्यक्षतानिमित्तं न भवति अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुषङ्गात्; याजनादि-
रहितेषु हि ब्राह्मणेष्वपि तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादव्याप्तिः, शूद्रेष्वपि अखिलस्य याजना-
द्याचारस्योपलब्धितो ब्राह्मण्यानुषङ्गाच्चातिव्याप्तिः । अथ मिथ्याऽतो आचारविशेष-
स्तत्र; अन्यत्र कुतः सत्यः ? ब्राह्मण्यसिद्धेऽन्वेत्; अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि आचारसत्यत्वे

५ ब्राह्मण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, आचाराद् ब्राह्मण्यसिद्ध्याभ्युपगमे व्रतबन्धात् पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गः ।
तत्र आचारोऽपि तैत्प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम् ।

एतेन संस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याख्याता; अव्याप्यतिव्याप्योरत्राप्य-
विशेषात् । तत्र अव्याप्तिः-संस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि अब्राह्मण्यप्रसक्तेः
१० स्यात् । अतिव्याप्तिः पुनः अब्राह्मणस्यापि तथाविधसंस्कृतस्य ब्राह्मणत्वोपपत्तेः स्यादिति ।
एतेन वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा । ब्रह्मप्रभवत्वस्य च तदङ्गत्वे
अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात् ।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति, न वा ? यदि नास्ति; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ?
न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता । अथ अस्ति; किं सर्वत्र, मुखप्रदेशे एव
१५ वा ? यदि सर्वत्र; स एव प्राणिनां भेदाभावानुषङ्गः । अथ मुखप्रदेश एव; तदाऽ-
२३ न्यत्रास्य शूद्रत्वानुषङ्गात् न विप्राणां तत्पादादयो वन्याः स्युः ।

(१) तुलना-“अधाध्ययनादिना क्रियाविशेषेण ज्ञायते नोपदेशमात्रात्; तदप्यस्तु; द्विजा-
तित्वे क्रिया साध्या न क्रियातो द्विजातिता । वचनादपि नैवास्याः प्रतीतिरविरोधिनी ॥”-प्रमा-
णवार्तिकालं० पृ० २३ । “जातकमदयो ये च प्रसिद्धास्ते तदव्यवत् । आचाराः सांवृतास्ते हि कुत्रि-
नेष्वपि भाविनः ॥”-तत्त्वसं० का० ३५७८ । “अत एवाध्ययनं क्रियाविशेषो वा तत्सहायतां न
प्रतिपद्यते । दृश्यते हि शूद्रोऽपि स्वजातिविलोपाद्देशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीताञ्च
क्रियां कुर्वाणः ।”-प्रमेयक० पृ० ४८५ । “अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुषङ्गात्”-स्या० १० पृ० ९६० ।
(२) शूद्रादिषु । (३) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताम् । (४) तुलना-“एतेन संस्कारविशेषस्य वेदाध्ययनस्य
यज्ञोपवीतादेश्च चक्षुःसंस्कारिता प्रत्युक्ता; अव्याप्यतिव्याप्योरत्राप्यविशेषात् ।”-स्या० १० पृ०
९६१ । (५) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षतानिबन्धनत्वे । (६) तुलना-“ब्रह्मणोऽप्यतमात्रात् ब्राह्मण्येति प्रसज्यते ।
न कश्चिदब्रह्मतत्त्वोत्पत्तिः क्वचिद्विष्यते ॥ अन्तरा जातिभेदश्चेन्नितिमित्तः कथं भवेत् । अन्तराले
क्रियाभेदात् गोत्रेणार्थो न कस्यचित् ॥ अथ द्विजादिगोत्राणामनादिर्भेद इष्यते । ज्ञायतां स कथन्नाम
प्रमाणस्याप्रवृत्तितः ॥ क्रिया तदपरिज्ञानादक्रियैव प्रसज्यते । अविच्छेदश्च गोत्रस्य प्रत्येतुं शक्यते न
च ॥ सूतमागधचाण्डालाः कथं संभविनोऽन्यथा । ज्ञायन्त एव ते तज्ज्ञैरिति चेन्नियमो न हि ॥”-
प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २४ । (७) ब्रह्मप्रभवतया । (८) तुलना-“किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा न
वा ? नास्ति चेत्; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ? ... अस्ति चेत्; किं सर्वत्र मुखप्रदेश एव वा ?”-प्रमे-
यक० पृ० ४८४ । स्या० १० ९६१ । (९) अब्राह्मणाद् ब्रह्मणः । (१०) सर्वत्र शरीरावयवेषु मुखा-
दिपादान्तेषु । (११) पादादिषु । (१२) ब्रह्मणः ।

१ आचारस्तत्र व०, आ० । २ व्याप्योस्तत्रा-श्र० । ३ स्वानुपपत्तेः श्र० । ४ वत्त्वसाधनत्वं
गत्वे व० । ५ -तिः प्रतीयते व०, -सिता प्रतीता श्र० ।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव वासौ जायते ? विकल्पद्वयेऽपि अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति न च ब्रह्मप्रभवत्वं विशेषणं ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते । न च अप्रतिपन्नं विशेषणं विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधानं समर्थमतिप्रसङ्गात् । यद् विशेषणं तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति ।

एतेन 'असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः' इत्याद्यनुमानं ब्राह्मण्यसद्भावप्रसाधकं प्रत्याख्यातम् ; अनेकधा प्रतिबन्धकसद्भावप्रतिपादनात् ।

यदपि—'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानमुक्तम् ; तदप्युक्तम् ; पक्षस्य अध्यक्षवाधितत्वात्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बन्धशून्यमेव अध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तशब्दवत् । अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः ; न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वं मीमांसकस्य अस्माकं वा क्वापि प्रसिद्धम् व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभ्यामभ्युपगमात् । हेतुश्चानैकान्तिकः ; सत्ताऽऽकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावेऽपि पदत्वस्य भावात् । अत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनायां सामान्यस्य निःसामान्यत्वमनेकव्यक्तिवृत्तित्वञ्च व्याह्रयेत् । अद्वैताखिलशून्यत्वादेश्च सामान्यवत्त्वेन परमार्थस्त्वनुषङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिश्च स्यात् ? दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः ; पटादिपदे व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तत्वासिद्धेः । नित्यैकरूपसामान्यमन्तरेणापि अनन्तानां वाच्यवाचकव्यक्तीनां सम्बन्धो यथा सिद्ध्यति तथा नित्यसम्बन्धनिषेधावसरे प्ररूपितम् ।

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं^२ प्रत्युक्तम् ; उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात् । नगरे-

(१) तुलना—'किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते तन्मुखादेवासौ जायते ?'—प्रमेयक० पृ० ४८४। (२) ब्राह्मणस्यैव । (३) पृ० ७६९ पं० ८। (४) पृ० ७६९ पं० १३। (५) तुलना—'यतो यदि व्यक्त्यादिभ्यो व्यतिरिक्तं निमित्तमात्रमस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, तत्समुदायस्य समुदायिभ्यः कथञ्चिदव्यतिरिक्तस्य तद्विषयत्वेन स्वीकारात् । अथ प्रतिव्यक्तिपरिसमाप्तमेकान्तव्यतिरिक्तमभिधीयते ; तदा पक्षस्य प्रतिपक्षवाधितत्वम्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणज्ञानं व्यक्त्यादिव्यतिरिक्तसामान्यनिमित्तरहितमेवाध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तशब्दवत् ।'—स्या० २० पृ० ९६१ । प्रमेयक० पृ० ४८५। (६) जैनानाम् । (७) व्यक्तिभ्यो कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्य । (८) मीमांसकजैनभ्याम् । (९) व्यक्तिभ्यो भिन्नानां सत्तात्व-आकाशत्व-कालत्व-अद्वैतत्वादीनां सम्बन्धस्वीकारे । (१०) अद्वैतस्य सकलशून्यतायाश्च सिद्धिप्रसङ्गात् । (११) पृ० ५४६। (१२) पृ० ७६९ पं० १८। (१३) तुलना—'नगरादिज्ञानवत् व्यतिरिक्तनिबन्धनाभावेऽपि तथाभूतज्ञानस्य कथञ्चिदुपपत्तेः । न हि नगरादिज्ञानेऽपि व्यतिरिक्तं द्रव्यान्तरमस्ति यदेकाकारज्ञाननिबन्धनं भवेत्, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्त्या कयाचित् प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनानां नगरादिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्तेः, अन्यथा षण्णगरीत्यादिष्वपि वस्त्वन्तरकल्पनाप्रसक्तेः ।'—सम्प्रति० टी० पृ० ६९७।

प्रमेयक० पृ० ४८५ । स्या० २० पृ० ९६१ ।

१—देव चासौ आ०, ब० । २—सिद्धेः श्र० । ३ अथप्रसिद्ध—श्र० । ४ व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभ्यामभ्युप-आ० । ५—भाष्याग्रयुप-श्र० । ६ सामान्यनिः सा-आ० ।

दिज्ञानेन अनेकान्ताच्च, तत्र व्यक्तित्वविरक्तिनिमित्तनिबन्धनत्वाभावेऽपि वर्णविशेषा-
दिनिमित्तबुद्धिविलक्षणत्वस्योपलम्भात् । न खलु 'नगरं सेना वनम्' इत्यादिज्ञाने व्यक्ति-
व्यविरक्तिम् अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं किञ्चिदस्ति । तद्धि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो
वा स्यात् ? प्रथमपक्षे नगरादिकमेव तत्र द्रव्यम्, अन्यद्वा ? न तावत् नगरादिकमेव;
5 तस्य द्रव्यत्वाऽसंभवात् । नहि नगरं सेनादिकं वा द्रव्यं संभवति; गृहादिभिरसंयुक्तैः
विजातीयैश्च तस्य आरम्भाऽसंभवात् । कतिपयगृहाणामस्ति संयोग इति चेत्; न; तेषां
स्वयं संयोगरूपतया संयोगानाश्रयत्वात् । गुणरूपतया च तेषां द्रव्यानारम्भकत्वम्,
गुणैर्द्रव्यारम्भाऽसंभवात् ।

'सत्ता नगरादिकम्' इत्यत्रापि असौ गृहादिविशेषिता, केवला वा तत्प्रत्ययसु-
10 त्यादेयत् ? न तावत् केवला; गृहादिविरक्तेऽपि प्रदेशे ततः तत्प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ
गृहादिविशेषिता; न; कूटस्थनित्यार्था विशेष्यत्वासंभवात्, अकिञ्चित्करस्य अविशेषण-
त्वाच्च । किञ्चित्करत्वे वा तत्कूटस्थताक्षतिः । कथञ्चैवं 'वण्णगरी' इत्यत्र समुदायोप-
पत्तिः सत्ताया एकरूपतया समुदायतानुपपत्तेः ?

प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि कस्य केन सह नगरादिव्यपदेशमर्हेत् ? गृहादीनां गृहा-
15 द्यन्तैः इति चेत्; कः पुनरसौ-तेषां तैः सह समवायः, संयोगो वा ? न तावत्समवायः;
तेषां युतसिद्धतया अनाधार्यधारभूततया च तदसंभवात् । नापि संयोगः; गृहादीनां
संयोगरूपतया संयोगानाश्रयत्वात् । न च नगरादिशब्दात् संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षणे
प्रत्यासत्तिविशेषे एकस्मिन् कैश्चिच्च प्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्तयोऽनुभूयन्ते, किन्तु गृहादा-
वनेकत्र । नगरशब्दाद्धि गृहादौ, सेनाशब्दाद् अश्वादौ, वनशब्दाच्च धवादावनेकत्रार्थे
20 तौः प्रतीयन्ते इति । १६ हि शब्दादुक्चरितान् प्रतिपत्त्यादयः प्रतीयन्ते स शब्द-
स्यार्थः तथा वृद्धव्यवहारात् । 'देशादिप्रत्यासत्तिविशिष्टा गृहादयो नगरादिव्यपदेशभाजः'
इत्यप्यनेनाऽप्राप्तम्; देशादौ हि प्रत्यासत्तिः-तेषां समवायः, संयोगो वा ? तत्र च

(१) गृहाणाम् । (२) संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । (३) गृहाणाम् । (४) "द्रव्याणि
द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्" (वैशे० सू० १।१।१०) इति निवमात् । (५) सत्ता ।
(६) नगरमिति प्रत्ययम् । (७) सत्तातः । (८) सत्तायाः । (९) गृहादेः । (१०) यदि गृहादयः
सत्तायां कञ्चिदतिशयमुत्पादयन्ति तदा । (११) सत्तायाः नित्यैकरूपताव्याघातः । (१२) गृहादीनाम् ।
(१३) एकेन गृहेण संयुक्तमपरं गृहं तेन चापरमिति संयुक्तसंयोगाद् यदल्पीयस्त्वम् अल्पदेशावगाहित्वं
तत्र । (१४) पुरुषस्य । (१५) प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तयः । (१६) तुलना-"सेनाशब्दावनेकत्र हस्त्याद्यर्थे
प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिसिद्धेः, वनशब्दाच्च धवस्त्रिपलसादावनेकत्रार्थे । यत्र हि शब्दात् प्रतीति-
प्रवृत्तिप्राप्तयः समभिगम्यन्ते स शब्दस्यार्थः प्रसिद्धस्तथा वृद्धव्यवहारात् । न च सेनावनादिशब्दात्
प्रत्यासत्तिविशेषे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूयन्ते येन स तस्यार्थः स्यात् ।"-आप्तप० का० ४ ।

१-निबन्धनाभावेऽपि आ०, थ० । २-त्वात् कि-ब० । ३-णप्रत्यासत्ति-ब० । ४-तात्त-
त्यतिपत्त्या-आ० ।

उक्तदोषोऽविशिष्टः । भवतामपि कथमेवं नगरादिव्यपदेशः स्यात् ? इत्यप्यचोचम् ; देशप्रत्यासत्तिविशिष्टे प्रासादादौ तद्व्यपदेशस्य अस्माभिरभ्युपगमात् । देशप्रत्यासत्ति-
 श्चात्र संयोगलक्षणा प्रतिपत्तव्या, प्रासादादेरवयवित्वेन अस्माकमिष्टत्वात् । विजातीयैः
 काष्ठेष्टिकादिभिः तस्यै आरम्भासंभवात् कथमवयवित्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम् ; विजाती-
 यैरपि पृथिव्यादिभिः शरीराद्यवयविनः आरम्भोपलम्भात् । सजातीयानाम् आरम्भ- 5
 नियमस्य षट्पदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरत्वनियेषावसरे निषिद्धत्वात् ।
 ततो भवन्मते नगरादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावात्, सिद्धमनेना-
 नैकान्तिकत्वम् । न चान्यत् किञ्चिद् ब्राह्मण्ये लिङ्गमस्ति यतः तत्सिद्धिः स्यात् ।

अस्तु वा किञ्चित्तत्रै लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्धं तर्त्तु न तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्,
 अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धग्रहश्च अप्रतिपत्ते ब्राह्मण्ये न संभवति, अतिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिप- 10
 त्तिश्च प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्धा । अनुमानतः तत्प्रतिपत्तौ चक्रकप्रसङ्गः—सिद्धे हि अनुमा-
 नतो ब्राह्मण्ये तेन लिङ्गस्य प्रतिबन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनुमानसिद्धिः, ततश्च
 ब्राह्मण्यसिद्धिरिति ।

आगमतोपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? न तावदपौरु-
 षेयात् ; तस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात्, ब्राह्मणत्वस्य च नित्यतयेष्टितोऽकार्यत्वात् । 15
 नापि पौरुषेयात् तत्रैतः तत्प्रतिपत्तिः ; तस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात्, तस्य चात्राऽसंभवात् ।

नाप्युपमानात् तत्प्रतिपत्तिः ; तस्य सादृश्यालम्बनत्वात् । अप्रतिपत्ते च प्रमाणा-
 न्तरेण ब्राह्मण्ये कथं तेन सादृश्यं कस्यचित्प्रतीयेत यतः तद्दर्शनाद् ब्राह्मण्यं प्रतीयेत ?

नाप्यर्थापत्तेस्तत्प्रतिपत्तिः ; ब्राह्मण्यजातिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्क-
 विज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्य अप्रतीयमानत्वात् । अतः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चक- 20
 गोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणकवलीकृतत्वात् नभोऽम्भोजवत् नास्ति ब्राह्मण्यम् ।
 अतो ब्राह्मण्यजाते सत्त्वस्यैवाऽसंभवात् 'प्रथमदर्शने प्रतिभातापि जातिः व्यञ्जकभेदा-
 ग्रहणान्नोल्लिखति' इत्यादि^{१५} प्रत्याख्यातम् ।

(१) जैनानाम् । (२) नगरादिव्यपदेशस्य । "प्रासादतोरणपुरावादीनां समुदायो नगरम्" —
 —प्रमाणवा०स्व० टी० पृ० १२७ । (३) जैनानाम् । (४) अवयविव्यवस्य । (५) पृ० २३९ । (६)
 नैयायिकादिमते । (७) ब्राह्मण्ये । (८) लिङ्गम् । (९) ब्राह्मण्यप्रतीतिः । (१०) "नाय्यागमतः ;
 यतोऽसौ पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयः"—स्या० १० पृ० ९६२ । सम्मति० टी० पृ० ६९८ । (११)
 "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्—क्रिया कथमनुष्ठेयेति तां वदितुं समाप्तातारो वाक्यानि समापनन्ति ।"
 —जैमिनि०, शाबरभा० १।२।१ । (१२) आगमात् । (१३) वक्तुः प्रतिपाद्यविषयज्ञानस्य प्रमाणत्वे
 सिद्ध एव तत्प्रणीतागमस्य प्रामाण्यम् । (१४) ब्राह्मण्यसदृशवस्तुदर्शनात् । (१५) पृ० ७६८ पं० ६ ।

यदप्युक्तम्—‘द्रव्यपरीक्षकाणाम्’ इत्यादि; तदप्यसम्प्रतम्; यैतो न पीततामात्रं सुवर्णम्, विचित्ररेखारचितपरिणतिमात्रं वा द्रव्यम्; वृत्तसंस्थानमात्रं वा मणिः; अतिप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? तद्विशेषः । स च न प्रत्यक्षः, दाहच्छेदादेः तुषाण्बुसं-
प्रक्षालनादेः परंप्रभादेश्च वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्यापि तैत्प्रतिपत्तौ सहायत्वे तज्जातौ
५ किञ्चित्स्थायिधं सहायं वाच्यम् । तच्चैव ब्राह्मणभूतपितृजन्मत्वादिकम्, आकारविशेषो
वा स्यात् ? सर्वमेतत् प्रागेव कृतोत्तरत्वान्न तैत्प्रतिपत्तौ सहायतां प्रतिपद्यते । अतोऽ-
युक्तमुक्तम्—‘न च सामग्र्यभावाद् यन्न प्रतिभासते तन्नास्ति’ इत्यादि; तत्प्रतिभास-
सामग्र्याः प्रागेव अंशेषविशेषतो निरस्तत्वात् ।

ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यनभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो
१० वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्युच्यते; किंयविशेषयज्ञोपवीतादिविहोपलक्षिते
व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य च उपपत्तेः । तन्न भवत्कल्पितं नित्यादि-
स्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्म-

(१) पृ० ७६८ पं० ७ । (२) तुलना—“काञ्चनाद्युपदेशस्य हि यदाऽस्यताश्चक्रे तदा
प्रत्यक्षदशानादसौ निवर्तते नैवं जात्याद्युपदेशस्यासत्यताशंकायां प्रत्यक्षात् सत्यता जातिस्वरूपग्रह-
णाकारात् । सुवर्णादौ हि रूपविशेषसद्भावात् एवम्भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्ते-
र्दृष्टस्य न काचित्शक्तिः, अत्र तु पुनरेवविषयमेव ब्राह्मण्यमिति न पादप्रसारणमात्रं त्राणम् ।”—प्रमाणवा-
दित्कालं पृ० २२ । “यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्...”—प्रमेयक० पृ० ४८४ । (३) दाहच्छेदतुषा-
ण्प्रक्षालनादेः । (४) सुवर्णादिप्रतिपत्तौ । (५) “तत्त्वाकारविशेषो वा स्यादव्यवहारिकं वा ?”
—प्रमेयक० पृ० ४८५ । (६) ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ । (७) पृ० ७६८ पं० १३ । (८) जैनानाम् । (९)
तुलना—“न जटाहि न गोतेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो । यन्मिह सच्चञ्च धम्मो च सो सुवी सो च
ब्राह्मणो ॥ न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं । ‘ओ वादि’ नाम सो होति स वे होति सकि-
ञ्चनो । अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥”—धम्मप० गा० ३९३, ३९६ । “कम्मुणा वंभणो
होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ । वईसो कम्मुणा होइ सुदो हवइ कम्मुणा ॥”—उत्तरा० २५।३३ । “तस्माद्
गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः । ऋषिसंघादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते । ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनि-
भवात् ॥ ...चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् । सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम् ॥
—पथपु० ११।१९८-२०५ । “मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भव । वृत्तिभेदादिताद् भेदाच्चातुर्वि-
ध्यमिहाश्रुते ॥ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः वस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थार्जनाध्याय्यात् शूद्रा-
न्यवृत्तिसंश्रयात् ॥”—आदिपु० ३८।४५-४६ । “आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् । न जातिर्वा-
हणीयास्ति नियता क्वापि तारिक्की ॥ ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः । एकैव मानुषी
जातिराचारेण विभिन्यते । ...गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसाद्विपद्यते ॥”—धर्मप० १।२४-३२ ।
जातिराचारेण विभिन्यते । ...गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसाद्विपद्यते ॥”—धर्मप० १।२४-३२ ।
महाभाष्येऽपि ‘गुणवाचिनः ब्राह्मणादिशब्दाः’ इति पक्षोऽप्युपन्यस्तः । तथाहि—“अथवा सर्वे एते शब्दाः
गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति ।”—यात० महाभा० २।२।६ । “क्रियाविशेष-
ज्ञोपवीतादिविहोपलक्षिते व्यक्तविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः । ...ततः क्रियाविशेषा-
दिनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः ।”—प्रमेयक० पृ० ४८६ । स्या० २० पृ० ९६२ ।

१ तुषट्सप्रक्षा-आ०, तुषट्सप्रक्षा-अ० । २ परपक्षादेव व० । ३ अशेषतो व० ।
४ भगवतां अ० । ५ तन्न तत्त्वकल्पि-व० । ६ क्रियानिबन्धन व० ।

णादिव्यवहारो युक्तः । कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च स्यात्, जातिर्यतः पवित्रता हेतुः ? सा च भवन्मतेन नित्यैकरूपतया तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वजातेरपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपि इष्टं शिष्टैरादानं न तु ब्राह्मणीनाम् । अथ क्रियाभ्रंशात्सां निन्द्यता अनादानञ्चेत्यते; तर्हि किमनेन अन्तर्गडुना ब्राह्मण्येन कल्पितेन ? कल्पयित्वापि तत् 5 क्रियाविशेषवशादेव वन्द्यताया ब्राह्मणव्यवहारस्य चाभ्युपगमनीयत्वात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ ब्राह्मण्यजातेर्निवृत्तिः स्यात्, यदि सा तस्याः कारणं व्यापकं वा स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिद्विष्टम् । नापि क्रियाभ्रंशात् तस्या विकारोऽस्ति “भिन्नेष्वभिचा नित्या निरवयवा च जातिः” [] इत्यभिधानात् । न चाऽविकृतायाः निवृत्तिः संभवति 10 अतिप्रसङ्गादिति । तदेवं भवत्कल्पितब्राह्मण्यस्य आकाशकुशेशयवदप्रसिद्धस्वरूपत्वान्न ब्राह्मणस्यैव संस्कृतशब्दप्रयोगात् धर्मो युक्तः, किन्तु सर्वेषामविशेषेणैव अतोऽ-^{१५}सौ स्यात्, न चैवम् । अतोऽवितथार्थाभिधायित्वमेव शब्दस्य साधुत्वमभ्युपगन्तव्यम् नान्यत्, उक्तदोषानुषङ्गात् । तथाविधञ्च तर्हि संस्कृतशब्दस्यैव प्राकृतशब्दस्याप्यविशिष्टम्, अतो द्वयोरप्यनयोः साधुत्वम् । ततः साधूक्तम्—“वर्णाः पदानि वाक्यानि 15 प्राहुरर्थानवाञ्छितान्” इत्यादि ।

कारिकाद्वयं विवृण्वन्नाह—“वर्ण” इत्यादि । वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वम् अर्थ-
विवृतिन्यायानम्—
प्रतिपादकत्वम्, यथास्वं स्वस्यार्थस्य अनतिक्रमेण आगमात् प्रति-
पत्तव्यम् । तत्रास्य प्रत्येकं प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वात् । कुतः पुनः
विचक्षतोऽन्यस्य वाचकाः शब्दाः ? इत्याह—“वक्त्रमिप्रायात्” इत्यादि । वक्त्रमिप्रा- 20
याद् भिन्नस्य बहिर्भूतस्य अर्थस्य घटादेः वाचकाः शब्दाः । कुत एतत् ? इत्याह—
सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । यत्र सत्यानृतव्यवस्था तद् वक्त्रमिप्रायाद् भिन्नार्थ-
विषयं यथा प्रत्यक्षादि, सत्यानृतव्यवस्था च शब्देष्विति । अयञ्च प्रसङ्गः बहिरर्थ-

(१) तुलना—“ततः संव्यवहारमात्रप्रसिद्धं ब्राह्मण्यम् ।”—प्रमाणवार्ताकालं पृ० २६ । (२) यदि क्रियाविशेषनिबन्धनो ब्राह्मण्यादिव्यवहारो न स्यात्तदा । तुलना—“कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो भवेत्”—स्या० २० पृ० ९६२ । प्रमेयक० पृ० ४८६ । (३) जातिः । (४) सीमांसकनैयायिकमतेन । (५) “अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ४८६ । (६) ब्राह्मणीनाम् । (७) “घटामस्तकयोरन्तरालवर्ती मांसपिपडोऽन्तर्गडुः”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १६८ । (८) ब्राह्मण्यम् । (९) तुलना—“किञ्च क्रियानिवृत्तौः”—प्रमेयक० पृ० ४८७ । (१०) क्रिया । (११) ब्राह्मण्यजातेः । (१२) ब्राह्मण्यजातेः । (१३) उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० ४८७ । (१४) संस्कृतशब्दोच्चारणात् । (१५) धर्मः । (१६) अवितथार्थाभिधायित्वलक्षणं साधुत्वम् ।

१ ब्राह्मणीनां व० । २ चाण्डालादीनां गृहे श्र० । ३ ब्राह्मण्यव्य-आ०, श्र० । ४ इति आ० ।

५ ‘शब्दाः’ नास्ति आ० ।

विषयतामन्तरेण सत्यामृतव्यवस्थानुपपत्तिलक्षणः अन्यत्र 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' [लघी० का० २६] इत्यादौ विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रषट्ठके पुनः प्रतन्यते । नन्वर्थोभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात् कथं तद्वाचकत्वम् इत्यत्राह—'शब्दानाम्' इत्यादि । शब्दानाम् अर्थव्यभिचारित्वेऽभ्युपगम्यमाने अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतः प्रमाणात्
 5 न कुतश्चित् अपनीयते निराक्रियते । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'सुसुप्तादौ' इत्यादि, आदिशब्देन मत्तादिपरिग्रहः वाग्वृत्तेर्दर्शनात् ।

ननु विवक्षाप्रभवाच्छब्दान्य एव शब्दः, यः तदभावे तत्र जायते । न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । 'सुविवेचितं हि कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इति, तदेतदत् अर्थविशेषसद्भावासद्भावप्रतिबद्धात्मलाभेऽपि शब्देषु
 10 समानम् । साम्येऽपि तेषां विवक्षेतरप्रभवाः शब्दाः वैलक्षण्येनाऽवसीयन्ते ननु अर्थविशेषसद्भावाऽसद्भावप्रतिबद्धात्मलाभा इति स्वदर्शनादुरागमात्रम् । विवक्षामात्रगोचरत्वे च अमीषां बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वानुपपत्तिः, तद्विषयत्वाद्, यद् यद्विषयं न भवति न तत् तत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः यथा रूपज्ञानं रसाविषयं न रसे, न भवन्ति च बहिरर्थविषया भवन्मते शब्दा इति । नचैतद् युक्तम् प्रतीतिविरोधात् । सुप्रसिद्धा हि
 15 शब्देभ्यो बहिरर्थं प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतिः आबालं प्रत्यक्षवत् । अतः तद्विषयत्वमेव अमीषां युक्तम् । यद् यत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः तत्तद्विषयम् यथा रसज्ञानं रसे प्रवृत्त्यादिहेतु रसविषयम्, बहिरर्थं प्रवृत्त्यादिहेतवश्च शब्दा इति । नचायमसिद्धो हेतुः; प्रत्यक्षवत् शब्देभ्यः तत्र प्रवृत्त्यादिप्रतीतिः । यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानादिसामग्रीसापेक्षात् प्रत्यक्षार्थं प्रतिपत्त्यादिप्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा, तथा सङ्केतादिसामग्रीसापेक्षात्
 20 पेशात् शब्दात् शब्दार्थेऽपि इति । न च अर्थे अर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक इत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि अर्थित्वादेव प्रवृत्तिप्रतीतिः । परम्परयाऽत्र प्रवर्त्तकत्वे शब्देऽपि तैसा तदस्तु अविशेषात् ।

कां चेयं विवक्षा नाम—शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देन अनुमर्थं प्रति-

(१) विवक्षाभावे । (२) बहिरर्थाविषयत्वात् । (३) शब्दो बहिरर्थविषयः बहिरर्थं प्रवृत्त्यादिहेतुत्वात् । (४) तुलना—'प्रत्यक्षादिव शब्दाद् बहिरर्थप्रतीतिसिद्धेः । यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसापेक्षात् प्रत्यक्षार्थं प्रतिपत्तिः तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थं प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थं प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात् । न चायं वेदनादेव अर्थो पुरुषस्याधिनिः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्; प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि सर्वस्याभिलाषादेव प्रवृत्तेः ।'—अष्टसह० पृ० २१ । प्रमेयक० पृ० ४४९ । (५) प्रत्यक्षविषयीभूतेऽप्यर्थे । (६) प्रत्यक्षे । (७) प्रवर्त्तकत्वव्यपदेशे । (८) परम्परया प्रवर्त्तकत्वम् । (९) "का चेयं विवक्षा नाम—किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्..."—प्रमेयक० पृ० ४५० ।

१ तद्वाचकमि—अ० । २ इत्याह व० । ३ सुषुप्तादीनामि—अ०, सुषुप्तादौ इ—व० । ४ अपरस्य व० । ५—स्मलाभ इति आ०, व० । ६—तुल्यदि—आ० ।

पाद्यामि इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रश्रवणप्रणयनादौ प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति । न खलु कश्चिदनुमत्तः शब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रं वाक्यान्तरं वा प्रणेतुं श्रोतुं वा प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यैः सह सर्ववाक्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषां स्वप्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाऽविशेषात् । अथ अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपाद्या-
मीत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन अखिलशब्दानां विवक्षानुमापकत्वम् ; तदप्यनुप- 5
पन्नम् ; व्यभिचारात् । नहि शुक्लशरिकोन्मत्तादयः तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किञ्च, समयानपेक्षः शब्दः तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षो वा ? आद्य-
विकल्पे न कश्चित् कचिद्भाषानभिज्ञः स्यात्, सर्वेषामविशेषतः शब्दार्थप्रतिपत्तिप्र-
सङ्गात् । समयापेक्षस्तु शब्दः अर्थमेव किञ्च गमयेत् ? नह्ययम् अर्थाद् विभेति येन
तत्र साक्षान्न वर्त्तते । अशक्यसमयत्वाच्च शब्दोऽर्थं गमयति; इत्यप्यसमीक्षिताभिधा- 10
नम् ; अभिप्रायेऽपि तदगमकत्वानुषङ्गात्, तत्रापि तस्य अशक्यसमयत्वाविशेषात् ।
असिद्धञ्चास्य अशक्यसमयत्वम् ; 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' [लघो० का० २६] इत्यत्र
तच्छ्रुत्यसमयत्वस्य प्रपञ्चतः प्रतिपादितत्वात् ।

न केवलं सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनादभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते इति,
अपि तु इतश्च । कुतस्तदपनीयते इत्याह—'अनिच्छताम्' इत्यादि । अनिच्छतामपि 15
अपशब्दाद्युच्चारणविवक्षाविकलानामपि अपशब्दादिभाषणसङ्गावात्, आदिशब्देन
श्रुतिदुष्टादिपरिग्रहः । तथा वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् तत्कु-
तोऽपनीयते ? अत्राह परः—'उभयत्र' इत्यादि । उभयत्र अर्थेऽभिप्राये च व्यभिचारात्
शब्दानाम् न कस्यचिदर्थस्य अभिप्रायस्य वा वाचकाः शब्दाः, इतिशब्दः परमत-
समाप्त्यर्थः । अत्र दूषणमाह—'अलौकिकं प्रतिभानमिति' प्रतिभोत्तरप्रतीतिः इत्यर्थः, 20
अलौकिकश्च तत् प्रतिभानश्च, लोकवाधितम् इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—
'लोको हि' इत्यादि । हिर्यस्मात् लोकः अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थाम्
आतिष्ठेत् । कस्य ? शब्दस्य । यदि हि न कस्यचिद्वाचकाः शब्दाः स्युः तर्हि तेभ्यो
घटाद्यर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतिः न तस्याप्या केषाञ्चिच्छब्दानां सत्यत्वम् अन्येषां तु अनृत-
त्वं विपर्ययात् इत्येवं लोको वचसां तद्व्यवस्थामातिष्ठेत् इत्यभिप्रायः । ननु अभिप्राय- 25
मात्रप्रतिपादनेऽपि तद्व्यवस्थामास्थास्यत इत्यत्राह—'न' इत्यादि । अभिप्रायमात्रे
शब्दार्थे 'न लोकः तद्व्यवस्थामातिष्ठेत्' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—
'तत्र' इत्यादि । 'तत्र' तन्मात्रे शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्, कचित् तत्रै तद्व्यव-

(१) तुलना—'किञ्च, समयानपेक्षं वाक्यं तादृशमभिप्रायं गमयेत् तत्सापेक्षं वा ?'
—प्रमेयक० पृ० ४५० । (२) अभिप्रायमात्रे ।

१-श्रवणयनादौ आ० । २ सुषुप्त्यादौ ब० । ३-पनीत ब० । ४ अपशब्दाद्युच्चा-अ० । ५ न तु
अभि-आ०, ब० । ६ इत्याह तत्र तन्मात्रे ब०, इत्यत्राह तत्र तन्मात्रे आ० । ७ चित्ततत्र श्र० ।

हारेपि बहुलं बहिः तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भावः ।

- ननु प्रतीयते शब्दार्थः स तु विचार्यमाणो न सङ्गच्छते; तत्र तस्य सम्बन्धा-
भावतः प्रत्यायकत्वायोगात्; इत्यत्राह—‘अबाधिताम्’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—यौट्ठोर्ध्वे
सङ्केतितः यादृशः शब्दः देशान्तरे कालान्तरे च योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य
5 तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्बाधकम् इत्युक्तम्—‘योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः’ [लघी० स्वव०
का० ६२] इत्यत्र । अतः अबाधितां शब्दादुपजायमानां सामान्यविशेषात्मकार्यविषयां
तत्पतीतिमितिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीयतानाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्—‘प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव
प्रमाणं नागमादि’ इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नं स्वलक्षणमेव
प्रमेयम् अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्’ इत्यातिष्ठमानानां सौगतानां युक्तम्
10 उपपन्नम् किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम् । केषाम् ? शब्दानाम् इति ।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् ‘ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः’ इत्येतत् । साम्प्रतं
‘नयो ज्ञातुरभिप्रायः’ इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—

श्रुतैर्भेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।

द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ ६६ ॥

15

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥ ६७ ॥

(१) बहिरर्थे । (२) शब्दस्य । (३) व्याख्या—‘ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति ।
के ? ते । श्रुतस्य सकलादेशस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकलादेशाः । कति ? सप्त । कुतः
नैगमादिप्रभेदतः ? किं विशिष्टाः ? द्रव्यपर्यायमूलाः । तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्यं सामान्यं
भवति । किं विशिष्टम् ? एकान्वयानुगम्, एकञ्चान्वयश्च एकान्वयो तावनुगच्छति व्याप्नोतीत्येका-
न्वयानुगम् । तत्रैकानुगम् अर्थात् (ऊर्ध्वता) सामान्यं पूर्वापरव्यापकम्, सदृशपरिणामलक्षणं तिर्यक्-
सामान्यमन्वयानुगम् । पुनः किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निर्गतश्चयः पर्यायान्तरसंकरो यस्मादसौ
निश्चयः पर्यायः स आत्मा यस्य तत्तथोक्तम् । अपि पुनरन्यः पर्यायो विशेषो भवति । किं विशिष्टः ?
व्यतिरेकपृथक्त्वगः, व्यतिरेकश्च पृथक्त्वञ्च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति स तथोक्तः । तत्र
व्यतिरेकः एकरिक्तं द्रव्ये क्रमाभाविपर्यायः । पृथक्त्वगः पुनरर्थान्तरगतो विसर्गपरिणामः । ‘तु पुन-
निश्चयव्यवहारौ मूलनयो आश्रितौ आलम्बितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायम् । ‘द्रव्यं श्रितो निश्चयनयः
द्रव्याधिक इत्यर्थः । पर्यायाश्रितो व्यवहारनयः पर्यायाधिक इत्यर्थः ।’—लघी० ता० पू० ८८ । (४)
तुलना—‘सप्त मूलनया पण्णा । तं जहा णेममे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सहे, सममिळ्हे, एवंभूए ।’—
स्था० ७।१९ । अनुयोग० १३६ । नैगमसंग्रहव्यवहारजसूत्रशब्दसममिळ्हेवम्भूताः नयाः । ‘तत्त्वार्थ०
१।३४ । ‘नैगमसंग्रहव्यवहारजसूत्रशब्दा नयाः । सहे य सममिळ्हे एवंभूए य मूलनया ।’—आव० नि०
गा० ७५४ । ‘नैगमसंग्रहव्यवहारजसूत्रशब्दा नयाः । आद्यशब्दो द्वित्रिभेदो ।’—तत्त्वार्थाधि० १।३४,
३५ । सिद्धसेनदिवाकरास्तु षड् नयान् स्वीकुरुन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्त-
र्भावात् । द्रष्टव्यम्—सम्मतं १।४, ५ ।

1 बहिरर्थस्यव्यय-व० । 2 यादृशोर्ध्वे संकेतितः तादृशः शब्दः आ० । 3 ‘कालान्तरे च’
नास्ति व०, श्र० । 4-ओऽनादि-व० । 5-रेकापृथ-मु० लघी० ।

विवृतिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः
 साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधार्थमिकायाः
 कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयो द्रव्यपर्यायार्थिकौ । द्रव्यम् एका-
 न्वयात्मकम् । एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद्
 अन्वयि । पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मनां
 तथाभावसंकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्व-
 मनुमिमीमहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः
 पुरुषश्च । समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थिगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीवः
 कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम्
 एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशप-
 रिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य
 ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्,
 पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवस्त्वम् आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्ध-
 परमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमस्त्वमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः
 मूर्त्तत्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम्
 इत्युक्तप्रायं नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकार-
 मात्मसात्कुर्वत् कथं निराकुर्युः ? तैतः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याका-
 रिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति; तस्य
 प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नैगमस्य प्रमाण [ता] तादात्म्यविवक्षाभावात् ।

श्रुतस्य आगमस्य भेदाः विशेषाः न पुनर्मतिज्ञानस्य । के ? नयाः, प्रैतिपत्र- 20

मिप्रायाः, कियन्तः ? सप्त । कुतः ? नैगमादिप्रभेदतः । कि-
 कारिकार्यः—
 मूलास्ते ? इत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । द्रव्यपर्यायौ मूलम् आश्रयो
 येषां ते तथोक्ताः । किं स्वरूपं द्रव्यम् ? इत्याह—‘द्रव्यम्’ इत्यादि । एकशब्दोऽयं
 भावप्रधानः, एकत्वञ्च अन्वयश्च सदृशपरिणामः ताभ्यां यथासंख्येन स्वपर्यायान्

(१) तुलना—‘उत्पन्नविनष्टादर्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्
 उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् ।’—तत्त्वार्थवि० भा० १।२० । (२) तुलना—‘अर्थान्तरगतो विसदृश-
 परिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत् ।’—परीक्षाम्० ४।९ । (३) तुलना—‘तित्थयस्वरवयणसंग्रह वित्ते-
 सपत्न्यारमूलवागर्णी । दब्बट्टिओ य पज्जवणओ य सेसा त्रियप्पासि ।’—सम्मत्ति० १।३ । (४) तुलना—
 ‘प्रमाणत्वात् एवायमुभयग्राहकत्वतः । इत्ययुक्तमिह ज्ञप्तेः प्रधानगुणभावतः । प्राधान्येनोभयतामानमर्थं
 गृह्णति वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ।’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९ ।

द्रव्यान्तराणि च अनुगच्छति अनुयाति इति तदनुगम् । 'एकत्वानुगम्' इत्यनेन भेदैकान्तनिषेधः, 'अन्वयानुगम्' इत्यनेन तु सर्वद्रव्यैकत्वनिरासः । तदेवविधं द्रव्यं प्रमाणापरिच्छेद्यं भविष्यति इत्यत्राह—'निश्चयात्मकम्' इति । संशयादिव्यवच्छेदलक्षणा प्रमेयस्था गृहीतिक्रिया निश्चयः, स आत्मा स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम् । न केवलं
 5 द्रव्यमेव निश्चयात्मकम्, किन्तु अन्योऽपि पर्यायोऽपि, निश्चयात्मकः इति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः । पुनरपि कथम्भूतः ? इत्याह—व्यतिरेकपृथक्त्वगः । स्वद्रव्यपर्यायान्तरापेक्षया व्यतिरेकं परस्परव्यावृत्तिम् एकद्रव्यापरित्यागेन गच्छतीति व्यतिरेकगः, द्रव्यान्तरपर्यायापेक्षया पृथक्त्वं पृथग्द्रव्यवृत्तित्वं गच्छतीति पृथक्त्वगः । ननु यदि नैगमादयो नयाः द्रव्यपर्यायमूलाः तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयौ
 10 किम्मूलौ ? इत्याह—'निश्चय' इत्यादि । चेतनस्य अचेतनस्य वा यः सन् स्वभावः न कदाचिद्विनश्यति तदवलम्बी नयो निश्चयः द्रव्यार्थिकनयः इत्यर्थः । यो विनश्यति स्वभावः तदवलम्बी व्यवहारः पर्यायार्थिक इति यावत् तौ । तु शब्दः अपिशब्दार्थे, द्रव्यपर्यायमाश्रितौ । वक्ष्यति च 'तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ' इत्यादि ।
 तत्र प्रथमकारिकायाः प्रथमभागं व्यतिरेकमुखेन विवृण्वन्नाह—'नहि' इत्यादि ।

15 नहि नैव मतिभेदाः किन्तु श्रुतभेदाः, के ते ? नयाः । कुत विवृतिव्याख्यानम्—
 एतत् ? इत्याह—'त्रिकाल' इत्यादि । त्रयः काला गोचरो येषामनेकद्रव्यपर्यायाणां ते विषयो येषां तेषां भावात् तच्चात् । 'नयानाम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । मतिरपि तथा भविष्यति ? इत्यत्राह—'मतेः' इत्यादि । मतेः इन्द्रियजनितायाः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् वर्तमानकालगोचरद्रव्यपर्यायात्मकार्यग्राहकत्वात्
 20 'न मतिभेदा नयाः' इति सम्बन्धः । अनिन्द्रियजनितायास्तस्याः ते तर्हि भेदाः भवन्तु तस्याः त्रिकालगोचरद्रव्यादिविषयत्वात् इत्यत्राह—'मनोमतेः' इत्यादि । न केवलम् इन्द्रियमतेः अपि तु मनोमतेरपि 'नहि भेदाः नयाः' इति सम्बन्धः । किंविशिष्टायाः ? इत्याह—स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मिकायाः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'कारण' इत्यादि । विशदाऽवितथा मतिः मनोमतेः कारणत्वात् 'कारणमतिः' इत्युच्यते, तथा परिच्छिन्नो योऽर्थः तद्विषयत्वान्मनोमतेः । तस्यैव कथञ्चिदधिकतया
 25 तथैव प्रहणान् एवमुक्तम् ।

नयभेदं दर्शयन्नाह—'तत्र' इत्यादि । तत्रैवं श्रुतभेदत्वे नयानां व्यवस्थिते मूलनयौ कारणनयौ नैगमादीनाम् । को ? इत्याह—द्रव्यपर्यायार्थिकौ, द्रव्यञ्च पर्यायश्च

(१) मतेः । (२) इन्द्रियजनिता मतिः । (३) इन्द्रियमतिविषयभूतस्य अर्थस्यैव । (४) अर्थादधितरानुगमरूपेण, विचारात्मकत्वान्मनोमतेः । (५) मनोमत्या ।

तावेव अर्थौ तौ यथासंख्येन विद्येते ययोः तौ तथोक्तौ । तत्र द्रव्यपदं व्याचष्टे
 'द्रव्यम्' इत्यादिना । एकत्वान्वयौ व्याख्यातौ, तौ आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् ।
 एतदेव समर्थयमानः प्राह—'एकत्वम्' इत्यादि । 'द्रव्यम्' इत्यनुवर्त्तते । तस्य
 एकत्वं कुतः ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । स च विवक्षितः असञ्च अविवक्षितः तदतौ,
 तौ च तौ परिणामौ च तौ यस्य स्तः तत् तदतत्परिणामि, यदि वा, तयोः परिणमतः
 इत्येवं शीले तदतत्परिणामि, तस्य भावात् तत्त्वात् । साम्प्रतम् 'अन्वयात्मकं तत्'
 इत्येतत् समर्थयते—अन्यायि द्रव्यान्तरेण अनुगमवद् 'द्रव्यम्' इति सम्बन्धः । कुतः ?
 इत्याह—'तद्' इत्यादि । सद्दृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वात् । अत्राह
 सौगतः—असमानानपेक्ष्य समानपरिणामाः अनुपादानोपादेयानपेक्ष्य एकपरिणामाः
 केचन भावाः कल्पन्ते न परमार्थतः, अपेक्षाकृतस्य धर्मस्याऽतात्त्विकत्वात्;
 इत्याह—'पुरुष' इत्यादि । अस्यायमर्थः—नानैकसन्तानात्मनाम् नानासन्तानस्वभा-
 वानाम् एकसन्तानस्वभावानांश्च युगपत्क्रमभाविनां क्षणानाम् इत्यर्थः । तेषां यदपेक्षातः
 यथोक्तायाः अपेक्षायाः सकाशात् कल्पितं पुरुषत्वं तिर्यक्सामान्यम्, आदिशब्देन द्रव्य-
 विशेषपरिग्रहः, तस्मात् सत्यपि विद्यमानेऽपि समानेतरपरिणामातिशये समानपरिणा-
 मातिशये तत्प्रकर्षे इतरपरिणामातिशये एकत्वपरिणामप्रकर्षे । ननु इतरशब्दस्य उक्तविपरी-
 तार्थाभिधायित्वात् समानपरिणामाद् इतरो विसद्दृशपरिणाम एव लभ्यते, न एकत्वपरी-
 णामातिशय इति चेत्; एवमेतत्, तथापि—इह समानैकत्वपरिणामातिशययोः प्रकृत-
 त्वात् समानपरिणामात् इतरः एकत्वपरिणाम एव उच्यते । तस्मिन् सत्यपि एकत्वं
 तदतत्परिणामित्वात् । सद्दृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् 'अन्वयि' इति सम्बन्धः ।
 नहि तैशाऽपरिणतम् अपेक्षातः तद् भवति विप्रतिषेधात्, अन्यथा स्वयममूर्तमपि ज्ञानं
 ज्ञानान्तरात् अमूर्तात् व्यवर्त्तमानं मूर्तं स्यात् । ननु च विचार्यमाणस्य तदतत्परिणा-
 मिनः सद्दृशपरिणामलक्षणसामान्यस्य चानुपपत्तेः अभिमतरूपवद् अनभिमतरूपेणापि
 प्रसङ्गाच्च अयुक्तम्—एकत्वमित्यादि; इति चेदत्राह—'तथा' इत्यादि । तथा तदतिशय-
 प्रकारेण यौ सङ्कर-व्यतिकरौ तयोः व्यतिरेकाद् अभावाद् अन्वयिनोः तदतत्परिणा-
 मिसामान्ययोः अस्वल्लसमानैकप्रत्ययविषयत्वम् साकल्येन नानैकसन्तानात्मस्व-
 भावम् अनुमिमीमहे अनुमानेन प्रतिपद्यामहे 'अनुमाननिमित्तस्य उक्तकर्तृस्य प्रविजृम्भ-
 णात्' इत्यभिप्रायः ।

(१) न हि अग्नित्वेनापरिणतं अपेक्षातः अनग्निव्यावृत्त्यपेक्षया अग्निर्भवति, जलादावपि
 अनग्निव्यावृत्त्या अग्नित्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इति भावः ।

१ द्रव्यमित्यादि द्रव्यमित्यनुवर्त्तते व० । २—ह सद्दृश—आ०,
 व० । ३—पेक्ष एक—व० । ४—च युगपत्क्रमभाविनाञ्च युगपत्क्रमभाविनां क्ष—आ० । ५ 'समानपरिणा-
 मातिशये' नास्ति श्र०, समानपरिणामप्रकर्षे व० । ६—रूपेणातिप्र—श्र० ।

यदि वा वैशेषिकादिराह—पुरुषत्वमपेक्ष्य समानपरिणामातिशयो नानात्मसु,
 बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य एकात्मनि एकत्वपरिणामातिशयो न परमार्थतः इति;
 तत्राह—‘पुरुषत्वादेः’ इत्यादि । पुरुषत्वम् आदिर्यस्य बुद्ध्यादिसमवायित्व-त्रिगुणसंयो-
 गित्वादेः स तथोक्तः तस्य या अपेक्षा ततः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये ।
 5 केषाम् ? इत्याह—नानैकसन्तानात्मनाम् । नाना एकसन्तानाश्च ते आत्मानश्च तेषाम्
 इति, शेषं पूर्ववत् । ननु भवतु आत्मना समानैकत्वपरिणामः न घटादीनां तत्र समान-
 परिणामस्यैव संभवात् इत्याशङ्क्याह—‘तथाहि’ इत्यादि । तथाहि तेन अस्वलत्स-
 मानैकप्रत्ययविषयत्वप्रकारेण च स्कन्धो घटाद्यवयवी, स किम् ? इत्याह—एकत्वम् ।
 केषाम् ? इत्याह—‘स्व’ इत्यादि । स्वशब्देन स्कन्धः परामृश्यते तस्य ये गुणा रूपादयः
 10 ये च पर्याया नवपुराणादयः तेषाम् एकत्वम् न समानपरिणामः ‘अस्वलदेकप्रत्य-
 यविषयत्वात्’ इति भावः । ननु भिन्नसन्तानात्मनामिव एकसन्तानात्मनामपि समान-
 परिणाम एवास्तु इति सौगतः । तत्राह—‘पुरुषश्च’ इति । न केवलं स्कन्धः किन्तु
पुरुषोऽपि ‘स्वगुणपर्यायानामेकत्वम्’ इति सम्बन्धः । ननु यथा क्रमभाविनां सुखा-
 दीनामेकत्वं पुरुषः तथा युगपद्भाविनामात्मनाम् एकत्वं सौस्तु इति चेदत्राह—‘समान’
 15 इत्यादि । अपिशब्द एवकारार्थः । समानपरिणाम एव सकलपदार्थैर्गः नैकत्वं
 सकलपदार्थगम् ‘पुरुषस्य’ इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । अनेन ‘तथाभाव’ इत्यादि
 समर्थितम्, द्रव्यमेकान्वयानुगम् इति कारिकापादश्च व्याख्यातः । निर्दृश्य-
 यनयाद् द्रव्यार्थिकनयाद् एकः अभिन्नः जीवः सर्वोऽपि सर्वसाधारणचेतनापरिणा-
 मापेक्षया । स एव द्विविधो व्यवहारनयात् इति दर्शयन्नाह—‘कर्म’ इत्यादि । कर्मणा
 20 ज्ञानावरणीयादिना निर्मुक्तो रहितो जीवः, सकर्मकरश्च । कुतः ? व्यवहारनयात् पर्याया-
 र्थिकनयात् । एवमेकेन्द्रियादिभेदोऽपि चिन्त्यः । अनेन द्वितीयकारिकाया उत्तरार्द्धं
 व्याख्यातम् ।

पर्यायं कथयन्नाह—‘पर्यायः’ इत्यादि । पर्यायः कः ? इत्याह—पृथक्त्वं
व्यतिरेकश्च । तत्र पृथक्त्वपदं व्याचष्टे—पृथक्त्वम्, एकत्र एकस्मिन् द्रव्ये गुणक-
 25 र्मसामान्यविशेषाणां परस्परपरिहारेण कथञ्चित् अवस्थानम् इत्यर्थः । व्यतिरेकपदं
 विवृणोति—व्यतिरेको व्यावृत्तिः । कः ? इत्याह—सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः
गोर्मेहिष्यादिपरिणामः । तत्र जीवगतपर्यायान् दर्शयन्नाह—‘व्यवहार’ इत्यादि ।
व्यवहारपर्यायाः पर्यायार्थिकनयपर्यायाः इत्यर्थः । के ? क्रोधादयः कादाचित्कत्वात् ।

(१) सौगतः । (२) अद्वैतवादी । (३) पुरुषः ब्रह्मरूपो भवतु ।

1 बुद्ध्यादिसम-आ० । 2 ‘नानैकसन्तानात्मनाम्’ नास्ति श्र० । 3 तथा च तेन व०, तथा
 तेन आ० । 4-सन्तानानामपि व० । 5-नः अनेकत्वं आ०, श्र० । 6 तद्द्रव्यमे-श्र० । 7 निश्चयाद् आ०,
 व० । 8-केन्द्रियभेदोपि व० । 9 पर्याया क इ-व० । 10-द्वयवस्था-श्र० । 11 गोमहिषादि-श्र० व० ।

किंविशिष्टस्य जीवस्य ते पर्यायाः ? इत्याह—संसारिणः । मुक्तस्य के पर्यायाः ?
 इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयपर्यायाः द्रव्यार्थिकगोचराः पर्यायाः शुद्धस्य
 ‘जीवस्य’ इति सम्बन्धः । के ते ? ज्ञानादयः अकादाचित्कत्वात् । कथम्भूतास्ते ?
 ‘ते च’ इत्याह (इत्याह ते च) प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तमेदाः । न केवलं द्रव्यार्थि-
 कनयाज्जीवस्यैव अभेदः अपि तु पुद्गलद्रव्यस्यापि इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चय-
 नयात् द्रव्यार्थिकनयात् पुद्गलद्रव्यम् एकम् अभिन्नम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह—
 पृथिव्यादिभेदेऽपि । किं कुर्वत्तदेकम् ? इत्याह—‘रूप’ इत्यादि । अजहत् अपरित्यजत्,
 किम् ? इत्याह—रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वम् “रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः” [तत्त्वार्थसू०
 ५।२३] इत्यभिधानात् । कथम्भूतं तत् ? इत्याह—आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपम् ।
 पृथिव्यां तद् आविर्भूतस्वरूपं जलादौ अनाविर्भूतस्वरूपम्, जले गन्धस्य अनले गन्धरसयोः
 अनिले रूपरसगन्धानामनाविर्भावात् ।

नैतु जलादौ गन्धादिसद्भावे प्रमाणतः सिद्धे अनाविर्भावो युक्तः, अन्यथा सर्वस्य
 सर्वत्राऽनाविर्भावप्रसङ्गात् सांख्यदर्शनप्रतिप्रसङ्गः स्यात् इति चेत् ; उच्यते—जलादयो
 गन्धादिमन्तः, स्पर्शवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा पृथिवी, स्पर्शादिमन्तश्चैते, तस्माद्-
 गन्धादिमन्त इति । यत् पुनः गन्धादिमन्त भवति न तत् स्पर्शवत् यथा आत्मादि, 15
 इत्यादि षट्पदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनामतत्त्वान्तरभावसमर्थनावसरे प्रपञ्चतः प्ररूपित-
 मिहावगन्तव्यम् । पुनरपि किं कुर्वत् ? इत्यत्राह—‘स्कन्ध’ इत्यादि । स्कन्धाश्च घटा-
 दयः परमाणवः अत्यन्तसूक्ष्माः पुद्गलाः त एव पर्यायाः परस्परतः प्रादुर्भावात्, पर-
 माणुभ्यो हि स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति तेभ्यश्च परमाणव इति, तेषां भेदेपि रूपादिमत्त्वम-
 परित्यजदेकं । दृष्टान्तार्थमेतत् ; ततो यथा तत् परमाणुरूपं स्कन्धीभवत् स्कन्धस्वभावं 20
 वा परमाणुरूपतामादधत् रूपादिमत्त्वमपरित्यजत् एकं तथा प्रकृतमपि इति । एतदेव
 दर्शयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न अवस्था च देशश्च कालश्च संस्कारश्च
 ते मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् “रूपादिमयी मूर्तिः” [] इत्यभिधानात् । अत्यन्तं
 सुष्ठु भिन्दन्ति “पृथिव्यादिभेदस्य स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदस्य च” इति सम्बन्धः । कुत
 एतत् ? इत्याह—‘अमूर्त’ इत्यादि । अमूर्तो रूपादिरहितो यो भेदः व्यक्तिविशेषः तस्य 25
 प्रसङ्गात् । यथा च अवस्थादयो न रूपादिमत्त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति, तथा सत्ताभेदाश्च

(१) “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।”-तत्त्वार्थसू० । (२) रूपरसगन्धादि । (३) वैशेषिकः ।
 (४) तुलना-पृ० २३८ टि० ४ । (५) पृ० २३८ । (६) तुलना-“रूपं मूर्तिरित्यर्थः । मूर्तिः ?
 रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः ।”-सर्वार्थसि० राजवा० ५।५ ।

जीवादयः सत्ताम् 'अत्यन्तं न भिन्दन्ति' इति सम्बन्धः । असंज्ञेदप्रसङ्गात् इत्युक्त-
 प्रायं 'जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः' [लघी० का० ३१] इत्यत्र, नेह पुनरु-
 च्यते । ननु जीवादिद्रव्यस्य सत्तादिसामान्यस्य वा कस्यचिदसंभवात् 'निश्चयनया-
 देको जीवः' इत्याद्युक्तम्, तत्संभवे च अवस्थादिभेदेन विरुद्धधर्माध्यासतः प्रतिक्षणं
 ५ भेदप्रसङ्गात् तदेकत्वम् इत्याशङ्क्याह—'भेद' इत्यादि । ये विरुद्धधर्माध्यासतः सर्वथा
 वस्तुनो भेदं वदन्ति सौगताः तेऽपि कथं नैव निराकुर्युः ? किं तत् ? ज्ञानम्, कथम्भूतम् ?
 एकम् । किं कुर्वत् ? स्वयम् आत्मनोऽनेकाकारं नीलपीतादिविचित्राकारं प्राह्यप्राहका-
 कारविविक्तेतरूपतया प्रत्यक्षपरोक्षाकारं वा आत्मसात्कुर्वत् । कदा ? एकस्मिन्
 क्षणे । तन्निराकरणे सकलशून्यता स्यात् । सा च प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्ता
 १० इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । ततो यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकमेकदा ज्ञानमविरुद्धं तथा
 क्रमेण जीवादिद्रव्यमपि इति ।

उक्तार्थोपसंहारमाह—'तत्' इत्यादि । यत् उक्तप्रकारेण जीवादि सुखादिपर्याया-
 त्मकं व्यवस्थितं ततः तीर्थकरस्य भवावतोऽर्हतो वचनं स्याद्वादप्रवचनं तस्य विषय-
 भूताः, श्रुतभेदत्वात् नयानाम्, ये सङ्ग्रहविशेषाः सङ्ग्रहश्च विशेषाश्च व्यवहारादिनय-
 १५ भेदाः तेषां प्रसारस्य प्रपञ्चप्ररूपणस्य मूलव्याकारिणौ आद्यौ उत्पादकौ निश्चेतव्यौ ।
 कौ ? इत्याह—द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ । अन्यः कुतो नेति चेत् ? अत्राह—'नहि'
 इत्यादि । हिर्यस्मात् न तृतीयं प्रकारान्तरं नयान्तरमस्ति । कुत एतत् ? इत्यत्राह—
 'तस्य' इत्यादि । तस्य तदन्तरस्य प्रमाणे एव न नये अन्तर्भावात् 'न तदस्ति'
 इति सम्बन्धः । प्रधानभूतान्योन्यात्मकसामान्यविशेषविषयाभिर्लब्धेः प्रमाणत्वात् ।
 २० नैगमोऽपि तर्हि प्रमाणं स्यात् इति चेदत्राह—'न' इत्यादि । न प्रमाणता, कस्य ?
 नैगमस्य । कुत एतत् ? इत्याह—'तादात्म्य' इत्यादि । तादात्म्येन प्रमाणत्वभावत्वेन
 विवक्षायाः अभावात्, नयत्वेन विवक्षासद्भावात् इत्यर्थः । एतदपि कुतः इत्यत्राह—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।

विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

(१) असंज्ञासौ भेदः विशेषः तस्य प्रसङ्गात् असद्रूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । (२) सौगतः । (३)
 विश्रज्ज्ञानम्, ग्राह्यप्राहकाद्यनेकाकारं संवेदनम् ग्राह्याद्याकारराहित्य-संवेदनपेक्षया प्रत्यक्षपरोक्षात्मकं
 संवेदनं वा । (४) सकलशून्यता । (५) पृ० १३३ । (६) सुखाद्यनेकाकारम् । (७) अभिप्रायवतो
 ज्ञानस्य । (८) व्याख्या—'स्यात् । कः ? नैगमो नयः । का ? विवक्षा अभिप्रायः । कयोः ? धर्मयोः
 एकत्वानेकत्वयोः । केन ? गुणप्रधानभावेन । क्व ? एकधर्मिणि एकोऽभिन्नो धर्मा द्रव्यं तस्मिन् । तदा-
 कृतिः तस्य नैगमस्य आकृतिराभासः स्यात् । का ? अत्यन्तभेदोक्तिः अत्यन्तो निरपेक्षः भेदो नानात्वं
 तस्योक्तिर्वचनं नैयायिकाद्यभिप्रायो नैगमाभास इत्यर्थः ।'—लघी० ता० पृ० ९० ।

१ तत्संभवे वानस्था—श्र० । २ स्याद्वादवचनं आ० । ३ प्रसारस्य श्र० । ४ प्रकारभूता—श्र० ।
 ५-भिसम्बन्धेः प्र-आ०, श्र० ।

विद्युतिः—जीवः सन्नमूर्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः इति प्रधानवृत्त्या जीवस्वतत्त्वनिरूपणायां गुणीभूताः सुखादयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्गतां चेत्यादि तादात्म्यमविवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधान-भावेन विवक्षा नैगमे, संग्रहादौ एकविवक्षेति भेदः ।

गुणप्रधानभावेन सुख्यामुख्यरूपता धर्मयोः एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा प्रतिपत्तुरभिसन्धिः नैगमः स कथं प्रधानभूतोभयधर्मस्वभावधर्मि-कारिकाव्याख्या-विषयप्रमाणरूपतां प्रतिपद्येत् ? तदाभासमाह—अत्यन्तभेदोक्तिः ‘धर्मयोः एकधर्मिणि’ इति सम्बन्धः, स्यात् तदाकृतिः नैगमाभासो भवेत् । 10

कारिकां विवृण्वन्नाह—जीवः सन्नमूर्तः सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ताऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः एवं प्रधानवृत्त्या जीवस्वतत्त्वनिरूपणायां जीवस्वरूपप्ररूपणायां क्रियमाणायां गुणीभूताः सुखादयो धर्माः । आह्लादनाकारं सुखं तद्विपरीतस्वरूपं दुःखं स्वार्थग्रहण-स्वभावं ज्ञानम् इत्येवं मुख्यतः सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा ‘गुणीभूतः’ इति सम्बन्धः । नैगमाभासं प्ररूपयन्नाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः सुखाद्यात्मनोः अत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । उदाहरणमाह—गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां जातितद्गतां चेत्यादि । ‘अत्यन्तभेदाभिसन्धिनैगमाभासः’ इति सम्बन्धः । अनेन कापिडीयोऽपि चैतन्यसुखाद्योरत्यन्तभेदाभिसन्धिः चिन्तितः । कुतोऽसौ नैगमाभासः ? इत्यत्राह—‘तादात्म्यम्’ इत्यादि । यतोऽसौ धर्मधर्मिणोस्तदात्म्यं सद्यपि अविवक्षित्वा स्वदुरागमबासनाविपर्यासितमतेः प्रतिपत्तुः प्रवर्त्तते ततोऽसौ नैगमाभासः इति । धर्मधर्मिणोः इत्युपलक्षणार्थमेतत्, तेन अवयवावयविनोः क्रियाकारकयोः जातितद्गतोश्च ग्रहणम् । धर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे यतः ततोऽत्यन्तभेदविवक्षा तदाभास इत्यभिप्रायः । संग्रहादेरतः कुतो भेदः ? इत्यत्राह—‘संग्रह’ इत्यादि । संग्रहः आदिर्यस्य व्यवहारादेः स तथोक्तः तत्र एकस्य गुणादेः गुण्यादेर्वा विवक्षा इति हेतोः भेदः नैगमात् संग्रहादेः इति । 20

तत्र संग्रहस्वरूपं सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह—

(१) विषयं यत्प्रमाणं तद्रूपताम् । (२) ‘सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्’—न्यायवि० । द्रष्टव्यम्—अकलङ्क्यं परि० पृ० ५८ ।

१-णामं ज० वि० । २-भूतावि-ज० वि० । ३ निगमे ज० वि० । ४-भिसम्बन्धिः आ० । ५-पद्यते आ०, श्र० । ६ चात्मा न० । ७-सम्बन्धिः श्र० । ८ चेत्यादि आ० । ९ नैगमे यतः न०, श्र० ।

सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तिः ॥६९॥

विवृतिः-सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमोपायाभावात् । नापि तस्योपेयत्वं खरविषाणवत् ।

समस्तस्य जीवाजीवविशेषप्रपञ्चस्य ऐक्येन संग्रहात् कारणात् संग्रहो

नयः 'प्रवर्तते' इत्युपस्कारः । कुतः समस्तैक्यसंग्रहः इत्याह-सदभे-

दत् । ब्रह्मवादोऽपि सदभेदमाश्रित्य समस्तैक्यं संगृह्णाति इति सोऽपि संग्रहः स्यादित्यत्राह-'दुर्नय' इत्यादि । दुर्नयः संग्रहाभासो ब्रह्मवादः स्यात् । कुत एतत् ? इत्यात्राह-'तद्' इत्यादि । तस्य ब्रह्मणः यत्स्वरूपं

निराकृतसकलभेदप्रपञ्चं सत्तामात्रं तस्य अनवाप्तिः प्राप्तेरभावात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-'सर्वम्' इत्यादि सर्वं चेतनाचेतनरूपं वस्तुजातम् एकं सदविशेषात् इति एवं संग्रहनयः प्रवर्तते । तदाभासः संग्रहाभासः ब्रह्मवादः । कुत एतत् ? इत्यात्राह-'तद्' इत्यादि । तदभ्युपगमस्य

ब्रह्मवादस्वीकारस्य उपायाभावात् प्रमाणाभावात् । प्रमाणमूलो हि अभ्युपगमः सत्यः इत्यभिप्रायः । दोषान्तरमाह-'नापि' इत्यादि । नापि तस्य ब्रह्मणः उपेयत्वं स्वीकरणीयत्वम् 'उपायाभावात्' इत्यभिसम्बन्धः । यस्य उपायामावो न तदुपेयम् यथा खरविषाणम्, उपायाभावश्च ब्रह्मणः इति । यथा चास्य न कश्चिदुपायो घटते तथा ब्रह्माद्वैतनिषेधावसरे^२ व्यासतः चिन्तितम् ।

व्यवहारनयं दर्शयन्नाह-

व्यवहारानुकूल्यात् प्रमाणानां प्रमाणता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥

विवृतिः-प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इति आकुमारं प्रसिद्धम्,

(१) व्याख्या-"समस्तस्य जीवाजीवविशेषस्य ऐक्येन ऐकत्वेन संग्रहात् संक्षिप्य ग्रहणात् । कथमेकस्य संक्षेपणमित्याशङ्क्याह-सदभेदात्, सत् सत्त्वसामान्यं सच्चासावभेदश्च तमाश्रित्य । नहि सत्त्वात् किञ्चिद् भिन्नमस्तीति वक्तुं युक्तं विरोधात् । दुर्नयः संग्रहाभासः स्यात् । कः ? ब्रह्मवादः सत्ता-द्वैतम् । कुतः ? तत्स्वरूपानवाप्तिः, तस्य परपरिकल्पितब्रह्मणः स्वरूपं भेदप्रपञ्चसूत्र्यं सन्मानं तस्यान-वाप्तिः प्रमाणादप्राप्तिस्तत्, न खलु तत् प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तथाऽप्रतीतेः ।"-लघी० ता० पू० ९० । (२) पू० १५० । (३) "व्यवहारानुकूल्यात्, संग्रहभेदको व्यवहारः तस्यानुकूल्यमविसंवादः तस्मादेव । बाध्यमानानां संशयादीनां विसंवादिनां ज्ञानानाम् । तत्र प्रमाणेतरव्यवस्थानिवन्धनत्वात् व्यवहारो नयः, अन्यथा तदाभास इत्यर्थः ।"-लघी० ता० पू० ९१ । उद्धृतोऽयम्-"व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता । नान्यथा बाध्यमानानां तेषाञ्च तत्प्रसङ्गतः ।"-तत्त्वार्थश्लो० पू० २७१ । तुलना-"प्रामाण्यं व्यवहारेणः"-प्रमाणवा० ३।५ ।

अन्यथा संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पकं प्रमाणं व्यवहाराविसंवादात् । उत्पादविगमध्रौव्यलणं सत् गुणपर्यय-
वद्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्यादि श्रुतज्ञानस्य प्रमाणान्तराबाधन-पूर्वापरा-
विरोधलक्षणसंवादसंभवात् प्रामाण्यम्, अर्थोभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकू-
ल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यवहारविरोधित्वात् दुर्नयत्वम् ।

प्रमाणानाम् अध्यक्षादीनां या प्रमाणाता सौगतादिभिरिष्यते सा व्यव-
हारानुकूल्यादेव उपपन्ना नान्यथा, अन्यथा व्यवहारप्राति-
कारिकार्थः—
कूल्यप्रकारेण न, कुत एतत् ? इत्यत्राह—“बाध्यमान” इत्यादि ।
बाध्यमानानां व्यवहारानधिरूढप्रातीतिकद्विचन्द्रसकलशून्यताद्यर्थविषयज्ञानानां
तत्प्रसङ्गतः प्रमाणताप्रसङ्गतः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—“प्रमाणानाम्” इत्यादि । प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां
प्रामाण्यम् अमिथ्यात्वम् इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षणव्यवहारावि-
विवृतिव्याख्यानम्—
संवादात्, इत्येतत् आकुमारम् आबालं प्रसिद्धम् । अन्यथा व्यव-
हाराविसंवादाभावप्रकारेण तत्प्रामाण्ये संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामा-
मनिवार्यं स्यात् । तदविसंवादाच्च तत्प्रामाण्ये यत् परेषां निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तद-
प्रमाणं व्यवहाराविसंवादाभावात् इति मन्यमानः प्राहः—“प्रत्यक्षम्” इत्यादि । प्रत्यक्षं
सविकल्पकम् प्रमाणं ‘स्यात्’ इत्यनेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—व्यवहारा-
विसंवादात् । न पुनः निर्विकल्पकं तद्विपर्ययात् इति भावः । साम्प्रतं श्रुतस्य तत
एव प्रामाण्यं दर्शयन्नाह—“उत्पाद” इत्यादि । उत्पादविगमध्रौव्याणि लक्षणं स्वरूपं
यस्य तदेतल्लक्षणं जीवादिवस्तु सद् भवति, गुणपर्ययवद्रव्यं जीवश्चैतन्यस्वभावः
इत्येवमादिश्रुतज्ञानस्य अस्पष्टतर्कणस्य ‘प्रामाण्यं स्यात्’ इति गतेन सम्बन्धः । कुत
एतत् ? इत्यत्राह—“प्रमाणान्तर” इत्यादि । श्रुतात् अन्यत् प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरं तेन
अबाधनञ्च पूर्वापरयोः श्रुतवाक्ययोः आविरोधश्च लक्षणं यस्य संवादस्य तस्य तत्र
संभवात् । अत्रैवार्थे हेत्वन्तरमाह—“अर्थ” इत्यादि । अर्थो जीवादिः अभिधानं
जीवादिशब्दः प्रत्ययः तद्विषयो ज्ञानं ते आत्मा यस्य व्यवहारस्य तस्यानुकूल्याच्च

(१) तुलना—“त्रयः पदार्थाः अर्थोभिधानप्रत्ययभेदात्”—राजवा० पृ० १७ । अष्टसह० पृ० २५१ ।
(२) व्यवहाराविसंवादात् । (३) सौगतानाम् । (४) द्रष्टव्यम्—पृ० ६०५ टि० ७ । (५) तुलना—
“गुणानामासौ दव्वं एकदव्वरिसा गुणा । लक्खणं पज्जवाणं तु उभयो अस्सिवा भवे ॥”—उत्तरा०
२८।६ । “दव्वं सल्लक्खणियं उत्पादव्वयधुवत्तसंजुत् । गुणपज्जयासयं वा जं तं भणन्ति सब्बहू ॥”—
पंचास्ति० गा० १० । “गुणपर्ययवद्रव्यम्”—तत्त्वार्थसू० पृ० ५।३८ । न्यायवि० का० १११ । “तं परिणामं ह दव्वं
तुहं जं गुणपज्जयजुत् । सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पज्जउ उत्तु ॥”—परमात्मप्र० गा० ५७ ।

१ श्रुतज्ञानेन ज० वि० । २-मात्रे क्षण्य-ज० वि० । ३ ‘अन्यथा’ नास्ति आ०, व० ।
४-मारबालं श्र० । ५ इत्याह व०, श्र० । ६ संवादस्य तत्र आ०, व० ।

हेतोः श्रुतज्ञानस्य 'प्रामाण्यम्' इति सम्बन्धः । व्यवहारदुर्नयं दर्शयन्नाह—'बहिरर्थ' इत्यादि । बहिरर्थश्च विज्ञप्तिमात्रश्च ताभ्यां शून्यं तत्प्रतिपादकवचसां दुर्नयत्वम् । बहिरर्थशून्यवचसां विज्ञप्तिमात्राद्यद्वैतप्रतिपादकवचसां तन्मात्रशून्यवचसां सकल-
 5 शून्यताप्रतिपादकवचसामिति । कुतः तेषां दुर्नयत्वम् ? इत्यत्राह—'व्यवहारविरोधि-
 त्वात्' इति । नहि तद्वचस्सु इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहारस्य अविरोधो युक्तः
 प्रमाणप्रमेयसद्भावे सत्येव अस्याऽविरोधात् । ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह—

भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।

सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

विवृतिः—बहिरणवः संचितः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं यथा दर्शयन्ति
 10 तद्वत् संवित्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत्
 सक्रमं साधयेत् भेदस्याभेदविरोधात्, अन्यथा कचिन्नानात्मेव न स्यात् । सा-
 पेक्षो नयः निरेपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभे-
 दादभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतराप्रापये अर्थस्याऽनुपपत्तेः ।

सर्वस्य सर्वतो भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुः प्राञ्जलं वर्त्तमानपर्याय-
 15 कारिकायैः—
 मात्रं सूत्रयति प्ररूपयति इति ऋजुसूत्रः नयो मतः । प्रधान-
 शब्दस्य च सम्बन्धिशब्दत्वात् द्वयं तस्य अप्रधानम् । तदाभासमाह—
 'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण एकत्वविक्षेपी एकत्व-
 निराकारकः तदाभासः ऋजुसूत्राभासः । तुः यस्मादर्थे, यस्मादलौकिकः लोक-
 व्यवहारातिक्रान्तोऽयमीदृशो भेदोभ्युपगमः । न खलु सर्वथैकत्वप्रतिक्षेपेण स्थासकोश-
 20 कुशूलादौ बालकुमारादौ वा भेदव्यवहारो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'बहिः' इत्यादि । बहिरणवः दर्शयन्ति जैनयन्ति स्थूलमे-
 काकारप्रत्ययम्, किंविशिष्टम् ? अभूतम् अपरमार्थविषयम् । कथम्भू-
 तस्ते ? सञ्चिताः पुञ्जीभूताः । एवंविधास्ते यथा येन प्रकारेण तथा

(१) व्यवहारस्य । (२) "प्राधान्यतः मुख्यत्वेन, अनेन गौणत्वेन द्रव्यमप्यपेक्षत इत्यर्थः ।
 तु पुनस्तदाभासो भवति । किं विशिष्टः ? एकत्वविक्षेपी, एकत्वं द्रव्यं विक्षिपति निराकारोत्प्रेक्षोक्त
 एकत्वविक्षेपी । कथम् ? सर्वथा प्राधान्यतोऽप्राधान्यतश्च, पुनः किं विशिष्टः ? अलौकिकः लोको
 व्यवहारस्तत्प्रयोजनो लौकिकः तद्विपर्ययोऽलौकिकः अलौकिकादित्यर्थः । न हि परस्परं सज्जातीयवि-
 जातीयव्यावृत्ताः प्रतिक्षणविसारावः परमाणवो व्यवह्रियन्ते परीक्षकैः यतस्तिद्वययो नयाभासो न
 स्यात् ।"—लघी० ता० पृ० ९१ । (३) सौगतमते पुञ्जीभूताः परमाणव एव स्थूलाकारप्रत्यहेतवः ।
 तथाहि—'अर्थात्तराभिस्सम्बन्धाज्जायन्ते येणवोऽपरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मः॥'
 —प्रमाणवा० ३।१९५ । (४) "ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्मयत इति ऋजुसूत्रः ।"—सर्वावसि०, राजवा०
 १।३३ । (५) सर्वथा क्षणिकत्वस्वीकारः ।

विधं प्रत्ययं दर्शयन्ति तद्वत् संवित्परमाणवोऽपि, कथम्भूतम् ? चित्राकारम्, नीलादि-
 प्राह्याद्यनेकाकारमेकम् अत एव अभूतम् । उपसंहारमाह—‘ततः’ इत्यादि । यस्मादे-
 काकारप्रत्ययस्य अपरमार्थविषयत्वं ततो नैकमभिन्नस्वभावं तत्त्वं जीवादिद्वस्तु अक्रमं
 युगपद् अनेकरूपम् ‘युक्तम्’ इत्युपस्कारः । यत् सक्रमं क्रमवत् सुखादिभेदभिन्नम्
 आत्मानं साधयेत् । ‘यत्’ इत्याक्षेपे वा नैव साधयेत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘भेदस्य’ 5
 इत्यादि । भेदस्य नानात्वस्य अभेदेन एकत्वेन विरोधात् । विपक्षे बाधकमाह—‘अन्यथा’
 इत्यादि । अन्यथा अन्येन तद्विरोधप्रकारेण क्वचिद् घटपटादौ नानात्वमेव न
 स्यात् इति । अस्याभिसन्धेर्नयत्वं दुर्नयत्वञ्च दर्शयन्नाह—‘सापेक्ष’ इत्यादि । सह
 प्रत्यनीकधर्मापेक्षया वर्तते इति सापेक्षः नयः । अपेक्षतो निष्क्रान्तः निरस्ता वा
 अपेक्षा येनासौ निरपेक्षः दुर्नयः । ननु प्रमाणाभावेन अभेदस्य क्वचिदनुपपत्तेः कथं 10
 तदपेक्षो नयः स्यात् ? इत्यत्राह—‘प्रतिभास’ इत्यादि । प्रतिभासस्य प्रत्यक्षादिसंवेद-
 नाकारस्य भेदात् स्वभावभेदं चेतनेतरस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापयन् सौगतः तदभेदात्
 प्रतिभासाभेदात् अभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात् । एतच्च ‘अर्थक्रिया न युज्येत
 नित्यक्षणीकपक्षयोः’ [लघी० का० ८] इत्यत्र सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अत्रैवार्थे समर्थ-
 नान्तरमाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः भेदाभेदयोर्मध्ये अन्यतरस्य भेदस्य अभेदस्य वा अपाये 15
 अर्थस्य उत्तरकार्यस्य संवेदनस्य वाऽनुपपत्तेः, सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नय इति ।

अथ सप्तनयेषु मध्ये के अर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह—

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

विवृतिः—कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत् अभूत् भवति भवि- 20

(१) व्याख्या—‘एते । के ? नैगमादयः प्रागुक्ताः चत्वारोऽर्थनयाः अर्थप्रधाना नयाः । कुत ?
 जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्, जीवाजीवादीनामर्थानां व्यपाश्रयाद् आलम्बनात् । त्रयः शेषाः शब्दसमभिरुद्धैव-
 भूताः शब्दनयाः शब्दप्रधाना नयाः । किं विशिष्टाः ? सत्यपदविद्यां समाश्रिताः, सत्यानि प्रमाणान्त-
 राबाधितानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरणशास्त्रं तामाश्रिता आलंबिनाः
 व्याकरणाश्रितत्वादित्यर्थः ।’—लघी० ता० पृ० ९२ । तुलना—‘चत्वारोऽर्थश्रियाः शेषास्त्रयं शब्दतः ।’
 —सिद्धिबि०, टी० पृ० ५१७ B. । ‘तत्र संग्रहव्यवहारजुस्तथाः अर्थनयाः शेषाः शब्दनयाः ।’—राजवा० पृ०
 १८६ । ‘अत्यपवर्गं सद्बोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्ता । सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विति ।’—
 बिशेषा० गा० २७५३ । ‘तत्रजुसुत्तपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः । त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्या-
 थंगोचराः ।’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४ । नयविब० पृ० २६२ । ‘एषु चत्वारः प्रथमोऽर्थनिरूपणप्र-
 वणत्वादर्शनयाः शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यगोचरतया शब्दनयाः ।’—प्रमाणतय० ७।४४, ४५ । जैनतर्कभा०
 पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B. । उद्धृतोऽयम्—‘जीवाद्यर्थविनिश्चयात् ।’—आव० नि० मलय० पृ०
 ३८१ B. । सूत्रकृतांग० टी० पृ० ४२६ A. ।

1-विधप्रत्य-श्र०, व० । 2 भेदनात् श्र० । 3 व्यवस्थापयेत् सौ-आ० । 4 ‘प्रतिभासाभेदात्’
 नास्ति श्र० । 5-स्य चानुप-आ० । 6-विन्यासमाश्रि-ज० वि० ।

प्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्ता इति । पर्यायभेदाद् अभिरूढोऽर्थभेदकृत्
 इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न
 करोति तदा कर्तृत्वस्य अयोगात् इति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्त-
 मर्थं प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात् । 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत्
 5 प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति
 बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यःश्च उदेता, सूर्याचन्द्रमसोः ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः
 पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्योदनम्, ब्रीहयः
 तन्दुला भविष्यन्ति, इत्याद्यनागतविषयाणाम् अविसंवादिनाम् आनन्त्यात् ।
 ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धं प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रति-
 10 पादनस्वाभावात् विज्ञानवदिति । वर्तनालक्षणः कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्,
 स्त्यान-प्रसव-तदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्, कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकं तथा-
 प्रतीतेः । पर्यायोऽपि अर्थभेदकृत् । क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्दः क्रियानिमित्तक-
 व्युत्पत्तिः तदभावात् तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नेव इन्द्रः नान्यदा, ततः
 सिद्धः क्रियाभेदः पाचकपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं
 15 वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत् । व्यावहारिकप्रकृ-
 त्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादर्थद्वयोद्धृत्य तदंश-
 मेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन् नयः न मिथ्यात्वमनुभवेत्,
 निरपेक्षस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वम् तदनिराकृतेः सापे-
 क्षत्वं नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम् ।

20 चत्वार एते नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्या व्याख्यातस्वरूपा हि स्फुटम्
 अर्थनया एव अर्थप्रधाननया अर्थनयाः । कुतः ? इत्याह—
 कारिकार्थः—
 जीवाद्यर्थव्यपश्रयात् जीवाद्यर्थसमाश्रयणात् । त्रयः शब्द-
 समभिरूढैवम्भूताः शब्दनयाः शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः । कुतस्ते तथाविधाः ?
 इत्याह—'सत्य' इत्यादि । सत्यानि अवितथानि अपशब्दस्वरूपरहितानि यानि
 25 पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरणं यत्र तानि व्युत्पाद्यन्ते तां
 समाश्रिताः यतः ततः ते शब्दप्रधानाः ।

कारिकापूर्वार्द्धस्य अनन्तरमेव व्याख्यातत्वात् उत्तरार्द्धं विवृण्वन्नाह—'काल'
 इत्यादि । शब्दः शब्दनयः अर्थभेदकृत् । कुतः ? कालकारक-
 विवृतिव्याख्यानम्—
 लिङ्गभेदात् । 'यथा' इत्यादिना एतदेव दर्शयति । तत्र कालभेदाद्

30 अभूत् भवति भविष्यति । कारकभेदात् करोति क्रियते । लिङ्गभेदात् देवदत्तो
 देवदत्ता इति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रिया-

श्रयः एवम्भूतः । कुत एतत् ? इत्याह—‘कुर्वतः’ इत्यादि । शचीपतेः इन्द्रनादिक्रियां कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्याऽयोगात् इति । परः प्राह—‘कथम्’ इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चित्, ‘पुनः’ इत्याक्षेपे, शब्दज्ञानं शब्दस्य कार्यं यदर्थज्ञानं तत् विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं बहिःस्वलक्षणं प्रत्येति विषयीकरोति । सूरिः परं पृच्छति—‘कथञ्च न’ इति । स पृष्ठः प्राह—तदप्रतिबन्धात् । तस्मिन् अर्थे अप्रति-
 बन्धात् तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासंभवात् शब्दज्ञानस्य । तदप्रतिबन्धेऽपि तैत्तु
 तैमवे(वै)ति इति चेदत्राह—‘नहि’ इत्यादि । हिद्यस्मात् न बुद्धेः अकारणं किन्तु कारणं
 विषयः इत्येतत् प्रतिव्यूढम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् ।
 अनागतस्य अलब्धात्मलाभतया अकारणभूतस्य अर्थस्य निर्णयात् निर्णयसंभवात् ।
 तथाहि—कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, एवम् आदित्यः
 श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोऽग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो
 घटो भविष्यति, तन्दुलाः भविष्यन्त्योदनः, ब्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्य-
 नागतविषयाणामविसंवादिनां ज्ञानानामानन्त्यात् । ‘ततः’ इत्यादिना प्रकृतमर्थमुप-
 सहरन्नाह—यतः अनागतविषयत्वं ज्ञानस्य सिद्धं ततः शब्दज्ञानमपि न कैवलं प्रत्यक्षा-
 मानज्ञानम् विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धम् । ननु शब्दस्य अर्थप्रतिबन्धाभावात्
 कथं तैज्ज्ञानम् अर्थग्राहि ? इत्यत्राह—‘प्रतिबन्ध’ इत्यादि । प्रतिबन्धमन्तरेणापि
 तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धं विनापि तस्य शब्दस्य यत् प्रतिपादकं स्वाभाव्यं योग्यता-
 लक्षणं स्वरूपं तस्मात् तत् तद्ग्राहि सिद्धम् । अत्र दृष्टान्तमाह—‘विज्ञानवत्’ इति ।
 शब्दज्ञानस्य दार्ष्टान्तिकत्वात् इह विज्ञानग्रहणेन यत् प्राग् अर्थाजन्यतया समर्थितं
 ग्रैत्यक्षं तदेव गृह्यते, तदिव तद्वदिति ।

ननु कालादिभेदात् शब्दनयस्य अर्थभेदकत्वं प्रतिपादितम्, कालादीनां तु
 लक्षणं नोक्तम्, नैचालक्षितरूपाणाम् अर्थभेदप्रतीतिहेतुत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् इत्या-
 शङ्क्य तेषां लक्षणं प्ररूपयन्नाह—‘वर्त्तना’ इत्यादि । सकलपदार्थानां वृत्तिहेतुत्वं वर्त्तना
 सा लक्षणं यस्य असौ तलक्षणः कालः । क्रियया आविष्टं युक्तं द्रव्यं कारकम्,
 क्रियां कुर्वद्द्रव्यं कारकमित्यर्थः । लिङ्गं त्रिविधम् स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् । तत्र स्त्यान-
 सामान्यलक्षणं स्त्रीलिङ्गम् । प्रसवसामान्यलक्षणम् अपत्यजनकत्वमात्रलक्षणं पुल्लिङ्गम् ।
 तदुभयाभावसामान्यलक्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभावमात्रलक्षणं नपुंसकलिङ्गमिति । तदे-

(१) सौगतः । (२) शब्दज्ञानम् । (३) अर्थम् । (४) शब्दज्ञानम् । (५) शब्दज्ञानम् ।

1 तत्तत्त्वमेवेति व०, तत्तत्रमद्येवेति श्र० । 2 ‘किन्तु कारणं’ नास्ति श्र० । 3 शकटोदये भवि-
 आ०, शकटोदये च भवि—श्र० । 4 अर्थं प्रति—व०, श्र० । 5 ‘प्रत्यक्षं’ नास्ति श्र० । 6 न चालक्षण-
 लक्षितरूपा—व० । 7 अर्थं भव—व० । 8 क्रियाया अवशिष्टं श्र० । 9—क्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभाव-
 सामान्यलक्षणं स्त्यानप्रसव—आ० ।

तदुक्तलक्षणं कालादि कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकम् तथाप्रतीतेः प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु 'पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्' इत्युक्तमुक्तम् ; पर्यायस्यार्थाऽभेदकत्वात् इत्याशङ्क्याह—'पर्याय' इत्यादि । न केवलं कालादयः किन्तु पर्यायोऽपि 'इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः' इत्यादिरूपः अर्थस्य शचीपत्यादेः भेदकः कथञ्चिद् वैलक्षण्यपादकः ।
 5 'तथाप्रतीतेः' इत्यनन्तरेणाभिसम्बन्धात् । यदपि 'क्रियाश्रय एवम्भूतः' इत्युक्तम् ; तत्रापि कृतोऽस्य एकत्रापि पर्याये क्रियाभेदाद् भेदहेतुत्वम् ? इत्यत्राह—'क्रिया' इत्यादि । क्रियाभेदाद् इन्दनादिभेदात् एकोऽपि शब्दः इन्द्रादिपर्यायरूपः क्रियानिमित्तक-
 व्युत्पत्तिः तदभावात् तन्निमित्तकव्युत्पत्तेरभावात् तदर्थम् इन्द्राद्यर्थं नाच्छे इति हेतोः परमैश्वर्यम् इन्दनक्रियां अनुभवज्ञेव इन्द्रः नान्यदा अभिषेचनादिकाले । एवं शकन-
 10 काल एव शक्रः पूर्दारणसमय एव पुरन्दरः नान्यदा 'तथाप्रतीतेः' इति गतेन सम्बन्धः । यतो यत्क्रियापरिणतः पदार्थः तत्क्रियानिमित्तव्युत्पत्तिकैः शब्दैः तत्काल एवाभिधीयते नान्यदा । ततः सिद्धः क्रियाभेदो भेदको भावानां पाचकपाठकादिवत् ।

ननु क्रियामाश्रित्य शब्दा व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते, तच्च मिथ्या इत्येके, वर्णा एव पदमेव वाक्यमेव वा सत्यमित्यन्ये, तन्मतमपाकर्तुमाह—'नहि' इत्यादि । नहि न
 15 खलु वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं व्याकरणलक्षणं वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्यु-
 पायत्वात् । नहि व्याकरणासत्यत्वे अपशब्दव्युदासेन सम्यक्शब्दप्रतीत्युपायः कश्चित् संभवति । ननु वृद्धव्यवहारपरम्परया त एव शब्दाऽपशब्दविवेको भविष्यति अतस्तदर्थं व्या-
 करणसमाश्रयणमयुक्तम् ; इत्यप्यविचारितरमणीयम् ; व्याकरणानपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव
 आनस्येनाऽखिलशब्दानां प्रतिपदं तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । व्याकरणश्रयणेन तु
 20 सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षितानां स्वल्पप्रयत्नेनापि तेषां तद्विवेकः कर्तुं सुशक्यः ।
 तथाहि—'कर्मप्राप्त्यु' [पाणिनि० ३।२।१] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-काण्डलाव-शौखा-
 ध्यायादयो बहवः शब्दाः संलक्ष्यन्ते, अतः व्याकरणानुगृहीतात् लोकव्यवहारात्
 सुखेनैव शब्दापशब्दविभागस्य कर्तुं शक्यत्वात् अस्ति व्याकरणस्योपयोगः । न चास्याऽ-
 प्रमाणत्वात् तद्विभागे नोपयोगः इत्यभिधातव्यम् ; तदप्रामाण्ये कर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य
 25 सम्प्लवप्रसङ्गात् । न च तत्सम्प्लवः अस्ति । अतः अयमेव तदसम्प्लवः स्वसिद्धये व्याकरणं
 प्रमाणयति, अन्यतः तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । व्याकरणत एव हि प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारेण
 अन्योन्यविभक्तस्य कर्मकर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यतः, तथाप्रतिपत्ति-
 हेतोस्ततोऽन्यस्याऽसंभवात् । ननु वर्णपदवाक्यानां निरंशत्वात् किं तेन प्रकृत्यादि-

(१) शब्दापशब्दविवेकार्यम् । (२) प्रलब्धव्यम्—पृ० ७६० टि० १ । (३) कर्त्रादिकारकनैतयम् ।

(४) व्याकरणशास्त्रेण ।

१ द्वाचष्टे आ० । २ नायथा श्र० । ३ पाचकपाचकपाठकादि—आ०, पाचकपाठकादि—ब० ।

४—पाठादि—श्र० । ५—परम्परया त एव श्र० । ६—प्रतिपादं श्र० । ७—विशेषवल्लभ—आ० । ८—शास्त्र-
 ध्याया—श्र० । ९ ततः श्र० ।

प्रविभागमाश्रित्य व्युत्पाद्येत ? निरंशानामपि तेषां तत्प्रविभागं परिकल्प्य व्युत्पादने तच्छास्त्रं वितथमेव स्यात् तैत्त्वैरूपाऽसंस्पर्शित्वात् इत्यत्राह—‘व्यावहारिक’ इत्यादि । व्यवहारे व्यवहारनयभेदप्ररूपके वैयाकरणव्यवहारे वा भवा या प्रकृत्यादिक्रिया तस्याः प्रविभागो भेदः तेन परमार्थः वास्तवो यः शब्दः वर्णपदवाक्यरूपः । वर्णो हि उदात्तादिभेदेन भिन्नः व्यवहारे वास्तवः प्रसिद्धः, पदं तु सुमिडन्तभेदेन, वाक्यमपि अन्योन्यापेक्षाणां पदानां निरपेक्षः समुदायः इत्यादिभेदेन इति । यथा च नित्यनिरं-
शादिरूपाणां वर्णपदवाक्यानामनुपपत्तिः तथा ‘वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहु-
रर्थानवाञ्छितान्’ [लघी० का० ६४] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । तस्य प्राप्त्यु-
पायत्वात् स्वरूपावगतिहेतुत्वात् । ‘नहि तद्रूपत्पादकं शास्त्रं वितथम्’ इति सम्बन्धः ।
प्रयोगः—यः परमार्थभूतस्य प्राप्त्युपायो नासौ वितथः यथा ज्ञातुरभिप्रायात्मको नयः, 10
परमार्थभूतस्य शब्दस्य प्राप्त्युपायश्च वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रमिति । तत्र
‘ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्’ इत्यसुं दृष्टान्तं ‘यथा’ इत्यादिना व्याचष्टे—यथा येन
प्रकारेण न मिथ्यात्वमनुभवेत्, कोऽसौ ? नयः ज्ञातुरभिप्रायः । किं कुर्वन् ?
प्रकाशयन्, ‘किं तत् ? एकान्तम् । कथम्भूतम् ? तदंशम् अनेकान्तात्मकार्थैकदेशम् ।
पुनरपि कथम्भूतम् ? व्यावहारिकम् व्यवहारप्रयोजनम् । पुनरपि किंविशिष्टम् 15
तत्प्राप्त्युपायं तस्य अनेकान्तात्मकार्थस्य प्राप्तिः तस्या उपायः सा वा उपायो यस्य ।
कथं तं प्रकाशयन् ? अपोद्भूतस्य पृथक्कृत्य । कस्मात् ? अर्थात् । कथम्भूतात् ?
अनेकान्तात्मकात् । किं कल्पनातः तथाविधात्तस्मात् ? इत्यत्राह—पारमार्थिकात् ।
परमार्थोऽकल्पितं रूपं तेन संभवात् । कुतोऽयमित्थम्भूतो न मिथ्यात्वमनुभवेत् ?
इत्याह—‘निरपेक्षस्य’ इत्यादि । प्रत्यनीकधर्मे निष्कान्ता अपेक्षा यस्यासौ निरपेक्षः 20
तस्यैव नोक्तप्रकारस्य मिथ्यात्वात् । अथ कस्य निरपेक्षत्वं कस्य च सापेक्षत्वम् ?
इत्याह—अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वं तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम् । एवंविधसापे-
क्षानपेक्षत्वप्रकारेणैव नयानां सम्यक्त्व-मिथ्यात्वे नान्यथा इति स्थितम् ।

युक्तिस्वच्छजलं सुबोधकमलं सद्गङ्गवीचीचयम् ,

राम्भीरं निखिलार्थपैलिकलितं सत्साधुर्दसाकुलम् ।

प्रज्ञाधीशपटिष्ठपाठकखगध्वानप्रतानान्वितम् ,

जीयाद् दुर्गतिर्तापटुडिवहननं जैनागमाख्यं सरः ॥ छ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयखयालङ्कारे षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

(१) वर्णपदवाक्यानाम् । (२) वर्णपदवाक्यस्वरूपानवगाहनात् । (३) सापेक्षस्य ।

1-छते व०, -हेतु आ० । 2-रूपत्वासं-अ० । 3-व्यवहा-अ० । 4-शब्दप्रा-आ०, ‘शब्दस्य’ नास्ति अ० । 5-‘किं तत्’ नास्ति अ० । 6-‘कथम्भूतं’ नास्ति अ० । 7-व्यवहा-अ० । 8-पायत्वं त-अ० । 9-‘पृथक्कृत्य’ नास्ति अ०, व० । 10-भावात् अ० । 11-वर्णो नि-अ० । 12-त्वम् व०, अ० । 13-पारिकलि-आ० । 14-तापटुडिवहननं अ०, व० । 15-इति श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्येण-व० । 16-षष्ठमः व० ।

तृतीये प्रवचनप्रवेशे

सप्तमः निक्षेपपरिच्छेदः ।



प्रादुर्भूतं निखिलविषयोद्योतिसंवित्सरस्याम्,
शास्त्राम्भोजं सकलविषयप्रौढेपत्रप्रपञ्चम् ।
लक्ष्मीक्षेत्रं प्रमितिनयसत्कर्णिकाकेसराढ्यम्,
निक्षेपोरुप्रवरमकरन्दाप्तये सेव्यतां भोः ॥छा॥

अथेदानीं शास्त्रविधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तांस्तान् तद्वर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।

विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतापितान् ॥७४॥

(१) व्याख्या—“ पुनरपि कथंभूतः ? तपोनिर्जीर्णकर्म, तपसा यथाख्यातचारित्र्यलक्षणं व्युपरातक्रियानितिशुक्लध्यानेन निर्जीर्णानि निर्मूलितानि कर्मणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि येनासौ तथोक्तः । अनेन चारित्र्यतपस्याराधनाद्वयं सूचितम् । भूयः किंभूतः ? जीवस्थानगुणस्थान-मार्गगाथास्थानतत्त्ववित् अनेन ज्ञानाराधना ज्ञापिता । पुनः किंविशिष्टः ? विवृद्धाभिनिवेशनः, विशेषेण वृद्धं क्षायिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेशनं सम्यग्दर्शनं यस्यासौ तथोक्तः । अनेन दर्शनाराधना निरूपिता । एवमाराधनाचतुष्टयस्यैव मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः । किं कृत्वा विवृद्धाभिनिवेशनः संजात इत्याशङ्क्याह—अनुयुज्य पृष्ट्वा । कानि ? द्रव्याणि । किंविशिष्टानि ? जीवादीनि । कैः ? अनुयोगैश्च प्रश्नैरेव । किं विशिष्टैः ? निर्देशादिभिर्ज्ञातैः । तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः यथा चेतनालक्षणो जीव इति । कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्यकथनं स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपणं साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे स्वस्मिन्नित्याधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने अनन्त-कालमिति कालप्ररूपणं स्थितिः । कतिविध इत्यनुयोगे चैतन्यसामान्यादेकविध इति प्रकारकथनं विधानम् । पूर्वं कृत्वा विरचय्य न्यस्य । कान् ? अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान्, अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च ते आत्मानः स्वभावा येषां ते च ते भेदाश्च व्यवहारास्ताम् । तत्र अर्थात्मानो भेदो द्रव्यभावा तयो-रर्थमत्वात् । वागात्मको नामव्यवहारः । प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहारः तस्य संकल्पप्रवृत्तात् । किंविशिष्टांस्तान् ? श्रुतापितान् श्रुतेन अनेकान्तेन विकल्पितान् । कैः ? नयानुगतनिक्षेपैः, नयान् द्रव्यपर्यायविषयाननुगता अनुवृत्ता निक्षेपा न्यासास्तैः । किरूपैः ? उपायैः कारणैः । क्व ? भेदवेदने मूल्यामूल्याविशेषनिर्णये कारणभेदैरित्यर्थः । आदौ किं कृत्वा ? परीक्ष्य विचार्य । कैः परीक्ष्य ? अभिसन्धिभिः ज्ञातुरभिप्रायैः नवैरित्यर्थः । पूर्वं किं कृत्वा ? अधिगम्य ज्ञात्वा । कथंभूम् ? जीवादिप्रमेयम् । किंविशिष्टम् ? अनेकान्तात्मकम् । कस्मात् ? श्रुतात् स्याद्वादात् ।”—लघी० ता० पृ० ९५-९७ ।

१-प्रौढमेवप्र-ब० । २-तां नो ब०, -तां भो श्र० । ३-मभिग-ब० । ४-वेदनो आ०, व० ।

५ विचार्यार्थवाक्-श्र० । ६-भेदाच्छ्रुता-ब० ।

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्दां गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिर्निवेशनः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥ इति ।

विवृतिः—श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणम्—
त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपणम्, तदर्थशर्परीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः ।
ताभ्यामधिगमः परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां
वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः । सोऽवरतः चतुर्थो नामस्थापनाद्रव्यभावतः ।
तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमि-
त्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भा-
वात्मना व्यवस्थापना स्थापना । अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं

(१) उद्धृता इमे—“तथा चाहुर्मंडाकलङ्कदेवाः—“श्रुतादर्थ—“विवृद्धाभिर्निवेशतः”—अनागार०
पृ० १६९। (२) तुलना—“द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादिनिधनमिष्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचि-
त्कदाचित्कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च संभवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते,
यथाऽङ्कुरो बीजपूर्वकः स च सन्तानापेक्षया अनादिनिधन इति ।”—सर्वार्थसि० १।२०। (३) तुलना—
“विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थो न्यासो निक्षेपः ।”—तत्त्वार्थभा० १।५ । “णिच्छए णिणए
खिवदित्ति णिक्खेवो । सोवि छव्विहो णामट्ठवणादव्वखेत्तभावमंगलमिदि ।”—धवलाटी० पृ० १० ।
“य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ।”—पञ्चाध्या० श्लो० ७४१ । “प्रकरणादिवशेना-
प्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निःक्षेपा ।”—जैनतर्कभा० पृ० २५ ।
(४) तुलना—“जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिन्ने निरवसेसं । जत्थवि अ न जाणेज्जा चउक्कमं
निक्खिन्ने तत्थ ॥ आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्ते । तं जहा—नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भावाव-
स्सयं ।”—अनु० सू० ८ । “नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्त्यासः ।”—तत्त्वार्थसू० १।४ । “निक्षेपोऽजन्त-
कल्पश्चतुरवरविधः प्रस्तुतव्याक्रियार्थः । तत्त्वार्थज्ञानहेतुः नयद्वयविषयः संशयच्छेदकारी ॥”—सिद्धिचि०
परि० १२ । मूलाचारे षडवश्यकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-
कालभावैः षड्विध उक्तः । आवश्यकनिर्वृक्तौ (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालवचनभाववि-
कल्पात् सप्तविधो निक्षेपः प्ररूपितः । (५) “नाम संज्ञा कर्म इत्यनर्थान्तरम् ।”—तत्त्वार्थाधि०
भा० १।५ । “अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकाराभित्युज्यमानं संज्ञाकर्म नाम ।”—सर्वार्थसि०
१।५ । राजवा० पृ० २० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४३ । “यस्य कस्यचिदनिदिष्ट-
विशेषस्य निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ।”—सिद्धिचि०, टी० पृ० ५७४ A. । “पञ्जायाणमिधेयं
ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं । जाइच्छिअं च नामं जावदव्वं च पाएणं ॥”—विशेषा० गा० २५ । जैनतर्क-
भा० पृ० २५ । “अताभिप्पयाकया सत्ता चेयणमचेयणे वा वि । ठवणादीनिरविकत्ता केवलं सत्ता उ
नामिदो ॥”—बृहत्कल्पभा० गा० १२ । “तत्थ णाममंगलं णामणिमित्तरणिरवेक्खा मंगलसण्णा । तत्थ
णिमित्तं चउव्विहं जाइ दव्व गुण किरिया चेदि ।”—धवलाटी० पृ० १७ । (६) “यः काष्ठपुस्तचित्र-

१-निदागतैः आ०, मु० लघी० । २-वेशतः ज० वि०, आ०, व० । ३-परीक्षप्रव-ज० वि० ।

४-पेक्षं कर्म ज० वि० ।

द्रव्यम् । तच्च आगम-नोआगमविकल्पाद् द्वेधा । तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः ।
अप्रस्तुतार्थापकरणत् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । तेन च निक्षिप्ताः
पदार्थाः निर्देशादिभिः संदादिभिश्चानुयोगैः अनुयुज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः

कर्माक्षिनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापना जीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति ।"
—तत्त्वार्थाधि० भा० १।५ । "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षिनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ।"—
सर्वार्थेति०, राजवा० १।५ । पञ्चाध्या० इलो० ७४३ । "जं पुण तयत्त्वसुखं तयमिप्पाएण तारिसा-
गारं । कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ।"—विशेषा० गा० २६ । "सम्भावमसम्भावे
ठवणा पुण इवकेउमाईया । इत्तरमणितारा वा ठवणा नामं तु आवहं ।"—बृहत्कल्पभा० गा० १३ ।
"सद्भावस्थापनया नियमः, असद्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूणेन्द्रवत् ।"—तयचकळ० पू० ३८१ A. । सिद्धिवि०
टी० पू० ४७४ B. । जैनतर्कभा० पू० २५ । "अहिदणामस्स अणस्स सोयमिद्विदुवणं ठवणा णाम । सा
दुविद्वा सम्भावासम्भावदुठवणा चेदि ।"—धवलाटी० पू० १९ । "वस्तुनः कृतसंसस्स प्रतिष्ठा स्थापना
मता । सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाविरोधतः ।"—तत्त्वार्थेश्लो० पू० १११ ।

(१) "द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽज्ञादिवारिणामिकभावयुक्तो जीव
उच्यते ।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।५ । "गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम् ।"—सर्वार्थेति०
१।५ । "अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् । अतद्भव वा ।"—राजवा० पू०
२० । सिद्धिवि० पू० ४७४ । धवलाटी० पू० २० । तत्त्वार्थेश्लो० पू० १११ । पञ्चाध्या० इलो०
७४४ । "दव्वे पुण तल्लडी जस्सतीता भविस्सते वा वि । जो वा वि अणुवजुत्तो इदस्स गुणे परिक-
हेई ।"—बृहत्कल्पभा० गा० १४ । "द्वए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो । दव्वं भव्वं
भावस्स भूअभावं च जं जोगं ।"—विशेषा० गा० २८ । जैनतर्कभा० पू० २५ । "भूतस्य भाविनो वा
भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ।"—आव० ति० मलय० पू०
६ B. । (२) "वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।"—सर्वार्थेति० १।५ । राजवा० पू० २१ ।
सिद्धिवि० पू० ४७४ । धवलाटी० पू० २९ । तत्त्वार्थेश्लो० पू० ११३ । पञ्चाध्या० इलो० ७४५ ।
"जो पुण जहत्त्वजुत्तो सुद्धनयाणं तु एस भाविदो । इदस्स वि अहिगारं विषाणमाणो तदुवउत्तो ।"
—बृहत्कल्पभा० गा० १५ । "भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समारूपातः । सर्वज्ञैरिन्द्रादिविद-
हेन्द्रनादिक्रियानुभवात् ।"—आवति० मलय० पू० ९ A. । (३) तुलना—"स किमर्थः ? अप्रकृतनि-
राकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च ।"—सर्वार्थेति० १।५ । तत्त्वार्थेश्लो० पू० ९८ । "अथ किमिति निक्षेपः
क्रियते इति चेत् ? उच्यते—त्रिविधाः श्रोतारः अभ्युत्पन्नः अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगत-
विवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽभ्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम् । द्वितीयः संशेते
कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतादर्थान्दित्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवृत्तीयोऽपि संशेते
विपर्यस्यति वा । तत्र यथ्यभ्युत्पन्नः पर्यायाधिको भवेनिक्षेपः अभ्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतिनिराक-
रणाय । अथ द्रव्याधिकः; तद्द्वारेण प्रकृतरूपणयाशेषनिक्षेपो उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण
विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयवृत्तीययोः संशयविनाश्याशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्यतोः
प्रकृतार्थाविधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उक्तं हि—अवगमयणिवारणदृष्टं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च ।
संसयविणासगदृष्टं तत्त्वत्यवधारणदृष्टं च ।"—धवलाटी० पू० ३० । उद्धृतिमिदं वाक्यम्—जैनतर्कभा०
पू० २५ । (४) "निद्वेस्ते पुरिस्ते कारण कहि केसु कालं कइविई ।"—अनु० सू० १५१ । "निर्वेदस्वा-
मित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।"—तत्त्वार्थसू० १।७ । "केण कस्य कत्यवि केवचिरं कदिविधी
य भावो य । छहि अणिओगहारेः..."—मूलाचा० ८।१५ । (५) "संतपरूवणा दव्वपमाणानुगमो
खेत्तानुगमो फोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावडुगानुगमो चेदि ।"—धवलाटी०

सर्वे पदार्थाः, तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थान-
मार्गणास्थानानि । एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुष-
तत्त्वं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मक-
सम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्त-
मतीन्द्रियं सुखमृच्छति आत्मा । नहि गुणविनाशात् जडः गुणगुणविनाशात्
शून्यः, भोग्यविरहात्तदभोक्ता, तथाधिगमाभावात् तद्वाधासंभवाच्च । शरीरादिकं
धर्मि ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य तत्सत्यपि ज्ञानोदयसंभवात् ।

अयं शास्त्रस्य कर्ताऽध्येता वा आत्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । किं-

विशिष्टः सन् ? इत्याह—‘विमुक्तः’ इति । विशेषेण मुक्तः सकल-
कारिकार्यः—

कर्मविवर्जितः । विमुक्तोऽपि कथम्भूतः सन्नसौ स्यात् इत्याह—

तपोनिर्जीर्णकर्मा इति । तपसा यथाख्यातचारित्र्यलक्षणेन निर्जीर्णानि निर्मूलो-
न्मीलितानि कर्माणि येनासौ तथोक्तः । पुनरपि कथम्भूतः सन्नसौ विमुक्तः स्यात्
इत्याह—‘जीवस्थान’ इत्यादि । प्रत्येकं चतुर्दशभिः जीवस्थानैः गुणस्थानैः

मार्गणास्थानैश्च तत्त्ववित् जीवादिस्वरूपवित् । पुनरपि किंविशिष्टः सन्नसौ
विमुक्तः स्यात् ? इत्याह—‘विवृद्ध’ इत्यादि । विशेषेण वृद्धं क्षाधिकरूपतया परम-
प्रकर्षं प्राप्तम् अभिनिवेशनं सम्यग्दर्शनं यस्य स तथोक्तः । ‘विवृद्धाभिनिवे-

सू० ७ । ‘से किं तं अणुमे ? नवविहे पणत्ते । तं जहा—संतपय पख्वणया, दव्वपमाणं च, खित्त,
फुसणा य, कालो य, अंतरं, भाग, भाव, अप्पावहुं चेव ।’—अनु० सू० ८० । ‘सत्त्वस्याक्षेत्रस्पसनका-
लान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।’—तत्त्वार्थसू० १।८।

(१) ‘सुहमा वादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता । एहिदिया दु जीवा जिण्हि कहिया
चदुवियया ॥ पज्जत्तापज्जत्ता विय होंति विगलिदिया दु छम्मेया । पज्जत्तापज्जत्ता सणि असणी य
सेसा दु ।’—मूला० पर्या० गा० १५२-५३ । गो० जी० गा० ७२ । कर्मप्र० ४।२ । (२) मिच्छादिट्ठी
सासादणो य मिसो असंजदो चेव । देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥ एत्तो अपुव्वकरणो
अणियट्ठी सुहमसंपराओ य । उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलजिणो अजोगी य ॥’—मूला० पर्या०

गा० १५४-५५ । छक्खंडा० सू० ९-२३ । गो० जी० गा० ९-१० । कर्मप्र० २।२ । (३) ‘गइ
इदि ए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत सणि आहारए चेदि ।’—
छक्खंडा० सू० ४ । ‘गइ इदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य । संजम दंसण लेस्सा भविया
सम्मत सणि आहारे ॥’—मूलाचारपर्या० गा० १५६ । गो० जी० गा० १४१ । कर्मप्र० ४।९ ।

(४) ‘अव्वावाट्ठमणिदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मवुकं । पुणरागमणविरहिमं णिच्चं अचलं अणालम्बं ॥’
—नियम० गा० १७७ । ‘शिवमजरमरुजमक्षयमव्यावाधं विशोकभयशंकम् । काष्ठागतसुखविद्याविभवं
विमलं भजन्ति दर्शनपूताः ॥’—रत्नक० श्लो० ४० । सर्वायसि० पृ० १ । तत्त्वानु० श्लो० २४२ ।

(५) तुलना—‘आत्मलभं विदुर्मोक्षं जीवस्थान्तर्मलक्षयात् । नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैत्यन्यमनर्थकम् ॥’
—सिद्धिवि०, टी० पृ० ३८४ । यज्ञ० उ० पृ० २८० । ‘स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैत्यन्यमनर्थकम् ॥’—तत्त्वानु० श्लो० २३४ ।

१-शाद गुणगुणि-ज० वि० । २ अस्य शा-ब० । ३ मुक्तोऽपि अ० । ४ निर्जीर्णानिर्मूलो-आ० ।

शतः' इति कचित् पाठः । तत्रायमर्थः—विबृद्धाऽभिविवेशानोऽयमात्मा
 जीवादितत्त्ववित् तपोनिर्जीर्णकर्मा च भवति सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् सम्य-
 ग्ज्ञानचारित्र्योरिति । अनेन च ग्रन्थेन विमुक्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मिका सामग्री
 प्ररूपिता भवति, तदन्यतमस्याप्यपाये तस्या अनुपपद्यमानत्वात् । तदनुपपद्यमानत्वञ्च
 5 अत्रैव अनन्तरं प्रतिपादयिष्यते । किं कृत्वाऽसौ विबृद्धाभिविवेशानः तत्त्ववित्त्वं
 इत्याह—'अनुयुज्य' इत्यादि । अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रतिवचने च प्रवर्तते; तद्यथा
 'कृतानुयोगोऽपि भवान् किञ्चिद् ब्रवीति तूष्णीमादाय स्थितः' इत्यत्र अनुयोगशब्दः प्रश्ने
 प्रसिद्धः । 'दत्तानुयोगोऽपि भवान् पुनः पुनः पृच्छति' इत्यत्र तु पृष्ठप्रतिवचने इति ।
 तेनायमर्थः स्थितो भवति—अनुयुज्य जीवद्रव्यादेः स्वरूपादि तज्जिज्ञासया पृष्ट्वा ।
 10 कैः ? अनुयोगैश्च । अनुयोगैरेव, चकार एवकारार्थे । किंविशिष्टैः ? इत्याह—
 'निर्देश' इत्यादि । निर्देश आदित्येषां स्वामित्वादिसदादीनां तद्भिदां गतैः
 निर्देशादिभेदरूपैः इत्यर्थः ।

निर्देशादौ च प्रश्नं प्रति द्वयी गतिः—नामनि निर्ज्ञाते लक्षणनिर्णयार्थः प्रश्नो
 भवति लक्षणे वा निर्ज्ञाते नामनिर्ज्ञानार्थ इति । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'किं लक्षणं जीवादि-
 15 द्रव्यम्' इति प्रश्नः, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिवचनम् । अपरस्मिन् पक्षे
 'उपयोगादिलक्षणः किन्नामा पदार्थः' इति प्रश्नः; 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम् । के पुन-
 निर्देशादयः इति चेत् ? उच्यते—'किम्' इत्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । 'कस्य'
 इत्यधिपतित्ववैख्यापनं स्वामित्वम् । 'केन' इति करणप्रकाशनं साधनम् । 'कस्मिन्'
 इत्याधाराभिधानम् अधिकरणम् । 'कियच्चिरम्' इति कालकृतावस्थाव्यवस्थापनं
 20 स्थितिः । 'कतिविधम्' इति प्रकारकथनं विधानम् । अत्र किम्, कस्य, केन, कस्मिन्,
 कियच्चिरम्, कतिविधम् इति प्रश्नरूपः अनुयोगः । 'वस्तुस्वरूपकथनम्, अधिप-
 तित्ववैख्यापनम्' इत्यादिकस्तु प्रतिवचनरूप इति ।

अधिगता निर्देशादयः । सदादयो निरूप्यन्तामिति चेदुच्यते—सकलपदार्थाधि-
 गतिमूलं द्रव्यपर्यायगुणसामान्यविशेषविषयं 'सत्' इत्यभिधानं सत् । सकलादेश-

(१) विमुक्तेः । (२) 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च'—इत्यमरः । (३) 'निर्देशः स्वरूपाभिधानम्,
 स्वामित्वमाधिपत्यम्, साधनमूल्यतिनिमित्तम्, अधिकरणमधिष्ठानम्, स्थितिः कालपरिच्छेदः, विधानं
 प्रकारः ।'—सर्वांर्थसि० १।७ । (४) उत्तररूप अनुयोग इति । (५) 'सदित्यस्तित्वनिर्देशः । संख्या
 भेदगणना । क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः । तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम् । कालो द्विविधः
 मुख्यो व्यावहारिकश्च । अन्तरं विरहकालः । भाव औपशमिकादिलक्षणः । अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया
 विशेषप्रतिपत्तिः ।'—सर्वांर्थसि० १।८ ।

१ च वर्तते ब० । २ 'पुनः' नास्ति आ० । ३—द्रव्यादिः स्व-आ० । ४ पृष्टाः श्र० । ५ निजार्थ
 श्र० । ६—लक्षणं किं-ब० । ७ प्रश्ने जीवादीनामित्यु-ब० । ८—स्वव्याख्याप-श्र० । ९ किमिति ब० ।
 १०—प्यताम् श्र० ।

त्वात् संप्रहनिमित्तम्, व्यवहारनिमित्तं वा विकलादेशत्वात् । भेदगणनं संख्या ।
वर्तमाननिवाससामान्यं क्षेत्रम् । तदेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनम् । कालो वर्तमानादि-
लक्षणेः । कस्यचित् सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकालः अन्तरम् । औपश-
मिकादिः भावः । संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि परस्परं विशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्प-
बहुत्वम् इति । एवमुक्तप्रकारनिर्देशादिरूपैरनुयोगैः किं कृत्वा जीवादिद्रव्याण्यनुयुङ्- 5
क्तेऽयमात्मा ? इत्याह—‘**विरचय**’ इति । विशेषेण रचित्वा विधाय, कान् ? इत्याह—
‘**अर्थ**’ इत्यादि । **अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च तदात्मकभेदान्** । अर्थात्मको हि
भेदः—द्रव्यभावरूपः, वागात्मकः नामरूपः, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूपः इति । किं-
विशिष्टांस्तान् ? इत्याह—‘**श्रुतार्पितान्**’ इति । श्रुतेन अर्पितान् विवक्षितान् ।
कैः कृत्वा तान् विरचय ? इत्याह—‘**नय**’ इत्यादि । **नयेषु** वस्त्वंशप्ररूपकेषु प्रवृत्तेषु 10
सत्सु **अनु** पश्चाद् **गताः** प्रवृत्ता ये **निक्षेपाः** तैः । किंविशिष्टैः ? **उपायैः** कारण-
भूतैः । क ? **भेदवेदने** । नामस्थापनादिस्वभावभिन्नजीवादिद्रव्यवेदने । कुतः पुनरेषां
नयानुगतत्वं सिद्धमिति चेत् ? नयनिरूपिते वस्त्वंशे प्रवृत्तेः । एतदेव दृश्यन्नाह—
‘**परीक्ष्य**’ इत्यादि । **परीक्ष्य** विचार्य **तांस्तान्** द्रव्यपर्यायादीन्, **तद्धर्मान्**
अनेकान्तात्मकाऽर्थांश्चान् । कथम्भूतान् ? **अनेकान्** । पुनरपि किंविशिष्टान् ? **व्याच-** 15
हारिकान् व्यवहारप्रयोजनप्रसाधकान् । कैः परीक्ष्य ? इत्याह—‘**अभिसन्धिभिः**’
इति । **अभिसन्धिभिः** ज्ञातुरभिप्रायैः । किं कृत्वा ? **अधिगम्य** । कम् ?
अर्थम् । किंविशिष्टम् ? **अनेकान्तम्** । कस्मादधिगम्य ? इत्याह—‘**श्रुतात्**’ इति ।
कारिकाचतुष्टयं यथोद्देशं विवृण्वन्नाह—‘**श्रुतम्**’ इत्यादि । **श्रुतम्** आप्तवचनम्
तत्कथम्भूतम् ? **अनादि** । कया ? **सन्तानापेक्षया** द्रव्यापेक्षया । 20
विवृतिव्याख्यानम्—
कथं पुनर्द्रव्यं सन्तानशब्दवाच्यमिति चेत् ? ‘समीचीनः त्रिकालप्रवृ-
त्तिखिलपर्यायानुयायी तानः विस्तारो यस्य’ इति व्युत्पत्तेः । कथं तर्हि तत् सौदि ?
इत्याह—‘**साधनम्**’ इत्यादि । साध्यते निर्वर्त्यते इति **साधनो** वर्णपदादिपर्यायः,
साध्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन इति वा, तं प्रति सादि ‘**श्रुतम्**’ इति सम्बन्धः । अनेन सर्वथा
नित्यमनित्यं वा तत् इति प्रत्याख्यातम् । प्रपञ्चितञ्चैतत् प्रागेव इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । 25
तदेवंविधं श्रुतं **प्रमाणम्**, कुतः इत्याह—‘**त्रिकाल**’ इत्यादि । **त्रिकालगोचराश्च** ते
सर्वपर्यायाश्च जीवादिपदार्थाश्च तेषां **निरूपणम्** यथावस्थितस्वरूपोद्योतनं तत्र प्रवर्णं
दक्षम् । यत एवविधं ततस्तत्प्रमाणम् । प्रयोगः—यत् त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवा-

(१) श्रुतम् । (२) श्रुतम् । (३) श्रुतं प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवादिपदार्थनिरूपणप्रवणत्वात् ।

१ संप्रहव्यवहार-श्र० । २ सन्तानो न व० । ३-इत्यपि श्र० । ४ वाक्प्र-श्र० । ५ नयानुगतत्वं
श्र० । ६ ‘द्रव्यापेक्षया’ नास्ति श्र० । ७-प्रवृत्तिनि-आ० । ८ स्यादित्याह व० । ९ अनित्यं नित्यं
वा व०, श्र० । १०-इह ते जीवा-व० श्र० । ११-पर्यायवर्णजीवा-व० ।

किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाऽजीवनाम यथा घटः इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीव-एकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदेकजीव-अनेकाजीवनाम यथा काँहार इति । किञ्चिद् अनेकजीवाऽजीवनाम यथा नगरमिति । इत्याद्यनेकप्रकारं तत् प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् तदनियतप्रकारम् ? इत्याह—जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनियत-
त्वात्, जात्यादिनियतनिमित्तापेक्षणामेव शब्दानां नियतत्वोपपत्तेः । जातिद्वारेण हि ये शब्दाः द्रव्यादिषु प्रवर्तन्ते ते जातिशब्दाः यथा गौः अश्वः इत्यादयः । द्रव्यद्वारेण तु ये वर्तन्ते ते द्रव्यशब्दाः । ते च द्विविधाः—संयोगिद्रव्यशब्दाः, समवायिद्रव्य-
शब्दाश्च । तत्र संयोगिद्रव्यशब्दाः कुण्डली इत्यादयः, समवायिद्रव्यशब्दाः विषाणी इत्यादयः । गुण-कर्मद्वारेण तु ये द्रव्ये वर्तन्ते ते गुणशब्दाः कर्मशब्दाश्च प्रतिपत्तव्याः, 10
यथा 'शुद्धो नीलः' इत्यादयः, 'गच्छत्यागच्छति' इत्यादयश्च ।

अथ का स्थापना ? इत्याह—'आहित' इत्यादि । स्थाप्यते इति स्थापना प्रति-
कृतिः, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य द्रव्यस्य इन्द्रादेः 'सोऽयम्' ईयमिसन्धानेन व्यवस्थापना । केनात्मना व्यवस्थापना ? इत्याह—'सद्भाव' इत्यादि । तत्र अध्यारोप्यमाणेन मुख्येन्द्रादिना समाना सद्भावस्थापना । मुख्याका- 15
रशून्या पुनः असद्भावस्थापना ।

यथा काहार इति । किञ्चिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मंदुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८ ।

(१) दण्डधारको द्वारपालः, तत्र एकोऽजीवः दण्डः जीवश्च द्वारपाल इति । (२) एको जीवः वीवरः, अनेकार्थ अजीवाः जलाहरेणाय उपयुज्यमानाः घटादयः । (३) तुलना—"यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशि-
ष्टोऽर्थ उच्यते इति । जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाश-
ब्देन क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति ।"—प्रमाणसं० टी० पृ० १२ । "तत्त्व
जाङ्गिमित्तं नाम गोमणुस्सघटपडत्वंभवेत्तादि । संयोगद्वयनिमित्तं नाम दंडी छत्ती मौली इच्चेव-
मादि । समवायिनिमित्तं नाम गलमंडो काणो कुंडो इच्चेवमादि । गुणनिमित्तं नाम किण्वो रुहिरो
इच्चेवमादि । किरियानिमित्तं नाम गायणो गच्छणो इच्चेवमादि ।"—धवलाटी० पृ० १८ । "जातिद्वारेण
शब्दो हि द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतुः स विज्ञेयः गौरश्च इति शब्दवत् ॥३॥ गुणप्राधान्यतो वृत्तो
द्रव्ये गुणनिमित्तकः । शुक्लः पाटल इत्यादिशब्दवत्सम्प्रतीयते ॥६॥ कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निवृध्यते ।
चरति प्लवते यद्वत्करिचदित्यतिनिश्चितम् ॥७॥ संयोगिद्रव्यशब्दः स्यात्कुण्डलीत्यादिशब्दवत् । समवायि-
द्रव्यशब्दो विषाणीत्यादिरास्थितः ॥९॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९ । (४) "स्थाप्य इति स्थापना
प्रतिकृतिः । सा चाहितनामकस्य इन्द्रादेर्वस्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सौत्यमित्यभिसम्बन्धेना-
न्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ । (५) तुलना—
"जणं कटुकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेडिमे वा पूरिमे वा संधा-
इमे वा अक्खे वा वराडए वा एणो वा अणेणो वा सम्भावटठवणा वा असम्भावटठवणा वा आवस्सएत्ति
ठवणा ठवज्जइ से तं ठवणावस्सयं ।"—अनु० सू० १० । "तत्त्व आगारवत्तए वत्थुम्मि सम्भावटठवणा,

अथ किलक्षणं द्रव्यम् ? इत्याह—‘अनागत’ इत्यादि । ननु ‘अनागतपरिणा-
मविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्’ इति द्रव्यलक्षणमुक्तम्, “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्”
[तत्त्वार्थसू० ५।३८] इत्यागमविरोधादिति कश्चित् ; सोऽपि सूत्रकाराभिप्रायानभिज्ञः ;
‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम्’ इति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं
द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदा अनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं
परित्यक्तपूर्वपर्यायश्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषा-
णवत् । केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचने अनागतपरिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामा-
नुयायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम् । सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन
प्रमाणार्पणात् ‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम्’ इति सूत्रितम्, क्रमाक्रमानेकान्तस्य तथा व्यव-
स्थितेः । तच्चैवंविधलक्षणलक्षितं द्रव्यं द्विधा भिद्यते आगम-नोआगमविकल्पात् ।
तत्र आत्मा यो जीवादिप्राभृतं तत्त्वतो जानाति परन्तु चिन्तन-परप्रतिपादनलक्षणोप-
योगाऽनुपयुक्तः स आगमद्रव्यम् । नोआगमः त्रेधा भिद्यते—ज्ञातृशरीर-भावि-तद्व्यति-

तत्त्विवरीया असम्भावदुवणा ।—धवलाटी० पृ० २० । “काष्ठपुस्तचित्रकमदियो ये सद्भावस्थापना-
रूपाः तथाऽक्षनिक्षेपादयोऽसद्भावस्थापनारूपाः...”—तत्त्वार्थसू० १५ । “तत्राध्यारोप्यमाणेन
भावेन्द्रान्निगता समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना, मुख्यदर्शनः स्वयं तस्यास्तदनुद्धिंसंभवात् कथञ्चित्साद्-
भ्यसद्भाववात् । मुख्यकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति
संप्रत्ययात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ ।

(१) सूत्रकारः उमास्वाम्याचार्यः । तुलना—“सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञः ; गुणपर्ययवद् द्रव्यमिति हि
सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदा अनागतपरिणामविशेषं
प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायश्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभि-
मुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११२ । (२) क्रमभाविपर्यायपेक्षया क्रमाज्ञे-
कान्तः सहभाविगुणापेक्षया तु अक्रमानेकान्तः । (३) “से किं तं दव्वावस्सयं ? तुविहं पणत्तं तं जहा
आगमओ अ नोआगमओ अ ।”—अनु० सू० १२ । सर्वार्थसि०, राजवा० १।५ । धवलाटी० पृ० २० ।
(४) “जस्स णं आवस्सएत्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नामसमं धोससमं अहीणक्खरं
अणक्खक्खरं अवाइक्खक्खरं...से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए नो अणप्पेहाए,
कम्हा ? अणुवओपो दव्वमिति कट्ठु ।”—अनु० सू० १३ । “जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी
वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीवः ।”—सर्वार्थसि०, राजवा० १।५ । “आगमओऽणुवउत्तो मंगल-
सद्धानुवासिओ वत्ता । तन्नाणलद्धिसिंहिओऽवि नोवउत्तोत्ति तो दव्वं ।”—विशेषा० गा० २९ । “तत्थ
आगमओ दव्वमंगलं पाम मंगलपाहुडजाणओ अणुवज्जुत्तो, मंगलपाहुडसद्दरयणा वा, तस्सत्थदुवणक्ख-
ररयणा वा ।”—धवलाटी० पृ० २१ । (५) “से किं तं नो आगमओ दव्वावस्सयं ? तिविहं पणत्तं, तं
जहा—जाणयसरीरदं दव्वावस्सयं भविअसरीरदव्वावस्सयं जाणयसरीरभविअसरीरवत्तिरित्तं दव्वावस्सयं ।”—
अनु० सू० १४ । “नो आगमद्रव्यजीवस्त्रेधा व्यवतिष्ठते—ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् ।
तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकशरीरम् । सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति जीव-

१-पर्यायव-आ०, अ० । २-पर्यायव-आ०, अ० । ३-प्रकारेण तथा व० । ४-पर्यायव-
आ०, अ० । ५-भूतं न जाना-अ० । ६-गोतानुपुषत्तं स आ०, -यो वानुपयुक्तः स व० ।

रिक्तविकल्पात् । तत्र ज्ञशरीरलक्षणं नोआगमद्रव्यमपि त्रिकालगोचरं त्रिविधम्-भावि-
वर्त्तमान-परित्यक्तभेदात् । गत्यन्तरे स्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं प्रत्यभिमुखो भाविजीवः ।
स एव यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति केवलमग्रे ज्ञास्यति तदा भाविनोआगमः ।
तद्व्यतिरिक्तं नोआगमद्रव्यं कर्मनोकर्मभेदात्मकम् । तत्र ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं कर्म,
शरीरपर्याप्तियोग्यपुद्गलादानं नोकर्म ।

अथ को भावः ? इत्याह-‘तथा’ इत्यादि । तथा, किम् ? विवक्षितप्रकारेण
उपयोगो व्यापारः । यदि वा, तथा आगमनोआगमरूपतया उपयोगो जीवस्य उप-
युक्तत्वं भावः । अतश्च द्रव्यवद् भावोऽपि आगमनोआगमविकल्पाद् द्विविधः प्रति-
पत्तव्यः । तत्र जीवादिप्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमभावः । जीवादिपर्याया-
विष्टो नोआगमः । एवं प्ररूपितनामादिचतुःप्रकारो निक्षेपः सिद्धः । स किमर्थं प्ररूप्यते 10
निष्फलत्वात् इत्याशङ्क्याह-‘अप्रस्तुत’ इत्यादि । अप्रस्तुतार्थस्य मुख्यस्य इन्द्रादेः
अपाकरणात् निराकरणात्, प्रस्तुतस्य नामस्थापनेन्द्रादेः व्याकरणाद् व्युत्पादनाच्च
हेतोः निक्षेपः फलवान् सार्थकः । तेन च इत्थम्भूतेन निक्षेपेण निक्षिप्त्वा उक्तप्रकारेण
प्ररूपिताः पदार्थाः जीवादयः अनुयुज्यन्ते अनु पश्चात् युज्यन्ते जीवद्रव्यादेः
स्वरूपादीनि तज्ज्ञासया पृच्छन्ते । कैः कृत्वा ? अनुयोगैः । किंविशिष्टैः ? 15
निर्देशादिभिः निर्देशश्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणैः, न केवलमेतैरेव
अपि तु सदादिभिश्च, सत्संख्याक्षेपस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वलक्षणैश्च । एवंविधैश्च
अनुयोगैः अनुयुक्ता यद्यपि सर्वे पदार्थाः तथापि जीवपदार्थविषयो यो विशेषः इतरप-
दार्थेभ्यः स्वरूपातिशयः तस्य प्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्गान्स्थानानि प्रत्येकं

नसामान्यस्य सदापि विद्यमानत्वात् । विशेषापेक्षया त्वस्ति-गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं
प्रत्यभिमुखः मनुष्यभाविजीवः । तद्व्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्पः ।”-सर्वार्थसि० १।५ । धवलाटी०
पृ० २१ । “मंगलपयत्नजाणयदेहो भवस्स वा स जीवोऽपि । नो आगमओ दव्वं आगमरहिओत्ति जं
भणिअं ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेगदेसाओ । भूयस्स भाविणो वा जस्स जं कारणं देहो ॥
जाणयभवस्सरीराइरित्तमिह दव्वमंगलं होइ । जा मंगलला किरिया तं कुणमाणो अनुवउत्तो ॥”-
विशेषा० गा० ४४-४६ ।

(१) “सि किं तं भावावस्सयं ? दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आगमतो अ, नो आगमतो अ ।”-अनु०
सू० २२ । सर्वार्थसि० १।५ । धवलाटी० पृ० २१ । (२) “जाणए उवउत्ते, से तं आगमतो भावावस्सयं ।”
-अनु० सू० २३ । “तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा
आगमभावजीवः ।”-सर्वार्थसि० १।५ । “मंगलसुयउवउत्तो आगमओ भावमंगलं होइ ।”-विशेषा०
गा० ४९ । “आगमः सिद्धान्तः, आगमदो मंगलपाहुडजाणओ उवउत्तो ।”-धवलाटी० पृ० २९ । (३)
“जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवनपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नो आगमभावजीवः ।”-सर्वार्थसि०, राज-
वा०, तत्त्वार्थश्लो० १।५ । “नो आगमदो भावमंगलं दुविहं उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण
अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मंगलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।”-धवलाटी० पृ० २९ ।

1-पः प्रसिद्धः श्र० । 2-अनुयुज्यन्ते श्र० । 3-युज्यन्ते श्र० । 4-जीव इत्यादेः श्र० ।

- चतुर्दश भवन्ति । तैः प्ररूपितस्वरूपातिशये जीवद्रव्ये यथावच्छाते सुमुख्यं सुक्त्यङ्गं परिपूर्णं रत्नत्रयं भवति नान्यथा । एतदेवाह—‘एवम्’ इत्यादि । एवम् उक्तप्रकारेण प्रमाणनयनिक्षेपाभ्यामुपयोगैः पदार्थप्रतिपत्त्युपायैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं पुनः जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य, इत्यनेन सुसुक्ष्मोः सम्यग्ज्ञानं
- 5 सुक्त्यङ्गं प्ररूपितम् । प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः इत्यनेन सम्यग्दर्शनम्, ‘तपसा निर्जीर्णकर्म’ इत्यनेन तु सम्यक्चारित्र्यमिति । तेन च सम्यग्दर्शनादित्रयेण निर्जीर्णकर्म सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सन् अयमात्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । किंविशिष्टं तत्सुखम् ? बाधारहितं विगतबाधम्, अण्ववच्छिन्नं शाश्वतम्, अनन्तम् इत्येतावधारणवर्जितम्, अतीन्द्रियम् विबुद्धात्ममात्रोत्थम् । ननु आत्मनो मुक्तौ
- 10 बुद्ध्याद्यशेषविशेषगुणोच्छेदात् कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसन्तानोच्छेदतः तस्यैवाऽसंभवादिति सौगताः । अभोक्तृत्वादिति सांख्याः । अत्राह—नहि इत्यादि । नहि नैव गुणविनाशाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदात् जडः पाषाणकल्पः मुक्तौ आत्मा भवति, गुणगुणिविनाशात् शून्यः ‘नहि’ इति सम्बन्धः । गुणाः ज्ञानादयः गुणी चित्तसन्तानः तेषां विनाशाद् अत्यन्तोच्छेदात् आत्मा शून्यः सकलस्वरूप-
- 15 विविक्तो भवति ‘नहि’ इति सम्बन्धः । भोग्यविरहात् तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानाद् अभोक्ता आत्मा सुखादेः ‘नहि’ इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? ईत्यत्राह—तथाधिगमाभावात् तद्वाधासंभवाच्च । यथा च मुक्तौ तथैवविधस्य आत्मस्वरूपस्य कुतश्चिदपि प्रमाणाधिगमासंभवः तत्र च बाधासंभवः तथा अग्रे प्रपञ्चतः प्ररूपयिष्यते ।

ननु ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ ‘तपोनिर्जीर्णकर्म’ इत्यभिधातुं

- 20 आवरणस्वरूपविषये युक्तम् । नच तत्सद्भावः प्रसिद्धः । तद्वि शरीरम्, रागादि, देशकालादिकं पूर्वपक्षः— लादिकं वा भवेत् ? तत्र आद्यविकल्पद्वयमयुक्तम् ; शरीरे रागादौ च सत्यपि अर्थज्ञानोदयसंभवात् । यस्मिन् सत्यपि ज्ञानोदयसंभवः न तस्य ज्ञानावरणादिस्वरूपता यथा चञ्चुरादेः, अर्थज्ञानोदयसंभवश्च शरीरादौ सत्यपि, तस्मान्न तस्य ज्ञानावरणादिस्वरूपता इति । तस्य तत्स्वरूपतायां वा काण्डपटादिबन्धे तत्सद्भावे
- 25 तदुपलम्भसंभवो भवेत् । तर्हि देशकालादेस्तत्संभावताऽस्तु, सुप्रसिद्धा हि मेवादौ दूरदेशताया आवरणता रावणादौ दूरकालतायाः परमाण्वादौ सूक्ष्मस्वभावतायाः, मूलकीलो-

(१) आत्मन एव । (२) सुखादिव्यतिरिक्तस्य शून्यस्य अभोक्तृत्वरूपस्य वा । (३) तुलना—‘तद्वि शरीरं रागादयो देशकालादिकं वा स्यात् ।’—प्रमेयक० पृ० २४१ । स्या० २० पृ० ३५६ । (४) शरीरं रागादिकं वा नावरणस्वरूपम् तत्सद्भावेऽपि ज्ञानोदयात् । (५) शरीरादेः । (६) शरीरादिसद्भावे । (७) ज्ञानोदयसंभवः । (८) आवरणस्वभावात् । (९) भूयन्तर्गतस्य वृक्षमूलस्य कीलस्य उदकादेर्वा ।

१-रेण नयनि-आ० । २-ष्टं सुखं श्र० । ३ अवच्छिन्नं श्र० । ४ ‘आत्मा’ नास्ति आ० । ५ इत्याह-ब० । ६-द्वौनिर्जीर्ण-श्र० । ७ तद्भावः ब० । ८ तस्मान्नास्य ब० । ९ ‘तस्य’ नास्ति श्र० ।

दकादौ च भूम्यादेः; इत्यप्यसमीचीनम्; तदभावस्य योगिनोऽप्यशक्यक्रियत्वात् । न खलु सातिशयद्विभक्ताऽपि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः । नचान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते । अस्तु वा तत्; तथापि-अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्, मूर्तिमताऽनेनैव अमूर्तस्य ज्ञानादेरावरणानुपपत्तेः, अन्यथा शरीरादेरप्यावरणत्व-प्रसङ्गः । आत्मगुणत्वात् कर्मणो न पौद्गलिकत्वमित्येन्ये । भवतु पौद्गलिकत्वम् ⁵ अन्यथाभूतत्वं वाऽस्यै; तथापि न साकल्येन कचिन्निर्जरासंभवः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्तमानस्यास्य अनादित्वात्, अनादेश्च आत्मादिवद् विनाशासंभवादित्यैरे ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-‘ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ’ कर्मणः पौद्गलिकत्व- इत्यादि; तत्र किं कर्ममात्रसद्भावे भवतां विप्रतिपत्तिः, ज्ञानावरणादिकर्म-प्रसाधनं संवरण- विशेषे वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; शरीरादिव्यतिरिक्तस्य कर्म-¹⁰ जैरयोः सिद्धिश्च- मात्रस्य अनुमानतः सद्भावप्रसिद्धेः । तथाहि-स्वपरप्रमेयबोधैकत्वभा-वस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयादिषु विशिष्टाभिरतिः आत्मतद्भेदतिरिक्तकारण-पूर्विका, तत्त्वात्, कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्याः तन्त्राद्युपयोगप्रभवविशिष्टा-भिरतिवत् । द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः; ज्ञानावरणादिकर्मविशेषस्यापि तद्भेदतिरिक्तस्य

(१) दूरदेशताया दूरकालताया सूक्ष्मस्वभावताया भूम्यादेर्वा अभावस्य । (२) वेदान्तिनः । “अत एवावरणस्य अनिर्वाच्याविद्यास्वरूपत्वमङ्गीकर्तव्यम् । न तु दुरिच्छास्वभावेण तदवलापो युक्तः अनुमानसिद्धत्वात् । तथाहि-अस्ति तावन्मूढानामेवं व्यवहारः ‘अशनायाद्यतीतं विवेकिप्रसिद्धमात्मतत्त्वं नास्ति न प्रकाशते च’ इति योऽयं व्यवहारः आत्मनि भावरूपावरणनिमित्तो भवितुमर्हति, अस्ति प्रकाशते’ इत्यादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथास्ति प्रकाशते घट इति व्यवहारः । न च कारणपोष्कल्यमसिद्धम्; नित्यसिद्धस्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेणात्रान्यापेक्षाऽ-भावात् । न चान्यथासिद्धिः; इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूर्तद्रव्यस्य आत्मनि निरवयवे सर्वगते दुःसंपाद-त्वात् ।”-विवरणप्र० पृ० २१ । (३) पौद्गलिककर्मणा । (४) योगाः । द्रष्टव्यम्-पृ० ३ टि० ५ । (५) अविद्यादिरूपत्वम् । (६) कर्मणः । (७) जयन्तभट्टादयः । तुलना-“अये तु मिथ्याज्ञानज-नितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीरारम्भकाणीति मन्यन्ते ।”-प्रश० ध्यो० पृ० २० ख । “सहकारिवैकल्यात् कुसूलावस्थितबीजवत् कर्मणामनारम्भकत्वे सति न कश्चिद्दोषः । एष एव च तेषां दाहो यत्कार्यान्तरारम्भकत्वम् । नन्वविनष्टस्वरूपाणि कुसूलीजवदेव कदाचिदारभ्यन्ते कार्यं तस्माद्वरमुच्छिद्यन्तामेव; किमिदानीं नित्यमात्मानमप्युच्छेत् ?”-न्यायमं० पृ० ५२३ । (८) पृ० ८०८ पं० १९ । (९) तुलना-“चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणं मदिरादिवत् । तत्कृतः सिद्धम् । विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्ध्यन्तरकारणकः मोहोदय-त्वात् मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् ।”-अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४९ । “संसारी बन्धवान् परतन्त्रत्वादालानस्तम्भागतहस्तिवत् । परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् कामोद्रेकपरतन्त्रहीनस्था-नपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत् ।”-आप्तप० पृ० १ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (१०) शरीरादिव्यति-रिक्त । (११) शरीरादिभिन्नस्य ।

अनुमानादेव प्रसिद्धेः । तथाहि—यत् सत् तत्सर्वमेनेकान्तात्मकमित्यादि व्याप्तिज्ञानं सावरणम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्टं तत्सावरणम् यथा रंजनीहाराद्यन्तरिततरुनिकैरादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वेन ज्ञानमिति । मिथ्यादृशां सर्वत्र अनेकान्तस्वभावे भावे विपरीतज्ञानं सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले

५ काञ्चनज्ञानवदिति ।

यदप्युक्तम्—‘अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अमूर्तस्य अमूर्तैव आवरणनियमाऽसंभवात्, मूर्तेनापि मदिरादिना अमूर्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात् । कथमेवं शरीरादेर्न तदावरणत्वं स्यादिति चेत् ? ‘तदविरुद्धत्वात्’ इति ब्रूमः । मूर्तत्वाविशेषेऽपि हि यदेव ज्ञानेन विरुद्धं तदेव तस्यैव आवरणं युक्तं नान्यत्, अन्यथा अमूर्तत्वाविशेषात् अविद्यावत् आकाशदेर्ज्ञानान्तरस्य च आवरणत्वमनुपपद्येत । तस्यैव तेनैव विरोधश्च मदिरादिवत् पौद्गलिककर्मोदये प्रवचनेन प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानस्य निरोधान्निश्चीयते । तथाहि—आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनः, तत्स्वरूपान्यर्थभावास्वभावत्वात्, उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्याज्ञानजनितपरमिथ्याज्ञानेन अनेकान्तः; तस्यापि अपरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव संभवात् अपरापरोन्मत्तकादिरेव सद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

१५ एतेन ‘आत्मगुणत्वात् कर्मणां न पौद्गलिकत्वम्’ इत्यपि प्रयुक्तम्; तेषां मातृगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वानुपपत्तितः सदैव आत्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति यथा पृथिव्यादेः रूपादिः, गुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरिष्टम् इति । न चैतत् युक्तम्, आत्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः प्रतीतेः । तथाहि—

२० परतन्त्रोऽयमात्मा, हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपरतन्त्राऽशुचिस्थानपरिग्रहवद्वि-
(१) “अशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्यात्मनः स्वविषयेऽप्रवृत्तिः विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता पीतहृत्पूरुषस्वविषयज्ञानाप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं तद् ज्ञानावरणादि वस्तुसत् पुरुषरूपं कर्म ।” —सम्पत्ति० टी० पृ० ७३६ । “यदप्रवृत्तिमत्स्वविषये तत्सावरणं यथा तैमिरिकस्य लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि, अग्रवृत्तिमच्च स्वविषये समस्तार्थलक्षणोऽस्मदादिज्ञानमिति ।” —स्या० २० पृ० ३५७ । “ज्ञानं सावरणं विशदतया स्वविषयानवबोधकत्वात् ।” —प्रमेयक० पृ० २४० । (२) “तथा मिथ्यात्वपटलविलुप्तविवेकदुर्वा यदेतत्सर्वस्मिन्ननेकान्तात्मके वस्तुनि विपर्ययज्ञानं तत्सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् ।” —स्या० २० पृ० ३५७ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (३) पृ० ८०९ पं० ३ । (४) “सुराभिभवदर्शनात्” —राजवा० पृ० ८१ । प्रमेयक० पृ० २४३ । प्रमेयर० पृ० ५६ । (५) ज्ञानस्य । (६) पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादिकर्मणः । (७) ज्ञानेन । (८) “आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः ...” —प्रमेयक० पृ० २४३ । (९) पृ० ८०९ पं० ५ । (१०) “तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति; तस्य संसारहेतुत्वानुपपत्तेः ।” —सर्वार्थसि० ८ । (११) “कर्मणां मातृगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तात्वायोगात् सर्वदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तेर्मुक्तिप्रसङ्गात् ।” —आप्तव० का० ११३ । प्रमेयक० पृ० २४३ । स्या० २० पृ० ११०१ । (१२) योगः ।

१ गजो—श्र० । २—निकारादि—श्र० । ३ ‘तस्य’ नास्ति आ० । ४—स्य तिरोधानाश्रित्यो—श्र०, —स्य तिरोधानाश्रित्यो—ब० । ५—याभावत्वात् उ—श्र० । ६—रसदभावे व० । ७—तन्त्रानुचितस्था—व० ।

शिष्टपुरुषवत् । हीनस्थानं हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कारागारवत्, तत्परि-
ग्रहचांश्च संसारी सर्वेषां सुप्रसिद्ध एव । नच देवशरीरे तदभावात् पक्षान्याप्तिः; तस्यापि
मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः । यत्परतन्त्रश्चासौ तच्च कर्म, इति सिद्धमर्थ्यं अनात्मगुण-
त्वम्, अतः पौद्गलिकत्वमेवास्योपपन्नम् । प्रयोगैः—पौद्गलिकं कर्म, आत्मनः पारतन्त्र्य-
निमित्तत्वात्, निगदादिवत् । नच क्रोधादिभिर्व्यभिचारैः; तेषाम् आत्मपरिणामानां पार- 5
तन्त्र्यस्वभावत्वात् । क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘न साकल्येन कचिन्निर्जरासंभवः’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमो-
विलसितम्; कर्मणां सन्तानपरम्परयाऽनादिवेषि कचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे साक-
ल्येन प्रक्षयोपपत्तेः । यैस्य कचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावैः तस्य तत्र साकल्येन प्रक्षयः
यथा शीतस्पर्शस्य, सम्यग्दर्शनादिलक्षणतद्विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च कचिदात्मनि इति । 10
नचायं साध्यविकलो दृष्टान्तः; नहि अनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षभूतस्थोष्णस्प-
र्शस्य प्रकर्षसद्भावे निर्मूलतलं प्रलयमुपैवज्ज प्रतीतः, कार्यकारणप्रवाहेण बीजाङ्कुरादि-
सन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्षभूतदहननिर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति ।
प्रतिपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च अनुमानतः प्रसिद्धः; तथाहि—ज्ञानादयः कचित् परमप्रकर्ष
प्रतिपद्यन्ते, प्रकृष्यमाणत्वात्, परिमाणवत् । इत्थं वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः 15

(१) तुलना—‘मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेतनावशात् । हीनस्थानगतिर्जन्यं’—प्रमाणवा०
१।२६३ । ‘हीनस्थानं शरीरमात्मनो दुःखहेतुत्वात् कस्यचित्कारामुहवत्’—आप्तप० पृ० १। प्रमेयक०
पृ० २४३। स्या० २० पृ० ११०१ । (२) दुःखहेतुत्वाभावात् । (३) कर्मणः । (४) ‘तानि च पुद्गलप-
रिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगदादिवत् ।’—आप्तप० पृ० ६१ । प्रमेयक० पृ० २४३ ।
(५) पृ० ८०९ पं० ६। (६) तुलना—‘सर्वेषां सविपक्षत्वाग्निहर्षातिशयं श्रितः । सात्मीभावात्तदभ्यासात् ।
हीयेरन्नाश्रवाः क्वचित् ॥’—प्रमाणवा० ३।२२० । ‘ये चापचयधर्माणः प्रतिपक्षस्य सन्निधौ । अत्यन्ता-
पचयस्तेषां कलघौतमलादिवत् ।’—तत्त्वसं० का० ३४१६ । ‘सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षये ।
कमाङ्ग्लेषः प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् ।’—न्यायवि० का० ४४३ । (७) ‘स कर्मभूतां भेत्ता
तद्विपक्षप्रकर्षतः । यथा शीतस्य भेत्तेह कश्चिदुष्णप्रकर्षतः ॥’—आप्तप० का० ११० । अष्टसह० पृ०
५४ । ‘यदुत्कर्षतारतम्यात् यस्यापचयतारतम्यं तत्प्रकर्षनिष्ठागमने भवति तस्य आत्यन्तिकः क्षयः, यथा
उष्णस्पर्शतारतम्यात् शीतस्पर्शस्य, भवति च ज्ञानवैराग्यादेरुत्कर्षतारतम्यात् अज्ञानरागादेरपचयतारत-
म्यमिति ।’—सम्प्रति० टी० पृ० ७३७ । (८) ‘विपक्षप्रकर्षगमनात् कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेऽपि
प्रक्षयप्रसिद्धेः । न ह्यानादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शः’—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० २०
पृ० ३५७ (९) ‘प्रतिपक्षभूतदहनान्निर्दग्धबीजोः’—आप्तप० पृ० ५९ । ‘प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजोः’
—प्रमेयक० पृ० २४५ । (१०) तुलना—‘अस्ति काष्ठाप्रप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत् ।’
—योगभा० १।२५ । ‘तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि । तारतम्यप्रकर्षस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत् ॥’—
आप्तप० का० ११२ । अष्टसह० पृ० ५५ । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० २० पृ० ३५८ । ‘शुद्धिः प्रकर्षमा-
याति परमं क्वचिदात्मनि । प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात् कनकादिवशुद्धिवत् ॥’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१५ ।

- कर्त्तव्यः—ज्ञानावरणादिहानिः कचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षमायाति, प्रकृत्यमाणत्वात्, नभसि परिमाणवत् । न चात्राऽसिद्धं साधनम्; तथाहि—प्रकृत्यमाणा आवरणहानिः, आवरणहानित्वात्, माणिक्याद्यावरणहानिवत् । यद्वा, ज्ञानावरणादिकर्म कचिदामूलं प्रक्षीयते, समप्रक्षीयहेतूपेतत्वात्, लोचने तिमिरादिवत् । तैत्कर्मप्रक्षयस्य हि हेतुः संवर-
 5 निजरे, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायी स तद्धेतुः यथा धूमोऽग्नेः, अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते च तत्प्रक्षयः संवरनिर्जरीयोरिति । सति संवरे भाविकर्मोत्पद्यते “अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः” [तत्त्वार्थसू० १।१] इत्यभिधानात् । सञ्चितं पुनः तन्निर्जरातः प्रक्षीयते—“उपात्तकर्मणां निर्हरणं निर्जरी” [] इति वचनान् । सा च निर्जरा द्विविधा—औपक्रमिक-इतरभेदात् । तत्र औपक्रमिकी
 10 तपसा द्वादशविधेन साध्या, अनौपक्रमिकी तु यथाकालं संसारिणः स्यादिति ।

अत्र सांख्या ब्रुवते—सत्यम्; अनात्मगुणोऽदृष्टं प्रकृतिपरिणामत्वात्तस्य “प्रकृति-

अदृष्टकर्मवन्धादि-परिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म” [] इत्यभिधानात् । प्रकृत्या विषये सांख्यानां हि कर्म क्रियते अतस्तत् तत्परिणामो नात्मनः तस्याऽकर्तृत्वात् । पूर्वपक्षः—

- (१) “दोषावरणयोर्हानिः निःशेषास्त्यतिशयानात् । क्वचिच्चथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥” आप्तमो० का० ४ । प्रमेयक० पृ० २४५ । (२) “प्रकृत्यमाणा आवरणहानिः आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत् ।” प्रमेयक० पृ० २४६ । स्या० २० पृ० ३५९ । (३) “क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम् । समप्रक्षयहेतुत्वाल्लोचने तिमिरादिवत् ॥” तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५ । (४) “तेषामागमिनां तावद्विषयः संवरो भवति । तपसा सञ्चितानां तु निर्जरा कर्मभूमात् ॥”—आप्तप० का० १११ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६ । (५) “आस्रवनिरोधः संवरः”—तत्त्वार्थसू० १।१ । उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० २४५ । (६) “एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।”—सर्वार्थसि० १।४ । “उपात्तस्य कर्मणस्तपोविशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।”—राजवा० १।४ । “कर्मणां तु विपाकात्तपसा वा यः शाटः सा निर्जरा”—तत्त्वार्थभा० व्या०, तत्त्वार्थश्लो० १।४ । “पूर्वोपाजितकर्मपरित्यागो निर्जरा”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४८३ । (७) “सा द्विप्रकारा—विपाकजेतरा च । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावधूर्णिते संसारमहाणवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाकालाभप्राप्तस्य अनुभवोदयावलिस्तोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धलक्ष्यस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्म आप्तविपाकालम् औपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादिनुदीर्णं बलादुदीर्णं बलादुदीर्णद्वयावलि प्रवेक्ष्य देवते आमुपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा ।”—सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ८।२३ । “सा द्विविधा—अनुपक्रमोपक्रमिकी च । तत्र पूर्वा यथाकालं संसारिणः स्यात्, उपक्रमिकी तु तपसा द्वादशविधेन साध्यते ।”—आप्तप० का० १११ । प्रमेयक० पृ० २४४ । स्या० २० पृ० ३५७ । “सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म—आयुर्विपाकं कर्म द्विविधम्—सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च । तत्र यथाद्वैतं विद्वानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण शुष्येदेवं निरुपक्रमम् । यथा यथा चाग्निः शुष्के कश्चे मुक्तो वातने समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निः तृणराशी क्रमतोऽज्यवेपु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम् ।”—योगसू० व्यासभा० ३।२२ । (८) द्रष्टव्यम्—पृ० ३६० ७ । “तत्कार्यं धर्मादिः”—सांख्यसू० २।१४ । (९) तुलना—“चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति ।”—योगभा० ४।७ । “अशुक्लाकृष्णकर्म

साक्षित्वादिकमेव हि स्वरूपमात्मनो न कर्तृत्वादि । तदुक्तम्—

“तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमैर्तृमावश्च ॥” [सांख्यका० १९]

तस्माच्च तस्मादेव त्रिगुणविपर्यासात् सिद्धमात्मनः साक्षित्वादिस्वरूपम्; तथाहि—
साक्षित्वं तावदात्मनः गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम् स्वयमस्यै नैर्गुण्यात्, सुखादिभ्यो हि
यतोऽयमर्थान्तरभूतः तस्मात् तत्प्रवृत्तौ साक्षी । तथा कैवल्यमप्यस्य सिद्धम् ततो
विविक्तत्वात् । यतः खल्वयं गुणेभ्यः पृथग्भूतः तस्मादेव केवलः, न तैः सह संसर्गेण
वर्त्तते । तथा माध्यस्थ्यमप्यस्य विषयित्वात् सिद्धम् । विषयाणां हि तुल्यबलत्वात्
न्यूनाधिकतोपपत्तेश्च अन्योन्यं बाधानुग्रहौ उपपन्नौ, विषयी चायम्, तस्मान्नास्य
न्यूनतादि, अत एव इतरयोरनुपपत्तिः । तथा द्रष्टृत्वमप्यस्य चैतन्यस्वरूपत्वासिद्धम् ।

स्यान्मुक्षोर्योगिनो यतः । कृष्णं शुक्लं तथा मिश्रं कर्मान्येषां त्रिधा भवेत् ॥”-योगका० ४।१२ । उद्धृत-
मिदम्—“प्रधानविवर्तः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म ॥”-आप्तप० पृ० ६१ । “प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च
कर्म ॥”-प्रमेयक० पृ० २४४, २८५ । (१०) “प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कार-
विमूढात्मा कर्ता हिमिति मन्यते ॥”-भगवद्गी० ३।२७ ।

(१) “साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च”-श्वेताश्व० ६।११ । “पुरि शयनात् प्रमाणात् पूरणात्
पुरुषवृत्तिता । स चानादिः सर्वगतश्चेतनो निर्गुणोऽपरः ॥ द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मकः । सूक्ष्मो
नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि सः ॥”-सांख्यतत्त्ववि० पृ० १० । (२) “तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्य-
विपर्यासाद् विपर्ययात् । निर्गुणः पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तः तस्मात्
सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति । योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति, गुणा एव कर्तारः
प्रवर्तन्ते साक्षी न प्रवर्तन्ते नापि निवर्तत एव । किञ्चाचान्यत्, कैवल्यम्-केवलभावः कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थः
त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः । माध्यस्थ्यभावः, परित्वाजकवन्मध्यस्थः पुरुषः । यथा कश्चित् परित्वाजको ग्रामी-
णेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते तस्मात् द्रष्टृत्वमक-
र्तृभावश्च । यस्मान्मध्यस्थः तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषः तेषां कर्मेणामिति । सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो
गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुषः । एवं पुरुषस्यास्तित्वञ्च सिद्धम् ॥”-गौडपा० भा०, माठरवृ०,
सांख्यतत्त्वको०, जयमंग, का० १९ । उद्धृतोऽयम्-न्यायवि० वि० पृ० ५४६ A. । विश्वतत्त्वप्र० पृ०
१४० A. । (३) “अकर्तृभावश्चेत्यनेन सत्तविधमकर्तृभावमाश्रयति-न ह्ययं विषयेषु स्वस्मात्तःकरण-
सांनिध्यैऽध्यवसायं कुरुते । न च सत्त्वादीनां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैः इतरेतरौपकारेणाप्रवर्तमा-
नानां स्वेन चैतन्यलक्षणेन धर्मेण अङ्गभावं प्रतिपद्यते नाप्यङ्गभावम् । एवं सह गुणैः कार्यं न कुरुते
स्त्रीकुमारवत् । स्थितप्रयोगं न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रेरकवत्, न स्वात्मनो मृत्पिण्डवत्, न परतः कुम्भ-
कारवत्, नाप्यादेशात् मायाकारवत्, नोभयतो मातृपितृवत् ॥”-मुक्तिवदी० पृ० १०० । (४) “तत्र
साक्षित्वमित्यनेन गुणानां प्रवृत्तौ अस्वातन्त्र्यं ख्यापयति प्रधानस्य तदर्थनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः ॥”-मुक्तिवदी०
पृ० १०० । (५) गुणानां सत्त्वरजस्तमसां प्रवृत्तेः, गुणस्य वा प्रधानस्य प्रवृत्तेः । (६) पुरुषस्य । (७)
गुणात् । “कैवल्यमित्यनेन संसारधर्मत्वमात्मनो निवर्तयति । न यथा सत्त्वादीनां परस्परेण प्रकाशादिध-
मपिक्षाणां संसर्गः एवं पुरुषस्य तैर्भवति ॥”-मुक्तिवदी० पृ० १०० । (८) “माध्यस्थ्यमित्यनेन अतिशयनि-
र्हसितानुपपत्तेः, पुरुषस्य गुणैः सह बाधानुग्रहानुपपत्तिः स्वकार्यप्रवृत्तौ चापेक्षया दर्शयति ॥”-मुक्तिवदी०
(९) बाधानुग्रहयोः ।

प्रकृतिविकारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतन्यमपोद्भूतं पुरुष एव स्थाप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा । उक्तञ्च—‘चैतन्यं स्वरूपं पुरुषस्य’ [योगभा० ११९] इति । अत्राऽभेदे षष्ठी । चित्तिरेव हि पुरुषः, रूपशब्दः स्वभाववचनः । एतदेव हि आत्मनः स्वम् आत्मीयं रूपं स्वभावः यत् चैतन्यं नाम, तस्य व्यक्ता-
व्यक्तयोरसम्भवात् । तथाऽकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वादस्य सिद्धः, यस्मात् प्रस्पन्दन-
परिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता इति ।

ननु सत्त्वादीनां कर्तृत्वे ‘पुरुषः पुण्यं करोति’ इत्यात्मनि कर्तृत्वप्रतीतिः कथ-
मुपपन्नेति चेत् ? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेननापि बुद्धिः चेतनासंसर्गात् चेतना
उपचर्यते, तैश्च कर्तृप्रधानसंसर्गात् स्वयमकर्ताप्यात्मा कर्त्तव्य उपचर्यते । तदुक्तम्—

10

“तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिह (व) लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः ॥” [सांख्यका० २०] इति ।

ततः चित्तुक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप-

(१) ‘चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चित्तिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदि-
श्यते ? भवति च व्यपदेशे वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गीरिति ।’—योगभा० ११९ । उद्धृतमिदम्—सर्वार्थसिं०
पृ० १ । न्यायवि० वि० पृ० ५४७ A. । (२) ‘तावेतौ भोगावर्गौ’ बुद्धिकृतौ बुद्धादेव वर्तमानौ
कथं पुरुषे व्यपदिश्यते इति ? यथा विजयः पराजयो वा योद्धुं वृत्तमानः स्वाभिनि व्यपदिश्यते,
स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धादेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्यते । स हि तत्फलस्य
भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः तदर्थवसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोपाहोतृत्व-
ज्ञानाभिनिवेशाः बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽप्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥’—योगभा०
२११८ । (३) ‘तस्मात्तत्संग्रोपादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्’ यस्मान्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्मात्
तत्संग्रोपादचेतनं महदादिलिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते ।
को दृष्टान्तः ? तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संस्पृष्टः शीतो भवति अग्निना संयुक्त उष्णो
भवति, एवं महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति । तस्मात् अध्यवसायं कुर्वन्ति गुणाः
कार्यादिषु । ... तद्यथाऽसौ अचौरः तत्संसर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्तैः तथा सत्त्वादयो गुणाः कर्त्तारः
तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि अकतारि कर्ता भवति, कर्तृसंसर्गात् कर्त्तव्यं, परं परमार्थतया अकर्ता पुरुषः ॥’
—माठरवृ०, गौडपा०, सांख्यतत्त्वकी०, जयमङ्गल० का० २० । “तस्मात् कारणस्य ग्रहरूपता
पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्ध्यन्तरसम्पर्कात् अन्यगताऽप्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या न
परमार्थतः । उक्तञ्च—चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते । कर्तृष्ववस्थितसत्त्वात्मा भोक्ता कर्त्तव्य
लक्ष्यते ॥”—मुक्तितो० पृ० १०४ । उद्धृतोऽयम्—न्यायमं० पृ० ४८९ । ‘चेतनावदिह’—अष्टसह० पृ०
६७ । न्यायवि० वि० पृ० ५९१ A. । स्या० २० पृ० २३४ । (४) ‘चित्तिशक्तिरपरिणामिन्यप्रति-
सङ्क्रमा दशितविषया शुद्धा चानन्ता च, सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिः सुखमोहादिव विवेकिनं दुःखा-
कुशलोत्तो दुःखवद् हेतुः । तथा चातिसुन्दरमपि अन्तवद् दुनोति तेन तदपि हेतुमेव विवेकिनः ।
सेयमशुद्धिरन्तस्त्व चित्तिशक्तौ पुरुषे न स्तः इत्यत उक्तं शुद्धा चानन्ता चेति । ननु सुखदुःखमोहात्मक-
शब्दादीनि चैतयमाना तदाकारापन्ना कथं विशुद्धा ? तदाकारपरिग्रह-परिवर्जने च कुर्वती कथ-
मन्तरेत्यत उक्तम्—दशितविषया इति । दशितो विषयः शब्दादिर्यस्यै सा तथोक्ता । भेददेतदेव यदि

गन्तव्या । न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसद्भावाभ्युपगमे पुरुषकल्पनानर्थक्यमित्यभि-
धातव्यम्; द्रष्टृत्वात्तस्य । न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यमुपपद्यते पङ्खग्वन्धयोऽरिबानयोः
अन्योन्यापेक्षत्वात् । यथैव हि अन्धो दर्शनशक्तिविकलः तच्छक्तियुक्तपङ्खपदेशमन्तरेण
नेष्ट्रपदेशमुपसर्पति, पङ्खरपि क्रियाशक्तिशून्यः तच्छक्तियुक्ताऽन्धसंसर्गाद्विना इति, तथा
प्रधानं नान्तरेण पुरुषं कृतमपि कार्यं द्रष्टुं क्षमम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधानं
विना दृश्याभावाच्च द्रष्टा स्यात् ।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुषः कथं संसारप्रबन्धप्रवृत्तिहेतौ प्रधाने स्थितं फलमुपभुङ्क्ते ?
इत्यप्यचोद्यम्; चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलम्
आत्मस्थं मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वोपपत्तेः, यदा तु ज्ञानमस्य आविर्भवति 'दुःखहेतु-

बुद्धिवच्चितिशक्तिविषयाकारतामापद्यते, किन्तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती, अतदाकारायै
चितिशक्त्यै विषयमादर्शयति, ततः पुरुषश्चेतयत इत्युच्यते । ननु विषयाकारां बुद्धिमनारूढायाश्चिति-
शक्तेः कथं विषयवेदनम् ? विषयारोहे वा कथन्न तदाकारापत्तिरित्यत उक्तम्—अप्रतिसङ्क्रमेति ।
प्रतिसङ्क्रमः सञ्चारः, स चितेर्नास्ति इत्यर्थः । स एव कुतोऽस्या नास्तीत्यत उक्तम्—अपरिणामिनी
इति । न चितेस्त्रिविधोऽपि धर्मलक्षणावस्थालक्षणः परिणामोऽस्ति येन क्रियारूपेण परिणता सती
बुद्धिसंयोगेन परिणमेत चितिशक्तिः ।—योगभा०, तत्त्ववै०, भास्व० ११२ । “यतोऽपरिणामिनी अत एव
चितिशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा असञ्चारा । यथा बुद्धिविषयं गच्छति तद्ग्रहणार्थं नैवं चितिरक्रियत्वात् ।
अथवा नास्ति प्रतिसङ्क्रमः सङ्गो विषयेषु यस्याः इत्यप्रतिसङ्क्रमा निलोपेति यावत् । ननु अपरिणा-
मिने चैतन्यो विषयाकाररत्वाभावात् कथं विषयस्फुरणम्? तत्राह—दर्शितविषया, दर्शितो बुद्ध्या निवेदितो
विषयो यस्याः इति विग्रहः, विषयैः सह बुद्धिवृत्तिश्चितौ प्रतिबिम्बिता सती भासत इति भावः...यतोऽ-
परिणामिनी अत एव शुद्धा अनन्ता च ।—योगभा०, पातञ्जलरह० ११२ । तुलना—“तथा चोक्तं (पञ्च-
शिखेन—तत्त्ववै०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव
तद्वृत्तिमनुपतति...”—योगभा० २१२० ।

(१) “द्रष्टा दृश्यान् शब्दोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।”—योगसू० २१२० । (२) “पुरुषस्य दर्शनार्थं
कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्खग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥” तद्वत् पङ्खग्वन्धवत् प्रधान-
पुरुषो द्रष्टव्यो । पङ्खगुवत् पुरुषो द्रष्टव्यः अन्धवत् प्रधानम् । पुरुषस्य दृक्शक्तिः, प्रधानस्य क्रियासा-
मर्थ्यम् ।—सांख्यका० माठर० २१ । “पङ्खग्वन्धवदृष्टान्तस्तु नान्तरीयकप्रदर्शनार्थम् । यथा पङ्खगुर्ना-
न्तरेणान्धं दृक्शक्त्या विशिष्टेनार्थेन अर्थवान् भवति, अन्धश्च नान्तरेण पङ्खं विशिष्टेनार्थेन । एवं
प्रधानं नान्तरेण पुरुषं कृतमपि कार्यं द्रष्टुं शक्तमनवधिकञ्च प्रवर्तमानं विशेषाभावाच्चैव निवर्तते । तथा
पुरुषः सत्यपि चैतन्ये नान्तरेण प्रधानम् उपलभ्याभावाद् उपलब्धा भवेदिति प्रधानमपेक्षते ।—युक्तिवै०
पृ० १०७ । (३) द्रष्टृदृश्यभूतयोः पुरुषप्रधानयोः । (४) “पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्
गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य तदसद्योनिजन्मसु ॥”—भगवद्गी० १३।२१ । “यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य
स्वबुद्धिसंयोगः, तस्य हेतुरविद्या”—योगवै० २।२४ । “तथा चैतदत्रोक्तम् (पञ्चशिखेन) व्यक्तमव्यक्तं
वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानः तस्य व्यापदमनुशोचत्याम-
व्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ।”—योगभा० २।५ ।

रियम् न मम अनया सह संसर्गो युक्तः' इति, तदा विवेकख्यातेन तत्सम्पादितं कर्मफलमुपभुङ्क्ते, सौपि च 'विज्ञातविरूपाऽहं न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्वा न तत्सम्पादनाय तं प्रति प्रवर्तते कुण्डिनीस्त्रीवद् दूरादपसर्पति । अतो गुण-
 पुरुषान्तरदर्शनाद् अपवर्गप्राप्तिः । अन्ये गुणाः सत्त्वादयोऽचेतनाः परार्थाः प्रकृति-
 ५ विकारभूताः, अन्योऽहम् "नै प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" [सांख्यका० ३] इति भेदप्रत्ययः
 गुणपुरुषान्तरदर्शनम्, तस्मात् तत्प्राप्तिरिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रकृतिपरिणाम' इत्यादि; तदसमीक्षिता-
 तत्प्रतिविधानपुरस्सरं भिधानम्; यतः सिद्धे धर्मिणि धर्मचिन्ता उपपद्यते । नच प्रकृतिः
 कर्मणः पौद्गलिकत्व- धर्मिणी कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धा, तत्प्रसाधकप्रमाणानां प्रकृतिपरीक्षा-
 १० प्रसाधनम्— प्रघट्टके प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात् । अतः कथं तत्परिणामतया कर्मणां
 व्यावर्णनमुपपन्नम् ? अस्तु वाऽसौ^१; तथापि—पुरुषस्थं निमित्तमपेक्ष्य तथैव परिणमेत्,
 अनपेक्ष्य वा ? न तैवदनपेक्ष्य; मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तस्याः तथा

(१) प्रकृतिः । (२) 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः विवेकख्यातिः ।'—योगद०,
 व्यासभा० २।२६ । "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मिन् मे नाहमित्यपरिक्षेपम् ॥...अभ्यासेनैव तत्त्वदर्शनं
 तस्मादभ्यासात् पुरुषस्य बुद्धिरूपद्यते—नास्मि तत्त्वानि, न मे तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानाम् किन्तु प्रधान-
 कान्येतानि । तस्माज्ज्ञानमुपपद्यते एवमादि । अपरिक्षेपं निरवशेषमित्यर्थः । किं ज्ञानम् ? गुणपुरुष-
 पान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः ॥ अत्राह तेन ज्ञानेन पुरुषः किं करोति ? अत्रोच्यते—नेन निवृत्तप्रसवाभ्यर्थ-
 वन्नात् सत्स्वरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवत्स्थितः स्वस्थः ॥"—सांख्यका० साठर०
 ६३-६४ । (३) प्रकृतिरपि । "प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे सतिर्भवति । या दृष्टा-
 स्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ यथा काचित् कुलस्त्री साध्वी स्वगृहद्वारि स्थिता पुरुषेण सह-
 संवागेन दृष्टा सहसैवं व्रीडमाना त्वरितं गृहं प्रविष्टा । सा एवं मत्वा 'दृष्टाऽहमनेन' इति न पुन-
 दर्शनमुपैति पुरुषस्य । तस्याञ्च विनिवृत्तायां पुरुषो मोक्षं गच्छति ।"—सांख्यका० साठर० ६१ ।
 तत्त्वमी० पृ० १९४ । सांख्यतत्त्वप्र० पृ० १७७ । सांख्यप्र० ३।६९, ७० । "दृष्टा मयेत्यपेक्षक एको
 दृष्टाहमित्युपपत्ताऽन्या । सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति संगस्य ॥ येषामां रङ्गगतानां तर्तकां
 सर्वास्ववस्थाषु वर्तमानां दृष्ट्वा विरमति रङ्गात् प्रेक्षकः दृष्टा मयेत्यपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः
 तथा प्रकृतिरपि अनेन अहं दृष्टेति निवृत्ता । एका त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृ-
 तिरस्ति । तर्तक्यापि अहमनेन दृष्टेत्युपरमते नृत्वात् एवं पुरुषोऽपि दृष्टा मयेत्यं ज्ञानचक्षुषा प्रकृतिः
 इति प्रेक्षकवदुपरमते मोक्षं गच्छतीत्यर्थः ।"—सांख्यका० साठर० ६६ । तदुक्तं नारदीये—सविकारापि
 मौढ्येन चिरं भूत्वा गुणात्मना । प्रकृतिर्ज्ञातदोषेयं लज्जयेव निवर्तते ।"—सांख्यप्र० भा० पृ० १११ ।
 (४) भोगसम्पादनाय । (५) "पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वात् न च विकृतिरनुत्पत्तत्वात् ।
 नैवासौ कारणं न च कार्यमित्यर्थः ।"—साठर० वृ० । (६) पृ० ८१२ पं० ११ । (७) पृ० ३५४ । (८)
 प्रकृतिः । (९) कर्मरूपतया । (१०) तुलना—"यदि प्रधानं पुरुषस्थं निमित्तमनपेक्ष्य प्रवर्तते, मुक्ता-
 त्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय प्रवर्तते अविशेषात् ।"—प्रश० व्यो० पृ० २० व० । प्रमेयक० पृ०
 ३१६ । प्रमेयर० ४।१ । (११) प्रकृतेः ।

परिणमनप्रसङ्गात् । अथ अपेक्ष्य; किं तदपेक्ष्यम्—विवेकानुपलम्भः, अदृष्टं वा ?
न तावद् विवेकानुपलम्भः; तस्य विवेकोपलम्भभावरूपतया मुक्तात्मन्यपि संभवात् ।
नच तदनुत्पत्ति-प्रध्वंसयोः कश्चिद्विशेषः संभवति; अभावस्वभावत्वाविरोधात् । अदृष्टा-
पेक्षायास्तु तैस्याः तैथापरिणामे अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि अदृष्टे तदपेक्षायाः प्रकृतेः
शुक्लकृष्णकर्मपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टसिद्धिरिति । अनादित्वात् तत्प्रवाहस्य 5
अयमदोषः—पूर्वं हि अदृष्टमपेक्ष्य अपरः तैस्यास्तत्परिणामो भवति ततश्च अपरः इति;
तदप्यनुपपन्नम्; मुक्तात्मन्यपि एवमस्याः शरीरादिसम्पादनाय तैथा परिणामप्रसक्तेः ।
तत्रास्याः निवृत्ताधिकारत्वान्न तैत्प्रसक्तिः; इत्यापि वार्त्तम्; अमुक्तात्मन्यपि अस्याः
तत्सम्पादनाय तथापरिणामाऽभावानुपपन्नात् । तत्र प्रवृत्ताधिकारत्वान्न दोषोऽयम्;
इत्यपि श्रद्धामात्रम्; सैवैकस्याऽनंशस्य प्रधानस्य प्रवृत्त-निवृत्ताधिकारत्वधर्मयोगपत्ति- 10
रोधात्, तद्विरोधे वा सर्वथास्यैकत्वाऽनंशस्यानुपपत्तिः ।

किञ्चदेम् अमुक्तात्मन्यस्य प्रवृत्ताधिकारत्वन्नाम—तत्र सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादि-
सम्पादकत्वं वा ? न तावत् सम्बद्धत्वम्; मुक्तात्मन्यस्य गतत्वात्, प्रधानात्मनोः
नित्यसर्वगतत्वेन सर्वत्र सर्वदा संभवात् । अथ शरीरसुखादिसम्पादकत्वम्; तर्हि
इतरेतराश्रयः—सिद्धे ह्यमुक्तात्मानं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वे^{१३} तं प्रत्येव तत्सम्पादकत्वसिद्धिः, 15
तत्सिद्धौ च तं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, शरीरादिना तैत्सम्पादितेन अस्य कश्चिदुपकारः क्रियते, न वा ? यदि

(१) तुलना—“अथादर्शनापेक्षमिति चेत्; यस्य हि गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनानुपपत्तिः तं प्रति
प्रधानं प्रवर्तते, न चासौ मुक्तात्मनीति; तन्न; मुक्तात्मन्यपि विवेकदर्शनस्य विनाशेन प्रवृत्तिप्रज्ञात् ।
न चानुत्पत्तिविनाशयोः अदर्शनत्वेन विशेषं पश्यामः ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ०
३१६ । (२) संसारावस्थायां विवेकस्यानुत्पत्तिः मुक्तदशायां च समुत्पन्नस्यापि विवेकस्य विनाश इति न
अभावत्वेन कश्चिद् भेदः । (३) प्रकृतेः । (४) कर्मरूपतया परिणतौ । (५) प्रकृतेः शुक्लकृष्णादि-
कर्मपरिणामः । (६) तुलना—“अथादृष्टापेक्षं प्रवर्तत इति चेत्; तदसत्; तस्यापि प्रधाने शक्ति-
रूपतया व्यवस्थितस्य उभयत्राविशेषात् ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । (७)
शुक्लकृष्णादिकर्मरूपेण । (८) कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।—कृतार्थमेकं पुरुषं
प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमपि
अकुशलान् पुरुषान् प्रति अकृतार्थमिति तेषां द्वयोः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेण आत्मरूप-
मिति ।”—योगसू० भा० २।२२ । (९) शरीरादिसम्पादनाय कर्मरूपपरिणामप्रसङ्गः । (१०) संसार्या-
त्मनि । (११) तुलना—“न ह्येकमेव निवृत्ताधिकारत्व-प्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरणं युक्तं नष्ट-
त्वानष्टत्वयोरिव विरोधात् ।”—आप्तप० पृ० ८३ । (१२) प्रधानस्य । (१३) अमुक्तात्मानं प्रत्येव ।
(१४) प्रधानसम्पादितेन । तुलना—“सहिं प्रधानस्य विकारो महाद्विः पुरुषार्थो भवतु (वन्)
पुरुषस्य कश्चिदुपकारं करोति न वा ? यदि करोति, पुरुषादर्थान्तरमनर्थान्तरं वा ?”—युक्तचन्० टी०
पृ० २९ । (१५) संसार्यात्मनः ।

१ अदृष्टापेक्षायास्तु आ० । २ तस्य तत्परि-ब० । ३ प्रवृद्धविनिवृत्ता-श्र० । ४ सम्बन्धत्वं ब०,
श्र० । ५ नित्यं सर्व-ब० ।

- न क्रियते; कथं तत् 'तस्य' इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् । अथ क्रियते; किं ततो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्नः; तदा तैत्तरणे पुंसोऽपि कार्यत्वात्पुङ्गात् नित्यत्वक्षतिः । अथ भिन्नः; तदा पुंसो न किञ्चित्कृतं स्यात्, तस्येतिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेनै तस्याऽऽसम्बन्धात्, तेनैष्युपकारान्तरकरणे अनवस्था ।
- 5 ततः प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्तेः, द्रव्यरूपस्य कर्मणः पुद्गलपरिणामत्वं भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगन्तव्यम् । पुद्गलात्मनोः सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्यत्वादात्मनस्तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय; कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् । सकलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकान्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधान-
- 10 स्यापि च तैत्तरिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिः समाना ।

यदप्युक्तम्—'साक्षित्वं तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि; तदपि मनोरथमात्रम्; सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणानां प्रवृत्तेः प्रकृतिपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात्, सर्वथा नित्यव्यापित्वादिव्यवभावस्य चात्मनः स्वदेहप्रमितौ प्रतियूढत्वात्, अतः किं कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

- 15 यदपि 'अकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वात्' इत्याहुर्मुक्तं; तदप्यविचारितरमणीयम्; सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगः—भवत्कल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगनेन्दीवरवत् ।

यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता' इत्यभिहितम्; तदप्यपेक्षालम्; स्वदेहप्रमितौ आत्मनः प्रस्पन्दनपरिणामयोः प्रसाधितत्वात् ।

- 20 अकर्तृत्वे च आत्मनो भोक्तृत्वविरोधः, यदयं भुजिक्रियां कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा गमिक्रियां कुर्वन् गन्ता इति । नहि तथाऽपरिणतं तद्व्यपदेशमर्हति अतिप्रज्ञात् । तथा च कर्त्तरि कृञोऽनुत्पत्तेः 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यवदेशो दुर्लभः । ननु भोक्तेति कृञो

(१) संसारिणः । (२) शरीरादिना पुंसोऽभिन्नोपकारकरणे । (३) उपकारेण । (४) पुंसः । (५) शरीरादिकृतोपकारेणापि । (६) तत् कर्म परिणामः यस्य । (७) अनित्यकर्मपर्यायात्मकत्वस्वीकारे । (८) पृ० ८१३ पं० ५ । (९) पृ० ३५४-१ । (१०) पृ० २६६-१ । (११) पृ० ८१४ पं० ६ । (१२) पृ० ८१४ पं० ६ । (१३) तुलना—'अतः पुरुषस्य कर्तृत्वे युक्तं वास्तवं भोक्तृत्वम् । अन्यथा हि भोगक्रियामकुर्वतः कथमुदासीनस्य भोक्तृत्वं स्यात्, भोगस्य सुखदुःखवेदानारूपत्वात्, तदाधारात् तु भोक्तृत्वम् ।'—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५२३ । भोक्तात्मा चेत् एवास्तु कर्ता तदविरोधतः । विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद् भुजौ कर्तृता कथम् ॥"—आप्तप० का० ८१ । "कर्ता आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्...सांख्यकल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति अकर्तृत्वात् खपुष्पवत् । किंच, आत्मा भोक्ता अङ्गीक्रियते, स च भुजिक्रियां करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपरारिभिः क्रियाभिः किमपराद्धम् ? अथ भुजिक्रियामपि न करोति; तर्हि कथं भोक्तेति नित्यम् ।"—षड्व० बृह० श्लो० ४९ ।

(१४) तुचप्रत्ययस्य ।

1 यदर्थं भुजि-आ० ।

दर्शनात् न वास्तवं कर्तृत्वं सिद्धयति शब्दज्ञानानुपातिनः कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्य-
त्वात् ; इत्यप्यसुन्दरम् ; भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्तेः । तथोपगमे च
चेतयते इति चेतनः पुरुषः परमार्थतो न सिद्ध्येत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य
वस्तुशून्यत्वाविशेषात् । अथ एतद्वोपभयाद् भुजौ कर्त्ता इष्यते ; तर्हि अकर्तृत्वविरोधः ।
क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रसाधकत्वादकर्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्तृत्वानुपपन्नः पुरुषसा- ५
ध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेनैवाप्यप्रसाधनात् । ततः पुंसोऽकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभाव एव ।
प्रयोगः—संसार्यात्मा सुखाद्युपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गः ; प्रकृत्या हि कृतं
कर्म न च तस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाशः, पुरुषेण च तत्र कृतम् अथ च
तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागमः । अकर्तुः फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्म- 10
नोऽपि तत्प्रसङ्गः । चेतनत्वादात्मनः अकर्तृत्वेऽपि तदभिसम्बन्धः इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम् ;
मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुपपन्नात्, संसार्यात्मनोऽपि वा तद्वदसौ न स्याद-
विशेषात् । प्रयोगः—संसार्यात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत् ।
तथा प्रधानं कर्मणां तत्फलस्य च कर्तुं न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

यच्चोक्तम्—‘यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धिः चेतनासंस्पर्शात्’ इत्यादि ; तदप्यु- 15
क्तिमात्रम् : बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसंभवात्, विज्ञानस्यैव हि ‘बुद्धिः, चेतना, अन्धवसायः’
इति पर्यायाः । तदसंभवश्च साख्यं प्रति स्वसंवेदनसिद्धौ^{१३} प्रपञ्चितः । अतः कथं
तद्वैद्विष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मनः कर्तृत्वं स्यात् ? ततः पुरुषः ‘पुण्यं करोति, ध्यानं
करोति’ इत्याद्यवाध्यमानप्रतीतिसिद्धं कर्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुमूखो विकल्पः ।—शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनु पतितुं
शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती, वस्तुनस्तथात्ममनपेक्षमाणो बोध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते ।’—
योगसू० भोजवृ० ११९ । (२) तुलना—‘भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याऽवास्तवत्वापत्तेः, तथोपगमे
चेतयत इति चेतनः पुरुषो न वस्तुतः सिद्धयेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्
कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत् ।’—आप्तप० का० ८१ । (३) प्रधानेनापि । (४)
तुलना—‘संसार्यात्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत् ।’—षड्व० बृह० श्लो० ४८ । (५)
तुलना—‘प्रधानस्य बन्धमोक्षौ पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । प्रधानेन हि
कृतौ बन्धमोक्षौ न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाशः, पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनञ्च
तस्येत्यकृताभ्यागमः कथं परिहर्तुं शक्यः ?’—आप्तप० का० ११४ । षड्व० बृह० श्लो० ४८, ५२ ।
(६) ‘मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकर्मफलानुभवनानुपपन्नात् ।’—आप्तप० का० ११४ । (७) चेतनत्वादेव ।
(८) मुक्तवत् कर्मफलाभिसम्बन्धः । (९) तुलना—‘कर्तुं नाम विजानन्ति गृहादीन् सर्वथा गुणाः ।
भोक्तुं च न विजानन्ति किमयुक्तमतः परम् ॥’—चतुःश० १०१६ । ‘कर्तुं नाम प्रजानाति प्रधानं
व्यञ्जनादिकम् । भोक्तुञ्च न विजानाति किमयुक्तमतः परम् ॥’—तत्त्वसं० श्लो० ३०० । (१०)
पृ० ८१४ पं० ८ । (११) द्रष्टव्यम्—पृ० १९३ टि० २ । (१२) पृ० १९३—(१३) बुद्धिद्वष्टान्तबलेन ।

एतेन 'चिच्छक्तिरपरिणामिनी' इत्यादि प्रत्याख्यातम्; अपरिणामिनः कस्य-
चिद्वस्तुत्वानुपपत्तेः स्वपुष्पवत् । ननु मुक्तस्यात्मनः शुद्धस्याऽपरिणामित्वेऽपि वस्तुत्वं
भवद्विरिष्टम्; इत्यप्यनल्पतमो विलसितम्; तस्यापि प्रतिसमयं परिणामित्वप्रतिज्ञानात्
प्रतिसमयं दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामित्वानुपपत्तेः । न च दृश्यं वस्तु (वस्तुव)
५ परिणाम्येव इत्यभिधातव्यम्; सांख्यैस्तस्य परिणामित्वाऽभ्युपगमात् । अथ चिच्छक्तिः
अप्रतिसङ्क्रमत्वाद् परिणामिनीत्युच्यते; तत्र; अस्याः प्रतिविषयं दर्शितविषयत्वे प्रति-
सङ्क्रमोपपत्तेः । बुद्धेरेव तथा प्रतिसङ्क्रमो न चिच्छक्तेः; इत्यप्युक्तम्; बुद्धेरप्येवम्
अप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्, "विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् । बुद्ध्याध्यवसीयमानस्य
विषयस्य प्रतिप्रसङ्क्रमसंभवे बुद्धेः कथं तदसंभव इति चेत् ? तर्हि बुद्धेः विषयप्रद-
१० शिकायाः प्रतिसङ्क्रमे तद्विषयं पश्यन्त्याश्चिच्छक्तेरपि कथमप्रतिसङ्क्रमः ? यथैव हि
प्रतिनियतं विषयं चिच्छक्तये दर्शयन्ती बुद्धिः सङ्क्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि
तं पश्यन्ती विशेषाभावात् । कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषयाऽसौ^१ स्यात् ?

किञ्च, यदा बुद्ध्या विषयः तस्यैव प्रदर्श्यते तदा प्राचीनम् अदर्शितस्वरूपमसौ^२
त्यजति न वा ? न त्यजति चेत्; कथं प्रागवच्छेदाप्यसौ दर्शितविषया स्यात् ? अथ
१५ त्यजति; कथमपरिणामिनी, अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानस्य परिणा-
मित्वाविनाभावित्वात् ? अथ मतम्—चिच्छक्तेः एक एवाऽभिन्नः स्वभावस्तादृशो येन यो
यत्र यदा यथा अर्थो बुद्ध्याऽध्यवसीयते तं तत्र तदा तथा पश्यतीत्यतो दर्शितविषय-
त्वेऽपि अस्याः न प्रतिविषयं स्वभावभेदः यतः परिणामित्वं स्यादिति; तदप्यसमीचीनम्;
बुद्धेरप्येवमेकस्वभावत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्—बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषया-

(१) पृ० ८१४ पं० १२ । (२) "अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थितायाः एव
तस्याः परिणामित्वसिद्धेः ।"—युक्तचनु० टी० पृ० ३० । (३) मुक्तात्मनोऽपि । "स हि सर्वज्ञः पूर्वोत्त-
रस्वभावत्यागोपादानाभ्यामवस्थितस्वभावः परिणाम्येव सर्वार्थान् पश्यति नान्यथा, प्रतिसमयं दृश्यस्य
परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्तेः । न चायं दृश्यमर्थमपरिणामिनं वक्तुं समर्थः; स्वयं तस्य परिणा-
मित्वोपगमात् सिद्धान्तपरित्यागानुषङ्गात् ।"—युक्तचनु० टी० पृ० ३० । (४) दृश्यस्य । (५) "प्रति-
विषयं दर्शितविषयत्वे संक्रामात् । तथा बुद्धेरेव प्रतिसङ्क्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत्; न; बुद्धेरप्यप्रति-
सङ्क्रमप्रसङ्गात् विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् ।"—युक्तचनु० टी० पृ० ३० । (६) "यथैव हि विषयं
प्रतिनियतं दर्शयन्ती बुद्धिश्चित्तशक्तये संक्रामति तथा क्रमेण चित्तिशक्तिरपि पश्यन्ती विशेषाभावात् ।
कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषया स्यात् ।"—युक्तचनु० टी० पृ० ३१ । (७) विषयम् । (८) "संक्रा-
मति" इति वाक्यशेषः । (९) चिच्छक्तिः । (१०) चिच्छक्तेः । (११) "तथा बुद्धेरप्येकस्वभावत्व-
प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो येन यथाकालं यथादेशं यथा-
प्रकारञ्च विषयमध्यवस्यतीति न किञ्चिदनेकस्वभावः सिद्धयेत् ।"—युक्तचनु० टी० पृ० ३२ ।

१ तेन श्र० । २-मित्वंप्रति-आ० । ३ परिणामेव श्र० । ४ इत्येतदप्यमु-ब० । ५ 'विषयस्यैव
प्रतिसंक्रमप्रसङ्गात्' इति नास्ति व० । ६ प्रतिसंक्रमे बु-श्र० । ७ प्रतिनियमविषयं व० । ८ स्वस्यै
व० । ९ अवशिनस्वरूप-व० ।

ध्यवसायस्वभावो येन यो यत्र यदा यथाऽवस्थितोऽर्थः तं तत्र तदा तथा अध्यवस्थतीति ।
तथा इन्द्रियमनोऽहङ्कारादीनामपि विषयाऽऽलोचनसङ्कल्पनाऽभिमननाद्येकस्वभावत्व-
प्रसङ्गात् न कचित् स्वभावभेदः सिद्ध्येत् ।

यदपि—चिच्छक्तेरप्रतिसङ्क्रमसिद्धौ शुद्धत्वादिति साधनमुच्यते; तदप्यसाधु;
यतः शुद्धात्मनोऽशुद्धपरिणामसङ्क्रम एव विरुध्यते न पुनः शुद्धपरिणामसङ्क्रमः । ननु
शुद्धपरिणामेनापि चिच्छक्तिरप्रतिसङ्क्रमा अनन्तत्वात्; इत्यप्यचारु; प्रकृत्या अनेका-
न्तात्, अनन्तत्वेऽपि हि तस्याः महदादिपरिणामसङ्क्रमः सांख्यैरभ्युपगम्यते ।

यदप्युक्तम्—‘पङ्गवन्धयोरिव’ इत्यादि; तदतीवाऽसङ्गतम्; दृष्टान्त-दार्ष्टान्ति-
कयोर्वैषम्यात्, पङ्गवन्धयोर्हि चेतनत्वात् ईदमित्येव अस्मदिष्टं कार्यं सेत्स्यतीति
सम्प्रधार्य अन्योन्यापेक्षयोः प्रवृत्तिर्युक्ता, ननु प्रकृतिपुरुषयोः विपर्ययात् ।

यत्पुनरुक्तम्—‘विद्रूपस्यापि अस्य अज्ञानतमश्छन्नतया’ इत्यादि; तत्र किम्
अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्च इति ? प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि
सुखादिफलं किञ्च आत्मस्थं मन्येत, तदुपभोक्ता च किञ्च स्यात्, तस्यापि ज्ञानाभावतो-
ऽज्ञानतमश्छन्नत्वाऽविशेषात् ? द्वितीयपक्षे तु किमिदम् अज्ञानादन्यत् तमो नाम ?
रागादिकमिति चेत्, न; तस्य आत्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतया आत्माच्छाद-
कत्वानुपपत्तेः । तर्थाभूतेनापि तेन तदाच्छादने मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यादविशेषात् ।
अथ अधिकारिण एव तद् आच्छादकम् नै मुक्तात्मा(त्म)नः; ननु किमिदमधिकारित्वं
नाम ? यं प्रति प्रधानं प्रवृत्ताधिकारि सोऽधिकारीति चेत्, न; प्रधाने प्रवृत्ताधि-
कारित्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘विवेकख्यातेः’ इत्यादि; तत्र “केयं विवेकख्यातिर्नाम ? प्रकृतिपुरु-
षयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य—प्रकृतेः;

(१) “शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामप्रतिसंक्रमाविरोधात् तत्राशुद्धपरिणामसंक्रमस्यैवासंभ-
वात् ।”—युक्तबन्धु० टी० पृ० ३१ । (२) “प्रकृत्या व्यभिचारात् । सापि ह्यनन्ता । सान्तत्वेऽपि नित्य-
त्वविरोधात् ।”—युक्तबन्धु० टी० पृ० ३१ । (३) पृ० ८१५ पं० २ । (४) तुलना—“अचेतने हि निरङ्कुशो
प्रधाने बन्धिर सुतरामनिर्माक्षः स्यात् । तत्त्वविदमपि पुमांसं न बध्नाति प्रकृतिरिति कोऽस्या नियन्ता ?
पङ्गवन्धन्यायेन संयोगस्य तुल्यत्वात् ।”—न्यायसं० पृ० ४९१ । (५) पृ० ८१५ पं० ८ । (६) “यतः
किमज्ञानमेव तमः उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ।”—षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (७) मुक्तात्मनोऽपि ।
(८) मुक्तिदशायां ज्ञानं विनश्यति अतः तेषामपि ज्ञानप्रध्वंसात्मकमज्ञानमस्त्येव । (९) अत्यन्तभ्रम-
प्रकृतिधर्मात्मकेनापि रागादिना । (१०) रागादिकम् । (११) पृ० ८१६ पं० १ । (१२) “तत्र केयं
ख्यातिर्नाम—प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य—प्रकृतेः,
पुरुषस्य वा ?”—षड्व० बृह० श्लो० ५२ ।

१ इदमिच्छमेव आ०, व० । २ विपर्ययः स्यात् व० । ३ अधिकारि एव व० । ४ न मुक्तात्मानः
नास्ति आ०, अ० । ५-धिकारी चेत् आ०, अ० । ६ केषां वि-व० ।

पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य; प्रकृति-पुरुषव्यतिरे-
केण अन्यस्य कस्यचिदपि सांख्यैरनभ्युपगमात् । नापि प्रकृतेः; तस्याः असंवेद्यपर्वणि
स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च । नापि पुरुषस्य; तस्याप्यसंवेद्यपर्वणि
स्थितत्वात् । अतः प्रकृतिपुरुषयोः असंवेद्यपर्वणि स्थितयोः स्वरूपमात्रस्याप्रतिभासे
विवेकेन ख्यातिः अतिदुर्घटा । घटपटादौ हि स्वस्वरूपेण संवेद्यपर्वणि स्थिते कुतश्चि-
द्विभ्रमनिमित्तात् विवेकेनाऽप्रतीतेः यथावस्थितवस्तुप्रतिभासिप्रमाणवशाद् विवेकेन
ख्यातिर्दृष्टा, न चात्र एतदति ।

किञ्च, विवेकेन ख्यातिः तन्निश्चयः, सा च बुद्धिधर्मत्वाद् भवन्मते पुरुषे न
संभवति । संभवे वा सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना; तदा आत्मवत्त-
त्रापि नित्यत्वानुपपन्ना न कदाचिदमुक्तप्रसङ्गः । भिन्ना चेत्; अस्तु, तथापि—असौ
नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या; किं सम्बद्धा, असम्बद्धा वा ? असम्बद्धा चेत्; कथं
तस्येति व्यपदिश्येत ? असम्बद्धाया अपि तस्याः तेनैव व्यपदेशे सर्वेण सह व्यपदेशप्र-
सङ्गात् न कस्यचिदपि संसारः स्यात् । अथ सम्बद्धा; न; नित्ययोस्तयोः अन्योन्यमु-
पकारकयोः कस्यचिदपि सम्बन्धस्यानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा तस्यापि नित्यत्वात् सदात्मनो
मुक्तिप्रसङ्गः । अथ अनित्या विवेकख्यातिः; नन्वनित्या सती असौ जन्मा, अजन्मा वा ?
तत्र अनित्यायास्तस्याः घटादिवदजन्यत्वानुपपत्तिः । जन्यत्वेऽप्यस्याः किम् आत्मना,
प्रकृत्या, तद्व्यतिरिक्तेन वा केनचिदसौ ज्ञेयते ? न तावत् तद्व्यतिरिक्तेन; प्रकृति-पुरुष-
व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि तज्जनकस्याऽनभ्युपगमात् । नाप्यात्मना; तस्य जनकत्वानभ्यु-
पगमात् । अभ्युपगमे वा प्रकृतिवियुक्तेन, तत्सहितेन वा तेनासौ ज्ञेयते ? प्रथमपक्षे
चक्रकप्रसङ्गः—सिद्धे 'हि विवेकख्यातेर्जन्यत्वे प्रकृतिपुरुषयोर्वियुक्तत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ
च तद्वियुक्तेन आत्मना विवेकख्यातेर्जन्यत्वसिद्धिरिति । तत्सहितात्मजन्यत्वे तु सर्वत्र
सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्, तथा सर्वत्र सर्वदाऽविशेषतः तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

यदपि—'विज्ञातविरूपाहम्' इत्याद्यभिहितम्; तदप्यचर्चिताभिधानम्; प्रकृते-

(१) प्रकृतेः । (२) अज्ञेयकोटौ । 'तस्या असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वाच्चैतनत्वादानभ्युप-
गमाच्च ।'—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (३) ज्ञेयकोटौ । (४) विवेकख्यातावपि । (५) विवेकख्यातेः ।
(६) पुरुषस्येति व्यपदेशे । (७) सम्बन्धस्यापि । (८) आत्मनः । (९) विवेकख्यातिः । (१०)
पृ० ८१६ पं० २ । (११) तुलना—'अचेतनत्वात्, तथाहि—अचेतनतया प्रधानस्य अहमनेन दृष्ट
(दुष्ट) तया विज्ञातमिति विज्ञानाभावे पूर्ववत् प्रवृत्तिरविशिष्टेत्यलमितिप्रसङ्गेन ।'—प्रश्न० व्यो० पृ०
२० घ० । 'दृष्टास्मीति विरमतीति चेत्; मैवम्; न ह्यसौ एकपत्नीव्रतदुर्ग्रहणीता निःसङ्गपुरुषोपभो-

१-तिरितिदुर्घटा आ० । २-तीतः य-आ० । ३ विवेकस्य ख्यातिः आ० । ४ तावद्व्यतिरि-
व० । ५-ना जनक-व०, -नास्याजनक-अ० । ६ च आ० । ७ 'हि' नास्ति आ० । ८ तु सर्वदा
व०, अ० । ९ विज्ञानविरू-आ० ।

जडतया इत्थं विज्ञानानुपपत्तेः । न खलु जडस्वरूपो घटादिः विरूपतकतयाऽहमनेन ज्ञातोऽतो नैतस्मै फलं सम्पादयामि' इति स्वयं संवेदयमानो दृष्टः जडाजडयोः स्वरूप-सङ्करप्रसङ्गात् । स्वरूपप्रतिपत्तौ हि परमुखप्रेक्षित्वं जडस्य स्वरूपम् तन्निरपेक्षत्वं तु अजडस्य तदित्थं सङ्कीर्णतः ।

किञ्च, विज्ञातापि प्रकृतिः संसारदशावत् मोक्षदशायामपि आत्मनो भोगसम्पाद-
नाय स्वभावतो वायुवत् प्रवर्त्तताम् तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्ति-
स्वभावो वायुः विरूपकतया येन ज्ञातः तं प्रति तैत्स्वभावादुपरमते, अतः कुतो मोक्षः स्यात् ?
तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपतानुपपत्तिः, पूर्वस्वभावत्यागेन उत्तरस्वभावोपादानस्य
तत्र विरोधात्, परिणामिनित्ये एव तदविरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे
आत्मनोऽपि तदभ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि प्राक्तनसुखानुपभोक्तृस्वभावपरिहारेण तदभो-
क्तृस्वभावस्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तादिस्वभावोपादानाच्च । सिद्धे चास्य
परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याऽभ्युपगन्तव्यम्, इति सिद्धः—
मोक्षेऽप्यात्मा विशुद्धज्ञानादिस्वभाव इति ॥ छ ॥

ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेद-
विशेषगुणोच्छेदरूपा रूपत्वात्तस्य । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन हि आत्मस्वरूपे प्रतिपन्ने मनःप्रणिधा-
मुक्तिरिति योगस्य नपूर्विकायां भावनार्यां प्रकृषप्राप्तायां परिपाकं प्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवाना-
पूर्वपक्षः— मात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वस्वरूपेण आत्मनोऽवस्थानं मोक्षः ।

गसौभाग्या पण्यवनितेव नासौ नियमेन व्यवहर्तुमर्हतीत्यास्तामेतत् ।"—न्यायमं० पृ० ४१२ । "प्रकृते-
जडतयेत्थं विज्ञानानुपपत्तेः ।"—षड्व० बृह० श्लो० ५२ ।

(१) घटादेरपि स्वयं विवेकेन प्रवृत्तौ । (२) तुलना—“अस्या अचेतनतया विमृश्यकारित्वा-
भावात् । यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलभ्ये पुनस्तदर्थं प्रवर्तते तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं
प्रवर्तिष्यते स्वभावस्यानपायित्वात् ।”—प्रश्न० कन्द० पृ० ४ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (३) प्रवर्तक-
स्वभावात् । (४) “सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्त-
व्यमन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्गः ।”—षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (५) “नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तो-
च्छित्तिमोक्षः ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० ६३८ । “आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका, द्विविध-
दुःखावमर्शिता सर्वनाम्ना सर्वेषामात्मगुणानां दुःखावमर्शाद् अत्यन्तप्रहणेन च सर्वात्मना तद्विद्योगाभि-
धानात् नवानामात्मगुणानां बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां निर्मलोच्छेदोऽपवर्ग इत्युक्तं
भवति । यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः । तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नवकल्पते ॥”—
न्यायमं० पृ० ५०८ । (६) “ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ? स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तो-
ऽखिलैर्गुणैः ॥”—न्यायमं० पृ० ५०८ । “समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरिव ।”—प्रश्न०
कन्द० पृ० २८७ । “निःश्रेयसं पुनर्द्वानिवृत्तिरात्यन्तिकी”—प्रश्न० किर० पृ० ६ । “तत्सिद्धमेतत् नित्य-
संवेद्यम्, अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखानिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति ।”—न्यायसा० पृ० ४१ ।

१ जडत्वरूपो व० । २ तस्यै फलं व० । ३ स्वयं वेदय—अ० । ४ संकीर्णतये व० । ५ विरु-
पतया आ०, अ० । ६-वृत्तस्वभा—अ० । ७-च्छेदस्वरूप—व० ।

तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तान-
त्वात्, प्रदीपादिसन्तानवत् । नचायमसिद्धो हेतुः; पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात् । नापि विरुद्धः;
सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्यनैकान्तिकः; पक्षसपक्षद् विपक्षे परमाणादावप्रवृत्तेः ।
नापि कालात्ययापदिष्टः; विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरत्राऽसंभवात् । नापि
5 सत्यतिपक्षः; प्रतिपक्षप्रसाधकानुमानासंभवात् ।

ननु सन्तानोच्छेदरूपेऽपि मोक्षे कश्चिदेतुर्वक्तव्यः °निर्हेतुकविनाशाऽनभ्युपगमात्
इति च नै शङ्कनीयम्; तर्त्तवज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात् । तत्तल्लु विपर्ययज्ञानव्यच्छेदक्रमेण
निःश्रेयसहेतुः । दृष्टञ्च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम् । निवृत्ते
च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो निवर्त्तन्ते कारणाभावे °कार्यानुत्पादात् । रागाद्यभावे
10 च तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिः व्यावर्त्तते । तत्रावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः ।
आरब्धशरीरेन्द्रियविषय+कार्ययोस्तु सुखादिफलोपभोगात् प्रक्षयः, अनारब्धतत्कार्ययोर-
प्यवस्थितयोः तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः । तथा चागमः-

“नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि” [] इति ।

(१) “नवानामात्मगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्त-
मुच्छिद्यमानो दृष्टः यथा प्रदीपसन्तानः, तथा चायं सन्तानः, तस्मात् अत्यन्तमुच्छिद्यते ।”-प्रश्न० ध्यो०
पृ० २० क० । “दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवदित्याचार्याः ।”-प्रश्न० किर०
पृ० ९ । (२) “ज्ञानपूर्वकात् कृतादसंकल्पितफलाद् विमुक्षे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोरा-
चार्यमुपसङ्गम्य उत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ धिरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्मा-
धर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदञ्च उत्पन्न रागादिनिवृत्तौ
निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनं सुखं कृत्वा निवर्तते । तदा निरोधान्निर्वीजस्य आत्मनः
शरीरादिनिवृत्तिः, पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति ।”-प्रश्न० भा० पृ० ६४४ ।
“ब्रह्मगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः ।”-
प्रश्न० भा० पृ० २० ज० । “तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः”-न्यायसू० १।१।१ । (३) “दुःखजन्मप्रवृत्ति-
दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।”-न्यायसू० १।१।२ । “ते इमे मिथ्याज्ञानादयो
दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः संसार इति । यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा
मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति,
दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति ।”-न्यायभा० १।१।२ । “तथा ह्युपलब्धं सम्यग्ज्ञानस्य
मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शुक्तिकादाविति ।”-प्रश्न० ध्यो० पृ० २० क० । (४) “निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने
तन्मूलत्वाग्रागदयो नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति । रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्या-
वर्त्तते, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षयः ।”-प्रश्न० ध्यो० पृ० २०
क० । (५) उद्धृतोऽयम्-“यथोक्तम्-नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं
कर्म शुभाशुभम् ॥”-प्रश्न० ध्यो० पृ० २० ख० । धर्मसं० पृ० २२५ । प्रमेयक० पृ० ३०८ । सम्प्रति०
टी० पृ० १०५ । चित्तु० पृ० ३५१ । “अवश्यमेव भोक्तव्यं...”-धर्मसि० टी० पृ० १३ ।

1 पटाक्षि-ब० । 2 ननु तत्सन्ता-ब०, श्र० । 3 निर्हेतुविना-आ० । 4 न राकनीयम् तत्र
ज्ञान-आ० । † एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 5-नुपपत्तिः श्र०, ब० । 6 ‘इति’ नास्ति श्र० ।

अत्रैवार्थे अनुमानम्—पूर्वकर्माणि उपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरादिकर्मवत् । नच उपभोगात् तत्प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यकभावात् संसारानुच्छेदः; समाधिबलदुत्पन्न-
तत्त्वज्ञानस्य अवगतकर्मसामर्थ्यादिदित्युगपदेशेष्वशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य उपात्त-
कर्मप्रक्षयात् भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिध्याज्ञानजनिताऽनुसन्धानविकलत्वाच्च संसारो-
च्छेदोपपत्तेः । अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ, 'अनुसन्धीयते गतं चित्ताभाभ्याम्' इति व्युत्पत्तेः । 5

अथ मिथ्याज्ञानभावे तत्त्वज्ञानिनः तदुपभोक्तुमभिलाषस्थैवाऽसंभवात् तदुप-
भोगानुपपत्तिः; तन्न; तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तिः तत्त्वज्ञानिनः तदुप-
भोक्तुमभिलाषाभावेऽपि कर्मक्षयार्थितया तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः वैद्योपदेशेन आतुरवदौषधा-
चरणे । यथैव हि आतुरस्य अतभिलषितेऽपि औषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः तद्व्य-
तिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेः, एवमत्रापि । 'विवादापन्नः शरीरादिनिवृत्तौ आत्मा सर्ववैषयि-
कमुखदुःखशून्यः, समस्तधर्माधर्मशून्यत्वात्, यस्तु वैषयिकमुखदुःखवात्तास्तौ समस्तधर्मा-
धर्मशून्यः यथा संसार्यात्मा, समस्तधर्माधर्मशून्यश्च मुक्तात्मा, तस्मात् सर्ववैषयिकमुख-
दुःखशून्यः' इत्यनुमानात्, "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं
प्रियाप्रिये न स्पृशतः" [छान्दो ८।१२।१] इत्यागमाच्चासौ तदौ तर्ह्युच्यते सिद्ध इति ॥४॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'सन्तानत्वान्' इत्यादि; तदसमीचीनम्; 15
तत्प्रतिविधानपुरस्सरं यस्माद् आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां सन्तानस्य
मोक्षस्य ज्ञानाद्यात्म- उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथञ्चिद्विज्ञानां वा ? तत्रा-
कत्वप्रसाधनम्— यपक्षे आश्रयासिद्धौ हेतुः; आत्मनोऽत्यन्तभिन्नानां तद्विशेषगुणानां

(१) "पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, यद्यत्कर्म तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्ध-
शरीरं कर्म, तथा चामूनि कर्माणि, तस्मादुपभोगादेव क्षीयन्ते ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ख० । (२)
"समाधिबलदुत्पन्नतत्त्वज्ञानो हि कर्मणाञ्च साध्यमर्थं विदित्वा युगपच्छरीराणि निर्भाव्योपभोगाः"—
प्रश्न० व्यो० पृ० २० ख० । (३) "जानन्नपि हि तदतिथया प्रवर्तत एव वैद्योपदेशादातुरवदौषधाचरणे"
—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ख० । (४) "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः बाह्याविषयसंयो-
गवियोगनिमित्तयोः बाह्याविषयसंयोगवियोगी ममेति मन्यमानस्य अपहृतिविभासा उच्छेदः सन्तिस्वरूपयो-
र्नास्तीति । तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निर्वर्तिताऽविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रिये न
स्पृशतः । स्पृशतिः प्रत्येकं सम्बध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति—'धर्मा-
धर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न
प्रियाप्रिये स्पृशतः ।"—छान्दो० शां० भा० । उद्धृतोऽयम्—न्यायमं० पृ० ५०९ । ब्रह्म० शां० भा०
१।१।४ । यश० उ० पृ० २५४ । स्या० २० पृ० १११० । षड्व० बृह० दलो० ५२ । स्या० सं० पृ०
७२ । न्यायसारटी० पृ० २८३ । वित्तु० पृ० ३५३ । (५) अशरीरावस्थायाम् । (६) वैषयिकमुख-
दुःखप्रयोजकधर्माधर्मशून्यः । (७) पृ० ८२४ पं० १ । (८) तुलना—'यत आत्मनः सर्वथा भिन्नानां
बुद्ध्यादिगुणानां सन्तानस्योच्छेदः साध्यते, अभिन्नानां वा, कथञ्चिद् भिन्नानां वा ?"—षड्व० बृह०
दलो० ५२ । प्रमेयकं० पृ० ३१७ ।

प्रागेव असत्त्वप्रतिपादनतस्तत्सन्तानस्य धर्मिणोऽसिद्धेः । तथा तेषां भवता अस्वसंवि-
दितत्वोपगमात्, ज्ञानान्तरवेद्यत्वे च अनवस्थादिदोषानुषङ्गात्, अज्ञातानाञ्च सत्त्वा-
ऽसंभवादितोऽप्यश्रयासिद्धत्वम् । आत्मनः सर्वथाऽभिन्नानां तु तेषां तत्साधने
तद्वत्तत्साध्यव्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्षः स्यात् ? कथञ्चित्तदभेदस्तु परैर्नोभ्युप-
गम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तथापि तदभ्युपगमे सर्वथा तदुच्छेदासिद्धिः कथ-
ञ्चित्तदनुच्छेदस्याप्येवं प्रसिद्धेः ।

सन्तानत्वञ्च साधनं सामान्यरूपम्, विशेषरूपं वा ? यदि सामान्यरूपम्;
तदा स्वरूपासिद्धो हेतुः; व्यक्तिभ्यः सर्वथा भिन्नस्यास्य सामान्यपरीक्षायां प्रतिक्षिप्त-
त्वात् । अस्तु वा तद्वत् तत्; तथापि परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूपं वा स्यात् ?
10 प्रथमपक्षे गगनादिनाऽनेकान्तः, अत्यन्तोच्छेदाभावेऽपि अत्र सत्तापरपर्यायस्य सन्तान-
त्वहेतोः सद्भावात् । अथ अपरसामान्यरूपम्, विशेषगुणाश्रिता हि जातिः सन्तान-
त्वम्; तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपे तस्यासंभवात् साधनविकलो दृष्टान्तः ।

अथ विशेषरूपम्; तत्रापि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिक्षणलक्षणविशेषरूपम्,
पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूपं वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्य असाधारणाऽनैका-
15 न्तिकत्वम्, तल्लक्षणस्यास्य अन्यत्र कचिदप्यप्रवृत्तेः । अभ्युपगमविरोधश्च, बुद्ध्यादि-
क्षणानाम् उपादानोपादेयभावस्य यौगैरनभ्युपगमात्, अन्यथा तत्सन्तानस्य अत्यन्तो-
च्छेदो न स्यात् मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणाद् उत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्या-
दिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु पीकजपरमाणुरूपादिना अनेकान्तः; तथाविध-

(१) बुद्ध्यादिगुणानाम् । तुलना-“तथा बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानां परेण स्वसंविदितत्वेना-
नभ्युपगमात् ज्ञानान्तरप्राप्त्यत्वे वाऽनवस्थादिदोषप्रसक्तेरवेद्यत्वमित्यज्ञातस्य सत्त्वासिद्धेः पुनरप्याश्रया-
सिद्धः सन्तानत्वादिति हेतुः ।”-सम्मतं ० टी० पृ० १५६ । प्रमेयकं पृ० ३१७ । (२) वैशेषिकेण ।
(३) विशेषगुणवदात्मनोपि । (४) कथञ्चित्तदभेदप्रकारेण । (५) “सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपादीयमानं
यदि सामान्यमभिप्रेतं तदा बुद्ध्यादिविशेषगुणेषु प्रदीपे च ततोऽत्रैवं सत्तासामान्यव्यतिरेकेण अपरसामा-
न्यस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धः । सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य सत्सिद्धिर्निप्रत्ययहेतुत्वमेव न पुनः
सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम्”-सम्मतं ० टी० पृ० १५६ । प्रमेयकं पृ० ३१७ । (६) पृ० २८७ । (७) तुलना-
“किमुपादानोपादेयभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानत्वम्, कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवृत्तिः, अपरापरपर्यायार्थोत्पत्ति-
मात्रं वा ?”-रत्नाकराव० ७।५७ । प्रमेयकं पृ० ३१७ । “ननु किमिदं सन्तानत्वम्-स्वतन्त्रम्,
अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ?”-स्या० सं० पृ० ८३ । “किं कार्यकारण-
भावेन प्रवृत्तिः, एकाधारापरोत्पत्तिर्वा ?”-न्यायसारीटी० पृ० २८७ । (८) “सर्वसंप्रसाविषयव्यावृ-
त्तिरसाधारणः ।”-तर्कसं० अन्० । “नन्वेवं तस्य तथाभूतस्यान्यत्राननुवृत्तेरसाधारणानैकात्मिकत्वम्
अभ्युपगमविरोधश्च ।”-सम्मतं ० टी० पृ० १५७ । प्रमेयकं पृ० ३१८ । (९) संपक्षे । (१०)
तुलना-“पाथिवपरमाणुरूपादिसन्तानेन व्यभिचारात् ।”-प्रश० कण्ड० पृ० ४ । “अनैकात्मिकश्च

१ अशुभानाञ्च ब० । २ तत्तद्वत् तथापि ब० । ३ अत्र सत्ताभावेऽप्यत्र सत्तापर-अ० ।
४-गत्यान्यत्र अ० । ५-ममधर्मविरो-अ० । ६ उत्तरोपादेयबु-अ० ।

सन्तानत्वस्यात्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदासंभवात् ।

विरुद्धश्चायं हेतुः; कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोर-
संभवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य अनेकान्त एव प्रतिपादितत्वात् । सौध्यविकलश्च दृष्टान्तः,
प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तस्य स्वरूपान्तरेण अवस्थानात् । न च ध्वस्तस्यापि
प्रदीपादे रूपान्तरेणावस्थानोपगमे प्रत्यक्षबाधा; वारिस्थिते तेजसि भासुरूपोपगमेऽपि
तत्प्रसङ्गात् । अथ उष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसंभवात् तत्र
अनुद्भूतस्यास्य परिकल्पनम्; तर्हि प्रदीपादेरपि अनुपादानोत्पत्तेरिव अन्यावस्थातोऽ-
परापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सत्त्वकृतत्वादेरनुपपत्तेः अत्यन्तसन्तत्यनुच्छेदोऽपि
परिकल्प्यतामविशेषात् । प्रयोगैः—पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान्
प्रदीपादिः सत्त्वादिभ्यः पैटादिवत् । सत्यतिपक्षश्चायं हेतुः; तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो
नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, य एवंविधः स न तत्त्वे-
नोपादेयः यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति ।
नच प्रस्तुतानुमानादेव सन्तानोच्छेदोपलब्धेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वमसि-
द्धमित्यभिधातव्यम्; अस्य अनेकदोषदुष्टतयाऽननुमानत्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अतोऽनुमानात् इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, 15
अतीन्द्रियाणां वा ? तत्राद्यविकल्पे सिद्धसाधनम्; अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् ।
द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः; अतीन्द्रियाणां तेषामत्यन्तोच्छेदे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनु-
पाकजपरमाणुरूपादिभिः, तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदाभावात् ।” —सम्मति०
टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० सं० पृ० ८४ । व्यासराटी०
पृ० २८७ । चित्सु० पृ० ३५७ ।

(१) “विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात् ।”
—सम्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ ।
(२) पृ० ३७२ । (३) “साधनविकलश्च दृष्टान्तः; प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तेजसपरमाणूनां
भास्वरूपपरित्यागेन अन्धकाररूपतयाऽवस्थानात् ।” —षड्व० बृह० श्लो० ५२ । व्यासराटी० पृ०
२८७ । रत्नाकराव० ७।५७ । (४) उष्णजलस्थिते तेजोद्रव्ये । (५) भासुररूपस्य । (६) तुलना—“तर्हि
प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवन्न सन्ततिविषयभावमन्तरेण विपत्तिः संभवतीत्यनुमानतः किञ्च कल्प्यते
तत्सन्तत्यनुच्छेदः ।” —सम्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (७) “पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गी-
कारस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपः सत्त्वात् घटादिवत् ।” —षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (८) “न चास-
त्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य । तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान् सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्”
—सम्मति० टी० पृ० १५८ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) “किञ्चेन्द्रियजानां बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेदः
साध्यमानोऽस्ति उत अतीन्द्रियाणाम् ?” —षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (१०) “तैष्यहेतुकानां बुद्ध्या-
दीनामात्मान्तःकरणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं बुद्धानां न निवार्यन्ते, कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रथमसुखा-
नन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात् । ततः कथञ्चिद् बुद्ध्यादिविशेषगुणानां
निवृत्तिः कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते ।” —अष्टसह० पृ० ६८ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ ।

१—पादेस्वरूपा—व०, ध० । २—स्पत्तेरेवान्धा—व० । ३ पदादिवत् आ० ।

पपत्तेः । मोक्षार्थी हि सर्वो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्त्तते न पुनः सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदाभिलाषेण, अस्य केनचिदप्यनभिलषणीयत्वात् । न हि कश्चित् प्रेक्षावान् आत्मनः सद्गुणोच्छेदाय यतते तदुत्कर्षणार्थमेवास्य प्रयत्नप्रतीतेः । यदि हि मोक्षावस्थायां शिलाशकलकल्पः अपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः सम्पद्यते तदा कृतं मोक्षेण ! संसार एव वरमस्तु यत्र सान्तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरस्ति । तच्चिन्त्यतामिदम्—
 5 'किम् अल्पसुखानुभवो भद्रकः, किं वा सकलसुखोच्छेदः' इति ? अतो न वैशेषिकोपकल्पिते निखिलगुणोच्छेदलक्षणे पाषाणकल्पे मोक्षे कस्यचिद् गन्तुमिच्छान्युपपन्ना । उक्तञ्च—

“वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं प्रपद्यते ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥” [] इति ।

10 किञ्च, मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभावः कारणाभावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे कस्य कारणस्य तत्राऽभावः—चक्षुरादेः, तत्प्रतिबन्धकापायस्य वा ? चक्षुरादेश्चेत् ; तर्हि तज्जन्यस्यैव ज्ञानादेः तत्राभावः स्यात् नान्यस्य, अतः सिद्धसाध्यता । ननु सर्वस्य ज्ञानादेः धर्माधर्मशरीरेन्द्रियादिकारणकलापाधीनजन्मत्वात् तदभावे ज्ञानादेरेवाऽसंभवात् कथं सिद्धसाध्यता ? ईत्यप्यसाधीयः ; महेश्वरज्ञानाद्यभावानुषङ्गात् । नित्यत्वात् तज्ज्ञानादेरेदोषोयम् ; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम् ; तन्नित्यत्वस्य ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके^१ प्रतिव्यूहत्वात् । ततः चक्षुराद्यपयोऽपि ईश्वरस्य प्रतिबन्धकापायप्रभवं ज्ञानाद्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वद् अन्यमुक्तात्मनामपि तेषां तत्त्वभावत्वात् । नच स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थानं युक्तमतिप्रसङ्गात् । अथ मुक्तस्य कृतकृत्यतया ज्ञानादिना प्रयोजनाभावात् मुक्तौ तदभावः ; तन्न ; प्रतिबन्धकापायोपेतस्य आत्मस्वरूपस्यैव एवंविधत्वेन निष्प्रयोजनवासिद्धेः । अनन्तज्ञानादिलक्षणविशिष्टगुणवाप्तिरेव च आत्मनः
 20 कृतकृत्यता न पुनः निखिलगुणोच्छेदः, गुणोत्कर्षे एव लोकेऽपि कृतकृत्यशब्दप्रयोगप्रतीतेः । एतेन विरुद्धत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तः ; स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधाऽसंभवात् । मुक्तौ तेषां विरोधान्युपगमे च महेश्वरेष्वेव विरोधतोऽभावानुषङ्गात् लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् ।

किञ्च, बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्यन्तिकोच्छेदस्य मोक्षरूपतायां संसारस्वरूपं
 25 वक्तव्यम्—तत्सखल तद्विशेषगुणानुच्छेदः, भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य संसारित्वप्रसङ्गः । तैतोऽन्येषामेव तदनुच्छेदः तैल्लक्षणम् अतो नार्थं संसारित्वानुषङ्गः ; इत्यपि श्रद्धामात्रम् ; अर्धजरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात् । असाधारणं हि स्वरूपं भावस्य
 (१) “अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति । न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गीतम् ।”

—सम्बन्धवा० श्लो० ४२३ । विवरणप्र० पृ० १३७ । “वरं वृन्दावने वासः शृगालैश्च सहोषितम् ।”

—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । “वरं वृन्दावने रम्ये श्रोष्टृत्वमभिलाञ्छितम्” —स्या० मं० पृ० ८६ ।

(२) मुक्तौ । (३) पृ० १०८ । (४) अनन्तज्ञानादिविशिष्टत्वेन । (५) ज्ञानादीनाम् । (६) महेश्वरान्तरिकत्वाप्रमाणानाम् । (७) संसारलक्षणम् । (८) महेश्वरस्य । (९) द्रष्टव्यम्—पृ० १६८ टि० १११ ।

१ केनचदनभिल—आ० । २ इत्यप्यप्रसा—व० । ३ ‘च’ नास्ति श्र० । ४ अतोस्य आ० ।

लक्षणम् । तद्यदि तदनुच्छेदः संसारलक्षणम्, तर्हि यत्रासौ अस्ति तत्र सर्वत्र संसारित्वप्रसङ्गः सुक्तस्वरूपेणार्थं विरोधात् । द्वितीयपक्षे तु अस्मन्मतसिद्धिः, 'स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः' इत्यस्माभिरभ्युपगमात् ।

किञ्च, अत्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे प्रदीपनिर्वाणवादिनः भवन्तः को विशेषः स्यात् ? तत्र हि स्वरूपेण आत्मनोऽसत्त्वम्, भवन्मते तु सतोऽप्यस्य सर्वथा तद्विकलस्य ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाभूतं हि तत्स्वरूपं प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयते ? न तावत् प्रत्यक्षतः; मोक्षावस्थायां तस्यैवाऽसंभवात् । नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षाभावे भवन्मते अनुमानानुदयात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तस्याभ्युपगमात् ।

यदपि—तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमुक्तम्; तदुपपन्नम्; संसकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदहेतुत्वं तु तस्यैवोपपन्नम्; स्वविरुद्धमिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदहेतुत्वस्यैव तत्रोपपत्तेः शुक्तिकादौ तथादर्शनात् । ननु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ रागाद्यनुत्पत्तेः तत्पूर्वकधर्माप्रादुर्भावतः शरीराद्यसंभवे सिद्ध एव मोक्षदशायां सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदः; इत्यप्येषलम्; शरीरादेरभावेपि अनन्ततीन्द्रियाऽखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्य उच्छेदासिद्धेः, इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानस्यैव तदभावेऽभावप्रसिद्धेः, तत्र च सिद्धसाधनम् इत्युक्तम् । अतीन्द्रियज्ञानादिसद्भावश्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसार्धितः ।

यत्तूक्तम्—'आरब्ध' इत्यादि; तदपि न सूक्तम्; उपभोगात् कर्मणामालयान्तिकप्रक्षयानुपपत्तेः । तदुपभोगसमये हि अपरकर्मोत्पत्तिकारणस्य अभिलाषपूर्वकमनोवाकायव्यापारादेः संभवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः कथमालयान्तिकप्रक्षयः ?

यदपि 'समाधिवलात्' इत्याद्युक्तम्; तदप्युक्तम्; अभिलाषरूपरागाद्यभावे साति-

(१) ज्ञानाद्यनुच्छेदः । (२) ज्ञानाद्यनुच्छेदस्य । (३) "कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः"—सर्वार्थसि० ९।७ । "आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।"—राजवा० २।१० । "यदवष्टम्भेनात्मनः संसरणमितश्चेतश्च गमनं भवति स संसारः; अथवा बलवतो मोहस्याख्या संसारः, नारकाद्यवस्था वा संसारः ।"—तत्त्वार्थभा० व्या० २।१० । (४) बौद्धात् । "यस्मिन् जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः । नेच्छाविपक्षप्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् । दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्तेन हृष्यात् केवलमेति शान्तिम् । एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्तेन हृष्यात् केवलमेति शान्तिम् ॥"—सौन्दरनन्द० १६।२७-२९ । (५) वैशेषिकस्य । (६) बौद्धमते । (७) वैशेषिकसिद्धान्ते । (८) 'असत्त्वम्' इति शेषः । (९) सकलबुद्ध्यादिगुणशून्यम् । (१०) प्रत्यक्षस्यैव । (११) "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्"—न्यायसू० १।१।५ । (१२) पृ० ८२४ पं० ७ । (१३) तत्त्वज्ञानस्य । (१४) शरीराभावे । (१५) पृ० ८९-१ । (१६) पृ० ८२४ पं० ११ । (१७) "उपभोगात् कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमये"—प्रमेयक० पृ० ३१९ । सम्मतं । टी० पृ० १५९ । (१८) समुद्भवतः । (१९) पृ० ८२५ पं० २ । (२०) "अभिलाषरूपरागाद्यभावे

१ तत्र संसा-ब० । २ अत्यन्तबुद्ध्या-अ० । ३ भवता को आ० । ४ तदन्तर्गतः पादो नास्ति आ०, ब० । ५ अनुपपत्तेः आ० । ६ उच्छेदसिद्धेः आ० । ७ तदभावाभावप्र-ब० । ८ समयो हि अ० ।

शयर्द्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि तत्त्वज्ञानादवगतकर्मसामर्थ्यस्य नानाशरीराणि विधाय अङ्गनाद्युपभोगाऽसंभवात् । तत्संभवे वा अवश्यम्भावी नृपत्यादेरिव अतिभोगिनो योगिनोऽपि प्रचुरतरकर्मसंभवः ।

यदपि—‘वैद्योपदेशेन’ इत्याद्याभिहितम् ; तदप्यभिधानमात्रम् ; आतुरस्यापि 5 नीरुग्भावाभिलाषेणैव औषध्याद्याचरणे प्रवृत्त्युपपत्तेः, अतः कथं तददृष्टान्तात् निरभिलाषस्यापि तत्त्वज्ञानिनः तत्त्वज्ञानमात्रात् कर्मक्षयार्थितया अङ्गनाद्युपभोगः साधयितुं शक्यः, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् ? तत्र अशेषशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य इत्यलं विवादेन, जीवन्मुक्तेरिव परममुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव कैरणादुत्पत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकम् अतः तन्निवर्त्तकेनापि 10 त्रितयात्मकेनैव भवितव्यम्, एकरूपेण सम्यग्ज्ञानादिमात्रेण अस्य निवर्त्तयितुमशक्तेः । सम्यग्ज्ञानं हि विपरीताभिनिवेशविविक्ताऽऽत्मस्वरूपस्वभावसम्यग्दर्शनोपचितं बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्र्योपबृंहितं त्रितयात्मकमेव आगामिकर्मानुत्पत्तौ सञ्चितकर्मक्षये च समर्थम्, उष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ प्रवृत्ततत्स्पर्शप्रध्वंसे च सामर्थ्यवत् ।

यदपि—‘विवादापन्नः शरीरादिनिवृत्तावात्मा’ इत्याद्यनुमानम् ‘न ह वै’ इत्याद्या- 15 गमश्च आत्मनः सर्ववैषयिकसुखादिशून्यतायां प्रमाणम्’ इत्युक्तम् ; तदप्ययुक्तमेव ; सिद्धसाधनात्, शरीरादिनिवृत्तौ हि संमस्तधर्मादिनिवृत्तेः तत्प्रभवमेव सुखादि मुक्तात्मनो निवर्त्तते न स्वात्मोत्थम् । यद्धि यत्कार्यं तत् तदभावे न भवति नान्यदतिप्रसङ्गात् । धर्माद्यभावे कुतस्तत्तदुत्पत्तिः इति चेत् ? ‘प्रैतिबन्धायात्’ इत्यसकृदा- 20 वेदितम् । अतः परमकाष्ठाप्राप्तं सम्यग्दर्शनादित्रयं परमप्रकर्षप्राप्तज्ञानादिवस्वरूपं मोक्षं प्रसाधयतीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यमिति ॥ छ ॥

स्थ्याद्युपभोगासंभवात् ।”-सम्मतं० टी० पृ० १५९ । प्रमेयक० पृ० १३९ ।

(१) स्थ्यादिभोगे क्रियमाणे तु । (२) पृ० ८२५ पं० ८ । (३) “वैद्योपदेशप्रवर्तमानानु-
रुद्धान्तोऽप्यसंगतः.....”-सम्मतं० पृ० १६० । प्रमेयक० पृ० ३१९ । (४) योगिनः । (५)
‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’-तत्त्वार्थसू० १ । १ । “नादसंनिस्त नाणं नाणेण विमा न
हुमिति चरणगुणः । अगुणिस्त गण्ठि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वानं ॥”-उत्तरा० २८।३० । (६)
संसारस्य । (७) पृ० ८२५ पं० १०, १३ । (८) तुलना—“शुभाशुबादृष्टपरिपाकप्रभवेन भवसंभवानी हि
प्रियाप्रिये परस्परानुषङ्गे अपेक्षायां व्यवस्थितः, सकलादृष्टक्षयकारणकं पुनरैकान्तिकात्यात्मिकरूपं
केवलमेव प्रियं निःश्रेयसदायापिमिष्यते तत्कुतः प्रतिपिष्यते ?”-रत्नाकराव० ७।५७ । स्वा० मं०
पृ० ८५ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (९) स्वात्मोत्थसुखादिसमुत्पत्तिः ।

१ औषधाद्या-व०, श्र० । २-नुपपत्तिः आ०, व० । ३-दर्शनचारित्र-श्र० । ४ कारणानुपपत्तिः
व०, कारणानुत्पत्तेः आ० । ५ त्रयात्मकेनैव व० । ६-रूपस्य भावसमा-आ० । ७ समस्तकर्मादि-व० ।
८ प्रतिबन्धाया-श्र० । ९ परमप्रकर्ष-आ० । १०-सव्यम् आ० ।

ननु परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्वभावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादिस्वभावता, आनन्दरूपो मोक्षः तत्र प्रमाणाभावात् । सुखस्वभावतायां तु तत्सद्भावादसौ युक्ता । इति वेदान्तिनां तथाहि—आत्मा सुखस्वभावः, अंत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, अनन्य-पूर्वपक्षः— परतयोपादीयमानत्वाच्च, यद् यदेवंविधं तत्तत्सुखस्वभावम् यथा वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा, तस्मात्सुखस्वभाव इति । तथा, आत्मा सुखस्वभावः, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशैव्वाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकसुखवदिति । इष्टार्थो मुसुक्षुर्प्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति । परमातिशयप्राप्तता च तत्सुखस्य अतोऽनुमानात्प्रसिद्धा—सुखतारतम्यं कचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवदिति । तथा आगमोऽपि आत्मनो मोक्षे तैस्त्वभावतायां प्रमाणम्—

“अनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षोऽभिव्यज्यते ।” []

“यैदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम् ।

तदा तन्नित्यमानन्दं मुक्तः स्वात्मनि विन्दति ॥” [] इति

श्रुतिसद्भावात् ।

ननु नित्यानन्दस्य आत्मनि सर्वैदा सद्भावाम्युपगमे संसारदशायामप्युपलम्भप्रस-

(१) “एष एव ह्यानन्दयति” “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वांस विभेति कदाचन”—तैत्ति० २।७।४, ९ । “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्”—तैत्ति० ३।७ । “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म”—बृहदा० ३।१।२८ । “आनन्दमयोऽस्यासात्”—ब्रह्मसू० १।१।१२ । “तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा”—शां० भा० । “ब्रह्मण्यानन्दशब्दोऽयं प्रयुक्तः सुखवाचकः । संवेद्ये च सुखे लोके आनन्दाख्या प्रयुज्यते ॥”—बृहदा० वा० ३।१।१६६ । विव० प्र० पृ० २१६ । “इत्यनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिरेव स्वतः पुरुषार्थ इत्याहुः ।”—सिद्धान्तले० पृ० ५०९ । (२) “तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयः अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा—आत्मानमेव प्रियमुपासीत ॥”—बृहदा० १।४।८ । “आत्मनः सुखरूपत्वात् आनन्दत्वं स्वलक्षणम् । परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः ॥ सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीक्ष्यते । कदापि नावधिः प्रीतिः स्वात्मनि प्राणिनां क्वचित् ॥ आत्माऽतः परमप्रेमास्पदः सर्वशरीरिणाम् । यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमुच्छति ॥ एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि । अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ॥”—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६२३-२७ । “आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वाद्”—संक्षेपशा० टी० पृ० ३०-३१ । “परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।”—चित्सु० पृ० १५८ । सिद्धान्तसि० पृ० ४४५ । (३) वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्यमुपादीयन्ते, परञ्चात्मन उपादानं तु नान्यार्थम्, स्वयमात्मा आत्मार्यमेवोपादीयते इत्यर्थः । (४) “प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्यमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमं परः ।”—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३० । (५) सुखस्वभावतायाम् । (६) ‘मोक्षेऽभिपद्यते’—प्रज्ञ० व्यो० पृ० २० ख० । “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।”—वेदान्तसि० पृ० १५१ । तुलना—“नित्यं सुखमात्मनो महत्त्वबन्धमोक्षेऽभिव्यज्यते ॥”—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायमं० पृ० ५०९ । प्रकृतपाठः—सम्मति० टी० पृ० १५१ । षडब्दं बृह० श्लो० ५२ । (७) उद्धृतोऽयम्—षडब्दं बृह० श्लो० ५२ ।

१ तत्सुख-अ० । २-शब्दवाचित्वाद्वा आ० । ३-मानातिसद्भावात् अ० ।

ज्ञात् सुक्तेरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः इति च न वाच्यम्; नित्यात्मनि सदा सद्भावेऽपि संसारदशायामावृत्तत्वेन अनभिर्व्यक्तितोऽनुपलम्भसंभवाऽविरोधात्, योगाभ्यासादावरणप्रक्षये मोक्षावस्थायां तदभिर्व्यक्तेरुपलम्भः इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘आत्मा सुखस्वभावः’ इत्यादि; तत्र किमिदं

- 5 मोक्षावस्थायां कथ- सुखस्वभावत्वं नाम—सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, सुखाधिकरणत्वं वा ?
 क्षितित्यज्ञानादि- न तावत् सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्; गुणे एव अस्मै सद्भावात् ।§ नहि
 प्रसाधनम्— एका काचिज्जातिः द्रव्यगुणयोः आत्मसुखयोः साधारणं उपलभ्यते ।§
 नापि सुखाधिकरणत्वम्; नित्याऽनित्यविकल्पाऽनतिक्रमात्—यस्य हि सुखस्य अधिकर-
 णमात्मा तत्सुखं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्; आत्मनोऽपि तैत्स्वभा-
 10 वतयाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । न खलु स्वभावाभावे तद्वतोऽवस्थानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् ।
 अथ नित्यम्; किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; जैनमतसिद्धिः, द्रव्यतो
 नित्यस्य पर्यायतश्च अनित्यस्य कथञ्चिदाविर्भावतिरोभाववतः सुखपर्यायस्य आत्मनि
 ज्ञानादिपर्यायवत् स्याद्वादिभिर्भ्युपगमात् ।

ननु मुक्तौ सुखादिपर्यायस्य अपरापरस्य आविर्भावाभ्युपगमे तत्कारणं वक्तव्यम्,

- 15 अकारणकस्य तत्पर्यायस्य आविर्भावानुपपत्तेः इति च न चेत्तसि निवेयम्; आत्मन
 एव तत्प्रतिबन्धकापायोपेतस्य तत्र तैत्कारणत्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । सौख्यादिप्रतिब-
 न्धकमोहादिकर्मापायोपेतो हि आत्मैव मोक्षावस्थायां तथाभूतसुखज्ञानादिकारणम् घटा-
 द्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकाऽपरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ । किमपेक्षोऽसौ
 तर्दा तैज्जनयतीति चेत् ? ‘तत्प्रतिबन्धकापायापेक्ष एव’ इति ब्रूमः । तथाभूतस्यास्य
 20 तदुत्पादनस्वभावतया तदाऽन्यापेक्षाऽनुपपत्तेः, यद् यदा यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदा
 तदुत्पादने अन्यापेक्षम् यथा अन्त्यावस्थायाम् अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने,
 तदुत्पादनस्वभावश्च मोक्षावस्थायाम् अतीन्द्रियसुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मा

(१) ‘तस्मावनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्धः, विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम् ।’—चित्तु० पृ० ३६१ । ‘प्रत्यगेव परानन्दस्तिरोभूतः स्वमोहतः । स्वकण्ठा-
 मीकरवत् प्राप्तप्राप्यः स्वविद्यया ॥’—वे० सि० सू० ४ । १० । ‘यद्यपि संसारदशायामविद्यावृत्तस्व-
 रूपत्वात्मा परमानन्दरूपतया न प्रथते तथापि तत्त्वविद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव
 परमानन्दस्वरूपतया प्रकाशते’—सिद्धान्तबि० पृ० ४५० । (२) पृ० ८३१ पं० ५ । (३) ‘तत्र यदि
 सुखस्वभावत्वं सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्; तन्न आत्मनि सभाव्यते गुणे एवास्योपलम्भात् । न ह्येका-
 हङ्कारादिवदपरा जातिः द्रव्यगुणयोः साधारणोपलब्धेति । अथ सुखाधिकरणत्वम्; तन्नास्ति; नित्या-
 नित्यविकल्पानुपपत्तेः ।’—प्रश० व्यो० पृ० २० ग० । (४) सुखत्वजातिसम्बन्धित्वस्य । (५) अनि-
 त्यसुखस्वभावतया । (६) मोक्षे । (७) सुखादिपर्यायाविर्भाक्कारणत्वेन । (८) मोक्षावस्थायाम् ।
 (९) सुखम् । (१०) आत्मनः ।

१ सदास्थभावेऽपि आ० । §एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०, श्र० । २ स्याद्वा विभिः ब० ।

३ तथाप्या-श्र० । ४—यं तत्तदा तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् आ० ।

इति । ईदृश्यते हि—संसारवस्थायामपि वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्ट-
ध्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियशरीरादिव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः । स एव
उत्तरोत्तरभावनाविशेषवैशदादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयन् परमकाष्ठां प्रतिपद्यते इति सर्वं
सुखम् । तैतः तद्वशायामपि तत्पर्यायस्य कथञ्चिदाविर्भावनिमित्तसद्भावात् कथञ्चिदेवा-
नित्यः सुखादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्यः ।

सर्वथा तन्नित्यत्वग्राहिणः कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवाच्च । तस्य हि ग्राहकं
प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ? प्रत्यक्षञ्चेत् ; किमैन्द्रियम्, मानसम्,
स्वसंवेदनं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः ; इन्द्रियाणां प्रतिनित्यतरूपादिगोचरचारितया
तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः ; बाह्येन्द्रिय-
निरपेक्षस्य मनसः कचिदपि प्रवृत्त्यसंभवात् । “अस्वतन्त्रं बहिर्जनः” [10
इत्यभिधानात् । बहिरेव अस्य तैन्निरपेक्षस्याप्रवृत्तिः नान्तः इति चेत् ; न ; तत्रापि
सम्बद्धस्य असम्बद्धस्य वा तस्यै स्वसंवेदनसिद्धौ तत्र ज्ञानजनकत्वप्रतिषेधार्त् । तृतीय-
विकल्पोऽप्यनुन्दरः ; तथा प्रतीत्यभावात् । नहि स्वसंवेदनप्रत्यक्षे अनवच्छिन्नदेशकाल-
कलाकलापः त्रिकालानुयायी नित्यनिरंशः सुखस्वभावोऽनुभूयते प्रतीतिविरोधात् । तत्र
प्रत्यक्षं सर्वथा नित्यसुखग्राहकम् । नाप्यनुमानम् ; सर्वथा तन्नित्यत्वाविनाभाविनः कस्य- 15
चिल्लिङ्गस्याऽसंभवात् । नाप्यागमः ; सर्वथा सुखनित्यत्वप्रतिपादकस्य तस्याप्यप्रतीतेः ।

अस्तु वा कुतश्चितन्नित्यत्वप्रतीतिः ; तथापि यैतस्तत्प्रतीतिः तत् नित्यम्, अनित्यं
वा ? न तावदनित्यम् ; तैथाविधात्ततो नित्यं तत्प्रतीतिविरोधात् । कुतश्चास्य उत्पत्तिः

(१) तुलना—उपलभ्यते च वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षोः सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यव-
स्थितस्य सेन्द्रियशरीरादिव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामा-
सादयतः परमकाष्ठागतिरपि संभाव्यते……—सम्मति० टी० पृ० १६१ । (२) तुलना—“आत्मनो नित्यसु-
खसत्तायां प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षं तावदस्मद्वादीनामन्येषां वा केषाञ्चिदस्मिन्नर्थे न प्रभवतीति केयं
कथा । अनुमानमपि न संभवति ; लिङ्गलेशानवलोकनादिति ।”—न्यायमं० पृ० ५०९ । “तस्य ग्राहकं
प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा स्यात् ?”—स्या० २० पृ० १११५ । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४३२ टि० १ । (४)
मनसः । (५) बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य । (६) अन्तः सुखादावपि । (७) मनसः । (८) पृ० १८५ ।
(९) यस्मात्संवेदनात् तन्नित्यसुखानुभवः तत्संवेदनम् । तुलना—“तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभा-
वमसंवेद्यस्वभावं वा ? संवेद्यञ्चेत् ; तत्संवेदनस्य अनन्तस्य सिद्धिः, अन्यथा अनन्तस्य सुखस्य स्वयं
संवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत् ; तदा कथं सुखं नाम ? सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः ।”
—अष्टसह० पृ० ६९ । “स किमानन्दो मुक्तावनुभूयते न वा ? यदि नानुभूयते ; स्थितोऽप्यस्थितात्
विशिष्यते अनुपभोग्यत्वात् । अनुभूयते चेत् ; अनुभवस्य कारणं वाच्यम्”—प्रश्न० कन्द० पृ० २८६ ।
“नित्यं सुखमभिव्यज्यते इति कोऽभिव्यक्त्यर्थः ? ज्ञानमिति चेत् ; नित्यमनित्यं वेति कल्पनानुपपत्तिः ।”
—न्यायवा० पृ० ८५ । “अस्तु वा यत्किञ्चित्तद्ग्राहकं तथापि तन्नित्यमनित्यं वा ?”—स्या० २० पृ०
१११६ । (१०) अनित्यसंवेदनात् ।

१—व्यापारजन्यः ब० । २—उत्तरभावना—ब० । ३—वशात्तदुत्तरोत्तर—श्र० । ४—ततस्तच्छब्दशया
—आ० । ५—कालकलापः ब० । ६—नित्यत्वप्रतीति—ब० ।

स्यात्, अनित्यस्य अनुत्पत्तिधर्मकत्वानुपपत्तेः ? इन्द्रियादिभ्यश्च तदुत्पत्त्यभ्युपगमे
 मुखविषयत्वं न प्राप्नोति इत्युक्तमनन्तरमेव । अथ योगजधर्मापेक्ष आत्ममनःसंयोग एव
 तज्जनकः; ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसंभवात् कथमसौ तत्संयोगेन अपेक्षेत यतस्तत्रै
 ततस्तदुत्पत्तिः स्यात् ? अर्थ आद्यं योगजधर्मापेक्षः तत्संयोगः ज्ञानं जनयति, तच्छा-
 5 पेक्ष्य उत्तरोत्तरं ज्ञानमसौ जनयति इति; तदप्यसाम्प्रतम्; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । नहि
 शरीरसम्बन्धानपेक्षं ज्ञानं तत्संयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणमिति भवतां राद्धान्तः,
 तदपेक्षस्यैव तस्य तदुत्पत्तौ कृतान्ते तत्सहकारिकरणत्वोपवर्णनात् ।

अथ नित्यम्; तदा मुक्तेरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, सुखतत्संवेदनयोः नित्य-
 त्वेन उभयत्र सद्भावोऽविशेषात् । इन्द्रियजसुखेन चार्थं संसारावस्थायां साहचर्यो-
 10 भवप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः स्यात् । प्रतिबद्धत्वात्तर्दा तस्याऽनुपलम्भ इति चेत्;
 केनार्थं प्रतिबद्धत्वम्-शरीरेण, अविद्यया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन
 वा ? न तावत् शरीरेण; अस्य सुखसाधकत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात् । नहि यद् यदर्थं

(१) “अनित्यत्वे हेतुवचनम्”—न्यायभा० १।१।२२। (२) संवेदनोत्पत्तिस्वीकरणे । (३) तुलना-
 “आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम् । धर्मस्य कारणवचनम्—यदि धर्मो निमित्तान्तरम्,
 तस्य हेतुत्वान्नो यत उत्पद्यत इति ? योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्तिः—यदि
 योगसमाधिर्नो धर्मो हेतुः; तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्ततेति ।”—न्यायभा०
 १।१।२२ । न्यायवा० पृ० ८५ । न्यायवा० ता० पृ० २४० । (४) आत्ममनःसंयोगेन । (५) मुक्तौ ।
 (६) योगजधर्मापेक्षादात्ममनःसंयोगात् । (७) ज्ञानोत्पत्तिः । (८) तुलना—“अथाद्यसंयोगजधर्मादुपजातं
 विज्ञानमपेक्ष्य उत्तरं विज्ञानं तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानम्; तन्न; प्रमाणाभावात् । तथा च शरीरसम्ब-
 न्धानपेक्षं विज्ञानमेव आत्मान्तःकरणसंयोगस्य अपेक्षाकारणमिति न दृष्टम् ।”—प्रज्ञा० व्यो० पृ० २०
 ग० । “अथ आद्यं ज्ञानं योगजधर्मापेक्षस्तत्संयोगो जनयति”—स्या० २० पृ० १११६ । (९) ज्ञानम्
 कर्मभूतम् । (१०) आत्ममनःसंयोगः । (११) आद्यज्ञानम् । (१२) आत्ममनःसंयोगः । (१३)
 आत्ममनःसंयोगस्य । (१४) शरीरसम्बन्धापेक्षस्यैव । (१५) आत्ममनःसंयोगस्य । (१६) तुलना-
 “सुखवन्नित्यमिति चेत्; संसारस्थस्य मुक्तेनाविषयः, अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं योगपदं
 गृह्येत—यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यसंवेदनस्य च
 सहभावः योगपदं गृह्येत । न सुखाभावः नानभिद्यवितरस्ति, उभयस्य नित्यत्वात् ।”—न्यायभा०, बा०
 १।१।२२ । “ततश्च धर्माधर्मफलाभ्यां सुखदुःखाभ्यामस्य नित्यस्य सुखस्य साहचर्यमनुभूयेत ।”—न्यायमं०
 पृ० ५१० । स्या० २० पृ० १११६ । (१७) नित्यसुखस्य । (१८) संसारावस्थायाम् । (१९)
 “केनास्य प्रतिबद्धत्वम्-शरीरेण, अविद्यया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ?”—स्या०
 २० पृ० १११६ । (२०) शरीरस्य । तुलना—“शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत्; न;
 शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य ज्ञाननुमानात् । स्वान्तम्-संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो
 नित्यसुखसंवेदनहेतुः प्रतिबन्धकः तेनाविषयो नास्तीति; एतच्चायुक्तम्; शरीरादय उपभोगार्थाः ते
 भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम् । न चास्त्यनुमानम्-अशरीरस्य आत्मनो भोगः कश्चिदस्तीति ।”—
 न्यायभा० १।१।२२ । न्यायवा० पृ० ८६ । न्यायवा० ता० पृ० २४० । न्यायमं० पृ० ५१० ।

तत् तस्यैव प्रतिबन्धकम् अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धकं हि कार्यविघातकमुच्यते । न च शरीरं सुखस्य विघातकम् तस्मिन् सति तस्य आत्मलाभात् । यस्मिन् सति यस्यात्मलाभः न तत् तस्य प्रतिबन्धकम् यथा बीजमङ्कुरस्य, शरीरे सति आत्मलाभश्च सुखस्येति । तस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वे च तदपहन्तुर्हि साफलं न स्यात्, प्रतिबन्धविघातकस्य उपकारकत्वेन लोके प्रसिद्धेः । नापि अविद्यायाः तस्याः तुच्छरूपतया तत्प्रतिबन्धलक्षणार्थक्रियाकारित्वाऽसंभवात् । यत् तुच्छरूपं न तदर्थक्रियाकारि यथा मृगतृष्णिकालजम्, तुच्छरूपा च अविद्या भवद्विरष्टा इति । प्रतिषिद्धश्च अविद्यायाः प्रतिबन्धकत्वं ब्रह्माद्वैतप्रपञ्चके प्रपञ्चेन इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । नापि वैषयिकसुखाद्यनुभवेन; तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धः अनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः; द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि बाह्यविषयव्यासङ्गेन; तेन हि प्रमातुः, इन्द्रियादेर्वा सम्बन्धना तत्प्रतिबन्धः क्रियते ? पक्षद्वयमप्येतदयुक्तम् ; आत्मनो हि प्रमातुर्व्यासङ्गः रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाऽजनकत्वम् । स चात्र असम्भाव्यः; सुखवत् तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात् ।

किञ्च, यथा सुकथयस्थायाम् अनित्यं सुखं ज्ञानञ्चाऽतिक्रम्य नित्यं तत्परिकल्प्यते तथा नित्यत्वधर्मोधिकारणं देहेन्द्रियादिकमपि परिकल्प्यतामविशेषात् । अथ धर्मादेः कार्यो देहः कथं तद्भावे तत्र भवेत् प्रतीतिविरोधात् ? तदन्यत्रापि समानम् । अथ संसार(रि)सुखविलक्षणं तत्सुखम् तेनायमदोषः; तर्हि देहोऽपि संसारदेहाद् विलक्षणः तत्र अस्यास्तु विशेषाभावात् ।

किञ्च, सुखवत् ज्ञानस्य मुक्तावभ्युपगमे तर्च्छ्लेः विपरीताभिनिवेशनिवृत्तिल-

(१) “प्रतिबन्धकं कार्यव्याघातकमुच्यते, न च नित्यसुखस्य अनुत्पत्तिः संभवति ।”-प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । (२) शरीरस्य । “प्रतिबन्धकत्वेन तदपहन्तुर्हि साफलं न स्यात् । तथा हि प्रतिबन्धविघातक उपकारक एवेति दृष्टम् । न हि नित्यसुखसंवेदनस्य प्रतिबन्धकस्य शरीरादेरपहन्तुर्हि साफलस्य अभाव इत्यलम् ।”-प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । स्या० २० पृ० १११७ । (३) “प्रकाशस्य तुच्छेनावरीतुमशक्यत्वात्”-मेधा अपि रवेरन्ये स्वरूपेण च वास्तवाः । तत्त्वान्यत्वाच्च चिन्त्या तु नाविद्यावरणक्षमा ॥”-न्यायमं० पृ० ५१० । (४) पृ० १४३ । (५) नित्यसुख-तत्संवेदनयोः । (६) “नित्यसुखे हि अनुभवस्यापि नित्यत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्तिः । तथा हि आत्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्गः । एवमिन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानजनकत्वं व्यासङ्गः । न चैवमात्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्तिः तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् ।”-प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । (७) तुलना-“दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः । यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यसुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः ।”-न्यायभा०, वा०, ता० टी० १ । १ । २२ । “सुखवज्ज्ञानवच्चास्य कामं देहेन्द्रियाद्यपि । नित्यं प्रकल्प्यतामित्थं मोक्षो रम्यतरो भवेत् ।”-न्यायमं० पृ० ५१० । (८) अनन्तज्ञानधारणाय उपयुज्यमानायाः अनन्तशक्तेः ।

१ सम्बन्धेन तत्प्र-ब० । २-करणदेहेन्द्रि-ब० । ३ तद्भावे तत्र आ०, तद्भावे तत् प्रसवे तत्र ब० ।

क्षणदर्शनस्य च सामर्थ्यसिद्धत्वात् अनन्तचतुष्टयस्वरूपलामलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः जैनमत-
सिद्धिः स्यात्, 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्येकान्तत्यागात् । तत्र सुखस्वभावत्वलक्षणं
साध्यं विचार्यमाणं भवन्मते घटते ।

साधनञ्च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वम् अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्च अनैकान्ति-
कत्वादसाधनम् ; दुःखाभावेऽपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम् ;
नहि आत्मा अन्यार्थं नोपादीयते, सुखाद्यर्थमस्योपादनात् । अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्व-
मप्यसिद्धम् ; दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।

यदपि 'आत्मा सुखस्वभावः वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्' इत्युक्तम् ;
तदप्येतेन प्रत्युक्तम् ; सुखस्वभावत्वे प्रागुक्तशेषदोषानुषङ्गात् । प्रेयोबुद्धिविषयत्वं
निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वञ्चाऽसिद्धम् ; कदाचिद् दुःखितायां तदभावात् । अन्य-
थासिद्धञ्च; आत्मनो हि आत्यन्तिको दुःखाभावो मोक्षे स्यात् इति तत्र तत् साधनद्वयं
न पुनः सुखस्वभाव इति । विरुद्धञ्च, सुखस्वभावताविपरीतस्य दुःखाभावस्वभावत्व-
स्यैव अतः प्रसिद्धेः । तथाहि-दुःखाभावरूपोऽयमात्मा, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयो-
बुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकदुःखाभाववदिति ।
यदप्युक्तम्- 'इष्टार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नः' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम् ; हेतोरनेकान्तात् ।
नहि इष्टार्थसाधनायैव प्रेक्षावतां प्रयत्नो भवति, व्याधिविशेषविज्ञानां तेषाम् अनिष्टो-
परमार्थमपि प्रयत्नप्रतीतेः ।

किञ्च, इष्टशब्देनात्र किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेतप्रयोजनमात्रं वा ? यदि
अभिप्रेतप्रयोजनमात्रम् ; कथमतः पुंसः सुखस्वभावता सिद्ध्येत् ? परस्परविरुद्धनेका-
पवर्गसंसिद्धिप्रसङ्गञ्च, कपिलादिमतानुसारिणामपि मुमुक्षूणां प्रयत्नस्य तदिष्टापवर्ग-
लक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रसङ्गेः । प्रयत्नस्य प्रेक्षावत्त्वविशेषणात् न अनेकविरुद्धापवर्ग-
संसिद्धिरिति चेत् ; न ; तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । नहि भवन्मतानुसारिणः प्रेक्षावन्त
न कपिलादिमतानुसारिणः इति विवेकः कर्तुं शक्यः, प्रमाणप्रवादितसर्वथानित्यादि-

(१) "दुःखाभावेऽपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम् ; सुखार्थमुपादानात् ।
अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम् ; दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।"-प्रश्न० ध्यो० पृ० २० ग० ।
(२) पृ० ८३१ पं० ६ । (३) प्रेयस्त्वाभावात् । (४) पृ० ८३१ पं० ७ । (५) तुलना-
"इष्टाधिगमार्थां प्रवृत्तिरिति चेत् ; न ; अनिष्टोपरमार्थत्वात् ।"-न्यायभा०, वा० १११।२२ । "नानि-
ष्टोपरमार्थत्वादनित्यस्यापि शान्तये । सन्तः प्रयतमाना हि दृश्यन्ते व्याधिखेदिताः ॥ अतिदुर्बलश्चायं
संसारदुःखभार इति तदुपशमाय व्यवस्थन्तः सन्तो न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवन्तीत्यनैकान्तिको हेतुः ।"
-न्यायसं० पृ० ५०९ ।

१-कान्तपरित्यागात् श्र० । २-चिदुचितायां ब० । ३ सुखस्वभावविष-आ० । ४-भावावादिति
आ०, -भावादिति ब० । ५-वतमिममुक्षू-आ०, -वतमिष्टार्थं मुमुक्षू-ब० । ६-लादिमतानुसारि-आ० ।
७-प्रमाणबाधि-श्र० ।

स्वभावतत्त्वाङ्गीकारेण अशेषाणामप्यप्रेक्षावस्त्वप्रसिद्धेः । अथ सुखम् इष्टशब्देन उच्यते; तदा साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । न खलु कृषीवलादीनां कृष्यादिप्रयत्नः साक्षात्सुखार्थो भवति, कृष्यादिकलनिष्पत्त्यर्थत्वात्तस्य । परम्परया तस्य तदर्थत्वे मुमुक्षुप्रयत्नस्यापि तैर्था तदर्थत्वमस्तु । ननु मुमुक्षवो यदि साक्षात्सुखार्थप्रयत्ना न भवन्ति तदा ते निष्प्रयोजनप्रयत्ना एव स्युः प्रयोजनान्तरस्य तत्प्रसाध्यस्याऽसंभवात्; तदप्यपेक्षलम्; संसारदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनस्य तत्प्रयत्नप्रसाध्यस्य सद्भावात् । दुस्सहो हि संसार-
दुःखमारोऽयम् अतः तदुच्छित्तये प्रयतमानास्ते न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवितुमर्हन्ति ।

यत्पुनः 'सुखतारतम्यं कचिद्विश्राम्यति' इत्याद्यभिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; परत्वादिना अनेकान्तात् । परापरादिबुद्धिप्रकर्षसमधिगतो हि परत्वादिकर्षः तारत-
म्यशब्दवाच्यो न च कचिद्विश्रान्तः ।

किञ्च, दुःखेऽप्येवं परमप्रकर्षप्रसङ्गः—दुःखतारतम्यं कचिद्विश्राम्यति तारतम्य-
शब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् इति । न च दुःखपरमप्रकर्षो भवद्विरिष्टः
इत्यनेनैवापि अनेकान्तः ।

यदपि—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमः मोक्षे सुखस्वभावतायायात्मनः
प्रमाणम्' इत्याद्युक्तम्; तदतीवाऽसङ्गतम्; तस्य प्रामाण्यासंभवात् । गुणवद्वैकृत्वेन
हि वचनस्य प्रामाण्यम् । न च वेदे भवद्विः तदिष्टम् । अपौरुषेयत्वेनास्य प्रामाण्यम्;
इत्यपि श्रद्धामात्रम्; तदपौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रतिव्यूढत्वात् । अस्तु वा तस्य तथा
प्रामाण्यम्, तथापि यथासौ मुक्तौ आनन्दरूपताम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा तदभाव-
मपि "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरेषहतिरस्ति, अशरीरं वाव सत्तं प्रियाप्रिये न
स्पृशतः ।" [छान्दो० ८।१२।१] इत्यादिवचनात् । अतः कास्य प्रामाण्यम् इति
व्याघ्रतटीन्यायो भवतः संमायातः । अथ इदमागमवचनम् अन्यथा व्याख्यायते-
'सशरीरस्य' इति प्रक्रमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे मोक्षे

(१) परम्परया । (२) मुमुक्षुप्रयत्न । (३) पृ० ८३१ पं० ८ । (४) दुःखपरमप्रकर्षेण ।
(५) पृ० ८३१ पं० ११ । (६) पृ० ७२४- । (७) "स्यादेतदेवं यद्येतदेव केवलमागमवचनमश्रोष्यत,
वचनान्तरमपि तु श्रूयते—न ह वै" । ननु भवत्पठितमागमवचनमन्यथापि व्याख्यातुं शक्यते—सशरीरस्येति
प्रक्रमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे तदानीमशरीरमात्मानं न स्पृशत इत्यर्थः ।
हन्त तर्हि त्वदधीतमपि वेदवचनमेानन्दं ब्रह्मेति संसारदुःखपरिहारक्रमप्रकरणादेव तदुःखापायविषयं
व्याख्यास्यते । न खलु व्याख्यानस्य भगवतः कचिदभूमिरस्ति । दृष्टाश्च दुःखोपशमे सुखशब्दप्रयोगाः ।
चिरज्वरशिरोऽर्ज्यादिव्याधिदुःखेन खेदिताः । सुखिनो वयमद्येति तदपाये प्रयुञ्जते ॥"—न्यायमं०
पृ० ५०९ । (८) "कुटुम्बमपि मे प्रेयान् प्रेयांस्त्वमपि हे सखे । किं करोमि द्विधा चित्त इतो व्याघ्र
इतस्तदी ॥"—परिशि० ३ । १६६ । लौकिकं वा० तु० भा० । "इतस्तदमितो व्याघ्रः केनास्तु
प्राणिनो गतिः ।"—यश० उ० पृ० १३८ । (९) 'न ह वै' इत्यादि वचनम् ।

१ तस्यास्त-व० । २ तदा तद-व०, अ० । ३ न वचि-आ० । ४ दुःखे तारतम्यं आ० ।
५-वृत्तत्वेन हि आ०, अ० । ६-रूपपातिरस्ति अ० । 'समायातः' नास्ति अ० ।

अशरीरमात्मानं न स्पृशतः' इति; तदपि मनोरथमात्रम्; 'आनन्दं ब्रह्म' इत्यस्यापि अन्यथा व्याख्यातुं सुशकत्वात्, आत्यन्तिकसंसारदुःखाभावविषयो हि अत्र आनन्द-शब्दः न पुनः सुखविषयः । दृष्टश्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः यथा भराक्रान्तस्य चिरं-ज्वरशिरोत्थ्यादिव्याधिदुःखितस्य वा तदपाये 'चिरं' तद्दुःखेन खिन्नाः सुखिनो वयमद्य'

5 इति तदात्मनो प्रतिभासप्रतीतिः ।

यद्योक्तम्—'नित्यानन्दस्य संसारदशायाम् आवृतत्वेनाऽनभिष्वक्तितोऽनुपलम्भः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अविद्यादेः तदावारकत्वप्रतिषेधात्, नित्यैकस्वभावस्य स्वप्रकाशात्मन आत्रियमाणत्वायोगाच्च, परिणामिन एव हि वस्तुनः केनचिदावरणं युक्तम् कथञ्चिदनाष्टतरूपपरित्यागेन आवृत्तरूपस्वीकारात् । अतः कथञ्चिदेव नित्यज्ञान-
10 खादिस्वभावो मुक्तौ आत्मा प्रतिपत्तव्य इति ॥ ७ ॥

ननु कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण अपरस्य आत्मनोऽसंभवात् कस्य नैरात्म्यभावनातो ज्ञानादिस्वभावता मुक्तौ प्रसाध्येत ? मुक्तिश्च आत्मदर्शिनो दूरोत्सा-विमुद्धशानोत्पत्तिरूपो-रिता । यो हि पश्यति आत्मानं स्थिरादिरूपं तस्य आत्मनि स्थैर्यो-मोक्षः इति बौद्धस्य दिगुणदर्शननिमित्तः स्नेहोऽवश्यम्भावी, आत्मस्नेहाच्च आत्मसुखेषु
15 पूर्वपक्षः—परिरूढ्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषास्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परिरूढ्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते, ततो यावद् आत्मदर्शनं तावत्संसार एव । तदुक्तम्—
'यैः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः । स्नेहात्सुखेषु रूढ्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कृते ॥

(१) "आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनाद् आगमैः सत्यविरोधः । यद्यपि कश्चि-दागमः स्याद् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते । दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोके ।"—प्रागभा०, वा० १।१।२२ । "मूले हि बाधकोप-पत्तेः गौण इति । तथाहि दुःखाभावेऽयमानन्दशब्दः प्रयुक्तो दृष्टः । सुखशब्दो दुःखाभावे यथा भारा-क्रान्तस्य बाहिकस्य तदपाये इति ।"—प्रश० ध्यो० पृ० २० ग० । (२) पृ० ८३२ पं० २ । (३) "यः पस्यात्मानं तत्रात्मनि अस्य द्रष्टुः अहमिति शाश्वतः अनपायिस्नेहो भवति । स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णावान् भवति, तृष्णा च सुखसाधनत्वेनाध्यवसितानां वस्तुनां दोषानशुचित्वादीन् तिरस्कृते प्रच्छादयति । दोषतिरस्करणात् गुणदर्शी शुचित्वेष्टत्वगुणान् पश्यन् परिरूढ्यन् ममेति ममेदं सुखमिति गर्दमानः तस्य सुखस्य साधनानि गर्भगमनादीन्युपादत्ते । तेन आत्मदर्शनमूलत्वेन जन्मादे-रात्माभिनिवेशो यावत्तावत् स आत्मदर्शी संसार एव । न केवलं जन्मप्रबन्धस्तस्य दोषा अपि समस्ताः सन्तीत्याह । आत्मनि सति ततोऽन्यस्मिन् परसंज्ञा परबुद्धिर्भवति, स्वपरयोर्व्याक्रमं परि-ग्रहोऽभिष्वङ्गः द्वेषः परित्यागः तौ भवतः । अनयोः अनुनयप्रतिषेधयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः राग-मात्सर्येभ्यदियः प्रजायन्ते ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृता इमे—बोधिचर्या० पं० पृ० ४९२ । अने-कास्तज्जय० पृ० २८ । यश० उ० पृ० २५२ । न्यायवि० वि० पृ० ५८१ A. । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । ज्ञानवि० पृ० १४७ A. । "यः पस्यात्मात्मनं तस्यात्मनि भवति"—सिद्धिवि० टी० पृ० ५५ B. । "आत्मनि सति"—अभि० आलो० पृ० ६७ । प्रश० कण्ड० पृ० २७९ ।

1 चिरं दुःखेन ब०, श्र० । 2-स्वभावतयास्य प्रकाशा-ब० । 3 युक्तौ श्र० । 4-कारकभूत-आ० । 5-तृष्यन् आ०, ब० । 6-तृष्यन् आ०, ब० । 7-तृष्यति आ० ।

गुणदृशीं परितृष्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते । तेनात्मभित्तिवेशो यावत्तावत् स संसारः ॥
आत्मनि सति परतःसा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अन्योः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥”

[प्रमाणवा० १।२११-२१] इति ।

ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च अनात्मकमनित्यमशुचि दुःख-
मिति श्रुतमग्न्या चिन्तामग्न्या च भावनया भावयितव्यम्, एवं भावयतः तत्र अभि-
ष्वङ्गाभावात् अभ्यासविशेषतो वैराग्यमुपजायते, अतः सास्त्रवचित्तसन्तानलक्षण-
संसारनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । निरन्वयविनश्वरेषु हि चित्तक्षणेष्ु एकत्वाध्यारोपेण
आत्माभित्तिवेशात् आत्मप्रेमानुगतः प्राण्यभिधानः स्कन्धसन्तानः सांसारिकसुखसाधनेषु
प्रवर्त्तमानः सास्त्रवचित्तसन्तानं सन्तनोति । ततोऽस्य व्यलीकाभित्तिवेशस्य अपोहार्यं धैर्यः
नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण असत्यपि आत्मनि नित्यनिरंशादिस्वभावे मोक्तिरिति । उक्तञ्च—

(१) तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परधानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामा-
स्कन्दता निर्वृता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निर्वृतां चिन्तमयीं
भावनामारभते ।—आप्त० का० ८३ । (२) अभिष्वङ्गो रागः । (३) “कार्यकारणभूताश्च तत्रा-
विद्यादयो मताः । बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निमलता धियः ॥ ... यथोक्तम्—चित्तमेव हि संसारो
रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ।”—तत्त्वसं०, पं० पृ० १८४ । (४)
“तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकां । उत्खातमूलां कुस्त सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥”—प्रमाणवा०
२।२५६ । किं पुनरिदं नैरात्म्यं नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्यं सत्सु चोपदेष्टव्यमित्याह—अद्वितीयं शिवद्वारं
कुदृष्टीनां भयङ्करम् । विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।—तत्रात्मा नाम योऽपरायत-
स्वरूपः स्वभावः, तदभावो नैरात्म्यम् । तच्च धर्मपुद्गलभेदात् द्वैतं प्रतिपद्यते । धर्मनैरात्म्यं पुद्गल-
नैरात्म्यञ्च । तत्र पुद्गलो नाम यः स्कन्धानुपादाय प्रज्जयते । स च स्कन्धेषु पञ्चधा मूयमाणो न
संभवति । धर्मास्तु स्कन्धायतनधातुसंशब्दिताः पदार्थाः तदेतेषां धर्माणां पुद्गलस्य च यथास्वं हेतु-
प्रत्ययाधीनजन्मत्वादुपादाय प्रज्जयमानत्वाच्च स्वायत्तमपरात्तं निजमकृतकं रूपं नास्तीति पुद्गलस्य
धर्माणाञ्च नैःस्वाभाव्यं व्यवस्थाप्यते । यस्य चार्थस्य स्वरूपसिद्धिर्नास्ति तस्य केनान्येनात्मनास्तु
सिद्धिरिति । तस्मात्सर्वथाऽसिद्धलक्षणा एव पदार्थां भूखंजनस्य विसंवादकेनात्मना प्रतीय वोपादाय
वा वर्त्तमाना मूढधियां सङ्गास्पदं भवन्ति । यथास्वभावं तु सम्यग्दर्शनैः प्रतिभाव्यमाना धर्मपुद्गल्योः
सङ्गपरिक्षयवाहकाः भवन्ति । सङ्गपरिक्षयश्च निर्वाणप्राप्तिकारणम् । विदितनैरात्म्यस्य हि सर्वेषु
परिक्षीणसङ्गस्य न क्वचिक्काचित्प्रार्थना कुतो वा निमित्तोपलम्भ इत्यद्वितीयमेव शिवद्वारमेतन्नैरा-
त्म्यम् ।—(पृ० १५१) तत्त्वतो नैरात्म्यमिति यस्यैवं वर्तते मतिः । तस्य भावादकुतः प्रीतिरभावेन
कुतो भयम् ॥”—चतुःशत० पृ० १५१, १५६ । तत्त्वसं० पृ० ८६६ । “यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम
किञ्चन । अहमेव न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति ॥”—बोधिच० १।५७ । “वरं नैरात्म्यभावना
नैरात्म्यस्य पुद्गलादिविरहस्य भावना अभ्यासः वरमुत्तमम्, आत्मदर्शनप्रवृत्ताहङ्कारनिवृत्तिहेतुत्वात् ।
तथाहि तावद् भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनात् साक्षान्नैरात्म्यदर्शनात् विरोधिनः सत्कायदर्शनं निवर्तते ।
तथाहि तावद् भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनात् दर्शनाभावात् पूर्वापररूपविकलस्य क्षणमात्रस्य दर्शनम् । ततः पूर्वापर-
मारोभाभावाद्भावागतसुखसाधनं किञ्चिदात्मनः पश्यति, ततो न तस्य क्वचिद्विषये रागो जायते नापि
तत्प्रतिविरोधिनि द्वेषः आसङ्गाभावादेव । नाप्यपकारिणं प्रति अपकारस्थानं पश्यति, येन यस्मिन् कृतो-

1-तृप्यन् श्र० । 2-चित्तलक्षणेष्ु श्र० । 3-नुगमः प्रा-ब० । 4-प्रामाण्यभि-श्र० । 5-यतोने-
-ब० । 6-विकलक्षणः श्र० ।

“मिथ्याधारोपहनार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्षरि” [प्रमाणवा० १।१९४] इति ।

नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणैयत्नाभावे तु आत्माभितिवेशाऽनिवृत्तेः इन्द्रियादिषु उप-
भोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु आत्मीयबुद्धेर्निवारयितुमशक्यत्वतो वैराग्यासंभवात् मोक्षाय
दत्तो जलाञ्जलिः । तदुक्तम्-

5

“उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु ।

स्वत्वधीः केन वार्येत वैराग्यं तत्र तत्कुतः ॥” [प्रमाणवा० १।२२९] इति ।

10

अथोच्यते-नेन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभवोऽयम्

आत्मीयस्नेहः येनायं दोषः स्यात् किन्तु गुणदर्शननिबन्धनः, अतः तद्विरुद्धदोषदर्शने
तन्निवृत्तितो वैराग्योपपत्तोः मुक्तिरुपपन्नैति; तदयुक्तम्; तैन्निबन्धनस्वत्वबुद्धेरेव अस्या-

15

विर्भावात्, स्वचक्षुरादिषु गुणदोषपरीक्षाविकलानामपि बालपशुप्रभृतीनाम् उपभोगा-
श्रयत्वबुद्धिनिबन्धानायाः स्वत्वबुद्धेः तत्र स्नेहस्याविर्भावात् । आत्मीयेष्वपि च पिबट-
काणकुण्टादिदोषदर्शनेऽपि अर्थं भावात्, परकीयेषु गुणदर्शनेऽप्यभावात् । आत्मीये-
ष्वपि अतीतेषु स्वदेहच्युतेषु च अङ्गावयवेषु गुणदर्शनेऽपि आत्मीयबुद्धित्यागे स्नेहस्या-
भावात् तैन्निबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभव एवासौ अभ्युपगन्तव्यः । अतः युक्तः तद्वयवच्छे-

15

दाय नैरात्म्यादिभावनाभ्यासः ।

अकारः तयोर्द्वयोरपि द्वितीयक्षणाभावत् । न चान्वेन कृतेऽपकारे प्रेक्षावतोऽन्यत्र वैरनिर्यातनमुचितम्,
नापि यस्य कृतस्तेनापि । एवं रागादिनिवृत्तौ अन्येपि तत्प्रभवाः क्लेशोपकलेशा नोत्पद्यन्ते । नापि
वस्तुतः कश्चित् कस्यचिदपकारकारी । इदं प्रतीत्येदमुत्पद्यते इति प्रतीत्यसमुद्गमदर्शनाद्वा । एवं हि
पुद्गलशून्यतायां सत्कायदर्शननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् कलेशा न समुदाचरन्ति । यथोक्तमार्थतयागतगु-
ह्यसूत्रे-तद्यथापि नाम शान्तमते वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशं क्षुप्यति । एवमेव शान्तमते
सत्कायबुद्धिप्रशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति । तस्माद्वरं नैरात्म्यभावना ।”-बोधिचर्या० पृ० पृ०
४९२-९३ । नैरात्म्यपरि० पृ० १२ ।

(१) “मिथ्याधारोपस्य संसारित्वाध्यवसायस्य हानार्थं यत्नोऽसत्यपि कस्मिंश्चिदात्मदादौ
मोक्षरि । न हि यथास्तत्वेव व्यवहारः किन्तु यथावसायञ्च । तथाहि रज्जुरपि सर्पाध्यवसायविषय-
त्वात् परिहारविषयः । एवमहमेव बद्धोऽहमेव मोक्ष्यामीत्यध्यारोपान्मुक्त्यर्थं व्यायामः ।”-प्रमाणवा०
मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्-तत्त्वसं० पृ० १८३ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । सप्तमि० टी० पृ० १६२,
४१८ । (२) “आत्मीयबुद्धिहान्यात्र त्यागो न तु विपर्यये । उपभोगाश्रयत्वेन”-आत्मीयबुद्धिहान्या
तत्रादिदृष्टाङ्गं त्यागो न तु विपर्यये आत्मीयबुद्धिसत्तायाम् । यस्माद् उपभोगस्य आश्रयत्वेन कारण-
त्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु स्वत्वे धी आत्मीयत्वबुद्धिः केन हेतुना वार्येत ? क केनचित् । तत्कुतस्तत्र
उपभोगसाधने स्वीयावबवे वैराग्यं येन त्यज्यते । ततो यज्यते आत्मीयबुद्धिहान्या एव । न चैवं
स्नेहादिष्वआत्मीयबुद्धिहानिरस्ति येनैषां त्यागः स्यात् ।”-प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्-न्यायवि०
वि० पृ० ५८१ B. । (३) भोगसाधनत्वनिबन्धन । (४) स्नेहस्य । (५) उपभोगाश्रयत्वनि-
बन्धन । (६) स्नेहः ।

१-ध्यानाप-अ० । २-णप्रयत्ना-अ० । ३ आत्मीयबुद्धे-आ० । ४ स्वत्वधीः व० । ५ इति
नास्ति व० । ६-निबन्धनस्वत्वबुद्धे-व० । ७ चेत्युक्तम् व० । ८ अस्याभावात् आ० । ९-अथबुद्धि-व० ।
१०-दर्शनेत्यस्याभा-अ० ।

अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्लेशक्षणतत्पसः सकलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो भविष्यति;
तन्न; कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापवत् तपस्स्वायोगात् । विचित्रशक्ति-
कञ्च कर्म विचित्रफलदानाऽन्यथानुपपत्तेः, तच्च कथं कायसन्तापमात्रात् क्षीयेत
अतिप्रसङ्गात् । अथ तपः कर्मशक्तीनां सङ्करेण क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि
तपसः चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः; नन्वेवं स्वल्पक्लेशेन एकोपवासादिनाऽपि अशेषस्य 5
कर्मणः क्षयापत्तिः शक्तिसाङ्क्यान्यथानुपपत्तेः । उक्तञ्च—

“कर्मक्षयाद्विमोक्षः स च तपसः तच्च कायसन्तापः ।

कर्मफलत्वाच्चारकदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात् ॥

अन्यदपि चैकरूपं तच्चित्रक्षयनिबन्धनं न स्यात् ।

तच्छक्तिसङ्करक्षया(य)कारीत्यपि वचनमात्रं तु ॥

10

अत्रनेशास्तोकेऽपि क्षीयो सर्वक्षयप्रसङ्गो यैत् १” [] इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कार्यकारण’ इत्यादि; तदसमीक्षिताभि-

सान्प्रथमयुद्धचित्तस-
न्ततिरूपस्य मोक्षस्य
समर्थनम्—

धानम् ; कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तस्य आत्मनः सन्ता-

ननिषेधावसरे व्यासतः समर्थितत्वात् ।

यत्पुनरुक्तम्—‘यः पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपम्’ इत्यादि; तत्सूक्तमेव; किन्तु 15

(१) ‘तपसा निर्जरा च’—तत्त्वार्थसू० १।३ । (२) “फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनु-
मीयते । कर्मणां तापसंक्लेशात् नैकरूपात्ततः क्षयः ॥—कर्मणां फलवैचित्र्यस्य नानागत्युपभोग्यानेकविधो-
पकरणसाध्यविधिसुखदुःखोपभोगप्रकारस्य दृष्टेश्च शक्तिभेदः सामर्थ्यनानात्वमनुमीयते, अतो नाना-
प्रकारफलजननसामर्थ्यात् कारणादेकरूपात् फलात् तापसंक्लेशान्न कर्मणां क्षयः ॥—प्रमाणवा० १।२७७ ।
(३) ‘अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसंकरसंक्षयः । क्लेशात्कुतश्चित् हीयेताशेषमक्लेशलेशतः ॥—अथापि
तपसः शक्त्या शक्तिसंकरेण तापक्लेशमात्रफलेन तानि हीयन्ते । तपःशक्त्या कर्मणां संक्षयेण वा जन्मा-
भावः । यच्च किञ्चिदविशिष्टं तत् क्लेशात्कुतश्चित् केशोल्लङ्घनादेः क्षीयते । कर्मक्षयाच्च मुक्तिः
अत्राह—हीयेताशेषमक्लेशलेशतः । यदि तपसा कर्मक्षयोऽशेषं कर्म हीयेत, अक्लेशतो विनैव केशोल्लु-
ञ्चनादिदुःखात् कर्मणः क्षीणत्वात् । यथा नारकादिदुःखं न भवति तथा अल्पीयोपि न स्यात् । शक्ति-
सांकर्येण लेशतः सन्तापक्लेशात् केवलात् कर्म हीयेत, न दुःखान्तरानुबन्धी संसारप्रबन्धः तपस्विनः
स्यात् । यदीष्टमपरं क्लेशात् तत्तपः क्लेश एव चेत् । तत्कर्मफलमित्यस्माच्च शक्तेः संकरादिकम् ॥
तपसः शक्त्या शक्तिसंकरसंक्षयश्च तदा वक्तुं शक्यो यदि क्लेशादिष्टं क्लेशादपरमन्यत्तपो नान्यथा ।
क्लेश एव चेत्तपः, तत्क्लेशरूपं तपः कर्मफलमित्यस्मात् कर्मफलभूतात्तपसः शक्तिसंकरादिकं न युक्तम् ।
आदिशब्दात् संक्षयश्च ॥—प्रमाणवा० मनोरथ० १।२७८-७९ । (४) “‘क्षयनिमित्तमिह न स्यात् ।
तच्छक्तिसंकरः क्षयकारीत्यपि’...—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । ‘...तच्छक्तिसंकरक्षयकारीत्यपि’...
—स्या० २० पृ० १११८ । (५) पृ० ८३८ पं० ११ । (६) पृ० ९ । (७) पृ० ८३८ पं० १८ । (८)
तुलना—‘तत्सूक्तमेव, किन्त्वज्ञो जनो दुःखानुषक्तं सुखसाधनं पश्यन्नात्मस्तेहात् सांसारिकेषु दुःखानुप-
क्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते अपथ्यादौ च मूर्खानुरवत् ॥’—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । स्या० २० पृ० १११८ ।

१ अवैतद्भाव-अ० । २-कर्मक्षया-अ० । ३ संकरेण क्षय-अ० । ४ तच्चित्रं क्षय-आ०,
ब० । ५ वत् अ० । ६-ज्ञानलक्षणप्रवा-अ० ।

- अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्त-
सुखसाधनेषु प्रवर्तते । हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्यादिकं परित्यज्य
आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते । यथा पथ्यापथ्यविवेकमजान-
नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवे-
5 कज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते । उक्तञ्च—

“तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।

हितमेवानुरुद्धयन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥” [] इति ।

- यदप्युक्तम्—‘ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च’ इत्यादि; तदप्येतेन
प्रयुक्तम्; सर्वथाऽनित्याऽनात्मकत्वादिभावनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् सर्वथा
10 नित्यादिभावनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । तन्निर्विषयत्वञ्च आत्मसिद्धेः क्षणभङ्गभङ्गस्य
च प्रसाधितत्वात् प्रसिद्धम् । न च कालान्तरावस्थायैकानुसन्धातुव्यतिरेकेण भावना-
प्युपपद्यते इत्युक्तं सन्ताननिषेधप्रघटके । यो हि निगडादिभिर्बद्धः तस्यैव तन्मुक्ति-
कारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसन्धिव्यापारे सति मोक्षः इति एकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-
व्यवस्था लोके प्रसिद्धा, इह तु अन्यः क्षणो बद्धः अन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानम्
15 अन्यस्य च अनुष्ठानाभिसन्धिः व्यापारश्चेति वैयधिकरण्यान् सर्वमनुपपन्नम् ।

- किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्व प्रवर्तमानः ‘किञ्चिदिदमतो मम स्यात्’ इत्यनुसन्धानेन
प्रवर्तते । इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानः ‘मोक्षो मम स्यात्’ इत्यनुसन्ध-
ध्यात्—क्षणः, सन्तानो वा ? न तावत् क्षणः; तस्य एकक्षणस्थापितया निर्विकल्प-
कतया च एतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात् । नापि सन्तानः; तस्य सन्तानिन्य-
20 तिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्, सैन्ताननिषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

यच्चाप्युक्तम्—‘निरन्वयविनश्वरेषु’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; आत्मनोऽन-

- (१) उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५८१। स्या० २० पृ० १११९। (२) पृ० ८३९ पं० ४।
(३) तुलना—“क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात्, न च मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वमतिप्रस-
ङ्गात् ।”—प्रश्न व्यो० पृ० २० घ० । “भावनाया विकल्पात्मिकायाः श्रुतमय्यादिज्ञानमय्याश्चावस्तु-
विषयाया वस्तुविषयस्य योगिज्ञानस्य जन्मविरोधात् । कुतश्चिदतत्त्वविषयाद् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविष-
यस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः ।”—आप्तप० का० ८३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१। षड्व० बृह० श्लो० ५२।
(४) “न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ—क्षणिकमेकं यच्चित्तं तत्संस्थौ बन्धमोक्षौ न स्याताम् । यस्य
चित्तस्य बन्धः तस्य निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्यावदस्यैव मोक्षप्रसङ्गात् । यस्यैव बन्धः तस्यैव मोक्ष
इति एकचित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ”—युक्त्यनु०, टी० पृ० ४१। (५) क्षणिकैकान्तपक्षे । (६) तुलना—
“किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्व प्रयतमानः किञ्चिदिदमतो मम स्यादित्यनुसन्धानेन प्रवर्तते ।”—षड्व० बृह० श्लो०
५२। (७) पृ० ८३९ पं० ७ ।

- 1—साधनं पश्यन् आ० । 2—विवेकस्तु आ० । 3—विवेकस्तु आ० । 4—नित्यादिभावान्—आ० ।
5 अन्यत्रानुष्ठा—ब० । 6—सन्धेर्व्यापा—आ० । 7—पूर्वं वर्तमानः ब० । 8 सन्ताननिषिद्ध—श्र० ।

भ्युपगमे तथाभूतचित्तक्षणेषु एकत्वाध्यारोपानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च सन्तानभङ्गप्रघटके प्रपञ्चिता । निरन्वयविनश्चरत्वे च संस्काराणां मोक्षार्थः प्रयासो व्यर्थः । रागाद्युपर-
मो हि भवन्मते मोक्षः, तदुपरमश्च विनाशः, तस्य च निर्हेतुकतया अयन्नसिद्धत्वात्
तदर्थानुष्ठानादिप्रयासो निष्फल एव । तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तक्षणस्य नाशः
क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्य 'बोच्छेदः' अनुत्पादो 5
वा, निराश्र(स्त्र)वचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; विनाशस्य निर्हे-
तुकतया भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अनुपपन्नः;
उत्पादाभावो हि अनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात् कथं कुतश्चिदुत्पद्येत अपैसिद्धान्तप्रस-
ङ्गात् ? तच्छक्तिक्षयार्थोऽपि तत्प्रयासोऽसङ्गतः; तत्क्षयस्याप्यभावरूपतया कुतश्चिदात्म-
लाभासंभवात् । 'सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासः' इत्यप्येतेन प्रत्युक्तम्; 10
क्षणोच्छेदानुत्पादवत् 'तदुच्छेदानुत्पादयोरभावरूपतया कुतश्चिदुत्पत्त्यनुपपत्तेः ।

किञ्च, सिद्धे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासो युक्तः;
न चासौ तथाभूतः सिद्धः; क्षणातिरिक्तस्य तस्य वास्तवस्य भवतानभ्युपगमात्, सन्तान-
निषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

किञ्च, अन्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे सन्तानोच्छेदो भविष्यति । तच्च कुतो 15
न करोति सत्त्वात् तदुत्पादे शक्तत्वाच्च । शक्तमपि सहकारिकारणाभावात् नोत्पाद-
यति; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तदसौ तस्य अप्रतिबन्धकत्वात् । तेन हि प्रतिबन्धो
भावस्योत्पत्तेः, उत्पादकत्वस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; शैक्यपक्षे हि कारणात्तरा-
भावः अभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावो भावस्य नोत्पत्तिप्रतिबन्धं कर्तुमर्हति ।
यत् सकलशक्तिविरहस्वभावं न तत् कस्यचिदुत्पत्तिप्रतिबन्धकम् यथा शशविषाणम्, 20

(१) तुलना—“अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिसकः । चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्ग-
हेतुकः ॥”—आप्तमी० का० ५२ । “आकस्मिकेऽयं प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो बधकश्च न स्यात् ॥—
तथा च सकलाल्लवनिरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसन्ततिनाशरूपस्य वा शान्तनिर्वाणस्य मार्गो हेतुः नैरात्म्य-
भावनालक्षणो न युक्तः स्यात् नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात् ।”—युक्त्यनु० टी० पृ० ४० । “निर्हेतुकतया
विनाशस्य उपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसाध्यत्वात् ।”—प्रश०व्यो० पृ० २० ङ । (२) तपोऽनुष्ठानादिना ।
“किञ्च, तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशः क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादक-
शक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ?”—पङ्० बृ० श्लो०
५२ । (३) सीगदमते । (४) निर्हेतुकाऽभाववादः विधीयत इत्यर्थः । (५) सन्तानोच्छेदानुत्पादयोः ।
(६) तुलना—“किञ्च वास्तवस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात् किं तदुच्छेदादिप्रयासेन ? नहि मृतस्य मारणं
क्वापि दृष्टम् ।”—पङ्० बृ० श्लो० ५२ । (७) सहकारिकारणाभावस्य । (८) सहकारिकारणाभावेन ।

१-रोपानुपपत्तिश्च सन्ता-ब० । २ संसारिणाम् ब०, अ० । ३ बोच्छेदः ब० । ४ निराश्रयचित्त-
आ० । ५-दुत्पद्यते आ० । ६ कुतश्चिदात्मलाभासंभवात् सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रया-
सो युक्तो न चासौ ब० । ७-स्पष्टानुप-अ० । ८-न्तराकर्तृकत्वे ब० । ९ सत्त्वादुत्पादे आ० । १० तद्भावस्य
ब० । ११ साध्यपक्षे ब० । १२-राभावाभावरूपतया ब० ।

तथाभूतश्च शक्यमते सहकारिकारणाभाव इति । द्वितीयविकल्पोऽप्येतेन प्रतिव्यूढः; उत्पादकत्वस्य हि प्रतिबन्धः कार्योत्पादकपदार्थसत्ताऽपहारः, स च अश्वविषाणप्रख्ये तदभावे दुर्घटः ।

- किञ्च, अन्यचित्तक्षणस्य अर्थक्रियाकारित्वे अवस्तुत्वं स्यात्, ततः तज्जनकस्य
 ५ इति, एवमायातमंशेषस्य चित्तसन्तानस्य अवस्तुत्वम् । अथ स्वसन्तानवर्तिनो ज्ञान-
 क्षणस्य अजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्तिनो योगिज्ञानस्य जननात् नाऽशेषस्य तत्सन्तान-
 स्याऽवस्तुत्वम्; तदयुक्तम्; रसादेरेककालस्य रूपादेः अव्यभिचार्यनुमानाऽभावानुपज्ञात्,
 अन्यक्षणावत् रूपादेर्विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि सजातीयजनकत्वसंभवात् । एक-
 १० सामग्र्यधीनत्वेन रूपरसयोनिर्यमेन कार्यद्वयारम्भकत्वे अन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्वं
 स्यात्, योगिज्ञान-अन्यक्षणयोरपि एकसामग्र्यधीनत्वाऽविशेषात् । अथ स्वसन्तान-
 वर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानकार्यजननसामर्थ्यम् अन्यक्षणस्य नेष्यते;
 तर्हि सर्वथा अर्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेन अर्थ आकाशकुशेशयवदवस्तुत्वं स्यात् । तथा-
 विधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्वं स्यात्, तथा च
 सत्त्वादयः क्षणिकवन्न साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात् । तन्न सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्तिः
 १५ तत्कारणानुष्ठानप्रयासेन प्रसाध्या इति पक्षः क्षेमङ्करः ।

निराश्र(स्त्र)वचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्रयासप्रसाध्या इति पक्षस्तु ज्यायान् ।
 केवलं 'सा चित्तसन्ततिः सान्वया, निरन्वया वा' इति वक्तव्यम्? तत्र अस्याः सान्वय-

(१) सहकारिकारणाभावे । (२) अर्थक्रियाकारित्वाभावे । तुलना—“चरमक्षणस्याकिञ्चि-
 त्करत्वेन अवस्तुत्वापत्तिः पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्तेः सकलसन्तानाभावप्रसङ्गः । विधुदादेः सजाती-
 याकरणेऽपि योगिज्ञानस्य करणाभाववस्तुत्वमिति चेत्; न; आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य
 रूपाकरणेऽपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानं न स्यात् ।”-सम्मति० टी० पृ० १६१ ।
 स्या० १० पृ० ११२१ । प्रमेयक० पृ० ४९७ । (३) अन्यक्षणोत्पादकस्य उपान्यक्षणस्य । (४) यदा
 भक्तिर्विश्वसर्वज्ञो योगी तम् अन्यक्षणे जानाति तदा सोऽन्यः क्षणः योगिज्ञानस्य सहकारितया समुपादको
 भवति नाकारणं विषयः इति सिद्धान्तात् । अतः सजातीयक्षणानुत्पादकोऽपि अन्यक्षणः योगिज्ञानस्य
 सहकारितया जनकत्वात् अर्थक्रियाकारी भवत्येव । (५) बौद्धमते हि द्वितीयक्षणवर्तिनो रसस्य प्रथमक्ष-
 णवर्ती रस उपादानम् प्रथमक्षणवर्तिरूपञ्च सहकारि भवति । प्रथमक्षणवर्तिरूपं हि सजातीयं द्वितीयक्ष-
 णवर्तिनं रूपं जनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिरस्ते सहकारि भवति । यदि हि अन्त्यो ज्ञानक्षणः
 सजातीयं ज्ञानक्षणान्तरमनुत्पाद्यापि विजातीये सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारि
 स्यात् तदा पूर्वक्षणवर्तिरूपमपि द्वितीयक्षणवर्तिसजातीयं रूपक्षणान्तरमजनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्ष-
 णवर्तिनि रसे सहकारि स्यात् । तथा च द्वितीयक्षणवर्तिरसात् रूपानुमानं न स्यात् इति भावः । (६)
 रसोत्पादकत्वेऽपि । (७) रूपक्षणान्तरानुत्पादकत्वसंभवात् । (८) योगिज्ञान । (९) अन्यक्षणस्य ।
 (१०) चित्तसन्ततेः ।

१ साध्यमते व० । २ व्युत्पादकस्य हि श्र०, उत्पादकत्वे हि व० । ३-संशेषचिन्ता-आ० ।
 ४ अन्तस्त्र-आ० । ५ सजातीयजनकत्वसंभ-व० । ६ तत्कारणेऽनुष्ठान-आ०, स्वकारणानुष्ठान-
 व० । ७ निराश्रयचि-आ० । ८-या चेति श्र० ।

पक्ष एव युक्तः; तथाभूते एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाऽबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः संभवति, तत्र हि अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते । सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरत्रापि इति चेत् ; ननु सैतानार्थः परमार्थसन्, संवृतिसन् वा स्यात् ? यदि परमार्थसन् ; तदा आत्मैव नामान्तरेण उक्तः स्यात् ? अथ संवृतिसन् ; तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वाद् ‘अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते’ इत्याया- 5 तम्, तथा च बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ अत्यन्तनानात्वेऽपि क्षणानां दृढतररूपतया एकत्वाध्यवसायात् ‘बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि’ इत्यभिसन्धाय प्रवर्त्तते; कैयमेवं नैरात्म्यदर्शनम् ? यतस्तद्भावनाभ्यासान्मुक्तिः स्यात् । अथ शास्त्रसंस्कारप्रभवं तद्दर्शनमस्ति; न तर्हि “एकत्वाध्यवसायः अस्सखलद्रूपः, ईत्येकं सन्धित्सोरन्यैः प्रचयवते । अतः कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात् 10 यतो ‘मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्षरि” [प्रमाणवा० १।१९४] इत्युक्तं शोभेत ? यदपुनरुक्तम्—‘उपभोगाश्रयत्वेन’ इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम् ; ‘ह्योपादेयत्त्वञ्चो हि आत्यन्तिकमुखसाधनम् उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादात्विक-सुखसाधनम्; तथाहि”-

“एगो मे सैसदो अप्पा नाणदंसणलक्खणो ।

15

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा ॥ [भावपाटु० गा० ५९]

संयोगमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।

तम्हा संयोगसंबंधं सव्वं ति विहेण वोसरे ॥” [मूलाचार० २।४८-४९]

(१) “चित्तानां तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनात् सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च”—अष्टसह० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३२० । सम्मति० टी० पृ० १६२ । “केवलं सा चित्तसन्ततिः सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम् । आद्ये सिद्धसाधनं तथाभूत एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः ।”—यद्बुद्धं बहू० श्लो० ५२ । (२) निरन्वयक्षणिकपक्षेऽपि । (३) “सन्तानस्याप्यवस्तुत्वादन्वयात्मा तथोच्यताम् । कथञ्चिद्ब्रह्म-तादात्म्याद्विना सन्तत्यसंभवात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३ । “यदि सन्तानार्थः परमार्थसंस्तदा आत्मैव सन्तानशब्देनोक्तः स्यात् । अथ संवृतिसन्; तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादन्वयो बद्धोऽन्यद्वयमुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात् ।”—सम्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (४) “तर्हि न नैरात्म्यदर्शनमिति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः ?”—सम्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (५) नैरात्म्यभावनायामस्खलद्रूपायां हि ‘बद्धमेव आत्मानं मोचयिष्यामि’ इत्येकत्वाध्यवसायस्य संभावनैव नास्ति । (६) नैरात्म्यदर्शनस्य समर्थने क्रियमाणे । (७) एकत्वाध्यवसायः । (८) पृ० ८४० पं० ५ । (९) ‘ह्योपादेयत्त्वज्ञा हि आत्यन्तिकमुखसाधनमुपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादात्विकमुखसाधनम् ।”—स्या० २० पृ० १११९ । (१०) “एको मे सासदो अप्पा—”नियमसा० गा० १०२ । एको मे सादवत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः । शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः । संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा । तस्मात्संयोसम्बन्धं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सुजाभि ।

1 बद्धात्मानं व० । 2 यदप्युक्त-व० । 3 उपभोगाश्र-आ० । 4-गाशयमा-व० । 5 हि उक्तञ्च प्राकृतश्लोके एगो व० । 6 संसदो अ० । 7 संयोग-आ० । 8 संयोग-आ० ।

“दाराः परिभवकाराः बन्धुर्जनो बन्धनं विषं विषयाः ।

कायं (कोऽयं) जनस्य मोहः ये रिपवस्तेषु सुहृदाश्च ॥” []

इत्येवं भावयतो विवेकिनः संयोगसम्बन्धिषु दुःखहेतुषु भावेषु सुखलेशसाधन-
त्वस्य सद्भावेऽपि अन्यदा आत्यन्तिकसुखसाधनं रत्नत्रयं पश्यतः कुतस्तेषु आत्मीय-
5 बुद्धिः यतस्ततो निवृत्तिर्न स्यात् ? ननु आत्मीयबुद्धेः ततः स्यान्निवृत्तिः यदि एकान्तेन
तेषां दुःखहेतुत्वमेव स्यात्, न चैवम्, लेशतः सुखहेतुत्वस्याप्यत्र संभवात्, तेन दुःख-
हेतुत्वेऽपि आत्मीयस्नेहात् येनाकारेण सुखहेतुता तावतांशेन स्वस्योपकारकान् इन्द्रिया-
दीन् मन्यमानः तेषु नात्मीयबुद्धिं जहातीति; तदप्यसाम्प्रतम् ; तेषां सुखलेशसाधन-
त्वेऽपि अन्यस्य आत्यन्तिकसुखसाधनस्य सद्भावेन निर्विषान्नस्य सद्भावेन सविषा-
10 न्नस्येव त्यागसंभवात् ।

यदप्यभिहितम्—“पिचचटकाणकुण्टादिदोषदर्शनेऽपि” इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम् ;
यतो न सौख्यादिगुणदर्शनात् स्नेहो भवतीत्यस्माभिरिष्यते, किन्तु उपभोगाश्रयत्वाख्य-
गुणदर्शनात् । विवेकिनश्च संयोगसम्बन्धिषु भावेषु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणसंसार-
दुःखहेतुत्वाख्यम् आत्यन्तिकदोषं पश्यतो न उपभोगाश्रयत्वाख्यस्य गुणस्य दर्शनमस्तीति
15 तन्निवर्धनैस्नेहस्य व्यावृत्तेः कथं दोषदर्शनं स्नेहस्य बाधकञ्च स्यात् ।

नैनु तदोषं पश्यतो यद्यपि तत्कालेऽनुरागिणी मतिश्चलित्वा, तथापि तत्रासौ
नैव अत्यन्तं विरक्तो द्रष्टव्यः, पुनस्तद्गुणलेदर्शनादनुरागसंभवात् ; ईदृग्यसुन्दरम् ;
अज्ञो हि तादात्विकदुःखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकदोषस्य दर्शनाद् विरक्तः तादात्विक-
सुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते इति युक्तम्, हेयोपादेय-
20 तत्त्वज्ञस्तु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वाख्यस्य आत्यन्तिकदोषस्य दर्शनाद्विरक्तो
न तादात्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते, किन्तु आत्य-
न्तिकसुखहेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् । न च संयोगसम्बन्धिषु तद्दर्शनमस्ति इति साकल्ये-
नासौ तत्र उपेक्षालक्षणं वैराग्यमात्मसात्करोति । ननु यदि तत्प्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वेन

(१) संगृहीतोऽयं श्लोकः सुभाषितरत्नभाण्डागारे । (२) “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्ष-
मार्गः”—तत्सार्वभौमः १।१ । तुलना—“तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि तद्यथा—बुद्धो धर्मः संवत्सेति ।”
—धर्मसंपु. १ । (३) तात्कालिकसुखसाधनेषु स्यादिव । (४) तादात्विकसुखसाधनस्यादीनाम् ।
(५) रत्नत्रयस्य । (६) पु. ८४०५० ११ । (७) “यद्यप्येकत्र दोषेण तत्क्षणं चलित्वा मतिः । विरक्तो
नैव तत्रापि कामीव बनितान्तरे ।”—प्रमाणबा. १।२४१-४२ । (८) विरागवती जाता । (९)
तत्त्वज्ञः । (१०) संयोगसम्बन्धिषु स्यादिव ।

1-जना ब-ब. ० । 2-सम्बन्धेषु थ. ० । 3-दुःखाहेतुषु ब. ०, आ. ० । 4-त्र भावान् ब. ० । 5-
त्वेऽस्यात्मीय-थ. ० । 6-रथासद्भा-ब. ० । 7 निर्विशेषात्स्य सद्भावेन ब. ० । 8-स्त्वैव त्यागे संभ-
वात् थ. ० । 9 सारूप्यादि-थ. ० । 10-सम्बन्धाभावेषु थ. ० । 11 गुणदर्शनमस्तीति ब. ०, आ. ० । 12-
स्नेहव्यावृ-ब. ० । 13 स्नेहबाध-ब. ० । 14 इत्यसु-ब. ० । 15 अन्यो हि आ. ० । 16-हेतुत्वाख्यगुणदर्श-
नात् ब. ०, थ. ० । 17 अपेक्षा-थ. ० ।

तत्रासौ विरज्यते तदा आत्मन्यपि विरज्यताम् तैथाविधदुःखहेतुत्वस्य तत्राप्यविशेषात्, तत्राविरागे वा अन्यत्रापि न विरज्येत विशेषाभावादिति; अत्र अज्ञमात्मानमिप्रेत्य एव-मुच्यते, तद्विपरीतं वा ? यदि अज्ञम्; तदा सिद्धसाधनम्, हेतौपादेयतत्त्वज्ञानरहिते तथाविधदुःखहेतौ आत्मनि वैराग्याऽभ्युपगमात् । हेतौपादेयतत्त्वज्ञानवति तु तस्मिन् तथाविधदुःखहेतुत्वाभावात् वैराग्यम् ।

5

यच्चोक्तम्—‘कायक्लेशस्य कर्मफलत्वात्’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; हिंसादिविरतिलक्षणवृत्तौपबृंहकस्य कायक्लेशस्य कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात् । व्रता-विरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात् तपोऽभिधीयते । न चैवं नारकादिकायक्लेश-स्यापि तपस्त्वानुपङ्गः; तस्य हिंसायावेशप्रधानतया तद्विरोधित्वासंभवात् । अतः कथं प्रेक्षावतां तेन समानता मुमुक्षुकायक्लेशस्य आपादयितुं युक्ता ?

10

यदपि शक्तिसङ्करपक्षे ‘स्वल्पेनैव’ इत्याद्युक्तम्; तत्तूक्तम्; ‘विचित्रफलदानस-मर्थानां कर्मणां शक्तिसङ्करे सति क्षीणमोहान्त्यसमये अयोगिचरमसमये च अक्लेशतः स्वल्पेनैव परमशुद्ध्यानुरूपेण तपसा प्रक्षयाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेऽन्याथानुपपत्तेः । स तु तच्छक्तिसङ्करः बहुतरक्लेशाध्यः इति युक्तः तदर्धोऽनेकविधोपवासादि-तुंश्चरकायक्लेशाद्यनुष्ठानप्रयासः, तमन्तरेण तत्सङ्कराऽप्रसिद्धेः । अतः कथञ्चिदनवच्छिन्नो ज्ञानसंतानोऽनेकविधदुर्धरतपोऽनुष्ठानात् मुच्यते इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ॥ छ ॥

15

ननु ‘अनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानः’ इत्युक्तम्; सुषुप्ताद्यवस्थार्यामपि तदवच्छेदप्र-तीतेः । किञ्चिदपि अपरिच्छिन्दन्नेव हि ‘सुषुप्तः’ इत्युच्यते, तत्र ज्ञानमिति वैशेषिका-ज्ञानसद्भावे तदपरिच्छेदानुपपत्तेः । यदि च तत्र ज्ञानसद्भावः स्यात् दीनां पूर्वपक्षः— तदा जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदो न स्यात्, उभयत्र स्वपरावभासिज्ञान-सद्भावाऽविशेषात् । तत्र तत्सद्भावेऽपि निद्रयाऽभिभवात्, जाग्रदवस्थायाञ्च तदभावात्

20

(१) जन्मजरामरणादिप्रबन्धकारणत्वस्य । (२) स्थ्यादिष्वपि । (३) तुलना—“यादृशो दुःखहेतुः स्तादृशो हेतु एव, सोपाधिश्च तथा । निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्; न; अशक्यत्वाभिप्रेत्योजनत्वाच्चा” —आत्मत० पृ० १०६ । (४) आत्मनि । (५) पृ० ८४१ पं० २ । (६) “हिंसाविरतिरूपवृत्तौपबृंह-कस्य कायक्लेशस्य कर्मत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात् ।”—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (७) व्रताविरोधि-त्वाभावात् । (८) नारकादिक्लेशेन । (९) पृ० ८४१ पं० ५ । (१०) “विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिरसंकरे सति ।”—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (११) “सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति ।”—मुक्ता० का० ५६ । (१२) “सुषुप्तावस्थार्यां ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्, उभयत्रापि स्वसंवेद्यज्ञानस्य सद्भावाविशेषात् ।”—प्रश० व्यो० पृ० २० ड । (१३) “सुषुप्तौ निद्रयाभिभूतत्वं विशेष इति चेत्; असदेतत्; तद्धर्मतया तस्यापि तादात्म्येन अभिभावकत्वासंभवात् । व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यम् । अभिवश्च यदि

1-लक्षणं वृ-ब० । 2-‘तत्सूक्तम्’ नास्ति श्र० । 3-वाक्लेशतः श्र० । 4-दुःकरकाय-श्र० ।

5-सन्तानो नैकविध-ब० । 6-ये च तदपरि-ब० ।

नानयोरविशेष इति चेत्; ननु कोऽयं तयौ ज्ञानस्याऽभिभवो नाम—नाशः, तिरोभावो वा ? यदि नाशः; कथं तत्र तत्सद्भावः तस्यै तद्विरोधित्वात् । अथ तिरोभावः; तत्र; स्वपर-प्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यनुपपत्तेः । अतः सुषुप्ताद्यवस्थायाम् उपलब्धिलक्षण-प्राप्तस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः अभाव एव ज्यायानिति ॥छा॥

- 5 अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘किञ्चिदप्यपरिच्छिन्दन्नेव हि’ इत्यादि; तद-सुषुप्ताद्यवस्थायां समीचीनम्; सुषुप्ताद्यवस्थायां स्वापादिसंवेदनस्य तत्सुखसंवेदनस्य च ज्ञानसद्भावप्रसाधनम् सद्भावात् । तत्र हि ज्ञानानभ्युपगमे ‘सुखमहमस्वाप्सम्’ इति सुप्तो-स्थितस्य स्वापसुखस्मरणस्य ‘एतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोऽहम् एतावत्कालञ्च सान्तरम्’ इति स्वार्पस्मरणस्य चाभावानुषङ्गात्, तस्यै ज्ञातवस्तुविषयत्वेन स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावि-
10 त्वात् । यत् स्मरणं तत् स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावि यथा घटादिस्मरणम्, स्मरणञ्च सुप्तोस्थितस्य स्वापसुखादिसंवेदनमिति । अस्य स्वविषयज्ञानान्तरमन्तरेणाप्याविर्भावो घटादिस्मरणस्यापि तदन्तरेणाविर्भावः स्यात्, अतः कुतस्तदनुभवादिरपि सिद्धेत् ? ततः सुषुप्ताद्यवस्थायां येनानुभवेन स्वापसुखादिस्मरणमाविर्भाव्यते स तद्विषयोऽभ्युपगन्तव्यः ।

- एतेन मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि ज्ञानसद्भावः प्रसाधितः; तदवस्थायाः प्रच्यु-
15 तस्य ‘तदा मया न किञ्चिदनुभूतम्’ इति स्मरणनिबन्धनेन येनानुभवेन सता आत्मा निखिलानुभवविकल्पोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽनुभवोऽभ्युपगन्तव्यः, तमन्तरेण तत्स्मरणानुपपत्तेः । न च सुषुप्ताद्यवस्थायां स्वापसुखस्य तत्संवेदनस्य वा ‘इदमित्थम्’ विनाशः; न विज्ञानस्य सत्त्वं विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम् । अथ तिरोभावः; न; विज्ञानस्य सत्त्वेन तत्सत्त्वं संवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ड ।

(१) निद्रया । (२) नाशस्य । (३) सद्भावविरोधित्वात् । (४) पृ० ८४७ पं० १८ । (५) ‘ततश्च सुषुप्तावनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपाज्ञानञ्चेति त्रयमप्युत्थितेन परामुश्यते सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति ।’—विवरणप्र० पृ० ६० । (६) “अस्ति चात्र स्वापलक्षणाधिकारनिष्पण्णम्—एताव-त्कालं निरन्तरमुप्तोऽहमेतावत्कालं सान्तरमित्यनुस्मरणप्रतीतिः ।”—प्रमेयक० पृ० ३२३ । (७) स्मर-णस्य । (८) अनुभवात्मक । (९) तुलना—“मुप्तमूर्च्छाद्यवस्थासु चेती नेति च ते कुतः । निश्चयो वेदनाभावादिति चेत्स कुतो गतः । यदीत्यं भवतस्तासु निश्चयः संप्रवर्तते । न वैद्यं चित्तमित्येवं सति सिद्धा सच्चित्तता । यदि च तासु मूर्च्छाद्यवस्थासु न वेद्यमहिं चित्तमित्येवं निश्चयः प्रवर्तते भवतः, तदा तेनैव तथा प्रवृत्तेन निश्चयेन सच्चित्तता सिद्धा ।”—तत्त्वसं०, पं० पृ० ५४० । प्रमेयक० पृ० ३२३ । “स्वप्नमूर्च्छाद्यवस्थासु चित्तं च यदि नेष्यते । मृतिः स्यात्तत्र चोत्पत्तो मरणभाव एव वा ।”—तत्त्वसं० पृ० ५४१ । (१०) निखिलानुभवविकल्पस्य आत्मनः स्मरणानुपपत्तेः । (११) तुलना—“स्यान्तर् यदि विज्ञानं दशास्वास्वस्ति तत्कथम् । न स्मृतिः प्रतिबुद्धादेः तदाकारा भवेदिति ॥ तदकारणमत्यर्थं पाटवादेरसम्भवात् । स्मरणं न प्रवर्तते सद्योजातादित्तिवत् ॥—यदि ह्यनुभूत इत्येतावन्मात्रेणैव स्मरणं स्यात्स्यादेतत्, यावता सत्यप्यनुभवे पाटवाभ्यासाधिक्यादिवैकल्यात् स्मरणं न भवति, यथा सद्योजाताद्यवस्थायामनुभूतस्यापि चित्तस्य ।”—तत्त्वसं०, पं० पृ० ५४० । प्रमेयक० पृ० ३२५ ।

1 स्वप्नादिसं—श्र० 2 तत्सुखसंवेदनस्य नास्ति श्र० 3 तत्र विज्ञाना—श्र० 4—मस्वापम् ब० ।
5 यत् स्वसंस्मरणं ब० । 6—निबन्धनो येना—श्र०, ब० । 7 ननु सुषुप्ता—श्र०, न च सुप्ता—श्र० ।

इति निरूपणाभावादभावः इत्यभिधातव्यम्; तदहर्जातबालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनित-
सुखेन तत्संवेदनेन चाऽनेकान्तात् । न खलु तेनेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते, अथ च
अस्ति । नच दुःखाभावात् सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौणः; अभावस्य प्रतियोगिभावान्तर-
स्वभावतया अभावविचारावसरे व्यवस्थापितत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'तत्र ज्ञानसद्भावे' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; तत्र ज्ञानस-
द्भावेऽपि जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदोपपत्तेः । यत्र हि अनभिभूतं बाह्याध्यात्मिकाऽर्थविचार-
चतुरं ज्ञानं सा जाग्रदवस्था, यत्र तु निद्राद्यभिभववशात्तद्विपरीतं सा सुषुप्तावस्था ।

यदपि—'कोऽयं निद्रादिना ज्ञानस्याभिभवः' इत्याद्युक्तम्; तत्रास्य तद्वशाद् बाह्या-
ध्यात्मिकार्थविचारविचुरत्वमेवाऽभिभवः । स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्तस्यै कथं तद्विधुर-
त्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; गच्छतृणस्पर्शसंवेदनेन व्यभिचारात्, तस्य तत्त्वभावत्वेऽपि
तन्निरूपणासामर्थ्यप्रतीतेः । नहि तत्त्वभावत्वमात्रेणैव ज्ञानस्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्;
सर्वत्रानभिभूतस्यैवास्यै तन्निरूपणसामर्थ्यसंभवात् । यथा च गच्छतृणस्पर्शसंवेदनम्
अन्यमनस्कतयाऽभिभूतम् तथा सैवप्रादिसंवेदनं निद्रादिना इति युक्तमुत्पश्यामः ।
कथञ्चैवंवादिनो मणिमन्त्रादिना अग्न्यादेः शरावादिना च प्रदीपादेः प्रतिबन्धः सिद्धेत् ?
नहि तेनैतत् नार्थः प्रतिबन्धः संभवति; प्रत्यक्षविरोधात् । नापि तिरोभावः; स्वैकार्य-
जननसमर्थस्यास्य तिरोभावस्याप्यसंभवात् । प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्य-
प्रतिबन्धाभ्युपगमः अन्यत्रापि समानः ।

किञ्च, सुषुप्तावस्थायां ज्ञानाभावं स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? यदि
स एव; किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञा-
नान्तराद्धा ? न तावत्तत एव; अस्याऽसत्त्वात् । यदसन्न तत् कस्यचित्पतिपत्तिहेतुः

(१) प्रतियोगिनः सकाशात् यदभिन्नं भवान्तरं भूतलादि तत्त्वभावतया । (२) पृ० ८४७ पं०
१९।(३) 'मिद्रादिसामग्रीविशेषाद्, विशिष्टं सुषुप्तावस्थायां गच्छतृणस्पर्शज्ञानतुल्यं बाह्याध्यात्मिकप-
दार्थानेकधर्मग्रहणविमुखं ज्ञानमस्ति अन्यथा जाग्रत्प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति ।'—सम्मति०
टी० पृ० १६३ । प्रमेयक० पृ० ३२३ । (४) पृ० ८४० पं० १ । (५) ज्ञानस्य । (६) स्वपरप्रकाशनस्व-
भावत्वमात्रेण (७) ज्ञानस्य । (८) तुलना—'मणिमन्त्रादिना अग्न्यादिप्रतिबन्धे शरावादिना प्रदीपादि-
प्रतिबन्धेऽपि च समानत्वात् ।'—प्रमेयक० पृ० ३२२ । (९) मन्त्रादिना शरावादिना वा । (१०)
अग्न्यादेः प्रदीपस्य वा । (११) निद्रया ज्ञानस्याभिभवेऽपि । (१२) तुलना—'तदवस्थायां विज्ञानाभा-
वप्राहकप्रमाणासंभवात् । तथाहि—न तावत्सुप्त एव तदवस्थायां विज्ञानाभावं वेत्ति; तदा विज्ञानान-
भ्युपगमेत् । तदवगमे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तदवस्थायां तदभावः । नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभावं
वेत्ति; कारणव्यापकस्वभावानुपलब्धीनां विरुद्धविधेर्विज्ञान विषयेऽव्यापारात्, अन्यस्य तदभावभावभास-
कत्वायोगात् ।'—सम्मति० टी० पृ० ९० । प्रमेयक० पृ० ३२३ ।

१ तत्र तेन श्र० । २ सुषुप्तादिसंवेदनं श्र० । ३ वेदनतस्य श्र० । ४ नाशः संभ-व० ।
५ स्वकायजनन-व० ।

यथा वन्ध्यास्तन्धयः, असत्त्व सुषुप्ताद्यवस्थायामभिप्रेतं भवद्भिः ज्ञानमिति । नापि तद-
भावात्; परिच्छेदकत्वस्य ज्ञानधर्मतया तदभावे संभवाभावात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव
'अभाव' इति नामकृतं स्यात् ।

तदनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविनः, अन्यकालभाविनो वा तत्र तदभावप्रतिपत्तिः
5 स्यात् ? प्रथमपक्षे कथं तत्र सर्वथा ज्ञानाभावः ? तदभावग्राहिणोऽनुपलम्भज्ञानस्य
तत्र विद्यमानत्वात् । नापि अन्यकालभाविनः, तस्य तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वायोगात् । नहि
अन्यकालोऽनुपलम्भोऽन्यकालस्याभावस्य प्रतिपत्तिहेतुः अतिप्रसङ्गात् । अनुपलम्भश्च
उपलम्भाभावः, अभावश्च आश्रयग्रहण-प्रतियोगिस्मरणसापेक्षः ग्रहीतुं शक्यः, तत्परतन्त्र-
तया तद्ग्रहणस्मरणाभावे ग्रहीतुमशक्यत्वात् । अतः अनुपलम्भं तत्रेच्छता तदाश्रय-
10 तया तत्र प्रथममात्मा परिच्छेत्तव्यः प्रतियोगी च स्मर्त्तव्यः, अतः कथं सुषुप्ताद्यव-
स्थायां सर्वथा ज्ञानाभावः सिद्धेति ? तन्न अनुपलम्भतोऽपि तत्र तदभावसिद्धिः ।

नापि जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञानान्तरात्; तदपेक्षया सुषुप्तादिज्ञानस्य उपलब्धि-
क्षणप्राप्तत्वासंभवात्, तदज्ञाभाविनः तदभावग्राहिणः कस्यचिज्ज्ञानान्तरस्याऽप्रतीतेश्च ।
'निर्भरसुप्तेन मैया न किञ्चिज्ज्ञातम्' इति प्रबोधदशाभाविज्ञानं तदभावग्राहकत्वेन
15 प्रतीयते एव; इत्यप्यपेशलम्; एतस्मात् तदा तैस्त्वावस्थैव प्रतीतेः । स्मृतिरूपं हि इदम्,
'स्मृतिश्च तदज्ञायां तदभावग्राहिज्ञानान्तरमन्तरेण नोपपद्यते' इत्युक्तमन्तरमेव, तन्न
सुषुप्ताद्यवस्थायां स एवात्मा ज्ञानाभावं प्रतिपत्तुं समर्थः ।

नापि पार्श्वस्थः; कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धेः विरुद्धविधेर्वा तदभावाऽविनाभा-
विनो लिङ्गस्य अत्रासंभवात् । न च तत्र तत्सद्भावाऽविनाभाविनोऽप्यस्यैऽसंभवः समान
20 इत्यभिधातव्यम्; ईवात्मनि तदविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकार-
विशेषादेः तत्सद्भावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य अत्रोपलब्धेः, जाग्रदज्ञायामपि अन्यचेतो-
वृत्तेः तद्व्यतिरेकेण अन्यतोऽप्रतिपत्तेः ।

ननु द्विविधोऽत्र प्राणादिः—चैतन्यप्रभवः, प्राणादिप्रभवश्च । तत्र चैतन्यप्रभवो

(१) ज्ञानाभावे । (२) सुषुप्ताद्यवस्थायाम् । (३) ज्ञानाभाव । (४) आश्रयभूतस्य
आत्मनो ज्ञानमयं च ज्ञानाभावस्य प्रतियोगिनो ज्ञानस्य स्मरणमस्त्येवेति भावः । (५) सुषुप्तिदशायाम् ।
(६) ज्ञानाभाव । (७) लिङ्गस्य । (८) तुलना—'स्वात्मनि स्वसंविदितविज्ञानाविनाभूतत्वेन
निश्चितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेः तदवस्थायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सद्भावेन अनुमान-
प्रतीत्युत्पत्तेः'—सम्मति० टी० पृ० १० । प्रमेयक० पृ० ३२४ । (९) ज्ञानाविनाभावित्वेन । (१०)
प्राणापानशरीरोष्णतादिभ्य एव ज्ञानं प्रतीयत इत्यर्थः । (११) 'ननु द्विविधोऽत्र प्राणादिः चैतन्य-
प्रभवो जाग्रदज्ञायाम्, प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति'—प्रमेयक० पृ० ३२४ ।

१ तत्प्रतिहेतुत्वा-आ०, व० । २-कालस्य भावस्य आ० । ३ निर्भरत्वप्तेन मया न कि-व०,
आ० । ४ मया किञ्चिज्ज्ञानम् अ० । ५ तदभावस्यैव अ० ।

जाग्रदृशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति । तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद-
शायाम् चैतन्यानुमानं युक्तम् न पुनः प्राणादिप्राणादेः । न खलु गोपालघटिकादौ धूमप्रभव-
धूमादन्यानुमानं दृष्टम् अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्; इत्यप्यचारुः; सुषुप्तेतरावस्थयोः
प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीतेः । यथैव हि सुषुप्तः प्राणिति तथैव इतरोऽपि, अन्यथा 'किमयं
सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवाः न
स्युः तर्हि जाग्रतः परंवच्चनान्भिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनाऽवस्थितस्य तादृशमेव तेषां संभवो
न स्यात् । नहि अग्नेर्जायमानो धूमः प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते, धूमप्रभवो
वाऽग्नेः इति । दृश्यन्ते च यादृशा एव सुषुप्तस्य प्राणादयः तादृशा एव अस्यापि ।
तन्नैते भिन्नकारणप्रभवाः । चैतन्येतरप्रभवांश्च प्राणादीन् विवेचयन् वीतरागेतरप्रभवान्
व्यापारादीनपि विवेचयतु । तथा च "सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च
सरागवत् अतो वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्यः" [] इति विप्लवते । 10

सुषुप्तादौ च प्रथमः प्राणादिः कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणो जाग्र-
त्याणादेः इति चेत्; न; एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानात् अनन्तरभावी प्राणादिः कालान्तरभावि
च प्रबोधज्ञानम् इत्यस्याऽसम्भाव्यमानत्वात् । नहि एकस्मात् सामग्रीविशेषात् क्रम-
भाविकार्यद्वयसंभवो युक्तः; अन्यथा नित्यादप्यक्रमात् क्रमवत्कार्यद्वयोत्पत्तिः स्यात् । 15
तथा च "नाकमात् क्रमियो भावाः" [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोधः । तस्मात्
सुषुप्तावस्थाभाविन एव ज्ञानात् तत्कालभाविप्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्यः; अतः कथं
तत्र ज्ञानाभावसिद्धिः ? ततो ज्ञानस्य कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात् सिद्धोऽनवच्छिन्नो
ज्ञानसन्तानः, तस्य च मुक्तिकारणानुष्ठानात् प्रतिबन्धककर्मप्रक्षये अनन्तचतुष्टयस्वरूप-
लाभो मोक्ष इति । 20

तथा च घातिकर्मप्रक्षये समुत्पन्नकेवलज्ञानादेर्भगवतो मुक्तिर्यैरभिप्रेता तैः जीव-
न्मुक्तये दत्तो जलाञ्जलिः अनन्तचतुष्टयासंभवात् । कवलाहारो हि क्षुद्रेदनोदये
गृह्यते, तदुदये च क्षुद्रेदुःखसंभवात् भगवतः कैथमनन्तं सौख्यम् ? यतोऽनन्तचतुष्टय-
स्वरूपलाभलक्षणा जीवन्मुक्तिः स्यात् । न च तत्र मुक्त्यावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति ॥छ॥

- (१) "यथैव हि सुषुप्तः प्राणिति तथेतरोऽपि, अन्यथा 'किमयं सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति
सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्युः किन्तु प्राणादिप्रभवाः; तर्हि जाग्रतः
परवच्चनान्भिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशमेव तेषां भावो न स्यात् ।"—प्रमेयक० पृ० ३२४ ।
(२) प्राणप्रभवाणामेव प्राणादीनाम् । (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ६०३ टि० १। (४) "एकस्माज्जाग्रद्विज्ञा-
नादनन्तरभावी प्राणादिः कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासंभाव्यमानत्वात् ।"—प्रमेयक० पृ० ३२५ ।
(५) द्रष्टव्यम्-पृ० ६१९ टि० १० । (६) श्वेताम्बरैः यापनीयैश्च । (७) केवलानि ।

१ सुतः आ० । २ एव मुक्तस्य व० । ३ विवेचयेत् अ० । ४ सुप्तादौ च आ० । ५ भाविप्राणादेः
का-अ० । ६ द्वयस्य संभ-व० । ७-सिद्धेः अ० । ८ कथमनन्तसौख्यं आ० । ९-कं कञ्चित् व० ।

- नन्विदमस्ति—यदा भुक्तिः अविकलकारणा तदाऽसौ भवत्येव यथा लब्धस्वाध-
 स्थायाम्, तथाभूता चासौ संयोगिकेवल्यवस्थायामिति । १ द्विविधं
 'केवलिनः कवलाहा-
 रिणः' इति श्रेताम्ब-
 राणां यापनीयशक्त्या-
 5 यनस्य च पूर्वपक्षः— वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयलक्षणं भगवति अविकलमेव । यतो हि
 शरीरेन्द्रियादिनिष्पत्तिः सा पर्याप्तिः । वेद्यं सुखदुःखसाधकं कर्म । तैजसम् अन्त-
 स्तेजः शरीरोष्मा, यतो मुक्ताऽन्नादिपाको भवति इति । दीर्घमायुः चिरजीवनकारणं
 कर्म । एतदुदयात् क्षुद्रेदना उपजायते, अस्ति च तदुदयो भगवति अतो भुक्तिसिद्धिः ।
 तदनभ्युपगमे वा तत्र क्षुदभावः प्रमाणान् प्रतिपत्तव्यः । तच्च प्रमाणम्—आगमः,
 10 अन्यद्वा स्यात् ? न तावदागमः; सिद्धवत् संयोगिकेवलिनो क्षुदभावप्रतिपादकस्य आग-
 मस्याऽसंभवात्

- प्रमाणान्तराच्च निषेधः स्वभावानुपलम्भात्, अन्यतो वा स्यात् ? न तावत्
 स्वभावानुपलम्भात्; केवलिनो विप्रकृष्टस्वभावत्वात् । नच विप्रकृष्टस्वभावे भावे
 स्वभावानुपलम्भो युक्तः; एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भलक्षणत्वात्तस्य । अन्यतोऽपि
 15 विधीयमानात्, निषिध्यमानाद्वा तन्निषेधः स्यात् ? यदि विधीयमानात्; तदा तेन विरो-
 धिना भवितव्यम्, अविरुद्धविधेरभावाऽसाधकत्वात् । न च क्षुद्रिरोधि केवलिनो
 किञ्चित् प्रतीयते । न च ज्ञानादिगुणा एव तत्र तद्विरोधिनः इत्यभिधातव्यम्; यतो
 ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः, तद्विशेषस्य वा ? यदि ज्ञानादिमात्रस्य; तर्हि यथा यथा
 तद्गुणा विवर्द्धन्ते तथा तथा क्षुधो हानितारतम्येन भवितव्यम् प्रकाशविबुद्धाविव तमसः,
 20 न चैवमस्ति । नहि बालादौ ज्ञानाद्युपचये क्षुदुपचयः, ततः प्रभृति च ज्ञानाद्युपचये
 तारतम्येन क्षुदुपचयो लक्ष्यते । तत्र ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः । अथ ये

(१) "अस्ति च केवलभुक्तिः समग्रहेतुर्यथा पुरा भुक्तेः । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो
 हेतुः ॥ नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्तं विरोधिनो न गुणाः । ज्ञानादयो जिने किं सा संसारस्थिति-
 नास्ति ।"—केवलभू० श्लो० १-२ । सन्मति० टी० पृ० ६१२ । स्या० २० पृ० ४७४ । आध्यात्मिक०
 पृ० ६३ B. 1 "अस्ति केवलिनो भुक्तिः समग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चैवं प्रक्षेपाहारस्य,
 तद्यथा पर्याप्तत्वं वेदनीयोदयः आहारपक्षितनिमित्तं तैजसशरीरं दीर्घायुष्कत्वं चेति ।"—सूत्रकृ० श्लो०
 पृ० ३४५ । युक्तिप्र० पृ० १५३ । (२) "यतः कवलाहारभुक्तेर्द्विधा कारणं बाह्याभ्यन्तरं च । तत्र
 बाह्यमशनादि, तत्तावदस्त्वेव न तत्र कस्यापि विवादः । आभ्यन्तरं पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदय-
 लक्षणम् ।"—स्या० २० पृ० ४७५ । (३) "तम इव भासो वृद्धौ ज्ञानादीनां न तारतम्येन । क्षुध्
 हीयतेऽत्र न च तज्ज्ञानादीनां विरोधगतिः ॥ अविकलकारणभावे तदव्यभावे भवेदभावेन । इदमस्य
 विरोधीति ज्ञाने न तवस्ति केवलिनः ।"—केवलभू० श्लो० ३-४ । स्या० २० पृ० ४७३ । "न कवला-
 हारवत्येन तस्यासर्वज्ञत्वं कवलाहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात् ।"—प्रमाणनव० २।२७ ।

1 संयोगिकैव—व० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 2 'भावे' नास्ति श्र० । 3-तव्यस-
 विधेरभा—आ० । 4 ज्ञानाद्युपचये व० ।

केवलिगता ज्ञानादयः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ताः तेषामेव क्षुधा विरोधः; तन्न; तथाप्रतिप-
त्तुमशक्तेः । नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इति अर्वाग्दृशा प्रतिपत्तुं शक्यम्;
अतीन्द्रियत्वात्तेषाम् ।

किञ्च, अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति शीतस्पर्शस्येव
अग्निस्त्रिधौ । ऐतच्चत्रात् दुर्घटम्—केवलिरुणानामतीन्द्रियतया 'एतस्त्रिधौ क्षुन्न भवति' 5
इति प्रतीतेरनुपपत्तेः । तन्न विधीयमानात् कुतश्चित् तत्र क्षुधोऽभावसिद्धिः ।

निषिध्यमानश्च भावः तस्याः कार्यम्, कारणम्, व्यापको वा स्यात् ? यदि
कार्यम्; तदात्मनिर्वर्त्तनसमर्थोऽविकलकारणस्यैव तत् निवृत्तिसवगमयेत् न कारण-
मात्रस्य, अस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात् । कारणमपि निवर्त्तमानं कार्यं निवर्त्तयति
यथा वह्निर्धूमम्, व्यापकं वा निवर्त्तमानं व्याप्यम् यथा वृक्षः शिशापाम् । न चात्र 10
क्षुधः कारणस्य व्यापकस्य वा कस्यचिन्नित्तिरस्ति । नच मोहनीयादिकर्मचतुष्टयाऽभा-
वात् क्षुधोऽभावः; तस्याः तत्कार्यत्वस्य तत्त्वभावत्वस्य वाऽसंभवात् । नहि क्षुत् तैत्कर्म-
चतुष्टयकार्या; प्राक्प्रतिपादितबाह्याभ्यन्तरकारणप्रभवत्वान्तस्याः । प्रतीपक्षभावनयाऽ-
निवर्त्त्यत्वेन मोहस्वभावत्वाऽसंभवाच्च; यो हि मोहस्वभावः स प्रतिपक्षभावनया निवर्त्त्यते
यथा क्षमादिभावनया क्रोधादिः, मोहस्वभावा च क्षुद् भवद्विरिष्टा इति । तथा च 15
क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे प्रतिपक्षभावनैव उपदिश्येत न क्लेशभूयिष्ठध्यानाध्ययनविघात-
कारिणी पिण्डैषणा । शीतोष्णवाधातुल्यत्वाच्च क्षुधो न मोहस्वभावत्वम्, अन्यथा तद्वा-

(१) "अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः ।"—न्यायवि० पृ० ९६ । (२)
विरोधज्ञानम् । (३) "निषिद्धमानश्च भावस्तस्याः कार्यं कारणं व्यापको वा स्यात् ।"—स्या० २० पृ०
४७३ । "किमेवं सति कवलाहारस्य व्यापकं कारणं कार्यं सहचरादि वा सार्वज्येन विरोधमभिवसेत् ।"—
रत्नाकराव० २।२७ । आध्यात्मिक० श्लो० ५ । (४) क्षुधः । (५) "यदि कार्यम्; तदा तन्निवर्त्त-
मानम् आत्मनिर्वर्त्तनसमर्थया एव क्षुधो निवृत्तिसवगमयेन्न तु सर्वथा, कारणमात्रस्य कार्याभावेऽपि
भावाविरोधात् ।"—स्या० २० पृ० ४७३ । (६) कारणमात्रस्य अनुकूलतमनः । (७) "ज्ञानावरणी-
यादेर्ज्ञानावरणादिकर्मणः कार्यम् । क्षुत् तद्विलक्षणास्यां न तस्य सहकारिभावोऽपि ॥"—केवलभू० श्लो०
१० । "न हि क्षुन्मोहनीयकार्या वेदनीयप्रभवत्वात् ।"—स्या० २० पृ० ४७३ । (८) "न क्षुद् विमो-
हपाको यत्प्रतिस्थानभावननिवर्त्या । न भवति, विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्यः ॥"—केव-
लभू० श्लो० ७ । स्या० २० पृ० ४७४ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९३ B. । आध्यात्मिक० पृ० ५९
B. । "यतो मोहविपाका क्षुन्न भवति तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिस्थानेन निवर्त्यमान-
त्वात् । तथाहि कषायाः प्रतिपक्षभावनया निवर्तन्ते...क्षुद्वेदनीयं तु रोगशीतोष्मादिवत् जीवपुद्गलत्रि-
पाकितया न प्रतीपक्षानामात्रेण निवर्तते अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति"—सूत्रक० शी० पृ० ३४६
A. । युक्तिप्र० पृ० १५० । (९) "शीतोष्णवाततुल्या क्षुत् तत्प्रतिविधानकाक्षा तु । मूढस्य
भवति मोहात् तथा भूषा बाध्यमानस्य । शीतोष्णक्षुदुद्वन्द्यादयो हि ननु वेदनीय इति ।"—केवलभू० श्लो०
८, १३ । स्या० २० पृ० ४७४ ।

१-यत्वात्सन्निधौ न० । २ भगवतीति आ० । ३ तदात्मनिवर्त्तनसमर्थविकल-अ० ।
४-भावे भावा-व० । ५ निवर्त्यते व० ।

धाया अपि मोहस्वभावत्वं स्यादविशेषात् ।

ननु भगवतः क्षुद्रभ्युपगमे अशेषज्ञत्वादिविरोधः, क्षुद्रदये अस्मदादिवत्तत्र ज्ञानदर्शनचेष्टादेः प्रक्षयात्; तदसमीचीनम्; ज्ञानावरणादिप्रक्षये जातायामपि क्षुधि ज्ञानादिक्षयाऽयोगात्, तत्क्षयो हि ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनः । अतः अस्मदादौ
 5 तैदुदयातिशयात् तैत्क्षयातिशयो युक्तः भगवति तु तदावरणादेरशेषस्यापगमात् सत्यामपि क्षुधि न ज्ञानादिक्षयः । नहि अग्न्यभावे सत्यपीन्धने धूमो भवति । तैत्कर्मचतुष्टय-
 प्रभवत्वे च क्षुधः “एकादश जिने त्रुतिपासादयः परीषहाः वेदनीयप्रमर्षाः” []
 इत्यागमविरोधः । नैच उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरतः सयोगकेवलिनः तावत्कालं
 कायस्थितिः मुक्तिं विना धटते । अथ अनन्तवीर्यत्वात् तं विनाप्यस्य तस्थितिः; तर्हि
 10 आँयुष्कर्मणापि विना तस्थितिप्रसङ्गात् न कदाचित् शरीराद्यपायः स्यात् इति मोक्षाय
 दत्तो जलाञ्जलिः । तस्थितेः आयुष्कर्मोपेक्षणे वा आहारापेक्षणमप्यस्तु उभयस्यापि
 तत्कारणत्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, प्रदीपज्वालाजलधारासमानं शरीरम्, तत्र च यथा तैलक्षये न प्रदीपज्वालाऽ-
 वतिष्ठते जलागमनमन्तरेण वा जलधारा तथा शरीरमपि मुक्त्यभावे न स्थितिर्मास्तिष्णुते ।
 15 अथ मुक्तिर्दोषः, यदुपवासादिप्रत्याख्यानं क्रियते, निर्दोषे च केवलनि दोषो
 विरुद्धः; तर्हि निषद्या गमनञ्च अर्हति न प्राप्नोति स्थानयोगादिना निषद्यादेः प्रत्याख्या-
 नात्, वचनञ्च न प्राप्नोति मौनव्रतिकोपलम्भात् ।

अथ मतम्—अशेषज्ञस्य मांसादिकं पश्यतः कथं मुक्तिः अन्तरायोपपत्तेः ? तद-

(१) “अनन्तं च सुखं भर्तुः ज्ञानादिगुणसंगतम् । क्षुधादयो न बाधन्ते पूर्णं त्वस्ति महोदये ॥”
 —द्वात्रि० ३०।११ । जैनतर्कभा० पृ० ८ । (२) ज्ञानावरणोदयात् । (३) ज्ञानक्षयातिशयः । (४)
 “निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादश परीषहाः सन्ति...अथवा एकादश
 जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः ।”—सर्वाधिसि० ९।११ । (५) “देशोनपूर्वकोटीविहरणमेवं सतीह
 केवलिनः । सूत्रोक्तमुपापादि न मुक्तिश्च न नियतकाला स्यात् ।”—केवलिभु० श्लो० २४ ।
 तन्मति० टी० पृ० ६१३ । सूत्रकृ० श्लो० पृ० ३४६ B. । स्या० २० पृ० ४८० । शास्त्रवा० टी० पृ०
 ३९५ A. । (६) भुक्तिम् । (७) “आयुरिवाभ्यवहारो जीवनहेतुर्विनाभ्यवहतेः । चेत्तिष्ठन्त्वन्तर्वीर्यं
 विनायुषा कालमपि तिष्ठेत् ॥ न ज्ञानवदुपयोगो वीर्यं कर्मक्षयेण लब्धिस्तु । तत्रायुरिवाहारोऽपेक्ष्येत
 न तत्र बाधास्ति ॥”—केवलिभु० श्लो० २०-२१ । स्या० २० पृ० ४८० । (८) “तैलक्षये न दीपो
 न जलागममन्तरेण जलधारा । तिष्ठति यथा ततोः स्थितिरपि न विनाहारयोगेन ॥”—केवलिभु०
 श्लो० ३१ । स्या० २० पृ० ४८० । (९) “भुक्तिर्दोषो यदुपोष्यते न दोषश्च भवति निर्दोषः ।
 इति निगदितो निषद्यार्हति न स्थानयोगादेः ॥”—केवलिभु० श्लो० २८ । स्या० २० पृ० ४८० ।
 (१०) “परमाववेर्युक्तस्य छद्मस्थस्येव नांतरायोऽपि । सर्वार्थदर्शनेऽपि स्यान्न चान्यथा पूर्वमपि
 भुक्तिः ॥”—केवलिभु० श्लो० ३२ । स्या० २० पृ० ४८० ।

१-याज्ञसयाति-ब० । २-वति तदा-श्र० । ३ कर्मचतु-ब० । ४ इत्याद्यागम-ब० ।
 ५-पूर्वकोटिविह-ब० । ६ घटेत् ब० । ७ तत्र यथा आ० । ८ भुक्तभावे आ० । ९-मास्तिष्ठते ब० ।
 १० भुक्तिदोषा यदु-आ० ।

सङ्गतम्; अवधिज्ञानिभिः परमर्षिभिरनेकान्तात्, ते हि सकलं त्रैलोक्यं पश्यन्ति अथ च भुञ्जते, एवं केवल्यपि । इन्द्रियविषये एव हि अन्तरायो नान्यत्र, अन्यथा लब्धस्थान-
वस्थायामप्यन्तरायः स्यात्, भगवता तदापि अवधिज्ञानेन अशेषवस्तुसाक्षात्करणत् ।

न च भुक्तौ जिह्वारसप्राप्तेः केवलिनो मतिज्ञानानुषङ्गः; यतो न इन्द्रियविषय-
सम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति । किं तर्हि ? तत्सम्बन्धे मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे च
सति । एतच्च प्रक्षीणाशेषावरणे केवलिनि नास्ति इति न तज्ज्ञानानुषङ्गः, अन्यथा
श्रोत्रादीन्द्रियाणां दिव्यतूर्यादिरवेण गणधरदेवादिरूपेण सुगन्धिकुसुमधूपवासादिगन्धेन
मरुत्सिंहासनस्पर्शेन सम्बन्धेऽपि मतिज्ञानमनुषज्येत ।

सं च भगवान् पूर्वाहे अपराहे च पादोनग्रहरं धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहा-
सनाधिरूढ आस्ते, शेषदिनं तु दिव्यस्थाने देवच्छन्दकाभिधाने गणधरदेवान्विहाय अन्य-
मनुष्यतिरश्चात्मगोचरे ईशानदिशायां समवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवर्त्तिनि गत्वा
पत्यङ्के आसने वा यथा सुखमास्ते । तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहारं सकलदोषशुद्धं
ज्ञात्वा क्षुद्रेदनोदये गृह्णाति । ते च 'आहारं' तदीयहस्ते निक्षिप्तं पश्यन्ति, कथमसौ
भुङ्क्ते' इत्येतत् न पश्यन्ति, मनुष्यतिरश्चां सर्वज्ञाहारनी(नि)हाराणामगोचरत्वात् इति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तमर्—'आहारवेद्यादिकर्मोदयलक्षणवाद्याभ्यान्तर-
कारणसद्भावात् क्षुदुदये सति अविकलकारणा भगवतो भुक्तिर्भ-
स्सरं केवलिनः नेक-
मंहारप्रसाधनम्—
वत्येव' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतः तत्सद्भावात्तदुदये केवलिनि
आहारमात्रं प्रसाध्येत कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्;

(१) "इन्द्रियविषयप्राप्तौ यदभिनिबोधप्रसञ्जनं भुक्ती । तच्छब्दगन्धरूपस्पर्शप्राप्त्या प्रति-
व्यूढम् ॥"—केवलभू० श्लो० ३३ । स्या० २० पृ० ४८० । "रसनं च मतिज्ञानमाहारेण भवेद्वि ।
प्राणीयं स्यात्तदा पुष्पघृणतर्पणयोगतः ॥"—द्वात्रिं० ३०।२१। (२) "पूर्वद्वारेण समवसरणे प्रविशत्यथ ।
प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वसिंहासने निषीदति । पादपीठन्यस्तपादः कृततीर्थनमस्कृतिः । विषते देशनां स्वामी
गम्भीरमधुरध्वनिः ।"—काललोक० ३०।३१-३२ । (३) "प्राकारस्य द्वितीयस्यान्तरे चोत्तरपूर्वतः ।
देवच्छन्दं विचक्रुस्ते स्वामिविश्रामहेतवे ॥"—त्रिषष्टि० १।३।४४४, ६७९। "इत्थं बलिबिधौ पूर्णं जिनाः
प्रथमवप्रतः । अवतीयं द्वितीयस्य वप्रस्यैशानकोणके । देवच्छन्दमागत्य सुखं तिष्ठन्ति नाकिभिः ।"—
काललोक० ३०।६८-६९ । 'तथाहि स भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनग्रहरं यावत् धर्मोपदेशकाल
एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते, शेषं तु दिनं देवच्छन्दकानाम्नि दिव्यस्थाने यथासुखं गमयति । तत्र च गण-
धरदेवैरानीतमाहारं निखिलदोषविशुद्धं विज्ञाय क्षुद्रेदनोदये गृह्णाति । आहारं च तदीयपाणिपल्लवव्यस्तं
मांसचक्षुषः पश्यन्ति, कथमसौ भुङ्क्ते इत्येतत् न पश्यन्ति, सर्वज्ञाहारनिहारयोमसिचक्षुषामगोचरत्वात् ।"
—स्या० २० पृ० ४६९ । (४) पृ० ८५२ पं० १ । (५) "अत्र किमाहारमात्रं प्रसाध्येत कवलाहारो
वा ?"—रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० ।

१ परममहर्षिभिरमहर्षिभिर-ब० । २ भूषवासादि-ब० । ३ पूर्वाह्णे च पादोन-आ०, ब० ।
४ अस्ति ब० । ५ तत्र गणधर-आ० । ६ तद्भावात्-ब० ।

“आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः” [

] ईत्यभ्युपगमात् । पङ्क्तिविधो हि

आहारः प्रैवचने प्रसिद्धः—

“नोकैम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।

उज्ज मणो वि य कमसो आहारो ख्विहो येयो ॥” [भावसं० गा० ११०]

- 5 इत्यभिधानात् । तत्र च कवैलाहाराभावेऽपि अन्यस्य कर्म-नोकर्माऽऽदानलक्षणस्य आहारस्य भावात् न आहारित्वं भगवतो विरुद्धम् । न च कवलाहारेणैव आहारित्वं जीवानामित्यभ्युपगमो युक्तः; ऐकेन्द्रियाण्डजत्रिदशानाम् अमुञ्जानतिर्यङ्मनुष्याणाञ्च अनाहारित्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु त्रिदैशादिभिर्व्यभिचारः; तेषां वेद्यादिकर्मोदयात् क्षुद्रुदये सत्यपि कवलाहाराभावात् । अथात्रै तदुदयः तैमसाद्यन्नपि केव-
- 10 लिनि प्रसाधयति; तदेतत् केवलिनो महन्माहात्म्यम्—यद्विषयविषमग्रहाभिभूतप्राणिषु

(१) “आहारा ऐदियप्पहुडि जाव सजोगकेवलिंत्ति—अत्र कवललेपोभमतः कर्माहारान् परि-त्यज्य नोकर्महारो ग्राह्यः ।”—छक्खं, टी० पृ० ४०९ । “आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि ।”—सर्वार्थसि० १।८ । “यावरकायप्पहुदी सजोगिचरमोत्ति होदि आहारी ।”—जीव-का० गा० ६९७ । (२) “नोकैम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो ख्विहो येयो ॥ नोकैम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं । कवलाहारो णरपसु ख्वेसु य लेप्पमाहारो ॥ पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्जेसु वट्टमाणाणं । देवेषु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केव-लिणो । नोकैम्मकम्महारो उव्वारेण तस्स आयमे भणिओ । ण हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा ॥”—भावसं० गा० ११०—११३ । भावसं० श्लो० २२६ । उद्धृत्यम्—प्रमेयक० पृ० ३०० । प्रवचनसा० टी० पृ० २८ । रत्नक० टी० टि० पृ० ५ । श्वेताम्बरागमेषु त्रिविध आहारः प्ररूपितः—“भावाहारो तिबिहो ओए लोमे य पक्खेवे । सरीरेणोयाहारो तयाय फासेण लोमआहारो । पक्खेवा-हारो पुण कावलियो होइ नायव्वो । ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुण्येयव्वा । पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वो ॥ एयिदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो । सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥”—सूत्रकृ० नि० गा० १७०-७३ । बौद्धधर्मसंग्रहे पंचधा आहाराः प्ररूपिताः—“पंचाहाराः ध्यानाहाराः कवलीकाहाराः प्रत्याहाराः स्पशाहाराः संचेतनिकाहाराश्चेति ।”—धर्मसं० पृ० १५। (३) “जरवाहिदुक्खरहियं अहारिणहारवज्जियं विमलं । सिंहाण खलसेओ णत्थि दुग्ंछा य दो सो य ।”—बोधपा० गा० ३७ । “पडिसमयं दिव्वतमं जोगी नोकैम्मदेहपडिबद्धं । समयपवद्धं बंधदि गलिवसेसा-उमेत्तठिदी ॥”—लब्धिसा० गा० ६१४ । “लभान्तरायस्यालोपस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रि-याणां केवलिनं यतः शरीरबलानहेतव्यमनुजाऽसाधारणाः परमशुभाः सुक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सन्बन्धमूपायन्ति स क्षायिको लाभः ।”—सर्वार्थसि० २।४ । “नोकैर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽ-हंतः । देहस्थितिर्नवत्येतत्समाकमपि सम्मतम् ॥”—भावसं० श्लो० २२८ । “प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता; आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यभ्युपगमात् ।”—रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० । “ततो नोकर्मिहारापेक्षया केवलिनमाहारकत्वम् ।”—प्रब० टी० पृ० २९ । (४) “ऐकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते । आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि । इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूविका । देहस्थितिनं वक्तव्या ।”—भावसं० श्लो० २३०-३१ । प्रमेयक० पृ० ३०० । (५) “देवदेहस्थित्या व्यभिचारः”—रत्नक० टी० पृ० ५ । (६) देवादिषु । (७) कवलाहारम् ।

१ नोकर्मकर्महारो अ० । २ न कव-आ० । ३ यदुदये आ०; वं० । ४ यद्विषये विषय-आ० ।

कवलाहारप्रसाधनाऽसमर्थोऽपि तदुदयः तत्र समर्थो भवतीति !

किञ्च, 'तत्र तदुदयः तैत्साधनसमर्थः' इत्येतत् कुतः प्रतिपन्नम्—अभ्युपगम-
मात्रात्, प्रमाणतो वा ? यदि अभ्युपगममात्रात्; अतिप्रसङ्गः, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धि-
प्रसङ्गात् । अथ प्रमाणतः; किमत्र प्रमाणम्—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा ?
प्रत्यक्षश्चेत्; किम् ऐन्द्रियम्, अतीन्द्रियं वा ? न तावदैन्द्रियम्; तस्य अशेषज्ञाहार-
निहाराऽगोचरत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा "आहारा य निहारा केवलिणो पच्छन्ना"
[] ईत्यागमविरोधः । 'अतीन्द्रियं तु तत्तत्र प्रवर्त्तते' इत्यत्र कोशपानं विधेयम् ।

अथानुमानम्; किमत्र लिङ्गम्—तदुदय एव, मनुष्यत्वम्, देहस्थितित्वं वा ?
न तावत्तदुदय एव; अस्य त्रिदशादिभिर्व्यभिचारप्ररूपणात् । नापि मनुष्यत्वम्;
अयोगकेवलानां अनेकान्तात् । अथास्य मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् नौऽनेन अनेकान्तः;
तर्हि असिद्धो हेतुः, सयोगकेवलिनोऽपि तद्वत्तदतिक्रान्तत्वात् । तदुक्तम्—

“मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ॥”

[बृहत्स० अनन्त० श्लो० ७५] इति ।

नापि देहस्थितित्वम्; तथाहि—'भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थिति-
त्वात् अस्मदादिदेहस्थितिवत्' इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्वं तस्थितेः प्रसाध्येत,
कवलाहारपूर्वकत्वं वा ? प्रथमपक्षे 'सिद्धसाध्यता' इत्युक्तम् । द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशा-
दिभिर्व्यभिचारः, तेषां कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिसंभवात् । अथ 'औदारिकशरीर-
स्थितित्वात्' इति विशिष्य उच्यते ततो न व्यभिचारः; तन्न; तदीयौदारिकशरीरस्थितेः
परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतया अस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात् । तस्याश्च
केवल्यवस्थायां केशादिविवृद्धयभाववत् तदुक्त्यभावोऽविरुद्ध एव ।

अथ तद्वृद्धयभावो 'देवोपनीतः न घातिकर्मक्षयजः येन तद्वत् केवल्यव-
स्थायां तदुक्त्यभावोऽप्यापाद्येत, बालोत्पादनानन्तरं हि इन्द्रो वज्रं नखकेशेषु भगवतो
भ्रामयति अतस्तद्वृद्धयभाव इति; तदुक्तम्; वज्रप्रभातः तेषां मूलतोऽप्युत्थानाभाव-
प्रसङ्गात्, सर्वतीर्थकृततामेकादशकेशादिप्रतीतिप्रसङ्गाच्च, न चैवम्, ऋषभादितीर्थ-

(१) वेधादिकर्मोदयः । (२) केवलनि कवलाहारसाधनसमर्थः । (३) कवलाहारसाधनसमर्थः ।
(४) "पच्छसे आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ॥"—समवा० सू० ३४ । (५) प्रत्यक्षं अशेषज्ञाहारसा-
क्षाकरणे । (६) अयोगिकमनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् । (७) "एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवत्तं सुपरि-
मलामोयं । ओरालियं च कार्यं णायव्वं अरहुपुरिस्स ॥"—बोधप्रा० गा० ३९ । "तद् भगवतः शरीर-
मौदारिकं न भवति किन्तु परमौदारिकम्—बुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः । जायते क्षीणदोषस्य
सप्तधातुविवर्जितम् ॥"—प्रब० टी० पृ० २८ । (८) परमौदारिकशरीरस्थितेः । (९) केशादिवृद्धय-
भावः । "अवट्टिए केसमसुगोमनहे"—समवा० सू० ३४ ।

१ तु न प्रवर्त्तते व० । २ नानेकान्तः व०, न तेनानेकान्तः श्र० । ३-कस्थितित्वात् श्र० ।

४ केशादिवृद्धय-श्र०, व० । ५ देवोपनीतः व० । ६ घातिकर्षजः व०, श्र० । ७ बालोत्पादानन्तरं आ०, श्र० ।

- कृतां केशकलापस्य गुरुलघुभावेन विलक्षणस्य उपलब्धेः । ततो घातिकर्मक्षयावस्थायां यस्य यावन्तो नखकेशाः तस्य तावन्त एवाऽवतिष्ठन्ते इति । केवल्यवस्थायां घातिकक्ष-
यजो यथा तच्छरीरस्थितौ केशादिवृद्ध्यभावलक्षणोऽतिशयोऽस्ति तथा तदमुक्त्यभावल-
क्षणोऽप्यस्तु अविशेषात् । छद्मस्थावस्थावच्चास्यैर्मुक्त्यभ्युपगमे अक्षिपक्षमनिवेशः (मेघः)
5 नखकेशवृद्धादिश्चाभ्युपगम्यताम् । तदभावातिशयाभ्युपगमे वा मुक्त्यभावातिशयोऽप्य-
भ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात् । तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादिवच्च अमुक्ति-
पूर्वकत्वेऽपि शरीरस्थितेर्न कश्चिद्विरोधः । दृश्यते हि पञ्चकृत्यो भुञ्जानस्य यादृशी
शरीरस्थितिः तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्व्येकभोजनस्यापि, तथा प्रतिदिनं
भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येव एकद्व्यादिदिनान्तरितभोजिनोऽपि । श्रूयते च
10 बाहुवलिप्रभृतीनां संवत्सरप्रमिताहारवैकल्येऽपि विशिष्टा शरीरस्थितिः । आयुःकर्मैव
हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्, मुक्त्यादिकं तु सहायमात्रम् । तच्छरीरोपचयोऽपि
लामान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं तदुपचयनिमित्तभूतानां दिव्यपरमाणूनां लौभाद् घटते ।
ननु मांसं वर्षं वा तदभावे तत्स्थितावपि नाकालं तत्स्थितिः पुनः तदाहारे प्रवृत्ति-
प्रतीतेरिति चेत्; कुतः तत्स्थितेः आकालमप्रतीतिः—प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा ? यदि
15 प्रत्यक्षतः सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलाञ्जलिः तद्वत् ततः तदप्रतीतेरप्यविशेषात् । अनुमा-
नात् तत्सिद्धिरन्यत्राप्यविशिष्टा । यथैव हि 'ज्ञानप्रकर्षः दोषावरणापकर्षश्च कश्चित्
परमप्रकर्षमापद्यते प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत्' इत्युच्यते; तथा 'एकद्व्यादिदिनान्तरि-
तभोजिनाम् अमुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षः कश्चित् परमकाष्ठमापद्यते तत्त्वात् तद्वदेव'

(१) केवलिनः । (२) 'तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्चास्यामुक्तिपूर्वकत्वे तस्याः को विरोधः ?'—प्रमेयक० पृ० ३०२ । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ८५६ टि० ३ । 'लामान्तरायस्याशेषनिरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलित्वां यतः शरीरवलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । तस्मादौदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवतीति यद्वचनं तदक्षिप्तकृतं विज्ञायते ।'—राजवा० २ । ४ । 'लामान्तरायक्षयाल्लभः परमशुभपुद्गलादानलक्षणः परमौदारिकशरीरस्थितिहेतुः ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१४ । प्रमेयक० पृ० ३०२ । (४) 'मांसं वर्षं वापि च तानि शरीराणि तेन मुक्तेन । तिष्ठन्ति न चाकालं नाप्यथा पूर्वमपि भुक्तिः ॥'—केवलिभू० श्लो० २२ । स्या० २० पृ० ४८० । (५) 'विपक्षभावनावशाद् रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनित्परमप्रकर्षसिद्धेः वीतरागातासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किन्त स्यात् ? तद्भावनातो भोजनादावपि हान्य-
तिशयदर्शनाविशेषात् । तथाहि एकस्मिन् दिने योजनेकवारान् मुक्ते कदाचित् विपक्षभावनावशात् पुनरेकवारं मुक्ते, कश्चित्पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति ।'—रत्नक० टी० पृ० ६ । प्रमेयक० पृ० ३०२ ।

१ केवलाव-ब०, श्र० । २-णातिश-श्र० । ३ मुक्त्युपगमे ब० । ४-तिशयोऽभ्युप-आ० । ५-विनं भोजनं मुञ्जा-ब० । ६-भोजनोऽपि श्र० । ७-तेः श्र० । ८ कुतस्तत्रस्थि-आ० । ९ ततः तत्प्रती-आ० ।

इत्युच्यतामविशेषात् । तत्र शरीरस्थितेरपि भगवतो वेद्याद्युदयात् क्षुद्रदयः कवलाहार-
प्रसाधनसमर्थः प्रत्येतुं शक्यः ।

असिद्धञ्च अविकलकारणत्वं भुक्तेः, मोहनीयसहायं हि वेद्यादिकर्म क्षुदादिकार्य-
करणेऽविकलसामर्थ्यं भवति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि पतिते सैन्यनायके असा-
मर्थ्यं सैन्यस्य, तथा मोहनीये विनष्टे अघातिकर्मणामिति । यथा च निर्विषीकृत्य मन्त्रिणा 5
उपयुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादि कर्तुं समर्थम् तथा शुक्लध्यानानलनिर्दग्धैर्मोहोदयं
वेद्यादि क्षुधादिकमिति । प्रयोगः—भगवति वुमुक्षा नास्ति, तत्कारणमोहाभावात्, यत्र
यत्कारणाभावो न तत्र तत्कार्यम् यथा अनभिप्रदेशे धूमः, नास्ति च अर्हति मोह इति ।

किञ्च, कर्मणामुदयो यद्यनपेक्षः कार्यमुत्पादयेत्, तर्हि त्रिवेदानां कषायानां वा
प्रमत्तादिषु उदयोऽस्ति इति मैथुनं भ्रुकृत्वादिकञ्च स्यात्, ततश्च मनसः सङ्क्षोभात् कथं 10
शुक्लध्यानावाप्तिः क्षपकश्रेण्यारोहणं वा यतः कर्मक्षपणा स्यात् ? नन्वेवं नामाद्युदयोऽपि
तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्युक्तम्; शुभप्रकृतीनां तत्र अप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारि-
त्वोपपत्तेः । यथैव हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोऽपि न
स्वदुष्टाचरणविधातारः सुंजनास्तु अप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातारः, तथा प्रकृतमपि ।
कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेव अर्हति प्रतिबद्धं सामर्थ्यं न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत् ? 15
उच्यते—अशुभप्रकृतीनामर्हन् अनुभागं घातयति न तु शुभप्रकृतीनाम्, यतो गुणवा-
तिनां दण्डो नाऽदोषाणाम् ।

यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातावेदनीयं स्वकार्यकारि स्यात् तर्हि दण्डकपा-
टादिविधानं भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यदा न्यूनमायुः वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति
तदा तेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते । नच अधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म 20
उपायशक्तेनापि अन्यथा कर्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्तः स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यात्

(१) “घादि व वेयणीयं मोहस्त बलेण घादे जीव ।”—नो० कर्मका० गा० १९। “मोहनी-
यकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात् ।”—रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०३।
“यथैव श्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेषकर्म मोहनीयसह-
कारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति ।”—प्रब० टी० पृ० २८। (२) “यदि मोहाभावेऽपि क्षुधा-
दिपरीषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु, न च तथा ।”—प्रब० टी० पृ० २८। प्रमेयक०
पृ० ३०३। (३) “शुभप्रकृतीनां तत्राप्रतिबद्धत्वेन ...”—प्रमेयक० पृ० ३०३। (४) “हृत्तेर्मि-
त्रित्वात् संभूयात्मप्रदेशानां च बहिर्दग्गमनं समुद्रातः । ... वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोनामोग-
पूर्वकमायुःसमीकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहात्म्यप्रदेशानां
बहिः समुद्रातं केवलिसमुद्रातः ।”—राजवा० पृ० ५३। “मूलसरीरमच्छिद्य उत्तरदेहस्य जीवावि-
डस्त । जिग्मगमं देहादो होदि समुद्रादणामं तु ।”—जीवका० गा० ६६७ ।

१-छे घातिकर्म-ब०, आ० । २ उपभुज्यमा-ब० । ३-मोहसहायं आ०, अ० । ४ च अ० । ५
क्षपणश्रे-आ० । ६-त्वेन कार्य-ब० । ७ सुजना अप्र-ब० । ८-बद्धसाम-ब० । ९ दण्डप्रतरादिवि-ब०, अ० ।

- १ निर्जीर्णम् अधिकस्थितिकत्वेन फलदानाऽसमर्थम् औयुःकर्मसमानं कर्म क्रियते, तथा वेद्यमपि तद्दानासमर्थं क्रियतामविशेषात् । नच कारणमस्ति इत्येतावतैव कार्योत्पत्तिः, अन्यथा इन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुषङ्गात् भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनाश्च प्रसङ्गः । अथ आवरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहात् नेन्द्रियादि स्वकार्यं कुर्यात् ;
- 5 अत एव वेदनीयमप्यविशेषात् ।

- न चेयं बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम् येन अत्यन्तप्रक्षीणमोहेऽपि स्यात् ; तथाहि—बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्य कार्येन्न भवति इच्छात्वात् रिरंसावत् । भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम् ? अन्यथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसापि तत्कार्यं स्यात्, तथा च कवलाहारवत् स्यादावापि तत्प्रसङ्गात् नेश्वरा-
- 10 दस्य विशेषः । यथा च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि । प्रयोगः—भोजनाकाङ्क्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते आकाङ्क्षात्वात् स्याद्याकाङ्क्षावत् । नन्वस्तु तद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः तदभावे तु प्रवृत्तिः पुनः स्यात् ; इत्येतत् स्याद्याकाङ्क्षायामपि समानम् । यथा चास्याः चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वात् अत्यन्तनिवृत्तिः तथा भोजनाकाङ्क्षाया अपि, यथा च निर्मोहत्वेन स्याद्याकाङ्क्षा विरुद्धा तथा बुभुक्षापि । तथा
- 15 च प्रयोगः—न बुभुक्षायाम् केवली, तद्विरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतत्वात्, यो यद्विरोधिविष्वभावोपेतः नासौ तद्वान् यथा उष्णस्पर्शस्वभावोपेतः कश्चित् प्रदेशः न शीतस्पर्शवान्, क्षुद्धिरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतश्च केवलीति ।

- एतेन इदमपि प्रत्युक्तम्—‘प्रतिपक्षभावनातः क्षुधो निवृत्तौ क्षुद्धेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे सैव उपदिश्यते न पिण्डैषणा’ इत्यादि; चेतसो हि प्रतिपक्षभावनामयत्वसिद्धेः
- 20 प्राक् पिण्डैषणोपदेशात्, तन्मयत्वसिद्धौ तु कामवेदनानिवृत्तिवत् निःशेषक्षुद्धेदनानिवृत्तिसिद्धेः न किञ्चित् तद्वेदनाप्रतीकारार्थं द्रव्यान्तरैषणया ? अथ आकाङ्क्षारूपा क्षुन्न भवति तेन वीतमोहेपि अस्याः संभवः; कथमेवं रिरंसाया अपि अनाकाङ्क्षारूपायाः तत्र संभवो न स्यात् ? अथ अनाकाङ्क्षारूपताऽस्याः प्रतीतिविरुद्धा; तदेतद् बुभुक्षायामपि समानम् । अस्तु वाऽनाकाङ्क्षारूपत्वमस्याः; तथापि दुःखरूपत्वात् अनन्तसुखे भगवत्य-
- 25 संभवः, यद् दुःखरूपं न तत्तत्र संभवति यथा कामपीडादि, दुःखरूपा च क्षुदिति ।

(१) “भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा मोहनीयकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसङ्गात् ।” —रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०४। (२) पृ० ८५३ पं० १५। (३) आकाङ्क्षारूपत्वाभावात् । (४) केवलानि । (५) रिरंसायाः । (६) “क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तवतुष्यस्वामिताऽस्य ।” —रत्नक० टी० पृ० ६। “यदि क्षुधा बाधास्ति तर्हि क्षुधा क्षीणवस्तेरनन्तवीर्यं नास्ति, तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति ।” —प्रब० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० २९९ ।

1—निर्जीर्णस्थितिक—आ०। 2 आयुःकर्म क्रियते अ०। 3 तत एव अ०। 4 मोहनीयतिरपेक्ष—व०। 5 तथाहि चाबुभु—अ०। 6 प्रवृत्तिः स्यात् अ०। 7 अथ कांक्षारूपा आ०। 8 अस्यासंभवः अ०, व०।

यत्र हि अनन्तसुखं न तत्र दुःखलेशोऽप्यस्ति यथा सिद्धेषु, अनन्तसुखञ्च अर्हति इति । ननु सकलबाधानिवृत्त्यात्मकं यदनन्तं सुखं तत्राभिप्रेतं तदसिद्धम्, क्षुधाधाभ्युपगमात्, सकलकर्मविप्रमुक्तानां सिद्धानामेव हि तथाविधं तदस्ति नाऽर्हताम् तत्र वेदनीयोदयसंभवादिति; तदसत्; तदुदयस्य तत्र तद्वाधाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अर्हति अनन्तं सुखं सर्वप्रदेशव्यापि अव्याहतमास्ते अप्रादेशिकत्वात्स्य, 5 सुखदुःखयोरैकत्रैकदा विरोधतोऽसंभवाच्च, तत्कथं क्षुद्दुःखलेशोऽपि तत्र संभाव्यः ? अन्यथा अस्मदादिसुखवत् प्रादेशिकमेव तत्सुखं स्यात् । अतः तथाविधं सुखं भगवति सन्निधीयमानं स्वविरुद्धं दुःखं निवर्त्तयति यथा अग्निः शीतम् । तन्निवृत्तौ च तद्व्याप्यायाः क्षुधो निवृत्तिः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यावश्यं निवृत्तेः वृक्षनिवृत्तौ शिशपावत् । प्रयोगः—यत्र यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्र अभ्युदितकारणमपि तद् भवति यथा अत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्दुःखविरोधि बलवत् केवलिनि अनन्तसुखमिति । 10 तथा, यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धाऽनिवर्त्य-पित्तविकाराक्रान्ते पुरुषे न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेषफलविरुद्धाऽनिवर्त्यसुखञ्च भगवति इति । ततो निराकृतमेतत्—‘नहि बालादौ ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचयः’ इत्यादि; अनन्तसुखसहभाविनामेव ज्ञानादीनां क्षुद्रिरोधित्वव्यवस्थितेः । 15

यदप्युक्तम्—‘नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इत्यर्वाङ्गशा प्रतिपत्तुं शक्यमतीन्द्रियत्वात्तेषाम्’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अतीन्द्रियत्वात्तेषां तद्विरोधित्वाऽप्रतिपत्तौ सर्वार्थसाक्षात्कारित्वादेरपि अप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । यथैव हि तेषामतीन्द्रियत्वात् ‘एतत्सन्निधौ क्षुन्न भवति’ इत्यर्वाङ्गशा प्रत्येतुं न शक्यते तथा ‘एते सर्वसाक्षात्कारिणः’ इत्यपि । अथ अनुमानात्तेषां तत्साक्षात्कारित्वं प्रतीयते; तद्विरोधित्वेन किमपराद्धं येन 20 एषामनुमानात् तन्न प्रतीयेत ? प्रतिपादितञ्च क्षुद्रिरोधित्वानुमानं प्राक् इत्यलमतिप्रसङ्गेन । सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुदभावः, क्षुदभ्युपगमे हि तद्वाधया सर्वज्ञता हीयेत निःशक्तिकत्वञ्च स्यात् । अस्मदादौ हि क्षुत्प्रभवपीडाक्रान्ते ज्ञानादेरभावः सुप्रतीतः ‘क्षुत्पीडितोऽहं न किञ्चिज्ज्ञानामि, न किञ्चित्प्रश्यामि, ऊथानुमपि न शक्नोमि’ इति प्रतीतेः ।

यदप्युक्तम्—‘ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनः तत्क्षयः’ इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; 25

(१) वेदनीयोदयस्य । (२) सर्वप्रदेशव्यापि अनन्तसुखम् । (३) नास्ति केवलिनि क्षुद्दुःखं तद्बलवद्विरोध्यनन्तसुखसदभावात् । “यत्र यद्विरोधि” — प्रमेयक० पृ० ३०५ । (४) केवलिनि वेदनीयं स्वकार्यं क्षुद्दुःखं न करोति तत्कार्यविरोध्यनिवर्त्य-अनन्तसुखसदभावात् । (५) पृ० ८५२ पं० २० । (६) पृ० ८५३ पं० २ । (७) केवलज्ञानादीनाम् । (८) क्षुद्रिरोधित्वम् । (९) पृ० ८५४ पं० ४ ।

१ सिद्धेऽनन्त-अ० । २ यदत्यन्तं सुखं अ०, यदनन्तं अ० । ३-गमात्कर्मवि-ब० । ४-शिकमिव अ० । ५ तथाविधसुखं ब० । ६ यथा अ०, ब० । ७ प्रतीयते ब० । ८ क्षुदविरो-आ०, क्षुद्रित्वानुमा-ब० ।

प्रक्षीणाशेषावरणस्य भगवतो ज्ञानादिक्षयाभाववत् प्रक्षीणाशेषमोहस्य क्षुत्पिडालेशस्याप्यनुपपत्तेः । मोहनीयसहायं वेदनीयं क्षुत्करणे प्रभुः' इति प्राक् प्रपञ्चतः समर्थितत्वात् ।

“एकादश जिनै” [तत्त्वार्थसू० १।११] इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येकादशपरीषद्प्रतिषेधपरः प्रतिपत्तव्यः, “एकेन अधिकान दश एकादश” इति व्युत्पत्तेः । मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य कार्यभूताः क्षुधाद्येकादशपरीषदाः, तत्सहायस्य च अर्हति अत्यन्तप्रक्षयात् न वेदनीयोदयोदयमात्रात् तत्र ते सन्ति, अन्यथा रोगादिपरीषद्वापि तत्र सत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादौ तदुदये क्षुत्पिपासावद् रोगादीनामप्युपलम्भात् । छद्मस्थजिनेषु भोगभूमिजादिषु च तदुदयेऽपि रोगादीनामभावाद् व्यभिचारे कवलाहारस्यापि व्यभिचारोऽस्तु, देवादिषु तदुदयेऽपि तदभावात् ।

10 यच्चान्यदुक्तम्—‘उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरतः’ इत्यादि; तदप्यचारुः शरीरस्थितेः आयुःकर्मण एव नियतनिमित्तप्रतिपादनात्, मुक्तिं विनापि आकालं तत्स्थितेः समर्थितत्वाच्च ।

यदप्यभिहितम्—‘मुक्तेर्दोषरूपतया भगवत्संभवे वचनादेरप्यसंभवः स्यात्’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; वचनादेः तीर्थकरत्वकर्मोदयापादितत्वात् दोषरूपत्वा-
15 संभवाच्च, नहि अष्टादशदोषेषु मध्ये क्षुधादिवद् वचनमपि पठ्यते । मुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु; इत्यप्यसङ्गतम्; मोहसद्भावसहायस्यैवायस्य तत्सम्पादने सामर्थ्यप्रतिपादनात् । यथैव हि मोहप्रक्षयसहायं तीर्थकरत्वं विशिष्टवचनादिविधाने समर्थं तथा मोहसद्भावसहायं वेद्यं मुक्त्यादिविधाने इति ।

यदप्युक्तम्—‘अवधिज्ञानिवत् सकलज्ञस्य सकलं जगत्पश्यतोऽपि अन्तरायासंभवः’

(१) “अथवा ‘एकादश जिनै न सन्ति’ इति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम् ।”-सर्वार्थसि० १।११। “अथवा नायं वाक्यशेषः ‘एकादश जिनै कैश्चित्कल्पयन्ते’ इति; किं तर्हि ? एकादश सन्तीति । कथम् ? उपचारात्; यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचित्तानिरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूननफलसंभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादिवेदनाभावपरीषद्भावोऽपि वेदनीयकर्मोदय-द्रव्यपरीषद्भावमात्रात् एकादश जिनै सन्तीत्युपचारा युक्तः ।”-राजवा० १।११। “शतित एव केवलिन्येकादश परीषदाः सन्ति न पुनर्व्यक्षिततः, केवलाद् वेदनीयाद् व्यक्तक्षुधाद्यसंभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः ।”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४९२। “तेन असादणिमित्ता परीसहा जिग्वरे गन्ति ।”-कर्मका० गा० २७५। “क्षुत्पिपासादयो यस्मान्न समर्था मोहसंक्षये । द्रव्यकर्मश्रियात्तेषामस्तिवत्समुपचारात् ।”-भावसं० श्लो० २३४। “यच्चोपचारातोऽप्यस्यैकादश परीषदा न संभाव्यन्ते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य, ‘एकेनाधिकान दश परीषदा जिनै एकादश जिनै’ इति व्युत्पत्तेः ।”-प्रमेयक० पृ० ३०७। (२) वेदनीयोदये । (३) पृ० ८५४ पं० ८। (४) पृ० ८५४ पं० १५। (५) ‘क्षुत्पिपासाजरातः क्षुज्यान्तकभयसमयाः । न रागद्वेषमोहाश्च चक्ष्वात् चित्ताऽरतिनिद्राविस्मयमदस्वेदखेदा गृह्यन्ते । एते अष्टादश दोषाः ।”-रत्नक०, टी० १।६। (६) पृ० ८५५ पं० १।

१ तत्र न सन्ति श्र० । २ भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु इत्यप्यसंभवाच्च नहि अष्टादश-आ० । ३ दोषोदयत्वा-ब० । ४ वेदनीयोपाधि-आ० । ५ मोहसह-ब०, श्र० ।

इत्यादि; तदप्यनुपपन्नम्; तज्ज्ञानस्य सोपयोगतया तत्काल एव स्वविषयाऽशेषार्थसाक्षात्करणसंभवात् । यदैव हि अवधिज्ञानोपयोगमवधिज्ञानी करोति तदैवासौ तद्विषय-भूतमशेषं वस्तु पश्यति नान्यदेति, भोजनकाले यद्यसौ उपयोगं करोति तदाऽन्तरायो भवत्येव, नचायं प्रकारः केवलज्ञाने संभवति तस्थै संदा उपयुक्तत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘नेन्द्रियार्थसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति’ इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; 5 विषयविषयिसम्बन्धे समुपजायमानस्य ज्ञानस्य अमतिज्ञानत्वे मतिज्ञानवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात् । अथ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य सहकारिणोऽभावात् नेन्द्रियाणि स्वविषय-सम्बन्धेऽपि स्वकार्यमाविर्भावयन्ति; तर्हि मोहनीयस्यापि सहकारिणोऽभावात् वेद्यमपि स्वकार्यं न कुर्यात् इत्युक्तम् ।

किञ्च, किमर्थमसौ भुङ्क्ते—शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानदर्शनवीर्यादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, 10 क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थम्, आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्यापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगृह्युपशमार्थम्, लोकानुग्रहार्थं वा ? न तावत् शरीरोपचयार्थम्; लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं विशिष्ट-परमाणुलाभादेव तस्तिष्ठेः । तदर्थं तद्ग्रहणे च कथमसौ निर्ग्रन्थः स्यात् शरीरसम्भू-च्छासंभवात् प्राकृतपुरुषवत् । नापि ज्ञानादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्; तत्क्षयनिबन्धनाभावादेव तदक्षयप्रसिद्धेः । ज्ञानादिक्षयस्य हि निबन्धनं ज्ञानावरणादिक्षयोपशमः, तस्मिन् सति 15 भोजनाद्यभावे तत्क्षयप्रतीतिः । स च प्रक्षीणाशेषावरणे भगवति नास्ति इति कथं तत्प्र-क्षयाशङ्काऽपि यतो मुक्तिः स्यात् ? नापि क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थम्; अनन्तसुखवीर्ये भगवति अस्याः संभवाभावस्य उक्तत्वात् । नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्य अपवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्; चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अपवर्त्तनानुपपत्तेः । नापि रसगृह्युपशमार्थम्; वीतमोहस्य रसगृह्येवानुपपत्तेः । नापि लोकानुग्रहार्थम्; अनन्त- 20 वीर्यस्य वीर्यक्षयनिबन्धनाभावतो भुक्तिमन्तरेणापि लोकमनुग्रहीतुं समर्थत्वात् ।

यच्चोक्तम्—‘देवच्छन्दके गत्वा यथासुखमास्ते’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः

(१) अवधिज्ञानस्य । (२) उपयोगसमये । (३) केवलज्ञानस्य । (४) पृ० ८५५ पं० ४ । (५) तुलना—“ण बलाउसाहणदुर्दं ण सरीरस्स य चयदु तेजदु” । णाणदु संजमदुं भाणदुं चेव भुंजति ।” —मूलावा० ६ । ६२ । प्रब० टी० पृ० २९ । प्रमेयक० पृ० ३०६ । (६) शरीरोपचयार्थम् । (७) ज्ञानावरणीयकर्मणोऽभावादेव । (८) “ओपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्त्यायुषः ।” —तत्त्वार्थसू० २।५३ । “चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः विपरीतसंसाराः तज्जनन्निर्वाणार्हा इत्यर्थः ।” —सर्वाथसि० । “चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थः ये तेनैव शरीरेण सिद्धचित्ति, उत्तमपुरुषाः तीर्थकचक्रवर्त्यैश्चक्रवर्तिनः—तत्त्वार्थसि० । “देवा नेरइयावि य असंखवासाउया य तिरमणुआ । उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवकमा ॥” —ठाणांगवि० । (९) “बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्यासोऽपवर्तः ।” —राजवा० २।५३ । (१०) पृ० ५५८ पं० १० ।

१ सद्योपयुक्त-श्र० । २ आयुषोऽनुदितमुक्ति-श्र० । ३ शरीरमूर्च्छासं-श्र० । ४ अपवर्त्तननिवृ- 5 ब०, अपवर्त्तनं निवृ-आ० । ५ भुक्तिम-श्र० ।

समवशरणं विहाय भगवान् किमर्थं तत्र गच्छति—मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसिद्धयर्थम्, निरोधाक्षमत्वतो यथासुखमवस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? तत्रोद्यः पक्षोऽयुक्तः; अमनस्कतया भगवतो मनोविक्षेपाऽसंभवात्, योगनिरोधसद्भावेन उपचारतः तत्र ध्यानाभिधानाच्च । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; अनन्तवीर्यस्य निरोधाऽक्षमत्वात्पुनपत्तोः ।

५ अनन्तसुखस्य दुःखलेशास्याप्यभावतो 'यथासुखम्' इत्यस्यापि दुर्घटत्वात् ।

रहस्यकार्यञ्च निन्द्यम्, अनिन्द्यं वा ? न तावन्निन्द्यम्; प्रक्षीणाशेषदोषस्य निन्द्य-कार्यानुष्ठानविरोधात् । अथ अनिन्द्यम्; तत्किं भोजनम्, कर्मक्षपणं वा ? न तावद्भो-जनम्; तस्य अमोहे भगवति प्रतिषिद्धत्वात् । अप्रतिषेधे वा कस्मादसौ एकान्ते गत्वा मुक्ते-दृष्टि[दोष]भयात्, यौचकभयात्, अनुचितानुष्ठानत्वाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः;

१० भगवतो दृष्टिदोषागोचरत्वात् । यदीयेन हि नाम्ना अन्येषां दृष्टिदोषादेरुपशमो भवति स कथं तदोषगोचरः स्यात् ? द्वितीयविकल्पे तु भगवतो महद्दीनत्वं प्रख्यापितम् । न खलु महास-त्त्वस्य प्रष्टतो लभान् वुसुक्षापीडितशिष्यान् विहाय पितुरिव पुत्रम् एकान्ते गत्वा भोजनं युक्तम् । अनुचितानुष्ठानत्वे तु न तत्र तत्परिकल्पना श्रेयसी स्यादित्येव न परिकल्पनावत् ।

कर्मणामपि क्षपणं पूर्वोपार्जितानाम्, मुक्तिकालोपार्जितानां वा तत्रैव अर्हता विधीयते ?

१५ पूर्वोपार्जितानाञ्चेत्; घातिनाम्, अघातिनां वा ? न तावत् घातिनाम्; तेषां पूर्वमेव क्षपितत्वात् । नाप्यघातिनाम्; तेषां यथाकालं क्षपयिष्यमाणत्वात्, सततं शुक्लध्याना-नलतः कर्मन्धननिचयनिर्दहनसमर्थत्वाच्चास्य । नहि 'भगवतः शुक्लध्यानानलो देवच्छन्दके एव प्रज्वलति न तु समवशरणादौ' इत्यभ्युपगमो युक्तः; तत्रस्थस्यास्य ध्यानान्तरप्रसङ्गात् ।

मुक्तिकालोपार्जितकर्मणां तु कथं क्षपणम् ? प्रतिक्रमणतश्चेत्; अस्तु, परन्तु भगवतो २० निर्दोषता दुर्लभा । यः प्रतिक्रमणं करोति नासौ निर्दोषः यथा अस्मदादिः, प्रतिक्रमणं करोति च भगवानिति । कृतदोषनिराकरणं हि प्रतिक्रमणम्, तत्कुर्वतः कैथमस्य निर्दो-षता स्यात् ? अथ तां (१) न करोति; कथं भुजिक्रियातः समुत्पन्नदोषं निराकुर्वात् ? आहारकथामात्रेणापि हि अप्रमत्तोऽपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति नार्हन् भुज्जानोऽपि इति महच्चित्रम् ! दोषवत्त्वे चास्य श्रेणीतः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वं स्यात् ।

(१) "निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे युगपत्सकलपदार्थावभासिकेवलज्ञानातिशये चिन्तानिरोधा-भावेऽपि तत्कलकर्मनिर्हरणकलपेक्षया ध्यानोपचारवत् ।"—सर्वाथंसि० ९।११। (२) एकान्ते शरीरा-वस्थितेः तत्परिस्पन्दस्य निरोधः । (३) एकान्ते । (४) समवशरणस्थितस्य भगवतः । (५) तुलना-
"किं चासौ भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति न वा ?"—प्रमेयक० पृ० ३०६ । (६) "मिथ्या दुष्कृता-भिधानादाभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् ।"—सर्वाथंसि० ९।२२। (७) प्रतिक्रमणम् । (८) "अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुज्जानोऽपीति महच्चित्रम् ।"—रत्नक० टी० पृ० ८६४ । प्रमेयक० पृ० ३०६ ।

१ तत्राद्यपक्षो-व० । २ वचकभ-अ० । ३ प्रज्वलितः अ०, ज्वलति आ० । ४ परं च भग-व० । ५ कस्य व० । ६ भक्ति-अ० ।

यदप्युक्तम्—‘भुञ्जानोऽसौ गणधरदेवैरपि न दृश्यते’ इत्यदि; तत्रादर्शने किं कारणम्—
बहलतमः पटलच्छादितत्वम्, काण्डपटाद्यावृतत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानम्,
अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; तदेहदीप्त्या तमः पटलस्य
निर्मूलोन्मूलितत्वात् । काण्डपटाद्यावृताय च तस्मै कथं भिक्षा दीयेत ? विद्याविशेषा-
भ्युपगमे चास्य विद्याधरादिवत् निर्ग्रन्थताविरोधः । अथ अन्यजनातिशायी माहात्म्य-
विशेषः कश्चित्तस्येष्ट्यते येन भुञ्जानो नाऽवलोक्यते इति; ननु अन्यजनातिशायी
भोजनभावलक्षण एवाऽतिशयः अस्य इष्ट्यताम् तस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो
भगवतोऽनन्तचतुष्टयलाभलक्षणां जीवन्मुक्तिमिच्छता अनन्तसौख्यमेष्टव्यम् । तदिष्टौ च
च भुक्त्यभावाऽभ्युपगन्तव्यः तमन्तरेणास्य अनन्तसौख्यानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्
इति ॥ छ ॥

तल्लक्षणा च मुक्तिः पुंस एव न स्त्रियाः; तस्याः नपुंसकवत्तदयोग्यत्वात्,
तन्मुक्तिप्रसाधकप्रमाणासंभवाच्च ।

नन्विदमस्ति तत्प्रसाधकं प्रमाणम्—अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अविकलकारणत्वात्
स्त्रीनिर्वाणवादे सितप- पुंवत् । निर्वाणस्य हि कारणं रत्नत्रयम्, “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि
दानां शक्ययनस्य मोक्षमार्गः” [तत्त्वार्थसू० १।१] इत्यभिधानात् । तच्च स्त्रीषु विद्यते; 15
च पूर्वपक्षः— तथाहि—सर्वज्ञोक्तार्थानाम् ‘इदमित्थमेव’ इति श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्,
यथावदवगमः सम्यग्ज्ञानम्, तदुक्तव्रतस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्र्यम्, एतद्रत्नत्रयम् ।
एतच्च स्त्रीषु सिद्ध्यत् सर्वकर्मविप्रमोक्षलक्षणं मोक्षं साधयति । नहि स्त्रीषु रत्नत्रयस्य
केनचिद्विरोधोऽस्ति यतोऽविकलकारणत्वासिद्धिः स्यात् ।

(१) पृ० ८५५ पं० १३ । (२) “तत्रादर्शनेऽप्युक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुङ्क्ते इति
कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानं वा ?”—प्रमेयक० पृ० ३०७ ।
“तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिताः बहवो दोषाः ।”—प्रब० टी०
पृ० २९ । (३) “तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किन्न भवति ।”—प्रब०
टी० पृ० २९ । (४) “अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुकं स्त्रीषु । न विरुध्यति हि रत्नत्रयसंपद्
निवृत्तेर्हेतुः ।”—स्त्रीमू० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि
विलोकनीया । “इत्थीलङ्घसिद्धा—सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि—
.....”—प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्दि० मलय० पृ० १३१ B. । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्व०
बृह० श्लो० ५२ । “यथोक्तं यापनीयतन्त्रे—गो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि देसण-
विरोहिणी, गो अमाणुसा, गो अणारिउत्पत्ती, गो असंखेज्जाउया, गो अइकूरमई, गो ण उवसन्त-
मोहा, गो ण मुद्धाचारा, गो असुद्धबोदी, गो ववसायवज्जिजा, गो अपुव्वकरणविरोहिणी, गो णवगुण-
ठाणरहिया, गो अजोगा लद्धीए, गो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमप्रम्मसाहिगति ।”—ललितवि०
पृ० ५७ B. । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ B. ।

1—पटलसंछादितत्वम् श्र० । 2—दीयते व० । 3—बाभ्युपगमाच्छास्य व० । 4—यथार्थावगमः
व० । 5—तदुक्तस्य यथावद—आ०, तदुक्तं व्रतस्य व० । 6—विप्रमोक्षणं मोक्षं आ० ।

- अथोच्यते—स्त्रियो रत्नत्रयविरुद्धाः पुंसोऽन्यत्वात् देवादिवत् । सुप्रसिद्धो हि देवनारकतिर्यग्भोगभूमिजानां पुंसोऽन्येषां देवादित्वेन रत्नत्रयस्य विरोधः, एवं स्त्रीणां स्त्रीत्वेनैव अस्य विरोधः सिद्ध इति; तदसमीक्षिताभिधानम् ; यतोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति । स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयाभावः प्रत्यक्षतः,
- 5 अनुमानात्, आगमाद्वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः; रत्नत्रयस्य अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानतः; तदभावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य कस्यचिदभावात् । नाप्यागमात्; तत्र तदभावावेदिनः तस्याप्यसंभवात् । नहि सुरनारकादिवत् तत्र तदभावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रवचनवचनं संभवति । नन्वस्तु रत्नत्रयमौत्रं तत्र न तदस्माभिर्निषिध्यते तस्य मोक्षाऽप्रसाधकत्वात्, यैस्तु मोक्षप्रसाधकं प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तम् तस्य तत्राभावात् मोक्षाभावः
- 10 इति; तदर्थुक्तम् ; अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । न खलु प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्तं रत्नत्रयम् अस्माकं दृश्यम्, न चादृश्यस्य विरोधः प्रतिपत्तुं शक्यः अतिप्रसङ्गात् । न चाप्रतिपन्न-विरोधस्य तस्य तत्राभावो ग्रहीतुं शक्यः अतिप्रसङ्गेरेव ।

- अथ मतम्—अनुमानतः स्त्रीणां निर्वाणाभावप्रतीतेर्न तत्र तत्सद्भावाभ्युपगमो युक्तः; तथाहि—नास्ति स्त्रीणां निर्वाणम् सप्तमपृथिवीगमनाभावात् सम्मूर्च्छिमादिवत् इति; तदसङ्गतम् ; विपर्ययव्याप्तेरसिद्धितः तदगमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽऽप्यपेक्षेः । इह
- 15 यद् यत्र नियम्यते तद्विपर्ययेण तद्विपर्ययस्य व्याप्तौ नियमो दृष्टः, यथा अग्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन अन्यभावस्य, शिशपात्वस्य च वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिशपात्वाभावेन व्याप्तिः । न चैवमत्र विपर्ययव्याप्तिरस्ति; तदभावश्च सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वात् अव्यापकत्वाच्च सिद्धः । नहि सप्तमपृथिवीगमनं निर्वा-
- 20 णस्य रत्नत्रयवत् कारणं सिद्धम् गुणाष्टकवद्वा व्यापकम् येन तदभावे निर्वाणाभावः

(१) “रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन । इति वाङ्मात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यदा ॥ जानीते जिनवचनं श्रद्धते चरति चायिका शबलम् । नास्यास्यसंभोज्ञस्यां नादृष्टविरोध-गतिरस्ति ।”—स्त्रीमु० श्लो० ३-४ । “अथ स्त्रीत्वादेव न तासां तत्परिष्वयसामर्थ्यम् ; न; स्त्रीत्वस्य तत्परिष्वयसामर्थ्येन विरोधासिद्धेः । नहि अविकलकारणस्य तत्परिष्वयसामर्थ्यस्य स्त्रीत्वसदभावदभावः क्वचिदपि निश्चितो येन अजिनशीतयोरेव सहानवस्थानविरोधः तयोः सिद्धो भवेत् ।”—सन्मति० टी० पृ० ७५२ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्दि० मलय० पृ० १३२ B. (२) रत्नत्रयस्य । (३) स्त्रीषु । (४) रत्नत्रयस्य । (५) “सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते । निर्वाणाभावे-नापिचमत्तनवो न तां यान्ति ॥”—स्त्रीमु० श्लो० ५ । सन्मति० टी० पृ० ७५३ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २० B. । नन्दि० मलय० पृ० १३२ B. । रत्नाकराव० ७५७ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ A. । यकितप्र० पृ० ११५ ।

1 पुंसोऽन्यत्वं तेषां अ० 2 प्रतीयते अ० । 3 मात्र तन्मन् न व०, मात्र तन्त्रं न अ० । 4 मोक्षप्रसा—अ० । 5 यत्तु प्रमाणकृतप्रसा—व० । 6 युक्तं न दृष्टे विरो—व० । 7 चादृश्ये वि—अ० । 8—व्याप्तेरिति इह अ० । 9 गुणाष्टकवदव्याप—अ० ।

स्यात् । नचाकारणाऽव्यापकस्य निवृत्तौ अकार्यव्याप्यस्य निवृत्तिः अतिप्रसङ्गात्, अतः सन्दिग्धविषयक्षयावृत्तिकमिदं साधनम् । चरमदेहैः निश्चितव्यभिचारश्च; ते हि तेनैव जन्मना मुक्तिभाजो न सप्तमपृथिवीं गच्छन्ति अथ च मुच्यन्ते ।

किञ्च, विषमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारं गच्छन्ति च तिर्यश्चः तदधोगैत्यूनताऽहेतुः । नहि अधोगतौ स्त्रीपुंसयोरितुल्यं सामर्थ्यमिति सुगतावपि अतुल्यत्वं युक्तम्; अशुभपरिणामस्य शुभपरिणामं प्रत्यहेतुत्वात् । तथाहि—सुजगत्खगचतुष्पात्सर्पजलचराणां विषमाऽधोगतिः—सुजगानां सं(नामसं)क्षिनां प्रथमायाम्, खगानां तृतीयायाम्, चतुष्पदां पञ्चम्याम्, सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां सप्तम्यामधोभूमौ उत्पादात्, शुभगतिस्तु समा सर्वेषामेवैषां सहस्रारान्तस्योपरि उत्पादस्य संभवात् ।

न च वादादिलब्धभावात्तासां मोक्षाभावः; 'इत्थमेव मोक्षः' इति नियमा-

(१) "विषमगतयोप्यधस्तादुपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोगत्यूनताहेतुः ॥"—स्त्रीमु० श्लो० ६ । "अपि च भुजपरिसर्पाः द्वितीयामेव पृथिवीं यावद् गच्छन्ति न परतः परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात्, तृतीयां यावत् पक्षिणः, चतुर्थीं चतुष्पदाः, पञ्चमीमृगाः, अथ च सर्वेष्वध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद् गच्छन्ति । तत्राधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम् ।"—प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A. । नन्वि० मलय० पृ० १३३ A. । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ B. । युक्तिप्र० पृ० ११५ । (२) "प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते प्रथमद्वितीययोः सरीसृपाः तिसृषु पक्षिणः चतसृषुरागः पंचसु सिंहाः षट्सु स्त्रियाः सप्तसु मत्स्यमनुष्याः"—राजवा० पृ० ११८ । "अमण-सरीसृप-विहंगम-फणि-सिंहिस्थीण-मच्छमणुवाणं । पढमादिषु उत्पत्ती अडवारादो दु दोणिण वारोत्ति ॥"—त्रिलोक-सा० गा० २०५ । "असन्नी खलु पढं, दुच्चं च सरीसृवा तइय पक्खी । सीहा जंति चउत्थिं उरगा पुण पंचमि पुढवि । छट्ठि च इत्थिआओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढवि । एसो परमुववाओ बोधव्वो नरयपुढवीसु ॥"—बृहत्सं० गा० २८४-८५ । त्रैलोक्यदी० गा० २५३ । (३) "तैर्यग्योनेषु असंज्ञिनः पर्याप्ताः पंचेन्द्रियाः संख्येयवर्षायुषः अल्पशुभपरिणामवशेन पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु चोत्पद्यन्ते । त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयस्वासाहस्रारदुपपद्यन्ते त एव सम्यग्दृष्टयः सौधमदिषु अच्युतात्तेषु जायन्ते ।"—राजवा० पृ० १६९ । "पंचदिमतिरियाणं उववाओको-सओ सहस्रसरे"—बृहत्सं० गा० १६४ । (४) "वादादिविकुर्वन्त्वादिलब्धविरहे श्रुते कनीयसि च । जिनकल्पमनःपर्यवविरहेऽपि न सिद्धिर्विरहोस्ति ॥ वादादिलब्धभाववदविष्यद् यदि च सिद्धञ्चभावोऽपि । तासामवारयिष्यद् यथैव जम्बूयुगाद्वारात् ।"—स्त्रीमु० श्लो० ७-८ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A. । रत्नाकराव० ७ । ५७ । "नापि वादादिलब्धविरहितत्वेन; मूककेवलभिर्व्यभिचारात् ।"—षड्व० बृह० श्लो० ५२ । "माषतुषादीनां लब्धविशेषहेतुसंयमाभावेऽपि मोक्षहेतुतच्छ्रवणात्, क्षायोपशमिकलब्धविरहेऽपि क्षायिकलम्बेरप्रतिघातात् ।"—शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B. ।

१-व्याप्यनिवृ-ब० । २-गति न ता हेतुः ब०, -गतित्यूनताहेतुः श्र० । ३-रतुल्यसाम-आ० । ४ शुभगतावपि ब०, श्र० । ५ भुजगानां प्रथमायां आ०, श्र०, भुजगानां संज्ञिनां प्रथमायां ब०, पू० ब्रु० । ६ प्रथमायां संज्ञिनां द्वितीयायां खगानां तृतीयायाम् भुजगानां चतुर्थ्यां चतुष्पदानां पञ्चम्याम् स्त्रीणां षष्ठ्यां जलचराणां ब०, प्रथमायां खगानां तृतीयायां चतुष्पदानां पंचम्यां सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां वृद्धितायां पू० प्रती । ७ उत्पादस्य श्र० ।

भावौत् । “श्रूयन्ते हि अनन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः” [तत्त्वार्यभा० सम्बन्ध का० २७(?)]
यदि च स्त्रीणां यथा वादाद्यतिशयाः तपोविभवजन्मानो न संभवन्ति तथा मोक्षोपि न
स्यात् ; तदा आगमे तदतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत । न ह्यस्य परिशेषणे किञ्चि-
न्निबन्धनं पश्यामः ।

- 5 अथ स्त्रीणां वैखलक्षणपरिग्रहसद्भावान्न मोक्षः; तर्हि मोक्षार्थित्वात् किन्न तैव
ताभिः परित्यज्यते ? न खलु वस्त्रं प्राणाः, “तेऽपि हि मुक्त्यर्थिना परित्यज्यन्ते किं पुनर्न
वस्त्रम् ? अथ “नो कप्यद् गिरिगंथीए अचेलाए होत्तए” [कल्पसू० ५।२०] इत्यागमविरोधः
तस्याः तत्परित्यागे; तर्हि प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव तत्स्यात् । यथैव हि सर्वज्ञैः
मोक्षमार्गप्रणायकैः उपदिष्टं प्रतिलेखनं मुक्त्यङ्गं भवति न पुनः परिग्रहः तथा वैखल-
10 प्यविशेषात् । यदि च धर्मसाधनानां सूत्रविहितानां परिग्रहत्वं स्यात् तदा पिण्डौषधि-
शय्यादीनामपि वस्त्रवत् परिग्रहत्वं स्यात् § तथा च तदुपायिनां मोक्षाभावः स्यात् § ।
सत्यपि वस्त्रे मोक्षाम्युपगमे गृहिणां कुतो न मोक्षः इति चेत् ? ममत्वसद्भावात् । नहि
गृही वस्त्रे ममत्वरहितः । ममत्वमेव च परिग्रहः । सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान्
भवति । आर्थिकायाश्च ममत्वाभावाद् उपसर्गाद्यासक्तमिव अन्धरमपरिग्रहः । नहि यतेरपि
15 ग्रामं गृहं वा प्रविशतः कर्म नोकर्म च आददानस्य अपरिग्रहत्वे अममत्वादप्युत्तरणमस्ति ।

अथ वस्त्रे जन्तूत्पत्तेः हिंसासद्भावतः चारित्र्यैवाऽसंभवात् कथं मोक्षप्राप्तिः ?
तन्नः; प्रमादाभावे हिंसाऽनुपपत्तेः । प्रमादो हि हिंसा । “प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं
हिंसा” [तत्त्वार्यसू० ७।१३] इत्यभिधानात् । अन्यथा पिण्डौषधिशय्यादौ यतेरपि
हिंसकत्वं स्यात् । अर्हदुक्तेन यत्नेन सञ्चरतोऽस्य प्रमादाभावादहिंसकत्वे आर्थिकाया

(१) “श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः”—तत्त्वार्यभा० । “अनन्ताः सामायिक-
मात्रसिद्धा इति वचनात्”—राजवा० पृ० १० । (२) “यदि वस्त्रादविमुक्तिः; त्यजेत्तद्, अथ
न कल्पते हातुम् । उत्सङ्गप्रतिलेखनवदन्यथा देशको दृष्येत । त्यागे सर्वत्यागो ग्रहणेऽप्यो दोष
इत्युपादिशि । वस्त्रं गुरुणाऽऽयिणां परिग्रहोऽपीति चूल्यादौ । यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदु-
पकरणम् ॥ धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽप्यदक्षिणकरणमाहाहून् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० १०-१२ । रत्ना-
कराव० ७।५७ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (३) वस्त्रम् । (४) प्राणा अपि । (५) “नो
कप्यद् गिरिगंथीए अचेलाए होत्तए”—कल्पसू० । न कल्प्यते निर्ग्रन्था अचेला भावितुम् । (६)
“विहितं सुए क्चिय जओ धरेज्ज तिहि कारणेहि वर्यं ति । तेणं चिय तदवस्सं निरतिसएणं धरे
अव्वं ॥ जिणकप्पाजोगाणं हीकच्छुपरीसहाजओऽवस्सं । हीलज्ज ति व सो संजमो तदत्थं विसेसेणं ॥”
—विशेषा० पा० २६०२-३ । सम्मति० टी० पृ० ७४८ । (७) “मूच्छां परिग्रहः”—तत्त्वार्यसू० ७।१७।
—विशेषा० पा० २६०२-३ । सम्मति० टी० पृ० ७४८ । (८) “संसक्तौ सत्यामपि चोदितयत्नेन परिहृत्यार्या ।
हिंसावती पुमानिव न जन्तुमालाकुले लोके ॥”—स्त्रीमु० श्लो० १५ । “प्राणातिपातपरिणामाभावात्”
—शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B.

१ श्रूयते हि ब०, अ० । २ सामयिकमात्र—आ० । ३ न सन्ति आ०, ब० । ४-णां च वस्त्र-
श्र० । ५ पुनर्नैव वस्त्रं अ० । ६ कपयति ब०, अ० । ७ होताए ब०, अ० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति
अ० । ८ अम्बरसविग्रहः आ० । ९-या हि यि—अ० । १० अर्हदुक्तयत्नेन अ० । ११ आधिक्यामपि आ० ।

अपि अहिंसकत्वं स्यादविशेषात् । तदुक्तम्—

“जिह्वुं य मरुदु अ जीवो अयदाचारस्स गिण्विदा हिंसा ।

पयदस्स गस्थि बन्धो हिंसांमेतेण समिदस्स ॥” [प्रवचनसा० ३१७]

न च पुरुषैरवन्धत्वात् स्त्रीणां मोक्षाभावः; गणधरादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि नार्हदादिभिर्वन्धन्ते अथ च मुच्यन्ते । ततो रत्नत्रयमेव तत्कारणं न बन्धत्वमवन्धत्वं वा । 5

न च मौयाबाहुल्यात्तासां निर्वाणाभावः; पुंसामपि तद्बाहुल्यसद्भावात् । मोहोदयो हि तत्कारणम्, स च उभयोरप्यविशिष्टः ।

न च हीनैस्त्वाः स्त्रियः ततो न निर्वाण्य इत्यभिधातव्यम्; यतः सत्त्वं तपः-शीलसाधारणम् इह एष्टव्यम् नान्यत्, तस्यै निर्वाणं प्रत्यनङ्गत्वात् । तच्च आर्यासु सुप्रसिद्धमेव । उक्तञ्च—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा वित्याताः शीलवत्तया जगति ।

सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥” [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

तथा— “अर्धै(ष्ट)सयमेगसमये पुरसाणं गिण्वुदी समैक्खादा ।

थीसिगेण य वीसं सेसा दसकं त्ति बोधव्वा ॥” []

(१) “मरुदु व जियदु जीवो”—प्रव० । उद्धृतोऽयम्—सर्वार्थसि० ७१३१। म्रियतां वा जीवतु वा जीवो अयदाचारस्य निश्चितता हिंसा। प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य । (२) “अप्रतिबन्धत्वाच्चेत्संयतवर्णेण नार्थिकासिद्धिः । बन्धतां ता यदि ते नोत्तवं कल्प्यते तासाम् । सन्त्यूनः पुव्वेषेभ्यस्ताः स्मारणचारणादिकारिभ्यः । तीर्थंकराऽऽकारिभ्यो न च जिनकल्पादिरिति गणधरादीनाम् । अहंन् न बन्धते न तावताऽसिद्धिरंगगतेः । प्राप्तान्यथा विमुक्तिः स्थानं स्त्रीपुंसयोस्तुल्यम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २४-२६ । “अथ महाव्रतस्थपुरुषावन्धत्वात् न तासां मुक्त्यवाप्तिः; तर्हि गणधरादेरपि अहंदवन्धत्वात् न मुक्त्यवाप्तिः स्यात् ।”—सन्मति० टी० पृ० ७५४ । रत्नाकाराव० ७५७। षड्व० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ A । मुक्तिप्र० पृ० ११४ । (३) “मायादिः पुरुषाणामपि द्वेषादिप्रसिद्धभावरश्च । षण्णां संस्थानानां तुल्यो वर्णत्रयस्यापि ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २८ । रत्नाकाराव० ७५७ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । “चरमशरीरिणामपि नारदादीनां मायादिप्रकर्षवत्त्वश्रवणात् ।”—शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ A । (४) “स्त्री नाम मन्दसत्त्वा उत्सङ्गसमप्रता न तेनात्र । तत्कथमनल्पवृत्तयः सन्ति हि शीलाम्बुधेवलाः । ब्राह्मीमुन्दर्यायां राजीमती चन्दना गणधरान्या । अपि देवमनुजमहिताः वित्याताः शीलसत्त्वाम्याम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २९-३० । षड्व० बृह० श्लो० ५२ । (५) तपःशीलव्यतिरिक्तस्य । (६) “...शीलवतितमा जगति ।...तपसि विसत्त्वा विशीलश्च ।”—स्त्रीमु० । (७) “अत्रैवार्थे विशेषान्तरप्रतिपादिकाः प्रक्षेपगाथाः—विसिथिगाउ पुरिसा अट्ठसयं एगसमयओ सिज्जे । दस चेव नपुंसा तह उवरि समएण पडिसेहो । एकस्मिन् समये उत्कर्षतः स्त्रियो विंशतिः सिध्यन्ति । पुरुषा अष्टशतमष्टाधिकं शतम् । तथा समयेनैकेन नपुंसका दशैव सिध्यन्ति । उक्तसंख्याया उपरि सर्वत्रापि प्रतिषेधः ।”—बृहत्सं० मलय० गा० ३४७ । “अष्टशतमेकसमये पुरुषाणामादिरोगमः (माहुरागमे) सिद्धिः (सिद्धम्) । स्त्रीणां न मनुष्ययोगे गणीयां मुख्यहानिर्वा ।”—स्त्रीमु० श्लो० ३५ ।

1 दोसो व० । 2-मितेण व० । 3 अथ मुच्य-अ० । 4 आर्यासु सिद्धमेव व० । 5 अठसय-अ०, अट्ठसय-व० । 6 समदा व०, समखादा आ० । 7-कंति अ० ।

इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् ।

अथ अत्र स्त्रीशब्देन स्त्रीवेदो गृह्यते; कथमेवमपि स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः ? यथैव हि स्त्रीवेदेन पुंसः सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि स्यात्, भावो हि सिद्धेः कारणम् ।

किञ्च, द्रव्यतः पुरुषः भावतः स्त्रीरूपो भूत्वा यथा निर्वाति तथा द्रव्यतः
5 स्त्रयपि भावतः पुरुषो भूत्वा किन् न निर्वाति अविशेषात् ? न च सिद्धयतो वेदः संभवति, अनिवृत्तिर्वादरसात्पराये एव अस्य परिक्षयात् । अथ भूतपूर्वगत्या क्षपकश्रेण्यारोहणं येन वेदेन करोति तेनासौ मुक्तः इत्युच्यते; ननु किमनेन उपचारेण स्त्रिया एव स्तनप्रजननधर्मादिमत्या निर्वाणमस्तु इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अविकलकारणत्वात्’ इत्यादि; तत्र अविकल-
10 द्रव्यस्त्रीणां तद्वन्ति- कारणत्वमसिद्धम्; तत्कारणं हि रत्नत्रयम्, तत्किं परमप्रकर्षप्राप्तं
वीणप्राप्तिसिरसनम्— सत् तत्कारणं स्यात्, तन्मात्रं वा ? यदि तन्मात्रम्; तदा गृहिणा-
मपि निर्वाणप्रसङ्गः । अथ परमप्रकर्षप्राप्तम्; तन्न; तत्रैतस्य परमप्रकर्षप्राप्तत्वाऽनुपपत्तेः ।
तथाहि—निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीग-
मनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् । तथा चेदमुक्तम्—‘अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः’
15 इत्यादि । प्रत्यक्षतो हि अदृश्यस्यार्थस्य विरोधः प्रतिपत्तुमशक्यो न तु अनुमानादितोऽपि,
अन्यथा कथं सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षस्यापि तत्र विरोधप्रतिपत्तिः स्यात् ?
यदप्युक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽव्याप्तेः’ इत्यादि; तदप्य-
युक्तम्; अकार्यकारणस्यापि कृत्तिकोदयात् शकटोदयादेः प्रतिपत्तिदर्शनात् । अविना-
भावो हि गम्यगमकभावे निबन्धनं न कार्यकारणत्वादि, स चात्र अस्त्येव । न खलु
20 तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव अविनाभावो नियतः; कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकं प्रत्यगम-
कत्वप्रसङ्गात् इति । एतच्च सौगतोपकल्पितव्याप्तिविचारावसरे संप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् ।
अतश्च ‘सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च’ इत्यादि प्रत्यु-
क्तम् । कथञ्चैवंवादिनो अर्वाग्भागाभावात् परभागाभावो निश्चीयेत, अन्यतोः तादा-
त्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धासंभवात् ? अथात्र एकैकैथसमवायः सम्बन्धोऽस्ति तस्मा-

(१) “न च पु देहे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गुलम् । भावः सिद्धौ पुं वत् पुमां अपि (पुं सोऽपि) न सिद्धयतो वेदः ॥” क्षपकश्रेण्यारोहे वेदेनोच्येत पूर्ववेदेन । स्त्रीति नितराममुख्ये मुख्येष्वं युज्यते नेतराम् ॥—स्त्रीमु० श्लो० ३९-४० । (२) वेदस्य । (३) पु० ८६५ पं० १३ । (४) स्त्रीषु । (५) “मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षः...”—प्रमेयक० पु० ३२८ । (६) पु० ८६६ पं० १० । (७) पु० ८६६ पं० १५ । (८) अविनाभावः । (९) पु० ४४६ । (१०) अर्वाग्भागाभावपरभागाभावयोः । (११) एकस्मिन्नेव अवयविति अर्वाग्भागपरभागाभावयोः अवयवयोः समवायात् तयोः परस्परमेकार्थसमवायः समस्त्येव ।

१ इत्यागम-अ० । २ वादरसंपराय-आ० । ३ ‘तदा’ नास्ति आ०, अ० । ४—प्रतिपत्ते-
रित्यादि आ० । ५ अदृश्याथस्य व० ।

देव अनयोः गम्यगमकभावो भविष्यति, ननु नैयायिकस्य मतमेतन्न सितार्म्बरस्य ।
न खलु समवायासिद्धौ तस्यै एकार्थसमवायसिद्धिरुपपद्यते तत्सिद्धिपूर्वकत्वात्तस्यैः ।
अस्तु वा तत्सिद्धिः; तथापि—अतस्तयोर्योग्यगमकभावे प्रकृतयोरपि सोऽस्तु तत्राप्ये-
कार्थसमवायसद्भावात्, यत्रैव हि आत्मनि सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता संमेवता तत्रैव
मुक्तिगमनयोग्यतापि । न च सप्तमपृथिवीगमनाभावात् स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः साध-
यितुमिष्टः येनोक्तदोषानुषङ्गः स्यात्, किं तर्हि ? परमप्रकर्षत्वाद्धेतोः दृष्टान्ते सिद्धसा-
ध्यव्याप्तिकात् निर्वाणकारणाभावः तत्रैव साधयितुमिष्टः । तदैवावाच्य निर्वाणाभावः
स्वयमेव तत्र सेत्स्यति । न खलु निर्हेतुका कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात् । तैतोऽयुक्त-
मुक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्’ इत्यादि ।

यदपि—‘चरमदेहैः निश्चितव्यभिचारम्’ इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; यतः सप्तम-
पृथिवीगमनाभावः तन्निर्वर्तनसमर्थकमार्जनसामर्थ्याभावः । स च स्त्रीष्वेवास्ति न चरम-
शरीरिषु । श्रूयते हि भरतप्रभृतिचक्रवर्तिनां चरमशरीराणामपि प्रयाणकसमये सप्तमपृ-
थिव्यां गमनयोग्यकर्मार्जना, देवार्चनसमये तु सर्वार्थसिद्धाविति । उक्तष्टो हि शुभोऽशु-
भश्च परिणामः यथाक्रमम् उक्तष्टायाः शुभगतेः अशुभगतेर्वा हेतुभूतं कर्म आरभ्यते,
तत्परिणामप्रारम्भे च पुरुषस्यैव सामर्थ्यं न स्त्रियाः । यथैव हि तस्याः तीव्रतराशुभ-
परिणामे सामर्थ्याभावः तथा उक्तष्टशुभपरिणामेऽपि । उक्तष्टशुभपरिणामेन च मुक्तिः ।

एतेन ‘विषमगतयोऽप्यधस्तात्’ इत्याद्यपि^{११} प्रतिव्यूढम्; प्रकृष्टगतिप्रारम्भहेतुभूत-
कर्मोपार्जनसमर्थस्यैव मुक्तियोग्यतोपपत्तेः न तद्विपरीतस्य । श्रूयते हि प्रतिनियताऽवा-
न्तरगतप्रारम्भकर्मवशात् प्रतिनियतोत्पादस्थानानामपि नारकाणां क्षपितकर्मणां तिर्य-
ग्लोके सर्वेषामपि नियमतः^{१२} सन्निपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पादः, देवानाञ्च
तैथाविधकर्मवशात् प्रतिनियतोपपादस्थानोत्पन्नानां तिर्यग्लोक एव तेषु^{१३} एकेन्द्रियेषु च

(१) तन्मते हि अवयवायविनोः कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमात् । (२) श्वेताम्बरस्य । (३) एकार्थसमवायसिद्धेः । (४) एकार्थसमवायात् । (५) सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्य-मुक्तिगमनसामर्थ्य-
योश्च । (६) स्त्रीषु । (७) निर्वाणकारणाभावाच्च । (८) पु० ८६६ पं० २० । (९) पु० ८६७
पं० २ । (१०) दिग्विजययात्रासमये । (११) पु० ८६७ पं० ४ । (१२) गिरयादो निस्सरिदो
णरतिरि ए कम्मसण्णिपज्जते । गम्भभवे उप्पज्जदि सत्तमपुढवीदु तिरि ए व ॥”-त्रिलोकसा० गा० २०३ ।
“जेरयियाणं गमणं सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे । चरमचळु तित्थूणे तेरिच्छे चेव सत्तमिया ॥”-कर्मका०
गा० ५३८ । (१३) सन्निपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु च । “आहारगा दु देवे देवाणं सण्णिकम्मति-
रियणरे । पत्तेयपुढविआऊदरपज्जत्तणे गमणं ॥ भवणतियाणं एवं तित्थूणणरेसु चेव उप्पत्ती ।
ईसाणंताणणे सदरदुगंताणसण्णीसु ॥”-कर्मका० गा० ५४२-४३ ।

१ समवेता न तत्रैव मुक्तिगमनायोग्यतापि ब० । २ निर्हेतुककार्य-श्र० । ३ ततो युक्तमुक्तम्
ब० । ४-शरीरेषु ब०, श्र० । ५-णामप्राप्ते च ब० । ६ यथाविध-आ० । ७-नियतस्थानो-आ०,
नियतोत्पादस्थानो-ब० ।

नियमेनोत्पाद् इति । न च तथाविधकर्मोपार्जनसामर्थ्येन मुक्तियोग्यता संभवति इति न मुक्तियोग्यताविचारवासरे किञ्चिदनेन प्रयोजनम् । यस्य तु उपरिष्ठात् प्रकृष्टशुभगति-
प्रसाधने सामर्थ्यम् तस्य अधस्तात् प्रकृष्टशुभगतिप्रसाधनेऽपि तदस्ति यथा पुंस इति
स्त्रीणां प्रकृष्टायां शुभगतौ सामर्थ्यभ्युपगच्छता अशुभगतावपि तथाविधायां तदभ्युप-
गन्तव्यम् । तथा च “इत्थी लङ्घीश्रो अहो न उप्यजंति” [] इत्यादि
भवदीयागमविरोधः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘न च वादादिलब्धभावात्तासां मोक्षाभावः’ इत्यादि; तदप्यु-
क्तिमात्रम्; यैतो यत्र ऐहिकवादविक्रियाचारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषो नास्ति
तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्धीत ? वादलब्धिः खलु इन्द्राद्यास्था-
नेषु बृहस्पत्यादिष्वपि प्रतिबन्धकेषु सत्सु छलजात्यादिपरिहारेण स्वतन्त्रप्रतिपादनसा-
मर्थ्यम् । विक्रियालब्धिः इन्द्रादिरूपोपादानशक्तिः । चारणलब्धिः गगनगमनसामर्थ्यम् ।
आदिशब्दात् अक्षीणमहानसादिलब्धिपरिग्रहः । तद्वेतुश्च संयमविशेषो न स्त्रीणां
प्रवचने प्रतिपाद्यते ।

यदप्यभिहितम्—‘आगमे वादादिलब्धतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत’
इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; संयमविशेषनिषेधादेव आगमे तासां मोक्षाभावप्रतिपा-
दनप्रसिद्धेः । सुप्रसिद्धो हि आगमे पुंसां मोक्षहेतोः आचेलक्यादिसंयमविशेषस्य
विधिः, स्त्रीणां तु निषेधः । न च कारणाभावे कार्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात् । संयममात्रं
तु सदपि आसां न मोक्षहेतुः तिर्यग्गृहस्थादिसंयमवत् । तथा, नास्ति स्त्रीणां मोक्षः
परिग्रहवत्त्वात् गृहस्थवत् ।

यदप्युक्तम्—‘प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव वस्त्रम्’ इत्यादि; तदप्यचारुः यतः प्रति-
(१) पु० ८६७ पं० १० । (२) ‘स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेनद्विविशेषाहेतुत्वान्यथानु-
पपत्तेः ।’—प्रमेयक० पु० ३३० । (३) संयमः । (४) ‘शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्सु अप्रतिहततया
निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रपेक्षणञ्च वादित्वम् ।’—राजवा० पु० १४४ । (५) “लभान्तरायशयोपशमप्र-
कर्षप्राप्त्येभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चकथरस्कन्धावोऽपि यदि भुञ्जीत तद्विसे नान्नं
क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः ।”—राजवा० पु० १४५ । (६) पु० ८६८ पं० ३ । (७) “लिंगं इच्छीण
हवे भुञ्जि पिडं सु एयकालम् । अज्जयवि एकवत्था वत्थावरणेण भुञ्जि । णवि सिज्झइ वत्थघरो
जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो । णगरो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मगया सव्वे ।”—लिंगम्पि य इत्थीणां
थणंतरे णाहिकक्खदसेसु । भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥ जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता
मग्गेण सापि संजुत्ता । थोरं वरिय चरित्तं इत्थीसु न पावया भणिया ॥ चित्तासीहि ण तेसिं
दिल्लं भावं तहा सहावेण । विज्जदि भासा तेसिं इत्थीसु णसंस्कया भाणं ॥”—सूत्रप्रा० पा०
२३-२६ । “णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा । तन्हा तप्पडिक्खं विरपियं
लिंगमित्थीणं । निर्यन्यलिङ्गात् पृथक्त्वेन विकल्पितं कथितं लिंगं प्रावरणसहितं चित्तं स्त्रीणामिति ।”—
प्रब०टी० पु० ३०२ । (८) पु० ८६८ पं० ८ ।

१—नासिनाधने—आ० । २ इत्थीञ्छद्गीदो अहो ण उ—ब० । ३ ‘यतो’ नास्ति ब०, श्र० ।

४—स्थादिवत् आ०, ब० ।

लेखनं तावत् संयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टम्, वस्त्रं तु किमर्थमुपदिष्टमिति ? तदपि तत्प्रतिपालनार्थमिति चेत्; तथाहि—अभिभूयन्ते प्रायेण विवृताङ्गोपाङ्गसन्दर्शनजनित-चित्तभेदैः पुरुषैः अङ्गना अकृतप्रावरणाः घोटिकेव घोटकैरिति; तत्र कुतस्ताः तैरभिभूयन्ते न पुनस्ते^२ ताभिः अकृतप्रावरणत्वाविशेषेऽपि इति वक्तव्यम् ? तासामल्प-सत्त्वोपेततया अभिभाव्यत्वाच्चेत्, सुप्रसिद्धो ह्ययं विभागः गवाश्चादौ स्त्रीप्रकृतिर- 5 भिभाव्या पुरुषप्रकृतिरभिभाविका इति; तदेतन्महामोहविजृम्भितम्; यासामतितुच्छ-सत्त्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवः ताः सकलत्रैलोक्याभिभावककर्मेराशिप्रक्षयलक्षणं मोक्षं महासत्त्वप्रसाध्यं प्रसाधयन्तीति !

यदप्युक्तम्—‘यदि धर्मसाधनानां परिग्रहत्वं स्यात्’ इत्यादि; तत्र कोऽयं धर्मः यत्साधनत्वं वस्त्रस्य स्यात्—पुण्यविशेषः, संयमविशेषो वा ? प्रथमपक्षे कथं तन्मुक्ति- 10 हेतुः ? आगमविहितविधिना गृह्यमाणस्यास्य गृहस्थवत् पुण्यस्यैव हेतुत्वात् । पुण्य-हेतोश्च मुक्तिहेतुत्वे दानादेरपि तद्धेतुत्वप्रसङ्गः । ‘संयमविशेषहेतुत्वं तु तस्य दुरुपादम्, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो हि संयमः, स च याचैनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षे-पादानचौरहरणादिमनःसङ्कोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत संयमोपघात-कमेवैतत् बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात् । 15

नन्वेवं पिण्डौषध्यादीनामपि परिग्रहत्वप्रसङ्गात् कथं तदादिधानामपि मोक्षः स्यात् ? इत्यप्यसारम्; तेषाम् उद्गमादिदोषपरिहारेण उपादीयमानानां रत्नत्रयोपबृंहण-हेतुत्वात् । न हि ते सिद्धान्तविहितविधिना उपादीयमाना मोक्षहेतोरपकर्तारः । तदग्र-हणे च अपूर्णेऽपि काले विपत्तेरापत्तेः आत्मघातित्वं स्यात्, वस्त्राऽग्रहे तु नाऽयं दोषः । षष्ठाऽष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डादिकमपि त्यज्यते, परमनैर्ग्रन्थ्यभागिभिः तैः 20 प्रतिलेखनञ्च, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम् । नच गृहीतेऽपि वस्त्रे ममेदंभावस्य आसाम-संभवादपरिग्रहत्वं वाच्यम्; विरोधात्, बुद्धिपूर्वं हि पतितं वस्त्रं हस्तेनादाय परिद-धानाया मूर्च्छारहितत्वानुपपत्तेः, यद् बुद्धिपूर्वं पतितमप्यादीयते न तत्र मूर्च्छाभावः यथा सुवर्णादौ, तथा आदीयते च स्त्रीभिर्वस्त्रमिति ।

(१) स्त्रियः । (२) पुरुषाः । (३) पृ० ८६८ पं० १० । (४) वस्त्रस्य । (५) “गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थिचं भणिदमिह सुत्ते । जदि सो चत्तालंको हवदि कहं वा अणारम्भो ॥ वत्थ-क्खंडं दुद्धियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं । विज्जदि पाणारंभो विक्खेभो तस्स चित्तम्मि ॥ गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता । पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥ किं व तन्हि णत्थि मुच्छा आरंभो व असंजमो तस्स । तथ परदव्वम्मि रदो कथमप्याणं पसावयदि ॥”—प्रब०, टी० पृ० २९७ । प्रमेयक० पृ० ३३१ । (६) “बुद्धिपूर्वं हि हस्तेन पतितं वस्त्रमादाय” —प्रमेयक० पृ० ३३३ ।

१-विशेषणेति वक्त-व० । २-भाव्यं पुरुष-अ० । ३-राशिक्षय-अ०, राशिप्रक्षयलक्षणं आ० । ४ संयमाशेष-आ० । ५-पूर्वं हि अ० ।

एतेन 'उपसर्गाद्यासक्तमिव अम्बरमपरिग्रहः' इत्यादि प्रत्याख्यातम्; उपसर्गाद्या-
सक्ते वक्षे पतिते बुद्धिपूर्वग्रहणासंभवात् ।

- अथोच्यते—स्त्रीणां वस्त्रत्यागाभ्युपगमे कुलस्त्रीणां लज्जाभूयिष्ठत्वात् दीक्षाग्रहणमेव
न स्यात्, वक्षे तु सति तत्परिग्रहमात्रं दोषः सकलशीलपरिपालनं तु गुणः इति त्यागो-
पादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवता वस्त्रमुपदिष्टं तासामिति; तदेतद-
स्माकमभीष्टमेव, नहि अत्रार्थे वयं विप्रतिपद्यामहे, मोक्षे एव अस्माकं विप्रतिपत्तेः । न च
तच्छीलं मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति परिग्रहवदाश्रितत्वात् गृहस्थशीलवत् । नहि गृहस्थ-
शीलं त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवतोपदिष्टमपि मोक्षप्रसाधनाय
प्रभवति एवं प्रकृतमपि । अथ तच्छीलं हिसाशबलितत्वात् न तत्प्रसाधनाय प्रभवति;
तदन्त्यत्रापि समानम् । न खलु स्त्रीसम्बन्धि शीलं हिसाशबलं न भवति; यूकालिक्षा-
द्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणवस्त्रसमन्वितत्वात् गृहस्थशीलवत् । तत्सम्मूर्च्छनाधि-
करणस्य च वस्त्रस्य हिसानङ्गत्वे मूर्च्छजानामपनयनानर्थक्यं स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'प्रमादाभावे तासां हिसानुपपत्तेः' इत्यादि; तदप्यपेशलम्;
लोभकषायपरिणतौ तासामप्रभेत्तत्त्वानुपपत्तेः, तत्परिणतेरेव प्रमादत्वात् । तदुक्तम्—

- १५ "विकेहा तहा कसाया इंदिय गिया य तह य पणो (यो) य ।

चदु चदु पण एंगेगे हुंति पमादा हु पण्यरत्त ॥" [पञ्चत्तं १११५] इति ।

- लोभकषायपरिणतिश्च स्त्रीणां बुद्धिपूर्वं वस्त्रस्वीकारात् अस्तीत्यवसीयते । अथ
वीतरागत्वेऽप्यासां लज्जापनोदार्थं तस्वीकारसंभवात् नातस्तासां तत्परिणतिसिद्धिः;
नन्वेवं कार्मपीडापनोदार्थं कौमुकादिस्वीकारोप्यासां किञ्च स्यादविशेषात् ? अथ तस्वी-
डासद्भावे वीतरागत्वं तासां विरुद्धते, तदेतत् लज्जासद्भावेऽपि समानम् । न खलु
वीतरागस्य लज्जा उपपद्यते, सति रागे बीभत्सावयवप्रच्छादनच्छादरूपत्वात्तर्थाः । यो
वीतरागो नासौ लज्जावान्, यथा शिशुः, वीतरागा च भवद्भिरभिप्रेता आर्यिका इति ।

(१) "अशोभिगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्येत । उपसर्गं वा वीरे यदादि संन्यस्यते चात्ते ॥"
—स्त्रीमु० श्लो० १७ । (२) गृहस्थशीलम् । (३) पृ० ८६८ पं० १७ । (४) "पद्मदी पमादमद्वया
एदासि वित्ति भासिया पमदा । तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला ति णिदिदुण ॥ संति धुवं पमदाणं
मोहपदोसा भयं दुग्गुञ्जा य । चित्ते चित्ता माया तम्हा तासि ण निब्बानं ॥"—प्रव० टी० पृ० ३०२ ।
"मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं । णिच्चं जोणिसावो दारड्डं णदिय चित्तस्स ॥"—
भावसं० गा० ९३ । (५) विकथास्तथा कथाया इन्द्रियनिन्दातथैव प्रणयश्च । चतुरचतुःपञ्चकं
भवन्ति प्रमादाः खलु पञ्चदश ॥ गाथेयं जीवकाण्डेऽपि (३४) वर्तते । उद्धृतेयम्—धवलाटी० पृ०
१७८ । (६) "ह्रीशीतातिनिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते । कामिन्यादिस्तथा किञ्च कामपीडादि-
शान्तये ।"—प्रमेयक० पृ० ३३१ । (७) कामपीडा । (८) लज्जायाः ।

१-सर्गाद्व्यसक्त-आ० । २ अत्रार्थेऽत्रयं विप्र-व० । ३-प्रसाधाय व० । ४-नाय भवत्येव प्रकृत-
व० । ५-यूकालि-व० । ६-गामे तासां-व० । ७-एगेकं अ० । ८-बुद्धिपूर्ववस्त्र-आ०, बुद्धिपूर्वकवस्त्र-अ० ।
९-कान्तादि-अ० ।

यदि च पुंसाम् अचेलः संयमो मुक्तेर्हेतुः स्त्रीणां तु सचेलः; तदा कारणभेदात् मुक्तेरप्यवश्यमतुपज्येत भेदः । योऽत्यन्तभिन्नः संयमः सोऽत्यन्तभिन्नकार्यारम्भकः यथा यतिगृहिः संयमोऽत्यन्तभिन्नस्वर्गाधारम्भकः, अत्यन्तभिन्नश्च सचेलोऽचेलरूपो मुक्तिहेतुतयाऽभिप्रेतः आर्य-अर्थिकासंयमः इति । न चानयोः मुक्तिभेदोऽस्ति; सकलकर्म-क्षयलक्षणया मुक्तेः उभयोर्भवद्विस्तृत्यतयाऽभ्युपगमात् ।

किञ्च, सचेलसंयमस्य मुक्तिहेतुत्वे मुक्त्यर्थिनां न वस्त्रादेस्त्यागः कर्तव्यतया उपदिश्येत, उपदिश्यते चासौ तेषां तथा, अतो वस्त्रादेर्मुक्त्यङ्गतामुपपत्तिः । प्रयोगः—वस्त्रं मुक्तेरङ्गं न भवति, मुक्त्यर्थिनां तत्त्यागस्य कर्तव्यतयोपदिश्यमानत्वात्, यत्त्यागो मुक्त्यर्थिनां कर्तव्यतयोपदिश्यते न तत् मुक्तेरङ्गम् यथा मिथ्यादर्शनादि, कर्तव्यतयोपदिश्यते च तेषां वस्त्रत्याग इति । यत्पुनः मुक्तेरङ्गं न तत्त्यागस्तदर्थिनां कर्तव्यतया उपदिश्यते यथा सम्यग्दर्शनादेरिति ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘पुरुषैरवन्धत्वस्य गणधरैर्व्यभिचारः’ इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यतोऽर्हतां तीर्थं कर्तव्यत्वात् पुण्यातिशयवशात् परममहत्त्वपदप्राप्तत्वेन अखिलजनैर्वन्धत्वमेव न वन्दकत्वम् । नहि कश्चित् तत्पदादधिकपदार्हो जगत्सि तस्य ते वैन्दका भविष्यन्ति, गणधराणां तु तथाविधपुण्याऽर्भावात् तैत्तदप्राप्तेरभावान्न तद्वद्वन्धत्वम् ।¹⁵ मुक्तिसामग्री तु तीर्थकरे तेषां सिद्धतां न विशिष्यते । आर्थिकायास्तु सा विशिष्यते, तद्वेतुरन्नत्रयाभावात् । तथा, स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः, यतिगृहिदेववन्धपदाऽनर्हत्वात्, न पुंसकादिवत् । यतीनां हि वन्धं पदं द्विविधम्—परम्, अपरञ्च । तत्र परम्—तीर्थकरत्वलक्षणम् । अपरम्—आचार्यादिलक्षणम् । तदुभयमपि पुंसामेव उपदिश्यते न स्त्रीणाम् । तथा गृहिणां देवानाञ्च वन्धं पदं द्विविधम्—पराऽपरभेदात् । तत्र²⁰ तेषां वन्धं परं पदम्—चैकवर्तित्वम् इन्द्रत्वञ्च । अपरम्—महाम(सा)ण्डलिकादि सामानिकादि च । तदपि पुंसामेव श्रूयते न स्त्रीणाम् । प्रतिगृहञ्च प्रभुत्वं पुंसामेव न स्त्रीणाम् । तथा पितरि सत्यसति च पुत्रस्यैव लघोः विरूपकस्यापि सर्वत्र कार्योऽधिकारो न पुत्रीणां महतीनां सुरूपाणामपि । अतो यासां सांसारिकलक्ष्म्यामपि अधिकारो नास्ति तासां मोक्षलक्ष्म्यामधिकारो भविष्यति इति किमपि महाद्भुतम् !²⁵

ननु यदि महत्याः श्रियोऽनर्हत्वात्तासामुक्तिः तदा गणधरादीनामप्युक्तिः

- (१) “तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेदः स्वर्गादिवत् ।”—प्रमेयक० पृ० ३३० । (२) आर्य-आर्थिकयोः । (३) वस्त्रत्यागः मुक्त्यर्थिनां कर्तव्यतया । (४) पृ० ८६९ पं० ४ । (५) तीर्थकराः । (६) परममहत्त्वपदप्राप्तेः । (७) तीर्थकरवत् सकलजगद्वन्धत्वम् ।

1 वन्दका च भवि-अ० । 2-पुण्यानुभावतस्तत्प-आ०, -पुण्येभावतस्तत्पद-ब० । 3-भाव-स्तत्पद-अ० । 4 तद्वन्धत्वम् ब०, अ० । 5-करे तेषां अ० । 6 आर्थिकामु सा ब० । 7 वन्धपदं ब० । 8 चैकवर्तित्वं ब० । 9 विपक्षकस्यापि ब० ।

स्यात् महत्याः तीर्थकरत्वश्रियः तेषामप्यनर्हत्वाविशेषात् ; इत्यप्यसुन्दरम् ; व्यक्तभेद-
स्यात्र विधिनिषेधयोरनङ्गत्वात् । पुरुषवर्गो हि महत्यां श्रियामधिकृतो न स्त्रीवर्गः
अतस्तत्परिहारेण तस्यैव मुक्तिरभ्युपगन्तव्या, न पुनः कचिद्व्यक्तौ तथाविधश्रियोऽ-
संभवेऽपि मुक्त्युपलम्भाद् व्यभिचारमुद्भाव्य मुक्तिं प्रति स्त्रीणां तत्समानताऽऽपादयितुं
युक्ता । न खलु एकस्य राजपुत्रस्य राज्यप्राप्तौ अन्यतत्पुत्राणां तदप्राप्तिः ततो हीन-
त्वेऽपि पुत्र्या समत्वं युक्तम् ; पुत्रवर्गात् पुत्रीवर्गस्य सकलव्यवहारेषु लोके अत्यन्त-
विलक्षणतया प्रसिद्धेः । ततः स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत् ।
न च तेभ्यो हीनत्वमासामसिद्धम् ; अनन्तरमेव अस्य समर्थितत्वात् ।

इतश्च तत्सिद्धम् यतः सारणैवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणां पुरुषाः कुर्वन्ति न
स्त्रियः पुरुषाणाम्, तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा न स्त्रियः । उक्तञ्च—

“सारणैवारणपरिचोयणाद् पुरिसा करेई गहु ईत्थी” []

ननु न हीनत्वमधिकत्वं वा मुक्तेरङ्गम्, किन्तु रत्नत्रयं शिष्याचार्यवत्, तथाहि—
शिष्या आचार्येभ्यो हीनाः ते तु तेभ्योऽधिकाः अथ च उभयेषां मुक्तिः, तद्वद् आर्या-
णाम् आर्थिकाणाञ्च सा भविष्यति; इति च श्रद्धामात्रम् ; यतः शिष्याचार्यवत् हीना-
धिकत्वेऽपि स्त्रीपुरुषयोर्मुक्तिः अविशेषतः स्यात् यदि तद्वत् तयोरपि मुक्तिहेतुभूतं
रत्नत्रयमविशेषतः स्यात्, न च स्त्रीषु तदस्ति, तद्वेतुभूतस्यास्य प्रपञ्चतः तासु प्रागेव
प्रतिषिद्धत्वात् । रत्नत्रयमात्रं तु तत्र सदपि न तद्वेतुः ; गृहस्थादेरपि मुक्तिप्रसङ्गात् । नहि
प्रचण्डमार्त्तण्डप्रसाध्ये कार्ये प्रदीपस्य स्वप्नेऽपि सामर्थ्यं प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—‘गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः’ इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम् ; नहि
यथा अनेकदुर्धरपरीषहसहत्वेन अखिलकर्मनिर्मूलनसमर्थं महासत्त्वं पुसां प्रसिद्धम्
तथाविधं स्वप्नेऽपि स्त्रीणामस्ति । स्त्रीवर्गापेक्षयैव सीतादीनां सत्त्वप्रकर्षसंभवात्
‘महासत्त्वाः’ इत्युच्यन्ते । नहि तासां पुंसामिव सत्त्वाधिक्यमस्ति कापि कार्ये ।
तथाविधसत्त्वविकलानाञ्च तासां कथं महासत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रता स्यात् ।
तथाहि—न स्त्रीशरीरं मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतोपेताऽऽत्माश्रयः महता पापेन निर्वर्तित-
त्वात् नारकादिशरीरवत् ।

किञ्च, अखिलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतोस्तत्त्वं तदाश्रयतोपपद्यते । न च स्त्रीशरी-

(१) स्त्रीवर्गपरिहारेण । (२) तीर्थकरत्वश्रियः । (३) “सारणा हिते प्रवर्तनलक्षणा कृत्य-
स्मारणलक्षणा वा, उपलक्षणत्वाद् वारणा अहिताग्निवारणलक्षणा, चोयणा संयमयोगेषु स्वलितः
सन्नयुक्तभेदद् भवादृशां विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा, प्रतिचोदना तथैव पुनः पुनः प्रेरणा ।”—गच्छा०
वृ० गा० १७ । ओघनि० टी० गा० ४४८ । (४) शिष्याचार्यवत् आर्य-आधिक्योरपि । (५)
पू० ८६९ पं० ११ । (६) शरीरस्य । (७) मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतोपेतात्माश्रयता ।

१ व्यक्तभेदः स्यात् विधि-आ० । २ तत्प्राप्तिः व० । ३ सारणचारण-आ० । ४ सारणचारण
-आ० । ५ इष्टी आ० । ६ आचार्याणांसापि-श्र० । ७-विषयमपि क्वापि आ० । ८ न च शरीरस्य आ० ।

रस्य तत्पारम्भहेतुतोपपद्यते । तथाहि—न स्त्रीशरीरं सकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतुः
महता पापेन मिथ्यात्वसहायेन उपार्जितत्वात् नारकादिशरीरवत् । स्त्रीनिर्वर्त्तकं हि
कर्म महत्पापम् न मिथ्यादृष्टेरन्येन उपार्ज्यते । यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टिरपि तदु-
पार्जयति तथाप्यसौ सम्यग्दर्शनमवसादयन् मिथ्यादृष्टिरेव, मिथ्यादर्शनाभिमुखस्यास्य
मिथ्यादर्शनेनैव व्यपदेशात् । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपि हि तत्तावत् नार्जयति, किमङ्ग पुनः 5
सम्यग्दृष्टिः ? स्त्रीत्वेन उत्पद्यमानोऽपि जीवो मिथ्यात्वपरिणत एव उत्पद्यते । तदुक्तम्—

“हेतु हेतिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।

वारस (वारस) मिच्छुववादे सम्माइटी ण उप्पयदि ॥” [पंचसं० १।११३ (?)]

यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि नास्ति ताः मोक्षपदं प्राप्स्यन्ति इति
महज्जायकौशलम् !

10

यदप्युक्तम्—“अट्टसमयेगसमये” इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् इत्यादि;
तदप्यनल्पतमोविलसितम्; अस्य आगमस्य अस्मत्प्रत्यप्रमाणत्वात्, तदप्रमाणत्वञ्च
प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वात् सुप्रसिद्धम् । यथा च स्त्रीनिर्वाणलक्षणोऽर्थः प्रमाण-

(१) “चित्तस्तावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं । विज्जदि सहसा तासु अउप्पादो
सुहममणुआणं ।”—प्रब० टी० पृ० ३०३ । “सुहमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणाहिकव्वसेसु । उप्पती होइ
सदा अण्णेसुय तणुपेसेसु । णहु अत्थि तेण तेसि इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरणं । संजमधरणेण विणा ण
हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥”—भावसं० गा० १४-१५ । “सदैवाशुद्धता योनौ गलन्मलाश्रयत्वतः । रजः
स्खलनमेतासां मासं प्रति प्रजायते ॥ उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणां योनौ कक्षादिसन्निधु । सूक्ष्मापर्याप्तका
मर्त्यास्तद्देहस्य स्वभावतः ॥ स्वभावः कुत्सितस्तासां लिंगञ्चात्यन्तकुत्सितम् । तस्मान्न प्राप्यते साक्षाद्
द्वेधा संयमभावना ॥ उत्कृष्टसंयमं मुक्त्वा शुक्लध्याने न योग्यता । नो मुक्तिस्तद्विना तस्मात्तासां
मोक्षोऽतिदूरगः ॥ सप्तमं नरकं गन्तुं शक्तित्यासां न विद्यते । आद्यसंहननाभावान्मुक्तिस्तासां कुत-
स्तनी ॥ योषित्स्वरूपतीर्थेणां तल्लिगस्तनभूषिताः । अर्चाः प्रतिष्ठिताः क्वापि विद्यन्ते चेत्प्रकथ्यताम् ।
न सन्ति चेन्मताभावः सन्ति चेद् भण्डिमास्पदम् । एवं दोषद्वयासंगान्मोक्षो न घटते स्त्रियः ॥”—
भावसं० इलो० २४४-५० । (२) “सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो । णासिय-
सम्मत्तो सो सासणगामो मुण्येव्वो ॥”—जोवका० गा० २० । “विपरीताभिनिवेशतोऽसद्वृष्टित्वात् ।
तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्ययं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत् ; ब; सम्यग्दर्शनचारित्र्यप्रतिबन्धनन्तानुबन्धु-
दयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद् भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मदियजनितवि-
परीताभिनिवेशाभावान्न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते ।”—धवलदी० पृ०
१६४ । (३) “..... वारसमिच्छोवादे सम्माइटिस्स गत्थि उववादो”—पंचसं० । “...णेदेसु समुप्पज्जइ
सम्माइटी दु जो जीवो”—धवलदी० पृ० २०९ । “हेट्ठिमच्छपुढवीणं जोइसि वण भवण सव्व इत्थीणं ।
पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥”—जोवका० गा० १२७ । अद्यस्तनषट्तरकेषु ज्योतिर्व्य-
न्तरभवनवासिषु तिर्यङ्मनुष्यदेवस्त्रीषु द्वादशसु मिथ्यात्वोपपादस्थानेषु सम्यग्दृष्टय न समुत्पद्यन्ते इत्यर्थः ।

(४) पृ० ८६९, पं० १३ ।

1-वसादयेत् मि-आ० । 2-रपि हेतु तावत् श्र० । 3 किपुनः श्र० । 4-णत्थं वोत्प-ब० ।
5-वारसतिमिच्छुववादे आ०, श्र० । 6-वादेसग्या इत्थि न उप-श्र० । 7-अद्वसय-आ० ।
8-अस्मान् प्रत्यप्र-श्र० ।

बाधितः तथा प्रपञ्चतः प्राक् प्रतिपादितमेव ।

ननु—“पुवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेदिमारूढा ।

सेसोदयेण वि तहा भाणुवजुत्ता य ते दु सिद्धंति ॥” [प्रा० सिद्धभ० गा० ६]

इत्यादेरपि प्रमाणभूतागमस्य तन्निर्वाणप्रतिपादकस्य सद्भावात् कथं प्राक्तनागमस्य
5 प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वम्, आगमात् स्त्रीनिर्वाणाऽसिद्धिर्वा ? इत्यपि मनोरथ-
मात्रम् ; तस्यै तन्निर्वाणावेदकत्वाऽसंभवात्, स हि पुवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंस्त्रीमेव
अपवर्गावेदकः, उभयत्र ‘पुरुषाः’ इत्यभिसम्बन्धात् । वेद इति हि मोहनीयोदय-
जन्मा चित्तविकारोऽभिलाषरूपोऽभिधीयते, उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

यदप्युक्तम्—‘द्रव्यतः पुरुषाः’ इत्यादि; तदप्यचर्चिताभिधानम् ; द्रव्यतः स्त्री-
10 वेदस्य मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याभावस्य प्रतिपादितत्वात् कथं द्रव्यतः रूपि भावतः
पुरुषो भूत्वा निर्वास्यति ? यद् द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्थं तद् भावतोऽपि तत्प्र-
साधनेऽसमर्थमेव यथा तिर्यगादि, द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्थो च स्त्री इति । अतो
द्रव्यतः पुरुषस्यैव भावतो वेदे यत्र कुत्रचिदारूढस्य निःशेषतो निखिलकर्मांरातिनिर्ज-
यनसामर्थ्यमभ्युपगन्तव्यम् लोकवत् । यथैव हि लोके पुरुषो महासत्त्वोपेतो गजतुर-
15 गादौ यत्रकुत्रचिदारूढः किञ्चिद्विध्यमस्त्रमादाय रणरङ्गे निखिलशत्रुवर्गमुन्मूलयन्
परमैश्वर्यमनुभवति इति आवालं प्रसिद्धम् न पुनः यथार्थनामा अंबला, तथा द्रव्यतः
पुरुष एव भावतो वेदत्रयान्यतमवेदाधिरूढः शुक्लध्यानानुपमास्त्रमादाय कर्मांरातिवर्ग-
मुन्मूलयन् परमैश्वर्यमनुभवति इति ।

यदप्यभिहितम्—‘न च सिद्ध्यतो वेदः’ इत्यादि; तत्सत्यमेव; नहि अस्माभिर्वे-
20 दात् सुक्तिरभ्युपगम्यते, कर्मनिचयनिर्दहनसमर्थतीव्रतरशुक्लध्यानानलान् परापरसुक्तेर-
भ्युपगमादिति ॥ छ ॥

इदानीं शास्त्रकारः शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनं प्ररूपयन्नाह—

भव्यः पञ्चगुरुस्तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,

तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः ।

(१) “भावपुवेदमनुभवन्तो ये पुरुषाः क्षपकश्रेणीमारूढाः, न केवलं भापुववेदेनैव अपि तु
सेसोदयेण वि तहा—अभिलाषरूपभावस्त्रीनपुं सकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण भाणुवजुत्ता
य शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुवेदास्तु सिद्धंति सिद्धयन्ति ।”—सिद्धभ० टी० । (२) “पुवेदं
वेदंता” इत्यागमस्य । (३) “अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतः न द्रव्यतः, द्रव्यतः पुल्लि-
ङ्गेनैव”—सर्वार्थसि० १०।१। “अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं
प्रति, न तु द्रव्यं प्रति । द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिङ्गेनैव सिद्धिः ।”—राजवा० पृ० ३६६ । “पुल्लिङ्गेनैव तु
साक्षाद् द्रव्यतोः”—सर्वार्थ—इलो० १०।१। (४) पृ० ८७० पं० ३। (५) पृ० ८७० पं० ५ ।

1-णासिद्धिर्बैत्यपि श्र०, -णासिद्धिरित्यपि-ब० । 2-त्रं तन्निर्वाणा-ब०, -त्रं स्त्रीनिर्वाणा-श्र० ।

3-विकारो ह्यभिधी-ब० । 4-मोक्षसाधन-ब० । 5-तोऽखिल-ब० । 6-लोकेषु पुरुषो आ० । 7-बाला श्र० ।

दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम् ॥ ७७ ॥

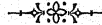
प्रवचनपदान्यभ्यस्य अर्थास्तंतः परिनिष्ठितान्,
असकृदबुद्धयेद्वाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः ।

भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,

कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥ ७८ ॥

विवृतिः—लक्षण-संख्या-विषय-फलोपेतप्रमाण-नय-निक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुवादरूपे आगमे गुरुपदेशपरम्परातो यथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्संपत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्ष-मार्गोपदेशद्वारेण परार्थसम्पत्तये असौ चेष्टते इति ॥ छ ॥

इति श्री भट्टाकलङ्कशशाङ्कानुस्मृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः ॥ छ ॥



(१) “स्याद् भवेत् । कः भव्यः मोक्षहेतुरत्तत्रयरूपेण भविष्यति परिणश्यतीति भव्यः अभव्यस्य मुक्तावनधिकात् । किंविशिष्टः स्यात् ? जिनः स्यात् । पुनः कथम्भूतः ? लोकालोक-कलावलोकनबलप्रज्ञः, षट्द्रव्यसमवायो लोकः ततो बहिरलोकः केवलाकाशरूपः तयोः कला विभागः । अथवा लोकश्च अलोकश्च कलाश्च जीवादयः पदार्थाः तासामवलोकनं तत्र बलं शक्तिः प्रज्ञा प्रकृष्टज्ञानं च विद्यते यस्य स तयोक्तः कथं स्वयं स्वेवात्मना नेन्द्रियादिसाहाय्येन इत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टः ? अधिगतः । किम् ? पदम् स्थानम् । किंविशिष्टम् ? अकलङ्कम् अकलङ्कानामिदम् आर्हन्त्यमित्यर्थः । बोद्धा । किं कृत्वा ? अभ्यस्य पुनः पुनर्भावयित्वा । कम् ? तदर्थम्, तस्यागमस्य अर्थो जीवादिवस्तु तम् । आदौ कृत्वा ? बुध्वा अधीत्य ज्ञात्वा च । कम् ? आगमं श्रुतम् । केभ्यः ? तेभ्यः पञ्चगुरुभ्यः सकाशात् । कस्मादवधिभूताद् ? शब्दात् । किंविशिष्टात् ? अर्थविषयात् । पुनः किंविशिष्टात् ? अपभ्रंशतः भ्रंशो लक्षणदोषः तस्मादपगतः अपभ्रंशः तस्मात् । ततः पूर्वं किं कृत्वा ? आराध्य गुरुन् अर्हंवादीन् । कति ? पञ्च । कैः गुणैः ? तपोभिः बाह्याभ्यन्तरैः इच्छानिरोधैः । अमलैः मिथ्यात्वादिम-लरहितैः”—लघो० ता० पृ० १०० । (२) “कथयतु प्रतिपादयतु । कः ? बुधः ज्ञानी । कम् ? पन्थानं मार्गप्राप्त्युपायम् । किं विशिष्टम् ? शिवम् । कस्य ? पदस्य स्थानस्य । केभ्यः ? महात्म-नाम् । केभ्यः कथयतु ? वः मुष्मभ्यं विनेयेभ्यः । केन ? सुखेन तालोष्ठपुटव्यापारकलेशाभावेन । किंविशिष्टः सन् ? समाश्रितः प्राप्तः । किम् ? स्थानम् अवस्थानम् तं क्षणभंगं तत्रोपदेशाभावात् । किंविशिष्टम् ? भगवत् त्रिलोकपूजार्हम् । केपां स्थानम् ? अकलंकानाम् । अर्हतामित्यर्थः । किं-विशिष्टः सन् ? हतसंशयः । किं कृत्वा ? अवबुद्धय निश्चित्य । कथम् ? असकृत् पुनः पुनर्ध्यात्वा । कान् ? अर्थान् जीवादितत्त्वानि । किंविशिष्टान् ? परिनिष्ठितान् व्यवस्थितान् । क्व ततः ? तेषु प्रवचनपदेषु । कस्मात् ? बोधात् । किंविशिष्टात् ? इद्धात् उज्ज्वलात् संकरव्यतिकरव्यतिरेकात् अहम-हमिकया प्रकाशमानादित्यर्थः । किं कृत्वा । अभ्यस्य परिचिन्त्य । पुनः पुनरुपयुज्येत्यर्थः । कानि ? प्रवचनपदानि । परमागमाभ्यासात् परिणतश्रुतज्ञानः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धद्रव्यभावकलङ्कः सार्वश्य-मापन्नो मोक्षमार्गोपदेशाय परार्थाय चेष्टतामिति भावो देवानाम् ।”—लघो० ता० पृ० १०१ ।

१-निश्चिता-ब० । २-स्वरूपके हि श्र० । ३ परार्थसम्प-श्र० । ४ चेष्ट इति आ० ।

५ इति ग्रन्थः समाप्तः ब० ।

बोधो मे^१ न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः,
साहाय्यश्च न कस्यचिद्वचनतोप्यस्ति प्रैवन्धोर्दये ।
यत्पुण्यं जिननाथभक्तिजनितं तेनार्थमत्यद्भुतः,
सञ्जातो निखिलार्थबोधनिलयः साधुप्रसादात्परः ॥ १ ॥

कल्याणावसथः सुवर्णरचितः विद्याधरैः सेवितः,
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीको गिरिन्द्रोर्षमः ।
भ्रान्त्यङ्गिनं ब्रह्मपतिप्रभृतिभिः प्राप्तं यदीयं पदम्,
न्यायाम्भोधिनिमग्नयः चिरमसौ स्थेयात् प्रबन्धः परः ॥ २ ॥

मूलं यस्य समस्तवस्तुविषयं ज्ञानं परं निर्मलम्,
बुध्नं संन्यवहारसिद्धमखिलं संवादि मानं महत् ।
शाखाः सर्वेनयाः प्रपन्ननिबद्धे निक्षेपमालामला,
जीयाजैनमतांऽग्निपोऽत्र फलितः स्वर्गादिभिः सत्फलैः ॥ ३ ॥

भन्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधिः योऽभूजगद्भूषणः,
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात् संन्यायमार्गोऽखिलः,
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जातः प्रभाचन्द्रतः ॥ ४ ॥

अभिभूय निजविपक्षं निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधिः ।
सविता जयतु जिनेन्द्रः शुभप्रबन्धः प्रभाचन्द्रः ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ ६ ॥

(१) प्रभाचन्द्रस्य । (२) न्यायकुमुदचन्द्रविरचने । (३) न्यायकुमुदचन्द्रः । (४) न्यायकुमुदचन्द्रः ।

१-व्यः श्र० । २-यमः ब० । ३ न्यायाम्भोधिनिबद्धतः ज्ञा०, न्यायाम्भोधिनिमग्नयः श्र० ।
४ तथ्याय-श्र० । ५ समाप्तः । इति श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्भारानिवासिता परारपरमेष्ठिप्रणामोपा-
जितामलपुष्पनिराकृतनिखिलमलकलकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालङ्कारः
कृत इति संगलम् । श्रीचन्द्रनाथाय नमः । श्रीविजयक्रीतिमुनये नमः । श्र० ।

श्रीनन्दिसंघकुलमन्दिररत्नदीप(पः), सिद्धान्तिमूर्ध्व(भ्रं/तिलको... नन्दिनामा ।

चूडामणिप्रभृति सर्वनिमित्तवेदी चूडामणिर्भवनिमित्तविदां वभूव ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य तपोनिधिः शमनिधिर्वि [दानिधि] धीनिधिः ।

शीलानन्दितभग्नलोकहृदयः सौख्यैकनन्दीत्यभूत् ॥

आरुह्य प (प्र) तिभागुणप्रवहणं सद्गोधिरोद्धो [ब्रह्म] ।

5

[सत्सि] द्धान्तमहोदधेरनवधेः पारं परं दृष्टवान् ॥ २ ॥

अन्तेवासी समजनि मुनेस्तस्य यो देवनन्दी,

दीप्तोत्तमप्रभृतिपसा [सां धाम यो] देवनन्दी ।

चातुर्वर्ण्यश्रमणगणिभिर्देववह्नरं (द) नीयो,

देवश्चासावजनि परमानन्दयोगाच्च नन्दी ॥ ३ ॥

10

एतस्मादुदयाचलाद्वि [धिवशा] ह्री [लो] दयेनामितः ।

श्रीमद्भास्करण(न)न्दिना दशदिशस्तेजोभिरुद्योतिताः ॥

विद्वत्तारकचक्रवालमखिलं मिथ्यातमोमे [दिभि-

रर्थोद्भा] सवचोमरीचिनिचयैराच्छादितं सर्वतः ॥ छ ॥ ४ ॥

त्यक्त्वा वादकथापि वादिनिवहैर्नालपोऽपि जल्पः कृतः ।

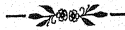
15

जल्पकै [स्त्रपया च नो] निगदितं पाखण्डिवैतण्डिकैः ॥

षट्कर्कोपनिषन्निशाणनिशितप्रज्ञस्य तैः सेव्यते ।

श्रीमद्भास्करण(न)न्दिपण्डितपतेः [पादारविन्दद्व] यी ॥ छ ॥

इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मि (प्र इ) ति ॥ छ ॥



ग्रन्थाम् १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥ श्री ॥

20

समाप्तोऽयं ग्रन्थः



न्यायकुमुदचन्द्रसम्पादकप्रशस्तिः ।

भजति सागरमण्डलमुदुरे सुकृतिभिः 'खुरई' विकसत्पुरे ।
सुपरवार'जवाहरलालतः' समजनिष्ट 'महेन्द्रकुमारकः' ॥ १ ॥

कवीनाश्रितबीनाख्यनगरे 'धर्मदासतः' ।
नामिनन्दनसद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम् ॥ २ ॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगांसया ।
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

'बंशीधरात्' धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम् ।
स्वाद्वादविद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमहं चिराय ॥ ४ ॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेवासिनोऽपि निरन्तरम् ।
अभूवमुत्तमश्रेण्यां न्यायाचार्यस्ततः परम् ॥ ५ ॥

गवेषणापूर्णधियेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमात् ।
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

रसैरसयुग्मानेत्रे वीरनिर्वाणवर्षे,
प्रथमदलनवम्यां भौमवारान्वितायाम् ।
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि भाद्रे,
गुरुचरणकृपौघेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥

न्यायकुमुदचन्द्रस्य

॥ प रि शि ष्टा नि ॥

[INDEXES.]

“श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयाज्जैनेन्द्रचन्द्रस्य शासनं जिनशासनम् ॥”

—अकलङ्कदेवः

“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥”

—हरिमद्रः

“परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥”

—अमृतचन्द्रः

१. लघीयस्त्रयस्य कारिकार्थानामकाराद्यनुक्रमः ।

कारिकार्थम्
अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभि-
अक्षबुद्धिरतीतार्थं
अक्षशब्दार्थविज्ञान-
अक्षार्थयोगे सत्ता-
अदृश्यपरचित्तादे-
अनंशं बहिरस्तश्चा-
अनाशवासं न कुर्वीरन्
अनुमानाद्यतिरेकेण
अन्युज्यानुयोगैश्च
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते
अन्यथा न विवादः
अन्योन्यगुणभूतैक-
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां
अप्रयुक्तोपि सर्वत्र
अभिरुद्धस्तु पर्यायै-
अयमर्थ इति ज्ञानं
अर्थक्रिया न युज्येत
अवग्रहो विशेषाकांक्षे-
अविकल्पधिया लिङ्गं
असदात्मसु नैषा
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं
आप्तोक्तेहेतुवादाच्च
इदमल्पं महद्दूरमास-
उपमानं प्रसिद्धार्थ-
उपयोगी श्रुतस्य द्वौ
ऋजुसूत्रस्य पर्यायः
ऋषभादिमहावीरा-
एकस्यानेकसामग्री-
एकं यथा स्वनिर्भासि-
कस्तत्स्वभावो हेतुः
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिः
कारणे कार्यभावश्चेत्
कार्यं दृष्टं विजातीय-
कार्यकारणयोश्चापि
कार्योत्पत्तिविशुद्धा चेत्
कालकारकालिगानां
कालादिलक्षणं न्यक्षेणा-
कुड्यादिकं न कुड्यादि-
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां
गुणप्रधानभावेन
ग्रहणं निर्णयस्तेन

५०
५२९
६४०
६४४
११५
४६२
४८५
५२९
७४
७९९
६८२
६५८
६२३
६६१
६९१
६३७
६५८
३७२
११५
४२६
६२४
६४४
६००
५०३
४८८
६८६
६३५
२
६५०
६०८
४८५
६७३
६१४
६०२
६६३
६१६
६३७
६४६
६६५
३७२
७८८
६७९

कारिकार्थम्
चत्वारोऽर्थनया ह्येते
चन्द्रादेः जलचन्द्रादि-
चित्तं सदसदात्मकं
चेतनाणुसमूहवात्
जीवस्थानगुणस्थान-
जीवाजीवप्रभेदा यद-
ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा
ज्ञानं प्रमाणमात्मादे-
तथा ज्ञानं स्वहेतूयं
तथैकं भिन्नकालार्थान्
तदाकारविकारादे-
तदद्रव्यपयात्माऽर्थो
तपोनिर्जीर्णकर्मार्थं
तमो निरोधि वीक्षन्ते
तत्प्रमाणं न चेत्सर्व-
तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं
तद्वैशद्यं मतं बुद्धे-
त्रयः शब्दनयाः सत्य-
दुर्नयो ब्रह्मवादः
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं
द्रव्यं स्वलक्षणं संसेत्
द्रव्यपर्यायिमूलास्ते
द्रव्यपर्यायिसामान्य-
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा
धर्मतीर्थकरेभ्योस्तु
धारणा स्मृतिहेतु-
धीविकल्पाविकल्पात्मा
न तज्जन्म न तद्रूप्यं
नयानुगतनिक्षेपे-
नयो ज्ञानुरभिप्रायो
नानुमानादिसिद्धत्वात्
नाभेदेऽपि विरुद्धघेत्
नान्यथा बाध्यमानानां
निश्चयव्यवहारी तु
निश्चयात्मकमन्योऽपि
निश्चयात्मा स्वतः
नैगमोऽप्यन्तरत्ववैकौ
परीक्ष्य तांस्तान् तद्वर्मान-
परोक्षं शेषविज्ञानं
पुंसश्चित्राभिसन्धेस्वेद्

५०
७९३
४५०
३९७
६३५
७९९
६०८
४०३
६५६
६७८
६१८
४६२
२१३
७९९
६६५
५०२
६८२
४८८
७४
७९३
७९०
६१२
६११
७८२
६४६
७९९
२
१७२
४८७
६७५
७९८
६५६
४२६
३९६
७९०
७८२
७८२
४८७
६२२
७९८
२०
६०२

कारिकाधर्म
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं
प्रणिपत्य महावीरं
प्रतिभासभिदैकार्यं
प्रतिसंविदितोत्पाति-
प्रत्यक्षाथान्तरापेक्षा
प्रत्यक्षार्थं कथञ्चित्स्यात्
प्रत्यक्षं बहिरन्तरा-
प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन्
प्रत्येकं वा भजन्तीह
प्रमाणनयनिकोपानभि-
प्रमाणं श्रुतमर्थेषु
प्रवचनपदान्यभ्यस्य
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं
प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि
प्रायः श्रुतेर्विवादात्
बहिरर्थास्ति किञ्चित्-
बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वा-
ब्रह्मावादस्तदाभासः
भविष्यत्प्रतिपद्येत
भव्यः पञ्च गूढन्
भेदानां नासदालम्को-
भेदाभेदात्मके ज्ञेये
भेदं प्राधान्यतोऽग्न्य-
मलविद्धमण्यव्यक्ति-
मिथ्येतरात्मकं दुःस्वादुश्य-
मिथ्येकान्ते विशेषो वा
यथैकं भिन्नदेशार्थान्
यथैकं वाविसंवादि
युज्येत क्षणिकेऽर्थे-
यै तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां
लक्षणं क्षणिकेकान्ते
लिगात् साध्याविनाभाव-
लिगिधीरनुमानं
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य

५०
१७३
६५५
६४०
५२७
५०२
५२१
६११
२०
५२७
६७५
६५५
६२९
८७९
४०३
६२८
५९८
६३१
१७३
६२१
४५९
८७८
६०९
६०५
७९२
६७३
३९७
६२८
६१८
५२१
६१६
६०५
६१४
४३४
४३४
६९६
कारिकाधर्म
वर्णाः पदानि वाक्यानि
वाञ्छितानि च क्वचित्क्षेति
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र
विरचय्यार्थं वाक्प्रत्यया-
विवक्षा नैगमोऽप्यन्त-
वीक्ष्याणुपारिमाण्वल्य-
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे
व्यवसायात्मकं ज्ञानं
व्यवहारानुक्त्यात्
व्यवहाराविसंवादस्तदा-
व्यवहाराविसंवादी नयः
व्याप्तिं साध्येन हेतोः
शुद्धं द्रव्यमभिप्रेति
श्रुतभेदाः नयाः सप्त
श्रुतादर्थमनैकान्तम्
इव आदित्य उदेतेति
षट्कारकी प्रकल्प्येत
संग्रहः सर्वभेदेकमभि-
संशयादिविदुल्याद-
संहृताशेषचिन्तायां
सदभेदात् समस्तैक्य-
सदसस्त्वार्थनिर्भासः
सत्येतरव्यवस्था का
सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक-
सन्निधेरिन्द्रियार्थानां
सर्वज्ञाय निरस्तवाधकधिये
सर्वैकैकत्वविषयी
सर्वत्र चेदनाशवासः
स्याद्वादः सकलादेशो
स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्
स्वसंविद्विषयाकार-
स्वसंवेद्यं विकल्पानां
स्वहेतुजनितोप्यर्थः
स्वेच्छया तापतिक्रम्य

५०
६९६
६९६
६९१
७९८
७८८
४८३
५०३
६७९
७९०
५२९
६३१
६५२
६०९
७८२
७९८
४५९
६५०
६२१
६२१
५२५
७९२
६१२
६००
४
६६३
६५३
७९२
६९८
४६३
५२५
६७८
६९६



३. सविवृत्तिलधीयस्त्रयगतानि अवतरणानि ।

अवतरणम्
इन्द्रियमनसो कारणं विज्ञानस्य
गुणानां परमं रूपं न दृष्टि-
गुणानां वृत्तं चरं
तन्नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं
नहि तत्त्वज्ञानमित्येव

५०
६६१
६२८
६२५
४२७
२१

अवतरणम्
नहि बुद्धेरकारणं विषयः
नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं
वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयति
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं न्विति

५०
६३८
६७४, ७९४
६००
६९६

§ ३. सविष्टितलधीयस्त्रयस्य लाक्षणिकानां विशिष्ट-दार्शनिकानां

च नाम्नां सूचिः ।

अकलंक	६५३. १६; ८७९. ५.	इन्द्रयानिन्द्रियप्रत्यक्ष	७४. ६.
अकिञ्चित्कर	२१. २.	ईहा	११५. १५; ११६. २.
अक्षार्थयोग	११५. १४.	उपमान	४८८. २२.
अणुपरिमाण्डल्यक्षणभंगाद्यवीक्षण	४८३. ६.	उपयोग	११५. १८.
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	६८२. ६.	उपयोग	६८६. २.
अर्थ	२१३. ७.	ऋजुसूत्र	६३५. २१.
अर्थनय	७९३. १८.	ऋजुसूत्रनय	७९२. ७.
अर्थसारूप्यभूत	६७६. २.	ऋषिभादिमहावीर	२. १३.
अर्थभिधानप्रत्ययात्मक	६३२. १.	एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तरं	४०२. १०.
अदृश्यानुपलब्धि	४६२. १६.	एवम्भूत	६३८. ३; ७९४. २.
अधरोत्तरादिज्ञान	५०४. १.	कार्यकारणलक्षण	६१४. १०.
अनागतनिर्णय	६३८. ६; ७९४. ५.	कारक	७९४. १०.
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	६८२. ५.	कारक	६९२. ३.
अनुमान	४३४. १३.	कारण	६१४. १४.
अनुयोग	७९९. १; ८०१. २.	कार्य	६२४. १४.
अन्यत्र विस्तरणोक्तः	६९६. १९.	कृत्तिकादि	५९८. १८.
अन्यवैक्ष्यम्	६४६. १.	कृत्तिकादय	४५९. १२; ७९४. ५.
अन्यत्रोक्तम्	६८२. ९.	क्षणिकपरिमण्डलादि	४८३. १०.
अन्यथानुपपत्तिवितर्क	४३५. १.	गुणपर्ययवद्द्रव्य	६३२. २; ७९१. २.
अपभ्रंशतः	८७८. १४.	गुणानां वृत्तं चलं	६२५. ३.
अपशब्दादिभाषण	६९७. २.	ग्रामधानकमेतन्नामक	५०२. ११.
अप्रस्तुतायापाकरण	८००. २.	चतुर्धा (निक्षेप)	७९९. ८.
अभिप्रतमानसूचित्व	६९७. ६.	चतुर्विध (मतिज्ञान)	१७२. २१.
अभिलापसंसर्गयोग्यता	६७९. १९.	चत्वारः (अर्थनय)	७९३. १८.
अभिरुद्ध	६३७. २०.	चल	६२८. १०.
अलौकिक	६९२. ८.	चित्रनिर्भासित्	३९८. २३.
अलौकिकप्रतिमान	६५७. ३.	चित्रसंवित्	६३५. २१.
अवग्रह	११५. १५, १६; ११६. २.	चित्राकारमेकं	७९२. १०.
अवाय	११५. १५; ११६. ३.	चित्राभिसन्धि	६०२. ८.
अविसंबाद	६३२. ३.	जलचन्द्र	४५०. १०, ११.
अविसंबादस्मृति	४०४. १.	जित	८७९. २.
अवैशद्य	७४. ५.	जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसंपत्ति	८७९. ९.
असंबेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं	६८०. २.	जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थान	७९९. ३;
आकुलं प्रलपन्	६३२. ७.		८०१. १, ३.
आप्तोत्तरव्यवस्था	६००. १५.	जैमिनि	७४. ९.
इत्यम्भूत	६३७. २०.	ज्ञातुरभिप्राय	६०६. १; ६५६. ९; ७९४. १५.
इन्द्रनादिन्द्रः	६४६. ९.	तकं	४०४. २; ६५२. २.

१ परिशिष्टेऽस्मिन् स्थूलोऽङ्कः पृष्ठसंख्यां सूचयति सूक्ष्मोऽङ्कश्च पङ्क्तिसंख्याम् । स्थूलाक्षरमुद्रिताश्च शब्दा लाक्षणिका ज्ञेयाः ।

तज्जन्म	६७५. १४.
तथाभावसंकरव्यतिकरव्यतिरेक	७८३. ६.
तदत्यन्तमेवाभिसन्धि	७८९. ३.
तवाकृति (नैगमाभास)	७८८. २४.
तवाभास (संग्रहाभास)	६२१. ६; ७९०. ३.
तवाभास (ऋजुसूत्राभास)	७९२. ८.
तदुत्पत्ति	६७८. १८; ६७९. १९.
तदुत्पत्तिसारूप्य	६४०. १४.
तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचार	६४४. ५.
तद्व्यवसिति	६७५. १४.
तमसु	६६५. २२; ६६६. १, २.
तादात्म्यतदुत्पत्ती	४३५. १; ६०२. ११.
तामसखण्डकुल	६७४. ३.
ताद्रूप्य	६७५. १४.
तिमिराक्षुपवज्ज्ञान	५२२. १.
तिमिराक्षुभ्रमणनीयानसंशोभादिहेतुत्व	६६१. ६.
तीर्थकरवचनसंग्रहप्रस्तावमूलव्याकारिन्	७८३. १७.
त्रयः (शब्दनय)	७८३. १९.
दुर्नय	६३६. ४; ६५०. ५; ७९२. १२.
दुर्नय	६३१. २२; ६३२. ४; ७९०. २; ७९१. ५.
दूरासन्नकार्यप्रत्यक्ष	६४०. १८.
दृश्यादृश्यभेदेतरात्मक	३६७. २१.
द्रवति द्रौप्यति अदुद्रवत्	६०७. १.
द्रव्य	६०७. १; ७८२. १४; ७८३. ३.
द्रव्य (निक्षेप)	८००. १.
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्यनिष्ठित	६४६. २.
द्रव्यपर्यायतामा	२१३. ७.
द्रव्यपर्यायार्थिक	७८३. ३; १८.
द्रव्यभावेन्द्रिय	११५. १७.
द्रव्याधिक	६०६. १; ६०७. २.
द्रव्येन्द्रिय	११५. १७.
द्विधैव (प्रमाण)	६८२. २.
द्वे एव प्रमाणे	५०४. ४.
धर्मतीर्थकर	२. १२.
धारणा	१७२. २१, २२; ४०४. १.
नपुंसक	६४६. ८.
नय	६०६. १; ६३६. ४; ६५०. ५; ६५६. १;
	६८६. ३; ६८८. १; ७९२. १२; ७९९. ६.
नय	६३१. २२; ६३२. ४; ७८२. १३; ७८३. १;
	७९४. १७.
नयदुर्नय	६०५. ७.
नहि दृष्टेऽनुपपन्न	५९९. २.
नाकारण	६७४. २.
नाम (निक्षेप)	७९९. १.
नामस्थापनाद्रव्यभावतः	७९९. ८.
निक्षेप	८००. २.
निर्देशादि	७९९. १; ८००. ३.
निरपेक्ष	६३६. ४; ७९२. १२.
निरपेक्षत्व	७९४. १८.

निश्चयनय	७८३. ८.
निश्चयपर्याय	७८३. ११.
निश्चयव्यवहारी	७८२. १६.
नैगम	६२२. १०; ७८८. २४.
नैगम	६२२. १२; ६२८. १०; ७८३. १३.
	७८९. ६.
नैगमाभास	६२२. १०; ७८९. ४.
न्यास	६५६. ८; ७९९. ८.
पञ्चगुरु	८७८. २३.
परमागम	६८६. ८.
परिच्छेदपरिच्छेदकभाव	६७८. १७.
परिमण्डलादि	४८३. ९.
परोक्ष	२०. १४; ६०२. २. ८.
परोक्षेऽन्तर्भाव	५०४. ४.
पर्याय	६३५. २१; ६३७. २०; ७८३. ९;
	७९४. १२.
पर्यायाधिक	६०६. १.
पाचकपाठकादिवत्	७९४. १४.
पुमान्	६४६. ८.
पुस्तक	६३८. ३; ६४६. १०; ७९४. २.
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे	१७३. १७.
पूर्वापराविरोधलक्षणसंवाद	७९१. ३.
पृथक्त्व	७८३. ९.
प्रतिस्वित्तितीत्यतिव्यय	५२७. १६.
प्रतिस्वित्तिरव्युत्थितचित्त	५२५. ६.
प्रतिस्वित्तिरैकात्म्य	५२८. २.
प्रत्यक्ष	२०. १३.
प्रत्यक्ष	४२७. १; ६११. १०; ६४४. १२, १५;
	६८२. २, ४.
प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	४८४. १६; ६१४. १३.
प्रत्यक्षाम	५२१. १९; ५२५. ७.
प्रमव	४८५. १६.
प्रमाण	६५०. ६; ६५६. ८, १०; ७९९. ६.
प्रमाणनयनिक्षेपानुयोग	८०१. २.
प्रमाणफल	१७४. ११.
प्रमाणफलव्यवस्था	१७३. १८.
प्रवचनपद	८७९. ३.
प्रसिद्धार्थसाधर्म्य	४८८. २२; ४८९. १, ४.
प्रस्तुतार्थव्याकरण	८००. २.
प्राज्ञानमयोजन	४०३. ७.
प्रादेशिकप्रत्यक्ष	६८२. ४.
बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां	७९१. ५.
बहुवचनविधिश्रान्तिस्तानुवत्तद्वेतारविकल्प	१७४. ७.
बहुवचनप्रहायष्टवर्त्तारिशात्	१७३. १६.
बालिशगीत	६७४. ३.
बुद्ध	४. १९.
ब्रह्मवाद	६२१. ६, १०; ७९०. २, ३.
भट्टकलकशांकांनुस्मृतप्रवचनप्रवेश	८७९. ११.
भावनिक्षेप	८००. १.

भावेन्द्रिय	११५. १८.
मण्यादिसामग्रीप्रभव	६०२. १४.
मतिज्ञान	१७२. २१; ७८३. १.
मनोमति	७८३. २.
म हा वी र	६५५. ८.
माया	६२८. १३.
मिथ्यैकान्त	६२८. ५.
मुख्य (प्रत्यक्ष)	७४. ६.
मुख्यसंव्यवहारतः	२०. १३.
मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्	६७६. ४.
मूलनय	७८३. ३.
यस्मिन् सत्येव यद्भावः	६१४. १४.
यावज्ज्येयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुषपरिपत्	
परिज्ञान	७४. ७.
योग्यतापेक्षानादिसङ्केत	६८७. १.
रथ्यापुरुष	७४. १०.
रिक्ता वाचोयुक्तिः	६४६. ६.
लताचूलादि	६०२. १३
लब्धि	११५. १८
लिङ्ग	७९४. ११.
लोकव्यवहार	६२९. २.
वक्त्रभिप्राय	५३०. १; ६९६. १६, १८.
वर्णपदवाक्यव्युत्पादकशास्त्र	७९४. १४.
वर्त्तनालक्षण	६४६. ३; ७९४. १०.
वागर्थव्यभिचारैकान्त	६००. १४.
वाच्यवानकलक्षणसम्बन्ध	६४४. ८.
विकलसंकथा	६८६. ३.
विक्रिया	३९६. २३.
विज्ञप्तिमात्र	६३१. २३.
विधिविषेधानुवादातिदेशादिवाक्य	६९२. ३.
विप्रकृष्टार्थान्तरवत्	६१४. १४.
विषमोऽयमुपन्यासः	६५६. ११.
विषय	११५. १६.
विषयिन्	११५. १७.
वी र जि न	६५३. १६.
वैकल्य	६८६. ९.
वैशद्य	७४. ५.
व्यतिरेक	७८३. १०.
व्यवहार	६२८. ५.
व्यवहारनय	७८३. ९.
व्यवहारपर्याय	७८३. ११.
व्याप्ति	४२७. ४; ६५२. १.
शकट	४५९. १२; ५९८. १८.
शकटोदय	७९४. ५.
शब्द (नय)	८३७. १९; ७९३. २०
शब्दनय	७९३. १९.
शब्दयोजन	४०४. ३.
शब्दसमभिख्यौ	६३८. ३.
शब्दानुयोजन	४०३. ७.

बृङ्गे गीः	६२९. १.
श्रुत ४०३. ७; ५२९. २४; ६८६. २; ७९८.	
	६, ९; ७९९. ५.
श्रुतज्ञान ४०४. ३; ५३०. १; ६०२. १७.	
	७९१. ३.
श्रुतज्ञानतदाभासव्यवस्था	५२९. ९.
श्रुतभेद	७८२. १३.
श्रुति ५९८. १५; ६०२. १०; ६३२. ३.	
श्रुतिकल्पनादुष्टादि	५९९. ३.
षट्कारकी	६४६. ६; ६५०. २.
षट्कारकीसंभव	६५०. ३.
संग्रह ६०९. १९; ६१०. १; ६२१. ५; ७९०. १, ३	
संज्ञाकर्म	७९९. ९.
संज्ञासंज्ञिसंप्रतिपत्तिसाधन	५०२. १२.
संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति	४८९. २.
संवृत्ति	१७३. १९; १७४. १.
संव्यवहारानुपयोगिन्	२१. २.
संशयैकान्त	४६२. १६.
संहृताशेषचिन्ता	४२५. ३.
सकलवित्	६५३. १५.
सकलदेश	६८६. ३.
सत्तासमवाय	६२४. १९.
सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः	७४. ९.
सत्त्वप्रभेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादि	६८६. ६.
सत्यपदविद्या	७८३. १९.
सत्यानृतव्यवस्था	६९७. ४.
सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्ति	६९६. १८.
सत्येतरव्यवस्था	६००. १३.
सदादि (अनुयोग)	८००. ३.
सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्व	७८३. ३.
सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भ	५२८. १.
सन्तान	४. १८.
सन्निकर्ष	६६४. १.
सन्निकर्षादि	२१. १; ६६३. २१.
सन्निहितविषयबलोत्पत्ति	४२७. २.
सन्मात्रदर्शन	११६. १.
सप्त (नय)	७८२. १३
सप्ताध्याख्यनयोध	६५२. ४.
समवाय	६२९. १, ३, ४.
समारोपव्यवच्छेदाकांक्ष	५२२. ३.
सम्बन्धप्रतिपत्	५०२. ७.
सम्यगेकान्त	६८८. १.
सहकर्मभाविन्	६१३. २.
सहकर्मविवाचिन्	६१२. २०.
सांव्यवहारिक	७४. ६.
साकल्य	६८६. ९.
साधकतम	२१. ४.
साधनदूषणतदाभासवाक्य	६९२. ४.
साधनासाधनाङ्गव्यवस्था	६००. १६.

सापेक्ष	६३६. ३; ७९२. ११.
सापेक्षत्व	७९४. १८.
सु ग ते त र	६००. १५.
सुतुच्छक	६२८. १३.
सुनिश्चितासंभवद्वाचकप्रमाण	७४. ७; ६८२. ७.
सूर्याचन्द्रमसोग्रहण	४५९. १३; ७९४. ६.
स्कन्ध	७८३. ७.
स्थानप्रसवतदुभयाभावसामान्यलक्षण	७९४. ११.
स्थापत्यस्यां गर्भं इति स्त्री	६४६. ७.
स्थापना	७९९. ११.
स्पष्ट	६८२. ४.
स्मृति	४०४. १; ६४०. १०, १५.
स्यात्कार	६९१. २२; ६९२. १.
स्याच्छब्द	६८८. २.
स्याज्जीव एव	६८८. १.
स्यात्प्रयोग	६८७. २.

स्यादस्त्येव जीवः	६८८. २.
स्याद्वाच	६८६. ३, ४.
स्याद्वाच	६४६. १३; ६८६. ७; ६९२. ४.
स्याद्वादिन्	६५३. १३.
स्याद्वादेक्षणसप्तक	६५५. ८.
स्वपरिविस्वादाव्यसनीयेन	६३२. ७.
स्वभावनैरात्म्य	६३२. ६.
स्वभावभूतान्यापोहस्वार्थप्रतिपादन	६८७. १.
स्वभावहेतु	४८५. १४.
स्वभूतिमात्र	३७२. १५.
स्वर्गचिचिरचितदर्शनप्रदर्शनमात्र	६२८. ११.
स्वार्थसंपत्ति	८७९. ९.
हानोपादानोपेक्षाप्रातिपत्तफल	४८९. ६.
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ	६८२. ४.
हेतुवाद	६००. १२.
हेतुवावरूप	८७९. ८.

§ ४. अन्याचार्यैः स्वग्रन्थेषु समुद्धृतानां लघीयस्त्रयकारिकाणां विवृत्यंशानाञ्च तुलना ।

लघी०	धवलाटीका
का० ५२	पृ० १७
२ रविभद्रशिष्य-अनन्तवीर्य	
लघी०	सिद्धिविनिश्चय टीका
का० ७	पृ० १८४ A.
का० ७ प्रमाणफलयोः...	पृ० ९९ B.
का० ५६	पृ० १८७ B.
का० ५७	पृ० १९३ A.
का० ५९	पृ० १० B.
का० ६२	पृ० ४ A.

लघी०	प्रमाणपरीक्षा
का० ३	पृ० ६९
का० ३ अष्टसहस्री	पृ० १३४
का० २२ तिमिराद्युपप्लव...	पृ० २७७
का० ३ पत्रपरीक्षा	पृ० ५

का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता...	आप्तपरीक्षा
का० ३७	पृ० ५६
का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता...	सत्यशासनपरीक्षा
का० ७	पृ० १५ B.
का० १०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
का० ३२	पृ० १८५
का० ५४ इन्द्रियमनसी...	पृ० ४२४
का० ७०	पृ० २३९
का० ३२	पृ० २७०
का० ३२	पृ० ३३०
का० ३२	पृ० २७१
का० ३२	नयविवरण
का० ३२	श्लो० ६७

लघी०	४ प्रभाचन्द्र
का० ३ तत्त्वज्ञानं प्रमाणं...	प्रमेयकमलमार्तण्ड
का० ३	पृ० २५

लघी०	५ अनन्तवीर्य
का० १९-२०	प्रमेयरत्नमाला
का० १९-२०	३५

६ वादिराज

लघी०	न्यायविनिश्चयविवरण
का० ३	पृ० ४८ A.
का० ५	पृ० ३२ A.
का० ५	विषयविषयि... पृ० ३२ A.
का० १४	पृ० ५२७ A.
का० ५२	पृ० ३२ A.
का० ५९	पृ० ३३ A.
	प्रमाणनिर्णय
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता... पृ० २९

७ आशाधर

लघी०	अनगारधर्मामृतटीका
का० ७३-७६	पृ० १६९
	दृष्टोपदेशटीका
का० ५७	पृ० ३०

८ शीलाङ्गाचार्य

लघी०	सूत्रकृताङ्गटीका
का० ४	पृ० २२७ A.
का० ७२	पृ० ३२६ A.

९ अभयदेव

लघी०	सम्मतिकर्णटीका
का० ५	विषयस्तावत्... पृ० ५५३
का० ५	कथञ्चिदभेदेऽपि... पृ० ५५३
का० १०	अविसंवादस्मृतेः... पृ० ५५३
का० २२	पृ० ५९५
का० २२	तिमिराद्युपप्लव... पृ० ५९५
का० ३२	पृ० २७२
का० ५६	पृ० ५४४

१० वादि देवसूरि

लघी०	प्रमाणनयतत्त्वालोकलङ्कार
का० ३	सन्निकषदिरज्ञानस्य... १४
का० ४	अनुमानाद्यतिरेकेण... २३
का० ५	कथञ्चिदभेदेऽपि... २१२
	स्याद्वावरत्नाकर
का० ४	पृ० ३१६
का० १९	पृ० ४९८

११ रत्नप्रभ

लघी०	रत्नाकरावतारिका
का० ११२०	३३

१२ हेमचन्द्र

लघी०	प्रमाणमीमांसा
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता... पृ० १४
का० ४	यावज्ज्ञेयव्यापि... पृ० १४
का० ४	अत्रानुपलम्भ... पृ० १४
का० ५	विषयस्तावत्... पृ० २१
का० ५	कथञ्चिदभेदेऽपि... पृ० २२
का० ६	धारणा... १२११९
का० ७	१११३९
का० ८	पृ० १४
का० १९-२०	पृ० ३५

१३ मलयगिरि

लघी०	आव० नि० मलयगिरिटीका
का० ३०	पृ० ३७० B.
का० ५७	पृ० १७
का० ६३	पृ० ३६९ B.
का० ६३	क्वचित्स्यात्कार... पृ० ३६९ B.
का० ७२	पृ० ३८१ B.
	नन्दिसूत्रटीका
का० ५७	पृ० ६६ B.

१४ देवेन्द्रसूरि

लघी०	प्रथमकर्मग्रन्थटीका
का० ५७	पृ० ८

१५ यशोविजय

लघी०	जनतर्कभाषा
का० ७६	अप्रस्तुताथपाकरणत्... पृ० २५
	शास्त्रवाताटीका
का० ४	पृ० ३१० B.
	गुणतत्त्वविनिश्चय
का० ३०	पृ० १६ B.
का० ६३	पृ० १६ A.

३५. न्यायकुमुदचन्द्रगतान्यवतरणानि ।

अकर्ता निर्गुणः शुद्धः	[]	११२	अन्यार्थं प्ररितो वायुयथान्यं [मी० इलो० शब्दनि०	
अकर्म कर्म	[]	३०४		इलो० ८०] ७०९	
अकुर्वन् विहितं कर्म [मनु० ११।४४	[५७५	अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बो-	[मी० इलो० शब्दनि०	
अकलेशात्स्तोकैऽपि	[]	८४१		इलो० १८३] ४५२	
अनिष्टोमेन यजेत [] ५८६,	५९४	अपरस्मिन् परं युगपदयुगप-वैशे० सू० २।२।६]	२५१	
अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथ-	[]	६९२	अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेष-	[न्यायसू० १।१।३१]	
अट्टस्यमेगसमये	[]	८६९		३१३	
अत इदमिति यतः [वैशे० सू० २।२।१०	[२५७	अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः [तत्त्वार्थसू०	
अत एवानुमानानामपश्यन्तः	[]	७०		१।१।(?)] ८१२	
अतीतानागतौ कालौ	[]	७२३	अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु [अणभङ्गाध्यायः (?)]	
अतीतकालानां गतिर्ना [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१२]		४५९		५५१, ५५७	
अथ स्थगितमप्येतदस्येवे-	[मी० इलो० शब्दनि०	७१५	अप्वाभिस्म न्धादापः [प्रश० भा० पृ० ३९] २१४	
	इलो० ३२-३३]		७१५	अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः [शाबरभा० १।१।५]	
अथापीन्द्रियसंस्कारः [मी० इलो० शब्दनि० इलो०		६९-७०]	अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनेर्न [मी० इलो० शब्दनि०	
	६९-७०]		७१३		इलो० ७०-७१] ७१३	
अदृष्टसङ्कलित्वेन सर्वेषां [मी० इलो० शब्दनि० इलो०		२४९]	अप्सु गन्धो रसश्चान्गौ [मी० इलो० अभाव० इलो०	
	२४९]		७०३		६] ४६८	
अधिष्ठानान्जुलवाच्च [मी० इलो० शब्दनि० इलो०		१८७]	असुर्यदर्शनां नित्यं [मी० इलो० शब्दनि० इलो०	
	१८७]		४५३		१८६] ४५२	
अननिश्च कियान् सर्व [७०	अभिधाभावनामाहुरन्यामेव [तन्त्रवा० २।१।१]	
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो [७२६	अभिलापवती प्रतीतिः [न्यायबि० पृ० ११ (?)] ४६	
अनवच्छिन्नपूर्णत्वस्पर्शा [५९७	अयोगसपरैर्योगमत्यन्ता- [प्रमाणवा० ४।१९०]	
अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थाना [न्यायसू० ५।२।२२]		३३५	अर्थग्रहणं बुद्धिश्चेतना [न्यायभा० ३।२।४६]	
अनिबद्धकल्पत्वाद्दीप्तीबुद्बुद- [१४१	अर्थापत्तिः प्रतिपक्षसिद्धेः [न्यायसू० ५।१।२१]	
अनुमानविरोधो वा [७०	अर्थापत्तिरियं चोक्ता [मी० इलो० शब्दनि० इलो०	
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः [बृहत्स्व० इलो० १०३]		३६८		२३७] ७०१, ७१९	
अनेकान्तिकः स्वयमिचारः [न्यायसू० १।२।५]		३१९	अर्थापत्त्यावगम्येव [मी० इलो० शब्दनि० इलो०	
अनेकान्तिका तावदेत- [मी० इलो० शब्दनि० इलो०		१९]		५०८	
	१९]		७१५	अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन [न्यायसू० ५।२।१५]	
अन्धादयं महानन्धः [अतमान्० इलो० ३५]		३९३	अर्थेन घटयत्येनां न हि [प्रमाणवा० ३।३०५]	
अन्यथाकरणं चास्य [मी० इलो० चोदना० इलो०		१५०]		१६६, १६७	
	१५०]		७२४	अर्थो ह्यर्थं गमयति [
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः [प्रश० भा० पृ० १६]		३०२	अवयवविपर्यासवचन- [न्यायसू० ५।२।११]	
अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्रा- [१५	अवस्थादेशकालादिभेदाद् [वाक्यप० १।३२]	
अन्यथानुपपत्त्या तु वेति [मी० इलो० सम्बन्धा० इलो०		१४१]	अविज्ञातञ्चाज्ञानम् [न्यायसू० ५।२।१७]	
	१४१]		५४५, ५५०	अविज्ञानतत्त्वैर्द्वयं कारणोपपत्तिः [न्यायसू० १।१।४०]	
अन्यथैवाग्निस्मन्बन्धा- [वाक्यप० २।४२५]		५५३		३१५	
अन्यदपि चैकलूपं तन्निवृत्त- [८४१	अविद्यास्मितारागद्वेषा- [योगसू० २।३]	
अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य- [५५३, ५६५	अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा [प्रमाणवा० ३।३५४]	
अन्या तावदियमर्थक्रिया युजुत [५		१३३	

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभि- [न्यायसू० १।२।१२] ३२१
 अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे [न्यायसू० ५।२।६] ३३१
 अशक्तं सर्वम् [] ३९६
 असदकरणादुपादानग्रहणात् [सांख्यका० ९] ३५२
 अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं [मी० श्लो० प्रत्यक्ष०
 श्लो० ११२] ७७०
 अस्पेदं कारणं कार्यं संयोगि [वैशे० सू० १।२।३] ४६०
 अस्वतन्त्रं बहिर्भूतः [] ४३१, ८३३
 आकाशमपि नित्यं सद् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०
 ३०-३१] ७१५
 आख्यातशब्दः संघातो [वाक्यप० २।१] ७३९
 आतपः कटुको रूक्षः [राजनिघ०] ६६९
 आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा [प्रश० भा० पू० ६९] २१५
 आत्मनि सति परसंज्ञा [प्रमाणवा० १।१९] ८३९
 आत्मलभे हि भावानां [मी० श्लो० सू० २ श्लो०
 ४८] १९५, १९९
 आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः- [न्यायसू० १।१।९] ३०९
 आत्मा मनसा युज्यते मन [न्यायसू० पू० ७४] ६६५
 आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं सजज्ञं [] ७७०
 आनन्दं ब्रह्म [बृहदा० ३।१।२८] ८३८
 आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च [] ८३१, ८३७
 आरामं तस्य पश्यन्ति [बृहदा० ४।३।१४] १४७
 आसयोगिकैवल्यो जीवा [] ८५६
 आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः [] १८९
 आहारा या निहारा [] ८५७
 आहुविधात् प्रत्यक्षं [ब्रह्मसि० तर्कपाद श्लो० १] १४९
 इत्यो छट्टीओ अहो [] ८७२
 इत्यभिधाः स्वयं भावाः [सम्बन्धप० (?)] ३०९
 इन्द्रियार्थसमनन्तरप्रत्यय- [] ४७
 इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् [न्यायसू० १।१।४] ५२३
 इयं त्वन्यत्र सर्वार्था [तन्त्रवा० २।१।१] ५७९
 ईश्वरज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं [] ६८४
 उत्क्षेपणमपक्षेणमाकुञ्चनं [वैशे० सू० १।१।७] २७९
 उत्तरस्याप्रतिपत्तिः [न्यायसू० ५।२।१८] ३३४
 उदाहरणसाधर्म्यत्साध्य- [न्यायसू० १।१।३४] ३१४
 उदाहरणापेक्षस्तथैत्युपसंहारो [न्यायसू० १।१।३८] ३१५
 उपात्तकर्मणा निर्हरणं [] ८१२
 उपभोगाश्रयत्वेन गृहीते- [प्रमाणवा० १।२२९] ८४०
 उपलब्धिसाधनानि [न्यायभा० पू० १८] २८
 उभयकारणोपपत्तिरूप- [न्यायसू० ५।१।२५] ३२८
 उभयसाधर्म्यात्प्रक्रिया- [न्यायसू० ५।१।१६] ३२७
 ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वाद्- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०
 १८९] ४५३

एकः प्रतिषेधहेतुः [न्यायसू० पू० ३९] १२०
 एकद्रव्यमगुणं संयोग- [वैशे० सू० १।१।१७] २७९
 एकधर्मोपपत्तेरविशेषे [न्यायसू० ५।१।२३] ३२७
 एकसामग्र्यधीनत्वाद्वादे [प्रमाणवा० १।१०] २३६
 एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे [मी० श्लो० उपमान० श्लो०
 ४६] ४९२
 एकस्यार्थस्वभावस्य [प्रमाणवा० ३।४२] ५२४
 एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्य- [] १८८
 एकादश जिने [तत्त्वार्थसू० ९।११] ८६२
 एकादश जिने क्षुत्पिपासादयः [] ८५४
 एगो मे सस्सदो अप्पा [भावपाहु० गा० ५९,
 मूलान्ता० गा० २।४८] ८४५
 एवं धर्माविना धर्मिणामेव [प्रश० भा० पू० १५] ३६४
 एवं प्राप्ततया वृत्त्या [मी० श्लो० शब्दनि०
 श्लो० १९०] ४५४
 कञ्चित् कालं स्थिरः शब्दः [] ७०१, ७१८
 कर्मक्षयाद्विमोक्षः [] ८४१
 कर्मव्यणु [पाणिनि० ३।२।१] ७६०, ७९६
 कल्पनापोढमभ्रान्तम् [न्यायसू० १।४] ५२३
 कस्यचित्तु यदीष्येत [मीमांसाश्लो० सू० २ श्लो०
 ७६] १९६
 कामीतिः (भीमिः) [जैनेन्द्रव्या० १।३।३२] ६४१
 कामी यत्रैव यः कश्चित्ति- [प्रमाणवातिकालं पू०
 ३०] ५८४
 कार्यव्यासङ्गात् कथा- [न्यायसू० ५।२।१९] ३३४
 कालात्ययापदिष्टः [न्यायसू० १।२।९] ३२०
 कालादेः स्वयमभेदात् [] ६४७
 किं स्यात् सा चित्रतैकस्याम् [प्रमाणवा० ३।२।१०] १३०, ६१३
 क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् [शाबरभा० १।१।२] ५७४
 क्रियावद् गुणवत् समवायि- [वैशे० सू० १।१।१५] २१४
 क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम् [लघी०स्ववृ०का० ७२] ४२
 क्लेशकर्मविपाकाश्रय- [योगसू० १।२।४] १०९
 क्षणिका हि सा [शाबरभा० १।१।५ (?)] ४४
 क्षीरे दधि भवेदेवम् [मी० श्लो० अभाव०
 श्लो० ५] ४६८
 गंगाद्वारे कुशवर्तं [] ६३४
 गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्था [मी० श्लो०
 अर्था० श्लो० ८] ७२५
 गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य [न्यायसू० पू०
 ३८] ५१२
 गन्धः पृथिव्यामेव [] २३८
 गन्धो घ्राणग्राह्यः [प्रश० भा० पू० १०५] २७३
 गवयश्चाप्यसम्बन्धाश्च [मी० श्लो० उप० श्लो०
 ४५] ४९२

गवये गृह्यमाणञ्च न [मी० श्लो० उप० श्लो० ४४] ४९२
 गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञान- [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४] ५०८
 गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा [स्त्री० श्लो० ३१] ८६९
 गुणदर्शो परितुल्यत्वं ममेति [प्रमाणवा० ११२२०] ८३९
 गुणपर्यवद्वयम् [तत्त्वार्थसू० ५।३८] ८०६
 गुणभ्यो दोषाणामभावः [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६५] १९८
 गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४४] ७०२
 गृहीत्वा वस्तुसद्भावम् [मी० श्लो० अर्था० श्लो० २७] ४६४, ७२४
 चक्षुःश्रोत्रमनसामप्राप्तार्थ- [] ८३
 चिच्छवितरपरिणामिन्यप्रति- [योगभा० पृ० १५] ११४
 चित्रप्रतिभासाप्येकैव [प्रमाणदातिका० लि० पृ० ३९५] १२६, ६१८
 चैतन्यं स्वरूपं पुरुषस्य [योगभा० १।९] ६१४
 चैतन्यान्तर्भित्तघटा- [शावरभा० १।१५] ३४३
 छसु हेदृष्टिमासु पृष्ठविषु [पंचसं० १।१९३(?) ८७७
 जलबुद्बुदवज्जीवाः [] ३४२
 जियदु य मरदु अ [प्रवचनसार ३।१७] ८६९
 ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेश- [शावरभा० १।१५] ४३
 ज्ञानं (तं) सम्प्राप्तमयवा [न्यायसं० पृ० ४४७] ३३६
 ज्ञापनीयेन धर्मेण [न्यायभा० १।१।३३] ३१४
 ततः परं पुनर्वस्तु [मी० श्लो० प्रत्य० श्लो० १२०] ७७७
 तत् त्रिविधं वाक्छलम् [न्यायसू० १।२।११] ३२१
 तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्वाहाद् [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३] ५०८
 तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम् [प्रश० भा० पृ० १०४] २७३
 तत्रानुभवमात्रेण [प्रमाणवा० ३।३०२] १६६
 तत्रैव बोधयैदर्यम् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६] ४५२
 तत्त्वं भावेन [वैशे० सू० ७।२।२८] ३०३
 तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं [न्यायसू० ४।२।५०] ३१९
 तद्गुणरूपकृष्टानाम् [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६३] ७२३
 तद्विपर्ययाद्विपरीतम् [न्यायसू० १।१।३७] ३१४
 तन्वाधिकरणजम्बुपगम- [न्यायसू० १।१।२६] ३१२
 तस्माच्च विपर्ययात् [सांख्यका० १९] ८१३
 तस्मात्तत्संगति- [सांख्यका० २०] ८१४, १९०
 तस्मादेवा संस्कृता [तत्ति० ६।४।७ (१)] ७६१
 तस्माद्यत्समर्थते तस्यात् [मी० श्लो० उप० श्लो० ३७] ४९०
 तथा च स्यादपूर्वोऽपि [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४२] ७०२
 तथा प्रजापतिः सोमम् [] ७२६

तथा भिन्नमभिन्नं वा [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१] ७०३
 तथा वैधर्म्यात् [न्यायसू० १।१।३५] ३१४
 तथेदममलं ब्रह्म [बृहदा० भा० वा० ३।५।२४] १४१
 तदतद्विपणो भावाः [प्रमाणवा० ३।२५१] १२६
 तदनुपलब्धेरनुपलम्भा- [न्यायसू० ५।१।२९] ३२८
 तदादेवमुखसंज्ञेसु [] ८४२
 तदेतन्ननमायातम् [प्रमाणवा० ३।२०९] १३२
 तदेवं नियमाभावात् [] ७०
 तदेव च स्यान्न तदेव [बृहत्संख्य० श्लो० ४२] ३६९
 तया शून्यं भवेत् पुंसाम् [] ५९७
 तामभावोत्थितामन्या- [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ९] ५०८
 तावत्कालं स्थिरञ्चैतम् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६] ७१६
 तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् [प्रश० भा० पृ० ३८] २१४
 तेन प्रवर्तकं वाक्यम् [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ३] ५७५
 तेनाऽभिन्नहोत्रं जुहुयात् [प्रमाणवा० ३।३।१८] ५४८
 तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् [मी० श्लो० प्रत्य० श्लो० २३७] ६९९
 तेभ्यश्चैतन्यम् [] ३४२
 तो च भावो तदन्यद्वज् [सम्बन्धप० (?) ३०६
 तुतीयस्थानसंक्रान्तौ [प्रमाणवा० ४।५।१] ६८५
 त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं [] ३३०
 त्रिगुणमविवेकि विषयः [सांख्यका० ११] ३५३
 त्रिषु पदार्थेषु सत्करी [] ३९९
 त्रैकाल्यानुत्पत्तेः [न्यायसू० ५।१।१८] ३२७
 दर्शनस्य परार्थत्वादित्य- [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ७] ५०८
 दर्शनाद्दर्शनाभ्यां तु [] ७०
 दाराः परिभवकाराः [] ८४६
 द्विस्तावानुपलब्धो हि [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५०] ७०३
 दृष्टमन्तर्गतं चित्तं [जाबाल० ४।५।४] ६२४
 देशकालदशाभेद- [] ६९
 दृश्यते मेचकादौ हि [] ३६९
 दृश्यमानाद् यदन्यत्र [] ४९३
 दृष्टत्वाच्च विरोधोऽपि [] ६६९
 दृष्टान्तस्य कारणाऽन्य- [न्यायसू० ५।१।१९] ३२५
 द्रव्याणि द्रव्यान्तरा- [वैशे० सू० १।१।१०] २६८
 द्रव्यात् स्वस्मादभि- [] ६०
 द्रव्याभ्यगुणवान् [वैशे० सू० १।१।१९] २७२
 द्रष्टव्यो रेयमात्मा [बृहदा० ४।५।६] ५९७
 द्वयसंस्कारपक्षे तु [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६] ७१४
 द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् [सम्बन्धप० ३०६
 धर्मविकल्पनिर्देशे [न्यायसू० १।२।१४] ३२२

धर्माधर्मौ स्वाश्रयसंयुक्ते	[२४७
धर्मिणोऽनेकरूपत्वम्	[३६८
धर्मिणो ह्यनन्तरूपत्वम्	[३७१
धर्म चोदनेव प्रमाणम्	[७३५
धियोऽनीलादिरूपत्वे	[प्रमाणवा० ३।४३३]	१२४
धत्तूरकपुष्पवद् आदौ	[२७०
न च पयन्गोऽत्र [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०]		४३
		७१४
न च स्याद्वधवहारोऽयम् [मी० श्लो० अभा० श्लो०]		४६७
न चापि स्मरणात् पश्चादि— [मी० श्लो० प्रत्य०]		६९९
		७०
न चाप्यदृष्टिमात्रेण	[७०
न चावस्तुनः एते स्युः [मी० श्लो० अभा० श्लो०]		८
		४६७
न चैतस्यानुमानत्वं [मी० श्लो० उपमान० श्लो०]		४३
		४९१
न तस्य किञ्चित् भवति न भवत्येव [प्रमाणवा०]		१२८१
		३८८
न तावदिन्द्रियेणैषा [मी० श्लो० अभाव० श्लो०]		१८
		४६३
न द्रव्यादि स्वतः सत् [६१०
न नरः सिंहरूपत्वात् [३६९
नग्वस्त्येव गृहद्वारवातिनः [न्यायसू० पृ० ३८]		५११
न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः [सांख्यका० ३]		६२७
		८६६
न प्रत्यक्षीकृता याव— [६९
न नरो नर एवेति [३६९
नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञान् [९४
न विकल्पानुविद्धस्य [प्रमाणवा० २।२८३]		५२५
न सोऽस्ति प्रत्ययो [वाक्यप० १।१२४]		१४०,
		१४५
न स्वतो नापि परतः [साध्यमिकका० प्रत्यय० का०]		१
		१३२
न ह वै सशरीरस्य प्रिया— [छान्दो० ८।१२।१]		८२५, ८३०, ८३७
न हि स्यात् सर्वाभूतानि [कूर्मपु० अ० १६ पृ०]		५५३
		६३४
न हि स्मरणतो यत्प्राक् [मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो०]		२३४
		६९९
न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति [५३४
नाकारणं विषयः [६५८
नाक्रमत्कर्मिणो [प्रमाणवा० १।४५]		६२०, ८५१
नागृहीतविशेषणा [२८६
नाज्ञातं ज्ञापकं नाम [५४९
नातनुकृतान्वयव्यतिरेकं [६४०
नाभूतं क्षीयते कर्म [८२४
नान्योन्याभाव्यो [प्रमाणवा० ३।३२७]		१३३, ६८४
नायं वस्तु न चावस्तु [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११८]		३६४

नादेनाहितबीजाया—[वाक्यप० १।८५]	७४९, ७५४
नाऽभावो विद्यते सतः [भगवद्गी० २।१६]	३५८
नास्तिता पयसो दधि [मौ० श्लो० अभाव० श्लो०]	३
	४६७
निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः [न्यायसू० ५।२।२१]	३३४
नित्यद्रव्यवृत्तयोऽस्त्या [प्रज्ञा० भा० पृ० १३]	२९२
नित्यमनित्यभावादित्ये [न्यायसू० ५।१।३५]	३२९
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः [वाक्यप० १।२३]	५५०
नियमश्चानुमाङ्गत्वं [७०
निरूपणानुस्मरणविकल्पे— [अभिध० १।३३]	३९५
निदिष्टकारणाभावेऽप्यु— [न्यायसू० ५।१।२७]	३२८
निर्वाणोऽपि परे प्राप्ते [५
निष्कलत्वेन शब्दस्य [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०]	२३९
	७०२
नीलसुखादिविचित्रप्रतिभासाध्यैकैव [प्रमाणवाति- काल०]	१३०
नीलादिश्चित्रविज्ञानज्ञानो— [प्रमाणवा० ३।२२०]	१२५
नेह नानास्ति किञ्चन [बृहदा० ४।४।१९, कठोप० ४।११]	१४७
नो कल्पइ निगन्थीए [कल्पसू० ५।२०]	८६८
नैसर्गिकं वैतयिकञ्चा— [न्यायसू० १।१।२५]	३१२
नोकम्मकम्महारो [भावसं० गा० १।१०]	८५६
पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञार्थी— [न्यासू० ५।२।५]	३३१
पदमाद्यं पदञ्चान्त्यं [वाक्यप० २।२]	७३१
पदार्थपूर्वकस्तस्मात् [मी० श्लो० वाक्या० श्लो०]	३३६
	७४३
पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं [मी० श्लो० वाक्या० श्लो०]	१११
	७४३
परमार्थैकतानत्वे [प्रमाणवा० ३।२०६]	५५४
परलोकिनोऽभावात्परलोका— [३४३
परस्परविषयगमनं व्यतिकरः [३६०
परस्पराविनाभूतं द्वय— [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४
परापेक्षा हि सम्बन्धः [सम्बन्धप०] ३०६, ३०९	
परिषत्प्रतिवादिभ्यां [न्यायसू० ५।२।९]	३३२
पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः [सम्बन्धप०] ३०५	
पीनो दिवा न भुङ्क्ते [मी० श्लो० अर्थो० श्लो०]	५१
	५०८
पुत्रेदं वेदतां जे पुरिसा [प्रा० सिद्धभ० गा० ६]	८७८
पृथिवीत्वासिसम्बन्धात् [प्रज्ञा० भा० पृ० २०]	२१४
पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि [३४१
पृथिव्यप्तेजोवायूनां घ्राण— [१५६
पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्ब— [न्यायसू० ५।२।१०]	३३२
प्रकृतादार्थादप्रतिसम्ब— [न्यायसू० ५।२।७]	३३२
प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च [८२२
प्रकृतिर्महान् ततोऽहङ्कारः [सांख्यका० २२]	१८९
	३५१, ३५५

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे [न्यायसू० ५।२।३] ३३०
 प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं [न्यायसू० ५।२।१] ३३०
 प्रतिज्ञाहेतुवाहरणोपपन्ननिमना- [न्यायसू० १।१।३२] ३१४
 प्रतिज्ञाहेत्वोविरोधः [न्यायसू० ५।२।४] ३३१
 प्रतिदुष्टान्तधर्मानुज्ञा [न्यायसू० ५।२।२] ३३०
 प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभि- [४१] ४१
 प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुति- [मत्स्यपु० १४५।५८] ७२६
 प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चो- [षड्व० समु० श्लो० ७२ (?)] ५०५
 प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभात्- [न्यायवि० पू० ११] ४६
 प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव [प्रमाणवा० २।१२३] ५२५
 प्रत्यक्षमेव प्रमाणमणत्ववदिति [] ७०
 प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणा- [सी० श्लो० अभाव० श्लो० ११] ४६४
 प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः [न्यायसू० १।१।३] ३०९
 प्रत्यक्षेण हि प्रतिपक्षे प्रतिवन्धे [] ५१४
 प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये [सी० श्लो० उपमान० श्लो० ३८] ४९०
 प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे [सी० श्लो० उपमान० श्लो० ३९] ४९०
 प्रत्ययार्थो नियोगश्च [प्रमाणवा० १।१।३] ५८३
 प्रत्ययरतुपाख्यैयैर्ग्रहणा- [वाक्यप० १।८४] ७४९
 प्रमत्तयोगात् प्राणव्यप- [तत्त्वार्थसू० ७।१३] ८६८
 प्रमाजनकं प्रमाणम् [] २८
 प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः [न्यायसू० १।२।१] ३१६, ३३८
 प्रमाणनयैरधिगमः [तत्त्वार्थसू० १।६] ६५१
 प्रमाणपञ्चकं यत्र [सी० श्लो० अभाव० श्लो० १] ४६६, ७२५
 प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन- [न्यायसू० १।१।१] ३०९
 प्रमाणमविसर्वादिज्ञान- [प्रमाणवा० १।३] ६३३
 प्रमाणषट्कविज्ञातो [सी० श्लो० अर्था० श्लो० १] ५०५
 प्रमाणभावनिर्णयितृचैत्रा- [सी० श्लो० अर्था० श्लो० ८] ५०८
 प्रयत्नकार्याविकत्वात् [न्यायसू० ५।१।३७] ३२९
 प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं [सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३१-३२] ७१५
 प्रागुक्तः कारणमावा- [न्यायसू० ५।१।१२] ३२६
 प्राग्भागे यः सुराष्ट्राणां [न्यायम० पू० १४१ (?)] २५९
 प्रातिपूर्विकाप्राप्तिविभागः [प्रश० भा० पू० १५१] २७७
 प्राप्तार्थं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २।५] ४८, १६७, ४५०, ६३०
 प्रेरणाविषयः कार्यं [प्रमाणवा० १।१।३] ५८४

प्रेरणा हि विना कार्यं [प्रमाणवा० १।१।३] ५८४
 प्रेरणं नियोगोऽत्र [प्रमाणवा० १।१।३] ५८३
 प्रेर्यते पुरुषो नैव [प्रमाणवा० १।१।३] ५८३
 बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा [] ७०
 बाधनालक्षणं दुःखम् [न्यायसू० १।१।२१] ३१०
 बुद्धिमुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न- [] १७३
 बुद्धध्वयवसितमर्थं [] १९०
 ब्राह्मणेन यष्टव्यं [] ७७०
 भवन्नप्यविनाभावः [] ६९
 भादौ वोकतपुस्कं पुंवत् [जैनेन्द्रव्या० ५।१।५३] ६०४
 भावाभावयोस्तद्वत्ता [न्यायवा० पू० ६] २९
 भावा येन निरूप्यन्ते [प्रमाणवा० ३।३६०] १३२
 भिक्षवोऽहमपि मायोपमः [] ६८३
 भिन्नकालं कथं ग्राह्य- [प्रमाणवा० ३।२।४७] १६५, १६७, ४०९
 भिन्नविशेषणं मुख्यमभिन्न- [] ३९९
 भिन्ने चैकत्ववित्यत्वे [सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२] ७०३
 भिन्नेष्वभिन्ना नित्या [] ७७९
 भूतार्थभावानाप्रकर्षपर्यन्तजं [न्यायवि० पू० २०] ४७
 भूयोदर्शनगम्यापि न [] ७०
 भूयोदृष्ट्या च धूमो [] ७०
 भूयोऽवयवसामान्ययोगो [न्यायम० पू० १४६] ४९१
 भेदानां परिमाणात् [सांख्यका० १।५] ३५०, ३५४
 मणिवत्पाचकबद्धोपाधि- [प्रश० भा० पू० ६४ (?)] २५२
 मतिपूर्वं श्रुतम् [तत्त्वार्थसू० १।२०] ४०५
 मदशक्तिवद्विज्ञानम् [] ३४२, ३४८
 मध्यमा प्रतिपत्तैव [] १३१
 मतस्त्वभासि सम्बन्धान्मनः [प्रश० भा० पू० ८६] २१५
 मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां [प्रमाणवा० ३।३५५] १३३
 ममेवं कार्यमित्येवं ज्ञातं [प्रमाणवा० १।१।३] ५८३
 ममेवं कार्यमित्येवं मन्यते [प्रमाणवा० १।१।३] ५८४
 ममेवं भोग्यमित्येवं [प्रमाणवा० १।१।३] ५८४
 महत्यनेकद्रव्यत्वाद्गुण- [विश्वे० सू० ४।१।६] ३०
 मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीत- [बृहत्सं० श्लो० ७५] ८५७
 मिथ्याध्वारोपहानार्थं [प्रमाणवा० १।१९४] ८४०, ८४५
 मिथ्योत्तरं जातिः [न्यायवि० का० ३७१] ३३९
 मुखे हि शब्द उपलभ्यते [शाबरभा० १।१।५] ५३५
 मूलप्रकृतिरविकृति- [सांख्यका० ३] ३५६
 मृतस्य जीवतो दूरे [न्यायम० पू० ४३] ५१६

मुद्गण्डनकसूत्रादि घटो	[११६]	लौकिकपरीक्षकानाम्	[न्यायसू० १।१।२५] ३१२
यः पश्यत्यात्मानं	[प्रमाणवा० १।२।१९] ८३८	वचनविघातोऽर्थविकल्पो-	[न्यायसू० १।२।१०] ३२१
यः पूर्वावगतोऽज्ञोऽत्र	[सी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३] ६९८	वटे वटे वैश्ववणः	[७२८] ७३३
य एव लौकिकाः शब्दाः	[शाबरभा० १।३।३०] ५९३,	वरं वृन्दावनं रम्भे	[८२८]
	७२०	वर्णक्रमनिर्देशवत्	[न्यायसू० ५।२।८] ३३२
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः	[मनु० ५।३।९] ६३४	वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र	[सी० श्लो० सू० २ श्लो० ५४] १९९
यस्ये तदादि गुः	[जनेन्द्रव्या० १।२।११४] ७६६	वस्त्वसंकरसिद्धिश्च	[सी० श्लो० अभाव० श्लो० २] ४६७
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	[वाक्यप० १।३।४] ६८	वाग्वृत्ता चेदुक्तमेद्	[वाक्यप० १।२।५] १४०
यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवावस्य	[२७, ६६, २०६]	वाग्वृत्ताभिसम्बन्धात्	[प्रश्न० भा० पृ० ४४] २१४
यत्सिद्धौ अन्यप्रकरण-	[न्यायसू० १।१।३०] ३१३	विकल्योनयः शब्दा	[५३७]
यथा घटादेर्दीपादिरभि-	[सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२] ७१४	विकहा तहा कस्या	[पंचसं० १।१।५] ८७४
यथानुवाकः श्लोको वा	[वाक्यप० १।८।३] ७४९, ७५५	विज्ञातीयानामनारम्भ-	[२६८]
यथा माया यथा स्वप्नो	[माध्यमिक० संस्कृतप० का० ३४] १३२	विज्ञातस्य परिषदा	[न्यायसू० ५।२।१६] ३३३
यथा विशुद्धमाकाशम्	[बृहदा० भा० वा० ३।५।४३] १४१	विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्त-	[५७३, ३३९]
यथैव प्रथमं ज्ञानम्	[१९६]	विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिप्रकारस्य	[३३९]
यथैवाऽऽहारकालादेः	[प्रमाणवा० ३।३।६९] १६६	विप्रतिपत्तिप्रतिपत्तिश्च	[न्यायसू० १।२।१९] ३२९
यथोक्तोपपन्नः छलजाति-	[न्यायसू० १।२।२] ३८८, ३३८	विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्या-	[न्यायसू० १।१।४१] ३१६
यद् यत्र उपलब्धिलक्षण-	[४८४]	विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्न-	[विधिवि० पृ० २४६] ५९६
यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म	[८३१]	विशेषेऽनुगमाऽभावात्	[६९]
यदेवार्थक्रियाकारि	[३८२, ३९६]	विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्	[५६७]
यद्वाजुवृत्तिव्यावृत्ति-	[सी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] ४६७	वेदाध्ययनं सर्वं	[सी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६] ७२२
यद्विज्ञानं स्वविषये	[६७३]	व्यक्तितत्त्वत्वमापन्नं	[सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७३] ७०३
यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते	[न्यायसू० १।१।२४] ३१२	व्यावृत्त्योर्लङ्गलिङ्गत्वम्	[न्यायसू० ५।०।११७] ४४८
यस्मात् प्रकरणचिन्ता	[न्यायसू० १।२।२७] ३१९	शक्तिः करणं कार्यम्	[३५०]
यस्य गुणस्य हि भावात्	[पात० महाभा० ५।१।११९] २७५	शब्दवृद्धाभिधेयानि	[सी० श्लो० सम्बन्ध० १४०] ५४५
युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिर्न-	[न्यायसू० १।१।१६] १८५	शब्दब्रह्माणि निष्णातः	[ब्रह्मविन्मू० २२] १३९
युज्यते नाशिपक्षे च	[सी० श्लो० अभाव० श्लो० २४१] ७०२	शब्दार्थयोः पुनर्वचनं	[न्यायसू० ५।२।१४] ३३३
ये तु प्रत्यक्षतो विद्वं	[६९]	शब्दे दोषोद्भवस्तावद्	[सी० श्लो० चोचना० श्लो० ६३] ७२३
यो धर्मशीलः	[७२९]	शब्दे वाचकसामर्थ्यम्	[सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३८] ७०२
यो ब्रह्माणं विदधाति	[श्वेताश्व० ६।१।८] ७२६	शब्दे वाचकसामर्थ्यात्	[मा० श्लो० अर्थ० श्लो० ५] ५०८
रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः	[प्रश्न० भा० पृ० १०५] २७३	शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वात्	[सी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २२६] ७११
रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः	[तत्त्वार्थसू० ५।२३] ७८७	शिरशोऽवयवा निम्ना	[सी० श्लो० अभाव० श्लो० ४] ४६८
रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या	[वेतो० सू० १।१।६] २७३	श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्	[तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७] ४०४
रूपरलेखो हि सम्बन्धः	[सम्बन्धपरी० (?)] ३०६	श्रूयन्ते हि अनन्ताः	[तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २७] ८६८
रूपादिमयी मूर्तिः	[७८७]	श्वेतमजमालमेत	[७६३]
लक्षणहेत्वोः क्रियायाः	[जनेन्द्रव्या० २।२।१०४] ४४९		
लिङ् लोट् व्यप्रत्यय-	[५८२]		
लोयायासपदेसे	[द्रव्यसं० गा० २२, जीवकां० गा० ५८८ (?)]		

षडेव धर्मिणः	[अभिध० ११७७	३६४	साध्यदृष्टान्तयोः धर्म—	[न्यायसू० ५११४	३२४
षण्णामनन्तराज्जीतम्	[अभिध० ११७७	३९५	साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा	[न्यायसू० १११३०	३१४
षण्णामाश्रितत्वम्	[प्रज्ञा० भा० पृ० १६	३०२	साध्यरूपतया येन ममेदमिति	[प्रमाणवातिकालं० पृ०	३०
संज्ञागमलं जीवन्	[मूलआचार० २१४९	८४५		[३०	५८४
संयोगद्विभागात् शब्दाच्च	[वैशे० सू० २१२३१	२४६	साध्यसाधर्म्यात्तद्वर्तमानावी	[न्यायसू० १११३६	३१४
संवादस्याथ पूर्वण	[१९६		[
सत्यपि आनन्द्ये	[न्यायसू० पृ० ६२२	३४९	साध्यविशिष्टः	[न्यायसू० ११२१८	३२०
सत्सम्प्रयोगे	[जैमिनि० १११४	५२३	समानानेकधर्मोपपत्ते—	[न्यायसू० १११२३	३१०
सदृशत्वात्प्रतीति—	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८		सामान्यदृष्टान्तयोरेन्द्रिय—	[न्यायसू० ५१११४	३२६
	[७०३		सामान्यद्वारकोऽप्यस्ति	[७०
सधनं ब्राह्मणं हन्यात्	[७६३	सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र	[मी० श्लो० उपमान०	
स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०			[श्लो० ३५	४९३
	[२४०	७०२	सारणवारणपरिचोयणाइ	[८७६
सन्निकर्षः अर्थापत्तिर्बन्ध—	[२८	साहचर्यं च सम्बन्धे	[६९
स प्रतिपक्षस्थापना—	[न्यायसू० ११२३३	३१९, ३३८	सिद्धमेकं यतो ब्रह्म	[प्रमाणवातिकालं० पृ० ३०	
समयः प्रतिमर्त्यं वा	[मी० श्लो० सम्बन्ध० श्लो०			[५८४
	[१३	५५३	सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं	[प्रमाणवातिकालं० पृ० ३०	
समानतन्त्रप्रसिद्धः	[न्यायसू० १११२९	३१३		[५८४
सम्बन्धं वर्तमानञ्च गृह्यते	[मी० श्लो० सू० ४ श्लो०		सिद्धान्तमभ्युपेत्य अनिय—	[न्यायसू० ५१२२३	३३५
	[८४	५३	सिद्धान्तमभ्युपेत्य तदि—	[न्यायसू० ११२१६	३१९
सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद्	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०		सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः	[सं० सिद्धन्त० श्लो० १	४
	[२४३	७०२	सुखमाह्लादनाकारम्	[१२९
सम्बन्धस्तिप्रमाणकः	[मी० श्लो० पृ० ६८०	५५०	सुविचेतितं कार्यं कारणं	[६०४
सम्बन्धवतोऽर्थस्य अतिसामान्य—	[न्यायसू० ११२१३		स्थिरवाच्यपनीत्या च	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०	
	[३२२			[६२	७११
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि	[तत्त्वार्थसू० १११	८६५	स्पर्शः त्वगिन्द्रियग्राह्यः	[प्रज्ञा० भा० पृ० १०६	
सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते	[६०३, ८५१		[२७३	
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	[छान्दोग्यो० ३१४११	१४७	स्याच्छब्दस्य हि संस्कारा—	[मी० श्लो० शब्दनि०	
सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्	[६६२		[श्लो० ५२	७११
सर्वचित्तवैतानामात्म—	[न्यायसू० पृ० १९	४७	स्वतः सर्वप्रमाणानां	[मी० श्लो० सू० २ श्लो०	
सर्वतन्त्रप्रवृत्तितन्त्र—	[न्यायसू० १११२७	३१२		[४७	१९५
सर्वतन्त्राऽविरुद्धः तन्त्रे	[न्यायसू० १११२८	३१२	स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्	[न्यायसू० ५१२१०	३३४
सर्वस्योभयवक्ष्यत्वे	[प्रमाणवा० ३११८१	६२०	स्वपरावभासमेकं ज्ञानं	[१८७
सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः	[३६०	स्वविषयानन्तरविषय—	[न्यायसू० पृ० २०	४७
सवितर्कविचारा हि	[अभिध० ११३२	३९५	स्वाभिधेयाविनाभूत—	[तन्त्रवा० ११४२३	५६८
सव्यभिचारविरुद्ध—	[न्यायसू० ११२४	३१९	स्वामित्वेनाभिमानो हि	[प्रमाणवातिकालं० पृ० ३०	
स हि रुद्रं वेदकत्तारम्	[७२६		[५८४
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यक्ष—	[न्यायसू० ११२१८		हिरण्यगर्भं प्रकृत्य	[८७
	[३२२		हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः	[९५
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे	[न्यायसू० ५११२२		हीनमन्यतमेनापि	[न्यायसू० ५१२१२	३३३, ४३६
	[३२३		हेतुमदनित्यमव्यापि	[सांख्यका० १०	३५३
साधर्म्यवैधर्म्योक्तकर्षणकर्ष—	[न्यायसू० ५११११	३२३	हेतुवाहुरणाधिक—	[न्यायसू० ५१२१३	३३३
साधर्म्यात्तुल्यधर्मो—	[न्यायसू० ५११३२	३२८	हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु	[प्रमाणवा० ३१४४	४३९
साधुभिर्भाषितव्यं	[७६१	हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः	[न्यायसू० १११३९	३१५
साध्यत्वे हेतुव्यापारः	[५७९	हेत्वाभासाश्च यथोक्ततः	[न्यायसू० ५१२२४	३३५

§ ६. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा न्यायाः ।

अन्धसर्पबिलप्रवेशन्याय	२४८१२७	लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः	३०९१२
अन्नं वै प्राणाः	३५१६	वीचीतरङ्गन्याय	२४५१६; २४६१२२; २४९११२
अर्थजरतीयन्याय	१६८१२०	सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते	८५११०
इतो व्याघ्र इतस्तटी	८३७१२१	सलिलसमीरणन्याय	५८६१७
गौर्वाहीकः	५५९११७; ५६०११	सापत्त्यन्याय	६८५११३
न हि दृष्टेऽनुपपत्तिर्नाम	१९११०	हस्तिप्रतिहस्तिन्याय	३१११६
नहि सुशिक्षितोऽपि खड्गः आत्मानं छिनत्ति,			
सुशिक्षितोऽपि वा वटुः स्वस्कन्धमारोहति	१८२११५		

§ ७. न्यायकुमुदचन्द्रगतानाम् ऐतिहासिक-भौगोलिकनाम्नां सूचिः ।

ऋषभादि	८५७१२७	मालव	२५९१३
कालासुर	७२६१९	मेवादि	८०८१२५
कौशाम्बी	५१२१५	रावणशङ्खचक्रवर्त्यादि	५३५१६
नन्दिंसंघ	८८१११	रावणादि	८०८१२६
नालिकेरद्वीप	१७९११; ४१०११२	रुद्र	७२६१२, ९
प्रजापति	७२६१४	वीर	६५३११६; ६५४११२
बाहुबलिप्रभृति	८५८११०	वृन्दावन	८२८१८
बुद्ध	५१८, १२	सत्यभामा	७३९१३
भरतप्रभृतिचक्रवर्तिन्	८७१११२	सीता	८६९११२; ८७६१२१
महावीर	४९११४	सुराष्ट्र	२५९१३

§ ८. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

अकलङ्क	११२; २११; ४०२१८; ५२११११;	कपिलादिवचन	६०११३
	६०५१२; ६५३११६; ६५४१११; ८८०११५	काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादिशाखाभेद	७२६११०
अकलङ्कदेव	६०४११७	कादम्बर्यादि	७२७१५, ८
अक्षपाद	३०९११३	कुमारिल	५०५११२
अनन्तवीर्य	११२; ६०५१३	कुमुदेन्दु	६०४११५
अभिनवनैयायिक	४९७११४	गोतम	८२८११९
आचार्य	२११०; ६७३१२०	जरज्ञैयायिक	३३७११
आचार्यीयं वचः	६७३११८	जैमिनि	५०५१११
उपनिषद्वाक्य	१४७१६	जैमिन्यादि	९४२, ३
कणाद	३०९११२	ठकशास्त्र	५९४११
कण्वादि	७२६११३	तत्त्वार्थभाष्यादि	६४६११५
कपिलमहर्षिप्रभृति	१११११२	तत्त्वोपप्लववादिन्	३३९१४

त्रयो वेदाः	७२६।४	भास्करनन्दिन्	८८१।१२, १८
त्रिसन्धानादि	७३७।४	मनु	७२२।१
दिङ्मतामादि	६६।१८, १९	मन्वादि	३५२।९; ७३६।१, ९, १३
देवनन्दिन्	८८१।७, ८	माणिक्यनन्दिन्	१।७
धर्मकील्यादि	६०२।५	वातिककार	१९८।१३; ३१०।८
न्यायभाष्य	१५६।३	बृहन्नैयायिक	४९।७; ५००।१४
पदार्थप्रवेदकग्रन्थ	३६४।५	वैदेतिहासपुराण	७७०।२
प्रधाननन्दप्रभु	८८०।१४	वैद्यकतन्त्र	२७५।१९
परमानन्दनन्दिन्	८८१।१०	वैद्यकशास्त्र	६६९।३
पौराणिक	७२६।६	शिक्षाकार मीमांसक	२७९।११
प्रज्ञाकरगुप्त	६१९।९	सूत्र	२७२।२०; २७३।४; ३०९।१६; ३१४।१; ३१६।३, ७; ३१८।४; ३१९।४; ३२१।१; ३२२।१; ३२२।२; ५५०।१९; ७६०।३
प्रभाकर ४२।१५; ५२।१३; ५०५।१२; ५८७।१३		सूत्रकार	३१०।८; ३१२।९; ३१९।९; ३२३।४; ३३०।५; ८०६।३, ४, ८
प्रभाचन्द्र	८८०।१६, १८	सूत्रकारभाष्यकारवातिककारादि	७६१।१६
प्रभेन्दु	१।५	सूरि	६६३।१३; ७९५।४
प्रमेयकमलमार्तण्ड	३३९।६; ३४०।१	सौख्यनन्दिन्	८८१।४
बृहत्स्पत्यादि	८७२।१०	स्मृतिपुराणादि	७२६।१०
भट्ट	७२४।१९	स्वभाष्याय	१३५।१४
भारतादि	७२२।११; ७२९।१४; ७३१।१४; ७३२।३; ७३३।१२		
भाष्य	५५०।१९		
भाष्यकार	२८।९; ३११।९; ३३९।१४; ३४०।१		

§ ६. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः ।

लाक्षणिकशब्दाः	पृ०	पं०	अपार्थक	३३२	१२
अज्ञान	३३४	३	अप्रतिपत्ति	३२९	१४
अज्ञाननिवृत्ति	२०९	१६	अप्रतिभा	३३४	६
अणिमा	११०	१२	अप्रतिसंख्यानिरोध	३९२	३
अधिक	३३३	८	अप्राप्तकाल	३३३	३
अधिकरण	८०२	१९	अप्राप्तिसम	३२५	१३
अधिकरणसिद्धान्त	३१३	४	अप्रामाण्य	१९८	२४
अध्यवसाय	६७८	८	अभ्यनुज्ञा	५८८	८
अध्येषण	५८८	७	अभ्युपगमसिद्धान्त	३१३	७
अननुभाषण	३३३	१७	अमूर्तत्व	६८९	१५
अनुत्पत्तिसम	३२६	९	अर्थान्तर	३३२	१
अनुपलब्धिसम	३२८	८	अर्थपत्ति	५०५	५
अनुमान	५१८	९	अर्थपत्तिसम	३२७	१०
अनुसन्धान	८२५	५	अल्पबहुत्व	८०३	४
अन्त्यसम	३२८	१५	अवयव	३१३	११
अनैकान्तिक	३१९	११	अवर्ण्य	३२४	१९
अनौपक्रमिकी	८१२	१०	अवर्ण्यसमा	३२५	२
अन्तर	८०३	३	अविज्ञप्ति	३९१	६
अपकर्षसमा	३२४	१६	अविज्ञातार्थ	३३२	८
अपक्षेपण	२८०	३	अविद्या	३९३	१०
अपवर्ग	३१०	६	अविशेषसम	३२७	१३
अपसिद्धान्त	३३५	५	अविसंवाद	४१०	५

असत्त्व	१३७	३	दुःख	३१०	४
असमवायिकारण	२१७	१८	दृष्टान्त	३१२	४
अहेतुसम	३२७	५	दोष	३१०	२
आकाश (बौद्ध)	३९१	९	द्रव्य	११७।५, २१४।३	
आकुञ्चन	२८०	४, ६	नामरूप	३९१	५
आगमद्रव्य	८०६	१२	निक्षेप	८०४	११
आगमभाव	८०७	९	निगमन	३१५	७
आत्मा	३०९	२३	निग्रहस्थान	३२९	१२
इन्द्रिय	३०९	२४	नित्यसम	३२९	१
ईशित्व	१११	२	भिमित्कारण	२१८	१
उत्कर्षसमा	३२४	१२	निरनुयोज्यानुयोग	३३५	३
उत्क्षेपण	२७९	२२	तिरर्थक	३३२	३
उदाहरण	३१४	८	विर्जरा	८१२	८
उद्देश	२१	८	निर्णय	३१६	३
उपचारछल	३२२	७	निर्देश	८०२	१७
उपनय	३१५	३	निश्चय	७८४	४
उपपत्तिसम	३२८	१	नैगमनय	६२३	१३
उपमान	४८९	१७	नैगमाभास	६२३	२३
उपलब्धिसम	३२८	४	नोआगमभाव	८०७	१०
उपादान	३९२	६	न्यून	३३३	६
एकदेश	२२४	८	पक्ष	६७।१७; ४३८।२, ४	
औपकमिकी	८१२	९	पक्षप्रतिपक्ष	३१७	१
करणत्व	३६	१०	पदस्फोट	७५४	१४
कर्तृता	३६	९	परिशेष	३०१	१६
कर्म	२८१	९	परीक्षा	२१	१०
कर्मत्व	३६	१०	पर्यनुयोज्योपेक्षण	३३४	१६
कार्यसम	३२९	७	पर्याप्त	८५२	६
काल	८०३	३	पर्याय	११७	६
कालात्ययापदिष्ट	३२०	११	पारतन्त्र्य	३०६।२१, २३	
कृत्स्न	२२४	८	पुनश्चकत	३३३	१०
क्षेत्र	८०३	२	प्रकरण	३२०	१
गन्ध	२७३	७	प्रकरणसम	३१९।१६; ३२७।१	
गन्धन	२८०	७	प्रतिक्रमण	८६४	२१
चारणलब्धि	८७२	११	प्रतिज्ञा	३१४	२
चेतन	४८	२०	प्रतिज्ञान्तर	३३०	१३
छल	३२१	१	प्रतिज्ञाविरोध	३३१	६
जडत्व	११९	११	प्रतिज्ञासन्न्यास	३३१	९
जन्म	३४८	३	प्रतिज्ञाहानि	३३०	७
जरामरण	३९२	८	प्रतिज्ञासिद्धान्त	३१३	२
जल्प	३१८	४	प्रतिदृष्टान्तसम	३२६	३
जाग्रदवस्था	८४९	७	प्रतिबन्ध	८३५	९
जाति	३२२।१२; ३९२।७		प्रतिबन्धक	८३५	१
जीवन्मुक्ति	८६५	८	प्रतिभा	५९६	५, ८
ज्ञान	७८९	१५	प्रतिसंख्यानिरोध	३९२	३
तर्क	३१५।९; ४१८।१४		प्रत्यक्ष	२४	१
तादात्म्य	३६४	२०	प्रत्यभिज्ञा	४११	११
तूष्ण्या	३९२	६	प्रत्यवमर्श	४११	७
तैजस	८५२	६	प्रत्यण	३०९	१९
दक्षिणबन्ध	११०	२	प्रशेष	३०९	२१
दीर्घमायुः	८५२	७	प्रयोजन	३१२	१

प्रवृत्ति	३१०	२	विप्रतिपत्ति	३२९	१३
प्रसङ्गसम	३२६	१	विभाग	२१	११
प्रसारण	२८०	७	विषय	३१९	१३
प्राकाम्य	१११	७	विशेष	२९२	३
प्राकृतबन्ध	११०	१	विसंवाद	६३५	१३
प्राप्ति	१११	१	वेद (लिङ्ग)	८७८	८
प्राप्तिसम	३२५	१२	वेदना	३९२	६
प्रेत्यभाव	३१०	३	वेद्य	८५२	६
प्रेषणा	५८८	७	वैकारिक	११०	२
फल	३१०	४	वैधर्म्यसम	३२४	९
बुद्धि	३०९	२४	व्यतिकर	३६०	१५
भव	३९२	७	व्यभिचार	३१९	१०
भाव	८०३	४	व्याप्ति	४१८१४; ४२२१९	
भाववाक्य	७४२	२	शरीर	३०९	२४
भावजीव	८०७	२	श्रुत	४०४	४
भाविनोभागम	८०७	३	संख्या	८०३	३
भूत	३९१	९	संग्रह	७९०	५
मतामुज्ञा	३३४	१२	संग्रह न य	६१०५; ६२१११	
मन	३१०११; ३९५	९	संग्रहाभास	६२११५; ७९०१८	
महिमा	११०	१३	संयम	८७३	१३
मुक्ति	८३९	७	सुवर	८१२	७
मुख्यप्रत्यक्ष	२५	४	संव्यवहार	५२	२
मूर्तत्व	७८७	२३	संव्यवहार प्रत्यक्ष	२५	५
यत्रकामावसायिता	१११	३	संशय	५२६; ३१०१७	
योग्यता	३११८; १८४१६; ५३८१३		संशयसम	३२६	१४
रस	२७३	६	संसार	८२९	३
रूप	२७३	६	संस्कार	३९१	३
रूपश्लेष	३०७	२१	सङ्कट	३६०	१२
रूपस्कन्ध	३९१	५	सङ्कृत	५३९	३
लक्षण	२१	८	सत्	८०२	२४
लक्षणा	५६८	३	सत्त्व	३६४	१
लघिमा	११०	१३	समवाय	२१५१९; २९४१८	
लज्जा	८७४	२१	समवायिकारण	२१७	१७
वर्ण्य	३२४	१९	समारोप	५२४	३
वर्ण्यसमा	३२५	१	सम्यक्चारित्र	८६५	१७
वशित्व	१११	२	सम्यक्ज्ञान	८६५	१७
वाक् छल	३२१	६	सम्यग्दर्शन	८६५	१६
वाक्य	७३८	१	सर्वतन्त्रसिद्धान्त	३१२	१२
वाक्यस्फोट	७५४	१५	सव्यभिचार	३१९	९
वाद	३१६	७	सादृश्य	७१९	१२
वादलब्धि	८७२	९	साधन	८०२	१८
विकल्पसमा	३२५	९	साधर्म्यसम	३२३	९
विक्रियालब्धि	८७२	११	साध्यसम	३२०	७
विक्षेप	३३४	८	साध्यसमा	३२५	६
विज्ञान	१२९१५; ३९११४		सामान्यछल	३२२	१
वितण्डा	३१९	४	सिद्धान्त	३१२	८
विद्या	३९१	३	सुख	१२९१५; ७८९१४	
विधान	८०२	२०	सुषुप्त	८४७	१८
विधि	५७३	२१	सुषुप्ताद्यवस्था	८४९	७
विपर्यय	५२	७	स्थिति	८०२	२०

स्पर्श	२७३।८; ३९२।६	स्वामित्व	८०२	१८	
स्पर्शन	८०३	२	हिंसा	८६८	१७
स्मृति	४०६	१७	हेतु	३१४	४
स्वतः	१९५	९	हेत्वन्तर	३३१	१२
स्वसंवेदन	१७४	२५	हेत्वाभास	३१९	८

§ १०. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः ।

अक्षीणमहानसादिलब्धि	८७२।१२	असंवेद्यपर्व	१९२।१२; ८२२।२
अग्निष्टोमादि	५७६।४	असत्कार्यवाद	३५६।१४
अग्निहोत्र	५४८।४	आकाशकुशेशयवत्	८४४।१२
अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचस्	५४३।२	आयिका	८६८।१४; ८७४।२२
अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते	५३१।१०; ५३६।११, १४; ५३७।१२; ६९२।१२	इन्द्र	८५७।२२
अञ्जनतिलकमन्त्रादि	८२।४; २६३।२६	इन्द्राद्यास्थान	८७२।९
अत्यन्तोपकारकभृत्य	३४९।८	ईश्वर	३२।२१; १६३।२२; १७२।७, १३
अद्वैतवादिन्	५७।२४	ईश्वरकपिलब्रह्मवत्	५।९, ११
अनपवर्त्यायुष्कत्व	८६३।१९	उत्तम्भकमणि	१६२।२२
अनिवृत्तिबादरसाम्पराय	८७०।६	उत्पलपत्रशतच्छेदवत्	१८२।७
अनुग्रहेच्छापराभिभवाभिलाषपूजाख्यात्यादि	३३६।२५	उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्	७२।२; ८१।१८
अनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पकल्पितः	४८७।३	उद्यमादिदोष	८७३।१७
अनेकभावाभावोपाधिखचित	४७८।४	उद्देहिका	१०४।१०
अन्तरायोपपत्ति	८५५।१८	उन्मत्तवाक्यवत्	२०।६
अपक्वजम्बूफलादि	४२५।१३	उमेश्वरत्व	३६९।९
अपवर्तना	८६३।१९	ऊर्णनाभ	१४८।१३; १५३।६
अप्रतिसंख्यानिरोध	३९।१२	एकादश (परिषद्)	८६२।३
अभिनवनैयायिक	४१७।१४	औपपादिक	३५२।११
अभिन्नयोगक्षेमप्रत्यासत्ति	२०८।३	औशनस्	७५३।२
अयःशलाकाकल्पाः परमाणवः	२३१।२०	कञ्चुकप्रख्य	३९१।७
अयोगकेवलान्	८५७।१०	कटुतलादि	४२५।१२
अयोगिचरमसमय	८४७।१२	कपिलादिमतानुसारिन्	८३६।२०, २३
अयोगोलकवह्निविवेकवत्	१९०।९	कल्पमहाकल्पादि	१११।१२
अरिष्टादिक	६१८।१३	कवलाहार	८५१।२२
अर्द्धपञ्चमाकार (अपोह)	५५५।३	काककाष्ण्यादिवत्	४४०।६; ४९१।१०
अलातचक्रवत्	५२८।१४	काकदन्तपरीक्षावत्	२०।८
अवधिज्ञानिन्	८५५।१; ८६३।२	काचकामलादिदोष	२००।१०; ५४०।९
अशक्यविवेचनत्वप्रत्यासत्ति	२०८।२	काचपच्यप्रसङ्ग	३७३।९
अश्वविषाणप्रख्य	४७६।२	कापिलीय	७८९।१९
अश्विन्युदय	४७१।१०	कार्माणशरीर	३९४।९
अष्टकाद्यर्थानुष्ठानार्थिन्	७२२।१	कुण्डिनीस्त्रीवत्	८१६।३
अष्टद्रव्यकपरमाणु	३९४।१९	कूटद्रम	२०२।१२
अष्टविध (ऐश्वर्य)	११०।११	कृत्तिकोदय	४२०।५; ४४०।४; ४६१।७; ४६२।१०; ८७०।१८
अष्टादशदोष	८६२।१०	कृत्तिकोदयशकटोदय	४४८।३
		केकायित	१०।५

केशोपकुकादिज्ञान	१६५।२१; ६६२।२, १०;	तमिर	५२३।४
कोषापान	७४३।१३	तैमिरिकोपलब्धि	२३१।२२
क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षित	१८३।१०	तौयशीतस्पर्शव्यञ्जकवायवयविवत्	२१७।१
क्षपकश्रेणी	७७८।१०	त्रयोदशविध (करण)	३५०।१३
क्षपकश्रेण्यारोहण	८५९।११; ८७०।६	त्रिकटुकादि	४२५।१२
क्षीणमोहान्त्यसमय	८४७।१२	त्रिदण्डदर्शन	४६२।९
क्षुरमोदकशब्दोच्चारण	५३६।१०	त्रिधा (व्युत्पाद्य)	२११।७
क्षुरादिपाषाणादिशब्दश्रवण	१४४।१५	त्रिप्रकारा (वेदना)	३९१।११
खरकद्रम	२०२।१८	त्रिविध (अप्रमाण)	१९६।१७
गणधरदेवादिरूप	८५५।७	त्रिविध (कारण)	२१७।१६
गणधरादि	८६९।४	त्रिविध (संस्कार)	२७५।३; २७८।२२; ७११।८
गणभूत	२।३	त्रिविध (फल)	३१८।२
गुणाष्टकवत्	८६६।२०	त्रिविध (छल)	३२१।५
गोपालघटिकादि	४२५।१; ८५१।७	त्रिविध (लज्ज)	७९५।२५
गोस्त्रा इत्यादिवत्	७६७।७	दण्डकवाटादिविधान	८५९।१८
घोटिकेव घोटकः	८७३।३	दर्शपोर्णमासयज्ञ	५७८।६
चतुरार्यसत्य	३९३।७	दशविध (कार्य)	३५०।१२
चतुर्विंशति (गुण)	२१५।६	दशाननदाह	६११।११
चन्द्रकान्ताखलभूतजलादि	२३९।२५	दिव्यतूर्यादिरव	८५५।७
चन्द्रोदय-समुद्रवृद्धयोः	४४८।४	दिव्यपरमाणुलाभ	८५८।२२
चरमवेह	८६७।२	दीर्घशङ्कुलीभक्षणादि	२७०।२२; २७१।७ १३
चरमशरीरिन्	८७१।११	दूरस्थविरलकेशदर्शन	६३६।१३
चरमोत्तमवेह	८६३।१९	दूरासमाधौपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत्	५६५।८
चार्वाक	१९४।२२; ३४१।१५	दृष्टिदोषभय	८६४।९
चर्वाकमत	१७३।१२; ३४१।१५	देवच्छन्दक	८५५।१०; ८६४।१७
चिच्छायाच्छुरितबुद्धिवृत्ति	१९२।१६	देवनागरकतिर्यग्भोगभूमिज	८६६।२
चित्रपट्यादि	४१५।१५	देशोनपूर्वकोटि	८५४।८
चित्रपट्यादिसामग्री	४१४।१६	द्वादश (मिथ्योपपाद)	८७७।८
चौरशब्द	५४७।२	द्विप्रकार (निरोध)	३९२।१
जलकल्लोलवत्	३७०।६	द्विप्रकार (उपदेश)	८८।२
जलबुद्बुदवत्	३४२।११; ३४८।८	द्विप्रकार (स्वप्न)	१३५।१२
जिन	५२१।११	द्विप्रकार (ब्रह्म)	१३९।१७
जिनपति	२।४	द्विप्रकार (शक्ति)	१५८।१६
जिनपतिमतानुसारिन्	३०८।२०; ३७१।१७	द्विप्रकार (प्रमाणफल)	२०१।१४
जितेन्द्रपद	२।३	द्विप्रकार (सामान्य)	२१५।७
जैन	७१।१९; ७७।१०; २७९।१०; ३०७।१५; ४८४।१	द्विप्रकार (अनेकान्त)	३७२।१
जैनमत	३४८।१९; ७४०।८; ८३२।११	द्विप्रकार (अभाव)	४६८।७
ज्ञानावरणादिकर्म	८०८।१९	द्विप्रकार (पर्युदास अपोह)	५५५।७
ज्योत्स्ना	६६९।५	द्विप्रकार (प्राणादि)	८५०।२३।
ज्वराद्युच्चाटन	७३१।३	द्विप्रकार (सूक्तिकारण)	८५२।२
तथागत्यादि	५८७।१३	द्विप्रकार (यतिवन्धपद)	८७५।१८
तदहर्जातवालक	३४७।१६	द्विप्रकार (गृहि-देववन्धपद)	८७५।२०
तरङ्गिणीतीरे फलानि सन्ति	५४२।११	धत्तूरककोद्रवादि	३४८।६
तिमिराद्युपप्लवज्ञान	५२३।१३	धत्तूरकपुष्पवत्	२७०।२०
तीर्थकरस्वकर्मद्वय	८६२।७	धत्तूरकाद्युपयोगिन्	८१०।४
तीर्थकरस्वनाममुपस्थातिशय	८७५।१३	धत्तूरवपारिज्ञानार्थिन्	४।३
तीर्थकराकारधर	८७६।१०	धानुष्कवत्	४३७।१०
तीर्थस्नान	६३४।१९	धूपदहन्यादि	२२५।१६; ३६२।२५
		न कदाचिदनीदृशं जगत्	१०२।२७
		नद्यास्तीरे फलानि सन्ति	५४१।८

नटभटवरुटचर्मकारादि	७६७।१४	प्रतिलेखन	८६८।८; ८७३।११
नरसिंह	३६९।९, १९	प्रतिसंख्यानिरोध	३९२।१
नर्तकी	२२५।१०	प्रतिसंहारैकान्त	५२८।२०, २४
नव (द्रव्य)	२१४।७	प्रतीत्यसमुत्पाद	३९०।१
नागकिणकाविमर्दककरतलादिवत्	१५६।६	प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चक	४४४।१६; ४४५।९
नारक	८७१।१९	प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकसाधन	१२।३
नारकादिकायसन्तापवत्	८४१।२	प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	६१८।२
निखिलगुणोच्छेदलक्षणे पाषाणकले मोक्षे	८२८।२७	प्रदीपज्वालाजलधारासामानशरीर	८५४।१३
निरंशैकपरमब्रह्मासिद्धि	१२०।२७	प्रदीपनिर्वाणवादिन्	४२९।४
निर्विषीकरणादि	७३१।३	प्रमाणान्तरसम्वल	५०५।२
निषध	८५४।१६	प्रमेयानुप्रवेश	५०९।८; ५१६।११
निस्तरङ्गमहोदधिप्रस्थ	३५०।७	प्रयाणकसमय	८७१।१२
निहार	८५७।६	प्रसुप्तिकादिरोग	३४६।१८
निहितमान्त्रितापीतादि	४०९।११	प्राकृतपुरुषवत्	८६३।१४
नैयायिक १८४।९; ४९६।३; ४९९।१२; ६२०।१४;		प्राकृतवैकारिकदक्षिणलक्षणबन्धव्यसद्भाव	१०९।१४
६२९।१७; ६३०।२६; ६३३।२०; ६७५।१२; ८७१।१			
नैयायिकादि ४३६।१५; ६३५।१३; ६५७।२४;		प्राकृतशब्दवत्	७६३।२१
	६६५।१२	बन्ध्यासुतसौभाग्यादिव्यावर्णनप्रस्थ	३२।१४
नैरात्म्यवाद	१६।६	बलातैलादि	७१३।१२
नैरात्म्यादिभावनाभ्यास	८४०।१५	बुद्धादिवत्	६।२
नोकर्म	८०७।५	ब्रह्मान्	१२१।३; १४३।११, १४
पञ्चबन्धवत्	८१५।२; ८२१।९	ब्रह्मवाद	१२७।१६; ७१२।१२
पञ्च (कर्म)	२७५।७	ब्रह्माद्वैत ६२।१४; ३५०।४; ३५७।१७; ५८५।१२	
पञ्च (बुद्धीन्द्रिय)	३५२।१	ब्रह्माद्वैतवादिन्	१३९।१५
पञ्च (कर्मिन्द्रिय)	३५२।२	ब्रह्माद्वैतवादिषां व्यपेरिकल्पित	३५८।२१
पञ्च (हेतु)	४६०।१९	बौद्ध १२।४; १३५।१८; १८६।२१; ३५०।२;	
पञ्चधा (अनुमान)	४६०।१६		६३३।१६
पद्मनालतनुवत्	२६८।१	बौद्धकल्पितनिरंशबुद्धि	४८३।१६
परमनैर्ग्रन्थभाक्	८७३।२०	बौद्धराक्षान्त	२७९।१३
परमब्रह्मान्	३८।१६; १४७।३, ६	बौद्धादि	५८२।२
परमशुक्लध्यान	८४७।१३	ब्राह्मण भोजय	७६९।५
परमीदारिकशरीर	८५७।१९	ब्राह्मण्यजाति	७६७।१८; ७७१।१
परिमण्डल	४८४।१८	भारताध्ययनवत्	७३२।३
परीषद्	८५४।७	भुजगखगचतुष्पदसर्पजलचराणाम्	८६७।६
पशोरिव रज्ज्वा नियन्त्रितस्योपढौकनम्	६५।१२	भूतग्रहव्याधिपरिग्रह	४६३।२
पारिमाण्डल्यादि	२९३।४	भूतसृष्टि	३५२।६; ३५५।६
पिण्डखर्जुरादिशब्द	५३५।२	भूतसृष्टिप्रक्रियावत्	३५८।१७
पिण्डेषणा	८५३।१७	भूतवनवदितोत्थित	५३८।१९
पिण्डौषधिशय्यादि	८६८।१०	मणिप्रभायां मणिबुद्धिः	२०२।१२
पिष्टपेषगानुषङ्ग	३७५।२४	मणिमन्त्रादि	८४९।१४
पिष्टोदकगुडधातुक्यादिपरिणतत्ववत्	३४३।११	मत्तमृच्छिताद्यवस्था	८४८।१४
पुरुषाद्यद्वैत	३९९।८; ६६८।११	मदशक्तिवद् विज्ञानम्	३४२।७
पुरुषाद्वैत	२०७।२१; ३९६।१४; ४१२।१२	मधुप	४८९।१३
पुरुषाद्वैतवादिन्	६११।८; ६१२।६	मध्यमज्जलभूत	६५५।६
प्रख्योपाख्याविरहित	६०।२०	मन्त्रवादिन्	७३१।३
प्रख्योपाख्याविहीनत्व	६१७।२३	मन्त्राद्युपप्लवसामर्थ्य	१३२।२०
प्रजापति	७२६।४	मरीचिकातोयनिदर्शन	४८४।१५
प्रतिबन्धकमण्यादि	१६२।२४	मरुत्सिंहासनस्पशं	८५५।८
प्रतिबिम्बोदयवादिन्	४५१।१९	महाप्रलय	५५०।४
प्रतिभासाद्वैतवादिन्	५।११, १३	महामोहान्तान्तःकरणात् सीगतात्	४११।४

महेश्वर	१८८।२	वाल्यादि	४२५।११
मातृविवाहोपदेशवत्	२०।९	वादविक्रियाचारणादिलम्बि	८७२।८
मायागोलकवत्	६३६।१२	वादाद्यतिशय	८६८।२
मायाबाहुल्य	८६९।६	वासीचन्दनकल्प	३४४।३; ८३३।१
मायोपम	६८३।२५	वाहकैलि	३१५।११
मिथ्यादर्शनादित्रयात्मक	८३०।९	विचित्ररेखानिकरकरम्बितामिव	१४१।२
मीमांसक	१०२।२८; ७७९।११; ३२०।९; ५०२।२; ५०५।६; ७११।८; ७२७।९; ७२८।८; ७७५।११	विज्ञानाद्वैत	६२।१४; ११९।६
मीमांसककृतान्त	२७९।८	विद्याधरादिवत्	८६५।५
मीमांसकनैयायिक	५०२।१७	विग्रुप	७१०।११
मीमांसकमत	१८४।९; ५३२।९	विभाषा	३९०।११
मूलकौलकादि	३११।१३	विशदस्थिरस्वरपिच्छलत्वादि	२७५।१९
मूलकौलोदकादि	८०८।२६	विशिष्टाञ्जनादि	५४०।८
मेचकादि	३६९।१४	विश्वजिदादियज्ञ	५७६।३
मेयरूपता	१६६।१५	विषमच्छद	५००।११
यज्ञार्थम्	६३४।१६	वीचीतरङ्गवृन्दद्वेतादि	१४१।१०; १४८।७
यथास्थितचारित्र	८०१।११	वीचीतरङ्गादि	२४७।९
यथार्थनामा अवला	८७८।१६	वृत्तिकल्पविदूषण	२२७।२
यमलकवत्	७१९।१२	वेदयापाटकादिप्रविष्ट	७७९।११
याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचोरहरणादि- मनःसंक्षोभकारिणि वस्त्रे	८७३।१३	वैभाषिक	३८९।२४; ३९०।११; ३९५।१२
युक्तालिक्षावनेकजन्तुसम्पृच्छनाधिकरणवस्त्रस- मन्वितत्व	८७४।१०	वैयाकरण	२७५।१७; २७९।१२; ६४८।१८
योगाचार	११९।१०; १६५।१४; ३९७।१९	वैयाकरणव्यवहार	७७७।३
योगाचारमाध्यमिकमत	३८९।२३	वैशेषिक	२३६।२४; ३९०।११; ६२७।७; ८०८।१०
योग	१०९।७; ११२।८; २२०।११; २२१।१४; २२९।८; २३३।२५; ३५८।२२; ३९९।११; ४२८।३; ४३३।१४; ७२६।९; ८२६।१६	वैशेषिकशास्त्र	२८७।१०
योगसौगत	४८५।३	वैशेषिकादि	७८६।११
योगादि	७२७।३	वैशेषिकी मुक्ति	८२८।९
योगाभिमत	११२।२	व्याकरण	७६०।११; ७९६।२७
योगोपकल्पितेश्वर	१०९।४	व्याकरणप्रामाण्य	७६०।१६
रत्नत्रय	८४६।४; ८६५।१४	व्याघ्रादिनेत्रचूपाञ्जन	१९८।१७
रविकिरणसंसृष्टनीहारनिकरवत्	१३३।७	शब्दपरमब्रह्मविकल्प	१३९।१७
रिरंसा	८६०।९	शब्दब्रह्म	१४२।६
रोगादिपरीषह	८६२।६	शब्दविधिवादिन्	५७४।६
रोहिण्युदय	४२०।५	शब्दव्यापारविधिवादिन्	५७६।७
लकुटचपेटादि	३३८।२४	शब्दस्य उत्पत्तिप्रक्रिया	२४२।४
लतावदयदि	६०३।१७	शाक्य	५५९।७; ८४४।११
लाभान्तरायप्रक्षय	८५८।१२	शाक्यपक्ष	८४३।१८
लालावत्	१५६।८	शिशुमारवसाञ्जन	१९८।१८
लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्	२४५।२०; ४१८।२; ७०३।१०; ७१५।१४	शिष्टाचार्यवत्	८७६।२२
लोकपालपरिगृहीतदिकप्रदेश	२५८।४	शुक्लध्यानानल	८५९।६; ८६४।१६
लोभकपात्रपरिणति	८७४।१४	शुक्लध्यानावाप्ति	८५९।११
लोकायतिक	१०।८	शून्यवादिन्	२३।१
वज्र	८५७।२२	श्रेणी	८६४।२४
वटे वटे वैश्रवणः	७२८।७; ७३३।१४	स्वमांस	५४८।५
वर्णाश्रमव्यवस्था	७७८।९	स्वो मे भ्राता आगन्ता	५९६।९
वल्लिलतादिक	२५१।१०	वटपदार्थ	२१४।१
		वटपदार्थलक्षण	२१३।१९
		वटप्रकार (सन्निकर्ष)	२८।२०
		वटप्रकार (अथार्थपति)	५०६।३
		वडायतन	३९०।७
		वडविध (आहार)	८५६।१
		वडविध (शब्द)	२४५।२३

षोडशक गण	३५५।२२	सुगतज्ञान	१२७।१४; ३०९।९
षोडशपदार्थलक्षण	२१३।२०	सुगतत्व	१२७।१६
षोडा सम्बन्धवाचित्व	३०४।१४	सुगतमतावलम्बिन्	४७६।१०
संवरनिर्जरा	८१२।४	सुगतवचन	६०१।२, ४
संविद्रूपस्यैकस्य हर्षविवादाद्यात्मकत्वम्	१९३।८	सुगतादि	६५४।१
संवृत्ति	७।४	सुगतेदवरकपिलह्रन्मन्	४।१५
संस्कृतशब्दवत्	७६२।१०	सुगन्धिकुसुमघूपवासादिगन्ध	८५५।७
संचेलसंयम	८७५।१	सुरत्तरकादि	८६६।७
सत्कार्यदर्शनसमाश्रयण	१९५।१७	सुराभाण्डमिवाशुचि	६३४।२०
सत्कार्यवाद	३५७।१८	सूर्यतारिकातडिदादि	४२५।१०
सद्दश-अपरापरोत्पत्तिनिबन्धन	२४५।२०	सूर्यादिदशिन्	४५२।८
सद्दश-अपरोत्पत्तिविप्रलम्भ	६३६।११	सृष्टि	५५०।४
सद्भावस्थापना	८०५।१५	सृष्टिक्रमकथन	१५१।११
सप्तधा (अनुमिति)	४६२।२	सेनावनप्रत्ययवत्	२३५।१
सप्तधातु	३९५।८	सौगत ११।१२; ३८।१३; ५०।५; ७१।१९; ८१।१६;	
सप्तमपृथिवीगमन	८६६।१९	२०५।७; २०७।२४; २४५।२२, २५; २६६।१०;	
सप्तमपृथिवीगमनकारणापुण्यप्रकर्ष	८७०।१३	३५।८२०; ३७९।४; ३९५।१४; ३९६।१; ४०९।	
सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता	८७१।४	१५; ४१३।५; ४२७।१२; ४३५।१४; ४४४।९;	
समभोगाध्युपकार्यत्व	२३०।१४	४४८।१२; ४६०।१५; ४८२।१७; ४८८।१९;	
समवशरणादि	८६४।१८	५२४।१९; ५२८।१६; ५३२।९; ५३४।४; ५३८।	
समवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवति	८५५।११	९; ५८७।१; ५९८।९; ५९९।७; ६११।५;	
सम्यक्चारित्र	८०८।६	६१२।६; ६१७।१६; ६१८।२; ६२०।१४४;	
सम्यग्ज्ञान	८३०।११	६२९।२५; ६३३।८; ६३५।१०, १३, १७; ६३९।	
सम्यग्दर्शन	८०८।५	२४; ६४३।१७; ६७५।१२; ६७७।३; ६८१।	
सम्यग्दर्शनादित्रय	८३०।२०	१५; ६८५।१७; ६९७।१२; ७८२।९; ७८५।	
सम्यग्दर्शनादृष्टि	८७७।५	९; ७८६।१२; ७८८।६; ७९१।६; ७९३।२; ७९४।२	
सम्प्रज्ञातयोग	३५८।१३	८०८।११; ८४२।२०	
सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति	२०।४	सौगतयोग	४२७।१३
सम्मुखिमादिवत्	८६६।१४	सौगतादि	६८५।१९; ७२७।९
सयोगकेवलिन्	८५७।११	सौत्रान्तिक	१६५।११; २७९।१२; ३८९।२२;
सर्वज्ञाहारनिहार	८५५।१४		३९७।१९
सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालंकारोपदेशवत्	२०।१०	स्त्रीनिर्वाण	८६५।१३; ८७०।११
सर्वार्थसिद्धि	८७१।१३	स्त्रीलिङ्ग	८६९।१४
सहस्रारान्त	८६७।९	स्त्रीवेद	८७०।२
सांख्य ४०।८; ४९।१५; १०९।५; ११३।१६; १५७।		स्थानत्रय	६८५।११
२०; १८९।१०; २३९।२८; २६५।११; २७५।		स्याद्वादलाञ्छितागम	६३४।१५
१९; २७८।८, १२; ३१३।३; ३५०।७; ३९४।		स्याद्वादिन्	२११।१७; ४१४।११; ८३२।१३
२०; ६१८।२; ६२७।७; ६२९।१८; ६३३।१५		स्रग्वन्तितादि	१६६।२०
७८७।१३; ८०८।११; ८१२।११; ८१९।१७		स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति नामकृतम्	७४३।७
८२०।५; ८२१।७; ८२२।२		स्वप्नेन्द्रजालगन्धर्वनगर	११८।७
सांख्यनेगमाभास	६३०।२६	स्वप्नेन्द्रजालादिप्रत्यक्षवत्	१३३।६
सांख्यसौत्रान्तिक	६८३।२३	स्वप्नोपम	६८४।४
सामायिकमात्रसंसिद्ध	८६८।१	स्वात्मनि क्रियाविरोधात्	१८२।१४; १८७।७
सारणवारणपरिवोदनादि	८७६।९	हरितालकाञ्चननादि	४२५।९
सासादनसम्यग्दृष्टि	८७७।३	हस्तरेखादि	६१९।१४
सिताम्बर	८७१।१	हिरण्यगर्भ	८७।३; ९५।१५
सुगत	१६८।१३; ३८६।१८		

§ ११. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतदार्शनिकनामसूचिः ।

अंशशब्द	३०८।१४	अनेकाजीवनाम	८०५।२
अकारणगुणपूर्वकत्व	२४१।८	अन्तर्व्याप्ति	४४१।१
अकुष्ठप्रभवस्थावरादि	१०४।१६	अन्तर्व्याप्त्यन्वय	४४१।६
अक्रमानेकात्	३७२।२	अन्त्यवर्णबुद्धि	७४५।१
अक्षणिकत्व	३७६।२१	अन्त्यविशेष	२१५।८; २९२।१०
अक्षिपक्षम	८५८।४	अन्यथानुपपत्ति	४२३।१३
अख्याति	६०।४	अन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्	४४१।६
अङ्गहार	२२५।१०; ३६२।१५; ७०३।१०	अन्ययोगव्यवच्छेद	६९४।५
अङ्गहारस्फोट	७५६।१४	अन्यवस्तुविज्ञानपक्ष	४७६।४
अचेल	८६८।७	अन्यापोह	५५६।५
अचेलसंयम	८७५।१	अन्यापोहमात्राभिधायकत्व	५५१।८
अतिदेशवाक्य	४८९।१५	अन्योन्मेषव्यवच्छेद	६९३।१
अतिप्रसङ्गवैयर्थ्यलक्षणवाचप्रसक्ति	४००।३	अन्योन्याभाव	४६७।११
अतिसामान्य	३२२।२	अन्यव्यतिरेकसमधिगम्य	४४३।१
अतीन्द्रियज्ञान	८६।१५	अपर	२८३।२२
अतीन्द्रियशक्ति	१५८।१०	अपरत्व	२७४।१६
अत्यन्तप्रियबुद्धिबिषयत्व	८३।१३	अपूर्वानुपूर्वीकरण	७२४।४
अत्यन्ताभाव	४६८।१	अपक्षाबुद्धि	२७६।७
अत्यन्तार्योगव्यवच्छेद	६९३।५; ६९४।८	अपोद्धारव्यवहार	२७७।८
अदृष्टादि	१६३।२१	अपोह	५५१।९; ५५५।७; ५५६।२; ५५७।५
अद्वयज्ञानकल्पना	२०७।१७	अपोहभेद	५६२।५
अद्वैतरूपता	७१९।१५	अपौरुषेयत्व	७२१।१५
अद्वैतवादिमतसिद्धि	५४।११	अप्रतिपत्ति	३६०।१६
अधिगति	२०५।११	अबाधितविषयत्व	४४२।७
अधिष्ठानाज्जुत्व	४५२।९	अभावदोष	३७१।२०
अनन्यपरतयोपादीयमानत्व	८३।१३	अभावपूर्विकार्थापत्ति	५१६।७
अनपवत्पर्याय्युक्तत्व	८६३।१९	अभावप्रमाण	४६३।७
अनभ्यासावस्था	२०१।१९	अभावार्थापत्ति	५०८।१२
अनाद्यविद्योपप्लव	६२।१५	अभिज्ञाक्षण	३८२।९
अनाथेयाग्रहेयातिशय	१४३।८	अभिधा	५६७।१२; ५७७।१
अनिर्वचनीयार्थख्याति	६३।७	अभिधात्रीशक्ति	५०८।३
अनुत्पाद्योत्पादकत्व	२६९।९	अमृताभाविन	२२०।१३; २२१।१८
अनुपलब्धि	४४६।१; ४६५।७	अमर्द	३६५।१९; ३८०।८
अनुमानपूर्विकार्थापत्ति	५०६।९	अयुतसिद्ध	२९४।२४
अनुमानोपमानपूर्विकार्थापत्तिद्वय	५१५।११	अयुतसिद्धत्व	२९७।२०
अनुमितानुमान	४५०।१	अयुतसिद्धि	२९९।९
अनुयोगशब्द	८०२।६	अयोगव्यवच्छेद	६९३।४; ६९४।१
अनुवाक्यव्य	७४९।१; ७५५।११	अर्थकार्यता ज्ञानस्य	६५९।११
अनुसंहति	७४२।४	अर्थक्रियाकारित्व	३७५।८
अनुस्मरण	३९५।५	अर्थक्रियाज्ञान	२०२।५
अनेकजीवनाम	८०५।१	अर्थप्रधाननय	७९३।१७
अनेकजीवाजीवनाम	८०५।३	अर्थप्राकट्य	२०१।१
अनेकाकारचित्रज्ञान	१९३।८	अर्थभावना	५७९।११; ५८२।१४

अर्थमको व्यवहारः	६३४।९	आस्रव	३९१।१७
अर्थमिका भावना	५७९।१०	आहङ्कारिकत्व	१५७।२०
अर्थापत्ति	५०५।१४	आहार	८५७।६
अर्थापत्तिरनुमानमेव	५१३।१०	आहारकथामात्र	८६४।२३
अर्थापत्तिपूर्विकापत्ति	५०७।१०; ५१५।१३	आह्लादनाकारत्व	१९९।३३
अर्थपञ्चमाकार (अपोह)	५५५।३	इच्छा	५७४।५
अहंभुक्तयत्न	८६८।१९	इच्छाप्रयत्नप्रभृतयो विधिप्रकाराः	५९८।१
अलौकिकार्थख्याति	६४।१	इन्द्रियदोष	१९६।१९
अल्पाचतुर्त्त्व	६१७।२३	इन्द्रियप्रत्यक्ष	४७।२२
अवधिज्ञानिन्	८५५।१; ८६३।२	इन्द्रियवृत्ति	४०।२५
अवयविन्	२३१।६	इन्द्रियसंस्कार	७१३।६
अविद्या	१४३।१	इष्टविधातकृत्	६९।४; ७३।१८
अविद्यातिमिरोपहत	१४१।४	इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहार	७९२।५
अविद्यारूप	८०९।३	उपदेश	५७४।४; ५९४।४
अविप्लवत्व	७७२।८	उपदेशो विधिः	५९४।२
अविवेकि	३५३।२७	उपभोगाश्रय	८४५।१३
अशक्यविवेचनत्व	१२५।१९; १२७।११	उपमान	४८९।७; ४९७।९
असत्कार्यवाद	३५६।१४	उपमानपर्विकाश्यापत्ति	५०६।६
असत्ख्याति	६०।१५	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञानस्वभावत्वम्	४९४।१८
असत्प्रतिपक्षत्व	४४३।९	उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेधार्थानुपलब्धि-भूतलाद्या-	
असद्भावस्थापना	८०४।१६	श्रयोपलब्धि-प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षणसामग्री-	
असाधुशब्दप्रयोग	७५८।८	विशेष	४६४।१
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः	४३९।२	उपसर्गाद्यासक्त	८६८।१४; ८७४।१
अस्मर्यमाणकर्तृकत्व	७२४।८	उपादान	३९१।१
अहङ्कार	३५१।१५	उभयदोष	३६०।११
आकाश	२४२।२	उभयसंस्कार	७११।७; ७१४।७
आकाशप्रदेशश्रेणी	२५८।१३; १८	ऊर्ध्वतासामान्य	६४७।७
आख्यातशब्द	७३९।८	ऊर्ध्वविःस्थितवंशादि	३०५।८
आगमनोआगमरूपता	८०७।७	ऊहज्ञान	४४४।१५
आगमनोआगमविकल्प	८०६।१०	एकजीव-अनेकाजीवनम्	८०५।३
आचेलक्यादिसंयमविशेष	८७२।१६	एकजीव-एकाजीवनाम	८०५।२
आतप	६६९।४	एकजीवनाम	८०४।१८
आत्मख्याति	६२।१	एकत्वाध्यवसाय	४९।१७; २८९।११
आत्मगत	१९७।२३	एकद्रव्यत्व	२०४।११
आत्मदशिन्	८३८।१२	एकलोलीभाव	३०९।८
आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धावगम	५७४।३	एकसामग्र्यधीन	२३६।७
आत्मन्	२५९।२३	एकाऽजीवनाम	८०५।१
आत्माद्वैत	२३९।२१	एकात्मसमवेतानन्तरज्ञान	१८२।५
आदर्शादि	४५१।१५	एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्य	१८८।६
आदित्यादिक्रिया	२५५।११	एकार्थसमवाय	८७०।२४
आनन्द	८३१।११	एकोऽनवयवः शब्दः	७४१।३
आनन्दशब्द	८३८।२	एकोपाध्युपकार्यत्व	२३०।१४
आप्तोक्तत्वेनैव	५३६।१	एवकार	६९४।१
आयतन	३९२।४	ओदन	५४७।७
आरूप्यधातु	३९२।१०	कण्टकशाखावरणवत्	३१९।२
आवरण	७०८।६	कथञ्चित् विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व	१२९।१३
आवरणत्व	७०६।९	करण	२२५।१०; ३६२।१५
आशय	१०९।११	करणस्फोट	७५६।१३
आशुभूषणादिज्ञान	५२३।४	कर्तृव्यताप्रतिपत्ति	५७४।४
आसगप्रलयस्थायिन्	१८९।६	कर्तृत्वसामग्री	९९।४

कर्म	१०९११०; ५७४१३; ८०७१४	गौणत्व	७१११
कर्मत्वेनाश्रयमानान्त	१७५१२	ग्राह्यप्राहकवैध्वं	१३३११०
कर्मनोकर्म	८६८१५	घटाद्यभाव	४४४११४
कर्मनोकर्मदानलक्षण आहार	८५६१५	चक्रादिव्यापारवैयर्थ्यानुषङ्ग	७०९११४
कर्मपदार्थ	२७९११३	चक्षुरादिगत	१९७१२१
कर्मशब्द	८०५११०	चिच्छक्तिरपरिणामित्यप्रतिश्रुता	८१४१२२
कर्मव अमिश्रितार्थप्रसाधकत्वाद् विधिः	५९११२१	चिच्छायासङ्क्रान्ति	१९२१५
कल्पना	४७११५	चित्र	१२४११०
कवलाहार	८५११२२	चित्रज्ञान	१९१८; ५६१२६; १३०१२१; ३८११२२
कामधातु	३९२१९		४१५११५
कामपीडापनोदार्थ कामकादिस्वीकार	८७४११९	चित्रज्ञानरूपता	६२०११८
कारक	४२१२	चित्रज्ञानादि	४१५१६
कारकव्यापार	७०९११२	चित्रप्रतिभासा	१२६११
कारकसाल्य	३३११०	चित्ररूपप्रतिपत्ति	२२९११४
कारणानुमान	४६२१३	चित्राकारैकज्ञान	४१४११६
कार्यत्व	३६२१२६	चित्राकारैकसंवेदनवत्	३०७१२२
कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धः	५८४१४	चित्राद्वैतसिद्धि	१२६११३
कार्यसहिता प्रेरणा	५८३११०	चित्रैकज्ञान	६१८११०
कायानुपलम्भ	९११८	चिन्तामयी	८३९१५
कालक्रम	१५११२१, २३	चैतन्यप्रभव	८५०१२३
कालाश्रय	२५१११	चोदना	५५११३
कालाकाशादि	४४०१४	छाया	६६७११०; ६६९१४; ६७२१६
कालाणु	२५४१५	छिन्नमूलत्व	७२११९; ७२९१८
कृतकत्व	३७६१४	जलमरण	३६११२
कृतकृत्यता	८२८१२१	जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्व	२३३११७
कृतनाश-अकृताभ्यागमदोष	६११६	जाग्रत्सुषुप्तावस्था	८४७१०
कृतमिति प्रत्ययविषयत्व	१०११५	जाग्रद्विज्ञान	६१८१२२
केवलव्यतिरेक्यनुमान	२१४११०	जाति	३३९११८; ३९१११
केशादिविवृद्धचभाववत्	८५७१२०	जातिशब्द	८०५१७
क्रम	१५११२०; ४४५११५	जातिः सङ्घातवर्तिनी	७४०१११
क्रमयोगापद्य	३५७१८, ३८०१८	जात्यन्तरत्व	३६९१३
क्रमयोगापद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्व	८१३	जिज्ञासा	३३७११
क्रमाक्रमानेकान्त	८०६१९	जित	५२११११
क्रमानेकान्त	३७२१२	जीर्णकृपप्रासादादिवत्	१००१७; ७३११५; १३७११२
क्रमो वाक्यम्	७४११५	ज्ञातृत्वविशिष्टस्यार्थस्य	१७८१२६
क्रियाविशेषनिबन्धन ब्राह्मणत्व	७७८११२	ज्ञातृव्यापार	४२१२१
क्षणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि	८८४१२	ज्ञातृत्व (निग्रह)	३११११५
गन्धादिस्फोट	७५६१६, १०	ज्ञान	१८९११४
गवाद्यः शब्दाः साधवः	७५७१६	ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेक	६६६१६
गाव्यादि	७५७१७	ज्ञानान्तरवेद्यत्व	१८१११५, १६
गाव्यादिशब्द	७६२१३	ज्ञापक	५४११३
गुण	२७३१२	ज्ञेयस्थ (निग्रह)	३११११४
गुणपदार्थ	२७२११७	तज्जन्म	६७७११
गुणपुरुषान्तरदर्शन	८१६१३	तत्कारणविरुद्धविधि	९२११५
गुणवान् शब्दः	२४३१६	तत्त्रितय	६४५१२
गुणशब्द	८०५११०	तत्त्वज्ञानसंरक्षण	३१८११५
गुह्यत्व	२७४११७; २७८१३	तत्त्वसृष्टि	३५२१६; ३५५१८
गो-गावो-गौणी-गोपोतलकेत्यादयः	७६७१५	तत्त्वसृष्टिप्रक्रिया	३५८११७
गोशब्दलिपिवृद्धि	७६६११७	तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्व	३३८१२२
गौण	३९९११३	तत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वसमास	३५९११६

तत्समुदायो नियोगः	५८४।७	नटभटचष्टचर्मकारादि	७६७।४
तथागतदि	५८७।१३	नररचितरचनावशिष्ट	७३७।१
तथोपपत्ति	४२३।१३	नानासमवाय	३०२।१३
तदतद्रूपहेतुज	१२६।१८	नामरूप	३९।०।७
तदध्यवसाय	६४५।१	निक्षेपमाला	८८०।११
तदाकारार्पणक्षम	१६५।१८	निग्रहबुद्धि	३१७।१२; ३६८।४
तदित्युल्लेखित्व	४०७।२	नित्यशब्द	७०१।४
तदुत्पत्ति	६४४।११	नित्यसम्बन्ध	५४७।४; ५४९।११
तद्विज्ञोत्पत्ति	३६४।१५	निमित्तकारणक्रियानुविधान	४५९।१
तद्वचवसिति	६७७।१	निमित्तान्तर	८०४।१६
तद्व्यापकविरुद्ध	९२।१०	नियोग	५७४।१; ५८२।१७
तद्विरुद्धकार्यविधि	९२।१९	निराकारक्षत्व	७३८।५
तद्विरोध्यन्तरानुमान	४६२।४	निरासवचित्तसन्तत्युपत्तिलक्षण	८४४।१६
तपस्	८४७।८	निरूपण	३९५।५, ७
तमस्	६२७।३; ६६९।५; ६७२।६	निर्विकल्पक	४५।२३; ४६।१
तर्क	४२०।१	निर्विकल्पेतराकारैकविकल्पवत्	४१४।१७
तात्पर्यशक्ति	५०८।३	निवारणबुद्धि	३१७।१३
तादात्म्य	३५९।१९; ४४६।७	निश्चय-आरोपमनसोः	२०५।२१
तादात्म्यतदुत्पत्ति	४४४।१०	निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य	४४१।१४
तादात्विकनिमित्तत्व	७००।१०	नैर्घृण्याद्युपालम्भ	१४८।१३
तादात्विकसुखसाधन	८४२।२	नैयायिकानुमान	४६०।२०
ताद्रूप्य	६७७।१	नैरात्म्यदर्शन	८४५।८
ताप-शोष-उपष्टम्भ-उद्वेगादि	३५०।२२	नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण	८३९।१०; ८४०।२
तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्तनमात्र	५७४।२	पक्ष	४३५।९
तृतीयस्थानसंक्रान्ति	६८५।१२	पक्षधर्मत्वसहिता	५१८।१३
तृष्णा	३९१।१	पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रयान्वितत्व	४३८।१२
त्रिगुणत्व	३५३।२६	पक्षप्रतिपक्ष	३१६।५
त्रित्वादिसंख्याज्ञान	५०४।१७	पञ्चरूपत्व	४४२।१
त्रैक्यमात्र	४४०।२	पटाद्यवयविन्	२२६।२
त्र्यंशपरिपूर्ण	५७८।५	पद	७९७।५
त्वगास्थिपिशितशोणितादिपरिणामविशेष	३४३।१४	पदादिस्फोट	७५४।११
दाक्षिण्य	५४७।७	पर	२८३।२०
दिक्	२५७।१९	परतन्त्र	३५३।२२
दिग्द्रव्य	२५७।२४	परत्व	२७४।१६
दुःश्रवणत्व	७३०।४	परत्वापरत्व	२७७।२०
दुर्भणत्व	७३०।४	परमाणुरूप	२१५।११
दूरतिमिर	५४०।८	परमात्मस्वभावो नियोगः	५८४।१०
देशक्रम	१५१।२१, २२	पररागादिवेदन	१६८।१०
देशद्रव्य	२५९।९	परलोकाभाव	३३।१६
देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव	४७१।८	परस्परपरिहारास्थिति	३७०।५
देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव	४७१।६	परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्याना	७३५।४
द्रवत्व	२७४।१८; २७८।१५	परस्परसंसृष्टकपालोत्पाद	४८०।१९
द्रव्यतः पुरुषवेद	८७०।४; ८७८।१३	परापर	२५१।६
द्रव्यशब्द	८०५।८	परापरयोगपद्यायोगपञ्चरक्षिप्रप्रत्यय	२५१।५
धर्म	३।१	परापरव्यतिरेक	२५२।१८
धर्माधर्म	२७९।७	परापेक्षास्वरूप	३०५।१२
धर्माधर्मद्रव्य	३४०।४	परिमाण	२७४।१
धारावाहिकप्रत्यक्ष	४०५।१७	पर्युदासरूपोऽगोहः	५५६।१३
ध्वनि	७१०।५	पाटनपूर्णप्रसङ्ग	५३६।१०
नान्यसंविच्छिन्नफल	४६६।१४	पादस्फोट	७५६।१३

पारतन्त्र्यलक्षण	३०५।१२	प्रवर्तना	५८९।९
पेवेदं वेदत्ता	८७८।२	प्रवर्तना मात्र	५८८।११
पुंवेदोदय	८७८।६	प्रवृत्त-निवृत्ताधिकारत्वधर्म	८१७।१०
पुस्य एव नियोगः	५८४।२२	प्रवृत्ताधिकारत्व	८१७।१२
पुरुषेभ्यो हीनत्वात्	८७६।७	प्रवृत्तिनिवृत्तिसद्भाव	२६।१
पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टान्वयवर्ण	७५०।२	प्रयत्नादिसामग्री	४७२।२
पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट	७५०।९	प्रसङ्गविपर्यय	१७७।१६
पृथक्त्व	२७४।१२	प्रसङ्गसाधन	२२४।११
पृथग्गतित्व	२९८।४	प्रसज्यरूप	५५६।१४
प्रकाशगत	१९७।२२	प्रसाद-लाघव-उद्धर्ष-प्रीत्यादि	३५०।२२
प्रकृष्यमाणत्व	२३६।१५; ८११।१५; ८१२।१	प्रसिद्धार्थरूपाति	६१।१२
प्रतिकर्मव्यवस्था	८५८।१७	प्राकट्य	१९७।४
प्रतिज्ञाप्रयोग	१६६।११	प्राकृत	७६४।६
प्रतिज्ञार्थकदेशत्वप्रसङ्ग	४३६।९	प्राकृतशब्दवत्	७६३।२१
प्रतिनियतव्यञ्जकव्यञ्ज्य	४९१।८	प्रागभाव	४६७।१०
प्रतिनियतावरणावार्थ	७०९।२	प्रागभावाद्यवन्तरभेद	४८२।६
प्रतिपक्षभावानातिवर्त्यत्व	७०९।२	प्राक्भूय	४५२।२
प्रतिपक्षभावानातिवर्त्यत्व	८५३।१३	प्राणादिप्राण	८५१।१
प्रतिपक्षप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीति	७८०।१५	प्राप्यकारि	७५१।२
प्रतिबन्ध	१६३।२६	प्रामाण्य	१९५।१३
प्रतिबिम्ब	४५१।२; ४५४।३, ९	प्राशस्त्याभिधान	५८८।१
प्रतिभा	५७४।५; ५९५।१४	प्रेरणा	५८३।५
प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्ष	४२४।१५	प्रेरणासहितं कार्यम्	५८३।७
प्रतियोगिता	४७६।७	प्रेषणाभ्येषणाभ्यनुज्ञालक्षण	५८८।३
प्रतीत्यसमूहत्वाद्	३९०।१	प्रेषादि	५७४।१; ५८८।१०
प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति	५०६।४; ५१४।१०	फल	५७४।२; ५८९।१
प्रत्यक्षानुपलम्भ	४२६।१	फलकाङ्कादि	४६०।६
प्रत्यक्षाम	५२४।२४	फलामिलाप	५७४।३; ५९१।१४
प्रत्यभिज्ञा	८११।८	बहिर्व्यपत्ति	४४१।२
प्रत्ययात्मक	६३४।९	बह्वादिभिः द्वादसप्रभेदैः	१७४।१४
प्रत्ययमर्शिनी	१४०।२	बाधितविषयस्व	४४२।५
प्रत्ययस्थापन	३२३।१	बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपत्तिन्	८७३।१५
प्रत्यासत्ति	३०६।२४	बिम्बरूप	४५१।१३
प्रत्यासन्नतिमिर	५४०।८	बीजप्ररोहणसंरक्षण	३१९।२
प्रदीपादिस्फोट	७५६।२	बुद्धिमत्कर्तृपूर्वक	९७।१६
प्रधान	३५०।८	बुद्धिर्विक्रयम्	७४१।६
प्रधान-ईश्वरादिकारकनिरपेक्ष	३९०।४	बुद्धयर्थ्यवसित	१९०।६
प्रधानपरिणाम	१८९।१३	बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्व	८२३।१९
प्रध्वंसाभावलक्षण	४६७।१०	बुद्ध्यालूढ	५८६।१९
प्रबोध	६१८।१२	बुभुक्षा	८६०।६
प्रमत्तादि	८५९।१०	ब्राह्मण्यजाति	७६७।१८; ७७१।१
प्रमाण	४८।१०	भक्ति	५७४।५; ५९७।३
प्रमाणत्रयसम्पाद्य	५४५।४	भव	३९१।१
प्रमाणफलव्यवस्था	१९५।६	भवितव्यताप्रत्ययरूपता	११६।१२
प्रमातृदोष	१९६।१९	भावतः वेदत्रयान्यतमवेदाधिरूढ	८७८।१७
प्रमोष	५९।९	भावना	५७४।१
प्रयत्न	५७४।५	भावनाख्यसंस्कार	२७५।५
प्रयाजादिव्यापार	५७८।७	भावनाद्यर्थभेद	५४८।२
प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थ	४२९।३	भावनारूप	२७९।३
प्रयोजन	३३७।२	भाविसरणादि	६१८।१२

भक्ति	८५२।१	रूपघातु	३९२।९
भूतकोटि	१३१।११	रूपसंश्लेषस्वभाव	३०५।१२
भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रिय- प्रभववा प्रत्यक्षम्	४२८।८	रूपालोकाद्यनेककारणकलाप	३८४।१४
भेद	३६५।१८; ३८०।८	लक्षणा	५६८।१
भेदव्यवहार	१५४।५	लक्षितलक्षणा	५६८।५
भेदाग्रह	५४, ५	लक्ष्यनिर्देश	४३५।१०
भोग्यरूपो नियोगः	५८४।१६	लक्ष्यवैधप्रवीणलक्षण	४३७।७
मध्यक्षणस्वभाव	१३०।२२	लिङ्ग	३५३।२०; ४२७।६
मध्यमाप्रतिपत्	१३१।१०	लिङ्गलोटतव्यप्रत्ययान्त	५७४।१४
मध्यमाप्रतिपत्ति	१३१।८	वक्तृत्वादि	९३।१
मध्यादिज्ञानपरिग्रह	५०४।१६	वध्यघातानुमान	४६२।७
मनस्	३५२।३	वस्त्वश	३६४।२४
मनःप्रत्यक्ष	४७।१३	वस्त्वसंकरसिद्धि	४६७।१०
मनोगतदोष	१९७।२२	वाक्य	७९७।५
मनोदोष	१९६।१९	वाग्व्यपता	१४०।२
मनोद्वय	२६८।१८	वाच्यवाचकभाव	२९५।३
मनोवृत्ति	४०।६	वाच्यसंविद्यपेक्षण	४९८।१७
महान्	५५०।४	वाच्यवासकभावसंभव	१८। ३
महामत्त्वसाध्यभूतिहेतुरन्तत्रयसमग्रता	८७६।२३	विकल्पमात्राधीनजन्म	५३७।१५
मातृकास्फोट	७५६।१४	विकल्पानुविद्ध	५२५।१२
मातृपितृज	३५२।११	विकारित्व	१०१।६
मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि- वध्यघातकादि-सम्प्रविधानुमान	४६२।१	विचार	३९५।४
मात्रामात्रिकानुमान	४६२।२	विजातीयव्यावृत्ति	२८९।५
माध्यमिक	१२७।८; २०६।१६	विज्ञान	३९०।६
मार्ग	३९१।१७	विज्ञानाभिन्नहेतुज	१२६।९
मीमांसकाभिमतार्थपत्ति	५०५।२	वितर्क	३९५।३
मीमांसकाभ्युपगतमूपमानम्	४९६।३	विधि	५७३।२०; ५९५।१४
मीमांसकोपवर्णितोपमान	४९७।१६	विधि	६४१।२३
मुख्य	३९९।१३	विधूतकल्पनाजालता	१६८।१५
मुख्यकाल	२५३।२५	विपक्षबाधकप्रमाण	४४५।११
मुख्यत्व	३९९।१२	विपरीतरूप्याति	६४।१७
मेयरूपता	१६६।१५	विपर्ययानध्यवसाययोः	३३६।२४
मोक्ष	८२३।१७	विभाग	२७४।१४; २७७।१४
यतिगृहिदेववन्द्यपदानहं	८७५।१७	विभिक्षकर्तृकत्व	२२३।९
यन्त्रारूढिनियोगाभिधान	५८५।१४	विभिक्षपरिमाणत्व	२२३।१२
यन्त्रारूढो नियोगः	५८४।१३	विभिक्षशक्तिकत्व	२२३।११
यज्ञानाध्यापनप्रतिग्रहग्रहादि	७७३।१६	विरुद्धधर्माध्यास	२२३।७
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्ग	२६९।६	विरुद्धविधि	९२।४
युगपन्निलिखितद्रव्यावगाहकार्ये	२५०।१	विरुद्धाव्यभिचारिन्	६९।५
योगिप्रत्यक्ष	४७।१४; ४३२।१६	विरोध	३६०।८; ३६९।३; ३७०।३
योग्यता	३१।२०	विरोधगति	८५६।४
योग्यतालक्षणसम्बन्ध	१२१।२४; ५३८।७	विवक्षा	५३१।१०; ५३५।१५; ७८०।२३
योगपद्य	२२०।११	विवेकख्याति	८१६।१; ८२१।२०
रक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यास	२२८।१८	विवेकख्याति	५२।१३
रजः	६२७।३	विवेकानुपलम्भ	८१७।१
रज्जुग्रन्थ्यादि	३६३।७	विशिष्टदण्डचादिप्रत्यय	४३१।१२
राजा	४९९।१३	विशिष्टदण्डचादिप्रत्ययवत्	४२९।८
रिरंसा	८६०।९	विशिष्टा संस्कृतिः	७११।७
		विशेषणभाव	३०४।१
		विशेषणविशेष्यभाव	३०१।५

विशेषपदार्थ	२९२११	श्रुतज्ञान	५२९१२२
विशेषविरुद्धानुमान	२९६११२	श्रुतमयी	८३९१५
विषमगतयः	८६७१४	श्रुतार्थापत्ति	५०७११२; ५१५११५
विषय	३५३१२८	श्रेयःसाधनता	५९३१११
विषयगतदोष	१९७१२१	श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्म	५७४१४
विषयदोष	१९६१२०	श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मावगम	५९३१६
विषयविषयिभाव	२९५१४	श्रोत्र	२४८१२६
विषयाकारविवेक	४८४११	श्रोत्रसंस्कार	७१११७
विषयान्ध	३९३१२५	श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वम्	८५११६
विषयालोचनसङ्कल्पनाभिमतनाद्यनेकस्वभाववत्त्व		षट् (पदार्थ)	२१४१६
विषाददैव्यबीभत्सगीरव-आवरणादि	८२११२	षट्प्रकार (सन्निकर्ष)	२८१२०
वीतराग	३५१११	षडंशापत्ति	२३३११३
बुद्धव्यवहार	३१८११५	संख्या	२७३११२
वैगुण	७५७१८	संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति	५००१२
वेदना	२७५१३; २७९१२	संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफल	४९६११०
वेदाध्ययन	३९०१७	संयुक्तविशेषणभाव	४६३११७
वेराग्य	७२२११७	संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षण	७७६११७
व्यक्त	८४६१२३	संयोग	२७४११४; २७७११५
व्यतिकर	३५३११०	संयोगिद्रव्य	८०५१८
व्यतिरेक	३६०११४	संयोगिसमवायिलिङ्ग	४६११४४
व्यधिकरणासिद्ध	२५११६	संवाधकज्ञान	१९६१४
व्यवहार	४९१११०	संशय	३३७१२; ३६०१७; ३६८१२०
व्यवहारकाल	६३३१८	संशयव्युद्भास	३३७१२
व्याकरणप्रामाण्य	२५३१२५	संशयादिदोषोपनिपात	३६०१६
व्यापक	७६०११७	संस्कार	३९०१६
व्यापकानुपलम्भ	४२३१५	संकलशून्यता	१३११८; ३९८११६
व्याप्य	१११२१	सङ्कलन	२६०११२
व्यामोह	४२३१५	सङ्कलन	४९४१५
व्युत्पत्तिमिप्त	२११११०	सङ्कलन	५४७१२
शक्ति	२६१२	सङ्ख्यात	७४०११
शक्तिसंकरपक्ष	३५०११४; ५०६१८	सद्व्यवहारानुदय	४७९११०; ४८०११
शक्यप्राप्ति	८४७१११	सन्तानशब्द	६११५; ८०३१२१
शक्यविवेचन	३३७१२	सन्तानोच्छेद	६१६१६
शब्द	१२६११, २	सपक्षविपक्षव्यवस्था	३६८१५
शब्दनित्यत्व	५७३१२३	समवायपदार्थ	२९४११६
शब्दप्रधान	६९८११	समवायिद्रव्य	८०५१८
शब्दभावना	७९३११७	समुदय	३९१११६
शब्दसंस्कार	५७९१२	समुद्रांश	३६४१२५
शब्दस्वभावब्रह्मसद्भाव	७१११७, १३	समुद्रकदेश	३६४१२३
शब्दाकारानुस्यूत	१३९११९	सम्पूर्णचिंतनालाम्	२०२११८
शब्दात्मक	१४११८	सम्बन्ध	३०५११०
शब्दानुविद्ध	६३४११०	सम्बन्धसम्बन्ध	४३२१९, १०
शब्दार्थसम्बन्ध	१४०१८	सर्वग्रहणप्रसङ्ग	२३०११३
शरीरपरिमाणत्व	५५०११८	सर्वधर्मनिरात्मता	१३१८, १०
शास्त्रेऽनियतकथायां वा	२६११६	सर्वात्मविज्ञानाहित	७२८११५
शुद्धपरिणामसङ्क्रम	४३८१८	सर्वात्मभाषात्मक	२१४
शुद्धकार्य (नियोग)	८२११५	सर्वज्ञाविनाभूत	८६१२२
श्रावणत्व	५८३१३	सर्वस्विसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य	९३११५; ४४२११०
श्रुत	४४०१११	सन्निकल्पक	४५१२३; ४६११
	५२९१२१; ५३०१६	सव्यदक्षिणविपर्ययसि	४५७१११

सहकारिशक्ति	१५९।१	स्नेह	२७५।२
सहचरानुमान	४६२।५	स्नेहगुण	२७८।१९
सहानवस्थालक्षण	३७०।५	स्पर्श	३९०।७
सहोपलम्भनियम	११८।१६; १२३।१	स्फोट	७४५।११; ७५४।१३
साकल्य	३८।१	स्मृति	४०५।१०
साक्षिवादि	८१३।४	स्मृतिप्रमोष	५४।६, १२
सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य	४९०।९	स्मृत्याभास	४१०।६
सादृश्यव्यवहार	४९३।१७	स्याच्छब्द	३।८
साधकतम	२९।१०	स्यात्कार	६९४।११
साधनवाक्य	७३८।१	स्वकारणसत्तासमवाय	१०१।५; २२०।१२
सानुतन्त्र	५५०।१९	स्वपरिणामादल्पपरिमाणकारणारम्भत्वनियम	
सामग्री	३३।८		२१५।१७
सामानाधिकरण्य	५६४।३	स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनुमानम्	४६२।६
सामान्य	२८३।१७	स्वभावहेतुद्वय	४४५।९
सामान्यमात्रे सङ्केतः	५६७।८	स्वभ्यस्ते विषये	२०१।१७
सामान्यविशेष	३६७।८	स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य	४२२।९
सारूप्य	१६९।१; २०५।१०; ६४४।२१	स्वरूपशक्ति	१९९।१
सावयव	३५३।२२	स्वसंवेदन	४७।१०
सावयवत्व	१०१।५	स्वात्मनि क्रियाविरोधात्	१८२।१४; १८७।७
साम्रवचित्तसंतान	८३९।९	हंस	४९१।१३
साम्रवचित्तसंतानलक्षणसंसारनिवृत्तिरूपमोक्ष	८३९।६	हस्तसंज्ञादि	५४२।६
मुनिचित्तासंभवाधकप्रमाण	८९।८	हस्तस्फोट	७५६।१२
मुमुक्षाद्यवस्था	८४७।१७; ८४८।६, १७	हिंसा	५९३।१३
सोमराजा	७२६।४	हीनगर्भस्थानवरीरविषयादि	८०९।१२
स्त्रीनिर्वाण	८६५।१३; ८७०।१	हीनसत्त्व	८६९।८
स्थासकोशकुशूलादि	७९२।१९	हीनस्थानपरिग्रहवत्त्व	८१०।२०
स्थितिस्थापक	२७५।७; २७९।४	हेतुमत्	३५३।१०
स्निग्धरूक्षत्वलक्षणप्रकारान्तर	२३३।११		

११२. मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम् ।

प्रकलङ्क्य० परि०—अकलङ्क्यग्रन्थपरिशिष्टम् [सिंधी जैन सीरिज कलकत्ता] ७८९.
 अद्वयवज्रसं०—अद्वयवज्रसंग्रहः [गायकबाड सीरिज बड़ोदा] ४०९.
 अद्वयवज्रसं० तत्त्वरत्ना०—अद्वयवज्रसंग्रहतत्त्वरत्नावली [गायकबाड सीरिज बड़ोदा] १२५.
 अनागारथ०—अनागारथममितम् [माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ० बम्बई] ७९९.
 अनुयोगद्वा० } अनुयोगद्वारसूत्रम् [आगमोदयसमिति अनु० सू० } सूरत] २४२, ६०५, ६०९, ६२२, ६३२, ६३६—६३८, ७८२, ७९९—८०१, ८०४—८०७.
 अनेकान्तवाद० } अनेकान्तवाद प्रवेशः [हेमचन्द्राचार्य अनेकान्तप्र० } ग्रन्थावली पाटन] ५३७, ६२०.
 अनेकान्तवादप्र० } टि०—अनेकान्तवादप्रवेशादिप्यणम् [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन] ३६९.

अनेकान्तजय० } अनेकान्तजयपताका [यशोविजय-अनेकान्त० प० } ग्रन्थमाला काशी] ५१, १४०, ५२६, ५३४, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१, ५५३—५५५, ५५९, ५६०, ५६४, ६२०, ६२१, ६४०, ८३८.
 अन्ययो०—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वान्विशतिका स्यादात्मज्यन्तर्गता [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ५६६.
 अपोहसि०—अपोहसिद्धिः [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] ५५४.
 अभि० आलोक०—अभिसमयालोकालङ्कारः [गायकबाड सीरिज बड़ोदा] ५, १२४, १२६, ३८२, ३८४, ५२४, ८३८.
 अभि० कोश } अभिषमकोशः [ज्ञानमण्डल प्रेस अभिष० } काशी] ८३, १२०, २७२, ३९१, ३९२, ३९५, ६०२.

अभिध० व्या०—अभिधर्मकोशस्य नालन्दाख्या व्याख्या
[ज्ञानमंडल प्रेस काशी] ३९२, ३९४, ३९५.

प्रमरको०—अमरकोशः [निर्णयसागर प्रेस बम्बई]
१९९, २०२, ७३८, ८०२.

श्रल० चि०—अलङ्कारचिन्तामणिः [जैनैन्द्र प्रेस
कोल्हापुर] १, ५९६.

श्रवयवनिरा०—अवयवविनिराकरणम् [एशियाटिक
सोसाइटी कलकत्ता] २२८, २३१.

अर्थसं०—अर्थसंग्रहः [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] ८७,
५७३, ५७७-५७९.

अष्टशती—अष्टशती अष्टसहस्रां मुद्रिता [निर्णयसागर
प्रेस बम्बई] ६, १०, १८, २३, ४९, ८९,
१०५, १०६, १०९, ११५, ११९, १२३, १२४,
१३६, १३९, १५५, १२३, २४३, ३६६, ३६७,
३७१, ३७४, ३८१, ३८८, ४२७, ४३८, ४५४,
४६२, ४८०, ४८७, ५०३, ५०४, ५२२, ५६५,
५६८, ६०१, ६०२, ६०४, ६०५, ६१६, ६७६,
६७७, ६८०-६८२, ७०३, ७०६, ७०८, ७१०,
७२०, ७३०, ७३१, ७३६, ७३८, ७३९, ८०९.

अष्टसह०—अष्टसहस्री [निर्णयसागर प्रेस बम्बई]
६, १०, ११, १७, १८, १९, २२, २३, २९,
४६, ४९, ५३, ७४, ८९, ९७, १०५, १०६,
१०९, ११५, ११९, १२३, १२४, १२६, १२७,
१२९-१३०, १३६, १३८, १३९, १४१, १४७,
१५१, १५५, २१६, २२५, २३०, २३३, २३६,
२४३, ३०३, ३०५, ३०७, ३५७, ३६६, ३६७,
३७१, ३७४, ३७५, ३८१, ३८२, ३८८, ३९१,
३९८, ४००, ४०२, ४१७, ४२७, ४२९, ४३८,
४५४, ४६२, ४८०, ४८७, ५०३, ५०४, ५२२,
५३४, ५४०, ५५१, ५५४, ५६५, ५६८, ५७७,
५७९, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५-५८७, ६०१-
६०५, ६१६, ६२०, ६२३, ६२८, ६४०, ६७६,
६७७, ६८०-६८२, ६८५, ७०३, ७०६, ७०८-
७१०, ७२०, ७२३, ७२६, ७३०, ७३१, ७३६,
७३८-७४३, ७८०, ७९१, ८०९, ८११, ८१४,
८२७, ८३३, ८४५.

अष्टसह० यथो०—अष्टसहस्रीविवरणं यथोविजय-
अष्टसह० विव० [कृतम् [जैनग्रन्थप्रकाशक सभा
राजनगर] ५८३, ५८४, ६८७.

आत्मत० { आत्मतत्त्वविवेकः [जीवानन्द विद्या-
आत्मतत्त्ववि०] सागर कलकत्ता] ४४३, ८४७.

आत्मानु०—आत्मानुशासनम् प्रथमगुच्छकान्तगतम्
[प्र० पन्नालाल जैन भवनी काशी] ३९३.

आविपु०—आविपुराणम् [जैनसिद्धान्तप्रकाशशिनी संस्था
कलकत्ता] ७७८.

आध्यात्मिक०—आध्यात्मिकमतपरीक्षा यथोविजय-
ग्रन्थमालान्तर्गता [जैनधर्मप्रसारक सभा भाव-
नगर] ८५२, ८५३.

आप्तप०—आप्तपरीक्षा [जैनसिद्धान्तप्रकाशशिनी संस्था
कलकत्ता] ४, ५, १९, ८९, ९४, ९७, १०९,

११९, १२४, १३३, १५२, १८२, १८७, १८८,
१९०, १९१, २३७, २४५, २९७, २९८, ३०२,
३६४, ३६५, ४९०, ६२४, ६२६, ६४०, ६८२,
७३४, ७३५, ७७६, ८०९-८१३, ८१७-८१९,
८३९, ८४२.

आप्तमी०—आप्तमीमांसा [जैनसिद्धान्त प्रकाशशिनी
संस्था कलकत्ता] १५, १६, २२, २३, १२४,
१३९, १५५, २०९, २३६, ३०५, ३५७, ३६६,
३७४, ३७५, ३८२, ४०१, ५२२, ६००, ६०५,
६०६, ६२३, ६९७, ८१२, ८४३.

आवश्यकनि०—आवश्यकनिर्मितः [आगमोदय समिति
सूरत] ८२, ११५, १७३, ६०९, ६२२, ६३२,
६३६, ६३८, ७८२, ७९९.

आव० नि० मलयग०—आवश्यकनिर्मितमलयगिरि-
टीका [आगमोदय समिति सूरत] ६०५, ६०६,
६७४, ६८६, ६८८, ६९१, ७९३, ८००.

आव० नि० हरि०—आवश्यकनिर्मितहरिप्रदीपटीका
[आगमोदय समिति सूरत] १७३.

आ० वि०—आदर्शपुस्तकान्तर्गता वृद्धिता विवृतिः ६३७.
आयंरत्नावली—माध्यमिकवृत्तौ निदिष्टा । ४८४.

आलापपद्धतिः—देवसेनकृता नयचक्रसंग्रहान्तर्गता
[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] २३, ६०६,
६०७.

इष्टोप० टी०—इष्टोपदेशटीका [माणिकचन्द्र ग्रन्थ-
माला बम्बई] ६७४.

उत्तरपु०—उत्तरपुराणम् [जैनसिद्धान्त प्रकाशशिनी
संस्था कलकत्ता] ७७३.

उत्तरा०—उत्तराध्ययनसूत्रम् [आगमोदय समिति
सूरत] ६३२, ६४६, ६६९, ७७८, ७९१,
८३०.

उत्तराध्यय० पाठ्यटीका—उत्तराध्ययनसूत्रस्य शास्त्र्या-
चार्यविरचिता टीका [आगमोदय समिति सूरत]
८६५.

उपायहृदय०—उपायहृदयम् [गायकबाड सीरिज बड़ौदा]
३१२, ३११-३२६, ३२९.

ऋग० पुस्त०—ऋग्वेदस्य पुस्तपुस्तम् [आनन्दाश्रम
सीरिज पुना] ७७०.

बोधनि० टी०—बोधनिर्मितटीका [आगमोदय
समिति सूरत] ८७३.

कटीप०—कटीपनिषत् [निर्णयसागरप्रेस बम्बई] १४७.

कर्मग्र०—कर्मग्रन्थाः [आत्मानन्दसभा भावनगर] ८०१.

कर्मग्र० टी०—कर्मग्रन्थटीका [आत्मानन्दसभा भाव-
नगर] ६७४.

कल्पसू०—कल्पसूत्रम् [जैन साहित्यसंशोधक ग्रन्थमाला
अहमदाबाद] ८६८.

कशुर०—कशुरोपनिषत् [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] १४९.

कात्यायनवातिक०—कात्यायनप्रणीतं वातिकम् ६.

कादम्बरी—[निर्णयसागर प्रेस बम्बई] ११३.

काललोको०—काललोकप्रकाशः [देवचन्द्र लालभाई
फंड सूरत] ८५५.

काव्यमी०—काव्यमीमांसा [गायकवाड सीरिज बड़ौदा] ७३८.

काव्यप्र०—काव्यप्रकाशः [बम्बई युनि० सीरिज] ५६७, ५६८, ६००.

काव्यप्र० टी०—काव्यप्रकाशटीका [बम्बई युनि० सीरिज] ६९३.

काव्यानुशा०—काव्यानुशासनम् [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] २, ५६७.

काव्या० रुद्र० नमि०—रुद्रट्टकृतकाव्यालङ्कारस्य नमि साधुविरचिता टीका [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] ७६४.

काशिका—मीमांसाश्लोकवार्तिकस्य सुचरितमिश्रविरचिता काशिका टीका [त्रिवेन्द्रम्] ६९८, ६९९, ७६०.

कर्मपू०—कर्मपुराणम् ६३४.

केवलभू०—केवलभूतितप्रकरणम् [जैनसाहित्य संशोधकपत्रे मूद्रितम्] ८५२-८५५, ८५८.

को० ब्रा०—कोशीतकित्नाहणम् १४८.

क्षणभङ्गाध्यायः—ज्ञानश्रीकृतः भिक्षुराहुलसांक्रुत्यायन-सत्कः ५५२.

क्षण० सि०—क्षणभङ्गसिद्धिः [एशियाटिक सो० कलकत्ता] ९, ४४५, ४७६.

खंडनखंड०—खण्डनखंडखाद्यम् [लाजरस कं० काशी] २३७, ४१२.

गच्छा० वृ०—गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्तिः [आगमोदय समिति सूरत] ८७६.

गुरुतत्त्ववि०—गुरुतत्त्वविनिश्चयः [आत्मानन्द सभा भावनगर] ६०५, ६८६-६८८, ६९१.

गुह्यसूत्रं—गुह्यसूत्रम्, बोधिचर्यावतारपञ्जिकायामुद्धृतम् ८४०.

गो० कर्मका०—गोम्मतसारकर्मकाण्डम् [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ८५९, ८६२, ८७१.

गो० जीव०—गोम्मतसारजीवकाण्डम् [रायचन्द्रशास्त्र-माला बम्बई] ८०१, ८५६, ८५९, ८७४, ८७७.

गोडपादभा०—सांख्यकारिकागोडपादभाष्यम् [चौखम्बा सीरिज काशी] १८९, १९०, ८१३, ८१४.

चतु० शा०—चतुःशतकम् [विश्वभारती ग्रन्थमाला शान्तिनिकेतन] १६, ८१, ८२, ८६, ८१९, ८३९.

चतुःशतकवृ०—चतुःशतकवृत्तिः [विश्वभारती ग्रन्थ-माला शान्तिनिकेतन] ७९.

चन्द्रप्रबच०—चन्द्रप्रबचरितम् [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] १८६.

चरकसं०—चरकसंहिता [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] २५, ३०९, ३१०, ३१२-३१४, ३१६, ३१८-३२१, ३२५-३२७, ३३०-३३३, ३३७, ५०३.

चित्सुखो—तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] ६३, २३७, २८५, २९२, ४१५, ४२०, ४२९, ४६६, ५३७, ५७०, ६६८, ६६९, ८२४, ८२५, ८२७, ८३१, ८३२.

छक्खंडा—छक्खंडागमः [जैनसाहित्योद्धारक फंड अमरावती] ८००, ८०१, ८५६.

छन्दोसं०—छन्दोमञ्जरी [जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता] २७८.

छान्दोग्यो०—छान्दोग्योपनिषत् [निर्णयसागर प्रेस बम्बई] १४७, ८२७, ८३०, ८३७.

छान्दो० शा० भा०—छान्दोग्योपनिषत्-शाङ्करभाष्यम् [गीता प्रेस गोरखपुर] ८२५.

जयध०—जयधवलाटीका, धवलाटीकायाः प्रस्तावना-टिप्पणयोः समुद्धृता ६०७, ६२२, ६३८.

जयम०—सांख्यकारिकायाः जयमङ्गलाटीका [कलकत्ता] ६२७, ६२८, ८१३, ८१४.

जाबाल०—जाबालोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] ६३४.

जैनतर्कभा० } जैनतर्कभाषा [सिंधी जैन सीरिज
जैनतर्कपरि० } कलकत्ता] २३, ७४, ११६, १५८,
जैनतर्कपं० } ४०७, ४१०, ४११, ४१८, ४२२,
४३५, ४४०, ४४५, ४५९, ४९०, ४९२, ५००,
६१०, ६२२, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६५०,
६८६, ६८७, ७९३, ७९९, ८००, ८५४.

जैनतर्कवा०—जैनतर्कवातिकम् [लाजरस कं० काशी] २०, २३-२५, ७४, १२६, ४६४, ४८९, ५१३, ५४३.

जैनतर्कवा० वृ०—जैनतर्कवातिकवृत्तिः [लाजरस कं० काशी] ३६९, ४०७, ४०८, ४४०, ४७२.

जैनेन्द्रव्या०—जैनेन्द्रव्याकरणम् [जैनसिद्धान्तप्रकाशनी संस्था कलकत्ता] ४४९, ६०४, ६१७, ६४१, ७६६.

जैनेन्द्रप्र०—जैनेन्द्रप्रक्रिया पं० बंशीधरकृता [सोलापुर] ६४१.

जैमिनि०—जैमिनिसूत्रम् ५२३, ५४५, ५५१, ५६६, ७०१, ७२२, ७३५, ७७७.

जैमिन्यायमाला—[चौखम्बासीरिज काशी] ५७६, ५७८, ५७९, ५८२, ७५७.

ज्ञानवि०—ज्ञानविन्दुः यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गतः [जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर] ८३८.

ज्ञानसि०—ज्ञानसिद्धिः वालिडीग्रन्थान्तर्गता [गायक-वाड सीरिज बड़ौदा] ५४७.

ठाणांगवि०—ठाणांगविस्ती [आगमोदय समिति सूरत] ८६३.

तत्त्ववि०—तत्त्वचिन्तामणिः [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] ७१६.

तत्त्ववि० अनु०—तत्त्वचिन्तामणि-अनुमानग्रन्थः । [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] ४२८, ५३९.

तत्त्ववि० अव०—तत्त्वचिन्तामणि-अवयवग्रन्थः [एशि-याटिक सोसाइटी कलकत्ता] २.

तत्त्ववि० व्या०—तत्त्वचिन्तामणिव्याप्तिग्रन्थः ४१९.

तत्त्ववि० शब्द०—तत्त्वचिन्तामणि-शब्दग्रन्थः ७१३, ७२०, ७२६, ७३६, ७५८, ७६१.

तत्त्ववि०—तत्त्वविन्दुः [अग्रमलय यूनि० सीरिज] ६८९.

तत्त्वमी०-तत्त्वमीमांसा सांख्यसंग्रहान्तर्गता [चौखम्बा
सीरिज् काशी] ८१६.

तत्त्वयाया०-तत्त्वयायाथर्थादीनमृत् सांख्यसंग्रहान्तर्गतम्
[चौखम्बा सीरिज् काशी] ११०.

तत्त्वसं०-तत्त्वसंग्रहः [गायकवाड सीरिज् बड़ौदा]

७-१०, २०, २३, २५, ४६, ४८, ६८-७०,
७३, ८६, ८७-९०, ९४, ९७, ९८, १०७-
१०९, ११२, ११३, ११७, ११८, १२२, १२५,
१४२, १४६, १४७, १०३, १५५, १६६, १६८,
१९३-१९६, १९८, २०१-२०३, २०५, २०८,
२२३-२२८, २३१, २४२, २५१, २५४, २५८,
२७५-२७७, २७९-२८१, २८३, २८४, २८७-
२८९, २९२-२९४, ३००, ३०१, ३४२, ३४३,
३४६, ३५०, ३५४, ३५८, ३६०, ३६९, ३७३,
३७४, ३७६-३७८, ३८०, ३९८, ४०७, ४३४,
४३६, ४३९, ४४२, ४४४, ४४५, ४५२, ४५३,
४६४, ४६६-४६८, ४८०, ४८९, ४९०, ४९२,
४९३, ४९९, ५०३, ५०५, ५०८, ५१५, ५१६,
५३१, ५३६, ५४३, ५४४, ५४५, ५४९, ५५२, ५५४,
५५७, ५६३, ६०१, ६२३, ६२६, ६२९, ६३६,
६५५, ६७२, ६८०, ६९८, ७००, ७०२, ७०३,
७०९, ७११, ७१२-७१७, ७२३, ७२९, ७३०,
७३४-७३६, ७४९, ७५०, ७५१, ७५६, ७७०,
७७३, ७७४, ८११, ८१९, ८३९, ८४८.

तत्त्वसं०-तत्त्वसंग्रहपञ्जिका [गायकवाड सीरिज्
बड़ौदा]

६, ७, २३, २६, ४६, ८२, ८३,
८६-९२, ९४, ९६, ९८, १०४, १०७, ११३,
१२२, १२३, १३१, १४०-१४३, १४५, १४६,
१५०, १५३, १८९, २०१-२०३, २१७, २२६,
२२९, २३६, २७६, २८४, २८८, ३४१, ३४२,
३४४, ३४६, ३४७, ३५५-३५७, ३६४, ३७७,
३७८, ३८३, ३८६, ३९०, ३९२, ४१०, ४१३,
४४४, ४५२-४५३, ४६४, ४६६-४६८, ४७५,
४९५, ५०२, ५०५, ५४३-५४५, ५४७, ५५१-
५५७, ५९६, ६३३, ६३६, ६५८, ७००, ७०९,
७११, ७१३-७१५, ७३०, ७४९, ७५०, ८३९,
८४०, ८४८.

तत्त्वानु०-तत्त्वानुसामनम् [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
बम्बई] ८०१.

तत्त्वार्थभा०-तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम् [आर्ह त्रिभाकर-
कार्यालय पुना] ३, २३, ११५, ११६, १६५,
१७२, २५०, २५४, ४६६, ६०६, ६०९, ६१०,
६२३, ६३२, ६३६-६३८, ६४७, ७८३, ७९९,
८००, ८६३, ८६८.

तत्त्वार्थभा० टी० } तत्त्वार्थभाष्यस्य सिद्धसेनीय-
तत्त्वार्थभा० व्या० } व्याख्या [देवचन्द्रलालभाई
तत्त्वार्थसिद्ध० } फंड सरत] ८३, २५४-२५६,
३६९, ४०७, ४११, ४१८, ४५७, ६०६, ६०७,
६१०, ६२२, ६३२, ६३६-६३८, ६७०-६७२,
६८७, ६९४, ६९५, ७५४, ८०३, ८१२, ८२९, ८६८.

तत्त्वार्थराजवा०-तत्त्वार्थराजवातिकम् [जैनसिद्धा-
राजवा०] न्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]

४, १४, २१-२३, २५-२७, ४६, ५१, ७८,
८१-८३, ८६, ११०, ११५, ११६, १५८,
१६५, १७३, २३६, २४७, २५५, २५८, ३०३,
३४१, ३५०, ३६८, ३६९, ३९१, ३९५, ४५७,
६०६, ६०७, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८,
६४७, ६७२, ६८६, ७५६, ७८७, ७९१, ७९३,
७९९, ८००, ८०६, ८०७, ८१०, ८१२, ८२९,
८५८, ८५९, ८६२, ८७३, ८६७, ८६८, ८७३,
८७८.

तत्त्वार्थ० श्लो० } तत्त्वार्थश्लोकातिकम् [निर्णय-
तत्त्वा० श्लो०] सागर प्रेस बम्बई]

४-६, ११,
१४, १७-२०, २२, २३, २५, २७, २९, ४०,
४७, ४८, ५०, ५१, ६६, ६७, ७४, ७८-८३,
८६, ८७, ९७, १०४, १०६, १०९, १११, ११५,
११६, १२४, १२७, १३०, १३२, १३३,
१३७-१४०, १४२, १४७, १५५, १५८,
१७१-१७३, १७६, १७७, १८५-१८७, १८९,
१९०, १९८, २०१, २०५, २०९, २१०, २१६,
२३९, २४२, २४७, २५०, २५४, ३०२,
३०३, ३०५-३०८, ३२९, ३३८-३४१, ३४३-
३४५, ३४९, ३६४, ३७१, ३७४, ३७५, ३८४,
३९५, ३९८, ४०४, ४०६, ४१०, ४१८, ४३१,
४३२, ४३४, ४३५, ४३९, ४४०, ४४१, ४४३,
४४८, ४५०, ४६८, ४९९, ५०२, ५०४, ५०५,
५१३, ५२२, ५२४, ५२५, ५५९, ५६०, ५६८,
५७०, ५७७, ५७९, ५८२-५८७, ५९३, ६०३,
६०६, ६१०, ६२१, ६२४, ६३०, ६३३, ६३६,
६३८, ६४०, ६६१, ६६४, ६७४, ६८२, ६८५,
६८६, ६९२, ७०३, ७१२, ७१३, ७२०, ७२६,
७३५, ७३६, ७३९, ७४०, ७५२, ७५४, ७५६,
७६२, ७६५, ७८३, ७९०, ७९३, ७९९, ८००,
८०४-८०७, ८११, ८१२, ८४२, ८४५, ८५८,
८६२, ८६३, ८७८.

तत्त्वार्थसारः-प्रथममुच्छकालांतर्गतः [प्र० पन्नालालजी
चौधरी भवनी काशी] २३, २५, ३२, १५८,
१६५, ६०६, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६,
६३८.

तत्त्वा० सू०-तत्त्वार्थसूत्रम्-सर्वार्थसिद्धिसम्मतसूत्रपा-
ठाश्रितम्। ३, २०, २४, १५५, १५८, १७३,
२१६, २५०, २५४, ३४०, ४०३, ४०५, ६०५,
६३२, ६४६, ६५१, ६६९, ७८२, ७८७, ७९१,
७९९, ८००, ८०१, ८०६, ८१२, ८३०, ८४१,
८४६, ८६२, ८६३, ८६५, ८६८.

तत्त्वार्थहरि०-तत्त्वार्थाधिगमभाष्यहरिभट्टीया वृत्तिः
[आत्मानन्दसभा भावनगर] ६०६, ६०७,
६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ८१२.

तत्त्वार्थाधि० सू०-तत्त्वार्थाधिगममूलम्, भाष्यसम्मत-
सूत्रपाठाश्रितम्। १७३, २५४, ७८२.

तत्त्वोप०—तत्त्वोपप्लवसिंहः [गायकवाड सीरिज बडौदा] ८, ४०, ५८, ६९, १२६, २१९, ३००, ३४१, ३६०, ३६९, ३७९, ३७७, ४२०, ५२५, ६२८, ६९६, ६९८, ७२५, ७२६, ७२८, ७६२, ७६४.
तन्त्रवा०—तन्त्रवातिकम् [आनन्दाश्रम सीरिज पूना] ४०७, ५६६-५६८, ५७६, ५७७, ५७९, ५८०, ७५७, ७५८, ७६०, ७६१, ७६७-७६९.
तन्त्रवा० न्यायसु०—तन्त्रवातिकस्य न्यायसुधाव्याख्या न्यायसु० { चौखम्बा सीरिज काशी] ५७४, ५७७, ५७९, ५८२, ५८८, ५९२, ७६८, ७६९.
तन्त्ररह०—तन्त्ररहस्यम् [गायकवाड सीरिज बडौदा] ४०६, ४०८, ४७४, ४८९, ५०६, ५७७, ५७९, ५८२, ५८३, ५९३, ६६६, ६६७, ६९८ ६९९, ७२२.
तर्कभा०—तर्कभाषा केशवमिश्रकृता २१, २४, २५.
तर्कभा० मो०—तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्तकृता [मुनि-पुण्यविजयसत्का लिखिता] ४११, ४२३, ४४३, ५५१, ६०१.
तर्कसं० अनु०—तर्कसंग्रहः अनुमानखण्डम् ८२६.
तर्कसं० बी०—तर्कसंग्रहदीपिका टीका २१, ४९६.
तर्कशा०—तर्कशास्त्रम् श्रीदिङ्नागबुद्धिष्टलौकिकान्त-गंतम् [गायकवाड सीरिज बडौदा] ३२३-३३५.
ता० प०—तात्पर्यटीकायाः परिशुद्धिटीका [एशिया-टिक सोसाइटी कलकत्ता] ४१९, ४२८.
तैत्ति०—तैत्तिर्युनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] १५१, ८३१.
तैत्ति०—तैत्तिरिंहिता । ७६१.
तोता०—तोतातितमतिलकम् [सरस्वती भवन काशी] ५६८, ५९३, ७२०, ७५७, ७५९, ७६१.
त्रि० प्रा०—त्रिविक्रमकृतं प्राकृतव्याकरणम् [चौखम्बा सीरिज काशी] ७६४.
त्रिलोकसा०—त्रिलोकसारः [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] ८६७, ८७१.
त्रिषष्टि०—त्रिषष्टिशलाकपुरुषचरित्रम् [जैनधर्म-प्रसारकसभा भावनगर] ८५५.
त्रैलोक्यदी०—त्रैलोक्यदीपकम् ८६७.
वश०—वशवैकालिकसूत्रम् [आगमोदय समिति सूरत] ८६८.
द्रव्यसं०—द्रव्यसंग्रहः [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ६४६, ६६९.
धम्मप०—धम्मपदम् [महाबोध सो० सारनाथ] ७७८.
द्वात्रि०—द्वात्रिंशद्वात्रिंशतिका यशोविजयकृता [जैन-धर्मप्रसारकसभा भावनगर] ८५४, ८५५.
द्रव्यानुयोगत०—द्रव्यानुयोगतर्कणा [रायचन्द्रशास्त्र-माला बम्बई] २५४,
धर्मप०—धर्मपरीक्षा अमितागतिकृता ७७३, ७७८.
धर्मबि० टी०—धर्मबिन्दुटीका [एशियाटिक सो० कलकत्ता] ८२४.

धर्मसारप्रकरणम्—स्याद्वादरत्नाकरे उद्धृतम् । ४५५.
धर्मसं०—धर्मसंग्रहणी [आगमोदय समिति सूरत] २५४, ६४०, ८२४.
धर्मसं०—धर्मसंग्रहः [ग्रॉक्सफोर्ड युनि० सीरिज] ६०२, ८४६, ८५६.
धर्मसं० वृ०—धर्मसंग्रहणीवृत्तिः [आगमोदय समिति सूरत] ५५३.
धवला० टी०—धवलाटीका [जैन साहित्योद्धारकफंड छबलंड० टी०] अमरावती] ५९९, ६०६, ६०७, ६२२, ६३२, ६३३, ६३६, ६३८, ६५६, ६५७, ७३५, ७३९, ८००, ८०२, ८०३, ८०६, ८०७, ८५६, ८७४, ८७७.
धवला० टी० वेदनाखंड०—धवलाटीकायाः वेदनाखंडः मुद्रितधवलाटीकायाः प्रस्तावनायामुल्लिखितः ६०६.
ध्वन्या० टी०—ध्वन्यालोकस्य लोचनटीका [निर्णय-सागर प्रेस बम्बई] ७४९.
नवि० मलय०—नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका [आगमोदय समिति सूरत] ४६६, ५४८, ६७४, ८६५-८६७.
नयचक्रं { नयचक्रसंग्रहः [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला नयचक्रसं०] बम्बई] २३, ६०६, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६८६.
नयचक्रवृ०—नयचक्रवृत्तिः लिखिता [श्वे० मन्दिर रामघाट काशी] ३६९, ३७१, ४५४, ४६२, ५३७, ५५३, ६०६, ६०७, ६२८, ६३६, ६३८, ७३९, ८००.
नयप्रदीपः—यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गतः [जैनधर्म-प्रसारक सभा भावनगर] ६०६, ६९२, ७९३.
नयरहस्यम्—यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गतम् ६०६.
नवतत्त्व०—नवतत्त्वगाथा ६६९.
नयविव० { नयविवरणम् प्रथमगुच्छकान्तर्गतम् [प्र० नयवि०] पन्नालाल चौधरी भद्रेनी काशी] ४७९, ४८९, ५०६, ६०६, ६१०, ६२१, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ७०१-७०३, ७२१, ७९३.
नयोप० वृ०—नयोपदेशवृत्तिः यशोविजयग्रन्थमालान्त-र्गता १४०, १४१.
नाट्यशा०—नाट्यशास्त्रम् [गायकवाड सीरिज बडौदा] ७३७, ७५६, ७६४.
नियम०—निययसारः [जैनग्रन्थरत्नाकर बम्बई] ८०१, ८४५.
नैरात्म्यप०—नैरात्म्यपरिपुच्छा [विश्वभारती शान्ति-निकेतन] ६३३, ६८४, ८४०.
नैषध०—नैषधीयं चरितम् [वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई] ७७२.
नैषध० टी०—नैषधीयचरितटीका [वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई] ७७३.
न्यायकलि०—न्यायकलिका [सरस्वतीभवन काशी] १५७, ३१०, ३१२-३१६, ३१८-३२२, ३३५, ४१९, ४३१, ४४२, ४४३, ४९६.

न्यायकु०—न्यायकुसुमाञ्जलिः [चौखम्बा सीरिज काशी] २४, ९८, १०३, १५९, २०५, ४०७, ४४४, ४४५, ४८९, ४९६, ४९७, ५१३, ५१६, ५१८, ५३६, ५७७, ५७९, ५८०, ५८८, ६०५, ६७२, ६८६, ७२७.

न्यायकु० प्रका०—न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशः [चौखम्बा सीरिज काशी] २.

न्यायकुमु०—न्यायकुमुदचन्द्रेः प्रस्तुत ग्रन्थः ४२०, ६१३, ६३३, ६८२, ६८५.

न्यायको०—न्यायकोशः [बम्बई युनि० सीरिज] २८२, ६९३.

न्यायवी०—न्यायवीपिका [जैनसिद्धान्त प्र० संस्था कलकत्ता] २५, ४१०, ४१८, ४३५, ४४०.

न्यायपरि०—न्यायपरिशुद्धिः [चौखम्बा सीरिज काशी] ५८२, ७२६.

न्यायप्र०—न्यायप्रवेशः [गायकवाड सीरिज बड़ौदा] ४६, ६९, ४३४, ४३५, ५८८, ६०१, ६७९, ५३३.

न्यायप्र० वृ०—न्यायप्रवेशवृत्तिः ४६, ३३३, ४३८, ५३३.

न्यायप्र० वृत्तिपं०—न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका २, ६, ५३४, ५३६.

न्यायप्र०—न्यायविन्दुः [चौखम्बा सीरिज काशी] २३, २४, ४६, ४७, ५१, ६९, १२०, १६६, २०५, ३७०, ३८२, ४३५, ४३९, ४४४, ४५०, ४६२, ५२३, ५२८, ५९८, ५९९, ६२७, ६७९, ६८१, ८५३.

न्यायवि० टी०—न्यायविन्दुटीका [चौखम्बा काशी] २०, २३, २५, २६, ४८, ५०, ४०६, ४१९, ४३६, ४३८, ४८७, ५२३, ६६१, ६८०, ६८२.

न्यायवि० टी० टि०—न्यायविन्दुटीकाटिप्पणी [विब्लो-थिका बुद्धिका राशिया] ४६, १४० ५२५.

न्यायबो०—सर्कसंग्रहस्य न्यायबोधिनी टीका [निर्णय-सागर बम्बई] २५.

न्यायभा०—न्यायभाष्यम् [गुजराती प्रेस बम्बई] २, ३, ९, १६, १८, १७-२३, २५, २७, २८, ४२, ७६, ७९, ८७, ९७, १०९, १२७, १३९, १५०, १५६, १८२, १९३, १९४, २०८, २२०, २२४, २३४, ३०९-३३५, ३३७, ३४८, ४११, ४९६, ५०३, ५१२, ५३५, ५३६, ५३९, ५६३, ५८८, ६०१, ६६७, ७१५, ७२०, ७५०, ८२४, ८३१, ८३४-८३६, ८३८.

न्यायमो०—न्यायमञ्जरी [विजयानगर सीरिज काशी] ६, ७, १५, १६, १८, २०, २१, २४, २८-३०, ३२-३८, ४१-४५, ५१, ५४, ६०-७३, ७७, ७९, ८२, ८६, ९८, १०७, १०९, १२४, १२६, १२९, १३३, १३९, १४०, १४७, १४८, १४९, १५३, १५५, १५६, १५८, १५९, १६६, १७२, १७७, १९३-१९६, २०१, २०५, २०८, २२४, २४०, २५१, २८८-२९०, ३१०, ३१२-३१५, ३१७-३२२, ३३३-३३७, ३३९, ३४०, ३४२, ३४६,

३४७, ३४९, ३५७, ३७६, ३८०, ३८१, ३८४-३८६, ३८८, ४०१, ४०८, ४११, ४१६, ४१९, ४२२, ४३१, ४३८, ४४२, ४४४-४४८, ४४९, ४६७-४७२, ४७७, ४७८, ४८१, ४८२, ४९१-४९३, ४९५-४९९, ५०९-५१२, ५१४-५२०, ५३१-५३५, ५३७, ५३९-५४२, ५४४-५४८, ५५०, ५५३, ५६१-५६४, ५६९, ५७०, ५७३, ५७४, ५७७, ५८१, ५८३, ५८४, ५९३, ५९६, ५९८, ६६१, ६६४, ६८९, ७०३-७०५, ७०८, ७२३, ७२५, ७२८, ७२९, ७३१, ७३८, ७५०, ७५२, ७५५, ७५७, ७५८, ७६१, ७६८, ८०९, ८१४, ८२०, ८२३, ८२५, ८३१, ८३३-८३७.

न्याय० मा० } न्यायरत्नमाला [चौखम्बा सीरिज न्यायरत्नमा० } काशी] ४१९, ४२३, ४२८, ३१, ५७७, ५७८, ५९३, ६९८, ७०१-७०३, ७११, ७१४, ७१५, ७४२.

न्यायमूलप्रकरणम्—तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायामुद्धृतम् ४३५.

न्यायली०—न्यायलीलावती [निर्णयसागर बम्बई] २, ६०, ९७, १०९, १२४, २२८, २४०, २७८, ४१९, ४४३, ५०१, ५१२, ५१६, ७२९.

न्यायली० कण्ठा०—न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम् [चौखम्बा सीरिज काशी] २८२.

न्यायली० प्रकाश—न्यायलीलावतीप्रकाशः [चौखम्बा सीरिज काशी] २४१.

न्यायवा०—न्यायवातिकम् [चौखम्बा काशी] १६, १८, २१-२३, २५, २८, २९, ३४, ७५-७७, ७९, ८२, ९८, ९९, १०७, १०९, १३९, १५६, १५८, १९४, २०८, २२४, २२९, २६९, २८४, २९५, ३१०-३२२, ३८८, ३३०-३३४, ३४०, ३५७, ३८७, ४०६, ४११, ४२८, ४३४, ४६२, ४६८, ४९६, ५१२, ५३५, ५३६, ५५९, ५६१, ५६२, ५६४, ५६९, ५८८, ६४६, ६६७, ७०३, ७०८, ७२०, ७३०, ७३८, ७५०, ७५७, ७५८, ८३३-८३६, ८३८.

न्यायवा० ता० } —न्यायवातिकतात्पर्यटीका

न्यायवा० ता० टी० } [चौखम्बा सीरिज काशी] ६, २०, २७, २९, ४०, ४६, ५१, ५४, ५६, ६०-६३, ७५-७७, ८२, ९८, ९९, १०७, १०९, १२९, १३९, १४६, १५८, १५९, १९४, २०५, २२४, २२८, २२९, २३६, २९५, ३१०, ३१२-३२०, ३२३, ३८०, ४०८, ४०९, ४१४, ४१९, ४२७, ४२८, ४३८, ४४२, ४४३, ४४८, ४५०, ४६१, ४६२, ४९६, ५१६, ५१८, ५१९, ५२६, ५३४, ५४०, ५५९, ५६०, ६६७, ७०८, ७१६, ७३८, ७५२, ७५८, ७६१, ८३४, ८३५.

न्यायवि०—न्यायविनिश्चयः अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गतः [सिधौ सीरिज कलकत्ता] १७, ४०, ७३, ९३, १२३, १२९, १३९, १६६, १६८, १७१, १७८, १८५, १८६, १८९, २०९, २२७, २२८,

२३३, २३४, ३००, ३३९, ३४४, ३४७, ३६९, ३८९, ३९८, ४३३, ४३५, ४४३, ५३८, ५४७, ६०७, ६२१, ६३२, ६३३, ६८२, ६९२, ६९७, ७१९, ७३६, ७८२, ७९१, ८११.

न्यायवि० टि०—न्यायविनिश्चयटिप्पणम् [सिंधी सीरिज कलकत्ता] ६८२, ७२९.

न्यायविनिश्चयटीका } न्यायविनिश्चयविवरणम् [स्या-
न्यायविनि० वि० } द्वाद विद्यालय काशी] १,

२, ५, २४, २५, २६, ३४, ३५, ४९, ५१, ५२, ६०, ७८, ८३, ८९, ९७, १२४, १२७, १२९-१३३, १४१, १४९, १५५, १६५, १७२, १७६, १८३, १८५, १९०, १९४, २५३, २८८, ३००, ३२९, ३४१, ३४५, ४०४, ४०९, ४३४, ४५७, ४६४, ५२४, ५२५, ५२६, ६२०, ६३०, ६४०, ६६१, ६७८, ७४९, ७५०, ८१३, ८१४, ८३८, ८४०, ८४२.

न्यास०—काशिकान्यासः [कलकत्ता] ७६०.

न्यायसारः [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] २४, २५, ३१४-३१६, ३१८-३३२, ३३५, ४१९, ४३४, ४३५, ४४२, ५१२, ७०८, ८२३.

न्यायसारटी०—न्यायसारटीका ८२, ४०८, ४३८, ८२५, ८२६, ८२७.

न्यायसि० सं०—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी [न्यायकोशे उद्धृता] २४, २५०.

न्यायसू० } न्यायसूत्रम् १६, १८, २२, २५, २८, ७६,

न्यायसू० } ७९, ८२, ८७, ९७, १०९, १३९, १५६, १८५, १९३, १९४, २२४, २३३-२३५, २३८, २६९, २७०, ३०९, ३१०, ३१२-३१६, ३१८-३३५, ३३८, ३४६-३४९, ४०७, ४१८, ४३४, ४६८, ४८२, ४९९, ५१२, ५२३, ५३६, ५३८, ५९८, ७२०, ७३७, ८२४, ८२९.

न्यायसू० वृ०—न्यायसूत्रवृत्तिः [चौखम्बा सीरिज काशी] २१, २४, ४१९.

न्यायावता० } न्यायावतारः [श्वेताम्बर काम्पेन्स

न्यायाव० } बम्बई] २३, २४, २७, ६६, २०९, ४२३, ४३४, ४३५, ४३७, ६२२.

न्यायाव० टी० } न्यायावतारटीका २६, ४३६,

न्यायावता० टी० } ४३७, ४४०, ४६४, ४६८, ४९०, ४९२, ५३७, ५६५, ६०६, ६२१, ६३२, ६५०, ६८६, ६८७.

न्यायाव० टी० टि० } न्यायावतारटीकाटिप्पणम् २,

न्यायाव० टि० } २६, ६९३, ७३८.

पंचसं०—पञ्चसंग्रहः [पं० परमानन्द जी सरसावा]

८७४, ८७७.

पञ्चास्तिका०—पञ्चास्तिकायः [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] २४९, २५०, ३४०, ६०५, ६०७, ६३२, ६४६, ७९१.

पञ्चा० टी०—पञ्चास्तिकायतात्पर्यटीका [रायचन्द्र शास्त्रमाला] २४७.

पञ्चा० तत्त्वप्र०) पञ्चास्तिकायतत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः

पञ्चा० तत्त्व० [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ३, ४.

पञ्चाध्यायी [कारञ्जा आश्रम] २३, २४, २७, ७९९, ८००.

पत्रप०—पत्रपरीक्षा [जैनसिद्धान्तप्र० कलकत्ता] ७, १०.

पदार्थटी०—पदार्थदीपिका ५६८.

पद्यपु०—पद्यपुराणम् [माणिकचन्द्र ग्र० बम्बई] ७७३, ७७८.

परमलघु०—परमलघुमञ्जूषा [चौखम्बा सीरिज काशी] ७४६.

परमात्मप्र०—परमात्मप्रकाशः [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ६३२, ७९१.

परिशिष्टपत्रं—परिशिष्टपत्रं त्रिषष्टिशलाकाचरित्रान्तर्गतम् ८३७.

परीक्षामु०—परीक्षामुखसूत्रम् २३-२५, २७, ७३, ७४, १६५, २०९, २१०, ४०७, ४११, ४१५, ४१८, ४१९, ४२३, ४३४, ४३५, ४५०, ४५१, ४६०, ५००, ५०१, ५०४, ५२०, ५३०, ५३८, ६५६, ६६४, ६८२, ७८३.

पाणिनिव्या०—पाणिनिव्याकरणम् ७३७, ७६०, ७९६.

पात० महाभा०—पातञ्जलमहाभाष्यम् [चौखम्बा सीरिज काशी] १, ६८, २७५, ३३३, ४०१, ५५०, ६०५, ६०७, ६४६, ७३८, ७५७-७६०, ७६५, ७७८.

पात० रह०—पातञ्जलरहस्यम् साङ्ख्ययोगदर्शान्तर्गतम् [चौखम्बा सीरिज काशी] ६२८, ८१५.

पात्रक्रे०—पात्रक्रेसिस्तोत्रम् प्रथमगुच्छकान्तर्गतम् [प्र० पन्नालालजी चौधरी काशी] ७२९.

प्रक० } प्रकरणपञ्जिका [चौखम्बा सीरिज

प्रकरणपं० } काशी] २४, २५, ५१-५४, ६९, ७६, ७७, ८२, १०९, १६४, १७५, ३४२, ४०६, ४०८, ४१९, ४२८, ४२९, ४३१, ४४६-४४८, ४५०, ४६१, ४७४, ४८९, ४९१, ४९८, ५०५, ५०६, ५१८, ५४५, ५६८, ५८०, ५८१, ५८३, ६६६-६६८, ६९७, ६९९, ७२१, ७२२, ७६९.

प्रज्ञापना—प्रज्ञापनासूत्रम् [आगमोदय समिति] ८२.

प्रज्ञा० मलय०—प्रज्ञापनासूत्रमलयगिरि टीका [आगमोदय समिति सूरत] ८६५-८६७.

प्रमाणतत्त्वा० } प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः [यशो०

प्रमा० त० } ग्रन्थमाला काशी] २३-२५, २७, २८, ११५, ११६, १७३, २०९, ६०७, ४११, ४१८, ४२३, ४३४, ४३५, ४४१, ४५०, ४५९, ४६०, ५०४, ५२०, ५३८, ६०६, ६०७, ६१०, ६२१, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६४४, ६५०, ६७७, ६८२, ६८६, ७३८, ७९३, ८५३.

प्रमाणनि०—प्रमाणनिर्णयः [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] ६८२.

प्रमाणपरी०—प्रमाणपरीक्षा [जैनसिद्धान्तप्र० संस्था कलकत्ता] २३-२७, २९, ३०, ४९, ५१, ७१, १३५, १७६, १८३, १८६, १८७, १८९, १९४, २०१-२०५, ४०७, ४१०, ४११, ४१६-४१८, ४३४, ४३५, ४३९-४४२, ४५९, ५६०, ६५७, ७२३.

प्रमाणमी०—प्रमाणमीमांसा [सिध्दी जैन सीरिज कलकत्ता तथा ब्राह्मणभाकर कार्यालय पुना] २३-२५, २७, ७४, ८२, ११५, ११६, १६६, १७३, २०९, ३७१, ४०७, ४०९, ४११, ४१६, ४१८, ४१९, ४२३, ४३४, ४३५, ४३६, ४४०-४४२, ४५०, ४५९, ४६३, ४६४, ४८९, ४९२, ५००, ५०४, ५२०, ६४०, ६५६, ६५७, ६६४, ६७७, ६८२, ६८३.

प्रमाणलक्षण टी०—प्रमाणलक्षणटीका २४.

प्रमाणवा०—प्रमाणवातिकम् [भिक्षुराहुलसांक्रियायनसत्कम्] ५, २३, १०९, ११८, १२४-१२६, १३०-१३३, १४३, १६५-१६८, १६९, २०५, २०९, २२७, २३०, २३१, २३६, २८७, २८९, ३०२, ३७३, ३८२, ४०७, ४०९, ४१०, ४३३-४३५, ४३९, ४४५, ४५०, ४७७, ५१५, ५२४-५२६, ५३०, ५३३, ५४८, ५५१, ५५२, ५५४, ६०१, ६१३, ६२०, ६२८-६३०, ६३२, ६४४, ६७५, ६७६, ६७९, ६८४, ६८५, ६९२, ६९३, ७१२, ७१३, ७३०, ७३३, ७३५, ७३७, ७३९, ७४२, ८११, ८१८-८४१, ८४६, ८५१.

प्रमाणवा० अल० } प्रमाणवातिकालङ्कारः [भिक्षुरा-
प्रमाणवातिकाल०] हुलसांक्रियायनसत्कः लिखितः]
११८, १२५, १२६, १३१, १३३, १६६, ४०८, ४१०, ४१२, ४१९, ४३५, ४६०, ५२२, ५२८, ५८२-५८७, ५९९, ६१८, ६२८, ६३४, ६७५, ७७२-७७४, ७७८, ७७९.

प्रमाणवा० मनोरथ० } प्रमाणवातिकमनोरथनन्दिनी
मनोरथ० } वृत्तिः [विहार उड़ीसा
जनल०] ४०८, ४०९, ४१९, ४२२, ४३३, ४३९, ४४९, ४७६, ४८०, ५२२, ५२५, ५२६, ५४६-५४८, ५५१, ५५२, ५५४, ६०१, ६१३, ६१४, ६१६, ६२०, ६५६, ६७६, ६८४, ६९३, ६९४, ७२६, ७३०, ७३५, ७३८, ८४०, ७४१.

प्रमाणवा० स्ववृ० टी०—प्रमाणवातिकस्ववृत्तिटीका [भिक्षुराहुलसांक्रियायनसत्कं प्रकपुस्तकम्] ४१२, ४१९, ४२३, ४२७, ४३९, ४४०, ४४४, ४४९, ४५९, ४६८, ४७३, ४७४, ४७६, ४८०, ४८७, ५२७, ५२८, ५३६, ५३९, ५४३, ५४५-५४९, ५५१, ५५२, ५५४, ५५५, ५६४, ५६८, ५७०, ६०३, ६०९, ६२०, ६६४, ६६५, ६९४, ६९८, ७०३, ७०४, ७०६, ७०७, ७०९-७१२, ७२३, ७२६, ७२८, ७३०-७३२, ७३६, ७३७, ७४९, ७५०, ७५५, ७५७, ७६५, ७७७, ७७९.

प्रमाणस० } प्रमाणसमुच्चयः [मैसूर युनि० सीरिज]
प्रमा०स० } २३, २४, ४६, ८२, १६६, २०५, ५२२, ६७५, ६७९,

प्रमाणस० टी० } प्रमाणसमुच्चयटीका [मैसूर
प्रमाणस० टी० } युनि०] २३, ४६, ८०५.

प्रमाणस०—प्रमाणसंग्रहः [सिध्दी जैन सीरिज कलकत्ता] ३३९, ३७१, ४१०, ४२७, ४३४, ४८०, ६०३, ६५६, ६८२, ६८४, ६९७.

प्रमाणस०—प्रमाणसंग्रहटिप्पणम् अकलङ्कग्रन्थ-
न्यायान्तगतम् [सिध्दी सीरिज कलकत्ता] ६८४, ६९७.

प्रमेयक०—प्रमेयकमलमार्तण्डः [निर्णयसागर बम्बई]
१, ५, १०, ११, २०, २३, २९, ३१, ३५, ३६, ३८, ३९, ४१-४५, ४७, ४९, ५२, ५५, ५८, ६०-६३, ६६, ६७, ६९, ७१, ७२, ७४, ७७-८३, ८९-९१, ९३, ९४, ९७, ९८, १०१, १०४, १०६, १०७, १०९, ११२, ११३, १२१, १२३, १२४, १२५, १२७, १३०, १३१, १३३, १३६, १४०-१४३, १४५-१४७, १४९, १५३, १५५, १५७, १६२, १६६, १६६, १६९, १७१, १७२, १७६-१७८, १८३, १८६-१९०, १९२-१९६, १९८-२०२, २०५, २१६, २१७, २२४-२२७, २२९, २३१, २३२, २३३, २४६, २५०, २५१, २५६-२५९, २६१, २६३-२६८, २७१, २७२, २७६-२७८, २८०, २८१, २८५, २८८, २९३-२९५, २९७, २९८, ३००-३०८, ३१६, ३३८, ३४१-३४९, ३५५, ३५७, ३५८, ३६४, ३६६, ३६७, ३७०-३७२, ३७४, ३८२, ३८५-३८८, ४०५, ४०७, ४०८, ४१०, ४११, ४१५-४१८, ४२३, ४३१-४३३, ४३६, ४३८-४४३, ४५२, ४५३, ४५७, ४५९, ४६३, ४६६, ४६८, ४७२-४७५, ४८५, ४९०, ४९२, ४९३, ४९८, ५०१, ५०५, ५०८, ५१२, ५१३, ५१६, ५२०, ५२४, ५२६, ५३८, ५४७-५४९, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००.

प्रमेयक०—प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पणम् [निर्णय-
सागर बम्बई] ६९.

प्रमेयस्तको०—प्रमेयस्तकोशः [जैनधर्मसारकसभा
भावनगर] ४६४.

प्रमेयस्तमा०—प्रमेयस्तमाला [प० फूलचन्द्रजी शास्त्री
अमरावती] ९, २३, ८९, ९१, ९३, ९७, १०१.

१०९, १२९, १४७, १४९, १५५, १६५, १८९,
२०५, ३५५, ३७१, ४०९-४११, ४१६, ४१७,
४४०, ४४१, ४६४, ४६६, ४८९, ५००, ५०४,
५५७, ५६१-५६३, ६०४, ६५०, ६५७, ६७६,
६८४, ७०८, ७१८, ७२३, ७२६, ७२८, ७३१,
७३४, ७३५, ७७०, ८१०, ८१६.
प्रमेयरं टि०-प्रमेयरत्नमालाटिप्पणम् २, ५४८,
प्रभाकरवि०-प्रभाकरविजयः [कलकत्ता] ४६४,
४७९, ५०६.
प्रव० सार०-प्रवचनसारः [रायचन्द्र शास्त्रमाला
बम्बई] २४, २७, ६०५, ६६४, ८६९.
प्रवचनसा० टी०-प्रवचनसारटीका जयसेनीया ८५६,
८५७, ८५९, ८६०, ८६३, ८६५, ८७२, ८७४,
८७७.
प्रश० भा० } प्रशस्तपादभाष्यम् [विजयनगरं
प्रशस्तपा० भा० } सीरिज काशी] २५, २९, १०९, १५६, १९३
२०८, २१६, २१५, २१८, २४१, २४५, २४८,
२५२, २५७, २५८, २६९, २७३, २७४, २७५,
२७७, २७९, २८०, २८३, २८४, २९२-२९८,
३०२, ३४५-३४७, ३४९, ३६५, ४०६, ४३४,
४३५, ४४८, ४६८, ४८३, ४९३, ५१२, ५३०,
५३६, ६२६, ६३१, ६७९, ८२४.
प्रश० कन्दली } प्रशस्तपादभाष्यस्य कन्दली टीका
प्रशस्त० क० } [विजयनगरं सीरिज काशी]
कन्दली } १२, २१, २९, ५१, ५३, ६०, ६४,
७५-७७, ८२, ९७-९९, १०९, १२९, १५६,
१५९, १९३, २०९, २१४, २१७, २१८, २२०,
२२४, २२८, २२९, २४१, २४२, २४५, २५२,
२६०, २६९, २८२, २९५, २९७, ३४७,
३५७, ३८१, ४०८, ४१६, ४२३, ४२८,
४३१, ४३८, ४४६, ४४८, ४६८, ४७१,
४७४, ४७८, ४७९, ४८३, ४९३, ४९८,
५१२, ५१५, ५१६, ५१९, ५३१, ५४७, ५६१,
५९६, ६१५, ६२६, ६६८, ७२६, ७२९, ७५०,
७५१, ८२३, ८२६, ८३३, ८३८.
प्रशस्त० किरणा०-प्रशस्तपादभाष्यकिरणावली टीका
[चौखम्बा सीरिज काशी] ९, ७५, ७६, ८२,
९७, १०९, २२०, २४१, २६०, ३८०, ४१९,
४२८, ४३६, ४३८, ४६१, ४७४, ५१६, ५३१,
६२६, ६६७, ८२३, ८२४.
प्रश० व्यो० } प्रशस्तपादभाष्यस्य व्योमवती
प्रश० व्योमवती } टीका [चौखम्बा सीरिज काशी]
व्यो० } ७६, ८२, ९८, १८१-१००,
१०९, १२६, १५६, १८१, १८२, २१४, २१५,
२१७, २२०, २२४, २२६, २३०, २४०-२४२,
२४५, २४७, २५१, २५२, २५५-२५७, २६०,
२६१, २६९, २७०, २७३, २९२, २९५-२९८,
३४६, ३४८, ३४९, ३५७, ३६१, ३६३, ३८४,
३८६, ३८८, ४०८, ४१६, ४१९, ४२३, ४२५,

४२८, ४३२, ४३८, ४४२, ४४६-४४८, ४५०,
४५९, ४६१, ४६४, ४६६, ४६८, ४७१, ४८०,
४८३, ४९४, ५००, ५०५, ५१२, ५१५, ५१६,
५३०, ५३१, ५३८, ५५३, ५६५, ५६७, ५६९,
५७०, ६१५, ६२६, ६६७-६७०, ६८५, ७०३,
७०८, ७१३, ७१८, ७२०, ७२९, ७३०, ७५०-
७५२, ८०९, ८१६-८१८, ८२२-८२५, ८३२,
८३४-८३६, ८३८, ८४२, ८४३, ८४७, ८४८.
प्राकृतसर्व०-प्राकृतसर्वस्वम् ७६४.
प्राकृतच०-प्राकृतचन्द्रिका ७६४.
प्रा० सिद्धभ०-प्राकृतसिद्धभक्तिः क्रियाकलापान्तर्गता
[पं० पन्नालालजी सोनी व्यावर] ८७८.
प्रा० सिद्धभ० टी०-प्राकृतसिद्धभक्तिटीका ८७८.
बृहत्कल्पभा०-बृहत्कल्पभाष्यम् [आत्मानन्द सभा
भावनगर] ७९९, ८००.
बृहत्सं० } बृहत्संघयणी [आत्मानन्दसभा भावनगर]
बृहत्सं० } ८६७, ८६९.
बृहत्सं० मलय०-बृहत्संघयणी मलयगिरि टीका ८६९.
बृहत्स्वय०-बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम् प्रथमगुच्छकालान्तर्गतम्
२, २३, ३६८, ३६९, ५६६, ८५७.
बृह० } बृहती प्रभाकरकृता [मद्रास
शाबरभा० बृह० } युनि० सीरिज] ५२, ५४, ६०,
११९, १२४, १३९, १७५, ४२८, ४६६, ४९१,
६१७, ७०२, ७२१.
बृह० पं० } बृहती पञ्जिका [मद्रास युनि०
बृह० टी० } सीरिज] ५२, १२४, १२९, १७५,
पञ्जिका } ४२८, ४३१, ४४६, ४५०, ४७९,
४८९, ५०६, ६७६.
बृह० सर्वज्ञा० } बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः लघोयस्त्रयादि-
सर्वज्ञा० } संग्रहान्तर्गता [माणिकचन्द्र ग्रन्थ-
माला बम्बई] ८७, ८९, ९४, ९७, ४६४,
४६६.
बृहदा०-बृहदारण्यकोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई]
१४७, १४८, १५०, २९७, ८३१, ८३८.
बृहदा० वाति० } बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवाति-
बृहदा० भा० वा० } कम् [आनन्दाश्रम पूना] ६,
७, १५, १७, ६९, १२४, १३३, १४१, ४२०,
४३९, ४६४, ५७८, ८३१.
बृहदा० भा० वा० टी०-बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-
वातिकटीका [आनन्दाश्रम पूना] ५७७, ५७९
बृहद् द्रव्यसं०-बृहद्द्रव्यसंग्रहः [रायचन्द्र शास्त्रमाला
बम्बई] २५४.
बोधपा० } बोधप्राभूतम् षट्प्राभूतादिसंग्रहान्तर्गतम्
बोधप्रा० } [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
८५६, ८५७.
बोधिचर्या०-बोधिचर्यावतारः [एशियाटिक सोसाइटी
कलकत्ता] ६, १५, २०, ६२३, ६४०, ६८४,
८३८, ८३९.
बोधिचर्या० पं०-बोधिचर्यावतारपञ्जिका [एशिया-
टिक सोसाइटी कलकत्ता] ७, ३९०, ८४०.

बोधिनी-न्यायकुसुमाञ्जलिबोधिनी टीका [सरस्वती-
भवन काशी] २.

ब्रह्मविन्दूपनि-ब्रह्मविन्दूपनिषत् [निर्णयसागर
बम्बई] १३९.

ब्रह्मसि-ब्रह्मसिद्धिः [मद्रास ग० सीरिज्] १४९.

ब्रह्मसू-ब्रह्मसूत्रम् १६, १४७-१४९, ३४४, ८३१.

ब्रह्मसू-भास्करभा-ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् [चौ-
लम्बा सीरिज् काशी] १४९.

ब्रह्मसू-शां-भा-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् [निर्णय-
सागर बम्बई] १६, १७, ६०, १२४, १४७-
१४९, १५५, २६१, २९८, ३०५, ३४२, ३४६,
३५४, ३६०, ३८४, ७५२, ७५४, ८२५.

ब्रह्मसू-शां-भा-आनन्द-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य
आनन्दगिरिया टीका [निर्णयसागर] १६८.

ब्रह्मसू-शां-भा-भाम-शाङ्करभाष्यभामनी
शां-भा-भामती, भामती टीका [निर्णयसागर]
५४, ६०, ६२, ६३, ६८, १२२, १२४, १४४, १४७,
३४१, ३४४, ३९०, ४४७, ६२८.

ब्रह्मसू-शां-भा-रत्नप्रभा-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा-
ष्यस्य रत्नप्रभा टीका [निर्णयसागर] १६८.

ब्रह्म-ब्रह्मोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] १४८.

भगवतीसू-भगवतीसूत्रम् [आगमोदय समिति
सुरज] ६३२, ६६९.

भगवद्गी-भगवद्गीता [आनन्दाश्रम पुता] १४८,
३५०, ३५२, ३५८, ८१३, ८१५.

भगवद्गी-शां-भा-भगवद्गीताशाङ्करभाष्यम्
[आनन्दाश्रम पुता] ३५२.

भावनवि-भावनविश्लेषकः [सरस्वतीभवन काशी]
५७७.

भावनावि-टी-भावनविश्लेषकटीका ५७७.

भावप्राह-भावप्राभूतम् षट्प्राभूतादिसंग्रहान्तर्गतम्
[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] ५९.

भावप्रका-भावप्रकाशः [बम्बई] २७५, ४२५.

भावसं-भावसंग्रहः [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
८५६, ८६२, ८७२, ८७७.

भाट्टवि-भाट्टचिन्तामणिः [मद्रास] ६९८, ६९९,
७२०, ७५९, ७६१.

भाट्टदी-भाट्टदीपिका [चौलम्बा काशी] ७२१.

भाट्टरह-भाट्टरहस्यम् [काञ्चीवरम्] ५९८.

मत्स्यपु-मत्स्यपुराणम् [आनन्दाश्रम पुता] ७२६.

मध्यान्तवि-मध्यान्तविभागसूत्रम् [विश्वभारती
शान्तिनिकेतन] ६६२.

मध्यान्तवि-सू-टी-मध्यान्तविभागसूत्रटीका १३१,
१३७, ३९०, ३९२.

मनुस्मृतिः [निर्णयसागर बम्बई] ५७५, ६३४,
७२२, ७३३.

मनुस्म-मन्वर्थ-मनुस्मृतिमन्वर्थमुक्तावलीटीका
[निर्णयसागर बम्बई] ५७५.

महा-प्रदीप-महाभाष्यप्रदीपव्याख्या [चौलम्बा
काशी] १६८, ७४६.

महाभार-महाभारतम् [निर्णयसागर बम्बई] ५६०.

महायानसू-महायानसूत्रालङ्कारः [पेरिस By
महायानसूत्रालं] सिल्वन लेवी] १३२, ६८४.

महावि-महाविद्याविभवम् [गायकबाङ्ग मोरिज्
बङ्गोदा] ४११.

माण्डूक्य-गोडपा-साङ्करभा-माण्डूक्योपनिषद्-
गोडपादकारिकाशाङ्करभाष्यम् [चौलम्बा
सीरिज् काशी] २०.

माध्यमिक-माध्यमिककारिकावृत्तिः [ब्रिक्लो-
माध्यमिककां] थिका बुद्धिका राशिया] १०, २०,
१३२, ३९०, ४८४, ६८४.

मानमेयो-मानमेयोदयः [थियोसिफ्रिल सो-
अड्यार] ५७७, ५७९, ६६९, ६९७, ६९९, ७२३.

मीमांसाव्या-मीमांसाव्यायप्रकाशः [चौलम्बा
काशी] ५७७-५७९, ५८८, ५९२.

मी-परि-मीमांसापरिभाषा [चौलम्बा काशी]
५७७, ५८८.

मीमांसाबल-मीमांसाबलप्रकाशः [चौलम्बा काशी]
५७७-५७९.

मीमांसा-मीमांसाभाष्यम् [चौलम्बा काशी]
७२२.

मीमांसाप्र-मीमांसाथप्रकाशः [चौलम्बा काशी]
५७७-५७९.

मीमांसा-मीमांसासूत्रम् २५, १३९.

मीमांसासूत्र-मीमांसासूत्रम् २५, १३९.

मी-श्लो-मीमांसाश्लोकवार्तिकम् [चौलम्बा
काशी] १४, १५, १७, १८, २०, ४२, ५१,
५३, ८२, ८६, ९५, ९६, १०५, १०७-१०९,
१२४, १३९, १४०, १४७, १५३, १५५, १६४,
१९५-१९७, १९९, २०९, २४६, ३४३, ३४५,
३६६, ३६९, ४०२, ४०७, ४१९, ४२२, ४२३,
४२८, ४५३-४५६, ४५९, ४६३-४६८, ४९०,
४९२, ४९३, ५०५-५१४, ५२०, ५३२, ५३४,
५३५, ५४०, ५४४, ५४५, ५५०, ५५३, ५५७,
५६१-५६४, ५६६, ५६७, ५७५, ५७६, ५९३,
५९४, ६०६, ६९७-७०३, ७०९, ७११, ७१३-
७१६, ७१९, ७२१-७२५, ७३५, ७४१-७४३,
७५१, ७५२, ७५६, ७६७, ७६८.

मीमांसाश्लो-काशिका-मीमांसाश्लोकवार्तिककाशि-
कावृत्तिः [त्रिवेन्द्रम्] १२६.

मी-श्लो-टी-मीमांसाश्लोकन्यायरत्नाक-
मी-श्लो-न्यायरत्न-राख्या टीका [चौलम्बा
सीरिज् काशी] २४, ८७, १३३, १६६ १७६,
१९६, ४५३, ४६३, ४६४, ४६६, ४६७, ४९०,
४९१, ५०६, ५०७, ५०९-५११, ५२० ५४४,
६६९, ६९७, ६९९, ७२१, ७३९, ७४१, ७४३,
७५१, ७७०.

मुक्तावली-कारिकावली मुक्तावली [निर्णयसागर
बम्बई] २५, ७६, ८२, १५५, ४७०, ४८२,
४८३, ४९६, ५६८, ५९३, ७३८, ७५०, ८४७.

मुक्ताव० दिन० } मुक्तावली दिनकरीटीका
न्यायमुक्ता० दिन० } [निर्णयसागर बम्बई]

९७, १०९, २८२, ३१०, ५६७, ५७७, ५७९.

मुक्ता० दिन० } मुक्तावलीदिनकरीरामरुद्रीटीका
रामरुद्री, रामरु० } [निर्णयसागर बम्बई] २९, ५६७.

मुण्डकोपनि०—मुण्डकोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई]
१४८.

मूलाचारः—[माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई]
७९९—८०१, ८४५, ८६३.

मैत्र्युप०—मैत्र्युपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] १४७,
५४८.

यजुःसंहिता—[बम्बई] ७७०.

यशस्तिलक०—यशस्तिलकचम्पू [निर्णयसागर बम्बई]
६५३.

यश० उ०—यशस्तिलकचम्पू-उत्तरभागः [निर्णयसागर
बम्बई] ६३४, ८०१, ८२५, ८३७, ८३८.

युक्तिदी० } युक्तिदीपिका [कलकत्ता
सांख्यका० युक्तिदी० } सस्कृत ग्रन्थमाला] ५०३,
५७३, ६८९, ८१३—८१५.

युक्तिप्रबो०—युक्तिप्रबोधः [श्वेताम्बर संस्था रत-
लाम] २५४, ८५२, ८५३, ८६६, ८६७, ८६९.

युक्त्यनु०—युक्त्यनुशासनम् [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
बम्बई] १५, १९, ५१, १२४, १३९, २८८, ३४८,
६२३, ८४२.

युक्त्यनुशा० टी०—युक्त्यनुशासनटीका [माणिकचन्द्र
ग्र० बम्बई] १३०, १८६, १८९, ३४१, ३४४,
३४८, ६४६, ७५२, ७५४, ८१७, ८२०, ८२१,
८४२, ८३.

योगकारिका—साङ्ख्ययोगदर्शनान्तर्गता [चौखम्बा काशी]
४०, १८९, ६२५, ८१३.

योगद० व्यासभा० } योगसूत्रव्यासभाष्यम् [चौखम्बा
योगभा०, व्यासभा० } काशी] २५, ४०, १०९—१११,
योगसू० व्यासभा० } ११४, १०४, १५०, ४०१,
६०५, ६१४, ६२५, ६२८, ७४५, ८११, ८१२,
८१४, ८१५.

योगभा० तत्त्ववै० } योगसूत्रतत्त्ववैशारदी टीका
योगसू० तत्त्ववै०, तत्त्ववै० } [चौखम्बा काशी] २४,
योगद० तत्त्ववै०, } ४०, ११०, १११, ११४,
१२२, १२४, १९०, ४०८, ४७६, ५९६, ६२८,
७४५, ७४७, ८१५.

योग० भास्वती } योगसूत्रभास्वती टीका
योगसू० भास्व०, भास्वती } [चौखम्बा काशी] ६२८,
७४५, ८१५, ८१७.

योगवा०—योगवास्तिकम् [चौखम्बा काशी] २४,
४०, ५९६, ६२५, ६२८, ७४५, ८१५.

योगशा०—योगशास्त्रम् [एशियाटिक सोसायटी
कलकत्ता] २५४.

योगसू० } योगसूत्रम् [चौखम्बा काशी] १०९,
योगद० } १११, ३५८, ४०६, ६८३, ८१५, ८१६.

योगसू० भोजवृ०—योगसूत्रस्य भोजवृत्तिः [चौखम्बा
काशी] ८१९.

योगसं०—योगसंग्रहः [चौखम्बा काशी] ५९६.

रत्नक०—रत्नकरणश्रावकाचारः [माणिकचन्द्र ग्र०
बम्बई] ५०३, ८०१, ८६२.

रत्नक० टी०—रत्नकरणश्रावकाचारस्य प्रभाचन्द्रिया
टीका [माणिकचन्द्र ग्र० बम्बई] ८५५, ८५६,
८५८—८६०, ८६२, ८६४.

रत्नक० टी० टि०—रत्नकरणश्रावकाचारटीका-
टिप्पणम् [मा० ग्र० बम्बई] ८५६.

रत्नकरावता०—रत्नकरावतारिका [यशोविजय
ग्रन्थमाला काशी] ४, २०, ५२, ७८, ८०—
८३, ८५, ८६, १६७, १७२, ४११, ४६४, ४८९,
५०५, ५१३, ५३७, ५५९, ५६५, ६३०, ६७७,
६९२, ७०३, ७११, ७२०, ७२३, ७२६, ७३०,
८२६, ८२७, ८३०, ८५३, ८६५—८६९.

राजनिध०—राजनिघण्टुकोशः ६६९.

राजव०—राजवत्सलः कोशः ६६९.

लङ्कावतार०—लङ्कावतारसूत्रम् [Kyoto] १२४,
१३२, ६६२, ८६४.

लघी०—लघीयस्त्रयम् [मा० ग्र० बम्बई] ४५, ५२०,

लघी० टि०—लघीयस्त्रयटिप्पणम् अकलङ्कग्रन्थत्रयान्त-
र्गतम् [विधि जैन सीरिज कलकत्ता] ६५६, ६८२.

लघी० ता० } लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिः [माणिक-
लघी० अभ० } चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] ५, २२,

लघी० वृ० } ७४, ४१८, ४२७, ४३४, ४५०,
४५९, ४६१, ४६२, ४८३, ४८५, ४८७, ४८९,
५०२, ५०४, ५२२, ५२५, ५२७, ५२९, ५३०,
५९८, ६००, ६०२—६०५, ६०८, ६०९, ६११,
६१२, ६१६, ६१९, ६२२, ६२४, ६२८, ६३२,
६३६, ६३७, ६४४, ६४६, ६५०, ६५२, ६५३,
६५५, ६५६, ६५८, ६६१, ६६३, ६६५, ६७४,
६७५, ६७८, ६७९, ६८२, ६८६, ६९१, ६९६,
७८२, ७८८, ७९०, ७९२, ७९३, ७९८, ८७९.

लब्धिसा०—लब्धिसारः [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई]
८५६.

ललितवि०—ललितविस्तरा [श्वेताम्बर संस्था रतलाम]
८६५.

लौकिकन्यायाञ्जलिः—[निर्णयसागर बम्बई] १६८.

लौकिकन्या० तृ०—लौकिकन्यायाञ्जलितृतीयभागः
[निर्णयसागर बम्बई] ४३२, ८३७.

वाक्यप०—वाक्यपदीयम् [चौखम्बा सीरिज काशी]
६८, १४०, १४५, २७९, २८२, ३६९, ५४५,
५५०, ५५३, ५६६, ५९६, ६४८, ६६९, ७११,
७३७—७४२, ७४८—७५०, ७५४, ७५५, ७५७,
७५९—७६१, ७६५.

वाक्यप० वृ० } वाक्यपदीयहर्षपञ्चा वृत्तिः
वाक्यप० स्ववृ० } [लाहौर] ५५१, ७४९,
वाक्यप० हरि० } ७५७.

वाक्यप० वृ० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर]
७५०.

वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्पराजीया प्रका-
वाक्यप० पु० टी० } शाखा टीका [चौखम्बा सीरिज
वाक्यप० प्र० } काशी] १४०, ५५०, ५५३,
५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.

वाक्यार्थमा०—वाक्यार्थमातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्च-
कान्तर्गता, चौखम्बा काशी] ५८१.

वागभट्टा० टी०—वागभट्टालङ्कारटीका [निर्णयसागर
बम्बई] ७६४.

वाच०—वाचस्पत्यकोशः [कलकत्ता] ६९३.

वादन्यायः { महाबोधि सोसाइटी सारनाथ] ३२९,
३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६२, ६०२, ७३८,
७६२, ७६५, ७६६.

वादस्यायटी०—वादस्यायटीका [महाबोधि सोसाइटी
सारनाथ] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.

विज्ञप्तिमा० } विज्ञप्तिमाविज्ञप्तिमात्रता-
विज्ञां विज्ञप्तिमा० } सिद्धिः [By. सिल्वन

लेवी पेरिस] १२०, २१९, २३१, ६३२.

विधिचि०—विधिचिवेकः [लाजरस प्रेस काशी] १०९,
४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८२, ५८६,
५८७-५९५.

विधि० वि० टी० } विधिचिवेकन्यायकणिकाटीका
विधिचि० न्यायकणि० } [लाजरस प्रेस काशी] ११९,
१२२, १२४, १३९, १८१, ४०९, ४८०, ५७४-
५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.

विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसंग्रहः [विजयानगरं
वि० प्रमेयसं० } सीरिज काशी] ६०, ६३, १२४,
८०९, ८२८, ८३१, ८४८.

विशेषा० } विशेषावश्यकभाष्यम् [यशो०
विशेषाव० भा० } ग्रन्थमाला काशी] २५-२७,
११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,
६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,
८०७, ८६८.

विशेषा० भा० बृह०—विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्तिः
[यशो० ग्रन्थमाला काशी] १७३.

विश्वतत्त्वप्र०—विश्वतत्त्वप्रकाशकम् लिखितम् [स्याद्वाद
विद्यालय काशी] ४६४, ४६६, ७२३.

वेदान्तपरि०—वेदान्तपरिभाषा [निर्णयसागर बम्बई]
२४, २५.

वेदान्तसि०—वेदान्तसिद्धान्तमञ्जरी [अच्युत ग्रन्थ-
माला काशी] ८३१, ८३२.

वेदार्थ०—वेदार्थसंग्रहः [पंडितपत्र काशी] ५९७.

वेश० उप००—वेशेषिकसूत्रोपस्कारः [चौखम्बा सीरिज
उप०० } काशी] २, ११, १६, २४, २८, ७६,
७९, ९७, १०९, १५६, २७९, ३०३, ३०४, ४१९,
५००, ५०१, ११५, ५१६, ५३१, ६६७, ७२९.

वेश० सू० } वेशेषिकसूत्रम् । २४, २५, ३०, ३१, ९७,
वेश० द० } १३६, १३९, १५६, २१४, २१५,

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,
२६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,
२८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४३, ३४९, ३५९, ४०६,
४०७, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.

वं सू० वि०—वेशेषिकसूत्रविवृतिः [गुजराती प्रेस
बम्बई] २४१.

वैयाकरणभू०—वैयाकरणभूषणम् [चौखम्बा काशी]
५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.

वैयाकरणभू० वं०—वैयाकरणभूषणदर्पणटीका [चौखम्बा
काशी] ५७७, ५७९, ५८२.

व्या० प्र० } व्याख्याप्रज्ञप्तिः [आगमोदय समिति
व्या० प्र० } सूरत] २५०, ३४०, ६०५.

व्युत्पत्तिवा० गा०—व्युत्पत्तिवादगदाधारी टीका
[निर्णयसागर बम्बई] ४८९.

शब्दकल्पद्रुमः—कोशः [कलकत्ता] ७४९.

शब्दको०—शब्दकोस्तुभम् [चौखम्बा काशी] ७५८.

शब्दशा०—शब्दशास्त्रप्रकाशिका [चौखम्बा काशी]
५६८, ५७३, ७३८.

शब्दार्णव०—शब्दार्णवचन्द्रिका [जैनसिद्धान्त प्रकाशनी
संस्था कलकत्ता] ६१७, ७६६.

शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [आनन्दाश्रम पुना] ४३,
४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,
२७९, ३४३, ४०६, ४३४, ४५४, ४६३, ४८२,
५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,
५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ५९६, ६९७, ६९९-
७०२, ७२०-७२३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८,
७७७, ८३१.

शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [आनन्दा-
श्रम पुना] १७५.

शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका सुवर्त्तनाचार्यकृतटीका-
सहिता । १६, २०, २४, ४२, ६९, ८६, १२४,
१३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,
३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८८, ४९१, ५०६,
५१०, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,
५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-
७२३, ७२७, ७३५, ७४२, ७५७.

शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-
स्नेहप्रपूरिणीसिद्धान्तचन्द्रिका [निर्णयसागर
बम्बई] १६५, ६६२.

शास्त्रवात्सी० } शास्त्रवात्सिमुच्ययः [देवचन्द्र
शास्त्रवा० } लालभाई सूरत] १८, ८९, ९७,

शास्त्रवा० समु० } १०९, १२४, १४१, १५५, ३४३,
३४५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,
५५४, ५६१, ७३१, ७३५.

शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवात्सिमुच्ययस्य यशो-
शास्त्रवा० यशो० } विजयकृता टीका [देव-
शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लालभाई सूरत] ५२,

६६, ८७, १०९, १२४, ३३२, ३३३, ३३६, १४०,
१४१, १४३, १४४, १४७, १५५, १६८, ५२४-

५२६, ५३७, ५५३, ६१३, ६३०, ६४०, ६८४-
६८७, ७३०, ७०८, ७१३, ७२७, ७२९, ८५३,
८५४, ८६५-८६९.
शिक्षासमु०-शिक्षासमुच्चयः [विब्लोथिका बुद्धिका
राशिया] ३९०, ६६२.
श्वेताश्व०-श्वेताश्वतरोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई]
१४९, ७२६, ८१३.
षट्प्रा० टी०-षट्प्राभुत टीका [माणिकचन्द्र ग्रन्थ-
माला बम्बई] ३.
षड्भा०-षड्भाषाचन्द्रिका [बम्बई] ७६४.
षड्द०-षड्दर्शनसमुच्चयः [चौखम्बा काशी] ४६६,
५०५.
षड्दर्शनसमु० बृह० } षड्दर्शनसमुच्चय-
षड्द० टी०, षड्द० सं० टी० } टीका गुणरत्नकृता
[भावनगर] २६, २७, १३३, ४०४ ४०७,
४६४, ४६७, ४६८, ५३३, ६४०, ६८२, ६९३,
७७०, ८१८-८२०, ८२२, ८२३, ८२५, ८२७,
८२८, ८३०, ८३१, ८३८, ८४१-८४३, ८४५,
८४७, ८६५-८६९.
सक्षेपशा० टी०-सक्षेपसारीरकटीका [चौखम्बा
काशी] ८३१.
सं०सिद्धिभ०-संस्कृतसिद्धभक्तिः क्रियाकलापान्तर्गता४.
सत्यशासनप०-सत्यशासनपरीक्षा लिखिता [जैन-
सिद्धान्तभवन आरा] ६१९.
सन्मति० टी०-सन्मतितकटीका [गुजरात पुरातत्व-
मन्दिर अहमदाबाद] १०, २०, २३-२५, २७,
२९, ३१, ३४, ३६, ३८, ३९, ४२-४५, ४९,
५७, ५७, ६०, ६६, ६७-६९, ७२, ७९-८१,
८३, ८४, ८६, ८७, ८९, ९३, ९७, ९८, १०१,
१०४-१०७, १०९, १२१, १२३, १२४, १२९,
१३१-१३३, १३९-१४७, १४९, १५३, १५५, १६४,
१६६, १६८, १७१, १७२, १८५, १८६, १८९,
१९३, १९५, १९६, १९८, १९९, २००-२०२,
२०५, २१७, २२४, २२६-२२८, २३३, २४२,
२५०, २५३, २५७, २५८, २६१, २६३-२६५,
२६७, २६८, २७६-२७८, २८१, २८७, २८८,
२९२-२९४, ३०२, ३४३, ३४९, ३५४-३५७,
३६४, ३७०, ३७१, ३८२, ३८४, ३८७, ४०४,
४१०, ४४०, ४४३, ४४८, ४५०, ४५९, ४६३,
४६४, ४६६-४६८, ४७२, ४७३, ४७५, ४९०,
४९२, ४९३, ४९५, ५०५, ५०८, ५१२, ५१५,
५१६, ५२०, ५२२, ५२४-५२६, ५४९, ५५३,
५५४, ५६०, ५६५, ६००, ६०२, ६०४, ६०५-
६०७, ६१०, ६१९-६२२, ६३०, ६३२, ६३६,
६३८, ६४०, ६५८, ६६५, ६६९, ६७०, ६७२,
६७६, ६८४, ६८७, ६९८, ६९९, ७०३, ७०८,
७०९, ७१३, ७१८, ७२०, ७२३-७२९, ७३१-
७३४, ७३७, ७४३, ७४४, ७५०-७५५, ७७२,
७७३, ७७५, ७७७, ७८२, ७८३, ८१०, ८११,
८२४, ८२६, ८२७, ८२९-८३१, ८३३, ८४०,

८४४, ८४५, ८४९, ८५०, ८५२, ८५४, ८६५,
८६६, ८६८, ८६९.
सप्तप०-सप्तपदार्थी [विजयानगर सीरिज काशी]
६८९.
सप्तप० टी०-सप्तपदार्थी टीका [विजयनगर सीरिज
काशी] ४८३.
सप्तभंगित०-सप्तभङ्गितरङ्गिणी [रायचन्द्रशास्त्र-
माला बम्बई] ३७१, ६८६, ६९२, ६९३.
समव० स्तो०-समवशरणस्तोत्रम् [माणिकचन्द्र ग्रन्थ-
माला बम्बई] २.
समवा० सू०-समवायाङ्गमूत्रम् [आगमोदय समिति
सूरत] ८५७.
समाधिराजसूत्रम्-माध्यमिकवृत्तावृद्धतम् १३२.
सम्बन्धप०-सम्बन्धपरीक्षा, टिबेटिनभाषोपलब्धा
३०५, ३०६, ३०९, ४८५.
सम्बन्धभा०-सम्बन्धवातिकम् [आनन्दाश्रम पूना]
२०, ८२८.
सर्वद० } सर्वदर्शनसंग्रहः अभ्यङ्गरेण सम्पादितः
सर्वद० सं० } [भा० इंस्टीट्यूट पूना] १२, २४, ६०,
६३, १३३, १९५, २८२, ३४२, ४०९, ४११,
४१९, ५९७, ६६७, ६६८, ७४६, ७४८-७५०,
७६०.
सर्ववेदान्तसि०-सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः प्रकरणसंग्र-
हान्तर्गतः [ग्रोरियण्टल बुक एजेन्सी पूना] ८३१.
सर्वाथिसि०-सर्वाथिसिद्धिः [कल्याणप्रेस सोलापुर]
२१, २३, २६, २७, ३२, ८३, ११५, ११६, १५८,
१६५, १७३, २०९, २३६, २३८, २५०, २५३,
२५४, २५८, २८२, ३४१, ३४९, ३९४, ४०६,
४११, ५०४, ६०६, ६०७, ६१०, ६२२, ६३२,
६३३, ६३६, ६३८, ६४७, ६७२, ६८६, ७८७,
७९२-७९९, ८००, ८०२, ८०६, ८०७, ८१०,
८१२, ८१४, ८२९, ८५४, ८५६, ८६२-८६४,
८६९, ८७८.
सांख्यका०-सांख्यकारिका [चौखम्बा काशी] २५,
४०, १५७, १८९-१९१, २७५, २७९, ३५०-
३५६, ६२७, ८१३, ८१६.
सां० मा० वृ० } सांख्यकारिकामाठरवृत्तिः
सां० मा० माठरवृ० } [चौखम्बा काशी] ४०,
माठरवृ० } ११०, १११, ११३, १८९,
१९०, ३५०-३५२, ४३४, ५०३, ६०१, ६२७,
६३३, ८१३-८१६.
सांख्यतत्त्वकी० } सांख्यतत्त्वकीमुदी [चौखम्बा
सांख्यकी० } काशी] २४, ५००, ५०१, ५१६,
५१८, ५१९, ८१३, ८१४.
सांख्यतत्त्वप्र०-सांख्यतत्त्वप्रदीपः सांख्यसंग्रहान्तर्गतः
[चौखम्बा सीरिज काशी] ८१६.
सांख्यतत्त्ववि०-सांख्यतत्त्वविवेचनम् सांख्यसंग्रहान्त-
र्गतम् [चौखम्बा काशी] ८१३.
सांख्यतत्त्वभा०-सांख्यतत्त्वबालोकः [सरस्वती भवन
काशी] ६२८.

सांख्यद०—सांख्यदर्शनम् [चौखम्बा काशी] २४, २५, ८२.

सांख्यसं०—सांख्यसंग्रहः [चौखम्बा सीरिज काशी] ११०, १२९.

सांख्यप्र० भा० } सांख्यप्रवचनभाष्यम् [चौखम्बा
सांख्यप्र० } सीरिज काशी] २४, ४०, १८९,
१९०, ८१६.

सांख्यसूत्र०—सांख्यसूत्रम् [कलकत्ता] ३५२, ४३४, ८१२.

सांख्यसूत्रवि०—सांख्यसूत्रविवरणम् [चौखम्बा काशी] ६२७.

सा० द०—साहित्यदर्पणम् [निर्णयसागर बम्बई] ५६८, ५७०, ७३८.

सायणभा०—सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तस्य [आनन्दा-
श्रम पूना] ७७०.

सि० चन्द्रोदय—सिद्धान्तचन्द्रोदयः न्यायकोशे समुद्धृतः २४.

सिद्धान्तवि०—सिद्धान्तविन्दुः [चौखम्बा काशी] ८३१, ८३२.

सिद्धान्तले०—सिद्धान्तलेखसंग्रहः [चौखम्बा काशी] ८३१.

सिद्धिवि०—सिद्धिविनिश्चयः सिद्धिविनिश्चयटीकातः
समुद्धृतः [सम्पादकसङ्कः] ६६, ४०३, ४२७,
४३८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९, ६००,
६०५, ६०६, ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२,
६९२, ६९३, ७०८, ७०९, ७१९, ७३०, ७९३,
७९९, ८००, ८०१, ८०४.

सिद्धि० टी०—सिद्धिविनिश्चयटीका [पं० सुखलाल-
सङ्का] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६, ४०,
४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३,
१५५, १६६, २०९, ३१९, ३८८, ४०२, ४०३,
४१०, ४२७, ४३२, ४५९, ४६४, ५०४, ५२२,
५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५४, ६०५-
६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६,
६४०, ६५६, ६६५, ६७४, ६७६, ६७८, ६८२,
६८५, ६८६, ६९२, ६९३, ६९५, ७०८, ७०९,
७३३, ७३४, ७३९, ७९९-८०१.

सिद्धहे० } सिद्धहेमव्याकरणस्य बृहद्वित्तः
हंसश० बृह० } [अहमदाबाद] ४, ७६०.

सुभाषितरत्नभाण्डागारः [निर्णयसागर बम्बई] ८४६.

सुश्रुत०—सुश्रुतसंहिता [निर्णयसागर बम्बई] २७५, ३१०.

सूत्रकृ० नि०—सूत्रकृता ज्ञानियुक्तिः [आर्हतप्रभाकर
कार्यालय पूना] ८५६.

सूत्रकृ० शो० } सूत्रकृतांगशौलाङ्कटीका [आगमो-
सूत्रकृतांगशो० } दय समिति सूरत] ६०३, ६२४,
सूत्रकृतांगशो० } ७९३, ८५२-८५४.

सूत्रप्रा०—सूत्रप्राभृतम् षट्प्राभृतादिसंग्रहान्तर्गतम्
[मा० ग्रं० बम्बई] ८७२.

सोमरत्न०—सोमरत्नचन्द्रमहाकाव्यम् [पंजाब यूनि०
सीरिज] ८२९.

सूत्रो०—सूत्रीयुक्तिप्रकरणम् जैनसाहित्यसंशोधकपत्रे
मुद्रितम् [अमदाबाद] ८६५-८७०, ८७४.

स्थानांग० } स्थानाङ्गसूत्रम् [आगमोदय समिति
स्था० } सूरत] ६०५, ७८२.

स्थानांगसू० टी०—स्थानाङ्गसूत्रटीका [आगमोदय
समिति सूरत] ६२२.

स्पन्दका० व्या०—स्पन्दकारिकाव्याख्या [काश्मीर-
सीरिज] १४०.

स्प० २०—स्पन्दरत्नम् [काश्मीर सीरिज] ७३४.

स्फुटार्थ० अमि०—स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या
[विन्डोथिका बुद्धिका रशिया] ८१, ८२, ८६,
१८२, २५०, २७२, ३९०.

स्फोटसि०—स्फोटसिद्धिः [मद्रास यूनि०] ७४५-७५०.

स्फोटसि० टी०—स्फोटसिद्धिटीका [मद्रास यूनि०]
४०९, ७४९-७५०.

स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धिः भारतमिश्रकृता
स्फोटसि० भा० } [त्रिवेन्द्रम्] ७४५, ७४७,
७४८.

स्फोट० न्या०—स्फोटसिद्धिन्यायविचारः [त्रिवेन्द्रम्]
७४५-७४८.

स्फोटच०—स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिधिषटे उद्धृता
७४५.

स्फोटतत्त्व० } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिधिषटे समु-
स्फोटत० } द्धृतम् ७४५, ७५०.

स्या० सं०—स्याद्वादमञ्जरी [रायचन्द्र शास्त्रमाला
बम्बई, द्वितीय सं०] ४, १९, २३, १२४, १३३,
१३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६,
१६७, १७२, १८६, १८७, १८९, १९६-१९८,
२०८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१,
६०६, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६४०,
६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.

स्या० रत्नाकर० } स्याद्वादरत्नाकरः [आर्हतप्रभाकर
स्या० रत्ना० } कार्यालय पूना] ७, ९, १०,

१३-१५, १७-२०, २२, २९, ३१, ३४-४१,
४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७८-
९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४,
११९, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १४५,
१४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६४,
१६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८, १८२-
१८५, १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८,
१९९, २०१, २०५, २०६-२०८, २१२, २१४,
२१६, २१७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३,
२५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०,
२७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४,
२९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७,
३४१, ३४५, ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४,
३७१, ३८४, ३८५, ३८८, ४००-४११, ४१४-
४१८, ४२०, ४२२, ४२४-४२६, ४२९-४३२,
४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-४५९,
४६१, ४६४, ४६६-४६७, ४६८, ४७०, ४७२-



४७५, ४८५, ४८९, ४९०, ४९२, ४९८, ५००, ५०४, ५०५, ५०८, ५१२, ५१३, ५१५-५१७, ५२०, ५२४, ५२६, ५३२-५३४, ५३७-५४२, ५४५, ५४६, ५५३, ५५४, ५६५, ६२०, ६४०, ६५७, ६६९-६७७, ६८५, ६९२, ६९८-७१८, ७२३-७४२, ७४९, ७५०, ७५३, ७५५, ७७०-७७५, ७७७-७७९, ८०८, ८१०-८१२, ८१४, ८२५, ८३३-८३५, ८४१, ८४२, ८४४, ८४५, ८५२-८५५, ८५८.

स्वामिकाति०-स्वामिकातिक्रियानुप्रेक्षा [जैनसिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता] १९.

हेतुविड०-हेतुविडम्बनोपायः लिखितः [भाण्डारकर इंस्टीट्यूट पूना] ४२०.

हेतुविन्दुः [P. तारकसप्तकः] २०६, ४३४, ४३५, ४४५.

हेतुविन्दुटी०-हेतुविन्दुटीका [पं० सुखलालसत्का] ७, ८, २०, ६९, १२६, २०८, ३६०, ३६९, ३७३, ३७६, ३७८, ३८८, ४१९, ४४२-४४५, ४४९, ४५४, ४६२, ४६६, ४६७, ४७६, ४८०, ४८५, ६०९, ६१४.

हेमप्राक्०-हेमचन्द्राचार्यकृतं प्राकृतव्याकरणम् [पूना] ७६४.

हेमः-कोशः [भावनगर, काशी] ७६७.

आ० आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्याय-कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः ।

आ० टि० आदर्शप्रतेः प्रान्तभागे उपलब्धा टिप्पणी ।

ई० वि० ईडरभण्डारीयवृत्तिप्रत्यन्तर्गता स्ववि-वृत्तिप्रतिः ।

ज० वि० जयपुरीया स्वविवृतिप्रतिः ।

ब० बनारसस्थस्याद्वादविद्यालयसत्का न्याय-कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः ।

मु० लघो० मुद्रितं लघीयस्त्रयम् ।

श्र० श्रवणबेलगोलस्थ श्री [पण्डिताचार्यचारु-कीर्तिभट्टारकसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः ।

का० कारिका

गा० गाथा

श्लो० श्लोक



शुद्धिपत्रम्

पृ० पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१४-३	प्रथक्	प्रथक्
४२९-१२		
४६३-१२		
५३८-५		
४१९	१	प्रमाण्यात्
४३६	१६	-सङ्कतस्या-
४४६	१२	वफ-
४६४	४	स्त्वत्वा
४६७	१२	(१) अभावस्य
४६९	१०	रूपित्व
४७३	२१	(४) घटधर्मतया
४७३	२१	(५) घटात्
४८८	१८	योग्ययोग्यौ
५१५	९	विधिनोच्यते
५७२	१७	-विशिष्ट
५७२	२२	-नियतद्वय-
५७३	२१	विधेर्लक्षण-
६१४	१४	कार्यम् इति

कारणम् इति

पृ० पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
६३४	११	को विस्वादः
६५४	२८	प्रक्रान्त-
६७१	१२	-प्ताप्ति-
७४९	८	वाक्य०
७५७	७	गव्यादीनाम्
७६७	३	गावीशब्दः शब्दः
७९७	२७	तृद्वि-
८०२	१७	-रूपक-
८२४	३	पक्षसपक्षद्
८२४	७	व्यच्छे-
८२४	१३	इति
८३७	८	-तम्
८४६	२	मुहदाशा
८५१	२१	भुक्ति-
८५५	९	पूर्वहि
८६४	२२	-त्पन्नदोष
प्र० ५	१०	-भूत



माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

१ लघीयस्त्रयादिसंग्रह	I=)	२३ मूलाचार सटीक-उत्तरार्द्ध	१॥)
२ सागारधर्मासूत सटीक (अप्राप्य)		२४ रत्नकरण्डश्रावकाचार सटीक	२)
३ विक्रान्तकीरव (नाटक)	I=)	२५ पंचसंग्रह	॥I=)
४ पाश्चात्त्याचरित (काव्य)	II)	२६ लाटीसंहिता	II)
५ मैथिलीकल्याण (नाटक)	I)	२७ पुरुषदेवचम्पू	II)
६ आराधनासार सटीक	II)	२८ जैन-शिला-लेखसंग्रह	२)
७ जिनदत्तचरित (काव्य)	II)	२९ पद्मचरित (पद्म-पुराण) प्रथम खंड	१II)
८ प्रद्युम्नचरित (काव्य)	II)	३० " " " द्वितीय खंड	२)
९ चारित्रसार (अप्राप्य)		३१ " " " तृतीय खंड	२)
१० प्रमाणनिर्णय (अप्राप्य)		३२ हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
११ आचारसार "		३३ " " " द्वितीय खण्ड	१II)
१२ त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)		३४ नीतिवाक्यामृत सटीक (परिशिष्ट)	I)
१३ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह (अप्राप्य)		३५ जम्बूस्वामिचरित (काव्य)	१II)
१४ अनगारधर्मासूत सटीक	३II)	३६ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र-मराठी टीकासहित	II)
१५ युक्त्यनुशासन "	II=)	३७ महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
१६ नयचक्रसंग्रह	II=)	३८ न्यायकुमुदचन्द्र—भट्टकालकदेवके	
१७ षट्प्राभृतादिसंग्रह "	३)	लघीयस्त्रय ग्रंथपर श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यकृत	
१८ प्रायश्चित्तसंग्रह	१=)	भाष्य (प्रथम खंड)	८)
१९ मूलाचार सटीक-पूर्वार्द्ध	२II)	३९ न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय खण्ड)	८II)
२० भावसंग्रहप्रदि	२I)	४० वराङ्गचरित—जटाचार्य (सिंहनन्दि)	
२१ सिद्धागन्तसारदिसंग्रह	१II)	कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
२२ नीतिवाक्यामृत सटीक	१II)	४१ महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)

नोट—सभी ग्रंथ बहुत सस्ते हैं, लागतमात्र मूल्यमें बेचे जाते हैं।

मिलनेका पता—**नाथूराम प्रेसी**

मंत्री—**माणिकचन्द्र-जैनग्रंथमाला**

ठि० हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई नं० ४

